प्राक्कथन

● ●

एक दीर्घ प्रतीक्षा के अनन्तर प्रस्तुत पुस्तक का पाँचवाँ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है। विगत कुछ वर्षों में पुस्तक अप्रकाशित एवं अप्राप्य रही—इसके अनेक दुःखद एवं कटु कारण हैं, जिन पर यहाँ प्रकाश डालना संभव नहीं। अन्ततः पुस्तक प्रकाशित हो रही है, यही कम प्रसन्नता की बात नहीं।

विगत वर्षों में मेरी कई नयी कृतियाँ प्रकाश में आई हैं—जिनमें 'साहित्य-विज्ञान', 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', 'बिहारी सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा', 'महादेवी : नया मूल्यांकन' आदि उल्लेखनीय हैं। ये कृतियाँ मेरे आलोचक-जीवन की एक नूतन दिशा की सूचक हैं; अर्थात् इनके रचना-काल में मैं एक विशेष लक्ष्य की ओर अग्रसर रहा हूँ। वह लक्ष्य था—साहित्य-समीक्षा को सुव्यवस्थित, सुस्पष्ट एवं प्रामाणिक रूप देने के लिए उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करना। वैसे हिन्दी के अनेक पाठकों को यह बात सुनने में एकाएक अटपटी-सी प्रतीत होगी, क्योंकि सामान्यतः यह समझा जाता है कि साहित्य और विज्ञान परस्पर-विरोधी हैं, अतः साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का अर्थ होगा—साहित्यिकता की हत्या करना। किन्तु यदि गहराई से विचार करके देखा जाय तो ज्ञात होगा कि किसी भी वस्तु का वैज्ञानिक अध्ययन या विवेचन करने का अर्थ उसकी मूल प्रकृति या उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन या विकार उत्पन्न करना नहीं है, अपितु तत्सम्बन्धी ज्ञान को ही अपेक्ष कृत शुद्ध या प्रामाणिक रूप प्रदान करना है। अब तक हम काव्य-शास्त्र एव साहित्यानुसंधान के माध्यम से साहित्य का विवेचन-विश्लेषण करते रहे हैं; उसी विवेचन-विश्लेषण को यदि और अधिक वस्तुपरक दृष्टिकोण से प्रामाणिक ए विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया जाय, तो वह विज्ञान की श्रेणी में आ जाता है विज्ञान की श्रेणी में केवल भौतिक विज्ञान ही नहीं; भाषा-विज्ञान एवं मनोविज्ञ भी आते हैं तथा इन्हीं के समकक्ष मैंने 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना करते साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है। उपर्युक्त रचन क्रमशः साहित्य-समीक्षा के ही तीन पक्षों—सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक एवं व्या हारिक—को प्रस्तुत करती हैं। अतः कहने के लिए ये रचनाएँ अलग-अलग किन्तु उन सबके मूल में एक ही व्यापक लक्ष्य रहा है।

यद्यपि हिन्दी-जगत् में पाश्चात्य चिन्तकों की अनुगूंज के रूप में आधुनिकता, आधुनिक बोध एवं नूतनता के नारे तो बहुत लगे हैं, किन्तु यथार्थ में वे खोखले एवं अर्थशून्य हैं। आधुनिकता का सर्वप्रमुख भेदक लक्षण है—वैज्ञानिकता। मध्यकालीन बोध एवं आधुनिक बोध में व्यावहारिक दृष्टि से जो अन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका मूलाधार आज का उन्नत वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इसलिए यदि एक शब्द में आधुनिकता की व्याख्या की जाय, तो वह शब्द वैज्ञानिक होगा। वस्तुतः आज धर्म, समाज, संस्कृति, इतिहास, नीति आदि विभिन्न विषयों के आधारभूत तत्त्वों एवं सिद्धान्तों के प्रति हमारे दृष्टिकोण एवं मत में जो आमूलचूल परिवर्तन हुआ है, उसका मूल कारण दृष्टि का वैज्ञानिक होना ही है। इसीलिए साहित्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-विवेचन की प्रणाली को वैज्ञानिक रूप दिये जाने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए हरबर्ट डिंगल ने पहले उद्घोषित किया था—

'If literature can only be felt, then let us feel it, do not let us write about it or give reasons why one poem inspires deeper or better feeling than another. If once criticism is allowed to exist, there is no justification for not allowing it to become as thoroughly scientific as its nature makes possible.'

यहाँ उन्होंने उन आलोचकों को चुनौती दी है, जिनका तर्क है कि साहित्य अनुभूति की वस्तु है, अतः उसकी समीक्षा वैज्ञानिक नहीं हो सकती। यदि साहित्य केवल अनुभूति का ही विषय है, तो फिर हम उसका विवेचन विश्लेषण एवं मूल्यांकन क्यों करते है ? या तो हम ऐसा करना बन्द करें या फिर इस विवेचन-विश्लेषण को यथासंभव वैज्ञानिक रूप न दिये जाने में क्या तुक है !

उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति के प्रयास में इस बीच कुछ नये सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है, जिनमें आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काव्य या साहित्य की आत्मा या मूल शक्ति क्या है—यह प्रश्न भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों के बीच शताब्दियों से विवाद का विषय रहा है। आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त इन सभी विवादों का एक समन्वित, संतुलित एवं विज्ञान-सम्मत समाधान प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में भी हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव-काल, काल-विभाजन, विभिन्न काव्य-परंपराओं के उद्गम-स्रोतों आदि के सम्बन्ध में अनेक भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं, जिनका निराकरण करते हुए अनेक नये मतों की स्थापना की गयी है। मैंने चेष्टा की है कि प्रस्तुत संस्करण के माध्यम से इसके पाठकों को भी इन नये सिद्धान्तों —

मतों का थोड़ा परिचय अवश्य प्राप्त हो जाय—इसके लिए अनेक निबन्धों में संशोधन-परिवर्द्धन करने के साथ-साथ पन्द्रह नये निबन्ध भी और बढ़ा दिये गए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोग नयी स्थापनाओं को स्वीकार कर लें, फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से उन पर विचार किया जायगा—इतनी आशा तो मैं विद्वान् पाठकों से कर ही सकता हूँ।

अंत में मैं प्रथम संस्करण के भूमिका-लेखक श्रद्धेय आचार्य डॉ० नगेन्द्र के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने मेरे आलोचक को शैशव काल में ही अपना पुनीत आशीर्वाद देकर उसके बल, उत्साह एवं आत्मविश्वास में अभिवृद्धि की। साथ ही पुस्तक के सम्बन्ध में 'दो शब्द' लिखकर श्रद्धेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी मुझे उपकृत किया है। कई बार उनका यह वाक्य—'जो बात उन्हें ठीक नहीं जँची, उसके प्रति शंका करने में वे हिचके नहीं हैं, भले ही वह बड़े-से-बड़े आचार्य द्वारा कही गयी हो'—मेरे मन में परस्पर विरोधी भाव उत्पन्न करता रहा है कई बार लगा, कहीं उनका यह 'आचार्य' शब्द स्वयं अपने लिए ही प्रयुक्त न हो, क्योंकि अनेक निबन्धों में मैंने उनके मतों पर भी शंका प्रकट करने की धृष्टता की है। आचार्य द्विवेदी के ही विभाग में कार्य करता हुआ, उन्हीं के विचारों और मतों की अवहेलना उन्हीं के समक्ष करूँ—ऐसी स्वतंत्रता आचार्य द्विवेदी जैसे महान् एवं उदार विभागाध्यक्ष के ही राज्य में संभव है। आज जबकि उनसे बहुत दूर हूँ, अतीत के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि यह मेरा परम सौभाग्य था कि उनकी छत्र-छाया में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। कदाचित् यह उन्हीं का प्रभाव है कि मैं अब अनुभव करने लगा हूँ कि आलोचक का कार्य अधिक कटु, कठोर एवं धृष्ट हुए बिना भी चल सकता है। फिर भी आलोचक यदि आलोचना के साथ न्याय करना चाहता है तो उसे थोड़ा-बहुत स्पष्टवादी बनना ही पड़ता है।

अन्त में मैं यह नया संस्करण विद्वानों, समीक्षकों एवं अध्येताओं की सेवा में नूतन उत्साह, नये विश्वास एवं नयी आशाओं के साथ प्रस्तुत करता हूँ; और साथ ही 'लोकभारती प्रकाशन' के संचालकों को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने अनेक अड़चनों का सामना करते हुए भी पुस्तक को सुन्दर एवं शुद्ध रूप में प्रकाशित किया है।

शिमला
१.१. १९७१

—गणपतिचन्द्र गुप्त

छठे संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द

'साहित्यिक निबन्ध' का छठा संस्करण विद्वान् पाठकों के हाथों में सौंपते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसका प्रथम संस्करण पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, तब से इसकी लोकप्रियता दिनों दिन निरन्तर बढ़ती रही है—यह तथ्य पुस्तक की उपादेयता का परिचायक माना जा सकता है। प्रथम संस्करण के प्रकाशन के अनन्तर लेखक की अनेक पुस्तकें—'साहित्य-विज्ञान', 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', 'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन', 'महादेवी : नया मूल्यांकन' आदि—प्रकाशित हुई हैं। इनमें लेखक ने कतिपय नूतन सिद्धान्त एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, जिनका संकेत प्रस्तुत पुस्तक के भी कई निबन्धों में उपलब्ध होगा। इस दृष्टि से साहित्य की आत्मा, हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल, काल-विभाजन, प्रेमाख्यान-काव्य-परंपरादि विषयों से सम्बन्धित निबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत संस्करण के नये निबन्ध जोड़ने के साथ-साथ अन्य निबन्धों की सामग्री को भी अद्यतन रूप देने की चेष्टा की गयी है। आशा है कि इस रूप में यह पाठकों के लिए और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

हिन्दी-विभाग,
रोहतक-विश्वविद्यालय,
रोहतक
१-१२-७६.

—गणपतिचन्द्र गुप्त

अनुक्रम

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त

हिन्दी-साहित्य का विकास

● हिन्दी साहित्य : प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ

● हिन्दी की विशिष्ट प्रतिभाएं

साहित्यिक निबन्ध

• •

भारतीय एवं पाश्चात्य
काव्य-सिद्धान्त

: एक :

साहित्य : स्वरूप-विवेचन

१. 'साहित्य' : शब्द मीमांसा।
२. परिभाषा : भारतीय दृष्टि से।
३. परिभाषा : पाश्चात्य दृष्टि से।
४. साहित्य के भेदक लक्षण।
५. साहित्य के तत्त्व :
 (१) भाव (२) कल्पना (३) बुद्धि (४) शैली।
६. उपसंहार।

'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए 'हिन्दी-साहित्य-कोश' के रचयिताओं ने लिखा है—"साहित्य = सहित + यत् प्रत्यय, साहित्य का अर्थ है शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव अर्थात् 'साथ होना'। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम 'साहित्य' है।" यह व्याख्या किसी व्याकरणाचार्य के मस्तिष्क को भले ही सन्तुष्ट कर दे, किन्तु एक सामान्य विद्यार्थी की जिज्ञासा इससे शान्त नहीं होती। यह तो ठीक है कि 'साहित्य' से 'सहभाव' ध्वनित होता है किन्तु सहभाव किसका ? वह सहभाव शब्द और अर्थ का ही हो, ऐसा संकेत इस शब्द में कहीं नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने 'साहित्य' में से 'सहित' (अर्थात् स = हित + हित के साथ) को पृथक् करते हुए हित-कारक रचना को 'साहित्य' बताया है; किन्तु यह व्याख्या भी सर्वांश में सत्य सिद्ध नहीं होती। एक अच्छे सुन्दर चिकने पत्र पर रंग-बिरंगे शब्दों में मुद्रित वह रचना भी जिसकी एक ओर 'अशोक-चक्र' तथा दूसरी ओर बैंक का नाम, गवर्नर के हस्ताक्षर, देय राशि व क्रम-संख्या आदि अंकित होते हैं, किसी दरिद्र-नारायण के भक्त के लिए कम हितकारक नहीं होती, किन्तु इसी से क्या हम इसे 'साहित्य' की संज्ञा दे सकते हैं ! वस्तुतः इन व्याख्याओं का अर्थ से सीधा संबंध नहीं है, किसी प्रकार खींच-तानकर प्रचलित अर्थ के साथ 'साहित्य' शब्द की संगति बैठाने का प्रयत्न किया गया है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति का रहस्य जानने के लिए इसके इतिहास पर दृष्टि-पात करना उचित होगा। कहा जाता है कि 'साहित्य' शब्द का प्रचलन इस अर्थ में सातवीं-आठवीं शती से हुआ है। इससे पहले संस्कृत में 'साहित्य' के स्थान पर 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। भामह, राजशेखर, भोजराज, कुन्तक प्रभृति आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करते हुए शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य बताया,[1] तथा

१. द्रष्टव्य—'साहित्य-विज्ञान' : प्रथम खण्ड, पृष्ठ १६-२०

इसी प्रसंग में उन्होंने 'सहितौ', 'सहभाव' आदि का उल्लेख किया, पर आगे चलकर 'शब्द और अर्थ के सहभाव (साहित्य)' के स्थान पर केवल सहभाव (साहित्य) ही रह गया। जिस प्रकार 'रेलवे-ट्रेन' में से अब केवल 'रेल, या 'ट्रेन' ही प्रयुक्त होते हैं, शेष दो शब्द प्रायः छोड़ दिये जाते है, वैसे ही 'शब्द और अर्थ का साहित्य' के स्थान पर केवल 'साहित्य' का ही प्रयोग चल पड़ा। वस्तुतः भाषा-विज्ञान के अनुसार प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति के कारण शब्दों का प्रचलन, प्रयोग एवं अर्थ-विकास इस प्रकार प्रायः होता रहता है; अतः 'साहित्य' शब्द का यह प्रयोग भी इसी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति का परिणाम है।

यह भी भाषा-विज्ञान का नियम है कि जब एक ही अर्थ मे दो शब्दों का प्रयोग होने लगता है तो उनमें से किसी एक का अर्थ संकुचित या परिवर्तित हो जाता है। जब संस्कृत मे भी 'काव्य' और 'साहित्य' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ मे होने लगा तो आगे चलकर काव्य का अर्थ संकुचित हो गया, वह केवल कविता तक सीमित रह गया जबकि 'साहित्य' का प्रयोग व्यापक रूप में—कविता, नाटक, उपन्यास, समीक्षा आदि सभी विधाओं (मुख्यतः गद्यात्मक रचनाओं) के लिए होने लग गया। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का परवर्ती एवं उत्तराधिकारी होते हुए भी आज अपने पूर्वज से अधिक समृद्ध, व्यापक एवं विकसित है।

आधुनिक युग में 'साहित्य' शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द की भाँति दो अर्थों मे होता है—व्यापक अर्थ में वह समस्त लिखित एवं मौखिक रचनाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है जबकि संकुचित अर्थ में वह 'काव्य' के पर्याय के रूप में गृहीत होता है। दूसरे शब्दों में एक ओर वह समस्त प्रकार के ग्रन्थ-समूह को सूचित करता है तो दूसरी ओर वह एक विशेष कोटि की रचनाओं तक ही सीमित है। पाश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए एक को 'ज्ञान का साहित्य' कहा है तो दूसरे वर्ग की रचनाओं को 'भावना या शक्ति का साहित्य' की संज्ञा दी है। प्रसिद्ध विद्वान् डी क्विनसी (De Quincey) ने दोनों की तुलना करते हुए लिखा है कि जहाँ ज्ञान के साहित्य का लक्ष्य कुछ सिखाना होता है वहाँ भावना के साहित्य का लक्ष्य भावनाओं को जागृत करना होता है; एक में तथ्यों और उपदेश की प्रधानता होती है जबकि दूसरे में कला और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। प्रस्तुत लेख में हमारा विवेच्य भावना का साहित्य ही है जो कि गद्य और पद्य मे लिखी हुई सभी प्रकार की कलापूर्ण रचनाओं—कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि—से सम्बन्धित है।

परिभाषा : भारतीय दृष्टि से

साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए हमारे अनेक प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों ने साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ निश्चित की है जिनमें से कुछ यहाँ विचारणीय है। आचार्य भामह (छठी-सातवीं शती) ने अपने 'काव्यालंकार' में लिखा था—**'शब्द और अर्थ मिलकर काव्य** (साहित्य) **होता है'** तो दंडी के विचार से **'इष्ट अर्थ से विभूषित शब्द-समूह ही काव्य-शरीर है।'** इसी प्रकार आचार्य वामन **'गुण तथा**

अलंकार से संस्कारित शब्दार्थ' को साहित्य मानते हैं तो राजशेखर के विचारानुसार **'गुण से युक्त वाक्य हो काव्य है।'** आचार्य कुन्तक ने किंचित् विस्तार से परिभाषा करते हुए लिखा—**"शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास साहित्य है, जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने संतुलित** हों **कि न तो कोई न्यून हो और न कोई अधिक हो।"** आगे चलकर मम्मट (११वीं शती) ने **'दोष-रहित गुणों से मंडित शब्दार्थ को, भले ही वह कहीं-कहीं अलंकार-शून्य हो'** काव्य माना है तो दूसरी ओर आचार्य विश्वनाथ (१४वीं शती) ने **'रसात्मक वाक्य'** को तथा पंडितराज जगन्नाथ (१७वीं शती) ने **'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द'** को काव्य या साहित्य माना है।

वस्तुतः ये सब परिभाषाएं विद्वानों के अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत हैं जिससे वे एकांगी एवं अपूर्ण सिद्ध होती हैं। उदाहरण के लिए भामह ने शब्द और अर्थ के मेल को साहित्य माना—पर शब्द और अर्थ का मेल तो प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में होता है क्योंकि निरर्थक शब्दों का उच्चारण या तो कोई अबोध शिशु करता है या प्रलाप करनेवाला पागल ! क्या साहित्येतर रचनाओं में शब्द और अर्थ का साहचर्य नहीं होगा ! ऐसी स्थिति में केवल शब्दार्थ के साहचर्य को ही 'साहित्य' बताना उचित नहीं। हाँ, इससे एक विशेषता का पता अवश्य लगता है कि साहित्य में शब्द + अर्थ अर्थात् भाषा का प्रयोग होता है; बिना भाषा के कोई भी साहित्य नहीं रचा जा सकता।

दंडी, वामन, राजशेखर, कुन्तक, मम्मट प्रभृति ने शब्दार्थ या भाषा के अतिरिक्त इष्ट अर्थ, गुण, अलंकार, मनोहर विन्यास, दोष-रहित आदि विशेषताओं का परिगणन किया—सच पूछें तो ये सारी विशेषताएँ एक ही बात की सूचक हैं कि साहित्य में सौंदर्य या आकर्षण होता है। गुण, अलंकार, रीति आदि सबका लक्ष्य साहित्य में सौंदर्य या आकर्षण-शक्ति उत्पन्न करना है; इसी शक्ति के कारण साहित्य के शब्दार्थ इष्ट या प्रिय अथवा रोचक प्रतीत होते हैं। सामान्य भाषा और साहित्य के शब्दार्थ में यही अन्तर है—सामान्य प्रयोगों में सर्वत्र ही आकर्षण नहीं होता जबकि साहित्य में सर्वत्र आकर्षण होता है। अतः इन सारी विशेषताओं का समाहार एक शब्द में करते हुए कहा जा सकता है कि साहित्य में आकर्षण होता है।

आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने क्रमशः रसात्मकता और रमणीयता को साहित्य का आधार माना है, पर प्रश्न है कि इन विशेषताओं का पता कैसे चले ? किसी भी रचना में रसात्मकता और रमणीयता के अस्तित्व का ज्ञान उसके आस्वादन से ही हो सकता है—जिस रचना के आस्वादन से रस या आनन्द की अनुभूति होती है उसी में रसात्मकता और रमणीयता स्वीकार की जाती है। अस्तु, आनंद की अनुभूति साहित्य की तीसरी विशेषता है। साहित्य की इन तीनों ही विशेषताओं का समन्वय करते हुए 'साहित्य-विज्ञान' में साहित्य की सामान्य परिभाषा इस प्रकार निर्धारित की गयी है—"साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य पाठक को आनन्द की अनुभूति होती है।"

हमारे विचार से यह परिभाषा साहित्य की सामान्य परिभाषा के रूप में स्वीकार की जा सकती है।

पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें से कुछ यहाँ उल्लेखनीय हैं। आचार्य अरस्तू ने 'शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत अनुकृति को काव्य' या साहित्य की संज्ञा दी है। सिडनी के विचार से 'काव्य या साहित्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और आनन्द प्रदान करना है।' कालरिज के अनुसार 'काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य प्रसन्नता प्रदान करना होता है।' शेली के विचार से 'काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम हृदयों के श्रेष्ठतम क्षणों का लेखा-जोखा है।' हडसन ने भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति को काव्य माना है। इस प्रकार अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनसे काव्य या साहित्य को समझना कठिन है। वस्तुतः ये परिभाषाएँ अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से युक्त हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने काव्य या साहित्य क्या है, इसका उत्तर देने के स्थान पर काव्य और कवि, काव्य और पाठक, तथा काव्य और जीवन के सम्बन्ध को सूचित किया है जिससे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। वस्तुतः ये साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं पक्षों को तो सूचित करती हैं किन्तु इनमें से किसी को भी साहित्य की एक सर्वांगीण परिभाषा के रूप में स्वीकार करना कठिन है। अस्तु, हमारे विचार से जो परिभाषा पीछे प्रस्तुत की जा चुकी है, वह इन सभी परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक निर्दोष एवं व्यापक है। फिर भी साहित्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए केवल परिभाषा का निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है, उसके विभिन्न लक्षणों एवं तत्त्वों का बोध भी अपेक्षित है, अतः आगे इन्हीं की चर्चा की जायगी।

साहित्य के भेदक लक्षण

साहित्यिक और असाहित्यिक कृतियों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए साहित्य के तीन भेदक लक्षण किए जा सकते हैं—(१) स्थायित्व (२) व्यक्तित्व का प्रतिफलन और (३) रागात्मकता। साहित्य और असाहित्य (दर्शन, विज्ञान आदि) में सबसे पहला अन्तर स्थायित्व का होता है। जहाँ विज्ञान के क्षेत्र में एक ही विषय पर एक पुस्तक के स्थान पर दूसरी पुस्तक आने पर पहली का स्थान गौण हो जाता है या एक का स्थान दूसरी ग्रहण कर लेती है, पर साहित्य में ऐसा नहीं होता जिससे साहित्य की प्रत्येक कृति का महत्त्व स्थायी बना रहता है। साहित्य में इस स्थायित्व का मूल कारण यह है कि उसमें रचयिता के व्यक्तित्व का प्रभाव मिश्रित रहता है जिससे उसी विषय पर दूसरे व्यक्ति की रचना पहली रचना की स्थानापन्न नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए भगवान् राम के चरित्र को लेकर तुलसी, केशव एवं मैथिलीशरण गुप्त—तीनों ने प्रबन्ध काव्य लिखे पर फिर भी तीनों का स्थान सुरक्षित है, क्योंकि उन सबमें उनके अपने-अपने रचयिताओं के व्यक्तित्व का प्रभाव अंकित है, जबकि गणित, भूगोल, कानून आदि साहित्येतर विषयों की कृतियों में ऐसा नहीं होता।

अस्तु, जहाँ विज्ञान सम्बन्धी रचनाओं में विषय-सापेक्ष तथ्यों का प्रतिपादन होता है जबकि साहित्यिक रचनाओं में व्यक्ति-सापेक्ष भावनाओं और विचारों का—यही कारण है कि एक व्यक्ति की काव्य-रचना का महत्त्व उसी विषय पर लिखी गई दूसरे व्यक्ति की रचना के पश्चात् भी अक्षुण्ण रहता है।

साहित्य का दूसरा लक्षण 'व्यक्तित्व का प्रतिफलन' है। व्यक्तित्व क्या है? आजकल कुछ लोग शरीर की लम्बाई, चौड़ाई और बाह्य वेश-भूषा को ही व्यक्तित्व समझने की भल करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थूल शारीरिक विशेषताएँ भी व्यक्तित्व के एक अंग है किन्तु वे ही सब कुछ नहीं हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तित्व के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के जीवन के प्रति दृष्टिकोण, उसकी विचार-धारा, उसका ज्ञानकोष, उसकी अनुभूतियाँ, उसका चरित्र, उसकी वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति, उसकी रुचि और उसके व्यवहार आदि के समन्वित रूप को लिया जाता है। साहित्य पर रचयिता के व्यक्तित्व के प्रभाव की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए हम दो उदाहरण ले सकते है। मान लीजिए, हम चार वैज्ञानिकों को गुलाब के फूल के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए प्रेरित करें और इसके पश्चात् उनके लेखों की परस्पर तुलना करें तो पता चलेगा कि चारों ने लगभग एक-जैसे ही तथ्यों का प्रतिपादन किया है। गुलाब के फूल में कौन-कौन से तत्त्व हैं? उसका विकास किस तरह होता है? उसका रङ्ग-रूप और उसकी आकृति में क्या विशेषताएँ हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर चारों वैज्ञानिक प्रायः एक-जैसा ही देंगे। किन्तु यदि चार कवि इसी गुलाब के फूल के सम्बन्ध में कविताएँ लिखें तो चारों की रचनाओं में परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर होगा। एक, जो प्रणय-लोक का पथिक है, उस गुलाब के फूल में अपनी प्रिया के रूप-वैभव का दर्शन कर सकता है। दूसरा अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण उसी गुलाब के फूल की क्षणिक प्रफुल्लता के आधार पर संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन कर सकता है। तीसरा कवि जो यदि स्वभाव से मन-मौजी है तो गुलाब के फूल की ही भाँति मुस्कराते और हँसते हुए जीवन व्यतीत करने का सन्देश दे सकता है। चौथा कवि उसी गुलाब के फूल को गरीबों का खून चूसकर लाल होनेवाले पूंजीपतियों का प्रतीक बता सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक कवि की रचना में उसकी विचारधारा, अनुभूति आदि वैयक्तिक विशिष्टताओं के कारण परस्पर गहरा अन्तर आ जाता है। इसी अन्तर को व्यक्तित्व का प्रतिफलन कहते है जिसके कारण साहित्यिक रचनाएँ अमर हो जाती हैं।

साहित्य का तीसरा प्रमुख लक्षण उसकी 'रागात्मकता' को बताया गया है। साहित्य में निर्जीव और शुष्क तथ्यों का वर्णन नहीं होता, अपितु भावनाओं और अनुभूतियों का प्रकाशन होता है। जहाँ विज्ञान के तथ्य हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करके रह जाते हैं, वहाँ साहित्य में चित्रित भावनाएँ हमारे हृदय को भी आन्दोलित करती हैं। अपनी भावोत्पादिनी क्षमता के कारण ही साहित्य 'साहित्य' की संज्ञा प्राप्त करता है।

साहित्य के तत्त्व

साहित्य को सम्यक् रूप से समझने के लिए उसके लक्षणों के साथ-साथ उसके प्रमुख तत्त्वों की जानकारी भी अपेक्षित है। साहित्य के मुख्यतः चार तत्त्व निर्धारित किए गए हैं—(१) भाव, (२) कल्पना, (३) बुद्धि और (४) शैली। साहित्य का सर्व-प्रमुख तत्त्व 'भाव' ही है—यही उसकी आत्मा है। जैसा कि पीछे बताया गया है, साहित्य का सर्वप्रमुख लक्षण रागात्मकता है जिसके लिए भावों का चित्रण अपेक्षित है। स्थूल घटनाओं और विस्तृत इतिवृत्त के निरूपण की अपेक्षा साहित्य में सूक्ष्म भावनाओं का अधिक महत्त्व है। दूसरे, साहित्य का लक्ष्य पाठक की ज्ञान-वृद्धि करना नहीं, अपितु उसके हृदय को भावनाओं से आप्लावित कर देना होता है, इस लक्ष्य की पूर्ति भावों के चित्रण के द्वारा सम्पन्न होती है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने साहित्य की इस आत्मा—भाव तत्त्व—को आज से दो सहस्र वर्षों पूर्व ही पहचान लिया था। आदि आचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट रूप से साहित्य का लक्ष्य भावानुभूति को घोषित करते हुए भावनाओं का वर्गीकरण और विश्लेषण किया है। उन्होंने भावों के दो वर्ग किए हैं—संचारी और स्थायी। आगे चलकर भोज-राज, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भरत के भाव-सम्बन्धी विवेचन को और आगे बढ़ाया। कहना न होगा कि भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया भावों का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त संगत एवं शुद्ध है। आधुनिक मनो-विज्ञान के क्षेत्र में भी भाव की दो कोटियाँ हैं—(१) इमोशन (Emotion) और (२) सेंटीमेंट (Sentiment)। इमोशन और सेंटीमेंट क्रमशः संचारीभाव और स्थायी-भाव से गहरा साम्य रखते हैं। भाव के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने तीन अंगों का विवेचन किया है—आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी इन्हें स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हम अपने प्रबन्ध 'साहित्य-विज्ञान' में कर चुके हैं।

साहित्य का दूसरा तत्त्व कल्पना है। साहित्य में भावनाओं का चित्रण कल्पना-शक्ति के प्रयोग के द्वारा ही सम्पन्न होता है। एक साधारण-से-साधारण घटना को भी कवि कल्पना के रंग में रँगकर ऐसा भव्य रूप प्रदान कर देता है कि वह हमारे हृदय को बलात् आकर्षित कर लेता है। उदाहरण के लिए हम एक समाचार-पत्र में पढ़ते हैं कि जर्मनी का एक जहाज डूब गया जिसमें चार सौ व्यक्ति सवार थे। इस समाचार को पढ़कर हमारे मस्तिष्क में थोड़ी हलचल भले ही हो जाय, किन्तु उसका इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ेगा कि हम शोक से अभिभूत होकर आँसू बहाने में लग जायँ। किन्तु जब कवि इसी घटना को कल्पना के द्वारा चित्रित करके हमारे सामने प्रस्तुत करेगा तो चार सौ व्यक्ति तो क्या एक व्यक्ति के भी डूबने की घटना हमारे हृदय में करुणा की शत-शत धाराएँ उद्वेलित कर सकती है। वह हमें बतायेगा कि उस डूबनेवाले जहाज में कौन-कौन व्यक्ति बैठे हुए थे, उनके हृदय में अपने प्रिय-जनों के मिलन की उत्कंठा किस प्रकार उद्वेलित हो रही थी; वे स्वदेश-गमन के किन-किन स्वप्नों को सँजोए हुए जा रहे थे,

उनके घर पर उनकी असहाय वृद्धा माँ, या चिरवियोगिनी पत्नी, या दर्शनों की लालसा से विभोर छोटे-छोटे भोले बालक किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जब जहाज डूबने लगा तो उस पर बैठे हुए प्राणियों की क्या दशा हो गई थी—किस प्रकार क्षण-क्षण में पुरुष यात्रियों की चिन्ता, महिलाओं की चीख-पुकार और बच्चों का करुण-रोदन बढ़ता जा रहा था ! जीवन के अन्तिम क्षणों को सिंह की तरह आगे बढ़ता देखकर उन गौ-तुल्य यात्रियों का हृदय किस प्रकार शोक-विह्वल होकर हाहाकार कर उठा था और फिर उनके डूब जाने के समाचार को सुनकर चिर-प्रतीक्षा में लीन उनके प्रियजनों की क्या दशा हो गई थी—इन सबका चित्रण करता हुआ एक सच्चा कवि इस छोटी-सी घटना का ऐसा वर्णन कर सकता है कि हमारा हृदय पिघलकर आँसुओं की धारा में बहने लगे। वस्तुतः कवि अपनी कल्पना के बल पर दूसरों के दुःख-सुख और दूसरों की अनुभूतियों का चित्रण इस प्रकार कर देता है कि वह हमारा दुःख-सुख बन जाय। परोक्ष की घटना को वह प्रत्यक्ष रूप में, अतीत की घटना को वर्तमान में और सूक्ष्म भाव को स्थूल रूप मे प्रस्तुत कर देता है। इसका श्रेय उसकी कल्पना-शक्ति को ही है।

काव्य में सौन्दर्य और चमत्कार की सृष्टि भी कल्पना के द्वारा ही की जाती है। न जाने हमारे कितने कवियों ने नारी की सूक्ष्म छवि के अंकन में अपनी अद्भुत कल्पना का परिचय दिया है। सुन्दरियों के सामान्य रूप-वैभव को उन्होंने चन्द्र की ज्योत्स्ना, दामिनी की चमक, रजनी की शीतलता, ओस की तरलता, पुष्प की प्रफुल्लता आदि से समन्वित करके अलौकिकता प्रदान कर दी हैं। यही नहीं, संसार के असंख्य निर्जीव पदार्थों और प्रकृति के अगणित चेतनाविहीन रूपों को भी कवि की कल्पना ने सजीवता और चेतना प्रदान कर दी है। धरती की गोद में कल-कल प्रवाहिनी सरिता को कालिदास की कल्पना ने एक ऐसी मद-विह्वला रमणी का रूप प्रदान कर दिया जिसके अगाध जल रूपी नितम्बों से लहरों के रूप मे उद्वेलित वस्त्र बार-बार खिसका जा रहा था ! नदी की चंचल तरंगों को उसने कामिनी के उन चंचल कटाक्षों का रूप प्रदान कर दिया जो वह अपने किसी प्रिय की ओर निक्षेप कर रही हो ! अमरुशतक के रचयिता ने युवती-बालाओं के द्वारा किए गए अपमान को मीठी घूंट में ही स्वर्ग के अमृत की कल्पना करके अपने हृदयागार को तृप्त कर लिया ! भर्तृहरि की कल्पना नारी के उरोज-द्वय में एक ऐसी दुर्गम घाटी की रचना कर लेती है, जहाँ स्मररूपी तस्कर विराजमान हैं और जो मनरूपी पथिकों का सर्वस्व लूट लेता है ! मैथिल कवि विद्यापति चंदन-चर्चित पयोधरों में अपने इष्टदेव शिव की कल्पना करके ही कृत-कृत्य हो जाते हैं ! प्रेम-पन्थ के परिचायक पद्मावतकार की कल्पना-रानी तो निर्जीव तोपों को भी मद-विह्वल गज-गामिनियों का रूप प्रदान करके उन्हें युवकों का प्राण ले-लेनेवाली शक्ति से युक्त कर देती है ! और आगे चलकर केशव, बिहारी, पद्माकर, भारतेन्दु, प्रसाद, पंत और महादेवी की कल्पना जो चमत्कार दिखाती है उसका तो कहना ही क्या ! वस्तुतः प्रत्येक युग और प्रत्येक भाषा का साहित्य कल्पना-शक्ति की अपूर्व क्षमता, अद्भुत वैभव और अलौकिक चमत्कार की कहानियों से भरा पड़ा है। वेदान्तवादियों के यहाँ जो स्थान 'माया' का है वही साहित्य में 'कल्पना' का है, अन्तर केवल इतना ही है कि उसकी माया सत् को

: दो :

साहित्य और व्यक्तित्व

१. साहित्य और व्यक्तित्व का पारस्परिक सम्बन्ध ।
२. साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण ।
३. साहित्य में व्यक्तित्व का प्रतिफलन ।
४. व्यक्तिवादी आन्दोलन और साहित्य ।
५. साहित्य में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ ।
६. उपसंहार ।

साहित्य का उसके रचयिता के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है—इस तथ्य को प्रायः स्वीकार किया जाता है, फिर भी इन दोनों के सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें सर्वप्रथम 'व्यक्तित्व' का अर्थ निश्चित कर लेना चाहिए। 'व्यक्तित्व' सामान्य अर्थ में 'व्यक्ति' का भाववाचक रूप है, अतः यह व्यक्ति से सम्बन्धित सभी विशेषताओं एवं गुण-दोषों के लिए प्रयुक्त होता है। साहित्य के क्षेत्र में यह आंग्ल 'पर्सनैल्टी' (Personality) के पर्याय के रूप में प्रचलित है। अंग्रजी के 'पर्सनैल्टी' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन के 'पर्सोना' (Persona) से मानी जाती है जिसका मूल अर्थ था—नाटक में लगाये जानेवाले नकली चेहरे, पर आगे चलकर इसका प्रयोग मूल पात्रों या अनुकार्यों के अर्थ में होने लग गया। आधुनिक युग में 'पर्सनैल्टी' के अन्तर्गत व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं से लेकर उसकी वेश-भूषा तक की सभी प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है, किन्तु साहित्य में साहित्यकार के शारीरिक रूप-रंग या उसकी वेश-भूषा का स्थान नगण्य होता है, अतः हमें यह देखना है कि साहित्य के संदर्भ में व्यक्तित्व से क्या आशय है ?

इस प्रसंग में आधुनिक मनोविज्ञान से भी सहायता ली जा सकती है। मनोविज्ञान के आचार्यों ने व्यक्तित्व की परिभाषा एवं विवेचना अपने-अपने ढंग से की है जिससे कोई एक सामान्य निष्कर्ष उपलब्ध नहीं होता। यथा—आचार्य मैक्डूगल ने 'व्यक्तित्व' की परिभाषा करते हुए लिखा है—'व्यक्ति की समस्त मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों की पारस्परिक घनिष्ठ क्रिया-प्रतिक्रियाओं की समन्वित इकाई व्यक्तित्व है' तो आग्डन महोदय के विचार से 'व्यक्तित्व व्यक्ति के आन्तरिक जीवन का प्रकाशन है।' इसी प्रकार कैटल ने 'विशेष परिस्थिति में व्यक्ति के विशेष व्यवहार' को तथा कार्न ने व्यक्ति की समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को व्यक्तित्व माना है। इस प्रकार इन विद्वानों ने क्रमशः मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों, आन्तरिक जीवन, बाह्य व्यवहार एवं विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं पर बल दिया है जबकि मार्टन प्रिन्स ने व्यक्तित्व

को अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए व्यक्ति की समस्त जन्मजात शारीरिक प्रकृतियों, प्रेरणाओं, आवश्यकताओं, मूल प्रवृत्तियों, अनुभव-जन्य विकसित मानसिक दशाओं एवं प्रवृत्तियों के कुल योग को व्यक्तित्व माना है। इन मनोवैज्ञानिकों ने अंततः व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रवृत्तियों को व्यक्तित्व के अन्तर्गत ले लिया है, किन्तु इससे शारीरिक पक्ष सर्वथा उपेक्षित हो गया है। हमारे विचार में व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति की सभी विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का समावेश करते हुए उसे चार पक्षों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है—१. शारीरिक पक्ष, २. बौद्धिक पक्ष, ३. भावात्मक पक्ष और ४. चारित्रिक एवं व्यावहारिक पक्ष। साहित्य का सम्बन्ध वैसे तो इन सभी पक्षों से न्यूनाधिक मात्रा मे होता है, किन्तु बौद्धिक एवं भावात्मक पक्ष से विशेष रूप में होता है क्योंकि साहित्य के माध्यम से व्यक्ति अपनी बौद्धिक वृत्तियों एवं भावात्मक प्रवृत्तियों —जीवन-दृष्टि, विचार-धारा, भावनाओं, अनुभूतियों आदि—की अभिव्यक्ति करता है। अतः साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार के बौद्धिक एवं भावात्मक पक्षों के अध्ययन पर ही अधिक बल दिया जाता है।

साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण

सामान्य व्यक्तियों की भाँति साहित्यकार के व्यक्तित्व का भी निर्माण एकाएक नहीं होता, अपितु वह अनेक तत्त्वों के आधार पर क्रमशः विकसित होता है। इन तत्त्वों में से तीन तत्त्व प्रमुख हैं—वंश-परम्परा, वातावरण (परिस्थितियाँ) और द्वन्द्व। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व मूलतः उसकी वंश-परम्परा—उसके माता-पिता एवं उनके पूर्वजों के व्यक्तित्व का मिश्रित अंश होता है, अतः उसके रक्त के प्रत्येक कण में और उसके मस्तिष्क के प्रत्येक अणु में किसी न किसी मात्रा मे उसके पूर्वजों का प्रभाव सदा विद्यमान रहता है, किन्तु इस प्रभाव की मात्रा वातावरण या परिस्थितियों के अनुसार सदा घटती-बढ़ती रहती है। व्यक्ति को जैसा पारिवारिक, सामाजिक, प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय वातावरण तथा तत्सम्बन्धी परिस्थितियों का सम्पर्क प्राप्त होता है, उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व ढल जाता है; पर इसका यह तात्पर्य भी नही है कि वह वंश-परम्परा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाता है। वस्तुतः वंश-परम्परा से प्राप्त तत्त्व वातावरण के अनुसार नया रूप ग्रहण करते हुए भी मूलतः वे अपरिवर्तित रहते है। जैसे, एक पीतल के टुकड़े को आप थाली, लोटा, गिलास, चम्मच आदि में से चाहे जो रूप दे दे, फिर भी पीतल पीतल ही रहता है, उसी प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व भी आन्तरिक रूप में परम्परा के शाश्वत तत्त्वों से अनुस्यूत रहता है, बाह्यरूप से भले ही उसमें कितना अन्तर क्यों न आ जाय। परम्परा और वातावरण के अतिरिक्त तीसरा तत्त्व द्वन्द्व है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण व विकास में योग देता है। व्यक्ति को जैसी परिस्थितियों से द्वन्द्व करना पड़ता है, उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व अपनी दिशा या मार्ग खोज लेता है। अस्तु, व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी पूर्व परम्परा, उसके वातावरण एवं उसके मानसिक एवं बाह्य द्वन्द्व की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम होता है तथा यह बात साहित्यकारों पर भी सर्वांश में लागू होती है। ऐसी स्थिति में साहित्य में भी साहित्यकार के

व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का अर्थ है, उसकी पूर्व परम्पराओं, वातावरण एवं द्वन्द्व की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति। साहित्य के प्रसंग में 'परम्परा' शब्द का अर्थ और अधिक व्यापक रूप में लेते हुए इसके अन्तर्गत न केवल साहित्यकार की पूर्व वंश-परम्परा को, अपितु उसे प्रभावित करनेवाली पूर्ववर्ती सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराओं को भी समाविष्ट किया जा सकता है।

साहित्य में व्यक्तित्व का प्रतिफलन

साहित्य के चार तत्त्व माने जाते हैं—विचार, भाव, कल्पना और शैली। साहित्यकार का व्यक्तित्व इन चारों ही तत्त्वों के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। सबसे पूर्व विचार को लीजिए—साहित्यकार जिस सामग्री से अपनी रचना का स्थूल ढाँचा और उसकी विषय-वस्तु का संगठन करता है, वह बहुत कुछ उसके ऐतिहासिक, भौगोलिक, पौराणिक या सामान्य ज्ञान पर आश्रित होती है जिसे हम विचार का एक रूप मान सकते हैं। इसके अनन्तर वह विभिन्न घटनाओं के आयोजन व विभिन्न पात्रों के चित्रण एवं उनके वार्तालाप के रूप में जिस दृष्टि एवं सामग्री का उपयोग करता है, वह भी उसके बौद्धिक पक्ष से सम्बद्ध होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में वह अपनी जीवन-दृष्टि सामाजिक विचार-धारा, राजनीतिक मान्यता, दार्शनिक या धार्मिक आस्था-अनास्था की भी अभिव्यक्ति यत्र-तत्र करता है तथा कहीं किसी विचार-धारा का समर्थन एवं कहीं किसी का खंडन करता है। इन सबके पीछे उसके व्यक्तित्व का बौद्धिक पक्ष—उसका अपना दृष्टिकोण, ज्ञान, अनुभव एवं चिन्तन—ही छिपा रहता है तथा इस प्रकार साहित्य के समस्त बौद्धिक तत्त्व रचयिता के बौद्धिक पक्ष की अभिव्यक्ति के सूचक सिद्ध होते हैं।

साहित्यकार चाहे किसी भी पात्र की भावनाओं एवं अनुभूतियों का चित्रण एवं अभिव्यंजन करे, उनमें भी उसके निजी व्यक्तित्व की छाप विद्यमान रहती है। इतना ही नहीं, वह जिन भावनाओं को अपने साहित्य में प्रमुखता देता है, वे वस्तुत: उसके व्यक्तित्व एवं जीवन की ही प्रमुख भावनाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए तुलसीदास के साहित्य में भक्ति की भावना का, बिहारी के काव्य में प्रणय भावना का, मैथिलीशरण के काव्य में राष्ट्रीयता की भावना का अथवा नये कवियों में निराशा की प्रवृत्ति का प्रमुख होना इस बात का परिचायक है कि इनके व्यक्तित्व में इन्हीं की प्रमुखता है। एक ही भावना को अनेक कवि व्यक्त करते हैं, पर फिर भी उसमें उनके व्यक्तित्व के भेद के अनुसार अन्तर रहता है। जायसी, बिहारी, प्रसाद आदि कवियों ने प्रणय-भावना का अंकन अपने-अपने काव्य में किया है, फिर भी इन सबमें प्रणय का स्वरूप एक जैसा नहीं मिलता; जायसी के प्रेम में औदात्य अधिक है, बिहारी में कामुकता एवं रसिकता की सघनता है तो प्रसाद में भावना की कोमलता और स्निग्धता अधिक है। अस्तु, कवि की भावाभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में उसके व्यक्तित्व के भावात्मक पक्ष—उसकी सहज प्रवृत्तियों, मनोवृत्तियों, भावनाओं, अनुभूतियों आदि के समन्वित रूप का प्रतिनिधित्व करती है; यह दूसरी बात है कि कई बार उसकी अभिव्यक्ति में स्वानुभूतियों के स्थान पर आरोपित या दूसरों से उधार ली हुई अनुभूतियाँ भी व्यक्त हो जाती हैं, पर उस

स्थिति में भी इससे उसकी वैयक्तिक रुचि एवं प्रवृत्ति की दिशा का न्यूनाधिक परिचय अवश्य प्राप्त होता है।

विचार और भाव की ही भाँति कल्पना का भी साहित्यकार के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह ठीक है कि कल्पना का तथ्यों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, अतः उसका कवि के व्यक्तित्व से भी घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता, पर फिर भी सभी व्यक्ति समान परिस्थितियों में एक जैसी कल्पनाएँ नहीं करते। इसका कारण यह है कि कल्पनाएँ व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति, उसके अनुभवों एवं मानसिक बिम्बों तथा उसकी भावी आकाक्षाओं पर निर्भर होती है, अतः व्यक्तियों की कल्पनाओं में पारस्परिक अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। अस्तु, साहित्यिक वृत्तियों में प्रयुक्त कल्पना अप्रत्यक्ष रूप में कृतिकार की ही मूल प्रवृत्तियों, अनुभवों एवं उसकी आकांक्षाओं की द्योतक होती है।

साहित्य के चौथे तत्त्व शैली के साथ तो व्यक्तित्व का और भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। पश्चिम में तो अनेक विद्वानों ने साहित्यकार की शैली को ही उसका व्यक्तित्व घोषित किया है। गेटे के विचार से लेखक की शैली उसके मस्तिष्क की सच्ची अनुकृति है, तो चेस्टरफील्ड ने शैली को उसके विचारों की पोशाक माना है। बफन महोदय ने शैली को उसकी प्रकृति का अंग बताया है, तो मिडल्टन मरी महोदय ने उसे लेखक के भावात्मक दृष्टिकोण पर आधारित स्वीकार किया है। इधर बीसवीं शती के कुछ चिन्तकों ने शैली और व्यक्तित्व के सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध मनोविश्लेपक जुग ने व्यक्तित्व के मुख्यतः दो भेद किए हैं—अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी। इनके भी चार-चार अवान्तर भेद और किए गए हैं—१. चिन्तन प्रधान, २. अनुभूति प्रधान, ३. संवेदना प्रधान और ४. सहजानुभूति प्रधान। इस प्रकार व्यक्तित्व के कुल आठ भेद हो जाते हैं जिनके आधार पर अंग्रेजी विद्वान हरबर्ट रीड ने अपने ग्रन्थ 'इंगलिश-प्रोज-स्टायल' में साहित्य के रूपों और शैली के भेदों को आठ वर्गों में विभक्त करते हुए स्पष्ट किया है कि किस प्रकार साहित्य के रूप-विधान एवं शैलीगत गुणों मे साहित्यकार का व्यक्तित्व अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार एफ० एल० ल्यूकस ने भी अपने शैली-विषयक ग्रन्थ 'स्टायल' में प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति का जैसा व्यक्तित्व, स्वभाव, चरित्र एवं व्यवहार होगा, वैसा ही रूप उसकी शैली का होगा। जो व्यक्ति अशिष्ट एवं चिड़चिड़े होते है, उनकी शैली में भी वैसा ही रूखापन या चिड़चिड़ापन होगा जबकि सहृदय, उदार, निष्कपट एवं विनोदी स्वभाव के व्यक्तियों की शैली में सरलता, स्पष्टता एवं रोचकता होगी। वस्तुतः शैली के विभिन्न गुण-दोष तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ मूलतः साहित्यकार के व्यक्तित्व के ही विभिन्न पक्षों को सूचित करती है—इसमें कोई सन्देह नही। इतना अवश्य है कि कई बार हम व्यक्ति के बाह्य रूप को जैसा देखते हैं, वैसा ही उसका आन्तरिक रूप नहीं होता—यथा, बाहर से वह सरल और उदार दिखाई देता हुआ भी भीतर से कुटिल एवं स्वार्थी हो सकता है—ऐसी स्थिति में साहित्य को उसके बाह्य व्यक्तित्व की अपेक्षा आन्तरिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध मानना उचित होगा। सच तो यह है कि व्यक्ति का आन्तरिक व्यक्तित्व लोक-व्यवहार की अपेक्षा उसकी साहित्यिक रचनाओं में भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है; अतः साहित्य में व्यक्त व्यक्तित्व को ही

व्यक्ति के वास्तविक रूप का प्रतिनिधि मानना अधिक संगत होगा। हो सकता है, कोई साहित्यकार जान-बूझकर अपने वास्तविक व्यक्तित्व को छिपाता हुआ अपनी रचना में काल्पनिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रयास करे, किन्तु उस स्थिति में उसका साहित्य आत्मानुभूति से शून्य तथा काल्पनिकता एवं कृत्रिमता के भार से युक्त हो जायगा। ऐसे साहित्य को सच्चे साहित्य के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता, अतः यह बात प्रत्येक रचना पर लागू होती है कि यदि वह सचमुच में साहित्यिक है तो उसमें रचयिता के व्यक्तित्व की भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्ति अवश्य होगी। इस प्रकार साहित्य और साहित्यकार के व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना सिद्ध होती है।

व्यक्तिवादी आन्दोलन और साहित्य

साहित्य के प्रारम्भिक विवेचकों ने प्रायः साहित्यकार के व्यक्तित्व की उपेक्षा की है। प्लेटो और अरस्तू ने कला और साहित्य को प्रकृति या भौतिक जगत् की अनुकृति मानते हुए कलाकार एवं साहित्यकार के व्यक्तित्व को गौण कर दिया था। पर पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में कदाचित् लोंजाइनस पहले चिन्तक थे जिन्होंने साहित्य के पीछे साहित्यकार के व्यक्तित्व को देखने का प्रयास किया; वे साहित्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व या गुण औदात्य (Sublime) को तथा औदात्य का मूल स्रोत साहित्यकार के व्यक्तित्व को मानते थे। उनके शब्दों में—"साहित्यकार के आत्मतत्त्व की महानता का प्रतिबिम्ब ही साहित्य का औदात्य है। सच्चा वाग्वैदग्ध्य उन्हीं में पाया जा सकता है, जिनकी चेतना व्यापक और उदार हो। जो लोग जीवन-भर क्षुद्र उद्देश्यों और संकीर्ण स्वार्थों के पीछे पड़े रहते है, वे मानवता के लिए स्थायी महत्त्व की रचना नहीं दे पाते। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क महान् विचारों से परिपूर्ण होते है, उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत होते है।" इस प्रकार लोंजाइनस ने साहित्यकार के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से उसकी रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए व्यक्तिपरक विचार-धारा का प्रवर्त्तन किया, किन्तु साथ ही उन्होंने वस्तु का भी महत्त्व न्यून नहीं किया।

लोंजाइनस के उपर्युक्त मत के बावजूद प्राचीन एवं मध्य युगों में साहित्यकार के व्यक्तित्व को अपेक्षित महत्त्व प्राप्त न हो सका। इसका मूल कारण यह है कि इन युगों में जन-साधारण की अपेक्षा देवी-देवताओं एवं राजा-महाराजाओं को, सामान्य जीवन वृत्त एवं स्वाभाविक घटनाओं की अपेक्षा अलौकिक एवं आश्चर्यजनक वृत्तान्त को और व्यक्ति के व्यक्तित्व की अपेक्षा सामाजिक जीवन को अधिक महत्त्व प्राप्त था। ऐसी स्थिति में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का अविकसित रह जाना स्वाभाविक था।

आधुनिक युग में प्रजातंत्रीय विचारों के उदय के साथ-साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना का विकास हुआ। सत्रहवीं-अठारहवीं शती के अनेक राजनीतिक चिन्तकों ने प्रजातंत्रीय विचारों का प्रतिपादन किया जिनमें माण्टेस्क्यू (१६८९-१७५५), वाल्टेयर (१६९४-१७७८), रूसो (१७१२-१७७८) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने सिद्ध किया कि प्रत्येक व्यक्ति समान है, राजा और प्रजा के व्यक्तित्व में मूलतः कोई अन्तर नहीं है; यह धारणा गलत है कि राजा किसी दैवी शक्ति या विशेष प्राकृतिक अधिकार से सम्पन्न होता है; स्वतंत्रता एवं समानता प्रत्येक व्यक्ति का जन्म-

सिद्ध अधिकार है। इन विचारों के प्रचार के फल-स्वरूप इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रान्स आदि देशों में अनेक राजनीतिक क्रान्तियाँ हुईं जिनसे प्रजातंत्रीय शासन-पद्धतियों की स्थापना हुई। आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्तियाँ एवं पूंजीवाद के विकास ने भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने में योग दिया। मनोविज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में भी व्यक्तिवादी विचार-धाराओं की स्थापना हुई। फ्रायड, एडलर, जुंग प्रभृति मनोविश्लेषकों ने मानसिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध व्यक्ति की दमित वासनाओं, कुण्ठाओं, हीन-भावना आदि से स्थापित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्तिवाद का पोषण किया। दर्शन के क्षेत्र में अस्तित्ववाद व्यक्तिवाद के चरम रूप को प्रस्तुत करता है। वह समाज एवं राष्ट्र के सभी परम्परागत नियमों एवं पूर्व-धारणाओं तथा सिद्धान्तों को व्यक्ति के लिए अनावश्यक एवं आरोपित मानता है। व्यक्ति का अस्तित्व प्रमुख है, उसकी व्याख्या करनेवाले सभी सिद्धान्त एवं नियम गौण हैं—अस्तित्ववाद की इस धारणा ने व्यक्तिवाद को एक अतिवाद की चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, जहाँ वह सभी सामाजिक मर्यादाओं, नैतिक मूल्यों एवं राष्ट्रीय परम्पराओं से विरक्त होकर उच्छृङ्खल विलासिता एवं सीमित अहं में केन्द्रित हो जाता है। यह स्थिति सचमुच ही व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है।

उपर्युक्त राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों का कला और साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है। कला के क्षेत्र में प्रारम्भ में स्वच्छन्दतावाद एवं अभि-व्यंजनावाद की प्रतिष्ठा हुई जिन्होंने कला और साहित्य के क्षेत्र में किसी इतर महापुरुष की गाथाओं के वर्णन की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभूतियों की सहज व्यंजना को श्रेयस्कर घोषित किया। जहाँ इससे पूर्व कवि या कलाकार किसी सामाजिक स्थिति का चित्रण समाज की दृष्टि से करता था, वहाँ अब वह अपनी दृष्टि से समाज की व्याख्या प्रस्तुत करने लगा। वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी काव्य चाहे अंग्रेजी का हो या हिन्दी का—वह मूलतः व्यक्ति की भावनाओं को वैयक्तिक शैली में व्यक्त करता है। वस्तु की दृष्टि से वह व्यक्तिवाद है तो शैली की दृष्टि से अभिव्यक्तिवाद।

स्वच्छन्दतावादी काव्य में व्यक्तिवाद अपने स्वस्थ एवं संतुलित रूप में ही है, अतः उसकी बात समाज की समझ में आती है; उसकी अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों के साथ सामाजिक सहानुभूति भी स्थापित हो जाती है; यही कारण है कि उसका साधारणीकरण हो जाता है। पर आगे चलकर उन्नीसवीं शती के प्रतीकवादियों एवं बीसवीं शती के बिम्बवादियों, दादावादियों एवं अतियथार्थवादी (Surrealist) कलाकारों ने व्यक्तिवाद को उसकी चरम अधोगति तक पहुँचा दिया जहाँ व्यक्ति-स्वातंत्र्य उच्छृङ्खलता का पर्याय बन गया है। इनकी कथ्य वस्तु अस्वाभाविक एवं अशोभनीय होती है तो कथन-शैली अस्पष्ट एवं विचित्र। अतः इन आन्दोलनों के उन्नायकों ने सिद्ध कर दिया कि कोई वस्तु अपने अतिवादी रूप में विकृत हो जाती है—व्यक्तिवाद भी आज अपने विकृत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त सारी चर्चा पाश्चात्य कला और साहित्य को ध्यान में रखकर ही की गयी है। इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य की चर्चा अलग से करना अनावश्यक है। हिन्दी का साहित्यकार अब पाश्चात्य कलाकार का ही अनुयायी एवं अनुकर्त्ता बन गया है—जिस

प्रकार वहाँ क्रमशः स्वच्छन्दतावाद के बाद प्रतीक एवं बिम्बों के प्रयोग को लेकर प्रयोगवाद एवं नयी कविता (New verse) का आविर्भाव हुआ है, लगभग उसी प्रकार हिन्दी में छायावाद के बाद प्रयोगवाद, नयी कविता आदि का आगमन हुआ है फलतः पाश्चात्य साहित्य की सभी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का अंधानुसरण स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य मे देखा जा सकता है। सन् १९४७ में हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली, किन्तु आर्थिक एवं मानसिक दृष्टि से अब भी हम पश्चिम के दास हैं। इसी का परिणाम है कि आज हमारे साहित्य में जो कुछ लिखा जा रहा है, उसमे शब्द हमारे है, किन्तु उनकी आत्मा विदेशी है—कदाचित् इसीलिए उनका अर्थ समझना कई बार कठिन हो जाता है।

हम नहीं कहते कि हमें पश्चिम से कुछ नहीं ग्रहण करना चाहिए या हमे कूप-मण्डूक बना रहना चाहिए। अवश्य ही हमे खुले मस्तिष्क से सभी बातों को सोच-समझकर ग्रहण करना चाहिए; पर अनुसरण करना और ग्रहण करना दो अलग-अलग बातें हैं। दुर्भाग्य से हमारे अधिकांश तथाकथित 'नये साहित्यकार' 'ग्रहण' एवं 'अनुसरण' के अन्तर को नहीं समझ पा रहे हैं। क्या नदी को तैरकर उस पार पहुँचना और नदी मे बहकर आगे बढ़ना एक ही बात है? वस्तुतः यही अन्तर 'ग्रहण' और 'अनुसरण' मे है।

अस्तु, हमारे विचार मे साहित्य मे व्यक्तित्व का स्थान उसी सीमा तक है जहाँ तक वह रचना के समाजीकरण अथवा साधारणीकरण में बाधक सिद्ध नही होता क्योंकि साहित्य का मूल लक्ष्य व्यक्ति की धारणाओं, अनुभूतियों एवं कल्पनाओं का समाजीकरण (साधारणीकरण) करना होता है। जहाँ साहित्यकार की वैयक्तिकता उसकी अनुभूतियों के समाजीकरण मे बाधक सिद्ध होती है, वहाँ वह गुण के स्थान पर दोष बन जाती है। हलुए में बादाम उसके गुण व स्वाद की अभिवृद्धि के लिए डाले जाते हैं, किन्तु यदि वे खानेवाले के गले मे अटकने लग जायें तो बेकार हैं, इसीलिए उन्हे काटकर डाला जाता है। सच्चा साहित्यकार भी अपनी वैयक्तिकता को पिघलाकर उसे समाजीकृत रूप मे ही प्रस्तुत करता है, अन्यथा उसमे और सामान्य वक्ता मे कोई अन्तर न रहेगा। वैयक्तिकता न्यूनाधिक मात्रा में सभी के पास है, पर उसे समाजीकृत सभी नहीं कर पाते—सामान्य व्यक्ति और साहित्यकार में यही अन्तर है। भारतीय आचार्यो ने साधारणीकरण एवं पाश्चात्य विद्वानों ने संप्रेषण की चर्चा करते हुए इसी समाजीकरण या निर्वैयक्तीकरण की ओर संकेत किया है। वस्तुतः साहित्यकार काव्य के माध्यम से वैयक्तिकता को समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा निर्वैयक्तिकता में परिणत करता है—इसीलिए उसका शोक केवल अपना शोक नहीं रह जाता, अपितु वह सारे समाज का शोक—करुण रस—बन जाता है। अतः हम कह सकते है कि वैयक्तिकता यदि साहित्य की आधार-वस्तु है तो निर्वैयक्तिकता उसका लक्ष्य है। वैयक्तिकता को निर्वैयक्तिकता में परिणत करना ही कला है, काव्य है और जादू है जो सबको मुग्ध कर लेता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए साहित्य में व्यक्तित्व को एक सीमित एवं संतुलित रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए; व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के नाम पर थोथे आत्म-प्रदर्शन, छिछले अहं, मिथ्या अभिमान एवं निजी कुंठाओं को असाधारणीकृत रूप में प्रस्तुत करना—साहित्य की मूल प्रकृति एवं प्रवृत्ति के प्रतिकूल है, अतः

: तीन :

साहित्य की आत्मा

१. परंपरागत मत—

(क) रस सिद्धान्त (ख) अलंकार (ग) रीति (घ) ध्वनि (ङ) वक्रोक्ति (च) औचित्य ।

२. 'सौन्दर्य' क्या है ?

३. आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त ।

४. आकर्षण-शक्ति का वैज्ञानिक आधार ।

५. साहित्य की आकर्षण-शक्ति ।

६. उपसंहार ।

साहित्य[1] का वह आधारभूत तत्त्व या गुण कौन-सा है जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहलाता है या जिसके अभाव में किसी भी रचना को 'साहित्य' नहीं कहा जा सकता ? यह प्रश्न साहित्य-चर्चा के आदिकाल से लेकर आज तक विभिन्न शब्दों में प्रस्तुत किया जा चुका है । प्राचीन भारतीय आचार्यों ने इसी प्रश्न को 'काव्य की आत्मा' के रूप में उठाते हुए उस मूल तत्त्व के अनुसंधान का प्रयत्न किया, जो प्रत्येक साहित्यिक रचना के लिए अनिवार्य है । इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्य किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच सके, अपितु वे अलग-अलग निष्कर्षों पर पहुँचे जिनके आधार पर भारतीय काव्य-शास्त्र में छह संप्रदायों या वादों की स्थापना हुई—१. रस, २. अलंकार, ३. रीति, ४. ध्वनि, ५. वक्रोक्ति, और ६. औचित्य । इनमें से हम किस मत को ग्रहण करें—इसका निर्णय करने के लिए प्रत्येक पर अलग-अलग विचार किए जाने की अपेक्षा है ।

१. **रस सिद्धान्त**—इससे पूर्व की काव्यात्मा के रूप में रस के औचित्य पर विचार किया जाय, यह समझ लेना आवश्यक है कि 'रस' क्या है । आचार्य भरत मुनि के अनुसार साहित्यिक रचनाओं में प्रस्तुत या व्यक्त स्थायी भाव का आस्वाद ही रस है । परवर्ती आचार्यों ने भी प्रायः काव्य के आस्वाद को रस माना है । इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे आनन्द या काव्यानन्द का भी पर्यायवाची बताया गया है । पर यह आस्वाद या आनन्द विशुद्ध काव्यगत तत्त्व न होकर काव्य और पाठक के संपर्क का परिणाम सिद्ध होता है । दूसरे शब्दों में आस्वाद या आनन्द की प्रक्रिया पाठक के मन में संपादित होती है, अतः आनन्दतत्त्व को काव्य का परिणाम या फल तो माना जा

१ इस लेख में हमने 'साहित्य' और 'काव्य' को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है ।

सकता है, किन्तु स्वयं काव्य की आत्मा नहीं। काव्य की आत्मा का निवास काव्य में ही होना चाहिए जब कि रस का उद्बोधन पाठक के हृदय में होता है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने भी विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा—'रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं, वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है।' ऐसी स्थिति में इसको काव्य की आत्मा न मानकर उसका परिणाम या फल ही मानना अधिक उचित होगा।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य का वह तत्त्व कौन-सा है जिसके कारण पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति होती है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्थायी भाव ही वह प्रमुख तत्त्व है जिसे रस का मूलाधार माना गया है। पर स्थायी भाव अपने-आपमें रसानुभूति मे समर्थ नहीं है। एक तो काव्य में उसका प्रस्तुतीकरण प्रत्यक्ष में न होकर अप्रत्यक्ष मे होता है, क्योंकि स्थायी भावों का नामोल्लेख काव्य का दोष माना जाता है। वस्तुतः स्थायी भाव के नामोल्लेख के स्थान पर उसकी व्यंजना अपेक्षित है। पर स्थायी भाव की व्यंजना ही रसानुभूति के लिए पर्याप्त नही है। लौकिक जीवन एवं लोक-व्यवहार में भी स्थायी भाव की व्यंजना रात-दिन देखी जाती है—एक वृद्धा को अपने युवा पुत्र की मृत्यु पर शोक की व्यंजना करने या किसी भयानक दृश्य के उपस्थित हो जाने पर जनता को भयभीत होते देखा जाता है—किन्तु वहाँ तो रस या आनन्द की अनुभूति नहीं होती। अतः स्थायी भाव की व्यंजना को ही रस का मूलाधार मानना कठिन है। फिर भी यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो यहाँ एक विवाद और उपस्थित होगा—स्थायी भाव को आत्मा माना जाय या व्यंजना को ? ध्वनि-वादी कहेगा कि महत्त्व स्थायी भाव का नही, व्यंजना या ध्वनि का है ? सच पूछा जाय तो काव्य में स्थायी भाव की तो प्रत्यक्ष सत्ता रहती ही नहीं जबकि व्यंजना का व्यापार प्रत्यक्ष होता है, अतः स्थायी भाव की अपेक्षा व्यंजना का ही महत्त्व अधिक सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में व्यंजना को ही काव्य की आत्मा क्यों न मान लिया जाय ? ध्वनि-वादियों ने व्यंजना को ही ध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसे काव्य की आत्मा घोषित किया है—अतः इस प्रश्न पर आगे ध्वनि के प्रसंग में विचार किया जायगा; यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रस काव्यगत आत्मा का कार्य परिणाम या उसकी देन है, वह स्वयं काव्यात्मा के पद का अधिकारी नहीं है।

(२. **अलंकार-संप्रदाय**—अलंकार-संप्रदाय के आचार्यों के अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा है। प्रश्न उठता है—स्वयं 'अलंकार' क्या है ? इसके उत्तर में आचार्य दंडी ने कहा है—'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' अर्थात् 'काव्य के शोभा-कारक धर्म अलंकार' कहे जाते है। भामह, उद्भट्, वामन, रुद्रट आदि ने भी अलंकार को चारुत्व, सौन्दर्य या शोभा का हेतु या साधक माना है। अतः कहना चाहिए कि अलंकार वह तत्त्व है जिससे काव्य में शोभा, चारुत्व या सौन्दर्य का संचार होता है। ऐसी स्थिति में चारुत्व या सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा क्यों न माना जाय ? सौंदर्य साध्य है, अलंकार साधन अतः काव्य में सौन्दर्य की अपेक्षा अलंकार की सत्ता गौण ही सिद्ध होती है। कुछ आचार्यों ने "सौंदर्यमलंकारः" कहते हुए सौन्दर्य या अलंकार को

एक दूसरे का पर्यायवाची भी घोषित किया है, किन्तु यह ठीक नहीं है। एक तो प्रत्येक अलंकार सौन्दर्य का कारण सिद्ध नहीं होता। कई बार अलंकारों का प्रयोग सौन्दर्य के स्थान पर असौन्दर्य का भी कारण सिद्ध होता है, जैसा कि केशव की 'रामचन्द्रिका' में कई स्थलों पर हुआ है। दूसरे, अलंकार को ही सौन्दर्य मान लेने पर सहज सौन्दर्य की सत्ता लुप्त हो जाती है। तीसरे, सौन्दर्य केवल अलंकार से ही नहीं, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि अन्य साधनों से भी सम्भव है। अतः अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची मान लेना भाषा के साथ बलात्कार होगा। अस्तु, अलंकारवादियों की मान्यताओं का सारांश यही है कि अलंकारों से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है तथा यह सौन्दर्य ही पाठक को आह्लाद की अनुभूति प्रदान करता है—जिसे रसवादियों के अनुसार रसानुभूति भी कहा जा सकता है। इस निष्कर्ष के अनुसार अलंकार काव्य के साधन, सौन्दर्य काव्य की आत्मा तथा आह्लाद या रस काव्य का फल सिद्ध होता है जिसे तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

काव्य के साधन		**काव्य की आत्मा**		**काव्य का फल**
अलंकार	→	सौन्दर्य	→	रस

३. **रीति-संप्रदाय**—इस संप्रदाय के अनुसार 'रीति' ही काव्य की आत्मा है। विशेष प्रकार की पद-रचना को ही रीति (विशिष्ट पद-रचना रीतिः) बताया गया है। यह 'विशेष' क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है—'विशेषौ गुणात्मा' अर्थात् गुणों से युक्त होना ही विशेषता है। दूसरे शब्दों में गुणों से युक्त रचना-पद्धति रीति है। गुणों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य वामन ने कहा है—"काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" अर्थात् काव्य में **शोभा** उत्पन्न करनेवाले धर्म ही गुण है। ऐसी स्थिति में गुण काव्यगत **शोभा** या **सौन्दर्य** के साधन मात्र सिद्ध होते हैं जिन्हे साध्य से अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता। यहाँ भी वही स्थिति है जो कि अलंकार के क्षेत्र में थी। अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य-सौन्दर्य का कारण माना है जब कि रीतिवादियों ने गुणों—माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि—को। पर यह विवाद अनावश्यक है; सौन्दर्य पर न तो अलंकारों का ही एकाधिकार स्वीकार किया जा सकता है और न ही गुणों का। अलंकार एवं गुणों के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे तत्त्व हो सकते हैं जो कि सौन्दर्य-सृष्टि में सहायक हो सकें। फिर यदि अलंकार गुणों के स्थान पर किसी तीसरे प्रकार के साधन से भी सौन्दर्य की सृष्टि हो जाती है तो उसे भी तिरस्कृत नही किया जा सकता। अतः इस विश्लेषण के अनुसार काव्य की आत्मा के रूप मे तो सौन्दर्य को ही स्वीकार करना होगा—अलंकार एवं रीति तो उसके विभिन्न साधनों में से कुछ है।

४. **ध्वनि-सम्प्रदाय**—ध्वनि-सिद्धान्त की भी स्थिति अलंकार और रीति से भिन्न नहीं है। ध्वनिवादियों ने एक ओर तो व्यंजना को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए व्यंग्यार्थ को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है, पर दूसरी ओर व्यंग्यार्थ के साथ सौन्दर्य की भी शर्त लगाई है। जिस व्यंग्यार्थ से चारुत्व या सौन्दर्य का प्रकाशन होता है उसी को ध्वनि के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। 'ध्वनि' की परिभाषा करते हुए 'ध्वन्यालोक' में कहा गया है—"जो चारुत्व अन्य उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसी को प्रकाशित करनेवाला व्यंजना-व्यापार-युक्त शब्द (वाक्य) ही ध्वनि कहलाता है।" यहाँ

स्पष्ट ही चारुत्व के प्रकाशन एवं व्यंजना-व्यापार—दोनों को ध्वनि के आधारभूत तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है, जिनमें से प्रथम साध्य है तथा द्वितीय उसका साधन। अतः हम 'चारुत्व' या सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा क्यों न मानें ? आगे चलकर अन्य प्रसंगों में भी 'ध्वन्यालोक' के रचयिता ने काव्य के विभिन्न साधनों एवं अंगों को चारुत्व एवं सौन्दर्य के हेतु के रूप में उल्लिखित किया है। अतः ध्वनि-सिद्धान्त भी सौन्दर्य को ही काव्य का सर्वोपरि तत्त्व स्वीकार करता हुआ अप्रत्यक्ष रूप में उसे काव्य की आत्मा मान लेता है।

५. **वक्रोक्ति-सम्प्रदाय**—आचार्य कुन्तक ने वक्रता या वैचित्र्य से युक्त उक्ति को ही 'वक्रोक्ति' के रूप में स्वीकार करते हुए उसे काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। पर साथ ही वक्रता या वैचित्र्य की व्याख्या करते समय उन्हें काव्य-सौन्दर्य (कवि-कर्म-कौशलजन्य शोभा या चारुता) के पर्यायवाची के रूप में भी उल्लिखित किया। वस्तुतः कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्रता, वैचित्र्य, चारुत्व एवं सौन्दर्य का उल्लेख एक दूसरे के पर्याय के रूप मे किया है। वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के प्रसंग में भी वक्रता के विभिन्न प्रकारों का लक्ष्य सौन्दर्य का प्रस्फुटन ही माना है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप में सुन्दर अर्थ को ही काव्य का सर्वस्व मानते हुए कहा है—'काव्य में वही अर्थ अर्थ कहा जाता है जो अपने स्वभाव से ही सुन्दर और सहृदयों को आनन्द देनेवाला हो।' यदि वक्रोक्ति के स्थान पर कोई सहजोक्ति या स्वभावोक्ति भी सौन्दर्य-युक्त हो तो कुन्तक उसे काव्यत्व से युक्त मानने में कोई संकोच नहीं करते। अतः कहना चाहिए कि वक्रोक्ति भी अन्ततः काव्य-सौन्दर्य के विभिन्न अङ्गों में से एक अङ्ग है: उसकी वक्रता सौन्दर्य-सृष्टि का ही एक प्रकार है। आचार्य कुन्तक वक्रता को अपने-आपमें सौन्दर्य मानते हैं, किन्तु हम उसे सौन्दर्योत्पत्ति के अनेक साधनों में से एक साधन मात्र मान सकते हैं, क्योंकि वक्रता सर्वत्र ही सौन्दर्य में परिणत नहीं होती। इस प्रकार वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार भी काव्य की आत्मा के रूप में सौन्दर्य को स्वीकृति देते हुए वक्रोक्ति को उसका एक अङ्ग माना जा सकता है।

६. **औचित्य-सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य का प्रयास करते हुए औचित्य सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने अलङ्कार, रीति, गुण आदि विभिन्न तत्त्वों के उचित प्रयोग—औचित्य—को ही काव्य की आत्मा सिद्ध किया, किन्तु यह उनके ही कथन से प्रमाणित हो जाता है कि औचित्य अपने-आपमें साध्य नहीं है, अपितु वह भी काव्य-सौन्दर्य का साधन है। यहाँ उनके कुछ उद्धरण प्रस्तुत है—

"अलङ्कार तभी **शोभा** बढाने में समर्थ होते है जब कि उनका विन्यास उचित स्थान पर हो।"

"औचित्य के बिना न अलङ्कार **रुचिरता** देते हैं न गुण।"

"प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलङ्कार का प्रयोग हो तो इस **औचित्य** से काव्य-भारती इस प्रकार **शोभित** होती है, जैसे पीन स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अन्ततः औचित्य काव्यगत शोभा, रुचिरता या **सौन्दर्य का** ही संयोजक तत्त्व है। पर केवल औचित्य से ही—सौन्दर्य के अभाव में—

कोई उक्ति काव्यात्मक नहीं हो जाती; जैसे—'राम दशरथ के पुत्र थे' या 'दो और दो चार होते हैं' में पूरा औचित्य है, किन्तु ये काव्यात्मक नहीं हैं। अतः काव्य का प्रमुख तत्त्व तो सौन्दर्य ही है, औचित्य उसके अनेक सहायकों में से एक है।

इस प्रकार विभिन्न भारतीय मतों के निरीक्षण-परीक्षण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार, गुण (रीति), ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि काव्य में सौन्दर्योत्पत्ति के विभिन्न साधन एवं उपादान हैं—काव्य की आत्मा के रूप में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य की आत्मा सौन्दर्य है जिसे भारतीय आचार्यों ने शोभा, रुचिरता, चारुत्व, आदि पर्यायवाचियों के माध्यम से स्वीकृति प्रदान की है। रस इसी काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति है, जिसे आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र की शब्दावली में 'Aesthetic Experience' या 'सौन्दर्यानुभूति' कहा जा सकता है। संक्षेप में—

काव्य के विभिन्न साधन		**काव्य की आत्मा**		**काव्य का फल**
अलंकार, गुण (रीति), ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि	→	सौन्दर्य (शोभा, चारुता, रुचिरता)	→	रस या सौन्दर्यानुभूति

'सौन्दर्य' क्या है ?—उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि विभिन्न भारतीय मत अप्रत्यक्ष रूप में सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं, किन्तु इससे एक नया प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सौन्दर्य क्या है ? पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के आचार्यों ने भी न केवल काव्य, अपितु सभी ललित कलाओं के प्रमुख तत्त्व के रूप में सौन्दर्य को मान्यता प्रदान की है; किन्तु सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में वे भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये हैं। फिर भी यदि सौन्दर्य सम्बन्धी विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जाय तो एक बात स्पष्ट है कि सौन्दर्य किसी भी वस्तु का वह गुण है, जो हमे आकर्षित करता है। विभिन्न वस्तुओं के आकर्षण व विकर्षण की क्षमता को ही व्यावहारिक क्षेत्र में सौन्दर्य एवं असौन्दर्य का नाम दिया जाता है। 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग भी हम अभिधात्मक एवं लक्षणात्मक—संकीर्ण एवं व्यापक—अर्थों में करते है। अपने अभिधात्मक या संकीर्ण अर्थ में सौन्दर्य का सम्बन्ध किसी भी वस्तु के बाह्य आकार, रूप एवं रंग आदि ऐसे स्थूल गुणों से है जिनका बोध केवल चक्षुओं के माध्यम से ही किया जा सकता है। जिस प्रकार सुगन्ध एवं दुर्गन्ध का अनुभव केवल घ्राणेन्द्रिय से ही किया जा सकता है, उसी प्रकार सुन्दर एवं असुन्दर का निर्णय चक्षुरिन्द्रिय से किया जा सकता है। इस प्रकार अभिधात्मक अर्थ में सौन्दर्य वस्तु के उस गुण का नाम है, जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय को आकर्षित करता है। नेत्रों के इसी आकर्षण को कवियों ने बार-बार सौन्दर्य-लोलुपता कहा है। लाक्षणिक या व्यापक अर्थ में सौन्दर्य का सम्बन्ध वस्तुओं के केवल बाह्य रूप-रंग से ही नहीं है, अपितु उसकी उन सूक्ष्म विशेषताओं से भी है जिनका अनुभव चक्षुरिन्द्रिय की सहायता के बिना भी किया जा सकता है। यथा—'वह बहुत सुन्दर गाती है !' गीत की मधुरता का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से है, चक्षुओं से नहीं, फिर भी यहाँ 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है। काव्य-कला के क्षेत्र में भी सौन्दर्य का प्रयोग प्रायः लाक्षणिक रूप में होता है क्योंकि काव्यगत वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष न देखकर कल्पना के माध्यम से ही

देखते हैं। इस प्रकार व्यापक अर्थ में सौन्दर्य, आकर्षण-शक्ति का ही दूसरा नाम है। किसी भी वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति का बाह्य रूप-रंग, स्थूल चेष्टाएँ, या उनकी कोई भी आन्तरिक विशेषता जो हमारी इन्द्रियों को, मन को या बुद्धि को आकर्षित कर ले—वह सौन्दर्य है। अस्तु, सौन्दर्य—आकर्षित करने की क्षमता या आकर्षण-शक्ति।

आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त—उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि साहित्य की आत्मा या मूल शक्ति सौन्दर्य या आकर्षण-शक्ति है। वस्तुतः साहित्य के प्रसंग में सौन्दर्य का प्रयोग अभिधात्मक अर्थ में न होकर लाक्षणिक अर्थ में ही होता है, अतः अपने विवेचन को अधिक स्पष्ट, एवं प्रामाणिक बनाने के लिए 'सौन्दर्य' के स्थान पर 'आकर्षण' का प्रयोग अधिक संगत है। समय-समय पर भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यकार एवं आलोचक साहित्य-चर्चा के प्रसंग में 'आकर्षण' एवं 'आकर्षण-शक्ति' का उल्लेख भी प्रायः करते रहे हैं जिससे उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। भारतीय आचार्यों में भामह,[1] दंडी,[2] रुय्यक,[3] रामचंद्र शुक्ल,[4] डा० श्यामसुन्दरदास,[5] डा० गुलाबराय,[6] डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी,[7] डा० नगेन्द्र,[8] सुमित्रानन्दन पंत,[9] प्रभृति ने तथा पाश्चात्य लेखकों में लोंजाइनस,[10] होरेस,[11] दमित्रियस,[12] क्विण्टिलियन,[13] बुअलो,

१ "शब्द-रचना की चतुराई जितनी 'चित्ताकर्षक' होती है उतनी अर्थालंकार नहीं।" (भामह)।

२. "....विषय-वस्तु की रूप-संपत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य-रसिकों के चित्त को 'आकृष्ट' कर लेता है।" (दंडी)

३. "....वाक्य का अर्थभूत व्यंग्य ही काव्य का जीवन है, यही पक्ष सहृदय पुरुषों का 'आकर्षण' है।" (रुय्यक)

४. "इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत 'आकर्षित' करता था।" (रामचन्द्र शुक्ल)

५. "अलंकार का प्रयोजन अंग विशेष को अधिक 'आकर्षक' बना देता है....।" (डाक्टर श्यामसुन्दरदास)

६. "कबीर के प्रति रवीन्द्रनाथ के 'आकर्षण' के कई कारण थे....।" (डा० गुलाबराय)

७. "....प्रसाद के नाटकों के 'आकर्षक' तत्त्व हैं।" (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)

८. "....काव्य में घटना हमको निश्चय ही 'आकृष्ट' करती है।....किन्तु इस 'आकर्षण' का रहस्य घटना की क्रिया-प्रतिक्रिया में न होकर उसमें निहित मानव-तत्त्व एवं भाव में होता है।" (डा० नगेन्द्र)

९. "....कविता की भाषा का प्राण राग है। 'राग' का अर्थ है 'आकर्षण' : यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं।" (सुमित्रानन्दन पंत)

१०. "पाठक कुछ तो घटनाओं के चयन से 'आकर्षित' होता है और कुछ उनके पारस्परिक संघटन-कौशल से।" (लोंजाइनस)

११. "कविताओं का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं, वे 'आकर्षक' भी होनी चाहिए—उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच ले।" (होरेस)

१२. "प्रायः विषय-वस्तु 'आकर्षणहीन' और विकर्षक होती है, किन्तु लेखक उसे अपनी चारुता का स्पर्श प्रदान करता है।" (दमित्रियस)

१३. "अलंकारों की सबसे बड़ी शक्ति अभिभाषण को 'आकर्षण' युक्त बना देना है।" (क्विण्टिलियन)

पोप, कालरिज, मैथ्यू आर्नल्ड, वाल्टरपेटर आदि ने साहित्य-विवेचन के प्रसंग में आकर्षण-शक्ति का उल्लेख करते हुए इसके अस्तित्व को मान्यता प्रदान की है, पर यह विचित्र बात है कि अब तक किसी ने न तो इस काव्य-गत आकर्षण-शक्ति के रहस्य को ही उद्घाटित करने का प्रयास किया और न ही 'आकर्षण-शक्ति' जैसा कोई सिद्धान्त स्थापित किया। बिना किसी पूर्व-प्रचलित सिद्धान्त के ही आकर्षण-शक्ति की चर्चा होना इस बात का प्रमाण है कि यह एक सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक तत्त्व है जिसे बिना किसी प्रचार के मान्यता प्राप्त है। पर साहित्य की मूल शक्ति को और अधिक स्पष्टता एवं गंभीरता से समझने के लिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर इसे एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त का रूप दिया जा सकता है। वस्तुतः 'साहित्य-विज्ञान' में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने ऐसा ही करने का प्रयास किया है—यहाँ उसी के आधार पर संक्षेप में इस सिद्धान्त का परिचय दिया जाता है।

आकर्षण-शक्ति का वैज्ञानिक आधार—अब तक साहित्य के जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी थी, वे मूलतः दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित थे, क्योंकि प्राचीन युग में दर्शन को ही प्रमाण माना जाता था, किन्तु आधुनिक युग विज्ञान का है, अतः इस युग में किसी भी सिद्धान्त को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उसे दर्शन के स्थान पर विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित किए जाने की आवश्यकता है। आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त भी आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित है। भौतिक विज्ञान के अनुसार ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थों में दो आधारभूत तत्त्वों का अस्तित्व है—द्रव्य (Matter) और शक्ति (Energy)। ये दोनों तत्त्व भी मूलतः एक हैं क्योंकि समस्त द्रव्य का रूपान्तरण शक्ति में तथा शक्ति का रूपान्तरण द्रव्य में होता रहता है। अस्तु, मूलतत्त्व शक्ति ही है। यह शक्ति ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है तथा समय-समय पर विभिन्न तत्त्वों, एवं पदार्थों के रूप में अपना रूपान्तरण करती रहती है। ब्रह्माण्ड मे व्याप्त समस्त शक्ति को न तो घटाया जा सकता है, न बढ़ाया जा सकता है और न ही उसे नष्ट किया जा सकता है—अतः वह अनन्त, अक्षय और अमर है। पर इस शक्ति की दो अवस्थाएँ होती है—एक सक्रिय और दूसरी निष्क्रिय। इसी को हम 'जागृत' एवं 'सुषुप्त' रूप कह सकते है। जब भी शक्ति जागृत एवं सक्रिय होती है तो वह एक साथ दो रूपों में कार्य करती है—आकर्षण एवं विकर्षण। एक दिशा का विकर्षण ही दूसरी दिशा में आकर्षण है, अतः संक्षेप में शक्ति के सभी सक्रिय रूपों को आकर्षण-शक्ति भी कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।

ब्रह्माण्ड में व्याप्त यह आकर्षण-शक्ति अलग-अलग क्षेत्रों, स्तरों, व माध्यमों में अलग-अलग रूपों में कार्य करती है जिससे इस एक शक्ति को अनेक नाम दिये जाते हैं—यथा—गुरुत्वाकर्षण-शक्ति, चुम्बक-शक्ति, विद्युत्-शक्ति, आणविक शक्ति, यौनाकर्षण-शक्ति, मानसिक शक्ति आदि। क्षेत्र और माध्यम का अन्तर होते हुए भी ये सभी शक्तियाँ मूलतः एक हैं, इस तथ्य को आधुनिक विज्ञान ने स्वीकार किया है क्योंकि एक रूप का परिवर्तन दूसरे रूप में होना संभव है। दूसरे, ये सभी शक्तियाँ आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती हैं तथा इनकी अनेक प्रवृत्तियाँ समान है। हमने भौतिक विज्ञान,

रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर शक्ति के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद आकर्षण-शक्ति की आठ ऐसी प्रवृत्तियों का अनुसंधान किया है जो शक्ति के प्रायः सभी रूपों में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होती हैं। वे ये हैं—(१) शक्ति सदा आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती है। (२) शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्त्वों के रूप में होता है जिन्हें धनात्मक (Positive), ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Neutral) तत्त्वों की संज्ञा दी जा सकती है। (३) शक्ति के धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों में परस्पर आकर्षण रहता है जबकि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है। (४) शक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं—जागृत एवं सुषुप्त। जागृत अवस्था में शक्ति कार्य करती है और सुषुप्त में निष्क्रिय हो जाती है। शक्ति के जब धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों में परस्पर संतुलन या साम्य रहता है तो शक्ति निष्क्रिय रहती है जबकि इस सन्तुलन के भंग हो जाने पर शक्ति जागृत एवं सक्रिय हो जाती है। (५) सक्रिय हो जाने के बाद शक्ति चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है—संपर्क-स्थापना या संयोजन, संप्रेषण, द्रवण और अभिव्यक्ति। (६) आकर्षण-शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है, एक स्तर पर कार्य करनेवाला रूप दूसरे स्तर के लिए प्रायः अनुपयोगी हो जाता है। (७) आकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गति से आवर्त्तन-परिवर्तन के रूप में आगे बढ़ती है। (८) शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर, वैषम्य से साम्य से की ओर तथा असंतुलन से सन्तुलन की ओर अग्रसर होने का रहता है।

आकर्षण-शक्ति की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य की शक्ति मे भी उपलब्ध होती हैं—इसका स्पष्टीकरण 'साहित्य-विज्ञान' या 'साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन' में विस्तार से किया गया है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति—जैसा कि पीछे कहा गया है, साहित्य की आकर्षण-शक्ति विश्व में व्याप्त शक्ति का ही एक रूप है। शक्ति के अन्य रूपों से वह क्षेत्र, स्तर एवं माध्यम की दृष्टि से ही पृथक् है, किन्तु उसकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ वे ही हैं जो सामान्य रूप में शक्ति के अन्य रूपों में मिलती हैं। जिस प्रकार वैज्ञानिक विभिन्न भौतिक पदार्थों से उनमें निहित शक्ति को जगाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी विभिन्न मानसिक तत्त्वों की शक्ति को जगाकर उसे एक ऐसा माध्यम या रूप प्रदान करता है जिसे हम साहित्य कहते हैं। साहित्यकार का द्रव्य मानसिक क्षेत्र का होता है तथा उसका माध्यम भाषा का होता है, अतः उसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त सूक्ष्म एवं अदृश्य होती है। कलाकार के मन में जो कुछ घटित होता है, उसे हम रसायन-शाला के प्रयोगों की भाँति प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख पाते, पर उसकी आन्तरिक प्रक्रिया बहुत-कुछ शक्ति के बाह्य एवं स्थूल रूपों के अनुरूप ही होती है।

साहित्यकार द्वारा प्रयुक्त द्रव्य को भी मुख्यतः तीन तत्त्वों में विभक्त किया जाता है—(१) भाव (२) विचार और (३) कल्पना। ये तत्त्व क्रमशः धनात्मक, ऋणात्मक एवं उभयात्मक कोटि के कहे जा सकते हैं। साहित्य की आकर्षण-शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों का सम्पर्क ही पर्याप्त नहीं है, अपितु कल्पना-

शक्ति का जागरण भी अपेक्षित है। भावों और विचारों का सम्पर्क तो सामान्य जीवन में भी रहता है, किन्तु कला और साहित्य में कल्पना की शक्ति सर्वाधिक सक्रिय रहती है जिससे कटु भाव और शुष्क विचार भी आकर्षक बन जाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साहित्य में कोरे भाव, कोरे विचार या कोरी कल्पना-शक्ति से आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति सम्भव नहीं, अपितु इनमें से एक का दूसरे के साथ सम्पर्क एवं सहयोग अपेक्षित है क्योंकि आकर्षण-शक्ति की यह प्रवृत्ति है कि वह विरोधी तत्त्वों के सम्पर्क से ही उद्दीप्त होती है। उदाहरण के लिए काले रंग और पीले रंग में या सफेद और नीले में परस्पर विरोध है, अतः चित्रकार इन विरोधी रंगों के सम्पर्क से ही आकर्षण की उद्दीप्ति करता है। यही बात साहित्य की शक्ति पर लागू होती है।

सभी रचनाओं में भाव, विचार और कल्पना की मात्रा समान नहीं होती, किसी में भाव की प्रमुखता होती है तो किसी में विचार की और किसी में कल्पना की तथा शेष दो तत्त्व गौण रूप में होते हैं। इस भेद के कारण साहित्य की आकर्षण-शक्ति के भी तीन भेद हो जाते हैं—भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण और कल्पनात्मक आकर्षण (या रूपात्मक आकर्षण)। यहाँ क्रमशः तीनों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

(क) भावात्मक आकर्षण—

वहै चतुराई सों चिताई, चाहिबे की छबि
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनँद-निधान प्रान प्रीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुध करति है॥

—घनानन्द

या—

राति ना सुहात, ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात, काहू निरमोही सों।

—पद्माकर

(ख) बौद्धिक आकर्षण—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पै परत निसान॥

या—

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को दीपसिंह देत बुझाय॥

(ग) कल्पनात्मक आकर्षण—

माली आवत देखि के कलियाँ करैं पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये काल हमारी बार॥

—कबीर

या—

मृग-मरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पग धर,

रुद्ध हृदय के पट लेता कर,
गर्वित कहता "मैं मधु हूँ मुझसे
क्या पतझड़ का नाता ।।

—महादेवी

उपर्युक्त अंशों में क्रमशः भाव, विचार एवं कल्पना की प्रधानता के कारण आकर्षण की उद्दीप्ति हुई है। साहित्य की विषय-वस्तु में इन तीन तत्त्वों में से किसी एक की प्रधानता के कारण उसकी भाषा-शक्ति में भी अन्तर आ जाता है। जब विचार की प्रमुखता होती है तो वह रचना अभिधात्मक, भाव की प्रमुखता होने पर लाक्षणिक तथा कल्पना की प्रमुखता होने पर व्यंग्यात्मक हो जाती है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति साहित्यकार और पाठक के मन में क्रमशः चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है—(१) संयोजन (२) संप्रेषण (३) द्रवण और (४) अभिव्यक्ति। आकर्षण-शक्ति के कारण ही कवि और पाठक की सर्वप्रथम विषय-वस्तु में रुचि उत्पन्न होती है जिससे उनका विषय के साथ सम्पर्क-स्थापन या संयोजन होता है, तदनन्तर विषय के साथ तादात्म्य स्थापित होता है जिसे संप्रेषण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। संप्रेषण के अनन्तर क्रमशः द्रवण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं जिनके द्वारा साहित्यकार एवं पाठक की अन्तश्चेतना द्रवित होकर व्यक्त होने लगती है। साहित्यकार में यह अभिव्यक्ति जहाँ रचना के रूप में होती है, वहाँ पाठक में हर्ष, उल्लास एवं आनन्द की अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इस प्रकार ये चारों प्रक्रियाएँ क्रमशः पहले साहित्यकार के मन में तथा फिर पाठक के मन में सम्पादित होती हैं। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-शास्त्र की साधारणीकरण, तादात्म्य, विवेचन, सम्प्रेषण, अभिव्यंजना आदि की क्रियाएँ इन्हीं चारों प्रक्रियाओं के विभिन्न पक्षों को सूचित करती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार साहित्य की साहित्यिकता का मूल आधार साहित्यकार द्वारा उद्दीप्त आकर्षण-शक्ति ही है। अन्य सिद्धान्तों के साथ भी इस सिद्धान्त का मेल हो जाता है। रस वस्तुतः आकर्षण की ही व्यापक एवं गम्भीर अनुभूति है तो अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि आकर्षण की उद्दीप्ति के ही विभिन्न साधन हैं। वस्तुतः यही आकर्षण-शक्ति काव्य की आत्मा या साहित्य की शक्ति है। पाश्चात्य आचार्य होरेस ने ठीक कहा था—"काव्य का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं है, वह आकर्षक भी होना चाहिए—उसमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच सके।"

: चार :

साहित्य में कल्पना और बिम्ब

प्राचीन युग में साहित्य-मीमांसकों का ध्यान कल्पना-शक्ति की ओर बहुत कम गया था जिससे वे काव्य-सर्जन की प्रक्रिया की यथोचित मीमांसा करने में असफल रहे। एक वर्ग ने यदि कवि की रचना-शक्ति को अनुकरण की प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करते हुए उसे मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करनेवाला घोषित कर दिया, तो दूसरे वर्ग ने काव्य-सृजन की प्रक्रिया को किसी दिव्य शक्ति या दैवी प्रेरणा पर आधारित मानकर कवि को ईश्वर का प्रतिनिधि सिद्ध कर दिया। वस्तुतः ये दोनों ही मत अति-वादी थे तथा वास्तविकता से दूर थे, जबकि काव्य-प्रतिभा न तो शुद्ध अनुकृति पर आधारित है, न ही उसमें कोई दैवी शक्ति है। वस्तुतः उसका मूलाधार कवि की उस मानसिक शक्ति में निहित है, जो कि अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष में, अतीत को वर्तमान में, स्थूल को सूक्ष्म में और असुन्दर को सुन्दर में परिणत कर देने की क्षमता से युक्त है। इसी शक्ति को मनोविज्ञान-क्षेत्र में 'कल्पना' के नाम से पुकारा जाता है। यह कल्पना न तो शिक्षा-दीक्षा एवं पूर्वाभ्यास पर आधारित है और न ही इसके पीछे किसी दैवी शक्ति का हाथ है—वस्तुतः यह मानव की एक प्राकृतिक मानसिक शक्ति है, जो कि न्यूनाधिक मात्रा में सभी में होती है; किन्तु कवि में यह अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में होती है, इसी से वह काव्य-रचना में सफल होता है।

कल्पना : स्वरूप मीमांसा—कल्पना एक मानसिक तत्त्व है, अतः उसके सम्बन्ध में साहित्यिक दृष्टि से विचार करने से पूर्व मनोविज्ञान के आधार पर उसका स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए। सुप्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता मैक्डूगल महोदय ने कल्पना की

परिभाषा करते हुए कहा है—'अप्रत्यक्ष वस्तुओं से सम्बन्धित चिन्तन-मनन ही कल्पना है।' वुडवर्थ महोदय के विचारानुसार कल्पना 'एक मानसिक कौशल है।' एक अन्य लेखक ने कल्पना की परिभाषा करते हुए लिखा है—'कल्पना अपने सरलतम रूप में एक ऐसी शक्ति कही जा सकती है, जो कि पूर्व-अनुभवों की प्रतिलिपि पुनरुत्पादित करती है।' इसी प्रकार जे. पी. सार्त्र ने अपने कल्पना-सम्बन्धी ग्रन्थ में इसके चार प्रमुख लक्षण बताये है—(१) उसका सम्बन्ध चेतना से होता है। (२) उसमे अर्द्ध निरीक्षण की प्रवृत्ति होती है। (३) उसका आलम्बन शून्य या सत्ताहीन होता है। (४) वह स्वच्छन्द होती है। इन परिभाषाओं एवं लक्षणों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है, जो व्यक्ति के पूर्व-अनुभवों के आधार पर अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म एवं नूतन वस्तुओ या विचारों का आविष्कार, निर्माण या पुनर्निर्माण करती है। अतीत के अनुभव हमारे मन मे बिम्ब रूप मे संचित होते है, उन्ही बिम्बों का परस्पर जोड़-तोड़ करके वह नये रूपों का निर्माण करती है। यद्यपि कल्पना इच्छा-प्रेरित होती है, पर बुद्धि का अंकुश वह बहुत कम स्वीकार करती है—यह दूसरी बात है कि वह अपने पीछे बुद्धि को भी ले चले—इसलिए वह स्वच्छन्द कही जा सकती है। जब कल्पना बुद्धि के हो नेतृत्व एवं नियंत्रण मे कार्य करने लगती है तो उसी स्थिति मे उसे कल्पना न कहकर चिन्तन या मौलिक चिन्तन कहा जाता है। जब यही कल्पना भावानुभूतियों से प्रेरित होकर भाषा के माध्यम से कार्य करती है तो वह उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियों के सर्जन में सक्षम होती है। इस प्रकार कल्पना ही वह मूल शक्ति है, जो जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में नूतन विचारों, नयी वस्तुओं एवं नये क्रिय-कलापों का आविष्कार करती है।

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के विभिन्न भेदोपभेद भी किए है। मूलतः कल्पना के दो भेद माने जाते हैं—(१) ग्रहणात्मक (Receptive) और (२) सर्जनात्मक (Creative)। ग्रहणात्मक कल्पना मे हम अप्रत्यक्ष वस्तु के वर्णन के आधार पर उसका बोध प्राप्त करते है, जबकि सर्जनात्मक कल्पना द्वारा स्वयं नयी वस्तु का निर्माण करते है। सर्जनात्मक कल्पना के भी दो भेद किए गये है—(१) व्यवहारोन्मुख (Pragmatic) और (२) सौन्दर्योन्मुख। इनमें से प्रथम का उपयोग जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में, नयी योजनाओं के निर्माण मे एवं नूतन विचारों व सिद्धान्तों की स्थापना में होता है, जबकि दूसरी—सौन्दर्योन्मुख—का उपयोग कलाकृतियों के और दिवा-स्वप्नों के निर्माण में होता है। वस्तुतः साहित्य-रचयिता का सम्बन्ध कल्पना के इसी दूसरे भेद से है।

साहित्य में कल्पना-शक्ति—साहित्य में कल्पना-शक्ति के महत्त्व की प्रतिष्ठा का श्रेय सबसे अधिक स्वच्छन्दतावादी कवियों को है। अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के प्रवर्त्तकों ने परम्परागत अनुकृति-सिद्धान्त के स्थान पर कल्पना-शक्ति की प्रतिष्ठा करते हुए उसे काव्य का सर्वोपरि तत्त्व घोषित किया। एस० टी० कालरिज ने अपने ग्रन्थ 'बायग्राफिया लिट्रेरिया' (साहित्य की जीवन-कथा) में कल्पना-शक्ति का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुए अपना निर्णय इन शब्दों

में दिया—"**Finally, good sense is the body of poetic genius, fancy its drapery, motion its life and imagination the soul that is everywhere and in each, and forms all into one graceful and intelligent whole.**" अर्थात् 'अंततोगत्वा, विवेक-शक्ति काव्यात्मक प्रतिभा का शरीर है, अनुमान-शक्ति उसका वस्त्र, भावावेग उसका जीवन है तथा कल्पना-शक्ति ही वह आत्मा है, जो कि (प्रत्येक काव्य में) सर्वत्र होती है तथा जो समस्त तत्त्वों को एक सुष्ठु एवं बोध-गम्य रूप प्रदान कर देती है।'

साहित्य में कल्पना-शक्ति कई कार्य करती है, जिन्हें मुख्यतः पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विषय-वस्तु का चेतन-स्तर पर प्रस्तुतीकरण। साहित्यकार जिस द्रव्य-सामग्री या वस्तु का उपयोग अपनी रचना में करता है, वह प्रायः उसके अव-चेतन एवं अचेतन मन में विभिन्न अनुभूतियों, संस्कारों, बिम्बों एवं धारणाओं के रूप में विद्यमान रहती है, जिसे स्मृति एवं कल्पना की सहायता से चेतन स्तर पर लाया जाता है। पर स्मृतियाँ वस्तु को मूलरूप में ही पुनरुत्पादित करती है जिससे उसमें रूपगत नवीनता एवं साहित्यिक आकर्षण का आविर्भाव नहीं हो पाता, जबकि कल्पना उसे नूतन एवं आकर्षक रूप में प्रस्तुत करती है। इसलिए कल्पना द्वारा प्रस्तुत विषय ही काव्यात्मक शक्ति से युक्त हो पाता है। (२) कल्पना का दूसरा कार्य—द्रव्य या विषय-वस्तु का विस्तार करना है। इसी से वस्तु विस्तृत, स्पष्ट एवं अनुभूतिगम्य रूप प्राप्त करती है। (३) नये द्रव्य का आविर्भाव या नयी वस्तु की कल्पना करना भी कल्पना-शक्ति का तीसरा कार्य है। इसी से साहित्यकार नयी घटनाओं एवं नूतन पात्रों की सृष्टि करता है। (४) द्रव्य या विषय-वस्तु को अनुभूतिगम्य बनाना कल्पना का चौथा कार्य है। कल्पना अपनी वस्तु को बिम्बों या सजीव चित्रों के रूप में प्रस्तुत करती है, इससे वे सहज ही पाठक के लिए अनुभूतिगम्य हो जाते हैं। (५) देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्ति—यह कल्पना का पाँचवाँ या अन्तिम कार्य है। दैनिक जीवन में हम अपने अनुभव दूसरे व्यक्तियों को सुनाते हैं, पर फिर भी वे सामान्य श्रोता को आकर्षित नहीं कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि वहाँ हमारा अनुभव देश-काल की सीमाओं से बँधा हुआ तथा वैयक्तिकता से ग्रस्त होता है जिससे उसका साधारणीकरण या समाजीकरण नहीं हो पाता, जबकि कला में वस्तु के पूर्ण प्रभावोत्पादक एवं सम्यक् आस्वादन के लिए उसका साधारणीकरण अपेक्षित है। वस्तुतः वस्तु का वैयक्तिक व देश-काल की सीमाओं से मुक्त हो जाना ही साधारणीकरण है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री इन सीमाओं से मुक्त हो जाती है—अतः वह काव्य के साधारणीकरण में योग देती है। भारतीय आचार्यों के अनुसार साधारणीकरण ही काव्य की वह प्रक्रिया है, जो काव्यास्वादन के चरम लक्ष्य की पूर्ति का साधन है—इस दृष्टि से कल्पना के इस कार्य का महत्त्व बहुत अधिक है।[1]

कल्पना और बिम्ब—कल्पना साहित्य में कई प्रकार के कार्य करती है, उनमें

---

१. **कल्पना के इन क्रिया-व्यापारों के स्पष्टीकरण के लिए द्रष्टव्य 'साहित्य विज्ञान' का द्वितीय खण्ड—'साहित्य के तत्त्व'।**

एक सूक्ष्म विचार को स्थूल बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करने का भी है। यद्यपि स्वच्छन्दतावादी कवियों ने कल्पना को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया था, किन्तु परवर्ती युग में कल्पना की अपेक्षा बिम्ब को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी कविता में अनेक ऐसे आन्दोलनों का प्रवर्त्तन हुआ जिन्होंने बिम्ब-विधान को ही कवि-कर्म का लक्ष्य घोषित करते हुए उसका घोर समर्थन किया। वस्तुतः बिम्ब-विधान के समर्थकों ने एक प्रकार से 'बिम्बवाद' की ही स्थापना करते हुए बिम्ब की ऐसी विस्तृत एवं व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार काव्य का सब-कुछ बिम्ब मे ही समाविष्ट हो जाता है। वस्तुतः काव्य-शास्त्रियों की यह दुर्बलता सदा से रही है कि वे एक सिद्धान्त और उसका इतना विस्तार दे देते है कि वह अपनी मूल सीमाओं से भी आगे बढ़कर विकृत हो जाता है। यही अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने किया और यही बिम्बवादी कर रहे है। अस्तु, हमारे विचार मे बिम्ब-विधान श्रेयस्कर होते हुए भी बिम्बवाद की कट्टर एवं अंधधारणाएँ ग्राह्य नहीं है। यहाँ हम बिम्ब-सिद्धान्त को उसके सीमित एवं संतुलित रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके पक्षों का परिचय देने का प्रयास करेंगे।

'बिम्ब' क्या है ?—शाब्दिक दृष्टि से 'बिम्ब' (Image) का अर्थ है—प्रतिभा, आकृति, रूप, चित्र आदि। मनोविज्ञान के अनुसार जब हम इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल जगत् की विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क मे आते है, तो उनका प्रतिबिम्ब या चित्र हमारे मन में अंकित हो जाता है तथा ये प्रतिबिम्ब ही समय-समय पर हमारी वासना, संस्कार, स्मृति, भावना आदि को जागृत करने का कार्य करते हैं। ये बिम्ब एक प्रकार से संचित अनुभूतियों के रूप में हमारे अवचेतन मन में सदा विद्यमान रहते हैं, पर समय-समय पर स्मृति एवं कल्पना की सहायता से पुनः हमारे चेतन स्तर पर उदित होकर हमें भाँति-भाँति के बोध प्रदान करते है। कवि या कलाकार इन्हीं बिम्बों को अपनी रचना में प्रस्तुत करता है, जिन्हे ग्रहण करते हुए पाठक या दर्शक सामाजिक विषय का बोध प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में बिम्ब ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रतिबिम्ब है, जो कि मन में अंकित हो जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से बिम्ब की अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं। सी. डी. लेविस महोदय ने बिम्ब के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन करते हुए कहा है—'काव्यात्मक बिम्ब शब्दों के माध्यम से निर्मित एक ऐसा चित्र है, जिसका किसी न किसी प्रकार के ऐन्द्रिक गुण से सम्पर्क हो।'[१] राबिन स्कैल्टन के विचारानुसार 'बिम्ब एक ऐसा शब्द है जो कि ऐन्द्रियानुभूति का भाव जाग्रत करता है।'[२] इसी प्रकार डा० नगेन्द्र के मत से 'काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।'

काव्य-बिम्ब या काव्यगत बिम्ब के स्वरूप के सम्यक् बोध के लिए उसके पाँच

---

१. **बिम्ब-सिद्धान्त के परिचय के लिए द्रष्टव्य—डा० नगेन्द्र कृत 'काव्य-बिम्ब'।**

२. **'साहित्य की शैली', पृष्ठ ३१३।**

लक्षणों पर भी विचार किया जा सकता है। काव्य-बिम्ब का पहला लक्षण है—चित्रात्मकता। इससे आशय यह कि जिस प्रकार चित्र में वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है, उसी प्रकार बिम्ब में भी उसका ऐसा प्रतिबिम्ब होता है, जो पाठक के मन में उस वस्तु की अनुभूति जगा सके। दूसरा लक्षण शब्दरूपात्मकता है—अर्थात् काव्य में बिम्ब चित्र की भाँति रेखाओं में नहीं; अपितु शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत होता है। तीसरा लक्षण ऐन्द्रिकता है—जिसका अर्थ है कि वह चित्र केवल स्थूल वस्तु का ही प्रतिबिम्ब न हो, अपितु उसका सम्बन्ध ऐन्द्रियबोध से होना चाहिए या यों कहिए कि उसमें हमारी इन्द्रियों को गुदगुदा देने की क्षमता होनी चाहिए। चौथा लक्षण भावोत्पादकता है अर्थात् काव्य-बिम्ब में भावोत्पादन की क्षमता का होना अनिवार्य है। पाँचवें लक्षण के अनुसार उसमें आरोपण का अभाव होना चाहिए अर्थात् वह अलंकारों की भाँति मूल वस्तु पर ऊपर से या बाहर से आरोपित नहीं होना चाहिए, उसका वस्तु से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए, अन्यथा बिम्ब और अलंकार में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।

काव्य-बिम्ब के विभिन्न आचार्यों ने भेदोपभेद भी किए हैं तथा पश्चिम के कुछ विद्वानों ने तो इसे इतना विस्तार दे दिया है कि उससे काव्य की प्रत्येक वस्तु बिम्ब में ही आ जाती है। हिन्दी के विद्वानों ने भी प्रायः इन्ही का अनुसरण किया है जो ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विवाद का विषय यह है कि क्या बिम्ब चाक्षुष अनुभूति से ही सम्बद्ध है अथवा अन्य इन्द्रियों से भी। पश्चिम के अनेक मीमांसकों ने बिम्ब का सम्बन्ध प्रायः सभी प्रकार की ऐन्द्रियानुभूतियों से माना है, पर हमारे विचार में यह मान्यता बिम्ब के मूल स्वरूप के प्रतिकूल है। एक ओर वे बिम्ब को वस्तु का प्रतिरूप या चित्र मानते है, तो दूसरी ओर उसे श्रवणेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय से भी सम्बन्धित मानते हैं—यह परस्पर-विरोधी वस्तु है। गुलाब के फूल का बिम्ब हमारे मन में अंकित हो सकता है, पर उसकी सुगन्ध का चित्र कैसे सम्भव है? गानेवाली का इमेज हमारे मन में उभर सकता है, पर उसके स्वर-माधुर्य का प्रभाव बिम्ब रूप में कैसे अंकित हो सकता है! वस्तुतः जहाँ चाक्षुष अनुभूतियाँ बिम्ब रूप में अंकित होती हैं, वहाँ घ्राणेन्द्रियों एवं श्रवणेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त सूक्ष्म एवं अगोचर गुणों की अनुभूतियाँ हमारे मन में 'संस्कार' रूप में ही विद्यमान रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि गन्ध एवं ध्वनि का बिम्ब नहीं, संस्कार-मात्र अंकित होता है, क्योंकि इनका बिम्ब या चित्र सम्भव ही नहीं। ऐसी स्थिति में गंध या ध्वनि के चित्र (बिम्ब) की बात करना या तो 'बिम्ब' शब्द का अनर्थ करना है अथवा भाषा के साथ खिलवाड़ है। यदि बिम्ब के अन्तर्गत हम सभी अनुभूतियों को लेना चाहते हैं तो फिर हमें बिम्ब की परिभाषा में से 'चित्र', 'मूर्त्त रूप', 'प्रतिबिम्ब', 'मूर्त्ति' आदि शब्दों को निकाल देना चाहिए। परिभाषा को ज्यों का त्यों रखते हुए भी बिम्ब से सभी अनुभूतियों को सम्बद्ध कर देना सर्वथा अवैज्ञानिक एवं असंगत प्रयास है।

और यदि बिम्ब की परिभाषा को बदलते हुए प्रत्येक प्रकार के विचार, भाव या अनुभूति के अगोचर रूप के वर्णन को ही हम 'बिम्ब' संज्ञा देने लगे, तो फिर कविता में ही क्यों, हमारे मुख से उच्चरित प्रत्येक शब्द को बिम्ब सिद्ध किया जा सकता है। अस्तु,

साहित्याचार्यों से हमारा निवेदन है कि वे शास्त्र-मीमांसा के समय भावुकता से नहीं, बौद्धिकता से काम लें तो अपने विवेचन के साथ अधिक न्याय करेंगे।

अतः बिम्ब के विभिन्न भेदों के अन्तर्गत विभिन्न इन्द्रियों के आधार पर उन्हें घ्राणपरक, स्वादपरक, ध्वनिपरक, चाक्षुष आदि भेदों में विभाजित करना हमें मान्य नहीं है, क्योंकि बिम्ब अपने सही अर्थ में केवल चाक्षुष होता है—अन्य भेद भ्रामक हैं। इनके अतिरिक्त भी बिम्ब के अनेक भेद किए गये हैं; यथा—'सरल बिम्ब', 'तात्कालिक बिम्ब', 'विशृङ्खलित बिम्ब', 'प्रतिमाशून्य बिम्ब' (Abstract Image), 'रूपकात्मक बिम्ब', 'आलंकारिक बिम्ब', 'प्रतीकात्मक बिम्ब' आदि। ये भेद न केवल अनावश्यक हैं अपितु कहीं-कहीं तो बिम्ब के मूल स्वरूप के भी प्रतिकूल हैं। यथा 'प्रतिमाशून्य बिम्ब' लीजिए; यह ऐसा है जैसा कि कोई कहे कि 'मधुरताशून्य मिठाई' या 'लावण्यशून्य लवण'। जब बिम्ब का लक्षण ही प्रतिमायुक्त होना है तो उसका एक भेद प्रतिमाशून्य मानना स्वतोव्याघात दोष का उदाहरण प्रस्तुत करना है! इसी प्रकार बिम्बों को रूपकों और अलंकारों से सम्बद्ध करके भी बिम्ब, रूपक, अलंकार आदि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की सीमाओं के पार्थक्य को मिटाकर उन्हें घुला-मिला देने का प्रयास मात्र है।

बिम्ब और अलंकार—यद्यपि कुछ अलंकारों में बिम्बात्मकता का एवं कुछ बिम्बों में आलंकारिकता का गुण दृष्टिगोचर होता है, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। बिम्ब-योजना का लक्ष्य जहाँ केवल वस्तु के रूप-रंग को ही गोचर रूप में प्रस्तुत करते हुए उसको ऐन्द्रिक बोध प्रदान करना होता है, जबकि अलंकार का लक्ष्य प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का सादृश्य या वैषम्य प्रदर्शित करते हुए बौद्धिक चमत्कार उत्पन्न करना भी होता है। दूसरे, बिम्ब जहाँ केवल प्रस्तुत या उपमेय का ही बोध प्रदान करता है, वहां अलकार में प्रस्तुत या उपमान का भी संयोग होता है। तीसरे, बिम्ब मूलतः स्वभावोक्ति पर आधारित होता है, जबकि अलंकार का आधार अतिशयोक्ति या अत्युक्ति या अत्युक्तिपूर्ण कथन होता है। दूसरे शब्दों में जहाँ बिम्ब वस्तु के प्रत्यक्ष चित्रण द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है, वहाँ अलंकार अप्रत्यक्ष या अन्य विषय के सहयोग से यह कार्य संपादित करता है—अतः इन दोनों के इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए दोनों को पृथक् सिद्धान्तों के रूप मे ग्रहण करना उचित होगा।

बिम्ब और प्रतीक—बिम्बवादियों ने 'प्रतीकात्मक बिम्ब' तथा प्रतीकवादियों ने 'बिम्बात्मक प्रतीक' जैसे भेदों की कल्पना करके एक-दूसरे के क्षेत्र में अनुचित अधिकार करने का प्रयास किया है। वस्तुतः बिम्ब और प्रतीक में गहरा अन्तर है—(१) बिम्ब में विषय-वस्तु का बोध प्रत्यक्ष एवं अभिधा में प्रस्तुत किया जाता है, जबकि प्रतीक के मूल में लक्षणा एवं व्यंजना कार्य करती है। (२) बिम्ब में शब्दावली सदा एकार्थक होती है, जबकि प्रतीक में शब्दों के कम से कम दो अर्थ होते हैं, जैसे—'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल' में दीपक प्रतीक है, जिसके दो अर्थ हैं—दिया और जीवन। (३) बिम्ब का लक्ष्य चित्रात्मकता है, जबकि प्रतीक वक्रता के द्वारा आकर्षण उत्पन्न करता है। अतः

बिम्ब और प्रतीक प्रत्येक स्थिति में भिन्न कोटि के तत्त्वों पर आधारित सिद्धान्त सिद्ध होते है ।

बिम्ब-विधान की प्रक्रिया—डा० नगेन्द्र ने बिम्ब-रचना की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उसके तीन सोपान निर्धारित किए है—(१) अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण (२) साधारणीकरण और (३) शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति । इन प्रक्रियाओं द्वारा कवि की सर्जन-प्रक्रिया का भी पता चलता है । कवि या साहित्यकार किसी भी अनुभूति के व्यावहारिक योग के समय काव्य का सर्जन करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि उस समय वह अनुभूति में इतना तल्लीन रहता है कि उससे ऊपर उठकर उसे तटस्थ रूप में नहीं देख पाता । जब आगे चलकर कवि की अनुभूति संस्कार-रूप में अवशिष्ट रहती तो उसी स्थिति में वह उसे निर्वैयक्तिक रूप में प्रस्तुत कर पाता है । इस निर्वैयक्तीकरण की ही अगली अवस्था साधारणीकरण है—अर्थात् कवि की अनुभूति सबकी अनुभूति बनने योग्य हो जाती है । तीसरी स्थिति है—शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति । कवि की साधारणीकृत अनुभूति शब्दों में व्यक्त होती है । यद्यपि डा० नगेन्द्र ने इन तीनों स्थितियों का विवेचन अत्यन्त मौलिक एवं सूक्ष्म रूप में किया है, पर एक स्थल पर हम उनसे सहमत नही है । वे लिखते है—'लक्षणा के प्रयोग द्वारा रूप-रेखाओं में रंग भर-कर....(कवि) बिम्ब को पूर्णता प्रदान करता है ।' हमारे विचार में यह बात वक्रोक्ति एवं प्रतीक योजना पर तो लागू होती है, पर बिम्ब-योजना पर नहीं, क्योंकि बिम्ब के मूल में स्वभावोक्ति एवं अभिधा-शक्ति ही कार्य करती है । सम्भवतः उन्होंने भी पाश्चात्य बिम्बवादियों की भाँति बिम्ब को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर लिया है जिसके अनुसार अलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक आदि सभी बिम्ब मे आ जाते हैं । फिर भी यदि डा० नगेन्द्र बिम्ब और प्रतीक को भिन्न-भिन्न मानते है तो हमारा निवेदन है कि वे अपनी उपर्युक्त धारणा पर पुनर्विचार करें ।

बिम्ब का काव्यात्मक मूल्य—जिस प्रकार अलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक आदि का लक्ष्य काव्य में सौन्दर्य या आकर्षण उत्पन्न करना है, उसी प्रकार बिम्ब-योजना का भी लक्ष्य यही है । बिम्ब-योजना मे मूल वस्तु को ही इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जिससे वह हमारी कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करती हुई अनुभूतिगम्य हो सके । जहाँ बिम्ब-योजना से इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती अर्थात् न तो वह हमारी कल्पना-शक्ति को ही उत्तेजित करती है और न ही भावानुभूति प्रदान करती है—वहाँ वह काव्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है । बिम्ब-योजना में यह शक्ति उसी स्थिति मे आती है, जबकि एक तो वह भावानुभूति से प्रेरित हो तथा दूसरे, बिम्ब अपने आपमें पूर्ण हो । भावानुभूति से शून्य बिम्ब तथा खंडित बिम्ब काव्य के सौन्दर्य में अभिवृद्धि नहीं करते, यथा—बिहारी से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ ।
चढ़ी हिंडोरें सें रहे, लगी उसासनु साथ ।।

यहाँ विरहिणी नायिका का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत किया गया है । इसमें स्थूल दृष्टि

से बिम्ब के सभी बाह्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, पर फिर भी अनुभूति की यथार्थता के अभाव में वह काव्यात्मक दृष्टि से आकर्षण-शून्य है। दूसरी ओर यहाँ सफल बिम्ब-योजना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) भौंह उँचै, आँचरु उलटि, मोरि-मोरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, डोठि-डोठि सों जोरि॥
(ख) बेंदी भाल, तमोल मुख, सीस सिलसिले बार।
दृग आंजे राजे खरी, बेई सहज सिंगार॥

यहाँ दोनों दोहों में अनुभूतिपूर्ण बिम्ब-योजना उपलब्ध होती है। वस्तुतः कल्पना यदि बिम्ब की उत्पादिका है तो अनुभूति उसकी संगिनी है—उसके अभाव में बिम्ब आकर्षणशून्य सिद्ध होता है। इसलिए कॉलरिज ने लिखा था—"Images however beautiful....do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by predominant passion; or by associated thoughts or images awakened by that passion." अर्थात् बिम्ब चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों....वे अपने-आपमे कवित्व के प्रमाण नहीं है। वे कवि की मौलिक प्रतिभा को उसी सीमा तक प्रमाणित करते है, जहाँ तक वे पूर्ववर्ती भावावेग के प्राबल्य से अनुप्राणित होते है या फिर तत्सम्बन्धित किसी विशेष विचार या भावावेग की अनुभूति को जगाते है। ऐसी स्थिति में बिम्ब को काव्य में भावानुभूति व्यंजना का एक माध्यम या साधन ही मानना उचित होगा, साध्य से परे साधन का कोई स्वतंत्र महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी, दुर्भाग्य से अनेक आधुनिक कवि शुष्क विचारों या दूरारूढ़ कल्पना के बल पर अनुभूतिशून्य बिम्बों के निर्माण में लगे हुए है, उनके बिम्ब काव्यानुभूति में सहयोग देने के स्थान पर बाधक सिद्ध हो रहे है, फिर भी वे अपनी बिम्ब-योजना का गुण-गान करते नही अघाते। वस्तुतः बिम्ब-योजना की सफलता इसी में है कि वह स्व-प्रेरित एवं अनुभूति से अनुप्राणित हो, काव्य-वस्तु में वह ऊपर से आरोपित या चेष्टापूर्वक कल्पित प्रतीत न हो, अन्यथा वह काव्यत्व के लिए घातक सिद्ध होती है। ऐसे ही बिम्ब-विधान की भर्त्सना करते हुए श्री सी० डी० लेविस ने उसे 'खण्डित', 'मृत' एवं 'निरर्थक' विशेषणों से भूषित किया है।

बिम्ब-विधान और रस-सिद्धान्त—यदि बिम्ब-विधान पर रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो वह काव्य में स्थायी भाव के चित्रण का ही माध्यम सिद्ध होता है। स्थायी भाव एवं अन्य भावों का काव्य में उल्लेख एक प्रकार का काव्य-दोष माना जाता है, क्योंकि भावों का उल्लेख अनुभूति में सहायक सिद्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि हम कहे कि 'परशुराम को लक्ष्मण पर क्रोध आ गया' तो यहाँ क्रोध की कोई अनुभूति नहीं होती, अतः क्रोध को अनुभाव एवं संचारी भावों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। यदि बिम्ब-सिद्धान्त की शब्दावली में इसी बात को दोहराया जाय तो कहा जा सकता है कि काव्य में क्रोध का नामोल्लेख नहीं, अपितु उसका बिम्ब-विधान होना चाहिए। वस्तुतः स्थायी भाव एवं रस के विभिन्न अवयव—आलम्बन, आश्रय,

उद्दीपन, अनुभाव, संचारी आदि—नाटक में तो साकार रूप से प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर काव्य में तो उनका बिम्ब ही प्रस्तुत किया जाता है। बिहारी ने नायिका के हावों एवं अनुभावों को बिम्ब रूप में ही प्रस्तुत किया है, इस क्षेत्र में यही उनकी सफलता का रहस्य है।

रस और बिम्ब के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता का दूसरा प्रमाण यह है कि स्वयं बिम्बवादी आचार्यों ने भी बिम्ब को भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। कल्पना-सिद्धान्त के घोर समर्थक कॉलरिज से लेकर काव्यात्मक बिम्ब के व्याख्याता सी० डी० लेविस तक विभिन्न आचार्यों ने बिम्ब और भाव के सहयोग को आवश्यक माना है। लेविस महोदय के अनुसार तो काव्यात्मक बिम्ब का लक्षण ही यही है कि वह भावावेग से अनुप्राणित हो। हिन्दी में रस-सिद्धान्त के समर्थक आचार्य डा० नगेन्द्र द्वारा ही बिम्ब-सिद्धान्त की सर्वप्रथम सांगोपांग विवेचना होना भी यही सिद्ध करता है कि ये सिद्धान्त परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम यह कह सकते हैं कि काव्य में भावानुभूति का बिम्ब-रूप में प्रस्तुतीकरण ही रस-निष्पत्ति का आधार है? शायद यह प्रश्न उन व्यक्तियों को, जो कि या तो भरत, दंडी, भामह की बात को ही वेद-वाक्य मानते हैं या फिर पश्चिम के किसी भी सिद्धान्त की तुलना में भारत के प्रत्येक विचार को अग्राह्य एवं निन्दनीय मानते हैं, अरुचिकर प्रतीत होगा। फिर भी यदि हम अपने चिन्तन को संतुलित एवं सर्वांगीण रूप देना चाहते हैं, तो इस प्रकार के प्रश्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

: पाँच :

काव्य की मूल प्रेरणा और उसका प्रयोजन

१. 'प्रेरणा' और 'प्रयोजन' में भ्रम तथा दोनों का स्पष्टीकरण ।

२. कुछ अन्य भ्रान्तियाँ ।

३. भारतीय कवियों के आधार पर विचार—(क) वाल्मीकि, कालिदास, गाथा-सप्तशतीकार, जयदेव, विद्यापति, तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, मीरा, रीतिबद्ध कवि—केशवादि, भारतेन्दुयुगीन, द्विवेदीयुगीन व छायावादी कवि, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी । (ख) विभिन्न निष्कर्ष एवं उनका समन्वय ।

४. विभिन्न काव्य-शास्त्रीय विद्वानों के मत—(क) पाश्चात्य विद्वान्—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, हीगेल आदि । (ख) भारतीय विद्वान्—रवीन्द्र तथा हिन्दी के आलोचक ।

५. विभिन्न मनोविश्लेषकों की धारणाएँ—फ्रायड, एडलर, युग आदि ।

६. काव्य के विभिन्न रूप और काव्य-प्रेरणा ।

७. काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी मत ।

८. उपसंहार ।

साहित्य या काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत और उसका प्रयोजन क्या है—इन प्रश्नों को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है, किन्तु फिर भी इनका कोई एक स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं हुआ । इसका एक कारण तो यह है कि अधिकांश विद्वानों ने 'प्रेरणा' शब्द को ठीक अर्थ में ग्रहण नहीं किया, प्रायः उन्होंने 'प्रेरणा' और 'प्रयोजन' को एक ही अर्थ में लेकर 'प्रेरणा' सम्बन्धी विवेचन को प्रयोजन सम्बन्धी बातों में उलझा दिया है । 'प्रेरणा' का सम्बन्ध उस व्यक्ति, वस्तु, घटना या दृश्य से है, जो कवि को काव्य-विशेष की रचना में प्रवृत्त करता है, जबकि प्रयोजन से तात्पर्य काव्य-रचना के उद्देश्य या उससे प्राप्त होनेवाले लाभ से है । 'प्रेरणा' से सम्बन्धित विषय की स्थिति काव्य-रचना से पूर्व रहती है, जबकि 'प्रयोजन' से सम्बन्ध रखनेवाला पदार्थ काव्य-रचना के अनन्तर उपलब्ध होता है । कई बार प्रेरणा और प्रयोजन एकाकार भी हो जाते हैं । जब कवि का प्रेरणा-स्रोत कोई और न होकर उसकी रचना से होनेवाले लाभ का विचार ही होता है, तो वहाँ काव्य-रचना का प्रेरणा-स्रोत और उसका प्रयोजन—दोनों एक ही माने जाएँगे, किन्तु इस विशेष परिस्थिति को छोड़कर अन्यत्र हमें इन दोनों के पारस्परिक अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए । दूसरा कारण यह है कि काव्य-प्रेरणा पर विचार करते समय कवियों, आलोचकों, दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों के परस्पर-विरोधी मतों को बिना किसी क्रम या विश्लेषण के एकत्र संकलित कर दिया गया है, इससे यह प्रश्न

सुलझने के स्थान पर अधिक उलझता गया। तीसरे, कवियों और साहित्यकारों की व्यक्तिगत रुचि और देश के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोत में अन्तर आ जाता है। किन्तु इसका भी हमारे विवेचकों ने विशेष ध्यान नहीं रखा। चौथे, काव्य के विभिन्न रूपों और उनकी शैली के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोतों में परस्पर अन्तर आ जाता है, अतः कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विभिन्न प्रकार की रचनाओं के पीछे सर्वत्र एक-जैसा ही प्रेरक तत्त्व ढूँढ़ना उचित नहीं, जबकि इस प्रश्न पर विचार करनेवाले विद्वानों ने प्रायः इस तथ्य की उपेक्षा की है। अस्तु, काव्य की मूल प्रेरणाओं पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए हमें उपर्युक्त चारों असावधानियों से बचकर चलना चाहिए।

सबसे पूर्व हमें अपने कवियों के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। आदिकवि वाल्मीकि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्हे काव्य-रचना की प्रेरणा क्रौंच-वध की प्रसिद्ध घटना से प्राप्त हुई। एकाकी पक्षी की शोक-विह्वल दशा देखकर कवि का हृदय शोकानुभूति से उद्वेलित हो उठा और उनके मुँह से अनायास ही दो पंक्तियों का श्लोक उच्चरित हो गया। इस साक्ष्य के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) प्रत्यक्ष जीवन की घटनाओं से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। (२) शोकानुभूतियों से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों निष्कर्षों में से किसे अधिक महत्त्व दें—घटना को या अनुभूति को? 'घटना' के अभाव में 'अनुभूति' का उद्रेक नहीं होता और बिना अनुभूति के उद्रेक के घटना प्रभाव-शून्य सिद्ध होती है, अतः दोनों का ही महत्त्व है। जीवन में घटनाएँ तो बहुत होती हैं; किन्तु वे सभी ऐसी अनुभूति प्रदान नहीं करतीं कि जिससे काव्य-रचना की प्रेरणा मिले। अतः इन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि मार्मिक घटनाओं की अनुभूति काव्य-रचना की प्रेरणा प्रदान करती है।

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का प्रेरणा-स्रोत स्वयं कवि का प्रिया-विरह बताया जाता है, अतः यहाँ भी उपर्युक्त निष्कर्ष का ही समर्थन होता है। गाथासप्तशती-कार ने अपने काव्य के आरम्भ में ही रसिक जनों को काम की शिक्षा देना अपनी काव्य-रचना का निमित्त माना है, जिसे हम प्रेरणा न कहकर 'उद्देश्य' मानना उचित समझते है। गीतगोविन्दकार जयदेव ने भी हरिस्मरण और विलास-कला का औत्सुक्य शान्त करना अपने काव्य का लक्ष्य माना है, यह भी काव्य-प्रेरणा का कारण न होकर उसका प्रयोजन या लक्ष्य ही है।

हिन्दी के कवियों में विद्यापति का बहुत ऊँचा स्थान है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने रस-पूर्ण गीतों की रचना राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी की प्रेरणा से की थी और तथ्य का प्रमाण उनके गीतों की अंतिम पंक्ति में मिल भी जाता है—वे प्रायः अपने गीतों के अन्त में राजा शिवसिंह और रानी लखिमादेवी का उल्लेख करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का प्रभाव भी उनसे सम्बन्धित कवियों को काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकता है।

भक्ति-काल के कवियों का मूल प्रेरणा-स्रोत सामान्यतः उसके इष्टदेव का स्वरूप

एवं चरित्र ही रहा है, किन्तु फिर भी उनमें परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है। तुलसी के लिए तो 'एक भरोसो, एक बल' और 'एक आस'—उनका आराध्य देव ही रहा, किन्तु सूरदास की कविता-बाला को दैन्य और ग्लानि की पंकिल-भूमि में से निकालकर सौन्दर्य, शृङ्गार और प्रेम की वाटिका में उपस्थित करने का श्रेय महाप्रभु बल्लभाचार्य को ही है। प्रेम-दीवानी मीरा के गीतों का उद्गम स्रोत उनकी हृदय की प्रणय-वेदना का अजस्र प्रवाही स्रोत ही रहा है—"घायल की पीड़ा घायल जाणै" के स्वरों में घायल हृदय की छटपटाहट ही व्यंजित है! जिस प्रकार पत्थर, लकड़ी या धातु पर चोट मारने से स्वतः ही एक ध्वनि निकल पड़ती है, कुछ वैसे ही विरह की चोट से कबीर, जायसी और मीरा के गान शत-शत स्वरों में फूट पड़े! इन भक्त-कवियों में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें काव्य-प्रेरणा अपने मित्रों से प्राप्त हुई। नन्ददास ने 'रस-मंजरी' की रचना का ऐसा ही कारण बताया है। इस प्रकार भक्त-कवियों के काव्य के आधार पर ये चार काव्य-प्रेरणाएँ सिद्ध होती हैं—(१) इष्टदेव या आराध्य का स्वरूप व चरित्र, (२) आचार्य या गुरु का निर्देशन, (३) भक्ति-भाव और प्रणय-वेदना की अनुभूति और (४) मित्रों की जिज्ञासा।

रीतिकाल के प्रवर्त्तक आचार्य केशवदास ने 'कवि-प्रिया' की रचना अपनी प्रिय शिष्या प्रवीणराय पातुर की शिक्षा के लिए तथा 'रसिक-प्रिया' की रसिकों के लिए (रसिकन को रसिक प्रिया कीन्हीं केशवदास) की है। इन्हें काव्य-प्रेरणा न कहकर काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत लेना चाहिए। किन्तु अधिकांश रीति-काव्य के मूल में आश्रयदाता की शिक्षा, उसकी प्रसन्नता या उसके मनोरंजन का विचार ही प्रेरणा का कार्य करता रहा है, अतः इसे भी प्रेरणा का एक स्रोत मानना उचित होगा। किन्तु रीतिमुक्त शृङ्गारी कवियों ने अपनी प्रणयानुभूतियों की प्रेरणा से काव्य-रचना की, जैसा कि घनानन्द ने लिखा है—'लोग है लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत !"

भारतेन्दु-युग के कवि प्रायः अपने समाज और राष्ट्र की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं। भारतेन्दु जी की अनेक रचनाओं में देश की अधोगति का क्षोभ ही विभिन्न भावनाओं के रूप में व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार द्विवेदी-युग का साहित्यकार भी समाज-सुधार और राष्ट्रोत्थान की लहर से प्रेरित दिखाई देता है। इस युग के महापुरुषों—दयानन्द, रवीन्द्र और गांधी का प्रभाव भी अनेक रचनाओं के मूल में प्रेरक-शक्ति का कार्य करता रहा है। विश्व-कवि रवीन्द्र के उर्मिला सम्बन्धी लेख से 'साकेतकार' को प्रेरणा मिलने की बात सर्वविदित है।

छायावादी कवियों ने अपने प्रेरणा-स्रोत का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है, अतः उनके सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता से विचार किया जा सकता है। प्रसाद जी को प्रेरणा का स्रोत प्रायः वह लौकिक या अलौकिक आलम्बन रहा है, जो "आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर भाग गया।" श्री सुमित्रानन्दन पंत ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उन्हें कविता लिखने की प्रेरणा कूर्मांचल के प्राकृतिक वातावरण से मिली है, किन्तु आगे चलकर उन्होंने विरह-वेदना को भी काव्य-रचना का मूल कारण बताया है—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान !
निकलकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान !!

इस प्रकार पंत जी ने प्रकृति के सौन्दर्य और लौकिक प्रणय दोनों को ही काव्य-रचना का प्रेरक स्वीकार किया है। महादेवी जी के काव्य की मुख्य प्रवृत्ति दुःखवाद ही है और इस दुःखवाद का मूल-स्रोत है—

इन ललचाई पलकों पर, पहरा था जब व्रीड़ा का !
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का !!

अस्तु, उनके काव्य का स्रोत उनकी हृदयगत पीड़ा है और उस पीड़ा का स्रोत किसी अलौकिक की प्रेम-भरी चितवन है। दूसरे शब्दों में अलौकिक प्रणय ही महादेवी जी के भव्य उद्गारों का मूल स्रोत है !

प्रगतिवादी कवियों का प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवादी जीवनदर्शन, सामाजिक विषमता, शोषक वर्ग की विलासिता और शोषित वर्ग की दीनता आदि में ढूँढा जा सकता है। इसीलिए इलाहाबाद की सड़क पर मध्याह्न में पत्थर तोड़ती हुई मजदूरिन या गाँवों के अर्धनग्न मनुष्यों पर कविता लिखी गई। नवीनतम प्रयोगवादी कविता में तो अनियंत्रित काम चेतना और अदम्य अहंकार ही प्रेरक के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में तथा विभिन्न वर्गों के कवियो मे काव्य-प्रेरणा के मूलाधार भी भिन्न-भिन्न रहे है। इन्हे हम मुख्यतः निम्नांकित शीर्षकों में विभाजित कर सकते है—(१) बाह्य प्रकृति और जगत् के किसी दृश्य, घटना, परिस्थिति या अवस्था का प्रभाव। (२) किसी अन्य व्यक्ति, आश्रयदाता, गुरु, आचार्य या मित्र की प्रेरणा। (३) किसी विचार या जीवन-दर्शन का प्रभाव। (४) लौकिक का अलौकिक प्रणय, विरह या शोक की अनुभूति। वस्तुतः प्रथम तीन वर्ग के उपादान भी उसी स्थिति में प्रभावित करते है, जबकि वे कवि की अनुभूति के विषय बन जाते है, अतः निष्कर्ष रूप मे कह सकते है कि प्रकृति, जगत्, व्यक्ति आदि के सम्पर्क से उत्पन्न किसी विचार या भाव की अनुभूति ही काव्य-प्रेरणा की मूल स्रोत है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारी सभी अनुभूतियाँ काव्य-प्रेरणा का रूप ग्रहण क्यों नही करतीं ? इसका उत्तर होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति काव्य-प्रेरणा नहीं बन सकती—जिस व्यक्ति में काव्य-रचना की प्रतिभा और शक्ति होगी, उसी की अनुभूतियाँ काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकती हैं। साथ ही अनुभूतियों की सघनता एवं मार्मिकता का परिणाम भी महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की कुछ विशेष समय की कुछ विशेष मार्मिक अनुभूतियाँ ही कवि के हृदय को काव्य-रचना के लिए प्रेरित कर पाती है, सभी अनुभूतियाँ नहीं।

विभिन्न विद्वानों के मत

अनेक पाश्चात्य और पूर्वी विद्वानों ने भी काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में विचार किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने दैवी प्रेरणा को ही काव्य-प्रेरणा माना है। उनका विचार था कि जब ईश्वर जगत् के मनुष्यों से बातचीत करना चाहता है तो वह कवियों

की वाणी के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करता है। संभवतः इस विचार से कवियों और उनकी कविता के गौरव में अभिवृद्धि होती है, किन्तु इससे काव्य-प्रेरणा सम्बन्धी प्रश्न का कोई यथार्थ उत्तर उपलब्ध नहीं होता। यदि सभी कविताओं के पीछे दैवी-प्रेरणा होती तो काव्य के क्षेत्र में अनेक अश्लील, अपवित्र एवं कामुकतापूर्ण दृश्य दृष्टि-गोचर नहीं होते और न ही कविता के नाम पर तुकबन्दियाँ तैयार होतीं। सुकरात के शिष्य प्लेटो और प्रशिष्य अरस्तू ने अनुकरण की वृत्ति को काव्य-प्रेरणा का आधार बताया है। संभवतः नाटक के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति स्वीकार की जा सकती है, किन्तु काव्य के अन्य अंगों—कविता, कहानी, उपन्यास आदि के क्षेत्र में ऐसा मानना उचित नहीं। अनुकरण किसी प्रस्तुत वस्तु, रूप या ध्वनि का ही किया जाता है; जबकि काव्य-कृतियों का निर्माण सर्वथा मौलिक रूप में होता है, अतः इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रसिद्ध विचारक हीगेल ने सौन्दर्य, प्रेम और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को काव्य-रचना का मूल कारण बताया है। अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे महोदय ने भी आत्माभिव्यंजना को ही काव्य-प्रेरणा माना है। भारतीय विद्वानों में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है—"हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेक हृदयों में अपने को अनुभूत करना चाहता है।... हृदय-जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है, इसलिए चिरकाल से मनुष्य के अन्दर साहित्य का वेग है।"

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक एवं विद्वान् श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करते हुए लिखा है—"काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित-मानस की रचना करते समय लिखा था—'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमंजुल मातनोति।' यहाँ 'स्वान्तः सुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धान्त का निरूपण करनेवाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उत्पादन विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि को बताया है। साहित्य मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।"

डॉ० गुलाबराय जी ने आत्म-विस्तार को काव्य का प्रेरक तत्त्व मानते हुए स्पष्ट किया है—"भारतीय दृष्टि में आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है।....ये सभी हृदय के ओज को उद्दीप्त कर काव्य के प्रेरक बन जाते हैं।"

इस प्रकार विभिन्न काव्य-शास्त्रियों ने आत्माभिव्यंजना, अनुभूति और आत्म-विस्तार को काव्य का प्रेरक माना है। ये तीनों शब्द भी स्थूल दृष्टि से परस्पर अन्तर रखते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से एक ही अर्थ के द्योतक हैं। अनुभूति से ही आत्माभिव्यक्ति होती है—जब अनुभूति ही नहीं तो अभिव्यक्ति किसकी होगी—तथा भावानुभूति और आत्माभिव्यक्ति से ही हृदय का विस्तार होता है, अतः यह तीनों मत एक ही प्रक्रिया—भावानुभूति के पोषक हैं।

मनोविश्लेषकों के मत

पश्चिम के विभिन्न मनोविश्लेषकों ने भी काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में अनेक मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। फ्रायड ने अतृप्त काम-वासना को ही काव्य-प्रेरणा माना है। हमारी कुंठाएँ और दबी हुई वासनाएँ अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला तथा स्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं। फ्रायड के शिष्य एडलर ने हीनता की भावना को काव्य-प्रेरणा का स्रोत माना है। उनके विचार से मानव अपने अभावों और न्यूनताओं की पूर्ति साहित्य के द्वारा करता है। युंग के विचारानुसार मानव की सम्पूर्ण क्रियाओं का उद्देश्य अपने अस्तित्व की रक्षा ही है। साहित्य भी मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। वस्तुतः इन विद्वानों ने साहित्य को एकांगी एवं संकुचित दृष्टिकोण से देखते हुए अपने मत स्थापित किए हैं। यदि हम उनकी मान्यताओं को व्यापक रूप में ग्रहण करें तो उनके निष्कर्ष ठीक अर्थ के द्योतक हो सकते हैं। फ्रायड जिसे 'अतृप्त वासनाओं की तृप्ति' कहता है, उसे ही यदि 'अव्यक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति' कहा जाय या एडलर की 'हीन भावना' की पूर्ति के स्थान पर 'संकुचित भावना का विस्तार' अथवा युंग के 'आत्म-रक्षा' में आत्मा का अर्थ 'सूक्ष्म भाव-लोक' से लिया जाय तो इनकी व्याख्याएँ किसी सीमा तक संगत सिद्ध हो सकती हैं।

काव्य के विभिन्न रूप और काव्य-प्रेरणा

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार विभिन्न कवियों की काव्य-प्रेरणा के स्थूल आधारों में परस्पर अन्तर होता है, वैसे ही काव्य-रूप के मूल प्रेरक भौतिक आधारों में भी भेद होता है। जिस प्रकार प्रबन्ध-काव्य मुख्यतः चरित-नायक के गुण-गान की प्रेरणा से प्रेरित होता है, वैसे ही मुक्तक काव्य और गीतिकाव्य में रचयिता की स्वानुभूतियों की प्रेरणा अधिक सशक्त होती है। उपन्यास और कहानी में लेखक के अन्तर्जगत् की अपेक्षा बाह्य-जगत् के प्रभाव की प्रेरणा अधिक होती है, जबकि निबन्ध और आलोचना में निजी विचारों की व्यंजना का लक्ष्य प्रमुख होता है। अस्तु, व्यक्ति और विषय के अनुसार काव्य-प्रेरणा के असंख्य स्थूल आधार ढूँढे जा सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप में सभी में भावानुभूति का कोई-न-कोई अंश अवश्य विद्यमान होता है। भावना ही काव्य की शक्ति है, और इस शक्ति की प्रेरणा के बिना कोई भी वाक्य, विचार या तर्क गतिशील होकर काव्य का रूप धारण नहीं कर सकता। अतः हमारे विचार से किसी भी प्रकार की भावानुभूति कवि को अभिव्यक्ति की प्रेरणा दे सकती है और उसकी यह अभिव्यक्ति ही कविता का रूप धारण कर लेती है।

काव्य का प्रयोजन

काव्य की प्रेरणा पर विचार कर लेने के अनन्तर अब हम काव्य के प्रयोजन के प्रश्न को लेते हैं। इस प्रश्न पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है—कवि काव्य की रचना क्यों करता है और पाठक काव्य का अनुशीलन किसलिए करता है? प्रायः विद्वानों ने इस विषय पर विचार करते समय इन दोनों पक्षों को घुला-मिला दिया है

जो उचित नहीं। कवि और पाठक दोनों के काव्य-प्रयोजन में थोड़ा-बहुत अन्तर होना अनिवार्य है; अतः हम यहाँ पहले कवि के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मट ने अपने ग्रन्थ में काव्य-निर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे॥

—काव्य-प्रकाश १।२

अर्थात् यश की प्राप्ति, सम्पत्ति लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का नाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव और प्रेयसी के समान मधुर उपदेश देने के लिए काव्य-ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) है।

उपर्युक्त श्लोक के आधार पर काव्य के निम्नांकित प्रयोजन स्वीकार किए जा सकते हैं :—

१. **यश-प्राप्ति**—प्रायः कविगण यश-प्राप्ति के उद्देश्य से ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होते है। कुछ महान् कवि ऐसे भी हो सकते है जिनका उद्देश्य भले ही प्रारम्भ में यश-प्राप्ति न रहा हो, किन्तु काव्य-रचना के अनन्तर वे अपनी रचना की प्रशंसा अवश्य चाहते है। महाकवि जायसी ने अपने काव्य पद्मावत के सम्बन्ध में लिखा है, "औ मैं जानि कवित्त अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।" महाकवि तुलसीदास जी ने यद्यपि 'स्वांतः सुखाय' की घोषणा की है, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि "जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं॥" इसके अतिरिक्त 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' से भी यही ध्वनित होता है कि इस महा-कवि का भी हृदय यश की इच्छा से सर्वथा शून्य नहीं था। अस्तु, जैसा कि अंग्रेजी में कहा जाता है—**Fame is the last infirmity of noble minds.** (प्रसिद्धि बड़े आदमियों की सबसे अन्तिम कमजोरी है), यह बात कवियों और साहित्यकारों पर भी लागू होती है।

२. **अर्थ-प्राप्ति**—काव्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोजन अर्थ या धन है। मध्यकाल के अधिकांश दरबारी कवियों ने धन-प्राप्ति के उद्देश्य से ही अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा मे काव्य लिखे है। बिहारी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उन्हे प्रत्येक दोहे के लिए एक स्वर्ण मुद्रा दिये जाने का वचन दिया गया था। आधुनिक युग में भी अनेक कवियों पर यह बात लागू होती है।

३. **व्यवहार-ज्ञान**—बहुत से कवि अपने निकट सम्बन्धियों, मित्रों या पुत्रादि को नीति एवं व्यवहार की शिक्षा देने के लिए भी काव्य-रचना करते है।

४. **लोक-हित**—अपने युग और समाज को अनिष्ट से बचाने के लिए भी काव्य-रचना की जाती है। 'कुरुक्षेत्र' के रचयिता दिनकर ने अपने काव्य में विश्व को युद्ध के अनिष्ट से बचाने के लिए ही शान्ति का संदेश दिया है।

५. **आत्म-शान्ति**—काव्य-रचना के अनन्तर कई बार कवियों को अपूर्व शान्ति

एवं आनन्द का अनुभव होता है, अतः इसे भी काव्य का एक प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है।

६. **कान्ता-सम्मित उपदेश**—अपने उपदेश, विचार या सिद्धान्त को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए भी काव्य का माध्यम अपनाया जाता है। कबीर, नानक आदि सन्त कवियों ने अपने विचारों का प्रकाशन इसीलिए कविता के माध्यम से किया है। महाकवि बिहारो ने भी विभिन्न अवसरों पर अपने आश्रयदाताओं को उपदेश देने के लिए कुछ दोहों की रचना की थी, जैसे—

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहंग विचार।
बाज पराये पानि परि, तू न विहंगनु मार॥

कहते है कि जब महाराजा जयसिंह औरंगजेब के आदेश पर महाराजा शिवाजी से युद्ध की तैयारी कर रहे थे, तब बिहारी ने यह दोहा उन्हें सुनाया था। संभवतः इसी के प्रभाव से महाराजा ने शिवाजी और औरंगजेब में संधि करवाने का प्रयत्न किया था।

मम्मट के अतिरिक्त हमारे अनेक आचार्यो और कवियों ने भी काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। साहित्य-दर्पणकार ने काव्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का दाता स्वीकार किया है। महाकवि तुलसीदास ने अपना प्रयोजन 'स्वान्तः सुखाय' ही माना है, किन्तु अन्य कवियों के लिए वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य एवं कवि भिखारीदास ने काव्य के अनेक प्रयोजन स्वीकार किए है—"कुछ सूर और तुलसी की भाँति काव्य-साधना के रूप मे तपस्याओं का फल प्राप्त करते हैं; कुछ केशव और भूषण की भाँति धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं; कुछ को रसखान और रहीम की भाँति केवल यश से ही प्रयोजन होता है। दास के विचार से कविता की चर्चा बुद्धिमान् को सभी स्थानों पर सुखदायी सिद्ध होती है।"[1] आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त ने कला का व्यापक प्रयोजन समाजहित स्वीकार करते हुए कहा है—"**मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही, स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।**" इस प्रकार हमारे कवियों ने कला का प्रयोजन केवल स्वार्थ-साधन तक ही सीमित न मानकर परमार्थ और लोक-हित की साधना को स्वीकार किया है।

आधुनिक हिन्दी आलोचकों के विचार

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुए लिखा है—"प्रायः सुनने मे आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आये है कि कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके

---

१. **इस सम्बन्ध में भिखारीदास का यह छन्द है—**
एक लहैं तपपुंजन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाँई।
एक लहैं बहु सम्पत्ति केशव भूषन ज्यों बर बीर बड़ाई॥
एकन्ह को जस ही सौं प्रयोजन है रसखानि रहीम की नांई।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुद्धिवन्तन को सुख दै सब ठाँई॥

उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।" वे कविता से केवल मनोरंजन के उद्देश्य का विरोध करते हुए लिखते हैं—"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय, तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।" वस्तुतः कविता आचार्य शुक्ल के विचार से एक दिव्य अनुभूति प्रदान करनेवाली शक्ति है, अतः कवि का लक्ष्य भी वे पाठक के हृदय का विस्तार करना मानते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य का लक्ष्य मनुष्य जाति का हित करना मानते हैं। वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं—"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति बताया है। उनके शब्दों में—"....हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड आत्मिक व्यापार है जिसे किसी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोड़ने की आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहा है।....काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन से भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा। उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी।" डा० नगेन्द्र ने अपने एक लेख में साहित्य का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति स्वीकार किया है। आचार्य गुलाबराय जी ने विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए लिखा है—"भारतीय दृष्टि में आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार ही में आत्मा की पूर्णता है। लोकहित भी एकात्मवाद की दृढ़ आधार-शिला पर खड़ा हो सकता है। यश, अर्थ, यौन सम्बन्ध, लोक-हित सभी आत्म-हित के नीचे या ऊँचे रूप हैं।....इन सब प्रयोजनों में वही उत्तम है, जो आत्मा की व्यापक-से-व्यापक और अधिक-से-अधिक सम्पन्न अनुभूति में सहायक हो। इसी से लोक-हित का मान है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य मम्मट से लेकर आचार्य गुलाबराय तक विभिन्न विद्वानों और कवियों ने 'काव्य-प्रयोजन' के सम्बन्ध में विभिन्न बातें कही हैं। इन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक, जिन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए, इस प्रश्न पर विचार किया है कि कवि काव्य में किस प्रयोजन से प्रवृत्त होता है? दूसरे, वे जिन्होंने आदर्शवादी दृष्टिकोण से यह बताने का प्रयत्न किया है कि काव्य-प्रयोजन क्या होना चाहिए? आचार्य मम्मट, भिखारीदास, आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र ने किसी आदर्श को थोपने के प्रयत्न से बचते हुए यथार्थ दृष्टि से विचार किया है, जबकि अन्य विचारकों ने कविता के महान् प्रयोजन का दिग्दर्शन आदर्शवादी दृष्टिकोण से कराया है। कवि का प्रयोजन क्या होता है और क्या होना चाहिए—ये दो अलग-अलग प्रश्न हैं। पहले प्रश्न के उत्तर में प्रायः सभी विद्वान् एक मत हो सकेंगे, किन्तु दूसरे के सम्बन्ध में ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

प्रत्येक पाठक और आलोचक अपने दृष्टिकोण को ही सर्वोपरि रखेगा। एक समाज-सुधारक पाठक कवि से यह आशा करेगा कि वह सुधारवादी दृष्टिकोण से काव्य में प्रवृत्त हो, एक रसिक मनोविनोद के प्रयोजन का समर्थन करेगा, तो एक साम्यवादी सामाजिक क्रान्ति का प्रयोजन अपनाने का परामर्श देगा। इसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों एवं राजनीतिक दलों के संचालक व्यक्ति कवियों को अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुरूप परामर्श दे सकते हैं—अतः हमारे दृष्टिकोण से हमारा विवेच्य विषय "काव्य प्रयोजन क्या है ?" है—"क्या होना चाहिए ?" नहीं। पहले प्रश्न का भी अन्तिम निर्णय करने से पूर्व हम पाश्चात्य आलोचकों के मन्तव्यों पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मन्तव्य

पाश्चात्य देशों में काव्य को एक कला मानते हुए प्रयोजन के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रकाश में आये हैं, जिनमें कुछ ये हैं—(१) कला कला के लिए (२) कला जीवन के लिए (३) कला जीवन से पलायन के लिए (४) कला जीवन में प्रविष्ट होने के लिए (५) कला सेवा के लिए (६) कला आत्मानुभूति के लिए (७) कला आनन्द के लिए (८) कला विनोद के लिए (९) कला सर्जन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के निमित।

'कला के लिए कला' इस मत के प्रवर्त्तक एवं समर्थकों में श्री ए० सी० ब्रेडले, आस्कर वाइल्ड, जे० ई० स्पिनगार्न आदि प्रमुख हैं। इनके विचार से कला का या कलाकार का एकमात्र लक्ष्य कला या सौन्दर्य की सृष्टि करना मात्र होता है, अतः कलाकार से नीति, धर्म या उपदेशों के प्रतिपादन की आशा करना अनुचित है। श्री जे० ई० स्पिनगार्न महोदय के शब्दों में—"We have done with all moral judgment of art. Some said that poetry was meant to instruct, some merely to please, some to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that beauty its own excuse for being." "अर्थात् कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करने की परम्परा को हमने समाप्त कर दिया है। कुछ कहते थे कि कविता का उद्देश्य शिक्षा देना है, कुछ केवल प्रसन्नता प्रदान करना उसका लक्ष्य मानते थे और कुछ दोनों पर ही बल देते थे। किन्तु रोमांटिक समीक्षा-पद्धति ने सबसे पूर्व यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कला का लक्ष्य केवल अभिव्यक्ति है—अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। सौन्दर्य स्वयं ही अपना साध्य है, उसकी उपयोगिता का कोई और कारण ढूंढ़ना अनावश्यक है।" इस प्रकार इस मत के अनुयायियों ने कलाकार या कवि को समस्त बाह्य-बन्धनों से मुक्ति प्रदान कर दी। कला का सर्व-प्रथम लक्ष्य कला को माना जा सकता है, किन्तु फिर भी उसका सम्बन्ध कुछ अन्य बातों से भी है। एक कलाकार जब किसी कला-कृति का निर्माण कर लेता है तो उसका लक्ष्य पूरा हो जाता है, फिर भी वह अपनी रचना को प्रकाशक के पास भेजता है—ऐसा क्यों ? कवि या लेखक अपनी रचना को अपने ही तक सीमित क्यों नहीं

रखते ? अवश्य ही इसमे यश-प्राप्ति, धन-प्राप्ति या और कुछ प्राप्ति का विचार रहता है—अतः कला का प्रयोजन भले ही रहे, किन्तु कलाकार का प्रयोजन उससे थोड़ा भिन्न अवश्य होता है। उदाहरण के लिए एक सड़क का लक्ष्य दिल्ली हो सकता है; किंतु उस सड़क पर चलनेवाले पथिक का लक्ष्य कोरा दिल्ली न होकर 'वह कार्य होता है जो दिल्ली में ही सम्पन्न' हो सकता है। अस्तु, "कला कला के लिए" का अर्थ "कलाकार कला के लिए" नही है। हमारा प्रश्न कलाकार के प्रयोजन से सम्बन्धित है, जिसका उत्तर यहाँ नहीं मिलता।

दूसरा मत 'कला जीवन के लिए' की घोषणा करता है। प्रश्न है जीवन किसका ? लेखक का या पाठक का ? जीवन का सम्बन्ध एक ओर रोटी, भोजन और वस्त्र से भी है—जो कि धन के माध्यम से प्राप्त होते है—तो दूसरी ओर उच्चकोटि के विचारों, भावनाओं और सौन्दर्य मे भी है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इस नारे की आड़ में कविता का लक्ष्य नैतिकता, उपयोगिता आदि सिद्ध किया है। पर प्रश्न है कि समाज को नीति की शिक्षा देने से स्वयं कवि को क्या मिलता है। वह समाज को शिक्षा देने का कार्य किस उद्देश्य से या किस प्रयोजन से करे ? फिर क्या जीवन में कोरी नैतिकता ही सब कुछ है—सौन्दर्य का क्या कोई मूल्य नही ? इन प्रश्नों का उपयुक्त उत्तर इस मत के समर्थक नहीं दे पाते। वस्तुतः स्वयं 'जीवन' शब्द ही इतना व्यापक है कि इसका जो चाहें अर्थ किया जा सकता है।

'कला को जीवन मे पलायन के निमित्त' का अर्थ भी स्पष्ट है। जीवन से पलायन का अर्थ है मृत्यु का आलिंगन करना। भला, जो मृत्यु का आलिंगन करना चाहता है, वह कविता क्यों लिखेगा ? वस्तुतः इस मत के प्रचारक 'जीवन' शब्द का अर्थ 'जीवन की कठिनाइयाँ' करते हैं। उनके विचार से जो लोग संसार की विषमताओं और कर्कशताओं का सामना नहीं कर पाते, वे काव्य-उपवन में शरण लेते हैं या दूसरे शब्दों में अपने दुःख को भुलाने के लिए काव्य-रचना करते है। इस मत के समर्थन में विभिन्न कवियों के काव्यों से कुछ पंक्तियाँ ढूंढी भी जा सकती है, जैसे—

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे-धीरे !
जिस निर्जन में सागर-लहरी, अम्बर के कानों में गहरी !
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे ! —**प्रसाद**

× × ×

मन मेरा खोजा करता है, क्षण भर को वह ठौर !
छिपा लूं अपना शीश जहाँ, अरे है वह वक्षस्थल कहाँ ? —**बच्चन**

यह ठीक है कि उपर्युक्त पंक्तियों में 'पलायन' की कल्पना मिलती है; किन्तु इसी को काव्य-रचना का निमित्त मानना अनुचित है। कवि के हृदय में शत-शत कल्पनाएँ एवं भावनाएँ समय-समय पर उद्वेलित होती रहती है, अतः उन्हें ही काव्य-प्रयोजन मानना उचित नहीं। एक कवि स्वर्ग-प्राप्ति की आकांक्षा व्यक्त करता है, दूसरा वीर भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है और तीसरा गरीबों का चित्रण करता है, इसका यह तात्पर्य

नहीं कि वे क्रमशः स्वर्ग-प्राप्ति के लिए या युद्ध करने के लिए अथवा गरीब बनने के लिए काव्य-रचना करते हैं। और फिर सभी रचनाओं में पलायन की भावनाओं का चित्रण नहीं होता—अतः समस्त कवियों का प्रयोजन पलायनवाद मान लेना सर्वथा अनुचित है।

कुछ अन्य विद्वान् उपर्युक्त मत से सर्वथा विरोधी बात कहते हैं कि 'कला जीवन में प्रविष्ट होने के लिए' है। यहाँ भी शब्दों का अनर्थ किया गया है। हमारा जीवन में प्रवेश तो उसी दिन हो जाता है, जिस दिन हम माता के उदर से जन्म लेते हैं—अतः यहाँ जीवन का अर्थ है जीवन का सौन्दर्य या जीवन का रहस्य। आलोचकों की बुद्धि का चमत्कार देखिए कि वे एक ही कवि में पलायनवाद और जीवन में प्रवृत्ति दोनों को सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं। ऊपर हमने वे पंक्तियाँ उद्धृत की थीं, जिनके आधार पर प्रसाद को पलायनवादी सिद्ध किया गया है। अब वे पंक्तियाँ देखिए जिन्हें प्रवृत्ति-मूलक बताया गया है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत् की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल।

ये शब्द कामायनी की श्रद्धा के हैं, इनका प्रसाद के काव्य-प्रयोजन से क्या सम्बन्ध है—यह हमारी समझ में नहीं आता। यदि इसी प्रकार काव्य-प्रयोजन ढूंढने लगें तो अकेली कामायनी के आधार पर प्रसाद के दस-बीस से अधिक काव्य-प्रयोजन सिद्ध किए जा सकते हैं—जैसे—प्रलय करना, नई सृष्टि का निर्माण करना, यज्ञ करना, जीव-हिंसा का समर्थन और विरोध करना आदि-आदि। वस्तुतः जीवन से पलायन या जीवन में प्रवेश—दोनों के ही लिए कविता लिखने की अपेक्षा नहीं होती; हाँ, पाठक भले ही काव्य की छाया में बैठकर अपने दुःख को भूल सकता है या जीवन के निगूढ़ रहस्य को समझ सकता है।

'कला सेवा के अर्थ'—की व्याख्या करते हुए आचार्य गुलाबराय जी ने लिखा है—"अस्पतालों में मरीजों को कविता सुनाना, संगीत सुनाना यह कला का सेवा-पक्ष ही है।" हमारी आचार्य जी के प्रति पूरी श्रद्धा है, किन्तु फिर भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि मरीजों के लिए काव्य-रचना की जाती है। कम-से-कम हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो अभी तक किसी ऐसे कवि का नाम नहीं आता। कदाचित् यह बात आचार्य जी ने विदेशी विद्वानों के मत के आधार पर ही लिखी हो। सम्भव है, वहाँ ऐसे भी कलाकार हों जो मरीजों के लिए ही काव्य-साधना करते हों। हाँ, वैसे कवि अवश्य मिलते हैं जो कला-साधना करते-करते स्वयं मरीज़ बन जाते हैं।

'कला आत्मानुभूति के लिए' और 'कला आनन्द के लिए' इन दोनों विचारों में परस्पर इतना साम्य है कि दोनों को एक ही कहा जा सकता है। कलाकार को आनन्द की अनुभूति तो होती ही है, पर उससे भिन्न भी उसका कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है, अन्यथा वह अपनी रचना को किसी अन्य के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता। जो लोग 'मनोविनोद के लिए' कला मानते हैं, उनकी बात भी इससे मिलती-जुलती है। हमारे विचार से आत्मानुभूति, आनन्द, मनोविनोद आदि का सम्बन्ध कलाकार की अपेक्षा

पाठक या द्रष्टा से अधिक है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि अनेक कवि 'सृजन की अदम्य आवश्यकता' से प्रेरित होकर ही काव्य-रचना करते हैं, इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं होता।

उपर्युक्त मंतव्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनमें हमारे प्रश्न का कोई यथार्थ उत्तर उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों के मत एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित हैं, जिनमें आंशिक सत्य है। हमारे विचार से सभी कवियों का काव्य-प्रयोजन एक जैसा ही नहीं होता। कुछ सृजन की अदम्य आकांक्षा से प्रेरित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ यश, धन तथा मान-मर्यादा की प्राप्ति के लिए तथा कुछ अपने आराध्य देव या आश्रयदाता की संतुष्टि के निमित्त, तो कुछ अपने मत, विचार या सिद्धान्तों के प्रचार के प्रयोजन से काव्य-रचना करते हैं। आचार्य मम्मट की उक्ति में इन सभी तथ्यों का संकेत मिल जाता है, अतः हम उनके मत का ही समर्थन करना उचित समझते हैं।

पाठक के दृष्टिकोण से

दूसरा प्रश्न है—पाठक काव्य में किस प्रयोजन से प्रवृत्त होता है? इसके दो उत्तर दिये जा सकते हैं—(१) आनन्द-प्राप्ति के लिए, (२) अपने ज्ञान में अभिवृद्धि के लिए। हमारे विचार से पाठक काव्य में उस विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति के लिए ही प्रवृत्त होता है, जो किसी अन्य साधन से उपलब्ध नहीं होती। कुछ लोग पाठक का लक्ष्य ज्ञान-वृद्धि भी मान सकते हैं, किन्तु यह लक्ष्य गौण ही होगा। ज्ञान-वृद्धि के लिए काव्य की अपेक्षा इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शन-शास्त्र, नीति-शास्त्र आदि के ग्रन्थ अधिक उपयोगी होंगे, अतः इन्हें छोड़कर काव्य में प्रवृत्त होने की आवश्यकता नहीं। हाँ, जो लोग साहित्य सम्बन्धी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के लिए काव्यानुशीलन करते हैं, उन पर अवश्य यह बात लागू होती है।

: छः :

कला कला के लिए

१. मनुष्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ और उनका लक्ष्य ।
२. भावना का लक्ष्य सौन्दर्य व आनन्द ।
३. 'कला और आदर्शवाद' या 'कला जीवन के लिए' ।
४. 'कला कला के लिए' के समर्थक क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, आस्कर वाइल्ड एवं जे० ई० स्पिनगार्न के मंतव्य, ब्रेडले महोदय के विचार, फ्रायड का अभिव्यक्तिवाद, इनके मंतव्यों की आलोचना ।
५. कलावाद के विरोधी तथा नैतिकता के पक्षपाती सुकरात, प्लेटो, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड आदि के मत ।
६. भारतीय दृष्टिकोण—प्राचीन आचार्यों का दृष्टिकोण, आधुनिक विद्वानों का दृष्टिकोण ।

सूक्ष्म-सत्ता (परमात्मा) के विभिन्न दार्शनिकों ने मुख्यतः तीन लक्षण स्वीकार किए हैं—सत्, चित् और आनन्द । मनुष्य उसी सूक्ष्म-सत्ता का व्यक्त रूप माना गया है । मनुष्य का भी सूक्ष्म-जीवन तीन बातों पर आधारित रहता है—ज्ञान, भावना और क्रिया । इसमें ज्ञान का सम्बन्ध सत् से है, क्रिया का चित् से और भावना का आनन्द से । अतः परमात्मा के अनुरूप ही मानव-जीवन में इन तीनों तत्त्वों की प्रमुखता है । आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक भी मानव-जीवन में उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियों—ज्ञान, क्रिया और भावना (to know, to will, to feel) की ही प्रमुखता स्वीकार करते हैं । मानव-जीवन से सम्बन्धित विभिन्न विषय इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों से प्रेरित हैं । ज्ञान की प्रवृत्ति ने विज्ञान और दर्शन को, क्रिया की प्रवृत्ति ने धर्म और व्यवसाय को और भावना की प्रवृत्ति ने साहित्य और कला को जन्म दिया । यद्यपि विज्ञान, व्यवसाय और कला—तीनों का सम्बन्ध मानव-जीवन से है, फिर भी तीनों के लक्ष्य में परस्पर गहरा अन्तर सिद्ध होता है, जहाँ विज्ञान का लक्ष्य सत्यं है, व्यवसाय का शिवं, वहाँ कला का सुन्दरम् है । इनमें से यदि कोई भी विषय अपने लक्ष्य को भूलकर अन्यत्र दृष्टिपात करने लगेगा तो उससे वह तो पथ-भ्रष्ट हो ही जावेगा, साथ ही जीवन में भी विकृति उत्पन्न कर देगा । यदि एक वैज्ञानिक किसी सुन्दर पुष्प के टुकड़े-टुकड़े करके उनके मूल तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करने के स्थान पर यदि वह उसके सौन्दर्य से अभिभूत होकर कविता लिखने लग जाय तो वह वैज्ञानिक न रहकर कवि बन जायगा । इसी प्रकार एक शिवं का रक्षक न्यायाधीश यदि किसी अभियुक्ता बाला के अधिकारों को भूलकर उसके सौन्दर्य पर ही मुग्ध होने लगेगा तो वह भी अपने कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट हो जायगा । ठीक इसी प्रकार सौन्दर्य-साधना में रत कलाकार जब अपने मूल लक्ष्य को भूलकर सत्यं और शिवं

की ओर आकर्षित होने लगेगा तो वह अपनी कला को कला के स्थान पर दर्शन या नीति-शास्त्र का रूप दे देगा। अस्तु, जीवन की सफलता इसी में है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य और क्षेत्र को ही प्रमुखता दे। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कर्त्तव्य-क्षेत्र में प्रवेश करेगा तो इससे उसका महत्त्व तो नष्ट हो ही जायगा, संसार में भी वड़ी अव्यवस्था और विकृति आ जायगी। जल का गुण शीतलता है और अग्नि का उष्णता, उनका धर्म इसी बात में है कि दोनों अपने-अपने गुणों को बनाए रखें। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि संसार के अनेक विद्वान् जो एकांगी दृष्टिकोण से ही सभी वस्तुओं को देखने के अभ्यस्त है, एक वस्तु का गुण दूसरी वस्तु में ढूंढ़ने का प्रयास करते है। उसी दृष्टिकोण का परिणाम है कि साहित्य और कला मे विज्ञान, दर्शन और नीतिशास्त्र के तत्त्वों की आशा की जाती है। विभिन्न विद्वानों के विचार से जीवन में केवल सौन्दर्य से काम नहीं चल सकता, उपयोगिता की दृष्टि से भी सौन्दर्य का विशेष महत्त्व नही है, अतः वे चाहते हैं कि कला सौन्दर्य के साथ-साथ कुछ ऐसी उपयोगी बातों या नैतिकता की भी शिक्षा दे जिससे कि जीवन की उन्नति हो। इसी दृष्टिकोण के समर्थन और विरोध को लेकर विचारकों के दो पक्ष हो गए है, एक उनका जो कला का चरम लक्ष्य सौन्दर्य मानते हैं, इनका नारा है—"कला कला के लिए," और दूसरा, उनका जो कला का चरम लक्ष्य नैतिकता की शिक्षा देना मानते हुए कहते है—"कला जीवन के लिए।" अतः इन दोनों पक्षों के विचारों के अध्ययन के अनन्तर ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

कला जीवन के लिए—सुश्री महादेवी वर्मा ने जीवन तथा कला में आदर्श का महत्त्व बताते हुए लिखा है—

"....आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर, उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है और हमारी खण्डित भावना को अखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। जब आदर्श जलभरे बादल की तरह आकाश का असीम विस्तार लेकर पृथ्वी के असंख्य रंगों, अनन्त रूपों में नहीं उतर सकता तब शरद के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का धब्बा बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है....।"

विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में 'आदर्शवाद' शब्द का प्रयोग विभिन्न विशिष्ट धारणाओं एवं मान्यताओं के अर्थ में किया जाता है। दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद भौतिकवाद का विरोधी है। "भौतिकवादी भौतिक द्रव्य को सत्य मानता है और मन अथवा चेतना को उसका उपजात एवं अनुगामी। इसके ठीक विपरीत दार्शनिक आदर्शवादी मन अथवा चेतना को परम सत्य एवं परम तत्त्व और भौतिक द्रव्य को उससे उद्भूत मानता है। उसकी मान्यता यह है कि परम तत्त्व मन जैसा चेतन है।" (हिन्दी साहित्य कोष : पृष्ठ ९५)। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद को अध्यात्मवाद का पर्यायवाची कहा जा सकता है। किन्तु देश और काल के भेद से इसके स्वरूप में परस्पर थोड़ी-बहुत विभिन्नता भी सदा रही है।

सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) के क्षेत्र में भी विचारकों का एक ऐसा समूह रहा है जो 'आदर्शवादी' कहा जा सकता है। इस वर्ग में वे चिन्तक आते हैं जो वस्तु का सौन्दर्य उसके भौतिक तत्त्वों में न मानकर या तो उसकी उपयोगिता में मानते हैं अथवा द्रष्टा की दृष्टि में मानते हैं। सुकरात, प्लेटो, हरबर्ट, रिचर्ड्स आदि विचारक इसी श्रेणी में आते हैं। सुकरात ने उपयोगिता को ही सौन्दर्य का पर्यायवाची मानते हुए एक स्थान पर लिखा था—"A dung basket if it answers its end may be a beautiful thing while a golden shield not well for use, is ugly thing" अर्थात् एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह अपना कोई उपयोग रखती है, जब कि चमचमाती हुई स्वर्ण-घटित ढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने प्रत्यक्ष संसार को किसी अप्रत्यक्ष जगत् की प्रतिच्छाया घोषित करते हुए समस्त सौन्दर्य को किसी एक अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित माना है। हमारी आत्मा सौन्दर्य की खोज में भटकती रहती है, किन्तु सौन्दर्य के सच्चे स्वरूप का आस्वादन करना कोई सरल कार्य नहीं। उसके विचारानुसार विभिन्न शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन एवं मनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य-बोध कर सकते हैं। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्क-बद्ध अध्ययन से ही उदित होती है, फिर भी वह तर्क से शून्य होती है। सौन्दर्य तर्क-गम्य नहीं अनुभूति-गम्य है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों में आई० ए० रिचर्ड्स ने भी सौन्दर्य की व्याख्या आदर्शवादी दृष्टिकोण से करते हुए कहा कि हमारी भावात्मक संतुष्टि का नाम ही सौन्दर्य है। किसी वस्तु को देखकर जब हमारी भावनाओं में एकाग्रता या तन्मयता आ जाती है तो हम तृप्ति का अनुभव करते हैं और हम उस वस्तु को भूल से सुन्दर कह बैठते हैं, जबकि वास्तव में सौन्दर्य हमारी इस मानसिक तृप्ति की देन है। इस प्रकार आदर्शवादी दार्शनिकों की ही भाँति आदर्शवादी सौन्दर्य-शास्त्रियों ने भी भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को, स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता को, और यथार्थ की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्त्व दिया है।

साहित्य के क्षेत्र में आदर्शवाद का प्रयोग किसी एक वर्ग या एक काव्य-धारा के लिए नहीं होता—जैसा कि कुछ अन्य वादों के सम्बन्ध में होता है—अपितु व्यापक रूप में उसका प्रयोग एक विशिष्ट दृष्टिकोण के लिए होता है। वस्तुतः इसका प्रयोग 'यथार्थ-वाद' के विरोध में किया जाता है। काव्य में विषय-वस्तु का चित्रण वास्तविक रूप में करना यथार्थवाद कहलाता है, जबकि उसे वास्तविक से ऊपर उठाकर प्रस्तुत करना आदर्शवाद है। यथार्थवाद जहाँ 'क्या है?' का उत्तर देता है, वहाँ आदर्शवाद यह बताता है कि 'क्या होना चाहिए?' यथार्थवादी मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण करके उसके पतन को चित्रित करता है, जबकि आदर्शवादी उसकी उदात्त प्रवृत्तियों को उभार करके उसे उत्थान की ओर अग्रसर करता है! यथार्थवादी समाज की समस्याओं को नग्न रूप में प्रस्तुत करके ही चुप हो जाता है, जबकि आदर्शवादी उनका समाधान भी करने का प्रयत्न करता है। यथार्थवादी ईश्वर, पाप-पुण्य, भाग्य एवं पुनर्जन्म को स्वीकार

नहीं करता, जबकि आदर्शवादी इन सबमें विश्वास करता है। यथार्थवादी की दृष्टि धरती पर रहती है, जबकि आदर्शवादी आसमान की ओर ताकता है। यथार्थवादी को केवल वर्तमान से प्रेम होता है, जबकि आदर्शवादी अतीत के गौरव और भविष्य की कल्पनाओं में डूबा रहता है। यथार्थवादी काव्य की रचना का अन्त प्रायः निराशा, वेदना, पराजय एवं दुःख में होता है, जबकि आदर्शवादी के काव्य में नए जीवन के मधुर स्वप्नों, भावी सफलता की आशाओं, पाप पर पुण्य की विजय का का चित्रण होता है। प्रश्न है ऐसे सुन्दर, मधुर, दिव्य एवं अलौकिक आदर्शवाद में कौन से दोष हैं जिससे सभी कलाकार या सभी पाठक इसे पसन्द नहीं कर पाते ?

इसका सीधा सा कारण यह है कि वह कल्पना के गगन में उड़ान भरता है, जबकि हमारा वास्तविक जीवन यथार्थ की ठोस भूमि पर आधारित है। वह हमें कला का आश्वासन देता है जबकि हम आज की पीड़ा से घायल हो रहे है। वह हमारी रोटी की आवश्यकता के उत्तर में संगीत की मीठी रागिनी सुनाता है। आदर्शवाद की अति सूक्ष्मता, अति काल्पनिकता और अलौकिकता से ही ऊबकर लोग यथार्थवाद की शरण लेते है।

दूसरा प्रश्न है कि जब आदर्शवाद इतना बुरा है तो इसमें कौन से गुण है जिससे कुछ लोग इसका समर्थन करना उचित समझते हैं ? इसका उत्तर यही है कि यथार्थवाद हमारा शरीर है तो आदर्शवाद हमारी आत्मा है। यदि हमारे जीवन के लिए रोटी, कपड़े और मकान की आवश्यकता सर्व-प्रमुख है, तो मीठी कल्पनाओं, मधुर स्वप्नों एवं उच्च आदर्शों के बिना भी जीवन जीवन नहीं रह सकता। संसार की वाटिका में यदि हम यथार्थ के काँटों को ही देखते रहे, तो भय है कि कहीं हम निराश होकर आत्महत्या ही न कर लें, अतः उसके आदर्श के फूलों को भी देखना नितान्त आवश्यक है। अतः जीवन और साहित्य—दोनों में यथार्थ और आदर्श का उचित संतुलन आवश्यक है। जैसा कि श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है—"आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का बालक है और यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक, अतः उनकी अन्योन्याश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है और न भीतर से कभी मिट सकती है। उनकी गति विपरीत दिशोन्मुख होकर भी जीवन की परिधि को दो ओर से स्पर्श करने का एक लक्ष्य रखती है।"

कला कला के लिए

कला का उद्देश्य विशुद्ध कला या सौन्दर्य को माननेवाले विद्वानों में क्रोचे, आस्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर, जे० ई० स्पिनगार्न आदि प्रमुख हैं। क्रोचे का मत 'अभिव्यंजनावाद' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने आत्मा की दो प्रवृत्तियाँ मानी है—एक विचारात्मक या सैद्धान्तिक (Theoretic) और दूसरी व्यावहारिक (Practical)। इस विचारात्मक या सैद्धान्तिक प्रवृत्ति के भी दो उपभेद हैं, एक स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition) और दूसरी तर्क की क्रिया (Logic) से उत्पन्न। व्यावहारिक प्रवृत्तियों के भी क्रोचे ने दो भेद किए हैं—आर्थिक और नैतिक। इस प्रकार ये चार प्रवृत्तियाँ

निश्चित हुईं—(१) स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition), (२) तर्क की क्रिया से उत्पन्न (Logic), (३) आर्थिक (Economic) और (४) नैतिक (Ethical)। कला का सम्बन्ध इनमें से प्रथम प्रवृत्ति—स्वानुभूति—से ही है, अतः शेष प्रवृत्तियाँ जिनमें नैतिक प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं, कला से असम्बद्ध हैं। कला-सृष्टि की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है जब कोई भी कलाकार स्वानुभूति को सहज स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त कर देता है, तो वही कला का रूप धारण कर लेती है। अतः अभिव्यक्ति की पूर्णता ही कला की पूर्णता है। अभिव्यक्ति ही उसका सौन्दर्य है। इस प्रकार क्रोचे विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण के द्वारा कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानता है। यदि कलाकार अनैतिक तत्त्वों की अभिव्यंजना करता है, तो यह दोष स्वयं कलाकार का नहीं है, अपितु उस समाज का है जिसके वातावरण के प्रभाव से उसने ऐसी अनुभूति ग्रहण की। अतः जो आलोचक कला में नैतिकता देखना चाहते हैं, वे पहले समाज के वातावरण में नैतिकता को प्रतिष्ठित करें।

श्री आस्कर वाइल्ड और स्पिनगार्न महोदय ने भी कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानते हुए "कला कला के लिए" का समर्थन किया है। आस्कर वाइल्ड ने स्पष्ट रूप में घोषित किया है—"समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् है।" जे० ई० स्पिनगार्न के शब्दों में—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूंढना ऐसा ही जैसा कि रेखा-गणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुरा-चारपूर्ण।"

श्री ब्रेडले महोदय ने भी "कला कला के लिए" मत का समर्थन करते हुए कहा है कि कला को सौन्दर्य के माप-दण्ड से ही नापना चाहिए। हाँ, अनैतिकतापूर्ण रचनाओं को नागरिकों की दृष्टि से प्रकाशित न भी किया जाय तो कोई बात नहीं। ब्रेडले ने बतलाया है कि रोसिटी (Rossetti) ने अपनी एक कविता को जिसे मर्यादावादी टेनीसन ने भी पसन्द किया था, लोक-मर्यादा के भय से प्रकाश में नहीं आने दिया। इस सम्बन्ध में ब्रेडले महोदय का कहना था कि उसका यह निर्णय नागरिक की दृष्टि से था, कलाकार की हैसियत से नहीं।

आधुनिक मनोविश्लेषकों में भी अनेक ने कलावाद का समर्थन किया है। फ्रायड ने काव्य को अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति माना है। ऐसी स्थिति में काव्य में कामुकता और अश्लीलता का आ जाना स्वाभाविक है। इस धारणा से साहित्यकारों को नग्न दृश्यों के चित्रण की छूट मिल गई है। वे कला के आवरण में अपने कुत्सित मन की गन्दगी को प्रस्तुत करने लगे हैं। यदि क्रोचे ने स्वाभाविक अभिव्यक्ति को काव्य का लक्ष्य माना था, तो फ्रायडवादी अश्लील अभिव्यक्ति को ही अपना साध्य मानने लगे है।

वस्तुतः क्रोचे, स्पिनगार्न, ब्रेडले, फ्रायड आदि सभी कलावाद के समर्थकों के विचार अतिवादी हैं। सर्वप्रथम क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही सौन्दर्य मानकर एक बड़ी भारी भ्रान्ति का प्रचार किया। प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी-बहुत अनुभूति की मात्रा होती ही है और वह किसी-न-किसी रूप में उसे अभिव्यक्त भी करता है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति

की प्रत्येक भावाभिव्यक्ति काव्य का रूप धारण नहीं करती। जब दो व्यक्ति परस्पर झगड़ते हैं तो उनकी उक्तियों में क्रोध की सफल अभिव्यक्ति होती है, पर क्या उसे हम काव्य की संज्ञा दे सकते हैं ? अभिव्यक्ति काव्य का साधन है, साध्य नहीं। दूसरे व्यक्ति का चरित्र भी उसकी विकसित भावनाओं पर आधारित होता है, अतः चारित्रिक वृत्तियों —नैतिकता आदि—का हमारी भावनाओं से गहरा सम्बन्ध होता है तथा काव्य की भी मूलाधार भावनाएँ होती हैं। इस दृष्टि से नैतिकता और काव्यात्मकता—दोनों का प्रेरणा-स्रोत एक ही है। अतः कला को नैतिकता से सर्वथा पृथक् मानना उचित नहीं।

यह ठीक है कि कला का सर्वोपरि गुण उसका सौन्दर्य है, किन्तु यह सौन्दर्य यदि नैतिकता से शून्य होगा तो उसके प्रभाव में न्यूनता आयगी। स्वयं सौन्दर्य को सौन्दर्य बनाए रखने के लिए भी नैतिकता की प्रधान रूप में न सही, गौण रूप में आवश्यकता है। जैसा कि हमने प्रारम्भ में प्रतिपादित किया था कि सौन्दर्य का लक्ष्य हमारे जीवन में आनन्द की प्रतिष्ठा करना है, किन्तु जो तत्त्व ऐसा करने में समर्थ न हो, उसे सौन्दर्य की उपाधि से कैसे विभूषित कर सकते हैं ?

महात्मा टालस्टाय ने भी कला का मानदण्ड नैतिकता को सिद्ध करते हुए लिखा है—"In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what bad, common to the whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art." अर्थात् "प्रत्येक युग में तथा प्रत्येक समाज में कुछ सामान्य धार्मिक एवं नैतिक धारणाएँ प्रचलित रहती हैं और इन्हीं के आधार पर किसी भी कला द्वारा प्रतिपादित भावनाओं का मूल निर्धारित किया जाता है।"

आधुनिक युगीन पाश्चात्य विद्वानों में रस्किन ने कला में नैतिकता का समर्थन दृढ़तापूर्वक किया। रस्किन महोदय ने सौन्दर्य का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से स्थापित करते हुए बताया है कि हमारी सौन्दर्यानुभूति हमारी इन्द्रियों, या हमारी मानसिक शक्तियों पर आधारित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध हमारी आस्तिक भावनाओं से है। साथ ही उसका यह भी विश्वास है कि सच्चरित्र व्यक्ति ही उच्च कोटि की कला का सृजन और आस्वादन कर सकता है। इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड, रिचर्ड्स आदि विद्वानों ने भी नैतिकता का समर्थन किया है।

जहाँ कलावादियों ने सौन्दर्य को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उससे नैतिकता अस्वस्थ हो जाती है, तो नैतिकता को इतना बढ़ावा भी दिया है कि उससे सौन्दर्य का दम घुट जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण

हमारे प्राचीन आचार्यों ने इस सम्बन्ध में एक सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। रस-सिद्धान्त के अनुसार कला का लक्ष्य सामाजिक को रसानुभूति या आनन्द प्रदान करना है। स्थूल दृष्टि से रस-सिद्धान्त पाश्चात्य कलावाद के निकट प्रतीत होता

है, क्योंकि दोनों ही कलाओं का लक्ष्य सौन्दर्य या आनन्दानुभूति स्वीकार किया गया है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों में गहरा अन्तर दृष्टिगोचर होगा। पाश्चात्य कलावाद में जहाँ स्वयं रचयिता का आनन्द ही साध्य है, वहाँ रस-सिद्धान्त में सामाजिक या पाठक का। इस स्थिति में कला समाज-विरोधी रूप धारण नहीं कर सकती। यदि कला नैतिकता का विरोध करेगी, तो वह सामाजिक के हृदय को प्रभावित करने में असमर्थ सिद्ध होगी। यही कारण है कि हमारे यहाँ कवियों की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों पर अंकुश के लिए 'रसाभास' जैसे विशेषणों का आविष्कार किया गया है।

रस-सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी कला का मानदण्ड तो सौन्दर्य को ही रखा है, किन्तु वे उसका लक्ष्य सामाजिक की तृप्ति ही मानते हैं। अस्तु, भारतीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में कला स्वतन्त्र रहती हुई भी नैतिकता के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करती रही है, अतः दोनों में कोई विरोध नहीं मिलता। हाँ, जब-जब समाज के दृष्टिकोण में भी नैतिकता सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन हुआ तो उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। नायिका-भेद के अन्तर्गत परकीया को भी स्थान दिया जाना इसी तथ्य का द्योतक है।

आधुनिक भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण में अवश्य पाश्चात्य प्रभाव के कारण थोड़ी अतिवादिता आ गई है। जहाँ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कला का चरम लक्ष्य मानव-जाति का हित-साधन करना मानते हैं वहाँ इलाचन्द्र जोशी कला में नीति को ढूंढ़ना पाप समझते हैं। उनके शब्दों में—"उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" यदि राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त एक ओर लिखते हैं—"**मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही, स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।**" तो दूसरी ओर महाकवि दिनकर जी का विचार है—"मैं यह मानता हूँ कि वसन्त का गुलाब और कवि के स्वप्न अपने में पूर्ण होते हैं, वे किसी को कुछ सिखाने के लिए नहीं होते!" हमारे विचार से काव्य में कला का मूल लक्ष्य तो सौन्दर्य ही होना चाहिए, किन्तु उसमें अनैतिक तत्त्वों का ऐसा मिश्रण न हो कि वह समाज को क्षति पहुँचाने लगे। हाँ, यदि उसकी कलात्मकता को ठेस पहुँचाए बिना कुछ उपयोगी तत्त्वों का भी समावेश किया जा सके तो यह उसका विशेष गुण होगा। कला के क्षेत्र में सौन्दर्य को नष्ट कर देनेवाली अति नैतिकता और नैतिकता के ठेस पहुँचानेवाली सुन्दरता—ये दोनों ही त्याज्य हैं। यदि एक मिष्ठान्न-विक्रेता अपने मिष्ठान्न में ऐसी गुणकारी वस्तुएँ मिलाता है जिनसे उसका स्वाद ही बिगड़ जाता है या उसके स्वाद को बढ़ाने के लिए ऐसी वस्तुएँ मिलाता है कि खानेवाले को तुरन्त हैजा हो जाता है—तो दोनों ही स्थितियों में उसकी मिठाई हमें स्वीकार्य नहीं होगी। सौन्दर्य के नाम पर कला को समाज-विरोधी रूप देना ऐसा ही है, जैसा स्वाद की वृद्धि के लिए हैजा फैलानेवाली मिठाई का निर्माण करना। वस्तुतः कला में सौन्दर्य और नैतिकता का सन्तुलित एवं समन्वित रूप ही श्रेयस्कर है। कला जीवन-साध्य है तथा जीवन कला-साध्य। क[illegible] जीवन से दूर कोई एकान्तमयी कोरी कल्पना नहीं और न जीवन कला से दूर के[illegible]

पदार्थ है। कला और जीवन दोनों समाज सापेक्ष है; दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उत्कृष्ट कला में दोनों का समन्वित रूप ही दृष्टिगोचर होता है। अतः कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है—"सौन्दर्य-मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगल-मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।"

●

: सात :

कविता क्या है ?

१. पाश्चात्य विचारकों के मत—सुकरात का दैवी-प्रेरणा सम्बन्धी विश्वास, प्लेटो का मिथ्या-अनुकृति सम्बन्धी मत, अरस्तू का अनुकृतिवाद ।
२. भारतीय दृष्टिकोण—रस-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से, अलंकार-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से, औचित्य-सम्प्रदाय का दृष्टिकोण ।
३. कविता के विभिन्न रूप—प्रबन्ध, मुक्तक, गीति आदि ।
४. कविता के विभिन्न लक्षण ।
५. कविता के तत्त्व ।
६. कविता और काव्य के अन्य रूप ।
७. कविता का महत्त्व ।

कविता क्या है ? इस छोटे से प्रश्न को लेकर आज तक विश्व के न जाने कितने विद्वानों, दार्शनिकों और आचार्यों ने विचार किया है किन्तु फिर भी इसका कोई एक सर्व-सम्मत उत्तर प्राप्त नहीं हो सका । प्रसिद्ध विचारक सुकरात ने कविता की व्याख्या करते हुए इसे दैवी प्रेरणा से प्रेरित सन्देश का रूप दिया है । उनके विचार से जब ईश्वर हमसे बातचीत करना चाहता है तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से अपने शब्दों को व्यक्त कर देता है । कवि के सहज स्वाभाविक उद्गार दैवी उद्गार हैं । निःसन्देह सुकरात की इस व्याख्या से कविता और रचयिताओं के महत्त्व में पर्याप्त अभिवृद्धि होती है, किन्तु इससे कविता के यथार्थ रूप का बोध नहीं होता । सभी कवियों के उद्गार किसी दिव्य सन्देश को व्यक्त करते हैं—इसे स्वीकार करना उचित नहीं ।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने कविता को अत्यन्त हेय एवं घृणापूर्ण दृष्टिकोण से देखा । उनकी धारणाओं का मूलाधार अनुकृति का सिद्धान्त है । यह समस्त स्थूल जगत् किसी अलौकिक सूक्ष्म जगत् की प्रतिच्छाया मात्र है, अतः वह तो मिथ्या है ही, जबकि कविगण अपनी कविताओं में इस मिथ्या जगत् के मिथ्या पदार्थों की भी मिथ्या अनुकृतियाँ अंकित करते हैं । इस प्रकार कविता में मिथ्या की मात्रा द्विगुणित हो जाती है । दूसरे, कवि या साहित्यकार हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि न करके हमारी वासनाओं, इच्छाओं एवं भावनाओं को आन्दोलित करते हैं जिससे हमारे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में दुर्बलता, अशक्तता एवं अनियमितता आती है । इन आक्षेपों के आधार पर प्लेटो ने अपने देशवासियों को कविता का बहिष्कार कर देने का परामर्श दिया था ।

उनके शब्दों में—"We should expel poetry from the city such being her nature. In case she should accuse us of brutality and boorishness,....let us state that if the pleasure producing poetry and imitation have any arguments to show that she is in her right place in a well-governed city, we shall be very glad to receive her back again." (Greek Literary Criticism, page 87) अर्थात् "कविता की मूल प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उसे अपने राज्य में से निकाल देना चाहिए। यदि वह हम पर निर्दयता या अन्याय का आरोप लगाये तो हमें उसे बता देना चाहिए कि हमारे इस सुव्यवस्थित राज्य में उसे तभी स्थान मिल सकता है, जब वह अपने आपको निर्दोष एवं उपयोगी सिद्ध करे।" वस्तुतः प्लेटो ने कविता के केवल असुन्दर पक्ष को ही एकांगी दृष्टिकोण से देखा, इसी से उनका कविता सम्बन्धी विवेचन ऊहात्मक एवं दोषपूर्ण हो गया है।

अरस्तू ने कविता का विवेचन यथार्थवादी शैली में करते हुए एक ओर जहाँ सुकरात की दिव्य प्रेरणा की बात का खंडन किया, वहीं दूसरी ओर प्लेटो के आक्षेपों का भी निराकरण किया। काव्य-प्रेरणा के उसने दो कारण बताये—'एक तो मनुष्य में स्वभाव से ही अनुकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है तथा दूसरे, अनुकरणात्मक रचनाओं से हमें आनन्द की उपलब्धि होती है।' प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी कविता का मूल रूप अनुकृति को ही माना है, किन्तु इसे उन्होंने दोष के स्थान पर उसका गुण माना है। यद्यपि वे तथ्य जिनका अनुकरण काव्य में किया जाता है, अपने आपमें शोकपूर्ण होते है, किन्तु फिर भी उनके कलागत स्वरूप से हमें आनन्द ही प्राप्त होता है। कविता से आनन्द क्यों प्राप्त होता है ? अरस्तू की शब्दावली मे कह सकते है कि कोई नई बात सीखना किसी नई वस्तु को समझना अपने-आप में सबसे बड़ी प्रसन्नता है। जब हम किसी चित्र को देखकर उसका अर्थ समझते है तो हमें उससे प्रसन्नता का अनुभव होता है। कविता की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने उसे 'छन्दोबद्ध अनुकृति' बताया है।

यद्यपि अरस्तू ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की विचार-परम्परा को आगे बढ़ाया है, किन्तु कविता के सम्बन्ध मे उनके निष्कर्ष भी भ्रान्ति-शून्य नहीं हैं। एक तो कविता को अनुकृति मानना सबसे बड़ी भ्रान्ति है। अनुकृति स्थूल पदार्थों, प्रत्यक्ष क्रिया-व्यापारों एवं वास्तविक तथ्यों की ही की जा सकती है, जबकि कविता में सूक्ष्म भावनाओं एवं काल्पनिक घटनाओं का चित्रण होता है। दूसरे, काव्य-जन्य आनन्दों को वस्तुओं और तथ्यों के ज्ञान-जन्य आनन्द के तुल्य बताना भी भ्रामक है। वास्तव में इन यूनानी दार्शनिकों का ध्यान कविता के सर्वप्रमुख तत्त्व—भाव की ओर नहीं गया। उनकी दृष्टि कविता के स्थूल अवयवों एवं उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रही, अतः उनकी विवेचना के आधार पर कविता के स्वरूप का सम्यक् रूप से ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं।

भारतीय दृष्टिकोण

कविता क्या है—इसी प्रश्न को भारतीय आचार्यों ने दूसरे शब्दों में—'काव्य

की आत्मा क्या है ?'—उठाया था। सम्भवतः शाब्दिक दृष्टि से दोनों प्रश्न परस्पर भिन्न प्रतीत हों, किन्तु अर्थ और लक्ष्य की दृष्टि से दोनों में गहरी समानता है। पहले प्रश्न में कविता के समग्र रूप के सम्बन्ध में पूछा गया है, जबकि दूसरे में उसके सर्व-प्रमुख तत्त्व पर ही बल दिया गया है—अतः दूसरा प्रश्न पहले का ही पूरक है। जब हमें काव्य की आत्मा का ज्ञान हो जायगा, तो उसके शेष अंगों तथा पूरे स्वरूप का निर्णय करना हमारे लिए कठिन नहीं रहेगा। अतः काव्य की आत्मा सम्बन्धी वाद-विवाद का अध्ययन इस प्रसंग में उपयोगी ही सिद्ध होगा।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध मे हमारे यहाँ छः प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित है—रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय। रस-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य भरतमुनि थे। यद्यपि उन्होंने काव्य की आत्मा सम्बन्धी वाद-विवाद में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, किन्तु उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से काव्य का उद्देश्य पाठक को रसानुभूति प्रदान करना बताया है। काव्य की वह शक्ति जिससे रस की निष्पत्ति होती है, वही काव्य की आत्मा है। काव्य में यह शक्ति भावनाओं के चित्रण द्वारा उत्पन्न होती है। अतः रस-सिद्धान्त के अनुयायी भाव, भावनाओं और उनसे सम्बन्धित विभिन्न अंगों—विभाव, अनुभावादि को ही काव्य का प्राण मानते है। संक्षेप मे रस-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा उसकी भावोत्पादिनी शक्ति है। ध्यान रहे, भावनाओं का वर्णन इस ढंग से भी किया जा सकता है कि पाठक उससे जरा भी प्रभावित न हो, ऐसी स्थिति मे वह वर्णन काव्य का रूप धारण नहीं कर सकेगा। इसीलिए रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों ने कोरे भाव के स्थान पर रस (=भावोत्पा-दिनी शक्ति) को महत्त्व दिया है।

अलंकार-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा उसका सौन्दर्य है। इस सम्प्रदाय के उन्नायकों में भामह, दंडी और रुद्रट का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इनके विचारानुसार काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि अलंकारों के प्रयोग से ही होती है, अतः वे अलंकार को ही काव्य का सर्व-प्रमुख तत्त्व मानते है। यद्यपि इन्होंने अलंकार को बहुत ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु फिर भी उसके काव्य के मूल रूप का स्पष्टी-करण नहीं होता। रस का सम्बन्ध जहाँ काव्य की मूल विषय-वस्तु से है, वहाँ अलंकार केवल उसके कथन के प्रकार से सम्बन्ध रखता है। दूसरे, रस में एक आवश्यक शर्त यह है कि काव्य से पाठक को आनन्द की उपलब्धि हो, जबकि अलंकार सम्प्रदाय इस ओर कोई ध्यान नही देता। अस्तु, कोरी आलंकारिकता काव्य की मूल आत्मा न होकर उसका बाह्य उपकरण मात्र है; वह साधन ही है, साध्य नहीं।

'रीति-सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक वामन ने 'विशिष्ट-पद-रचना' या रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हुए काव्य-रचना की विभिन्न शैलियों को ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व घोषित किया है। इसी प्रकार 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने शैली की वक्रता या असाधारणता को ही काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तुत किया। ध्वन्या-लोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने काव्य का महत्त्व उसकी व्यंजना-शक्ति के वैभव को प्रदान किया। वस्तुतः अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि—ये चारों सम्प्रदाय काव्य

की आत्मा की अपेक्षा उसके अन्य अंगों की व्याख्या अधिक करते हैं। रस को यदि काव्य की आत्मा या प्राण कहा जा सकता है, तो ये चारों उसके शरीर के विभिन्न अंग व तत्त्व माने जा सकते हैं। औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक क्षेमेन्द्र ने इन सभी के उचित प्रयोग को ही काव्य की आत्मा माना है। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य की आत्मा या उसका सर्वप्रमुख तत्त्व रस या भावोत्पादिनी शक्ति (संक्षेप में—भाव-तत्त्व) ही है।

काव्य की आत्मा का निर्णय हो जाने के अनन्तर हम उसके बाह्य रूप पर भी विचार कर सकते है। काव्य के भी अनेक रूप एवं भेद मिलते हैं, जिनमें से एक 'कविता' भी है। सबसे पूर्व काव्य के तीन भेद हैं—गद्यबद्ध, पद्यबद्ध एवं चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित)। पद्यबद्ध काव्य को ही कविता कहते हैं। इनके भी अनेक रूप हैं—प्रबन्ध, काव्य, मुक्तक—काव्य और गीति-काव्य। प्रबन्ध काव्य में प्रारम्भ से लेकर अंत तक दीर्घ कथा चलती रहती है। मुक्तक काव्य के छन्द एक दूसरे से विशृङ्खलित रहते हैं। गीति-काव्य मे संगीतात्मकता का समावेश होता है। अस्तु, रूप-आकार आदि की दृष्टि से प्रबन्ध, मुक्तक एवं गीति में परस्पर अन्तर है, किन्तु ये सभी पद्यबद्ध होते हैं—अतः रस यदि कविता की आत्मा है तो पद्यबद्धता या छन्दोबद्धता उसका शरीर है, ध्वनि उसका रूप-रंग है, अलंकार उसके आभूषण है, वक्रोक्ति उसकी वाणी का माधुर्य है और रीति उसके व्यवहार की कमनीयता है।

कविता के विभिन्न लक्षण

कविता के इस समग्र रूप को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाओं और लक्षणों के संकीर्ण वृत्त से बाँधने का प्रयत्न किया है। काव्य-प्रकाश के रचयिता मम्मट के शब्दों में अलंकार हो या न हो, दोपरहित, गुणसहित, शब्द और अर्थमयी रचना काव्य है (तद-दोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि)। आचार्य विश्वनाथ के विचारानुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—है। पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य बताते हुए लिखा है—"रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्दः काव्यम्।" वस्तुतः यहाँ 'काव्य' शब्द को साहित्य के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, अतः इन परिभाषाओं से कविता के लक्षण स्पष्ट नहीं होते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कविता को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए लिखा है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" (चिन्तामणि, भाग १)। यह लक्षण केवल कविता पर ही नहीं, काव्य के अन्य रूपों पर भी लागू होता है, अतः इससे भी कविता के स्वरूप का बोध स्पष्ट रूप में नहीं होता।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विशुद्ध कविता के लक्षणों को ध्यान में रखकर उसकी परिभाषा की है, अतः उन पर भी विचार कर लेना उचित होगा। प्रसिद्ध विद्वान् अरस्तू की परिभाषा पर पीछे विचार किया जा चुका है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को मूलतः

जीवन की आलोचना बताया है—"Poetry is at bottom a criticism of life." —किन्तु यह लक्षण तो दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास और आत्मकथाओं में भी मिलता है, अतः इसे कविता का लक्षण बताना, कविता का उपहास करना है। महाकवि वर्ड्सवर्थ ने कविता को शांति के समय स्मरण की गई उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक बताया है—"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquility." इन शब्दों से कविता की उत्पत्ति और उसके मूल तत्त्व 'भाव' पर तो प्रकाश पड़ता है, किंतु उसके अन्य लक्षणों का पता इनसे नहीं चलता। उसी युग के अन्य महाकवि कालरिज ने कविता को उत्तमोत्तम क्रम-विधान—"Poetry, the best words in the best order" बताकर उसकी प्रशंसा-मात्र की है, जो उपन्यास पर भी लागू हो सकती है। कारलायल (Carlyle) ने कविता को संगीतमय विचार घोषित करके उसके भाव-पक्ष की उपेक्षा कर दी है—"Poetry we will call musical thought." डा० जानसन (Dr. Johnson) के शब्दों में कविता सत्य और आनन्द के सम्मिश्रण की वह कला है, जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है—"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason." वस्तुतः ये लक्षण साहित्य की प्रत्येक रचना में किसी-न-किसी मात्रा में उपलब्ध होते हैं, अतः इसे विशुद्ध कविता की परिभाषा नहीं कह सकते। हडसन ने कविता की परिभाषा करते हुए उसे कल्पना और भावना के द्वारा जीवन की व्याख्या करनेवाली बताया है—"Poetry is interpretation of life through imagination and emotion." इस परिभाषा से कविता के भावपक्ष का ही बोध होता है, उसके शैली-पक्ष की चर्चा उसमें नहीं है।

हमारी दृष्टि मे ये सभी परिभाषाएँ महत्त्वपूर्ण है, किन्तु कविता के महत्त्वपूर्ण लक्षणों का परिचय उनमें से किसी भी एक से नहीं मिलता। किसी मे भाव-पक्ष गौण है तो किसी में कला-पक्ष। डा० सूर्यकान्त ने एक स्थान पर कविता के दो लक्षण निर्धारित किए है—भावों को तरंगित करने की शक्ति और पद्यबद्धता। भले ही आज के युग में कविता गद्यात्मक होती जा रही है। (और साथ में वह उतनी ही प्रभावशून्य होती जा रही है), किन्तु फिर भी उसका पद्य, छन्द या लय में से कोई न कोई बन्धन तो उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। अतः इन दो प्रमुख लक्षणों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कविता, पद्य-छन्द या लय में बँधे हुए ऐसे शब्दों की निधि है, जो हमारी भावनाओं को तरंगित करके हमें रसानुभूति प्रदान कर सके।

कविता के तत्त्व

सामान्य रूप से तो कविता में भी वे ही चार तत्त्व—भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली—पाए जाते हैं, जिनकी चर्चा हमने अपने लेख—'साहित्य और उसके तत्त्व' में की है। यहाँ हम कविता सम्बन्धी कुछ विशेष बातों की ही व्याख्या करेंगे।

जैसा कि पीछे कहा गया है, कविता के मुख्यतः तीन रूप प्रचलित हैं—प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक और गीति। तात्त्विक दृष्टि से इन तीनों रूपों में परस्पर गहरा अन्तर है। प्रबन्धकाव्य और मुक्तक में गीतिकाव्य की अपेक्षा ये तत्त्व अधिक होते हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्रों का चरित्र-चित्रण। (३) विभिन्न दृश्यों का विस्तृत रूप में वर्णन। (४) विभिन्न समस्याओं, विचारधाराओं एवं जीवन-दर्शन की व्यंजना। मुक्तक काव्य में विविधता के स्थान पर एकरूपता होती है, अतः उसमें किसी एक प्रसंग, एक दृश्य या एक भाव-दशा का ही अंकन प्रमुख रूप में होता है। दूसरे, मुक्तककार की शैली में संक्षिप्तता एवं व्यंजना अपेक्षित होती है। गीतिकाव्य के ये पाँच लक्षण स्वीकार किए गये हैं—(१) भावात्मकता, (२) संगीतात्मकता, (३) वैयक्तिकता, (४) संक्षिप्तता और शैली की कोमलता। वस्तुतः प्रबन्धकाव्य तो अपनी इतिवृत्तात्मकता एवं विचारात्मकता के कारण गद्य-काव्य के बहुत समीप पहुँच जाता है; कविता का सच्चा रूप और कवि की सच्ची भावात्मकता की परीक्षा गीतिकाव्य में ही होती है। 'भावोद्‌गार' या 'भावोच्छ्‌वास' के रूप में उच्छ्‌वसित होनेवाली कविता का दर्शन गीतिकाव्य में ही होता है।

कविता और साहित्य के अन्य रूप

कविता के इन तीनों रूपों की तुलना साहित्य के अन्य रूपों से भी की जा सकती है। जिस प्रकार पद्य के तीन रूप—प्रबन्ध, मुक्तक और गीतिकाव्य है, वैसे ही गद्य के तीन रूप—उपन्यास, कहानी और एकांकी है। प्रबन्धकाव्य और उपन्यास में परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों में ही कथावस्तु का संघटन, पात्रों का चरित्र-चित्रण, विभिन्न दृश्यों का विस्तृत रूप में अंकन तथा विचारधारा की अभिव्यक्ति होती है। अतः यह कहना कि उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है, बहुत कुछ ठीक जँचता है। फिर भी दोनों की प्रकृति में थोड़ा अन्तर होता है, महाकाव्य में उपन्यास की अपेक्षा अधिक रागात्मकता, अधिक आदर्शवादिता एवं अधिक संगीतात्मकता होती है। जैसा साम्य प्रबन्धकाव्य और उपन्यास में मिलता है, वैसा कहानी और मुक्तक काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। मुक्तक का क्षेत्र कहानी की अपेक्षा बहुत ही सीमित होता है; कहानी में वस्तु, पात्र एवं संवाद की आयोजना किसी-न-किसी अंश में अवश्य रहती है, किन्तु मुक्तक काव्य में प्रायः किसी एक परिस्थिति, एक भाव-दशा या एक विचार का ही चित्रण होता है। छोटे भावात्मक पत्र या भावात्मक गद्यकाव्य गीतिकाव्य की शैली के निकट पड़ते हैं, पर दोनों में प्रभाव की दृष्टि से गहरा अन्तर होता है। गीतिकाव्य की स्वर-लहरियों में एक ही भाव की गूँज आदि से अन्त तक सुनाई देती है, जबकि गद्य-काव्य और पत्रों में अनेक भावों और अनेक विचारों के लिए स्थान होता है। वस्तुतः गद्य के क्षेत्र में ऐसी कोई विधा अभी तक प्रचलित नहीं हुई, जो मुक्तक काव्य और गीतिकाव्य की तुलना में रखी जा सके। हाँ, छोटी-छोटी टिप्पणियाँ और भावात्मक गद्यांशों का विकास इस रूप में किया जा सकता है।

कविता का महत्त्व

कविता का महत्त्व पूर्वी और पश्चिमी सभी देशों में समान रूप से स्वीकार किया गया है। एक ओर अग्निपुराण का रचयिता काव्य-रचयिता को ब्रह्मा के समकक्ष महत्त्व प्रदान करता है तो दूसरी ओर शेक्सपीयर कवि को एक नूतन सृष्टि का रचयिता घोषित करता है, देखिए—

अपारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

—व्यास

The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes and gives to airy nothings
A local habitation and a name

—Shakespeare

वस्तुतः भावनाओं को आन्दोलित करने की जो शक्ति कविता में है, वह साहित्य के किसी अन्य रूप में नहीं मिलती। आधुनिक युग मे बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ मानवीय जीवन में रागात्मक तत्त्वों का ह्रास होता जा रहा है, अतः कुछ विद्वानों के मत में कविता का महत्त्व भी न्यून होता जा रहा है, किन्तु यह मत भ्रान्तिमूलक है। जिस वस्तु का जितना अधिक अभाव होगा, उतनी ही उसके मूल्य में अभिवृद्धि होगी—इस नियम के अनुसार भावी युग की बौद्धिक शुष्कता से पीड़ित मानवता को काव्य-उपवन की शीतल हरियाली और भी अधिक अपेक्षित होगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों कवियों के लिए काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायँगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।" अतः कविता का महत्त्व भविष्य में भी अक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। हाँ, इतना भय अवश्य है कि कहीं कृत्रिम कवियों के बौद्धिक क्रिया-कलापों के फेर मे पड़कर स्वयं कविता का रूप ही विकृत न हो जाय, जैसा कि आजकल हो रहा है।

: आठ :

नाटक : स्वरूप और तत्त्व

१. 'नाटक' शब्द की व्याख्या।

२. नाटक के लक्षण।

३. नाटक के तत्त्व—(क) वस्तु, (ख) पात्र, (ग) रस, (घ) अभिनय, (ङ) वृत्तियाँ।

४. उपसंहार।

विभिन्न विद्वानों ने 'नाटक' या 'नाट्य' शब्द की व्याख्या करते हुए इसकी व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। पाणिनि ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से सिद्ध की है, जबकि 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्' धातु से 'नाट्य' की उत्पत्ति मानी है। बेबर और मोनियर विलियम्स ने सिद्ध किया है कि 'नट्', 'नाट्' आदि धातुएँ 'नृत्' (नाचना) धातु से बिगड़कर बनी हैं। किन्तु ऋग्वेद में 'नट्' और 'नृत्' दोनों धातुओं का प्रयोग मिलता है। अतः 'नट्' को विकृत रूप मानना उचित नहीं। धनंजय ने अपने 'दश-रूपक' में नृत्त, नृत्य और नाट्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि नृत्त ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित और नाट्य रसाश्रित होता है। हमारे विचार से नृत्त और नृत्य में विशेष अन्तर नहीं है—इन दोनों में ही ताल-लय और भाव का आश्रय लिया जाता है, जबकि नट्, नाट्, नाट्य और नाटक में अनुकरण व अभिनय की प्रमुखता होती है। नृत्य नाट्य का एक अंग हो सकता है, किन्तु नाट्य नृत्य का नहीं; स्पष्टतः ही 'नाटक' 'नृत्य' से अधिक व्यापक अर्थ को सूचित करता है।

'नाटक' के पर्यायवाची के रूप में 'रूपक' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु मूलतः दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। नाटक में मूल पात्रों की विभिन्न चेष्टाओं आदि का अनुकरण मात्र अपेक्षित है, जबकि रूपक में इसके साथ-साथ मूल पात्रों के रूप का आरोपण भी आवश्यक है। 'नाटक' शब्द में गति एवं क्रियात्मकता की प्रमुखता होती है, जबकि रूपक में स्थूल रूप—वेष-भूषा—आदि को अधिक महत्त्व दिया जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने 'रूपक' को 'नाटक' से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उसके अठारह भेद किए हैं जिनमें से एक भेद नाटक भी है।

नाटक के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की धारणा भारतीय विद्वानों की धारणा से किंचित् भिन्न है। अंग्रेजी में 'नाटक' का पर्यायवाची 'ड्रामा' (Drama) शब्द है। आइवर ब्राउन ने 'ड्रामा' का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसका सम्बन्ध यूनानी के एक शब्द-विशेष से स्थापित किया है जिसका अर्थ होता है—'कृत' या 'किया हुआ'। इसी को हम

'कार्य' कह सकते हैं। वस्तुतः पाश्चात्य नाटकों में 'कार्य' को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है, किन्तु भारतीय नाटकों में 'अभिनय-कला' या 'रस' को प्रमुखता दी जाती है। इसी दृष्टिकोण-भेद के कारण दोनों के स्वरूप, लक्षण एवं तत्त्वों में अन्तर मिलता है।

नाटक के लक्षण

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने नाटक के विभिन्न लक्षणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में लिखा है **"योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः। सोऽगाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।"** अर्थात् जिसमे स्वभाव से ही लोक का सुख-दुःख समन्वित होता है तथा अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है उसी को 'नाटक' कहते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी की व्याख्या करते हुए लिखा है—**"प्रत्यक्ष कल्पानुष्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्द-वाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम्"** अर्थात् नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि प्रदान करता है। महिम भट्ट का मत है कि अनुभव-विभावादि के वर्णन से जब रसानुभूति होती है तो उसे काव्य कहते हैं और जब काव्य को गीतादि से रंजित एवं अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो वह नाटक का स्वरूप धारण कर लेता है। रामचन्द्र ने अपने 'नाट्य-दर्पण' में नाटक के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, जो प्रसिद्ध आद्य (पौराणिक एवं ऐतिहासिक) राजचरित पर आधारित हो, जो धर्म, काम एवं अर्थ का फलदाता हो और जो अंक आय (पंच अर्थ प्रकृति), दशा (पंचावस्था) से समन्वित हो, उसे नाटक कहा जाता है।

नाटक के लक्षणों का और भी अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण आचार्य विश्वनाथ ने किया है। उन्होंने 'साहित्य-दर्पण' में लिखा है—" 'नाटक' का वृत्त (कथा) प्रसिद्ध हो, उसमें पाँचों संधियों का समन्वय होना चाहिए। उनमें विलास, समृद्धि आदि गुणों तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। उसमे पाँच से लेकर दस तक अक होते हैं। पुराणादि से प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नाटक का नायक होता है। शृङ्गार या वीर इनमे से कोई एक रस प्रधान होता है—अन्य सब रस अंगभूत रहते हैं। इसे निर्वहण सन्धि मे अत्यन्त अद्भुत (कौतूहलवर्द्धक) बनाना चाहिए। इसमे चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन में रत रहने चाहिए तथा गौ के पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए।" ('साहित्य-दर्पण' : शालिग्रामकृत भाष्य, पृष्ठ १७०-१७१)

नाटक के उपर्युक्त लक्षणों पर विचार करते समय सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे आचार्यो ने 'ख्यात वृत्त' पर इतना अधिक बल क्यों दिया है? इसका उत्तर स्पष्ट है। नाटक की रचना उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों को ही नहीं, निम्न वर्ग के अशिक्षित जन-समुदाय को भी ध्यान मे रखकर की जाती है, अतः 'ख्यात-वृत्त' होने पर वे उसे अधिक स्पष्टता से ग्रहण कर सकते हैं। दूसरे कल्पित आख्यानों के नये-नये पात्रों

के प्रति हमारी भावना का विकास एकाएक उतनी गम्भीरता से नहीं हो सकता जितना कि ख्यात नायकों—राम, युधिष्ठिर, अर्जुन, अशोक, प्रताप आदि—से हो सकता है। रसानुभूति में हमारे पूर्व-संस्कार एवं प्रारम्भिक धारणाओं का भी गहरा योग होता है। महाराणा प्रताप का नाम सुनते ही जिस उदात्त भावना का संचार हमारे हृदय में हो जाता है, वह किसी कल्पित 'चन्द्रसिंह' या 'भानुप्रताप' के दर्शन से नहीं होती। कल्पित पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य नाटक का कुछ अंश देख लेने के अनन्तर आगे चलकर होता है; फलतः हमारी अनुभूति में पूर्ण सघनता आने में अधिक देर लग जाती है। भारतीय आचार्यों ने रस-निष्पत्ति को उद्देश्य मानते हुए नाटक के लक्षणों का प्रतिपादन किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने 'कार्य' को महत्त्व देते हुए संघर्ष, सकलन-त्रय, दुःखान्त, सुखान्त आदि लक्षणों को प्रमुखता दी है।

नाटक के तत्त्व

भारतीय आचार्यों ने नाटक के पाँच तत्त्व निर्धारित किए हैं—(१) वस्तु, (२) पात्र, (३) रस, (४) अभिनय और (५) वृत्ति। पाश्चात्य आलोचक सामान्यतः ये ६ तत्त्व—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य स्वीकार करते हैं। प्रथम दो तत्त्व तो भारतीय एवं अभारतीय विद्वानों में समान रूप से प्रचलित हैं ही, शेष तत्त्वों में भी किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। हमारे यहाँ अभिनय के उपभेदों में 'वाचिक अभिनय' का उल्लेख किया गया है जिसे हम पाश्चात्य विद्वानों के 'कथोपकथन' का पर्याय मान सकते हैं। अभिनय के भेदोपभेदों में वेश-भूषा एवं क्रिया-कलापों की स्वाभाविकता पर बल दिया गया है जिसमें 'देश-काल' के धर्म का पालन हो जाता है। भारतीय नाटकों का रस ही उद्देश्य है अतः पाश्चात्य 'उद्देश्य' तत्त्व का समाहार भारतीय नाटकों के रस में तथा 'शैली' का समाहार 'वृत्ति' में किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वों में पाश्चात्य तत्त्वों का समाहार हो जाता है, किन्तु पाश्चात्य तत्त्वों में भारतीय तत्त्वों का समन्वय नहीं हो पाता। नाटक में ही नहीं, काव्य के प्रत्येक अंग में भावतत्त्व की प्रमुखता होती है, अतः भावानुभूति या रसतत्त्व का नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु पाश्चात्य आलोचकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार अभिनय भी 'नाटक' को 'नाटक' बनाता है, किन्तु इसका यूरोपीय विद्वानों ने उल्लेख नहीं किया। पाश्चात्य विद्वान् जो ६ तत्त्व नाटक में गिनाते हैं, वे ही उपन्यास और कहानी में भी गिना देते हैं—इसका तात्पर्य है नाटक, उपन्यास और कहानी में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों के द्वारा किया गया तात्त्विक विवेचन एवं विश्लेषण अधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है तथा वह नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ है, अतः हम यहाँ भारतीय दृष्टिकोण को प्रमुख रूप से ग्रहण करते हुए विभिन्न तत्त्वों का परिचय देंगे।

१. **वस्तु**—नाटक की वस्तु या कथावस्तु (Plot) के मुख्यतः दो भेद किए गए हैं—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। नाटक के प्रमुख फल के भोक्ता

को अधिकारी या नायक कहते हैं, अतः उससे सम्बन्धित कथा को, जो कि नाटक की प्रमुख कथा होती है, आधिकारिक कहते हैं। गौण पात्रों से सम्बन्धित प्रसंगवश उपस्थित कहानी को प्रासंगिक कहते हैं। नाटक में प्रासंगिक कथाओं का समावेश प्रमुख या आधिकारिक कथा की आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त या उसे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि 'रामचरित नाटक' लिया जाय तो उसमें बालि-सुग्रीव सम्बन्धी प्रकरण प्रासंगिक रूप में ही ग्रहण किया जायगा।

प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रकरी। पताका मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलती रहती है, जबकि प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। कथावस्तु के आधार की दृष्टि से भी तीन भेद किए गये है—(१) प्रख्यात जिसका आधार इतिहास, पुराण या लोक-आख्यान होता है। (२) उत्पाद्य जो नाटककार के द्वारा कल्पित होता है। (३) मिश्र जिसमे इतिहास और कल्पना का मिश्रण किया जाता है।

कथावस्तु को क्रमशः नाटक मे या रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है, जिसे सम्यक् रूप मे ग्रहण करने के लिए पाँच अवस्थाओं में बाँटा जाता है—(१) प्रारम्भ—इसमे कथानक का आरम्भिक भाग आता है, जिससे नायक की इच्छा या उसके प्रमुख उद्देश्य का पता चलता है। (२) प्रयत्न—इसमें नायक के उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त किए गए प्रयत्नों का चित्रण होता है। (३) प्राप्त्याशा—इस अंश में नायक का उत्कर्ष होने लगता है, उसके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होने लगती है जिनसे उनकी फल-प्राप्ति की आशा होने लगती है। (४) नियताप्ति—इसमें नायक की फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है। और (५) फलागम—इसमें नायक को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी नाटक की पाँच अवस्थाएँ मानी है—(१) प्रारम्भ, (२) विकास, (३) चरम सीमा, (४) उतार और (५) अन्त या समाप्ति। कहने की आवश्यकता नहीं कि अवस्थाओं का यह विश्लेषण भारतीय आचार्यो के विवेचन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

कथानक की एक अवस्था से दूसरी अवस्था के विकास का पता उसकी कुछ प्रमुख घटनाओं से चलता है जिन्हे 'अर्थ-प्रकृति' कहते है। कथा-वस्तु की अवस्थाओं के अनुसार इसकी भी संख्या ५ मानी जाती है—बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। प्रत्येक अवस्था और अर्थ-प्रकृति में मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा सम्पन्न होता है जिनकी संख्या भी ५ मानी गई है—१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. अवमर्श, और ५. निर्वहण या उपसंहार। निम्नांकित तालिका द्वारा अर्थ-प्रकृति, अवस्था एवं संधियों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक स्पष्टतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है—

अर्थ-प्रकृति	अवस्था	सन्धि
१. बीज	प्रारम्भ	मुख
२. बिंदु	प्रयत्न	प्रतिमुख
३. पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
४. प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श (अवमर्श)
५. कार्य	फलागम	निर्वहण या उपसंहार

नाटक में सारी कथावस्तु को प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर प्रस्तुत करना कठिन होता है, अतः उसके कुछ अंश की केवल सूचना ही किसी प्रकार दे दी जाती है। इस सूच्य वस्तु की सूचना देनेवाले साधनों को 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। ये भी पाँच प्रकार के बताये गए हैं—(१) विष्कम्भक—नाटक के आरम्भ में या दो अंकों के बीच में दो गौण पात्रों के वार्तालाप द्वारा जब सूचना दी जाती है तो उसे विष्कम्भक कहते है। (२) चुलिका—पर्दे के पीछे से दी जानेवाली सूचना को चुलिका कहा जाता है। (३) अंकास्य—अंक के अंत में जहाँ बाहर जानेवाले पात्रों द्वारा अगले अंक की कथा की सूचना दिलाई जाती है, उसे अंकास्य कहते है। (४) अंकावतार—जहाँ पर पहले अंक के पात्र ही बाहर जाकर फिर लौट आते है, उसे अंकावतार कहते हैं। (५) प्रवेशक—नवागन्तुक निम्नकोटि के पात्र द्वारा दी जानेवाली सूचना को 'प्रवेशक' कहते हैं।

इस प्रकार कथावस्तु, उपर्युक्त भेदोपभेदों, विभिन्न अंगों व साधनों के सूक्ष्म विश्लेषण से भारतीय आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। आधुनिक विद्वान् इन शास्त्रीय भेदोपभेदों के पचडे से बचने के लिए प्रायः अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं, संधियों व 'अर्थोपक्षेपक' को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है।

२. **पात्र**—भारतीय आचार्यों ने नाटक के पात्रों को नायक, नायिका, प्रतिनायक, पीठमर्द, विदूषक, दूतिका आदि वर्गों में विभाजित किया है। नाटक के प्रधान पात्र को ही नेता कहते है। 'नेता' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'ले चलना', जो कथा को फल की ओर ले जाता है, वही नेता होता है। फल-प्राप्ति नायक को ही होनी चाहिए। कई बार नाटकों या उपन्यासों में यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इसका नायक कौन है ? आचार्य गुलाबरायजी के शब्दों में—"नायक जानने का यही साधन है कि हम देखें कि कथा का फल किसके साथ लगा हुआ है। श्रोता, द्रष्टा या पाठक किसके उत्थान या पतन में अधिक-से-अधिक रुचि रखते हैं। फल हमेशा मूर्त्त नहीं होता। प्रतिज्ञा का पूर्ण होना भी एक प्रकार का फल होता है।"

चारित्रिक दृष्टि से नायक के चार प्रमुख भेद किए गए है—(१) धीरोदात्त, (२) धीर-ललित, (३) धीर-प्रशांत और (४) धीरोद्धत। धीरोदात्त सर्वोत्कृष्ट श्रेणी का व्यक्ति होता है। उसका चरित्र उदार होता है। उसमें शक्ति के साथ क्षमा तथा दृढ़ता और आत्म-गौरव के साथ विनय और निरभिमानिता रहती है। इसके उदाहरण रामचंद्र है। धीर-ललित कोमल स्वभाव का होता है तथा इसमें रसिकता एवं कला-प्रेम का उन्मेष अधिक पाया जाता है। शृङ्गार रस-प्रधान नाटकों का नायक धीर-ललित ही होता है। धीर-प्रशांत संतोषी, विनम्र एवं शांत स्वभाव का होता है। कुटिल, नीतिज्ञ, कपटी एवं प्रचंड व्यक्तित्व वाले नायक को धीरोद्धत की कोटि में रखा जाता है। नायकों का यह वर्गीकरण आधुनिक परिस्थितियों एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से कहाँ तक उचित है, इस सम्बन्ध में गवेषणा की अपेक्षा है।

नायिका के भेदोपभेदों को भी संस्कृत व हिन्दी के आचार्यों ने पर्याप्त विस्तार दिया है। विशेषतः शृङ्गार रस के नाटकों में ही नायिका को अधिक महत्त्व दिया जाता है। अतः शृङ्गार व प्रेम की परिस्थितियों, अवस्थाओं व भाव-दशाओं के दृष्टिकोण से

नायिका के सहस्राधिक भेद किये गए हैं। सबसे पूर्व सामाजिक स्थिति के आधार पर नायिका के तीन भेद—स्वकीया, परकीया और सामान्या किये जाते हैं। इनके भी प्रत्येक के नायिका की अवस्था के अनुसार तीन-तीन अवान्तर भेद—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा किए गए हैं, इनके भी अनेक अवान्तर भेद किए गये हैं। इसके अतिरिक्त नायिका की परिस्थितियों के अनुसार भी स्वाधीन-पतिका, वासक-सज्जा, उत्कंठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्य-त्पतिका, प्रोषित-पतिका, आगत-पतिका आदि भेद किए गये हैं। नायिका-भेद प्रारम्भ में काम-शास्त्र और नाट्य-शास्त्र का विषय था, किन्तु आगे चलकर यह काव्य-शास्त्र और काव्य-रचना का आधार बन गया, जिससे इसका भेदोपभेदों में पर्याप्त विस्तार हुआ।

नायक की सहायता करनेवाले प्रमुख पात्र को 'पीठमर्द' तथा उसका विरोध करनेवाले को प्रतिनायक कहते हैं। संस्कृत के नाटकों में एक विशेष-पात्र हास्य-रस की सृष्टि के लिए भी रखा जाता था जिसे 'विदूषक' कहा जाता है। वह प्रायः नायक का कोई मुँह-लगा अन्तरंग मित्र होता था तथा अपनी मूर्खतापूर्ण उक्तियों द्वारा हास्य-रस क संचार करता था। कभी-कभी विदूषक नायक की गंभीर-परिस्थिति में सहायता करके श्रद्धा का पात्र भी बन जाता है।

पाश्चात्य नाटकों में भी पात्रों के चरित्र-चित्रण को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रायः पात्रों का चरित्र आदि से लेकर अन्त तक एक जैसा दिखाया जाता था, जबकि आधुनिक नाटकों में पात्रों के मानसिक संघर्ष का चित्रण करते हुए उनके चरित्र का उत्थान या पतन दिखाया जाता है। नाटक में पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के मुख्यतः तीन साधन हैं—(१) कथोपकथन द्वारा, (२) स्वगत कथन द्वारा और (३) क्रिया-कलापों द्वारा। इसके अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, विभिन्न चेष्टाओं आदि से भी उनकी चारित्रिक प्रवृत्तियों का पता चलता है।

३. **रस**—भारतीय काव्य-शास्त्र में साहित्य के सभी अंगों का प्रमुख उद्देश्य पाठकों को रसानुभूति प्रदान करना है। आदि आचार्य भरतमुनि ने भी नाट्य-रचना का लक्ष्य 'रस-निष्पत्ति' स्वीकार करते हुए रस-सिद्धान्त पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। उन्होंने विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है। रस-सिद्धान्त का आधार मानसिक क्रियाओं व भावोत्पत्ति सम्बन्धी सूक्ष्म ज्ञान है, अतः इसका मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। मनोविज्ञान-शास्त्र के विद्वान् आर० एम० वुडवर्थ महोदय ने भावोत्पत्ति के सम्बन्ध में चार बातें विचारणीय निश्चित की हैं—(१) भाव, (२) भाव को प्रेरित करनेवाला व्यक्ति या पदार्थ, (३) भावोत्तेजित होनेवाले व्यक्ति के अंग-प्रत्यंगों की अवस्था और (४) बाह्य परिस्थितियाँ जो भाव को उद्दीप्त करती हैं। इन्हें हम क्रमशः भाव, आलंबन-विभाव, अनुभाव और उद्दीपन-विभाव कह सकते हैं। श्री शैण्ड और मैक्डूगल महोदय ने भाव के दो भेदों का प्रतिपादन किया है—इमोशन और सेंटीमेंट। भारतीय आचार्यों ने भी भावों का वर्गीकरण संचारी भाव और अस्थायी भाव के रूप में किया है जो क्रमशः इमोशन और सेंटीमेंट से गहरा साम्य रखते हैं। वस्तुतः रस-सिद्धान्त मनोविज्ञान के गूढ़ तत्त्वों एवं सूक्ष्म ज्ञान के आधार पर

आश्रित है, किन्तु डा० राकेश गुप्त जैसे विद्वान् ने इसे भली प्रकार न समझ सकने के कारण इस पर अनेक आक्षेप प्रस्तुत किए हैं जो भ्रान्त धारणाओं पर आधारित हैं।

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को लेकर भी भारतीय आचार्यों ने इसकी सूक्ष्म मीमांसा की है तथा अनेक नये-नये विचार प्रस्तुत किए हैं। इस क्षेत्र में सर्वश्री भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, धनंजय, जगन्नाथ, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, नगेन्द्र, गुलाबराय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि यहाँ इन सब विद्वानों के मत-मतान्तर पर प्रकाश डालना संभव नहीं, किन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि अभिनेताओं के कुशल अभिनय के कारण दर्शकगण नाट्यरचना के मूल भाव में इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं कि वे अपने-पराये का भेद भूल जाते हैं। उनका नाटककार एवं उनके द्वारा चित्रित पात्रों की आत्मा के साथ तादात्म्य हो जाता है। इस प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहते है। साधारणीकरण द्वारा एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्दानुभूति का दूसरा नाम 'रस' है।

रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के भी अनेक सूक्ष्म भेदोपभेद किए हैं। भाव या स्थायी भाव मुख्यतः नौ माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इन्हीं से क्रमशः इन नौ रसों की उत्पत्ति मानी गई है—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त। नाटक के लिए रस को अनुपयुक्त माना गया है। विभाव के दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। अनुभावों के भी अनेक उपभेद किए गये हैं—जैसे शारीरिक, मानसिक और सात्त्विक। ये सात्त्विक अनुभाव आठ माने गये हैं—स्तम्भ, स्वेद, प्रलय, रोमांच, वैवर्ण्य (रंग फीका पड़ जाना), वेपथु (काँपना), अश्रु और वैवर्ण्य (स्वर का बदल जाना)। संचारी भावों की संख्या ३३ निर्धारित की गई है, किन्तु इससे अधिक भी हो सकती है।

४. **अभिनय**—साहित्य की दूसरी विधाओं और नाटकों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ अन्य विधाओं की रचना पठन या श्रवण के उद्देश्य से होती है, वहाँ नाटक की रचना दर्शन के निमित्त होती है। नाटक श्रव्य या पाठ्य नही अपितु दृश्य काव्य है, और उसे 'दृश्य काव्य' में परिणत करनेवाला प्रमुख तत्त्व अभिनय है। अतः कहना न होगा कि यह नाटक का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

नाटक खेलनेवाले पात्र या अभिनेता रंगमंच पर उपस्थित होकर जो रूप परिवर्तन, चेष्टाएँ, वार्तालाप, कार्य आदि करते है, वह सब 'अभिनय' के अन्तर्गत लिया जाता है। अभिनय को चार प्रकार का माना गया है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आंगिक के भी अनेक भेद किए गए है—शारीर, मुखज और चेष्टाकृत। आंगिक अभिनय में अंगों के संचालन के भिन्न-भिन्न प्रकार निश्चित किए गए है। प्रत्येक रस के अंगों का संचालन उसी के अनुकूल होता है। अभिनय में पात्रों के संभाषण आदि का विवेचन किया जाता है। भरतमुनि ने पात्रों के स्तर एवं उनकी शिक्षा के अनुकूल भाषा में संभाषण की आयोजना का समर्थन किया है। आहार्य के अन्तर्गत पात्रों के रूप, आकृति, वेश-भूषा आभूषणादि पर विचार किया जाता है। नाट्य-शास्त्र में विभिन्न

वर्गों के आहार्य सम्बन्धी अभिनय की विस्तृत विवेचना की गई है। यहाँ तक कि उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थिति के लोगों के बालों और मूँछों की सजावट की भी विधि दी है; जैसे विदूषक को गंजा दिखाना चाहिए, बच्चों की तीन चोटियाँ होनी चाहिए, नौकरों की लम्बी चोटियाँ, आदि-आदि।

सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, अश्रु आदि की चर्चा की जाती है। अभिनय में सबसे अधिक कठिन सात्त्विक अभिनय है। आजकल फिल्मों के क्षेत्र में अश्रु आदि के लिए अनेक कृत्रिम विधियों का प्रयोग किया जाता है।

५. **वृत्तियाँ**—कुछ विद्वान् वृत्ति और शैली को समान अर्थ में ग्रहण करते है जो ठीक नहीं है। शैली का सम्बन्ध मुख्यतः नाट्य-वस्तु के बहिरंग—उसकी भाषा आदि से है; जबकि वृत्ति उसकी मूल प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। वृत्तियाँ चार बताई गई है—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। कैशिकी में शृङ्गार, हास्य, गीत और नृत्य का बाहुल्य रहता है। सात्त्वती में शौर्य, दान, दया आदि वीरोचित कार्यों का निरूपण रहता है। आरभटी में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, घात-प्रतिघात आदि का निरूपण रहता है। भारती वृत्ति में स्त्रियाँ वर्जित मानी गई है। आधुनिक नाटकों और फिल्मों का भी इन वृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण कर सकते है। प्रेम और रोमांस सम्बन्धी, समाज-सुधार एवं देश-प्रेम सम्बन्धी, जासूसी एवं रहस्यात्मक और मारकाट सम्बन्धी चल-चित्रों को क्रमशः कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती में रखा जा सकता है।

नाटक के विभिन्न तत्त्वों का उपर्युक्त विवेचन मुख्यतः प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र के आधार पर किया गया है। आधुनिक युग मे पाश्चात्य नाटककारों—इब्सन, बर्नार्ड शॉ—आदि के प्रभाव मे भारतीय नाटकों के स्वरूप में पर्याप्त विकास हुआ है। अब नाटकों में ऐतिहासिक या ख्यात वृत्त के स्थान पर कल्पित आख्यानों को स्थान दिया जाता है। दूसरे, नाटक का नायक कोई महापुरुष या उच्चवर्ग का व्यक्ति हो, यह भी आवश्यक नहीं। तीसरे, व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति द्वेष की अपेक्षा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया जाता है। चौथे, बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक या मानसिक संघर्ष को प्रधानता दी जाती है। पाँचवें, गीतों और स्वगत-कथनों को प्रायः हटा दिया गया है। वस्तुतः आधुनिक नाटक चम्पू (गद्य-पद्य) न रहकर विशुद्ध गद्य की श्रेणी में आ गया है।

यद्यपि नाटक का प्राचीन स्वरूप बहुत कुछ लुप्त हो गया है या यों कहिए कि विकसित हो गया है, किन्तु चल-चित्रों के रूप में उसने एक ऐसा नवीन रूप प्राप्त किया है, जो साहित्य के अन्य सभी अंगों की अपेक्षा सर्वाधिक लोकप्रिय है। विश्व स्वयं एक अद्भुत नाटक है और नाटक उसका भी एक नाटक है। अतः इसका रूप भले ही देश-काल के अनुसार परिवर्तित होता रहे, किन्तु इसका आकर्षण सदैव ज्यों का त्यों बना रहेगा।

: नौ :

रस-सिद्धान्त और रस-निष्पत्ति

१. 'रस' शब्द की व्यापकता।
२. रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक एवं आचार्य।
३. भावों का वर्गीकरण—संचारी भाव और स्थायी भाव में अन्तर। मनोविज्ञान के 'इमोशन' और 'सेण्टीमेंट' से तुलना। डा० नगेन्द्र का मत।
४. रस के विभिन्न अवयव—आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, संचारी भाव, अनुभव आदि।
५. रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मत।
६. रस-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप।
७. रस-सिद्धान्त का महत्त्व—दार्शनिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, साहित्यिक दृष्टि से, राजनैतिक दृष्टि से।
८. उपसंहार।

'रस' शब्द भारतीय संस्कृति और साहित्य के चरम विकास से सम्बन्धित है। भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में 'रस' शब्द का प्रयोग सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के लिए होता है। खाद्य-पदार्थों और फलों के क्षेत्रों में रस मधुरतम तरल पदार्थ का द्योतक है। संगीत के क्षेत्र में कर्णेन्द्रिय द्वारा प्राप्त 'आनन्द' का नाम 'रस' है। चिकित्सा के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट प्राणदायिनी औषधियों को 'रस' कहा जाता है। अध्यात्म के क्षेत्र में स्वयं परमात्मा को ही रस या रस को ही परमात्मा घोषित किया गया है—"रसो वै सः" अर्थात् रस ही परमात्मा है। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्दानुभूति को ही रस की संज्ञा दी गई है। अस्तु, काव्यानन्द ही रस है।

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन किया है। भरतमुनि का समय अनुमानतः ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के निकट माना जाता है। भरत से पूर्व भी रस-सिद्धान्त के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। स्वयं भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की ओर संकेत करते हुए लिखा है—"एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।" फिर भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ अनुपलब्ध होने के कारण भरत को ही आदि आचार्य माना गया है। भरतमुनि के कार्य को अनेक परवर्ती आचार्यों—भट्ट-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भोजराज, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने आगे बढ़ाया। आगे चलकर हिन्दी के कवियों और आचार्यों ने भी रस-सिद्धान्त का महत्त्व स्वीकार किया है। आधुनिक युग में आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वस्तुतः लगभग बीस शताब्दियों से भारत में रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रूप से रही है। यद्यपि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि संप्रदायों के प्रवर्त्तकों ने रस के विरोध में नये-नये सम्प्रदायों की स्थापना करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें सफलता न मिली और अन्त में उन्हें भी किसी-किसी रूप में रस का महत्त्व स्वीकार करना पड़ा।

भावों का वर्गीकरण

रस-सिद्धान्त के समर्थक काव्य का लक्ष्य पाठक को आनन्दानुभूति प्रदान करना स्वीकार करते हैं। इस काव्य-जन्य आनन्द का ही दूसरा नाम 'रस' है। यह आनन्दानुभूति या रसानुभूति पाठक की भावनाओं के उद्वेलन के द्वारा सम्पन्न होती हैं। अतः काव्य में भी ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि वह पाठक की भावनाओं का उद्वेलन कर सके। यह क्षमता तभी आती है जब कि काव्य में विभिन्न भावों, भावनाओं एवं उनसे सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों का चित्रण सुचारु रूप में हुआ हो। अतः रस-सिद्धान्त एक ओर तो काव्य के सर्वप्रमुख तत्त्व के रूप में भाव को स्वीकार करता है तथा दूसरी ओर वह भावों के विभिन्न रूपों और उनके विभिन्न अंगों की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

रस-सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम भावों का दो रूपों में वर्गीकरण किया जाता है—(१) स्थायी भाव और (२) संचारी भाव। स्थायी भाव धीरे-धीरे विकसित होता है—दीर्घकाल तक हृदय में स्थित रहता है जबकि संचारी भाव विद्युत् की भाँति एका-एक प्रकाशित होकर कुछ ही क्षणों के अनन्तर लुप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रेम, घृणा, उत्साह आदि स्थायी भाव हैं जब कि रोष, हर्ष, भय आदि परिस्थितियों के अनुसार संचारी रूप में प्रकट होते हैं। भावों का यह वर्गीकरण आधुनिक मनोविज्ञान के भी सर्वथा अनुकूल सिद्ध होता है। मनोविज्ञान से अनुसार भी भावों के दो रूप है—(१) इमोशन (Emotion) और (२) सेंटीमेंट (Sentiment)। ये दोनों क्रमशः हमारे संचारी भाव और स्थायी भाव के ही पर्यायवाची हैं। इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए मनोवैज्ञानिकों के द्वारा कहा गया है कि इमोशन भावानुभव की प्रवृत्ति मात्र या यों कहिए कि भाव की उत्तेजित अवस्था मात्र (Emotion is a moved or stirred up state of feeling) है, जब कि सेंटीमेंट वह भावात्मक प्रवृत्ति है जो किसी आलम्बन-विशेष से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित ढंग से विकसित होती है। (A sentiment is an organised system of emotional dispositions centred about the idea of some object —McDougall) श्री मैक्डूगल महोदय ने अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलोजी' में इस पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा—"प्रत्येक सेंटीमेंट के पीछे उसके उद्भव का पूरा इतिहास होता है। यह धीरे-धीरे विकसित होता हुआ अधिक गम्भीर और शक्तिशाली होता जाता है। जब कोई इमोशन-विशेष बार-बार आलम्बन-विशेष के कारण उद्दीप्त होता रहता है तब वह दृढ़ और जटिल होता जाता है और उसकी मूल अवस्था निर्मित हो जाती है सेंटीमेंट के उदाहरण प्रेम और घृणा हैं।" हमारे आचार्यों ने स्थायी भाव और संचारी भाव का अन्तर बताते हुए इसी से मिलती-जुलती बात कही है। रस-गंगाधरकार ने लिखा है—"स्थायी

भाव चित्त में चिरकाल तक वासना-रूप से स्थित रहता हुआ आलम्बन से सम्बद्ध रहता है। वह विरोधी संचारी भावों से विच्छिन्न नहीं होता तथा आश्रय के हृदय में जीवन के दीर्घ भाग तक स्थित रहता है, जैसे प्रेम नामक चित्तवृत्ति।"

डा० नगेन्द्र ने 'सेन्टीमेंट' का अनुवाद 'मनोवृत्ति' करते हुए रस-सिद्धान्त के 'स्थायी भाव' से सेन्टीमेंट या मनोवृत्ति में सूक्ष्म अन्तर बताया है—(१) मनोवृत्ति (Sentiment) एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है, स्वयं मनोवृत्ति का नहीं। परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह बात नहीं है। (२) मनोवृत्ति (Sentiment) सदैव ही मनोविकार (Emotion) की आवृत्ति बन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह सत्य नहीं है, हर्ष की आवृत्ति करते रहिए पर वह रति नहीं बन पायेगा। (३) मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है परन्तु स्थायी भाव विचारमूलक नहीं, प्रवृत्तिमूलक है। डा० नगेन्द्र के ये निष्कर्ष हमें स्वीकार्य प्रतीत नहीं होते। एक तो उन्होंने 'सेन्टीमेंट' का अनुवाद 'मनोवृत्ति' करके उसके रूप के सम्बन्ध में भ्रांति उत्पन्न कर दी है। 'सेन्टीमेंट' हमारे 'भावना' शब्द का समानार्थक है। मनोवृत्ति सामान्य मानसिक प्रवृत्ति मात्र होती है, उसमें भावात्मकता कम होती है जब कि भावना में भावात्मकता का अंश अधिक होता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने सेन्टीमेन्ट की जो व्याख्या की है, वह भावना से साम्य रखती है। दूसरे, डा० नगेन्द्र ने जो विशेषताएँ सेन्टीमेन्ट की बताई है वे सब स्थायी भाव मे भी मिलती है तथा जो न्यूनताएँ स्थायी भाव में ढूँढ़ी गई है वे सेन्टीमेंट में भी विद्यमान है। हर्ष की आवृत्ति करते रहने से यदि रति स्थायी भाव का विकास नहीं होता तो यह भी सत्य है कि हर्ष की आवृत्ति से प्रेम सेन्टीमेन्ट का भी विकास नहीं होता। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस-सिद्धान्त के आचार्यों द्वारा स्थायी और संचारी का वर्गीकरण आधुनिक मनोविज्ञान के भी अनुकूल है।

रस के विभिन्न अवयव

भावोद्वेलन के लिए आवश्यक तत्त्वों की विवेचना करते हुए भरतमुनि ने भावनाओं से सम्बन्धित मुख्यतः तीन अवयवों—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की चर्चा की है। विभाव क्या है ? वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूल कारण है, विभाव कहलाते है। विभाव के भी दो भेद माने गये है—आलम्बन और उद्दीपन। मानव-हृदय में भावनाओं का प्रस्फुटन किसी बाह्य वस्तु, दृश्य या किसी परिस्थिति-विशेष की कल्पना द्वारा ही होता है, इसी प्रमुख कारण को आलम्बन कहते है। जैसे सिंह को देखकर हमारे हृदय में भय उत्पन्न होता है, अतः यहाँ 'सिंह' आलम्बन है। किन्तु बाह्य कारण का प्रभाव भी मनुष्य पर परिस्थितियों के अनुसार ही पड़ता है। यदि हम सिंह को पिंजरे में बन्द देखते है, या हम हवाई जहाज में बैठे हुए ऊपर से सिंह को देखते है तो हमारे हृदय में भय का संचार नहीं होता—अतः भावोद्दीपन के लिए परिस्थितियों की अनुकूलता भी अपेक्षित है। इसी को 'उद्दीपन' कहा गया है। आलम्बन यदि आग लगानेवाला अंगारा है तो उद्दीपन अनुकूल हवा की भाँति उसे बढ़ाने में योग देता है। जिस

प्रकार वर्षा के बीच आग बुझ जाती है, ठीक वैसे ही 'उद्दीपन' की प्रतिकूलता में 'आलम्बन' का प्रभाव भी नष्ट हो सकता है। श्मशान भूमि में रमणी की मनोरम छवि को देखकर भी रति का विकास नहीं होता।

जिस व्यक्ति के हृदय में आलम्बन और उद्दीपन के प्रभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, उसे 'आश्रय' कहा जाता है। हृदयगत भावों के उद्वेलन से आश्रय की शारीरिक एवं मानसिक अवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है; जैसे क्रोध में नेत्रों का लाल हो जाना, शोक में चीखना, आँसू बहाना आदि। इस परिवर्तन के द्योतक चिह्नों को 'अनुभाव' की संज्ञा दी गई है। हृदयस्थ भावों की व्यंजना अनुभावों के माध्यम से होती है। भावनाओं का रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है जिनका वर्णन काव्य में नहीं किया जा सकता, अतः अनुभावों के चित्रण के द्वारा ही भाव की व्यंजना की जाती है, अतः काव्य में अनुभावों की व्यंजना आवश्यक मानी गई है।

एक ही स्थायी भाव के बीच-बीच मे परिस्थितिवश अनेक भावों का भी संचार होता रहता है। उदाहरण के लिए प्रेम (स्थायी भाव) के क्षेत्र में प्रिय के मिलन पर 'हर्ष', उसके वियोग पर 'दुःख', उसकी उपेक्षा पर 'क्षोभ', अहित की आशंका पर 'चिंता' आदि भावों की अनुभूति होती है—इन्हे 'संचारी' कहा जाता है। 'संचारी भाव' स्थायी भाव के विकास मे सहायक होते है, किन्तु यदि उनकी आयोजना प्रतिकूल रूप मे हो तो वे बाधक भी सिद्ध हो सकते है। काव्य मे स्थायी भाव को पुष्ट करने के लिए उसके अनुकूल संचारियों की ही आयोजना की जाती है।

इस प्रकार स्थायी भाव आश्रय के हृदय मे आलम्बन के द्वारा उत्तेजित होकर उद्दीपन के प्रभाव से उद्दीप्त होकर, संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है। जब काव्यगत स्थायी भाव की अनुभूति पाठक को होती है तो वही 'रसानुभूति' या 'रस-निष्पत्ति' कहलाती है।

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया

काव्य के अध्ययन से पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति किस प्रकार होती है—यह प्रश्न भी रस-सिद्धान्त के आचार्यों में गहरे वाद-विवाद का विषय रहा है। आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में इस विषय पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए लिखा था—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हुए अनेक मत स्थापित किए है। इन आचार्यों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते है—(१) प्राचीन और (२) अर्वाचीन। प्राचीन आचार्यों में भट्ट-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त तथा अर्वाचीन आचार्यों मे रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, नगेन्द्र एवं गुलाबराय प्रभृति विद्वान् उल्लेखनीय है। इनके मन्तव्यों पर यहाँ क्रमशः प्रकाश डाला जाता है।

भट्ट-लोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्ट-लोल्लट ने भरतमुनि के द्वारा प्रयुक्त दो शब्दों—'संयोग' और 'निष्पत्ति'

—की व्याख्या मौलिक रूप से करते हुए बताया कि 'संयोग' का तात्पर्य यहाँ सम्बन्ध या मेल है तथा निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' है। उनके मतानुसार विभावों से रस की उत्पत्ति होती है, संचारियों से पुष्टि तथा अनुभावों से अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार से रस-सामग्री का रस से तीन प्रकार का सम्बन्ध हुआ : रस और विभावों में उत्पाद्य-उत्पादक, रस और संचारियों में पोष्य-पोषक तथा रस और अनुभावों में गम्य-गमक सम्बन्ध होता है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए हम दही की लस्सी का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। दही, पानी, बर्फ और चीनी आदि को मिलाकर तथा मथकर लस्सी तैयार की जाती है। दही मूल उपादान है जिससे लस्सी तैयार होती है; पानी, बर्फ और चीनी से वह बढ़ती है या पुष्ट होती है और मन्थन-क्रिया से उत्पन्न झाग यह सूचित करते है कि अब लस्सी तैयार हो गयी। इस उदाहरण को रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पर लागू करते हुए कहा जा सकता है कि दही विभाव है, जिसका लस्सी रूप से उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध है; पानी, बर्फ, चीनी आदि संचारी है, जिनका लस्सी रूप से पोष्य-पोषक सम्बन्ध है तथा झाग अनुभाव है जो लस्सी-रूपी रस को व्यक्त या सूचित करते है। यद्यपि विद्वानों ने भट्ट-लोल्लट के मत को 'उत्पत्तिवाद' का नाम दिया है, किन्तु यह नाम भ्रामक है क्योंकि 'निष्पत्ति' के अन्तर्गत लोल्लट ने केवल उत्पत्ति को ही नहीं, पुष्टि और अभिव्यक्ति को भी स्थान दिया है।

रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी समस्या है—मूल भाव और नट में क्या सम्बन्ध है? रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन नाटक की दृष्टि से हुआ था, अतः इस समस्या पर भी विचार करना आवश्यक था। इस सम्बन्ध में भट्ट-लोल्लट ने कई प्रश्नों पर विचार किया—रस की स्थिति किसके हृदय में होती है? क्या नट या अभिनेता भी इस रस का अनुभव करते है? सामाजिक या दर्शक अभिनेता के कृत्रिम प्रदर्शन से किस प्रकार प्रभावित होते है? उनके विचारानुसार मूल भाव या स्थायी भाव की स्थिति तो मूल पात्रों में ही रहती है, किन्तु अभिनेता मूल ऐतिहासिक पात्रों का अनुकरण करते है तथा सामाजिक या दर्शक अभिनेताओं पर मूल पात्रों का आरोपण करके रस का अनुभव प्राप्त करते है। लोल्लट के इन निष्कर्षो में स्थूल दृष्टि से अनेक दोष दिखाई पड़ते है। प्रथम तो ऐतिहासिक पात्र अभिनेताओं के सामने प्रस्तुत नहीं होते, अतः ऐसी स्थिति में वे मूल पात्रों का अनुकरण किस प्रकार कर सकते है; जैसे राम का अभिनय करनेवाले अभिनेता के सामने स्वयं राम प्रस्तुत नहीं होते, अतः वह उनका अनुकरण किस प्रकार करता है? दूसरे, कृत्रिम प्रदर्शन या मिथ्या आरोप के द्वारा रस की प्रतीति कैसे सम्भव है? जब हम रस्सी को साँप समझते हैं तो हमें भय की अनुभूति होती है, किन्तु जान-बूझकर रस्सी पर साँप का आरोपण करने से भय की अनुभूति नहीं होती—अतः नाटक में भी कृत्रिम आरोप से रसानुभूति किस प्रकार सम्भव है?

हमारे विचार से उपर्युक्त आक्षेपों का निराकरण किया जा सकता है। यह ठीक है कि मूल पात्र अभिनेताओं के सम्मुख उपस्थित नहीं होते किन्तु वे कल्पना के द्वारा उनका अनुकरण करते हैं। वे मूल पात्रों का साक्षात्कार कवि के माध्यम से करते है।

कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त एवं शकुन्तला के जिस रूप का चित्रण किया है उसी रूप का अभिनय अभिनेता करते हैं। दूसरा आक्षेप है—मिथ्या आरोप में भावनाओं की अनुभूति नहीं होती है, यह भी ठीक नहीं है। चित्रपट पर हम अनेक अभिनेत्रियों को भिखारिन, विधवा या वेश्या का अभिनय करते देखते हैं; हम उन अभिनेत्रियों का वास्तविक नाम—नरगिस, वैजयन्तीमाला, नूतन आदि भी जानते हैं, किन्तु फिर भी हमें रसानुभूति होती है। हम जानबूझ कर उस अभिनेत्री को थोड़ी देर के लिए उसके कृत्रिम रूप में ग्रहण कर लेते हैं। यह एक तथ्य है कि हम अभिनेताओं के मूल नाम, रूप एवं स्थिति को जानते हुए भी रजतपट पर उन्हें भिन्न नाम, रूप एवं स्थिति में ग्रहण करके रसानुभूति प्राप्त करते हैं। वस्तुतः रसानुभूति का कारण प्रत्यक्ष या वास्तविक रूप न होकर, मिथ्या रूप-विधान ही है। हम सड़क पर वास्तविक भिखारी को देखकर तो उसके प्रति घृणा प्रकट करते हैं, सच्चे चोर को घर में घुसते देखकर शोर मचाते हैं या प्रत्यक्ष दुर्घटना को देखकर खेद प्रकट करते हैं, किन्तु रंगमंच के भिखारी, चोर या किसी असुन्दर दृश्य को देखकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। कई बार छोटे बच्चे या नये दर्शक रंगमंच की अवास्तविक वस्तु को भी वास्तविक समझ बैठते हैं, ऐसी स्थिति में वे बीभत्स और भयानक दृश्यों से आनन्द अनुभव नहीं कर पाते। रंगमंच के कृत्रिम सिंह को वास्तविक सिंह समझ लेनेवाले बच्चे नाट्यशाला से चले जाने का आग्रह करने लगते हैं। अस्तु, भट्ट-लोल्लट का 'आरोपवाद' वास्तविकता पर आधारित है।

यद्यपि परवर्ती आचार्यों और आलोचकों ने भट्ट-लोल्लट के मत की तीव्र आलोचना की है, किन्तु फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। भट्ट-लोल्लट ही पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विवाद का श्रीगणेश किया। दूसरे, उन्होंने रस-सामग्री का विश्लेषण करते हुए उसके विभिन्न अवयवों—विभाव, अनुभाव, संचारी—का क्रमिक महत्त्व निश्चित किया। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में उन्होंने विभावों, अनुभावों और संचारियों का योगदान स्पष्ट किया, निष्पत्ति की क्रिया के तीन रूपों—उत्पत्ति, पुष्टि और अभिव्यक्ति—की कल्पना करके इसे सहज बोधगम्य बनाया। भावानुभूति के तीन संस्कारों—मूलपात्रों की अनुभूति, अभिनेताओं की अनुभूति और सामाजिक की अनुभूति—के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर का भी निर्देश सबसे पूर्व भट्ट-लोल्लट के द्वारा ही हुआ। रसानुभूति का आधा प्रत्यक्ष रूप-विधान के स्थान पर मिथ्या रूप के आरोपण को स्वीकार करके उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि भट्ट-लोल्लट का मत पूर्ण न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

शंकुक का अनुमितिवाद

श्री शंकुक ने आचार्य लोल्लट के मत के विरोध में अपने अनुमितिवाद की स्थापना की। वे 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' तथा 'संयोग' का अर्थ 'अनुमान' मानते हैं। रस सामग्री—विभाव, अनुभाव, संचारी—के आधार पर पाठक या दर्शक रस का अनुमान करता है। स्थायी भाव और रस का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जा सकता—

उसका अनुमान मात्र ही रस-सामग्री से किया जा सकता है। अस्तु, रस की 'निष्पत्ति' नहीं, अनुमिति या प्रतीति मात्र होती है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमान तो बुद्धि की प्रक्रिया है जबकि रस का सम्बन्ध भावनाओं से है, अतः अनुमान के द्वारा रसानुभूति किस प्रकार सम्भव है? इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि शंकुश के द्वारा प्रयुक्त 'अनुमिति' शब्द ठीक उसी अर्थ का द्योतक नही है, जो हिन्दी का 'अनुमान' शब्द देता है। शंकुक का 'अनुमिति' या 'अनुमान' न्याय-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ 'अनुमान' से वहुत अधिक व्यापक है। इस अर्थ को समझने के लिए हमें न्याय-शास्त्र की थोड़ी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

न्याय-शास्त्र के अनुसार ज्ञान के चार साधन माने गए हैं—(१) प्रत्यक्ष प्रमाण, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शब्द। इस अनुमान (ज्ञान-प्राप्ति के साधन) के भी तीन प्रकार माने गए हैं—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। जहाँ प्रत्यक्ष कारण को देखकर अप्रत्यक्ष कार्य की कल्पना की जाती है, वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है; जैसे—बादलों को देखकर वर्षा का ज्ञान। जब प्रत्यक्ष कार्य को देखकर अप्रत्यक्ष कारण का अनुमान किया जाता है तो इसे शेषवत् कहते है। जहाँ सामान्य अनुभव के आधार पर अप्रत्यक्ष कारण या कार्य का अनुमान किया जाता है उसे 'सामान्यतोदृष्ट' कहते है; जैसे प्रतिवर्ष सावन मे वर्षा होती है, अतः सावन के महीने मे वर्षा का अनुमान करना। न्याय-शास्त्र के अनुसार विभाव पूर्ववत् अनुमान है, अनुभाव शेषवत् अनुमान और संचारी सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। वस्तुतः न्याय-शास्त्र में ज्ञान और अनुमान दोनों ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किए जाते हैं, जो क्रमशः अनुभूति और अनुभव के अर्थ से भी समन्वित है। शंकुक की 'अनुमिति' को प्रचलित अर्थ के अनुसार 'अनुभूति' कहना अधिक उचित है। सामान्य अर्थ में इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को अनुभव कहते है, जबकि न्याय-शास्त्र में उसे ज्ञान ही कहते हैं। यही बात अनुमान और अनुभव पर लागू होती है।

इस प्रकार शंकुक ने न्याय-शास्त्र के आधार पर रस-निष्पत्ति की व्याख्या की। नट और सामाजिक के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उसने 'चित्र-तुरंग-न्याय' का उदाहरण दिया, अर्थात् जिस प्रकार घोड़े के चित्र को देखकर घोड़े की अनुमिति या अनुभूति होती है, उसी प्रकार अभिनेताओं के अभिनय से मूल पात्रों की प्रतीति होती है। भट्ट-लोल्लट की भाँति शंकुक भी मूल भाव की स्थिति ऐतिहासिक या काव्यगत पात्रों में ही मानता है तथा नट में भावानुभूति का निषेध दोनों ने ही किया है। सामाजिक की अनुभूति में मूल पात्रों की अनुभूति से अन्तर दोनों ही स्वीकार करते हैं, किन्तु शंकुक रस की उत्पत्ति न मानकर केवल अनुमिति मानता है। वस्तुतः शंकुक की देन इस क्षेत्र में वहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, जो बात भट्ट-लोल्लट ने सीधे-सादे शब्दों में कही थी, उसी को न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में शंकुक ने उलझा दिया। जो न्यूनताएँ लोल्लट के मत में थीं वे शंकुक के मत में भी ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। इन दोनों ही

विद्वानों ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया कि मूल पात्रों के स्थायी भाव की अभिव्यक्ति या अनुमिति से सामाजिक को आनन्द की अनुभूति क्यों होती है ? इस प्रश्न पर आगे चलकर भट्टनायक ने विचार किया ।

भट्टनायक का भोगवाद

भट्टनायक ने 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजक' सम्बन्ध (या भावना) तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ भक्ति या भोग करते हुए अपने मत की स्थापना की । पूर्ववर्ती व्याख्याओं—भट्ट-लोल्लट और शंकुक—ने रस-निष्पत्ति की व्याख्या केवल नायक की दृष्टि से की थी जबकि भट्टनायक ने इस पर सामान्य काव्य की दृष्टि से विचार किया । उनके विचारानुसार काव्य का रूप शब्दात्मक है । शब्दात्मक काव्य की तीन क्रियाएँ है—अभिधा, भावकत्व (भावना) और भोजकत्व (भोग) । अभिधा के द्वारा हम शब्द के सामान्य अर्थ को ग्रहण करेंगे । वह अर्थ हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करेगा किन्तु भावकत्व शक्ति के द्वारा उस अर्थ की अनुभूति हमारे हृदय को होगी । कवि की भाषा में मूर्तिमत्ता, रूपात्मकता या बिम्ब की प्रधानता होती है जिससे वह हमें केवल वस्तु का ज्ञान ही प्रदान नहीं करती—उसका चित्र भी उपस्थित कर देती है; वह हमारी बुद्धि को ही नहीं, कल्पना-शक्ति को भी जागृत कर देती है । भाषा की इस प्रक्रिया को भावकत्व का नाम दिया गया है । भावकत्व की जिस प्रक्रिया के कारण पाठक को काव्यगत विषय की अनुभूति प्राप्त होती है उसी को दूसरा नाम 'साधारणीकरण' का दिया गया है । साधारणीकरण मे भावकत्व की शक्ति की दोहरी प्रक्रिया होती है—एक ओर तो वह विषय-वस्तु को 'पर' से मुक्त करती है तथा दूसरी ओर वह पाठक के 'स्व' को विगलित करती है । काव्य में चित्रित शकुन्तला का प्रेम किसी अन्य का प्रेम नहीं रह जाता तथा दूसरी ओर हम अपने स्वार्थ की भूमि से ऊपर उठ जाते हैं; इस प्रकार पाठक का हृदय और काव्य-वस्तु दोनों मिलकर उसी प्रकार एकाकार हो जाते हैं जिस प्रकार नमक पानी मे घुल जाता है । यदि पानी जमा हुआ हो तो वह नमक को नहीं घुला सकता और यदि नमक भी पत्थर की तरह कठोर हो तो भी घुल नहीं पाता । भावकत्व की प्रक्रिया के कारण काव्य-वस्तु मे द्रवणशीलता और पाठक के हृदय में तरलता दोनों का संचार एक ही साथ होता है ।

प्रश्न है साधारणीकरण या काव्य की विषय-वस्तु के साथ तादात्म्य के कारण पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक ने दर्शन के आधार पर दिया है । भारतीय दर्शन के अनुसार हमारे तीन गुण हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण । जब हमारे हृदय में सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है तो हमें आनन्द की अनुभूति होती है, रजोगुण के कारण ही ब्रह्म या परम सत्ता को सदैव आनन्द की अनुभूति होती रहती है, किन्तु हमारी आत्मा माया के बन्धन में पड़कर रजोगुण से युक्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप हममें अपने-पराये की भेद-भावना उत्पन्न होती है । यही भावना समस्त दुःखों की मूल है । काव्य के द्वारा हम अपने-पराये की भावना से मुक्त होते हैं—या यों कहिए कि साधारणीकरण के कारण हमारी आत्मा से रजोगुण

लुप्त हो जाता है तथा सत्त्वगुण का उद्रेक होता है जिससे हमें आनन्द की अनुभूति होती है। इस दार्शनिक भाषा से बचकर सीदे-साधे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्यगत विषय की अनुभूति से हमारे हृदय का विस्तार होता है जिससे हमें आनन्द की अनुभूति होती है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में यही 'हृदय की मुक्त अवस्था' होती है।

इस प्रकार भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति के प्रश्न पर सर्वथा मौलिक ढङ्ग से प्रकाश डालते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कहीं। उनके द्वारा काव्य की भावोत्पादिनी शक्ति—भावकत्व तथा साधारणीकरण—की खोज एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।[1]

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की अनेक मान्यताओं का खण्डन करते हुए अपने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की।[2] एक तो उन्होंने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' की प्रक्रिया को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि भट्टनायक ने इसकी कल्पना किसी शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर नहीं की थी। दूसरे उन्होंने सिद्ध किया कि रति आदि स्थायी भाव पाठकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप से सदैव विद्यमान रहते है, उनके ही 'विभाव' आदि के संयोग से—काव्य के श्रवण या दर्शन से व्यंजना-वृत्ति के अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा रसानुभव होता है। उनके विचारानुसार 'संयोग' का अर्थ व्यंजना और 'निष्पत्ति' का अर्थ अभिव्यक्ति है। मानव-हृदय में भावानुभूति की क्षमता स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान है, अतः 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना अनावश्यक है। इसी प्रकार रसानुभूति का आधार व्यंजना शक्ति है। अतः 'भोजकत्व' की कल्पना आवश्यक नहीं। काव्यों के पढ़ने से भावनाओं की उत्पत्ति या निष्पत्ति नहीं होती, अपितु वे केवल व्यक्त होती हैं, अतः भाव पहले से ही हमारे हृदय में विद्यमान होते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य हमारी भावोत्तेजना या भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है, नये भावों की सृष्टि नहीं करता।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः अभिनवगुप्त के मत को ही स्वीकार किया है किन्तु कुछ विद्वानों ने उसमें यत्र-तत्र संशोधन भी किए है। धनंजय ने 'व्यजना-शक्ति' के स्थान पर 'तात्पर्य' वृत्ति का प्रयोग किया है। नाट्य-दर्पण के रचयिता रामचन्द्र गुणकर ने चमत्कार को रसानुभूति का कारण बताया है। जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में शत्रु के भी पराक्रम से चमत्कृत होकर, कुछ क्षणों के लिए हम निज हानि के विचार को भूल जाते है, और 'वाह ! वाह' कह बैठते है, ठीक इसी प्रकार काव्यजन्य चमत्कार के कारण हमारा हृदय एक विशिष्ट अनुभूति से आन्दोलित हो उठता है, संक्षेप में यही रामचन्द्र गुणकर का मत है। किन्तु इनका मत परवर्ती विद्वानों द्वारा अधिक मान्य नहीं हुआ। आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने भी इसकी व्याख्या मौलिक ढंग से की है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

आधुनिक विद्वानों के मंतव्य

हिन्दी के अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी साधारणीकरण और रसानुभूति का

१–२. स्पष्टीकरण के लिए द्रष्टव्य—'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन'।

स्पष्टीकरण किया है। डा० श्यामसुन्दर दास ने साधारणीकरण की अवस्था को योग की उस मधुमती-भूमिका के समान बताया जिसमें हमारा मस्तिष्क तर्क-वितर्क से शून्य होकर आनन्दानुभूति में लीन हो जाता है। उनके शब्दों में—"मधुमती-भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों का भेद अनुभव करना ही वितर्क है।....इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते है, केवल वस्तु-मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते है। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है।....योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती-भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रातिभ ज्ञान-संपन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है।" (साहित्यालोचन, पृष्ठ २८०-२८२)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं, अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी आलम्बन हो जाता है। अतः उस आलम्बन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते; बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते है।.... इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।" (चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० २४६-२४७)। कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल का मत भट्टनायक के मत से सर्वथा मिलता-जुलता है, अतः इसकी विस्तृत चर्चा अपेक्षित नहीं।

डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है। एक ही पात्र विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रित किया जाता है, किन्तु पाठक उसी रूप का साक्षात्कार करेगा जिसका कवि ने चित्रण किया है। कवि चाहे तो रावण को अत्याचारी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और यदि वह चाहे तो उसे अपनी आन की रक्षा के लिए मर-मिटने वाला दिखाकर उसके प्रति पाठक की सहानुभूति जगा सकता है। अतः काव्य के माध्यम से कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।

हमारे विचार से कवि से हमारा तादात्म्य होता है। कवि जिस वस्तु को जिस भावात्मक दृष्टिकोण से देखता है, उसी वस्तु को हम भी उसी दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। इसका अर्थ हुआ उस वस्तु का साधारणीकरण हो जाता है तथा कवि के

दृष्टिकोण के साथ हमारे दृष्टिकोण का तादात्म्य हो जाता है। अतः कहना चाहिए कि कवि के साथ हमारा तादात्म्य और काव्य का साधारणीकरण होता है। इस दृष्टि से भट्टनायक, अभिनवगुप्त, आचार्य शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र के मत में मूलतः कोई गहरा भेद नहीं है। अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस साधारणीकरण की क्रिया को स्वीकार किया है। श्री ए० ई० मैन्डर महोदय लिखते है—"**Empathy connotes state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen.**" अर्थात् भाव-तादात्म्य या तदनुभूति पाठक या दर्शक की वह मानसिक दशा है जिसमें कि वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ अपना तादाम्त्य स्थापित कर लेता है। अतः इस सम्बन्ध में अधिक शंका करना अनावश्यक है।

रस-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त और रस-निष्पत्ति सम्बन्धी मत मनोविज्ञान पर आधारित है, किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि डा० राकेश गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध—'Psychological Studies in Ras'—में आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इस पर अनेक आक्षेप आरोपित किए है, जिनमें प्रमुख ये हैं—(१) स्थायी भाव और संचारी भाव मनोविज्ञान की दृष्टि से एक ही हैं, अतः इनमें अन्तर मानना अनुचित है। (२) आचार्यों द्वारा परिगणित संचारियों में से दस भाव कोटि में नहीं आते। (३) विभावों की भावों से उत्पत्ति मानना अनुचित है। (४) अनुभावों की सूची दोषपूर्ण और अपूर्ण है। (५) रस-दोषों में से नामोल्लेख आदि को दोष मानना अनुचित है। (६) रस और सामान्य भावावेग में अन्तर मानना अनुचित है। (७) शोकपूर्ण काव्यों से आनन्द की अनुभूति नहीं होती। (८) काव्यास्वादन का मूल कारण रस-प्रक्रिया नहीं, काव्य-रुचि है।

इनमें से कुछ विषयों पर प्रारम्भ में विचार किया जा चुका है। स्थायी भाव और संचारी भाव में वही अन्तर है, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में इमोशन और सेन्टीमेन्ट में है, किन्तु डा० राकेश ने इन दोनों को भी एक ही सिद्ध करने का साहस किया है। उनका तर्क है—"सेन्टीमेन्ट एक मानसिक प्रवृत्ति मात्र है, भाव-जागृति की दशा नहीं। अतः जब भी सेन्टीमेन्ट विकसित होकर भाव-जागृति की दशा में परिणत होता है तो वह 'सेन्टीमेन्ट' न रहकर 'इमोशन' बन जाता है।" यह तर्क भ्रान्तिमूलक है। जब एक प्रेमिका का हृदय प्रेमी के मिलन पर हर्ष-विभोर हो जाता है तो क्या यह कहा जायगा कि यहाँ प्रेम सेन्टीमेन्ट न रहकर 'हर्ष'—इमोशन ही रह गया ? और यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तो भी दोनों के भेद को नहीं भुलाया जा सकता। दूध दही में परिणत हो जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि दूध और दही—दोनों एक ही है। वस्तुतः डा० राकेश के आक्षेप ऐसे ही निराधार तर्कों पर आधारित है, जिनका निराकरण हम अपने शोध-प्रबन्ध—'हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा और महाकवि

बिहारी'—में विस्तार से कर चुके हैं। अतः इस सम्बन्ध में हम यहाँ पुनरावृत्ति न करते हुए केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि डा० राकेश के आक्षेपों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

रस-सिद्धान्त का महत्त्व

मनोविज्ञान के अतिरिक्त दर्शन, समाज, राजनीति, साहित्य आदि की दृष्टि से भी रस-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार मानवात्मा परमात्मा के तीनों गुणों—सत्, चित् और आनन्द—से युक्त होती है। किन्तु जीव का आनन्द गुण तिरोहित होता है; काव्य और कलाओं के द्वारा इसी आनन्द को जागृत किया जाता है। रस-सिद्धान्त भी काव्य का यही लक्ष्य—आनन्दानुभूति—स्वीकार करता है। अद्वैतवाद के अनुसार मानवात्मा माया के आवरण के कारण जगत् के नाना रूपों में भेद का अनुभव करती है, जबकि मूलतः सभी रूप एक ही परम-सत्ता से सम्बन्धित हैं। रसानुभूति के द्वारा हम माया के इस आवरण को भूलकर विभिन्न रूपों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ही रस-दशा है।"[1]

पाश्चात्य काव्यवादियों ने साहित्य का एकमात्र लक्ष्य कवि या लेखक का निजी आनन्द घोषित किया है जिससे उनकी रचनाएँ समाज-विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण होने लगीं, किन्तु रस-सिद्धान्त काव्य के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण स्थापित करता है जिससे काव्य समाज-विरोधिता से दूर रहता है। रस-सिद्धान्त के अनुसार कलाओं का लक्ष्य स्वयं कलाकार का आनन्द नहीं—सामाजिक का आनन्द है। ऐसी स्थिति में कोई भी कला सामाजिक की रुचि, मान्यता और इच्छाओं के प्रतिकूल नहीं हो सकती। यदि कोई कवि अपने काव्य में समाज विरोधी तत्त्वों का समावेश करने का साहस कर बैठता है तो रस-सिद्धान्त का अनुयायी उसे 'रसाभास' की संज्ञा देकर उसकी कुत्सित प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने की क्षमता से युक्त है।

रस-सिद्धान्त एवं कवि-कर्म को भी उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाता है। कवि-कर्म या काव्य-निर्माण की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) कवि द्वारा विषय की अनुभूति, (२) कवि द्वारा अभिव्यक्ति और (३) पाठक के द्वारा रसास्वादन। पाश्चात्य विद्वानों में जहाँ क्रोचे जैसे विद्वान् अनुभूति को तथा फ्रायड आदि अभिव्यक्ति को ही काव्य-रचना का सारा महत्त्व प्रदान कर देते हैं, वहाँ रस-सिद्धान्त के आचार्य पाठक की रसानुभूति को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हुए कवि-कर्म को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाने पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त रस-सिद्धान्त काव्य के क्षेत्र में बाह्य-सौन्दर्य—अक्षर-विन्यास, शब्द-क्रीड़ा, उक्ति-वैचित्र्य आदि—के स्थान पर सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है।

रस-सिद्धान्त जीवन के सुन्दर और कुरूप सभी पक्षों को काव्य में स्थान देने का पक्षपाती है। इसके अनुसार केवल शृङ्गार, वीर, करुण में ही नहीं, बीभत्स, भयानक, रौद्र आदि में भी रसानुभूति की क्षमता है। यही कारण है कि रस-सिद्धान्त गांधी-

वादियों की करुणा और साम्यवादियों की घृणा—दोनों को काव्य में स्थान देने की सामर्थ्य रखता है। विश्व की किसी भी विचार-धारा से रस-सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है—यदि उन विचारों की व्यंजना भावात्मक शैली में की जाय।)

रस-सिद्धान्त की न्यूनताएँ

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ-साथ रस-सिद्धान्त में कुछ न्यूनताएँ भी विद्यमान है। एक तो इसमें पाठक के ही दृष्टिकोण का—काव्य के भोग-पक्ष का—ही विश्लेषण अधिक हुआ है, कवि या काव्य के सर्जन-पक्ष की उपेक्षा हुई है। दूसरे, इसकी प्रतिष्ठा अभी तक शास्त्रीय आलोचना के रूप में ही अधिक है, इसे व्यावहारिक रूप देने की और आवश्यकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र, डा० गुलाबराय, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित द्वारा इस क्षेत्र में जो कार्य किया गया है, उसे आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। तीसरे, रस-सिद्धान्त मूलतः नाटक के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया था, साहित्य के अन्य रूपों की दृष्टि से भी इसका विकास अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आधार पर भी इसकी शुद्ध रूप में मीमांसा होनी चाहिए।[1] यदि इन न्यूनताओं को दूर किया जा सके तो रस-सिद्धान्त विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। देश और विदेश के सभी प्रमुख विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व भाव है। भाव के कारण ही काव्य काव्य का रूप धारण करता है। रस-सिद्धान्त सीधे भाव-तत्त्व की व्याख्या करता है,(वस्तुतः रस-सिद्धान्त ही एक ऐसा मानदण्ड है जो साहित्य को विभिन्न मत-वादों के चक्कर से बचाता हुआ उसकी मूल आत्मा की रक्षा करता है। युग और देश के अनुसार समीक्षा के मानदण्ड बदलते रहते हैं, किन्तु रस-सिद्धान्त एक ऐसा मानदण्ड है, जो सभी युगों और सभी देशों की काव्य-रचनाओं की समीक्षा का आधार सफलतापूर्वक बन सकता है। अस्तु, जब तक साहित्य का सम्बन्ध मानवीय भावनाओं से रहेगा तब तक रस-सिद्धान्त का महत्त्व अक्षुण्ण है।

१. इस लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास लेखक के 'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन' में किया गया है।

: दस :

अलंकार-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

१. 'अलंकार' का शाब्दिक अर्थ ।
२. अलंकार-संप्रदाय की परम्परा ।
३. अलंकार : परिभाषा एवं स्वरूप ।
४. अलंकार और अलंकार्य का अन्तर ।
५. अलंकारों का वर्गीकरण ।
६. अलंकारों के भेद ।
७. अलंकारों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व ।
८. उपसंहार ।

'अलंकार' का शाब्दिक अर्थ है—'सुशोभित करनेवाला' या वह 'जिससे सुशोभित हुआ जाता है'। इन दोनों अर्थों में परस्पर थोड़ा अन्तर है—पहला अर्थ जहाँ अलंकार को कर्त्ता या विधायक सूचित करता है, वहाँ दूसरे अर्थ से वह साधन-मात्र रह जाता है। काव्यशास्त्र में 'अलंकार' इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ वामन आदि ने अलंकार को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए सौन्दर्य के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है, वहाँ वह काव्य को सुशोभित करनेवाला माना गया है, किन्तु जहाँ वह संकुचित अर्थ में—विशिष्ट कथन-शैलियों के रूप में प्रयुक्त हुआ है, वहाँ वह काव्य-सौन्दर्य का साधन-मात्र रह गया है। यहाँ भी हम इसका प्रयोग दूसरे अर्थ में ही कर रहे हैं।

अलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में रस के अतिरिक्त शेष सम्प्रदायों में सबसे पुराना अलंकार-सम्प्रदाय ही है। वैसे तो स्वयं भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में चार अलंकारों—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक—की विवेचना की है किन्तु उन्होंने इन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया। अलंकारों को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए पृथक् रूप में अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना करने का श्रेय 'काव्यालंकार' के रचयिता भामह (छठी शताब्दी) को ही प्राप्त है। भरत और भामह के बीच भी राम शर्मा, मेधाविन, राजमित्र आदि विद्वान् हो चुके थे, जिन्होंने अलंकारों की चर्चा की थी, किन्तु उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इन विद्वानों के नाम केवल भामह के ही 'काव्यालंकार' में आये हैं। ऐसी स्थिति में अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भामह ही माने जाते हैं।

भामह का काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभाजित है जिसमें क्रमशः काव्य-शरीर-निर्णय, अलंकृति-निर्णय, दोष-निर्णय, न्याय-निर्णय और शब्द-शुद्धि पर विचार किया गया है। भामह ने वक्रोक्ति को ही समस्त अलंकारों का मूल मानते हुए उनकी संख्या ३८

निर्धारित की है। भामह के परवर्ती दण्डी (सातवीं शताब्दी) ने 'काव्यादर्श' लिखकर अलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने भामह के अलंकार-विवेचन में संशोधन करते हुए अलंकारों की संख्या ३५ तक ही सीमित रक्खी, किन्तु 'काव्यालंकार सार-संग्रह' के रचयिता उद्भट (नवीं शती) ने भामह का ही समर्थन करते हुए तथा कुछ नये अलंकार और जोड़कर इस संख्या को ४१ तक पहुँचा दिया। लगभग इसी समय रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना की जिसमें उन्होंने एक ओर तो अलंकारों का वर्गीकरण किया तथा दूसरी ओर उनकी संख्या ५० से भी अधिक निश्चित की। इतना ही नहीं, उन्होंने अलंकार-सम्प्रदाय की अनेक परम्परागत भ्रान्तियों का भी निराकरण किया। जैसे कि उनसे पूर्व अनेक अलंकारवादियों ने रस, भाव आदि को भी अलंकार मानने की भूल की थी, जबकि रुद्रट ने इसका स्पष्ट विरोध किया। आगे चलकर अनेक आचार्यों ने अलंकारों का अपने-अपने ढंग से निरूपण किया जिनमें मम्मट (काव्य प्रकाश : ११वीं शती), रुय्यक (अलंकार-सर्वस्व : १२वीं शती), जयदेव (चन्द्रालोक : १३वीं शती), विद्याधर (एकावली : १३-१४वीं शती), विश्वनाथ (साहित्य-दर्पण : १४वीं शती), केशव मिश्र (अलंकार शेखर : १६वीं शती), अप्पय दीक्षित (कुवलयानन्द : १७वीं शती) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से मम्मट और विश्वनाथ को छोड़कर शेष सभी अलंकारवादी थे, जो कि अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे, जबकि मम्मट ध्वनि को व विश्वनाथ रस को मानते थे। रुद्रट-परवर्ती युग में अलंकारों के क्षेत्र में संख्या-वृद्धि की ही मुख्य प्रवृत्ति रही—जिसके फलस्वरूप 'कुवलयानन्द' तक पहुँचते-पहुँचते उनकी संख्या लगभग सवा सौ हो गई।

संस्कृत की यह परम्परा आगे हिन्दी में भी अबाध रूप से चलती रही है। प्रारम्भ में मध्यकालीन कवियों ने ब्रजभाषा पद्य में शताधिक अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, जिनका मौलिकता या नवीनता की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, एक प्रकार से संस्कृत ग्रन्थों के ही छायानुवाद मात्र हैं। आधुनिक युग में मुरारीदान, भगवानदीन, अर्जुनदास केड़िया, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि ने खड़ीबोली गद्य में अलंकारों का विवेचन किया। नवीनता इनमें भी नहीं है, किन्तु फिर भी लक्षणों एवं उदाहरणों की स्पष्टता की दृष्टि से ये महत्त्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक स्तुत्य कार्य डा० नगेन्द्र का है जिन्होंने संक्षेप में आधुनिक दृष्टिकोण से इनका पुनर्मूल्यांकन करते हुए पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं मनोविज्ञान के आधार पर इनकी उपयोगिता प्रदर्शित की है। डा० ओम-प्रकाश ने भी 'हिन्दी अलंकार साहित्य' के रूप में हिन्दी के अलंकार-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार-विवेचन की परम्परा भामह से लेकर अब तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही है—हाँ, उसका महत्त्व अवश्य सर्वदा एक सा नहीं रहा है।

अलंकार : परिभाषा एवं स्वरूप

यद्यपि हमने आरंभ में 'अलंकार' शब्द की विवेचना कर दी है, किन्तु अलंकारों के स्वरूप को सम्यक रूप में ग्रहण करने की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं है। सौन्दर्य के उपादान एवं साधन के रूप में अनेक तत्त्वों का प्रयोग हो सकता है, किन्तु वे सभी 'अलं-

कार' के क्षेत्र में नहीं आते। अलंकार का सामान्य अर्थ है—आभूषण। आभूषण जिस प्रकार शरीर के अंग नहीं हैं, ऊपर से धारण किए जानेवाले पदार्थ हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी अलंकार मूल विषय-वस्तु के अंग न होकर उसकी शैली से सम्बन्धित तत्त्व हैं। संक्षेप में हमारे विचार से अलंकार कथ्य न होकर कथन-शैली के विशिष्ट प्रकार मात्र हैं। किन्तु अलंकारवादी ऐसा नहीं मानते। उनकी धारणाएँ इस प्रकार हैं—

(क) **भामह**—"काव्य के रूपक आदि अलंकारों का अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। स्त्री का सुन्दर मुख भी बिना भूषण के नहीं सजता।"

(ख) **दंडी**—"काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्मों को अलंकार कहते हैं।"

(ग) **जयदेव**—"जो अलंकार-शून्य शब्दार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं, वे चतुर मनुष्य अग्नि में भी अनुष्णता को स्वीकार करें।" अर्थात् उष्णता का जो सम्बन्ध अग्नि से है, वही अलंकार का काव्य से है।

उपर्युक्त उक्तियों में अलंकार को काव्य का स्थिर एवं अनिवार्य तत्त्व माना गया है जबकि वामन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने इसका खंडन किया है। साथ ही इन उक्तियों से अलंकार के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण नहीं होता। आधुनिक युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकारों के स्वरूप की स्पष्ट रूप में मीमांसा करते हुए लिखा है—"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूप-रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली वस्तुओं को सामने करना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पडता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते है।"

अलंकार और अलंकार्य का अन्तर

भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने साहित्य में अलंकार और अलंकार्य में परस्पर अन्तर माना है। उन्होंने वर्णनीय वस्तु को अलंकार्य तथा वर्णन-शैली या शैलीगत विशेषताओं को अलंकार वताया है। जैसे 'मुख-चन्द्र' में 'मुख' अलंकार्य है जवकि 'चन्द्र' अलंकार है। किन्तु आधुनिक युग के अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस धारणा का खंडन करते हैं। क्रोचे का कहना है कि अलंकार और अलंकार्य में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही है। उनका तर्क है—"**One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally ? In that case it must always remain separate. Internally ? In that case either it does not assist expression and mars it, or it does form part of it, and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole.**"

अर्थात् यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में अलंकार का समावेश कैसे हो सकता है। बाहर से ? तब तो फिर वह सदा ही उक्ति से पृथक् रहेगा। यदि भीतर से ? तो उस दशा में वह या तो उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा या फिर उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जायगा। उस स्थिति में वह उक्ति का ही अंग बनकर उससे

सर्वथा अभिन्न हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सच्चे काव्य में वस्तु और अलंकार मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उन्हें अलग-अलग कर देने पर काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु फिर भी वस्तु और अलंकार का भेद मिटाया नहीं जा सकता। पानी में लाल रंग घुलकर एकाकार हो जाता है, किन्तु इसी से हम यह नहीं कह सकते कि पानी और लाल रंग—दोनों एक ही होते हैं। अतः क्रोचे का तर्क हमें निस्सार प्रतीत होता है।

अलंकारों का वर्गीकरण

जैसा कि आरम्भ में कहा चुका है, भारतीय आचार्यों ने अलंकारों के शताधिक भेद किए हैं, जिन्हे स्थूल रूप में ६-७ श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन श्रेणियों के सम्बन्ध में भी आचार्यों में परस्पर थोड़ा मतभेद रहा है। जहाँ रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—ये चार श्रेणियाँ मानीं, वहाँ रुय्यक ने निम्नांकित ७ श्रेणियाँ निश्चित की है—(१) सादृश्य गर्भ, (२) विरोध मूलक, (३) शृङ्खलाबद्ध, (४) तर्क-न्याय मूल, (५) वाक्य-न्याय मूल, (६) लोक-न्याय मूल, (७) गूढ़ार्थ-प्रतीति मूल। परवर्ती विद्वानों ने भी प्रायः इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया है, अतः इसका यहाँ संक्षिप्त परिचय देना उपयोगी सिद्ध होगा।

(१) **सादृश्य गर्भ**—इनमें वस्तु और अलंकार के उपमेय और उपमान के गुण-धर्म आदि में किसी न किसी प्रकार से सादृश्य दिखाकर मूल भाव के प्रभाव की अभि-वृद्धि की जाती है। इस वर्ग में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार आते है, जिनकी संख्या पं० रामदहिन मिश्र ने २८ मानी है।

(२) **विरोध मूल**—इनमें वस्तु और अलंकार के गुण-धर्मो में वैषम्य या विरोध की प्रमुखता रहती है। इस वर्ग में विरोध, विभावना, विशेषोक्ति आदि १२ अलंकार गिने जाते हैं।

(३) **शृङ्खलाबद्ध**—इनमें विषय-वस्तु को क्रम या शृङ्खला के रूप मे प्रस्तुत करके सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार कमरे में बिखरी हुई वस्तुओं को एक क्रम से सजा देने पर उनकी शोभा बढ़ जाती है, वैसे ही शृङ्खलाबद्ध अलंकारों से काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है। इसमें कारणमाला, एकावली आदि अलंकार आते है।

(४) **तर्क-न्याय मूल**—न्यायशास्त्रीय तर्क-अनुमानादि के द्वारा उक्ति को प्रभाव-शाली बनाया जाता है।

(५) **वाक्य-न्याय मूल**—जिससे तर्कपूर्ण सामान्य उक्ति या वाक्य के द्वारा वस्तु को प्रभावशाली बनाया जाय।

(६) **लोक-न्याय मूल**—जिसमें लोक-व्यवहार (या नीति) के तत्त्वों के द्वारा उक्ति में प्रभाव उत्पन्न किया जाय।

(७) **गूढ़ार्थ-प्रतीति मूल**—इसमें मुख्यतः व्यंजना-शक्ति का वैभव रहता है।

इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है—"उपर्युक्त कोई भी वर्गी-करण सर्वथा संगत नहीं है। साधर्म्य और अतिशय का आधार यदि मनोवैज्ञानिक है तो

वाक्य-न्याय आदि में स्वयं अलंकारों का स्वरूप-निर्धारण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चलता है। उसका आधार शैली की सीमा को लाँघकर वस्तु तक ही नहीं, वरन् न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक फैल गया है।....स्वभावतः ही मनोविज्ञान के प्रकाश में साहित्य का अध्ययन करने वाले आज के आलोचक का इनसे परितोष होना कठिन है।"

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि अलंकारों का उपर्युक्त वर्गीकरण पूर्णतः संतोषजनक तो नहीं है, किन्तु वह उतना अनर्गल भी नहीं है। 'न्याय' शब्द के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् इन अलंकारों का सम्बन्ध न्यायशास्त्र या दर्शनशास्त्र से होगा, जब कि वास्तविकता यह नहीं है। न्यायशास्त्र के एक भाग में तर्क-विद्या सम्बन्धी विवेचन है। यह एक तथ्य है कि कोई बात जब तर्क-संगत ढंग से कही जाती है तो वह प्रायः प्रभावशाली हो जाती है, इसी से न्याय व तर्क सम्बन्धी कुछ तत्त्वों को भी आचार्यों ने अलंकारों में स्थान दे दिया है जो आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अनुचित नहीं है। इसी प्रकार लोक-व्यवहार सम्बन्धी कुछ बातें भी कई बार वाणी की साज-सज्जा में उपयोगी होती है। अतः इन सबको अपनाकर अलंकारवादियों ने एक प्रकार से कथन-शैली की समृद्धि एवं वैभवशालिता के ही मार्ग का दिग्दर्शन कराया है।

अलंकारों के भेद

मुख्यतः अलंकारों के भेद हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में अलंकार का सौन्दर्य केवल किसी शब्द-विशेष की ध्वनि और अर्थ पर आश्रित होता है, जो उस शब्द को बदल देने पर लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत अर्थालंकारों का सम्बन्ध पूरे वाक्य के अर्थ से होता है। शब्दालंकारों के अनेक उपभेद किए गए हैं, जैसे—अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष आदि। अनुप्रास में किसी वर्ण या अनेक वर्णों की आवृत्ति होती है। वस्तुतः अनुप्रास का सौन्दर्य आवृत्ति पर ही आश्रित है। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) **लपट से झट रूख जले-जले,**
नव नदी घट सूख चले-चले।

(ख) **तरणि के ही संग तरल तरंग से,**
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

(ग) **रस सिंगार मज्जन किये कंजनु भंजनु दैन।**
अंजन रंजन हू बिना खंजन भंजनु नैन॥

अनुप्रास से ही मिलता-जुलता यमक है। इसमें निरर्थक या भिन्नार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति होती है, जैसे—

सुन कपे जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है।

यहाँ 'का रण' और 'कारण' की आवृत्ति में यमक है।

वक्रोक्ति में किसी बात का अर्थ काकु या श्लेष से बदल दिया जाता है:

जैसे—

मैंने कहा, 'प्रिये जाओ मत, बैठो।'
वह भोली समझी कि 'जाओ, मत बैठो।'

'श्लेष' अलंकार में एक ही शब्द को दो या उससे अधिक अर्थों से प्रयुक्त किया जाता है। यथा—'पानी गये न ऊबरें, मोती, मानस, चून।' यहाँ पानी के क्रमशः तीन अर्थ हैं—कान्ति, प्रतिष्ठा और जल। इसी प्रकार शब्दालंकारों के और भी अनेक भेद हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अब अर्थालंकारों को लीजिए। जैसा कि हमने पीछे बताया है, अर्थालंकारों को सात वर्गों में विभाजित किया जाता है तथा उनकी कुल संख्या शताधिक है। यहाँ केवल कुछ महत्त्वपूर्ण अलंकारों का ही सोदाहरण परिचय दिया जाता है—

(क) उपमा—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अलंकार है। कुछ आचार्यों ने तो केवल इसे ही अलंकार माना है, शेष सबको उपमा के ही भेदों में गिना है। उपमा में वर्ण्य वस्तु का सादृश्य किसी अन्य वस्तु से बताया जाता है। इसके सामान्यतः चार अंग माने जाते हैं—(१) उपमेय अर्थात् वर्ण्य वस्तु। (२) उपमान, जिससे सादृश्य बताया जाता है। (३) धर्म—दोनों वस्तुओं का सामान्य गुण। (४) वाचक—वह शब्द जिससे दोनों की तुलना का बोध होता है। जहाँ ये चारों अवयव विद्यमान हों उसे 'पूर्णोपमा' कहते हैं अन्यथा उसे उपमा ही कहते हैं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तापस-बाला सी गंगा कल,
शशि मुख से दीपित मृदु कर-तल।
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।

यहाँ गंगा उपमेय है, तापस-बाला उपमान है, कल (सौन्दर्य) सामान्य गुण-धर्म है। तथा 'सी' वाचक शब्द है। अस्तु, यह पूर्णोपमा है। उपमा के कतिपय अन्य उदाहरण—

(१) **कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।**
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई!

(२) **पड़ी थी बिजली सी विकराल।**
लपेटे थे घन जैसे बाल॥
कौन छेड़े ये काले साँप!
अवनिपति उठे अचानक काँप!!

(ख) रूपक—इसमें उपमेय और उपमान का केवल सादृश्य ही नहीं दिखाया जाता, अपितु दोनों को एक ही बना दिया जाता है या यों कहिए कि उपमेय को उपमान का ही रूप दे दिया जाता है; जैसे—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी।

यहाँ अम्बर को पनघट का, तारों को घट का तथा ऊषा को नागरी का रूप दे दिया गया है। इसके भी भेद होते हैं। जहाँ रूपक उपर्युक्त उदाहरण की भाँति समस्त

अवयवों के साथ हो तो उसे सावयव रूपक कहते हैं, किन्तु जहाँ सब अवयव न हों उसे निरवयव रूपक कहते हैं। निरवयव रूपक का उदाहरण देखिए—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली।

यहाँ चिता को 'व्याली' का रूप तो दे दिया गया है, किन्तु व्याली के विभिन्न अवयवों का चित्रण यहाँ नहीं किया गया।

(ग) **उत्प्रेक्षा**—उत्प्रेक्षा की स्थिति उपमा और रूपक के बीच की है। इसमें न तो उपमा की भाँति उपमेय और उपमान का केवल सादृश्य बताया जाता है और न ही रूपक की भाँति दोनों को एकाकार कर दिया जाता है। इसमें केवल उपमान की सम्भावना या कल्पना मात्र की जाती है। देखिए—

उपमा—मुख चाँद सा सुन्दर है।

रूपक—मुख-चन्द्र के सौन्दर्य का क्या कहना !

उत्प्रेक्षा—मुख मानों चाँद है।

उत्प्रेक्षा के भी अनेक भेद किए गए हे। जैसे, वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा आदि। इनमें क्रमशः विषय-वस्तु, कारण या परिणाम के सादृश्य की कल्पना की जाती है। जैसे—

(१) **वस्तूत्प्रेक्षा—इसके अनन्तर अंक में रक्खे हुए सुस्नेह से,**
शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पति के देह से,
मानो निदाघारम्भ में संतप्त आतप जाल से,
छादित हुई विपिन स्थली नव पतित किंशुकशाल से।

—मैथिलीशरण गुप्त

(२) **हेतूत्प्रेक्षा—मोर मुकुट की चन्द्रिकनि यों राजत नद नन्द।**
मनु ससि सेखर को अकस किय सेखर सत चन्द।

—बिहारी

(३) **फलोत्प्रेक्षा—नाना सरोवर खिले नव पंकजों को**
ले अंक में विहँसते मन मोहते थे,
मानों प्रसार अपने शतशः करों को,
वे माँगते शरद से विभूतियाँ थे।

—हरिऔध

(घ) **अतिशयोक्ति**—अतिशयोक्ति में प्रस्तुत विषय का निरूपण इस तरह से किया जाता है कि वह वास्तविकता से बहुत दूर चला जाता है। इसके भी अनेक भेद किए गए है, जैसे—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, असम्बन्धातिशयोक्ति, कारणातिशयोक्ति आदि। यहाँ इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) **रूपकातिशयोक्ति—बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से।**
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ है हीरों से।।

—प्रसाद

(२) **भेदकातिशयोक्ति**—**अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।**
वह चितवनि औरै कछू जेहि बस होत सुजान॥

—बिहारी

(३) **असम्बन्धातिशयोक्ति**—**औषधालय भी अयोध्या में बने तो थे सही।**
किन्तु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नहीं॥

—रा० च० उपाध्याय

(४) **कारणातिशयोक्ति**—**मैं जब ही तोलने का करती उपचार,**
स्वयं तुल जाती हूँ।
भुज-लता फँसाकर नर-तरु से,
झूले सी झोंके खाती हूँ।

—प्रसाद

(ङ) **दीपक**—इसमें उपमेय और उपमान दोनों के एक से गुणों का आख्यान होता है। जैसे—

काहू के कहूँ घटाओ घटै नहिं,
सागर औ गुन आगर प्रानी।

(च) **प्रतिवस्तूपमा**—इसमें भी दीपक की भाँति उपमेय और उपमान के समान गुणों की चर्चा होती है, किन्तु दीपक में दोनों के लिए एक से ही शब्दों का प्रयोग होता है जबकि इसमें अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है। देखिए—

सिंह सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी?
क्या पर-नर का हाथ कुल-स्त्री कभी धरेगी।

(छ) **व्यतिरेक**—जहाँ उपमेय को उपमान से भी अधिक उत्कृष्ट बताया जाय, उसे व्यतिरेक कहा जाता है। उदाहरण—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है, किन्तु वहाँ, सुर-सरिता कहाँ? सरयू कहाँ।
वह मरों को मात्र पार उतारती, यह यहीं से जीवों को तारती!

(ज) **समासोक्ति**—इसमें प्रस्तुत वर्णन के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ ध्वनित किया जाता है; जैसे चाँदनी के सम्बन्ध में कविवर पन्त की निम्नांकित पंक्तियाँ—

जग के दुःख-दैन्य-शयन पर यह रुग्णा बाला;
रे कब से जाग रही वह आँसू की नीरव माला।
पीली पड़ निर्बल कोमल देह लता कुम्हलाई।
विवसना लाज में लिपटी साँसों में शून्य समाई॥

(झ) **व्याज-स्तुति**—जहाँ स्तुति के रूप में निन्दा या निन्दा के रूप में स्तुति की जाय। उदाहरण—'**आप तो बहुत बड़े बलवान हैं, यह बच्चा भी आपसे डरता है।**'

(ञ) **विरोधाभास**—जहाँ मूलतः विरोध न होते हुए भी विरोध का आभास हो। उदाहरण—

तुम मांसहीन, तुम रक्तहीन,
हे अस्थिशेष तुम अस्थिहीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन।

(ट) **काव्यलिंग**—जहाँ कारण बताकर कोई बात सिद्ध की जाय। जैसे—

श्याम गोर किमि कहौं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

इसके अतिरिक्त अलंकारों के और अनेक भेद हैं जिनकी चर्चा यहाँ स्थानाभाव से सम्भव नहीं।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व

प्रायः यह कहा जाता है कि अलंकारों के प्रयोग से भाषा में कृत्रिमता आती है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि अलंकार न केवल काव्य-भाषा के लिए अपितु लोक-व्यवहार की सामान्य भाषा के लिए भी आवश्यक है। इतनी ही नहीं, असभ्य से असभ्य या सर्वथा निरक्षर भट्टाचार्य की वाणी में भी हमें अलंकारों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। जब सामान्य लड़ाई-झगड़ों में अशिक्षित लोग परस्पर गालियाँ देते हैं या अपने शत्रु को कहते हैं, "तुम्हें पीस डालूंगा" या "तुम्हारी चमड़ी उधेड़ दूँगा" तो वहाँ अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि का ही प्रयोग समझना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग करनेवाला निश्चित रूप से जानता है कि वह जो कुछ कह रहा है, वैसा वह कर नहीं सकेगा, फिर भी वह ऐसा कहता है—क्यों? वस्तुतः वह अपने क्रोध की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए ही ऐसा करता है। इसी प्रकार अन्य भावों—प्रेम, वात्सल्य, घृणा आदि में भी भाषा का प्रयोग अलंकारमय रूप में करते हैं। वास्तव में, भावोद्वेलित हृदय से जो शब्द स्फुरित होते हैं, उनकी न केवल शब्दावली और अर्थ मे भिन्नता आ जाती है, अपितु उस समय वक्ता के लहजे, उच्चारण तथा उसकी मुखाकृति आदि मे भी विकार आ जाता है। यही विचार सुन्दर भावों या सुन्दर प्रसंगों से सम्बद्ध होकर उसी प्रकार आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बन जाता है, जिस प्रकार रमणी की प्रत्येक चेष्टा हाव का सौन्दर्य प्राप्त कर लेती है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भावों की प्रेरणा से उच्चरित भाषा में विकृति या अलंकृति का आना सर्वथा स्वाभाविक है। इतना ही नही, यदि कोई व्यक्ति क्रोध या प्रेम व्यक्त करते समय भी अपनी बात सामान्य ढंग से ही सामान्य लहजे में कहता है, तो वह अस्वाभाविक होगा तथा उसके क्रोध या प्रेम पर सन्देह होने लगेगा। सच्चे कवि भावाभिव्यक्ति से प्रेरित होकर सहज स्वाभाविक रूप में ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं, या यों कहना चाहिए कि उनसे प्रयोग हो जाता है। किन्तु कई बार चमत्कारवादी कवि बिना भाव की प्रेरणा से ही चेष्टापूर्वक अपनी भाषा को अलंकृत करने का प्रयास करते हैं—ऐसी स्थिति में अवश्य ही उसकी भाषा कृत्रिम एवं अस्वाभाविक हो जाती है, जो स्तुत्य नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि अलंकार स्वतः ही भाषा में आ जाते हैं तो

फिर उनकी विवेचना एवं शिक्षा से क्या लाभ ? क्या कवियों को अलंकार की शिक्षा देने से उनकी भाषा कृत्रिम नहीं हो जाएगी ? इसके उत्तर के लिए हमें थोड़ी गंभीरता से विचार करना चाहिए। यह एक तथ्य है कि हम अपने भावों की अभिव्यक्ति भी उसी माध्यम से सफलतापूर्वक एवम् स्वाभाविकता के साथ कर सकते हैं जिसे हमने पहले से अर्जित कर रखा है। भाषा का जो रूप एवं स्तर हम सीख लेते हैं, भावाभिव्यक्ति के समय भी वही प्रयुक्त होता है। जहाँ एक असंस्कृत व्यक्ति अपना क्रोध व्यक्त करने के लिए किसी का पिता या बहनोई बन जाना आवश्यक समझता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति जो कि सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत है, केवल 'दुष्ट' कहकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। अतः भाषा एवं व्यवहार के जिस स्तर के हम अभ्यस्त हो जाते है, वही हमारे लिए सामान्य एवं स्वाभाविक बन जाता है। यही बात अलंकारों पर लागू होती है। जिसने पहले से अलंकारों का पूर्णतः ज्ञान प्राप्त एवं अभ्यास कर लिया हो, वह भावाभिव्यक्ति के समय भी उनका प्रयोग सहज-स्वाभाविक रूप में कर सकेगा, जैसे कि एक अभ्यस्त टाइपिस्ट दूसरों से बात करता हुआ भी सहज-स्वाभाविक रूप में अपनी गति बनाए रखता है या एक अच्छा साइकिल चलानेवाला साथी से बातें करता हुआ भी पूरी रफ्तार के साथ दौड़ सकता है। किन्तु जो आग लगने पर कुआँ खोदते हैं—वे पानी का इच्छित उपयोग नहीं कर पाते। अस्तु, हमारे विचार से अलंकारों के प्रयोग के लिए भावों की प्रेरणा के साथ-साथ उनका पूर्व-अभ्यास भी अपेक्षित है। यह अभ्यास पूर्व-कवियों की रचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से भी किया जा सकता है।

अब पाठक की दृष्टि से भी अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार किया जा सकता है। भारतीय आचार्यों ने अलंकारों का निरूपण करते हुए मुख्यतः आवृत्ति, सादृश्य, अतिशयोक्ति, वक्रोक्तिक्रम आदि को ही आधार बनाया है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों में आवृत्ति का ही सौन्दर्य होता है। जो ध्वनि सामान्यतः उपेक्षणीय होती है, वही बार-बार की आवृत्ति से सुन्दर एवं आकर्षक बन जाती है। उदाहरण के लिए, चर्र-चर्र करनेवाला खिलौना या 'सी ई ई' 'सी ई ई' करनेवाली सीटी के प्रति बच्चे इतने आकर्षित हो जाते है कि वे मीठी गोलियों को ठुकराकर भी इन्हें लेना पसन्द करेंगे। खिलौने या सीटी में आवृत्ति का जो सौन्दर्य है उसी का विकसित रूप अनुप्रासादि में मिलता है।

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक आदि का मूलाधार सादृश्य है। प्रश्न है, केवल सादृश्य से उक्ति में सौन्दर्य की सृष्टि कैसे होती है ? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि कोरे सादृश्य से सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, हम कहे कि 'उर्मिला सीता सी सुन्दर है' या 'काजल कोयले सा काला है' तो इससे उक्ति में कोई आकर्षण नहीं आ पाएगा। वस्तुतः सादृश्यमूलक अलंकारों में भी हीन वस्तु को किसी अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तु के सदृश बताकर ही उसके महत्त्व में अभिवृद्धि की जाती है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कुछ सामान्य सौन्दर्य-प्रसाधनों का उदाहरण दे सकते हैं। नेत्र पहले से काले होते हैं अतः उनमें काजल लगाया जाता है। जबकि लाल ओठों की लालिमा की अतिरंजना के लिए लिपस्टिक लगाया जाता है। कल्पना की जए, यदि इस

क्रम को उलट दिया जाय—यानी काजल ओठों पर तथा लाली आँखों में लगा ली जाय तो क्या होगा ? वस्तुतः वहाँ 'सादृश्य' का लोप हो जायगा। ठीक इसी प्रकार अलंकारों में सादृश्य और अतिरंजना—दोनों का समन्वय होना चाहिए।

शृंखलामूलक अलंकारों में 'क्रम' का सौन्दर्य होता है जबकि तर्क-न्याय-मूलक तथा लोक-न्याय-मूलक आदि में औचित्य का। कोई भी वस्तु ठीक क्रम से या उचित ढंग से प्रस्तुत होने पर सुन्दर लगती है। कमरे की बिखरी हुई पुस्तकों को क्रम से लगा दीजिए—देखिए उससे कमरे की कितनी शोभा बढ़ जाती है! अस्तु, हम कह सकते हैं कि अलंकारों के उपर्युक्त आधार सर्वथा मनोवैज्ञानिक हैं, बाकी यदि कोई अनुचित रूप से उनका प्रयोग करे तो इसमें अलंकारों का क्या दोष!

उपसंहार

अन्त में हम कह सकते हैं कि अलंकारों का निश्चित रूप से काव्य में महत्त्व है। उनसे भावों की स्पष्ट एवं उचित रूप में अभिव्यक्ति और उक्ति के प्रभाव में वृद्धि होती है तथा वे श्रोता के मन को आकर्षित एवं आन्दोलित करते हैं। किन्तु यह सब कुछ तभी होता है जबकि उनके पीछे भावों की प्रेरणा हो। अलंकार के लिए अलंकार का प्रयोग सफल नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, अलंकारों के प्रयोग के लिए पूर्वाभ्यास की भी अपेक्षा है। प्रायः यह कहा जाता है कि आज का युग अलंकारों का युग नहीं है। अतः काव्य से भी अलंकारों का बहिष्कार होना चाहिए—किन्तु इस तर्क का आधार ही खोखला है। क्या सचमुच ही आज का युग अलंकार का युग नहीं है ? क्या आज विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों—विभिन्न फैशन के वस्त्राभूषणों, रंग-बिरंगे पाउडर, लिपस्टिक आदि का प्रयोग नहीं होता ? वस्तुतः अलंकारों का रूप बदल गया है किन्तु अलंकार की मूल भावना आज भी मनुष्यों में ज्यों की त्यों विद्यमान है।

अलंकारों की प्रशंसा के साथ-साथ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अन्ततः अलंकार अलंकार ही हैं। अलंकार के लिए हम अपने नाखून तो कटवा सकते हैं किन्तु यदि कोई अंगुलियाँ कटाने के लिए कहे तो हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में, अलंकार काव्य की आत्मा नहीं है काव्य के शरीर भी नहीं, वे केवल उसके बाह्य पक्ष को सुसज्जित करने के साधन मात्र हैं। अलंकारों से कुरूप को सुन्दर नहीं बनाया जा सकता, केवल सुन्दर के ही सौन्दर्य को बढ़ाया जा सकता है, ठीक वैसे ही यदि कवि के पास अनुभूतियों का संचित कोष है तो अलंकार भी उसकी वैभव-वृद्धि में योग दे सकते हैं, अन्यथा कोरे अलंकारों की पूँजी से कोई व्यक्ति कवि नहीं बन सकता।

: ग्यारह :

रीति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

१. 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति और उसके विभिन्न अर्थ ।
२. रीति की परम्परा—
भरत, भामह, दंडी, वामन, राजशेखर,
कुन्तक, भोजराज आदि का रीति-विवेचन ।
३. रीति-सम्प्रदाय का काव्य के प्रति दृष्टिकोण ।
४. रीति के आधारभूत तत्त्व ।
५. रीति के प्रकार ।
६. रीति और अन्य भारतीय काव्य-सम्प्रदाय ।
७. रीति और पाश्चात्य शैली ।
८. रीति-सम्प्रदाय का महत्त्व ।

'रीति' के अर्थ पर विचार करते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"'रीति' शब्द रीङ् धातु से क्विन् प्रत्यय के योग से बनता है। अतः रीति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—मार्ग। पन्था, वीथि, गति, प्रस्थान—सब रीति के ही पर्यायवाची शब्द हैं।" काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी 'रीति' का प्रयोग दो अर्थों में होता है—एक काव्य-रचना की सामान्य पद्धति, शैली आदि के अर्थ में तथा दूसरा, संस्कृत के एक सम्प्रदाय-विशेष के अर्थ में। वह सम्प्रदाय है, आचार्य वामन (९वीं शती) द्वारा प्रवर्तित रीति-सम्प्रदाय। यहाँ इस सम्प्रदाय विशेष के ही सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना हमारा लक्ष्य है।

'रीति' की परम्परा

यद्यपि रीति को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य वामन को ही प्राप्त है, किन्तु यह उनका सर्वथा नूतन सिद्धान्त नहीं है। उनसे पूर्व भी अनेक आचार्यों ने रीति की विवेचना विभिन्न रूपों में की थी, जिसका लाभ निश्चित ही वामन ने उठाया। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में रीति से मिलते-जुलते शब्द 'प्रवृत्ति' का प्रयोग करते हुए इसके चार भेदों की व्याख्या की है। प्रत्येक देश के रहन-सहन और आचार-विचार में एक दूसरे से थोड़ा-बहुत अन्तर होता है—अतः इसी आधार पर भरत ने 'प्रवृत्ति' के भेद निश्चित किए थे। यदि आधुनिक शब्दावली में कहे तो भरत की प्रवृत्ति स्थानीय विशेषताओं (Local colours) को सूचित करती है। उन्होंने चारों भेदों का नामकरण भी भौगोलिक आधार पर किया है—आवन्ती, दाक्षिणात्य, औड्र, मागधी और पांचाली। सही बात तो यह है कि भरत के इस प्रवृत्ति सम्बन्धी विवे-

चन का सम्बन्ध नाटक के बाह्य उपकरणों—वेश-भूषादि से ही अधिक है, काव्य के आधार-भूत तत्त्वों से कम। फिर भी इसका इतना महत्त्व अवश्य है कि परवर्ती आचार्यों में से भी अनेक ने भौगोलिक आधार पर वर्गीकरण की परम्परा को अपनाया है।

'प्रवृत्ति' के अतिरिक्त आचार्य भरत ने नाटक में प्रयुक्त होनेवाले काव्य के गुण-दोषों एवं लक्षणों की विशद व्याख्या की है। रीति-सिद्धान्त के आधारभूत प्रायः सभी तत्त्व भरत के इन गुण-दोषों एवं लक्षणों के अन्तर्गत मिल जाते हैं। अतः कहना चाहिए कि रीति की परम्परा आचार्य भरत से ही प्रवर्तित हो जाती है।

भामह (६ठी शती) ने अपने काव्यालंकार में 'वैदर्भ' और 'गौड़' नाम से दो 'मार्गों' का उल्लेख किया है जिन्हें हम रीति के ही पर्यायवाची मान सकते हैं। यह वर्गीकरण स्वयं भामह का किया हुआ नहीं है। अतः किसी ऐसे अज्ञात व्यक्ति द्वारा कृत माना जा सकता है, जो भरत और भामह के बीच के समय में हुआ हो। खैर, भामह के विवेचन से इतना स्पष्ट है कि उस युग में एक ओर तो इन 'मार्गों' का महत्त्व बहुत अधिक था जबकि दूसरी ओर स्वयं भामह ने इनको हेय दृष्टि से देखते हुए अलंकार-विहीन वैदर्भ एवं गौड़—दोनों मार्गों को ही उपेक्षणीय बताया है। उनके शब्दों में—"यदि वैदर्भी में भी पुष्टार्थता न हो, वक्रोक्ति का अभाव हो, केवल प्रसादयुक्त कोमल शब्दों की सत्ता हो तो वह केवल गान की भाँति श्रुति-पेशल हो सकती है—काव्यत्व उसमें कहाँ ?" भामह के अनन्तर दंडी ने भी 'रीति' के स्थान पर 'मार्ग' का ही प्रयोग करते हुए उसके उपर्युक्त दो भेदों की विवेचना की है। किन्तु उनका दृष्टिकोण इनके प्रति भामह की अपेक्षा अधिक सम्मानपूर्ण है। यही कारण है कि उन्होंने न केवल वैदर्भ मार्ग को उत्तम तथा गौड़ को निकृष्ट माना है, अपितु इनके आधार-भूत गुणों की भी व्याख्या की है। उनके विचार से वैदर्भ में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, उदारता, ओज, समाधि, कान्ति ये दस गुण होते हैं, जबकि इनसे विपरीत गुणोंवाला मार्ग गौड़ होता है। इस प्रकार वैदर्भ में सब गुणों का संग्रह होता है जबकि गौड मे सब दोषों का।

वामन ने अपने 'काव्यालंकार-सूत्र' में रीति को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया कि उसे काव्य की आत्मा तक घोषित कर बैठे। रीति का लक्षण स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि 'विशिष्टपद-रचना रीतिः' अर्थात् विशेष प्रकार की शब्द-रचना ही रीति है। वह विशेष प्रकार, या शब्द-रचना की वह विशेषता क्या है, जिससे रीति का सम्पादन होता है ? उसका उत्तर है—'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् गुण का होना ही विशेषता है। इस प्रकार कहना चाहिए कि वामन काव्य का आधार रीति को तथा रीति का आधार गुण को मानते हैं—अतः 'गुण' ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व सिद्ध होता है। वामन के द्वारा प्रस्तुत गुणों की सूची भी बहुत कुछ भरत एवं दंडी की सूची से ही मिलती-जुलती है, अतः इसे वामन की मौलिक देन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, वामन ने एक तो 'मार्ग' के स्थान पर 'रीति' नाम का प्रचलन किया और दूसरे उसके भेदों में भी वृद्धि की—वैदर्भी और गौड़ी के अतिरिक्त उन्होंने एक तीसरे भेद 'पांचाली' की और कल्पना की—इसे हम अवश्य उनकी मौलिकता मान सकते हैं।

वामन-परवर्ती आचार्यों ने भी रीति का थोड़ा-बहुत विवेचन करते हुए इस परम्परा को आगे बढ़ाया है। रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों के अतिरिक्त एक चौथे भेद—'लाटी' की कल्पना की। साथ ही उन्होंने रीतियों के एक सामान्य आधार की भी उद्भावना की। उनके विचार से समास ही रीति का निर्णायक आधार है—जहाँ समास बिल्कुल न हों वह वैदर्भी, जहाँ लघु हों वह पांचाली और जहाँ मध्य समास व दीर्घ समास हों, वे क्रमशः लाटी व गौड़ी रीति मानी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त किस रस में कौन सी रीति प्रयुक्त होनी चाहिए इसका भी स्पष्टीकरण उन्होंने किया है, जैसे शृंगार, करुण आदि में वैदर्भी और पांचाली या रौद्र में गौड़ी प्रयुक्त होनी चाहिए।

राजशेखर (९वीं शती) ने प्रवृत्ति, वृत्ति एवं रीति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए पूर्व-विवेचन को अधिक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इनके पारस्परिक अन्तर उनके शब्दों में इस प्रकार है—"वेष-विन्यास क्रमः प्रवृत्ति, विलास-विन्यास क्रमो वृत्तिः, वचन-विन्यास क्रमो रीतिः" (अर्थात् वेष-विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है, विलास-विन्यास का प्रकार वृत्ति तथा वचन-विन्यास का प्रकार रीति है)। दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति का सम्बन्ध वेषभूषादि से है, वृत्ति का क्रिया-कलाप-व्यवहार आदि से तथा रीति का भाषा एवं बोल-चाल आदि से। राजशेखर का यह स्पष्टीकरश निश्चित रूप से ही स्तुत्य है। रीति के भेदों के अन्तर्गत राजशेखर ने रुद्रट के लाटी को स्वीकार नहीं किया—उन्होंने वैदर्भी, पांचाली एवं गौड़ी को ही मान्यता देते हुए उनका विवेचन किया है।

दसवीं शती के आचार्य कुन्तक ने रीति के इतिहास में एक बड़ा भारी परिवर्तन किया। अब तक रीति का सम्बन्ध प्रदेश-विशेष से माना जाता रहा था, जबकि कुन्तक ने इसे कवि-स्वभाव से सम्बन्धित सिद्ध किया। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने रीति के विभिन्न भेदों का नामकरण भी नये ढंग से किया—सुकुमार मार्ग (वैदर्भी रीति), विचित्र मार्ग (गौड़ी) और मध्यम मार्ग (पांचाली)। कुन्तक का यह प्रयास बहुत सुन्दर था किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसकी उपेक्षा की, जिससे यह नामकरण प्रचलित न हो सका।

भोजराज (११वीं शती) ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी के अतिरिक्त दो और नये भेदों—आवन्तिका और माधवी—की सृष्टि करके उनकी संख्या छः तक पहुँचा दी, किन्तु परवर्ती विद्वान् वामन के तीन भेदों को ही मानते रहे। आनन्दवर्द्धन ने रीति का प्रयोग वक्ता, कथ्य, विषय एवं रस के औचित्य के अनुसार ही करने का परामर्श दिया। इस प्रकार रीति-विवेचन की परम्परा ११-१२वीं शती तक अक्षुण्ण रूप से चलती रही। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुन्तक, राजशेखर, भोज आदि आचार्य रीति-सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में रीति-विवेचन को स्थान दिया। इतना ही नहीं, 'नैषध चरित' के रचयिता श्रीहर्ष ने तो परम सुन्दरी दमयन्ती को ही रीति-विशेष का रूप दे डाला—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।

—३—११६।

अर्थात् हे वैदर्भी (दमयन्ती) ! तू सचमुच धन्य है जिसने अपने उदार गुणों से नैषध को आकृष्ट कर लिया है। चन्द्रिका की इससे बढ़कर स्तुति क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी अधिक तरल (चंचल) बना दे।

इससे प्रतीत होता है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शती तक रीति-सिद्धान्त पक्षी-विपक्षियों के द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, किन्तु परवर्ती युग में रस, ध्वनि और अलंकार के आगे यह गौण हो गया। यही कारण है कि हिन्दी के शताधिक कवि-आचार्यों (रीतिकालीन) में से कुछ ने ही रीति का उल्लेख किया है। केशव ने तो रीति के स्थान पर भरत की चार वृत्तियों को ही ले लिया है जबकि चिन्तामणि ने कुन्तक का अनुकरण करते हुए इसे कवि-स्वभाव से सम्बन्धित रूप में ग्रहण किया है। कुलपति, देव और दास ने भी रीति का उल्लेख अत्यन्त मितव्ययितापूर्वक किया तथा उन्होंने वामन के दृष्टिकोण की प्रायः उपेक्षा की है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी के मध्यकालीन आचार्यों ने इस सिद्धान्त को प्रायः ठुकरा दिया।

रीति-सम्प्रदाय का काव्य के प्रति दृष्टिकोण

रीति-सम्प्रदाय के आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन करने से पूर्व हमें उसका काव्यसम्बन्धी दृष्टिकोण समझ लेना चाहिए। आचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' के प्रथम अधिकरण में ही काव्य के लक्षण, स्वरूप, प्रयोजन आदि का विवेचन किया है जिसके आधार पर हम उनके दृष्टिकोण से अवगत हो सकते हैं। सबसे पहला प्रश्न है—काव्य क्या है ? वामन की दृष्टि से इसका उत्तर है—'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।' अर्थात् यह काव्य शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है। यदि वामन के इस लक्षण की उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निरूपित लक्षणों से तुलना करें तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि उनका लक्षण कितना अधिक व्यापक है। जहाँ भामह केवल "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" अर्थात् शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होता है—कहकर रह जाते हैं, वहाँ वामन गुण तथा अलंकारों से संस्कृति की भी बात कहते हैं। प्रत्येक सार्थक शब्द काव्य नहीं हो सकता, कुछ विशेष गुणों वाले शब्द ही मिलकर काव्य का रूप धारण कर सकते हैं। अतः स्पष्ट ही वामन के द्वारा गुण और अलंकारों की बात कहा जाना, अधिक उचित प्रतीत होता है। अस्तु, यदि उपर्युक्त लक्षण की व्याख्या करें तो उससे वामन की निम्नांकित मान्यताओं पर प्रकाश पडता है :—

(क) काव्य में शब्द और अर्थ के संस्कृत या परिष्कृत रूप का प्रयोग होता है या यों कहिए कि काव्य में परिष्कृत भाषा का प्रयोग होता है।

(ख) भाषा में यह परिष्कार गुण और अलंकारों के द्वारा आता है।

(ग) वामन शब्द और अर्थ दोनों के परिष्कार की बात कहते हैं—इससे स्पष्ट है कि वे काव्य के दोनों पक्षों—ध्वनि और अर्थ दोनों—को महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

यहाँ कुछ प्रश्न उठ सकते हैं, जैसे कि क्या भाषा में परिष्कार केवल गुण और अलंकार से ही आ सकता है, अन्य साधनों से नहीं ? या क्या काव्य केवल परिष्कृत या सुसज्जित भाषा में ही रचित हो सकता है अन्यथा नहीं ? इन प्रश्नों के उत्तर में हम कह

सकते हैं कि वामन के दृष्टिकोण से गुण और अलंकार ही काव्य के आधारभूत तत्त्व हैं, अतः यदि वे केवल इन्हें ही भाषा के परिष्कार का साधन मानें तो स्वाभाविक ही है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी जहाँ तक वामन के दृष्टिकोण की बात है, वे केवल परिष्कृत भाषा में ही रचित काव्य को काव्य मानेंगे। वामन की यह मान्यता कहाँ तक तर्क-संगत है, इस पर हम आगे वामन के आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना करते समय विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही याद रखना पर्याप्त होगा कि वामन के अनुसार गुण और अलंकार ही दो ऐसे तत्त्व हैं जिनसे परिष्कृत-सुसज्जित होकर भाषा काव्य का रूप धारण करती है।

काव्य के सम्बन्ध में उसके लक्षण के अतिरिक्त दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि उसकी आत्मा क्या है ? अर्थात् वह कौन-सा आधारभूत तत्त्व है जिसके कारण काव्य, काव्य कहलाता है तथा जिसके अभाव में काव्य काव्यत्व से हीन हो जाता है ? यह प्रश्न भारतीय आचार्यों में पर्याप्त वाद-विवाद का विषय रहा है। आचार्य वामन ने इसके उत्तर में 'रीति' को काव्य की आत्मा बताया। किन्तु सही बात तो यह है कि उनके द्वारा विवेचित 'रीति' अपने-आपमें साध्य न होकर काव्य के सौन्दर्य की साधन मात्र है। वामन ने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि "काव्यं ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलं-कारः।" (प्रथम अधिकरण १-२) अर्थात् काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है और अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य। इस प्रकार सौन्दर्य ही काव्य का मुख्य तत्त्व है तथा दोषों का परित्याग, गुण और अलंकारों का प्रयोग—ये सब तो सौन्दर्य-सृष्टि के साधन मात्र हैं। दोषों के त्याग और गुण व अलंकारों के ग्रहण का सामान्य नाम ही 'रीति' है—अतः कहना चाहिए कि रीति तो काव्य-सौन्दर्य की साधन मात्र है। जिस प्रकार मनुष्य वायु, जल, भोजन आदि के द्वारा जीवन धारण करता है, किन्तु फिर भी इन्हें मनुष्य का प्राण या उसकी आत्मा नहीं माना जा सकता, ठीक वैसे ही काव्य में सौन्दर्य रूपी जीवन के लिए रीति को उसका साधन ही माना जा सकता है, साध्य नहीं। अस्तु, वामन ने एक ओर रीति को काव्य की आत्मा घोषित करके तथा दूसरी ओर सौन्दर्य को ही उसका साध्य मान करके दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ व्यक्त की हैं जिनसे उनके दृष्टिकोण की अस्पष्टता प्रकट होती है।

इसी प्रकार काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी वामन ने अपना मत अस्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है—"सुन्दर काव्य प्रीति का और कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट और अदृष्ट फलवाला होता है।" डा० नगेन्द्र ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—"वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने हैं—दृष्ट प्रयोजन प्रीति-आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति। उन्होंने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थों तक ऊँचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतरे हैं। उनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कवि की सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कवि और पाठक दोनों के लिए ही की गई है।" निस्संदेह डा० नगेन्द्र की इस व्याख्या से वामन का पक्ष बहुत सबल हो जाता है, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि किसी अन्य

व्यक्ति की रचना से पाठक को कीर्ति किस प्रकार मिल सकती है ? हमारे विचार से वामन ने अपना मत केवल कवि के दृष्टिकोण से ही व्यक्त किया है, क्योंकि उसे काव्य-रचना करते समय आनन्द प्राप्त होता है तथा उसके पश्चात् कीर्ति मिलती है। काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेख के अनन्तर वामन ने यह भी लिखा है—"काव्य-रचना की प्रतिष्ठा यश की प्राप्ति की सरणि मानी जाती है। अतः कीर्ति को प्राप्त करने के लिए और अकीर्ति के विनाश के लिए श्रेष्ठ कवियों को 'काव्यालंकार सूत्र' का अर्थ भली प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिए।" (प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, सूत्र पाँचवाँ) इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि वामन ने कवि के दृष्टिकोण से ही काव्य-प्रयोजन पर विचार किया था, पाठक के दृष्टिकोण से नहीं।

अस्तु, आचार्य वामन के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को संक्षेप में प्रस्तुत करें तो कह सकते हैं—(१) काव्य की रचना गुणों और अलंकारों से परिष्कृत एवं सज्जित भाषा में होनी चाहिए। (२) गुणों और अलंकारों मे ही काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है, यह सौन्दर्य या सौन्दर्य उत्पन्न करने की विधि (रीति) ही काव्य की आत्मा है। (३) सौन्दर्य के कारण ही पाठक काव्य को पसन्द करता है तथा उसी से कवि को आनन्द व कीर्ति की उपलब्धि होती है। एक शब्द में सौन्दर्य ही वामन के सारे दृष्टिकोण एवं उनकी समस्त मान्यताओं का मूलाधार है। वामन का विवेचन सर्वथा दोष-शून्य एवं तर्क-संगत चाहे न हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने कला के प्रति सच्चे सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण को अपना कर उसके साथ न्याय करने का पूरा प्रयत्न किया है।

'रीति' के आधारभूत तत्त्व

जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, वामन का दृष्टिकोण विशुद्ध सौन्दर्यवादी था, अतः उन्होंने उन सब गुणों को जिनसे काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है, रीति के आधारभूत तत्त्वों के रूप में संकलित किया है। किन्तु यदि किसी वस्तु में गुणों के साथ-साथ दोष भी विद्यमान हों तथा उसमें उचित साज-सज्जा का अभाव हो तो वहाँ गुण भी प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए वामन ने एक ओर यह स्पष्ट किया है कि सौन्दर्य दोषों के त्याग तथा गुणों और अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है, तो दूसरी ओर उन्होंने अपने ग्रन्थ में गुण, दोष और अलंकार का निरूपण विस्तार से अलग-अलग अध्यायों में किया। प्रायः हिन्दी के अनेक विद्वान् रीति-सिद्धांत की चर्चा करते समय केवल गुणों तक ही अपना विषय सीमित रखते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि दोष और अलंकार भी इस सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। अस्तु, हम यहाँ इन तीनों का ही क्रमशः विवेचन करते हुए इस सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न करेंगे।

(१) गुण

यद्यपि गुणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने का श्रेय वामन को ही है, किन्तु इनकी कल्पना उन्होंने अपने मस्तिष्क से नहीं की। उनसे पूर्व अनेक आचार्य इनकी चर्चा कर चुके थे। आचार्य भरत ने दोषों के विपर्यय रूप ऐसे तत्त्वों को, जो काव्य-शैली को

समृद्ध करते हैं, गुण माना था। इन गुणों की गणना भी उन्होंने इस प्रकार की थी—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. पद-सौकुमार्य, ८. अर्थ-व्यक्ति, ९. उदारता एवं १०. कान्ति। आगे चलकर दण्डी ने भी दस गुणों की विस्तृत विवेचना की है किन्तु उनका कोई सामान्य लक्षण निर्धारित नहीं किया। वस्तुतः गुणों का लक्षण स्पष्ट भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया। उनके विचार से 'काव्य के शोभा-कारक धर्म गुण कहलाते हैं'—(काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः)। स्पष्ट ही यह लक्षण इतना व्यापक है कि इसके अनुसार वे सारे तत्त्व जिससे कि काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि होती है, गुणों के अन्तर्गत आ जाते हैं। फिर वामन को इसी से संतोष नहीं हुआ, उन्होंने उन्हे काव्य के स्थायी तत्त्व घोषित कर दिया अर्थात् जहाँ काव्य है वहाँ गुण अवश्य है, और जहाँ गुण नहीं वहाँ काव्य भी नहीं। ऐसी स्थिति में गुणों की गणना सम्भव नहीं थी, किन्तु वामन ने उनकी संख्या बीस निश्चित कर दी—दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण। वस्तुतः ये बीस गुण आचार्य भरत के द्वारा उल्लिखित दस गुण ही हैं, वामन ने केवल शब्द और अर्थ का भेद करके उनकी संख्या द्विगुणित कर दी। कहना न होगा कि वामन के परवर्ती विद्वानों ने भी इस संख्या-विस्तार में अपनी रुचि प्रदर्शित की है, जैसे कि भोजराज ने गुणों की संख्या ७२ तक पहुँचा दी (किन्तु यह संख्या वृद्धि विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, अतः हम अपना विवेचन वामन तक ही सीमित रखेंगे) वामन द्वारा निरूपित गुणों का परिचय संक्षेप में स्वयं उन्ही के दृष्टिकोण से इस प्रकार दिया जा सकता है—

(क) शब्द-गुण

१. **ओज**—'गाढ़बन्धत्वमोजः' अर्थात् रचना की गाढता या गाढ़बन्धत्व 'ओज' गुण कहलाता है। दण्डी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि जब वाक्यों में समासयुक्त पदों की बहुलता होती है तो ओज गुण का उदय होता है। हमारे विचार से वामन का भी अभिप्राय संश्लिष्ट शब्द-रचना से ही था।

२. **प्रसाद**—'शैथिल्यं प्रसादः' अर्थात् रचना की शिथिलता ही प्रसाद गुण है।

३. **श्लेष**—'मसृणत्वं श्लेषः' अर्थात् मसृणत्व या कोमलता को श्लेष कहते हैं।

४. **समता**—'मार्गाभेदः समता' अर्थात् मार्ग का अभेद या शैली की एकरूपता समता गुण है।

५. **समाधि**—'आरोहाऽवरोहक्रमः समाधिः' अर्थात् (शैली में) उतार-चढ़ाव ही समाधि है।

६. **माधुर्य**—'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' शब्दों की पृथकता ही माधुर्य गुण है।

७. **सौकुमार्यम्**—'अजरठत्वं सौकुमार्यम्' अर्थात् कठोरता का अभाव ही सौकु-मार्य है।

८. **उदारता**—'विकटत्वमुदारता' अर्थात् रचना-शैली की विकटता ही उदारता कहलाती है।

९. **अर्थ-व्यक्ति**—'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः' अर्थात् वह गुण जिससे अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, अर्थ-व्यक्ति कहलाता है।

१०. **कान्ति**—'औज्ज्वल्यं कान्तिः' अर्थात् रचना-शैली की उज्ज्वलता या नवीनता का नाम ही कान्ति है।

शब्द-गुणों की उपर्युक्त सूची बड़ी विचित्र-सी है। पहले हम देखते हैं कि वामन ने रचना के गम्भीर-बन्धत्व को ओज गुण माना है तो आगे उसके सर्वथा विरोधी गुण—रचना की शिथिलता को भी उसने प्रसाद गुण मान लिया है। एक ओर वे शैली की एकरूपता को समता गुण मानते हैं तो दूसरी ओर वे शैली के उतार-चढाव को भी गुण मान लेते हैं। इसके अतिरिक्त कई गुण ऐसे भी हैं जिनके नाम और अर्थ में परस्पर संगति नहीं बैठती—उदाहरण के लिए श्लेष, माधुर्य, उदारता आदि गुण ऐसे ही है। वस्तुतः स्वयं वामन को भी इन असंगतियों का थोड़ा आभास हो गया था, अतः उन्होंने प्रथम असंगति के निराकरण का प्रयास भी किया किन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली।

(ख) अर्थ-गुण

जिन दस शब्द-गुणों की चर्चा अभी हमने की है, वे ही दस अर्थ-गुण भी हैं—उनकी संख्या और नाम में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु उनकी व्याख्या दूसरे ढंग से की गई है। जहाँ शब्द-गुणों में रचना के प्रगाढ बन्धन को ओज कहा गया है, वहाँ अर्थ-गुणों में अर्थ की प्रौढता को ओज गुण माना गया है—"अर्थस्य प्रौढिरोजः" इसी प्रकार अर्थ की विमलता को प्रसाद, क्रमिक घटना को श्लेष, अर्थ की सुगमता को समता, अर्थ के दर्शन को समाधि, उक्ति-वैचित्र्य को माधुर्य, अर्थ की सुकुमारता को सौकुमार्य, अग्राम्यत्व को उदारता, वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता को अर्थ-व्यक्ति तथा रस की दीप्ति को कान्ति गुण कहते है। कहना न होगा कि शब्द-गुणों की ही भाँति अर्थ-गुणों में से भी अनेक अस्पष्ट एवं असंगत हैं। फिर यह भी विचित्र-सा है कि अर्थ-गुणों का शब्द-गुणों से कोई साम्य न होते हुए भी उन्हें वे ही नाम दिये गये है जो कि शब्द-गुणों के लिए निर्धारित थे—क्या वामन के शब्द-कोष में नये नामों का भी अभाव था? फिर क्या उन्होंने अपने इन गुणों के छोटे-छोटे प्यालों में परम्परागत काव्य-शास्त्र के बड़े-बड़े उदधियों को समेट लेने का दुःसाहस किया है—कहाँ रस-सिद्धान्त के विभिन्न अंगों, अवयवों, भेदों एवं उपभेदों का विशाल सागर और कहाँ वामन का यह नन्हा सा 'कान्ति' गुण। दोनों में पहाड़ और तिल का अन्तर है किन्तु वामन ने यह समझ लिया कि रस-दीप्ति को कान्ति गुण बता देने से ही समस्त रससिद्धान्त का प्रतिनिधित्व हो जायगा। खैर, इससे इतना तो सिद्ध ही है कि अन्ततः वामन रस-सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सके—उसे उन्हे किसी न किसी रूप में अपनाना ही पड़ा।

(२) दोष

रीति का दूसरा महत्त्वपूर्ण आधार दोष है। जब तक कोई भी रचना दोष-शून्य नहीं होगी तब तक उसमें गुणों का समन्वय भी सौन्दर्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकेगा, अतः साहित्यकारों के लिए दोषों का ज्ञान भी उतना ही अपेक्षित है जितना गुणों का। काव्यगत दोषों की चर्चा वामन से पूर्व भरत, भामह और दंडी भी कर चुके थे

किन्तु उनकी कोई सामान्य परिभाषा किसी ने नहीं दी। वामन के अनुसार दोष की परिभाषा है—"गुणविपर्ययात्मानो दोषः" अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है या यों कहिए कि जो गुण का उल्टा है वही दोष है।

दोषों की संख्या के सम्बन्ध में भी विभिन्न आचार्यों में प्रायः मतभेद रहा है। आचार्य भरत ने दस दोष माने थे—१. गूढ़ार्थ (क्लिष्ट अर्थ), २. अर्थान्तर (अवर्ण्य का वर्णन), ३. अर्थहीन, ४. भिन्नार्थ, ५. एकार्थ (एक अर्थ के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग), ६. अभिप्लुतार्थ (विभिन्न अर्थों में अन्विति का अभाव), ७. न्यायादपेत (तर्क-रहित), ८. विषम (छन्दोभंग), ९. विसन्धि (सन्धि का अभाव), १०. शब्दहीन (हीन शब्द का प्रयोग)। आगे चलकर भामह ने इनकी संख्या २१ तथा दंडी ने दस मानी है, जबकि वामन ने इन्हें चार भेदों—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष में वर्गीकृत करते हुए इनकी संख्या बीस मानी है। उनके द्वारा निरूपित दोषों की सूची इस प्रकार है—

(क) **पांच पद-दोष**—१. असाधु (व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्द का प्रयोग), २. कष्ट (कर्ण-कटु शब्द), ३. ग्राम्य, ४. अप्रतीत (अप्रचलित शब्द का प्रयोग), ५. अनर्थक (निरर्थक)।

(ख) **पाँच पदार्थ-दोष**—१. अन्यार्थ—जहाँ शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग हो, २. नेयार्थ—जिसका अर्थ कल्पना से लगाना पड़ता हो, ३. गूढ़ार्थ—अप्रसिद्धार्थ, ४. अश्लील, ५. क्लिष्ट—जहाँ अर्थ अत्यन्त दूरारूढ़ हो।

(ग) **तीन वाक्य-दोष**—१. भिन्न वृत्ति, २. यतिभ्रष्ट, ३. विसंधि।

(घ) **सात वाक्यार्थ-दोष**—१. व्यर्थ—पूर्वापर विरोधी, २. एकार्थ—जिसमें एक ही अर्थ की आवृत्ति हो, ३. संदिग्ध, ४. अप्रयुक्त, ५. अपक्रम—जहाँ अर्थ में क्रम न हो, ६. अलोक—जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरुद्ध हो, ७. विद्या-विरुद्ध—जिसका अर्थ कला और शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो।

यद्यपि वामन ने दोष-विवेचन में भी विचार की प्रवृत्ति का परिचय दिया है, किन्तु फिर भी उसमें उनको पर्याप्त सफलता मिली है। उनका वर्गीकरण और विवेचन पर्याप्त स्पष्ट, संगत एवं महत्त्वपूर्ण है। निःसन्देह हमारी दृष्टि में उनका दोष-दर्शन अधिक गुणवान् है जबकि उनका गुण-विवेचन सर्वथा दोष-पूर्ण है।

(३) अलंकार

गुण और दोष के अनन्तर अब हम रीति के तीसरे महत्त्वपूर्ण अंग अलंकार को लेते हैं। यहाँ एक शंका का निराकरण कर देना चाहिए—वह यह है कि क्या वामन अलंकार को भी मान्यता देते थे? यदि ऐसा था तो फिर रीति-सम्प्रदाय को अलंकार-सम्प्रदाय से पृथक् कैसे माना जा सकता है? इन शंकाओं के सम्बन्ध में हमारा समाधान यह है कि वामन अपने सिद्धान्त को नवीन एवं स्वतन्त्र घोषित करते हुए भी अलंकार की उपेक्षा नहीं कर सके। यही नहीं, उन्होंने एक स्थान पर तो अलंकार को व्यापक अर्थ में—सौन्दर्य के अर्थ में—ग्रहण करते हुए उसे ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मान लिया है—"काव्यं ग्राह्यमलंकारात। सौन्दर्यमलंकारः।" किन्तु साथ ही ये अलंकार को उसके

संकुचित अर्थ में भी ग्रहण करते हैं। इसीलिए वे लिखते हैं कि काव्य में सौन्दर्य दोषों के अभाव व गुण और अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि वामन चाहे अलंकारवादी न हों, किन्तु अलंकार के महत्त्व को वे अवश्य स्वीकार करते थे। पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि वे अलंकारों को उतना ही महत्त्व देते थे जितना कि स्वयं अलंकारवादी भामह, दण्डी आदि देते थे—नहीं, यह बात नहीं है। जब अलंकार-वादी अलंकार को काव्य का स्थायी, नित्य व आवश्यक अंग मानते हैं, वहाँ वामन उनका काव्य से अनित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकते, अपितु सौन्दर्य में (यदि वह पहले से हो तो) केवल अभिवृद्धि कर सकते हैं। सौन्दर्य को उत्पन्न करने की शक्ति तो वामन के विचार से गुणों में ही है—अतः निश्चित रूप से रीति-सम्प्रदाय में अलंकारों का स्थान गुणों के अनन्तर ही है—वे उनसे हीन माने जाते है। यहाँ हमें यह भी न भूलना चाहिए कि जैसा व्यवहार वामन ने अलंकारों के साथ किया है, लगभग वैसा ही अलंकारवादियों ने गुणों के साथ किया है, अर्थात् ये गुणों को मानते हैं किन्तु उन्हे अलंकारों से हीन समझते हैं। खैर, यह इन दोनों का आपस का झगड़ा है—हम बीच में क्यों पड़ें!

अलंकारों के विवेचन में वामन ने प्रायः पूर्वागत परम्परा का ही अनुसरण किया है—यह दूसरी बात है कि उनकी संख्या में परिवर्तन करके तथा उनके नये वर्गीकरण के द्वारा उन्होंने अपनी किंचित् मौलिकता का भी परिचय दिया है। पहले उन्होंने सब अलंकार को दो वर्गों में विभाजित किया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दालंकारों में उन्होंने केवल यमक और अनुप्रास को ही मान्यता दी है—शेष को इन्हीं के भेदों के रूप में स्थान दिया है। अर्थालंकार में से उन्होंने उपमा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इसका विवेचन अलग पूरे अध्याय में किया है तथा अगले अध्याय में लगभग २८-२६ अर्थालंकारों का ही उपमा के विभिन्न रूपों में निरूपण किया है। वस्तुतः वामन का अलंकार-सम्बन्धी विवेचन भी पर्याप्त तर्क-संगत एवं प्रौढ़ है।

रीति के प्रकार

जैसा कि हमने आरम्भ में उल्लेख किया था, आचार्य वामन ने रीति के तीन भेद किए हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौड़ी और (३) पांचाली। वैदर्भी के सम्बन्ध में उनकी धारणा है—"समग्रगुणा वैदर्भी" अर्थात् जिसमें सारे गुण हों वह वैदर्भी है। गौड़ी में केवल ओज और कान्ति—ये दो गुण ही होते है तथा इसी प्रकार पांचाली में भी माधुर्य और सौकुमार्य ये दो गुण रहते है। इस प्रकार गुणों की संख्या के आधार पर वामन ने वैदर्भी को ही स्वीकार्य बताया है, शेष दो तो उपेक्षणीय है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो रचना सभी गुणों से सम्पन्न हो, वही—वैदर्भी—ही काव्य है; शेष का कोई महत्त्व नहीं। ऐसी स्थिति में इस वर्गीकरण का लाभ ही क्या है। फिर कोई रचना ऐसी भी हो सकती है जिसमें दो के स्थान पर चार या आठ गुण हों—उन्हे रीतिवादी कहाँ स्थान देंगे ? वस्तुतः वामन के इस वर्गीकरण में अनेक असंगतियाँ एवं दोष विद्यमान हैं जिन पर आगे इस सम्प्रदाय के महत्त्व पर विचार करते समय प्रकाश डाला जायगा।

उपर्युक्त वर्गीकरण के नामकरण के सम्बन्ध में भी एक शंका उठ सकती है कि

इन रीतियों का विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों—विदर्भ, गौड़, पांचाल—से क्या सम्बन्ध है ? इसका समाधान करते हुए स्वयं वामन ने लिखा है—"यह बात नहीं है (कि रीतियों का देश-विशेष से सम्बन्ध हो)। देश-विशेष से 'द्रव्य-गुण' या 'काव्य-गुणों' की उत्पत्ति नहीं होती है और न इस कारण रीतियों के नाम देशों के नाम पर रक्खे गए हैं। अपितु जिन-जिन देशों के लोगों ने जिस-जिस प्रकार की रचना-शैलियों का आविष्कार किया है, उन्हीं के आधार पर इनका नामकरण किया गया है। फिर भी देशों का काव्य-शैलियों से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि इस प्रकार वामन ने समाधान करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनके कथन में स्वतोव्याघात दोष होने के कारण उन्हें उसमें सफलता नही मिली। यही कारण है कि आगे चलकर कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के स्थान पर क्रमशः सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग की कल्पना की जो अधिक तर्कसंगत है।

रीति और अन्य भारतीय सम्प्रदाय

यदि अन्य भारतीय काव्य-सम्प्रदायों से तुलना की दृष्टि से रीति-सिद्धान्त पर विचार करें तो इसका महत्त्व उनकी अपेक्षा न्यून ही सिद्ध होता है। जहाँ रस-सिद्धान्त काव्य में भावात्मकता को प्रश्रय देता हुआ उसे एक अत्यन्त गम्भीर एवं उदात्त स्वरूप प्रदान करता है, वहाँ रीति-सम्प्रदाय काव्य के केवल बाह्य-पक्ष या शैली-पक्ष की ही व्याख्या प्रस्तुत करता है। रीति-सिद्धान्त में जिन गुणों को आधार बनाया गया था, वे भी रस-सिद्धान्ती आचार्य भरत से ही उधार लिये हुए थे—किन्तु इस थोड़ी-सी पूंजी के बल पर ही काव्य-शास्त्र का पूरा भवन खड़ा करना बहुत कठिन था। इसी प्रकार अलंकार-सम्प्रदाय के भी ऋण से वामन मुक्त नहीं कहे जा सकते। गुणों की अपेक्षा अलंकारों को हीन सिद्ध करने का जो प्रयास वामन ने किया, उसमे भी उन्हे सफलता नहीं मिली। फिर भी वामन शैली-पक्ष को ही महत्त्व देने के कारण रस-सिद्धान्त की अपेक्षा अलंकार-सिद्धान्त के अधिक समीप पडते हैं। वक्रोक्ति और, ध्वनि की अपेक्षा भी रीति का क्षेत्र अधिक संकीर्ण है। जहाँ कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर उसके दीर्घतम रूप की व्याख्या अत्यन्त स्पष्टता से की है, वहाँ वामन की सारी शक्ति गुणों के स्पष्ट विवेचन एवं अलंकार एवं दोषों के संग्रह में ही लग गई है फिर भी विशुद्ध सौन्दर्यवादी होने के नाते उनका आधारभूत दृष्टिकोण कुन्तक के दृष्टिकोण से बहुत कुछ मिलता है।

ध्वनि-सम्प्रदाय की तुलना में भी रीति-सम्प्रदाय अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। ध्वनि-सम्प्रदाय ने रस, अलंकार आदि को सम्मानपूर्वक अपना कर अपने गौरव को स्थायी बनाने का प्रयास किया जब कि रीति के प्रवर्त्तक ने रस और अलंकार को हेय स्थान देने का प्रयत्न किया। वस्तुतः ध्वनि मत की सूक्ष्मता एवं व्यापकता के साथ रीति की कोई तुलना नहीं।

रीति और पाश्चात्य शैली

भारतीय रीति की ही भाँति पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी शैली की विवेचना बराबर होती रही है। यद्यपि अब शैली का अर्थ रीति से भिन्न हो गया है

किन्तु प्राचीन युग में दोनों का विवेचन एवं वर्गीकरण जिस ढंग से हुआ है उसमें परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्रसिद्ध ग्रीक आचार्य प्लेटो ने शैली के तीन भेद किए थे—(१) सहज सरल, (२) विचित्र, (३) मिश्र। कहना न होगा कि यह वर्गीकरण रीति के भेदों से बहुत मिलता-जुलता है। इसी प्रकार अरस्तू ने शैली के दो मूल गुण बताए थे—स्पष्टता और औचित्य। साथ ही उन्होंने एक अन्य स्थान पर शैली के चार दोषों का भी आख्यान किया—(१) समासों का अधिक प्रयोग, (२) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग, (४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग। अरस्तू के ये दोष भारतीय आचार्यों के दोष-निरूपण के अनुकूल ही हैं।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त और भी अनेक पाश्चात्य आचार्यों ने शैली का विवेचन रीति से मिलता-जुलता किया है। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के रोमन विद्वान् सिसरो ने शैली के आधारभूत तत्त्वों के अन्तर्गत इन चार गुणों की गणना की है—(१) उपयुक्त शब्द-चयन, (२) स्पष्टता, (३) सामंजस्यपूर्ण पद-रचना और (४) वर्ण-गुम्फ अर्थात् स्वर और व्यंजनों की मधुर योजना। आगे चलकर डायोनीसियस ने भी शैली के तीन प्रमुख गुणों—शुद्धता, स्पष्टता और समास तथा अनेक गौण गुणों—सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा आदि का आख्यान करते हुए उसके तीन भेद किए हैं—कठिनोदात्त, मसृण या मज्जित और मिश्र। क्विन्टीलियन ने भारतीय आचार्यों की भाँति शैलियों का नामकरण भी भौगोलिक आधार पर किया, जैसे—ऐटिक, एशियाटिक और रहोडियन। पं० बलदेव उपाध्याय ने तीनों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के समकक्ष रक्खा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली सम्बन्धी प्राचीन पाश्चात्य विवेचन भारतीय रीति के सर्वथा अनुकूल है, किन्तु आधुनिक युग तक आते-आते पाश्चात्य विद्वानों के शैली-सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आ गया। उन्नीसवी शताब्दी में वर्ड्सवर्थ तथा अन्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारों ने सहज-स्वाभाविक शैली के पक्ष में प्रचार किया तथा चेष्टापूर्वक प्रयुक्त शैली को साहित्य के लिए अनुपयुक्त सिद्ध किया। दूसरी ओर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद ने भी सहज-स्वाभाविक अभिव्यंजना को ही काव्य के लिए वांछनीय सिद्ध किया। वस्तुतः उनके विचार से तो शैली की पृथक् सत्ता मानना ही अनुचित है। पेटर और रैले ने भी शैली का सम्बन्ध मस्तिष्क और आत्मा से बताते हुए उसे रचयिता के व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग माना। इस प्रकार पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में शैली व्यक्ति-सापेक्ष हो गई—अर्थात् हर व्यक्ति की अपनी शैली होती है—इस तथ्य को मान लिया गया। ऐसी स्थिति में शैली का सामान्य रूप निश्चित करना स्वतः ही अनावश्यक हो गया। यद्यपि भारतीय विद्वानों में से भी अनेक ने शैली को व्यक्ति-सापेक्ष माना है, फिर भी उन्होंने उसके सामान्य गुणों की उपेक्षा नहीं की। अस्तु, आज की शैली सम्बन्धी मान्यताओं में रीति के निम्नांकित भेद मिलते हैं—

(१) रीति के कुछ निश्चित भेद किए जा सकते हैं जबकि शैली का कोई निश्चित रूप या भेद निर्धारित करना कठिन है।

(२) रीति विषय-सापेक्ष है जबकि शैली व्यक्ति-सापेक्ष।

(३) रीति में पाठक या सामाजिक की दृष्टि को प्रमुखता प्राप्त है जबकि शैली में कवि या रचयिता की दृष्टि को।

(४) रीति के लिए अध्ययन, अभ्यास एवं प्रयत्न अपेक्षित है जबकि शैली सहज-स्वाभाविक रूपों को सूचित करती है।

(५) रीति परम्परा की प्रतीक है जबकि शैली स्वच्छन्दता की।

रीति-सम्प्रदाय का महत्त्व

रीति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर अब हम अपने दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन कर सकते हैं। सबसे पहले तो हमें यह देखना हैं कि रीति-सिद्धान्त ने भारतीय काव्य-शास्त्र को क्या कुछ नया दिया? क्या वामन के ग्रन्थ के कारण काव्य की आत्मा सम्बन्धी समस्या के समाधान में कोई सहायता मिली? इन प्रश्नों के उत्तर में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वामन ने जो कुछ दिया वह उनका अपना नहीं है। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, उनके सिद्धान्त मुख्यतः गुण, दोष और अलंकारों पर आधारित हैं और ये तीनों ही पूर्व विद्वानों द्वारा विवेचित है। उनका गुण-दोषों का विवेचन तो बहुत कुछ भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित है जबकि अलंकार सम्बन्धी सारी सामग्री भामह और दण्डी से ली हुई है। इस क्षेत्र में वामन को मौलिकता यह है कि एक तो उन्होंने गुण और दोषों का शब्द और अर्थ आदि के आधार पर अलग-अलग वर्गीकरण किया तथा दूसरे, उन्होंने गुणों को अलंकार से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया। किन्तु उनका गुणों का विवेचन इतना अधिक अस्पष्ट है कि उनके प्रयास को सफल नहीं माना जा सकता।

रीतियों का वर्गीकरण भी वामन का सर्वथा अपना नहीं है। जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, वामन से पूर्व भी वैदर्भी एवं गौड़ी मार्ग का भेद प्रचलित हो चुका था, अतः उसमें एक नया भेद और बढ़ा देना कोई अधिक महत्त्व की बात नही है। हाँ, रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने का साहस अवश्य ही अपने आप में अद्भुत है। पर यहाँ भी वे बड़ी भारी दुविधा में पड़ गए—एक ओर वे सौन्दर्य को ही काव्य का प्रमुख गुण घोषित कर बैठे तो दूसरी ओर वे रीति को उसकी आत्मा मान बैठे। काव्य में सौन्दर्य ही साध्य होता है, रीति तत्त्व तो उसका साधन मात्र है, किन्तु उन्होंने साधन को साध्य से भी अधिक महत्त्व दे डाला। इसके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न रीतियों का क्षेत्र-विभाजन भी भली-भाँति नहीं किया—वैदर्भी को दस गुणोंवाली तथा शेष को दो-दो गुणोंवाली घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति में जहाँ दो से लेकर नौ तर्क गुण हों, उन्हें कौन-सी रीति में स्थान दिया जाय इसका निर्णय करना असम्भव है। दूसरे, वैदर्भी के दस गुणों में भी परस्पर विरोध है (जैसे—ओज और माधुर्य), ऐसी स्थिति में उन सबको एक स्थान पर कैसे एकत्रित किया जा सकता है? साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि वामन ने जिन गुणों की गणना की है, केवल उन्हीं के आधार पर किसी रचना में काव्यत्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए विज्ञान की पुस्तक भी सरल,

स्पष्ट एवं गम्भीर शैली में लिखी जा सकती है, किन्तु इसी से उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वामन का गुण-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर्याप्त असंगत, अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक है। यदि वामन को कहीं सफलता मिली भी है तो वह उनके ग्रंथ के अलंकार एवं दोष सम्बन्धी अंश है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक किसी पूर्व-प्रचलित सिद्धान्त को समझने-समझाने की बात है, वामन उसमें पर्याप्त कुशल हैं, किन्तु ज्योंही वे कुछ नया कहने का प्रयास करते हैं, वहीं वे अस्पष्ट एवं दुविधा-ग्रस्त हो जाते हैं।

अस्तु, आचार्य वामन के प्रति हमारी पूरी श्रद्धा होते हुए भी हम उनकी देन को बहुत बड़ी न मानने के लिए विवश हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उन्होंने एक नये सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन का साहस किया—अल्प शक्ति के बल पर ही महान् कार्य करने का प्रयास किया। उनकी रीति काव्य की आत्मा भले ही न बन पाए, किन्तु उसका काव्य से कोई-न-कोई सम्बन्ध तो है ही। कम-से-कम जो लोग शैली पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करते हैं, उनके लिए तो वामन का मत चेतावनी देने के लिए पर्याप्त है। अतः डा० नगेन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है—"वाणी के बिना अर्थ गूंगा है। शैली के अभाव में भाव उस कोकिल के समान असहाय है जिसे विधाता ने हृदय की मिठास देकर भी रसना नहीं दी।....इस दृष्टि से शैली तत्त्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है और रीतिवाद ने उस पर बल देकर काव्य-शास्त्र का निःसन्देह ही उपकार किया है।"

: बारह :

ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

१. विषय-प्रवेश ।
२. शब्द-शक्तियाँ ।
३. ध्वनि की परिभाषा ।
४. ध्वनि का अस्तित्व ।
५. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अन्तर ।
६. काव्यत्व का अधिवास कहाँ ?
७. ध्वनि के भेद ।
८. ध्वनि-सम्प्रदाय का महत्त्व ।

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में ध्वनि-सम्प्रदाय का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ आनन्दवर्धन द्वारा रचित 'ध्वन्यालोक' है, किन्तु स्वयं आनन्दवर्धन ने एक स्थान पर लिखा है—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात-पूर्वः" जिससे पता चलता है कि ध्वनि की परम्परा उनसे पहले भी रही है। फिर भी आनन्दवर्धन से पूर्व का कोई ग्रंथ न मिलने के कारण ध्वनि की प्रतिष्ठा एवं उसकी परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है तथा ध्वनि का सम्बन्ध व्यंजना-शक्ति से है—अतः ध्वनि-सिद्धान्त को सम्यक् रूप से समझने के लिए पहले शब्द-शक्तियों का थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित होगा।

शब्द-शक्तियाँ

भारतीय शास्त्रों में भाषा की अर्थ सूचित करने की क्षमता को शक्ति या वृत्ति के नाम से पुकारा गया है। इन शक्तियों की गणना विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है, जिनसे इनकी कुल संख्या ६-७ तक पहुँच जाती है—जैसे, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य, रसना, भावना, भोग आदि। इनमें से प्रथम तीन शब्द-शक्तियाँ हैं, चतुर्थ का सम्बन्ध शब्द से न होकर वाक्य से है तथा शेष तीन काव्य की ही विशिष्ट शक्तियाँ हैं जो अर्थ के भावन या रसास्वादन में योग देती हैं। ध्वनि का सम्बन्ध मुख्यतः शब्द-शक्तियों से ही है—अतः यहाँ केवल शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना—का ही विवेचन क्रमशः किया जायगा।

(क) अभिधा—शब्द की जिस शक्ति के कारण उसका साक्षात्संकेतित अर्थ सूचित होता है, या यों कहिए कि उसका सामान्य सर्वप्रचलित या उससे सीधा सम्बन्ध

रखनेवाला अर्थ प्रकट होता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए—मकान, कुर्सी, मनुष्य, गधा आदि के उच्चारण मात्र से जो अर्थ-बोध होता है, वही अभिधात्मक अर्थ है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि इस अभिधात्मक अर्थ को बनानेवाला कौन है? इसके उत्तर में विद्वानों ने विभिन्न बातें कही हैं। प्रसिद्ध भारतीय नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य के मत से परम्परागत सामान्य शब्दों का अर्थ ईश्वर ने निश्चित किया है जब कि शास्त्रीय या पारिभाषिक शब्द शास्त्रकारों द्वारा गढ़े हुए हैं। भट्टाचार्य का यह मत अब बहुत पुराना हो गया है। यदि हमारे शब्द या शब्दार्थ स्वयं ईश्वर के द्वारा गढ़े हुए होते तो सभी मनुष्यों के द्वारा एक जैसे ही शब्द प्रयुक्त होते, इतनी भाषाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। वस्तुतः आज के युग में जबकि स्वयं ईश्वर के ही अस्तित्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ है, भट्टाचार्य के मत को मान्यता देना बहुत कठिन है।

पाश्चात्य विकासवादियों के मत से मानव जाति की उन्नति एवं समाज के आर्थिक विकास के साथ-साथ शब्दों और भाषा का विकास क्रमशः होता गया। निःसंदेह सामाजिक विकास के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हो सकते हैं जिन्होंने अभिधात्मक अर्थ के सूचक शब्दों के विकास में योग दिया होगा, किन्तु फिर भी मूल कारण के सम्बन्ध में हम उपर्युक्त विकासवादी मत को ही स्वीकार करना उचित समझते हैं।

(ख) **लक्षणा**—अभिधा के अनन्तर दूसरी महत्त्वपूर्ण शब्द-शक्ति लक्षणा है। इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है—"मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा कहते हैं। इसे भली-भाँति समझने के लिए लक्षणा के मुख्यतः तीन लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं—(१) मुख्यार्थ की बाधा—मुख्यार्थ से तात्पर्य है—वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ। जहाँ लक्षणा शक्ति होती है वहाँ वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए यदि किसी मनुष्य के लिए कहा जाय कि 'वह गधा है' तो गधे शब्द का सामान्य प्रचलित अर्थ लागू नहीं होगा। (२) लक्षणा का दूसरा लक्षण यह है कि वह भिन्न अर्थ जो कि लागू होता है बिल्कुल ऊपर से थोपा हुआ भी नहीं होना चाहिए, उसका वाच्यार्थ से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। जैसे, गधे को सामान्यतः मूर्ख समझा जाता है, अतः इसी सम्बन्ध से गधे का अर्थ भी मूर्ख कर लिया जाता है। (३) तीसरे, लक्षणा में भिन्न अर्थ का प्रयोग दो कारणों से होता है—यह तो परम्परा के निर्वाह के कारण या फिर किसी विशेष प्रयोजन से। उदाहरण के लिए—जंगल जाना, नित्य-कर्म, हरिजन आदि शब्द परम्परा-निर्वाह को सूचित करते हैं तो 'गरीब की कुटिया'—'चरण-सेवक' आदि विशेष प्रयोजन को प्रकट करते हैं। अस्तु, उपर्युक्त तीन लक्षणों के आधार पर ही अभिधा और लक्षणा का भेद स्पष्ट किया जा सकता है।

(ग) **व्यंजना**—अभिधा और लक्षणा से भिन्न अर्थ-शक्ति को व्यंजना कहा जाता है। साहित्य-दर्पणकार के शब्दों में, "अपना-अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदि वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ बोधन होता है, वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहनेवाली वृत्ति व्यंजना कहलाती है।" डा० भोलाशंकर व्यास ने इसे और अधिक स्पष्ट

करते हुए लिखा है—"जिस प्रकार कोई वस्तु पहले से ही विद्यमान किन्तु गूढ़ वस्तु को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार यह शक्ति मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के झीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर देती है। यह वह शक्ति है, जो बाह्य सौन्दर्य के रेशमी पर्दे को हटाकर काव्य के वास्तविक लावण्य को व्यक्त करती है। इसीलिये इसे व्यंजना माना गया है, क्योंकि यह 'एक विशेष प्रकार का अंजन' है अर्थात् अभिधा या लक्षणा द्वारा अप्रकाशित अर्थ को प्रकाशित कर देता है। उदाहरण के लिए आफिस में बैठा हुआ कोई अफसर अपने क्लर्क से कहे "मैं जा रहा हूँ", तो इसका मुख्यार्थ इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना इसका यह व्यंग्यार्थ कि "अब आफिस का काम तुम सम्हालो।" वस्तुतः इसी व्यंजना-शक्ति को ध्वनि-सम्प्रदाय में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। व्यंजना के द्वारा व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ में प्रतीयमान अर्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। इसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंच-द्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

अर्थात् "प्रतीयमान (अर्थ) कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों (मुख, नेत्रादि) से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में भासित होती है। काव्य की आत्मा का वही अर्थ है। इसी से प्राचीनकाल में क्रौंच पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोक रूप में परिणत हो गया।" अस्तु, इससे स्पष्ट है कि ध्वनि-सम्प्रदाय में व्यंग्यार्थ का कितना अधिक महत्त्व है।

ध्वनि की परिभाषा

ध्वनि की परिभाषा करते हुए ध्वन्यालोककार ने लिखा है—"जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।" इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनि में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान) अर्थ तो होता ही है, किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है; उस प्रतीयमान अर्थ का वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण होना अपेक्षित है। या यों कहिए कि जहाँ व्यंग्यार्थ प्रमुख एवं वाच्यार्थ गौण हो, वहीं ध्वनि मानी जा सकती है। प्रश्न है व्यंग्यार्थ को प्रमुखता किस कारण से प्राप्त हो सकती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि सौन्दर्य के आधार पर ही व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान हो सकता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक सुन्दर हो, वहीं ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार किया जायेगा। किन्तु साथ ही, आनन्दवर्धन ने दूसरी स्थिति की भी पूर्ण अपेक्षा नहीं की—ऐसा काव्य जहाँ कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम सुन्दर हो तथा वह वाच्यार्थ का अंग बन जाता हो, उसे उन्होंने 'गुणीभूत व्यंग्य' की संज्ञा दी है और जहाँ व्यंग्यार्थ अस्फुट रहता है, उसे 'चित्र काव्य' कहा है। इस प्रकार काव्य की तीन श्रेणियाँ

हुई—ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र, जो क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट कोटि के काव्य को सूचित करती हैं।

ध्वनि का अस्तित्व

क्या गुण, अलंकार आदि से पृथक् ध्वनि नाम का भी कोई अलग तत्त्व होता है—यह शंका भी अनेक बार अनेक विद्वानों द्वारा उठाई गई है। इतना ही नहीं, ध्वनि के विरोधियों ने तो ध्वनि के मूलाधार व्यंग्यार्थ तक के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है। ध्वनि-विरोधियों के मुख्यतः ये चार वितर्क हैं—(१) व्यंजना की अभिधा से पृथक् सत्ता नही है। (२) व्यंजना की लक्षणा से पृथक् सत्ता नही है। (३) प्रतीयमान अर्थ या तथाकथित व्यंग्यार्थ अनुमान से ग्रहण होता है, अतः व्यंजना और ध्वनि को मानने की आवश्यकता नहीं। (४) ध्वनि का समन्वय समासोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों में किया जा सकता है। इनमें से अनेक आक्षेपों का खंडन स्वयं ध्वन्यालोककार अपने ग्रन्थ के आरम्भ में कर चुके है। हम यहाँ पर पुनः संक्षेप में विचार कर सकते हैं।

सर्वप्रथम हम अभिधावादियों को ले सकते हैं। इनके भी पाँच वर्ग हैं—(१) अभिहितान्वयवादी, (२) अन्विताभिधानवादी, (३) निमित्तवादी, (४) दीर्घतराभिधाव्यापारवादी, (५) तात्पर्यवादी। अभिहितान्वयवादियों के मत से वाक्य में प्रयुक्त शब्द सबसे पहले अपने-अपने अभिधेय अर्थ को सूचित करते है, तदनंतर वे परस्पर मिलकर पूरे वाक्य का अर्थ प्रकट करते हैं, जिसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। व्यंग्यार्थ को वे तात्पर्यार्थ का ही अगला रूप मानते है, उससे पृथक् नहीं मानते। निस्संदेह, इस वर्ग के विद्वानों का यह तर्क बहुत कमजोर है। वे व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ का अगला रूप मानकर न केवल दोनों का पार्थक्य स्वीकार कर लेते है, अपितु यह भी मान लेते है कि व्यंग्यार्थ तात्पर्यार्थ से अधिक विकसित होता है।

अन्विताभिधानवादियों के अनुसार भी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से पृथक् नहीं है—वह शब्दों के अन्वित अर्थ से ही प्रकट होता है। इस वर्ग के विद्वान् अभिधा पर इतना बल देते हैं कि वे तात्पर्य-शक्ति को भी स्वीकार नहीं करते।

तीसरा वर्ग निमित्तवादियों का है, जिसके विचार से प्रतीयमान अर्थ के निमित्त शब्द ही हैं—शब्द और प्रतीयमान अर्थ में कारण-कार्य सम्बन्ध है। अस्तु, वे व्यंग्यार्थ का निमित्त शब्द एवं अभिधा शक्ति को मानते हुए व्यंजना की कल्पना को आवश्यक मानते हैं। इस मत का खंडन भी आगे चलकर मम्मट ने सफलतापूर्वक कर दिया है।

चौथा वर्ग दीर्घतराभिधाव्यापारवादियों का है। इस मत के अनुसार किसी भी शब्द और वाक्य से जितने भी अर्थ प्रतीत होते है, उन सभी में अभिधा शक्ति का ही कार्य होता है। अभिधा शक्ति किसी एक ही अर्थ को प्रकट करके क्षीण नहीं हो जाती, अपितु वह अन्य अर्थों की भी प्रतीति करती रहती है। अभिधा के इस दीर्घतर व्यापार को तीर या बाण के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जब एक तीर किसी के शरीर में लगता है तो वह उस व्यक्ति के कवच को विद्ध करता है, हृदय में घुसता है और उसके प्राण ले लेता है। अब बताइए कि ये तीनों कार्य अकेले तीर की शक्ति से ही

हुए या किन्हीं अन्य शक्तियों से ? यदि इसका उत्तर 'अकेले तीर की शक्ति से ही' है, तो फिर यह भली-भाँति कहा जा सकता है कि वाक्य से प्रकट होने वाले वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ आदि सभी अकेली अभिधा की ही देन है ।

इस मत के प्रवर्तक भट्टलोल्लट का एक अन्य तर्क यह है कि शब्द का अर्थ वही है जिसकी प्रतीति के लिए उसका प्रयोग किया गया हो । यदि कोई शब्द या वाक्य भिन्न अर्थ सूचित करता है तो अवश्य ही वहाँ वक्ता ने उसे भिन्नार्थ में प्रयोग किया होगा तथा ऐसी स्थिति में उस भिन्नार्थ को ही वाच्यार्थ मानना चाहिए । अस्तु, इस दृष्टिकोण से व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता । इसमें कोई संदेह नहीं कि भट्टलोल्लट के उपर्युक्त दोनों तर्क ही उनकी गहरी सूझ-बूझ एवं प्रबल तर्क-शक्ति को सूचित करते हैं किन्तु इनका खंडन भी किया जा सकता है । पहले तर्क में उन्होंने एक ही तीर के द्वारा होने वाले कार्यों की तुलना विभिन्न अर्थों से की—किन्तु सादृश्य की दृष्टि से यह तुलना ठीक नहीं बैठती । वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में उतना ही अन्तर नहीं है जितना कि हृदय में तीर लगने और प्राणान्त हो जाने में है । हमारे विचार से यदि तीर का उदाहरण दिया ही जाय तो वह इस प्रकार होना चाहिए—शत्रु का तीर सेनापति को लगता है, उससे सेनापति घायल हो जाता है, सेनापति के घायल हो जाने के कारण सारी सेना भाग जाती है, पराजित हो जाती है । अस्तु, तीर लगने में और सेना के पराजित होने में जितना अन्तर है, लगभग उतना ही अन्तर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में है । स्पष्ट है कि जिस प्रकार तीर लगने का परिणाम होते हुए भी सेना की पराजय को उससे अभिन्न नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को भी एक नहीं कहा जा सकता ।

दूसरे तर्क के सम्बन्ध में निवेदन है कि प्रत्येक वक्ता शब्दों का प्रयोग सदा वाच्यार्थ में ही नहीं करता, वह जान-बूझकर कई बार उन्हें व्यंग्यार्थ में प्रयुक्त करता है । जो सिद्धि उसे व्यंग्यार्थ से उपलब्ध होती है, वह उसे वाच्यार्थ से नहीं मिलती । ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाता है । कविवर बिहारी ने जो बात 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' के माध्यम से व्यंग्यपूर्वक कही थी, वही यदि वाच्यार्थ में कह दी गई होती तो उन्हें अपने लक्ष्य में सफलता नहीं मिलती । अस्तु, यह एक भ्रान्त धारणा है कि जान-बूझकर व्यंग्य का प्रयोग किए जाने पर वह 'वाच्यार्थ' या वाच्यार्थ की कोटि का हो जाता है ।

अभिधावादियों में पाँचवाँ वर्ग तात्पर्य-शक्ति को मानता है । धनंजय के अनुज धनिक ने व्यंजना के स्थल पर तात्पर्य-शक्ति का समर्थन करते हुए लिखा था—"व्यंग्यार्थ वस्तुतः तात्पर्य ही है । प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं है । अतः उसे व्यंजना द्वारा प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता न उसका व्यंजक काव्य ही ध्वनि है । तात्पर्य तो वस्तुतः जहाँ तक कार्य होता है वहाँ तक फैला रहता है । तात्पर्य को तराजू पर तोलकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह इतना ही है, यहीं तक है इससे अधिक नहीं । निस्संदेह विद्वान् व्याख्याता की मौलिकता प्रशंसनीय है, किन्तु यदि वे अर्थ का सारा कार्य-भार

अकेले तात्पर्य के कन्धे पर न डालकर उसका कुछ भाग व्यंग्य को भी सौंप देते तो सचमुच तात्पर्य और व्यंग्य—दोनों के साथ ही अधिक न्याय होता।

अभी तक हम अभिधावादियों से ही जूझते रहे हैं, किन्तु इनसे भी एक अधिक सबल दल—लक्षणावादियों का हमारे सामने और विद्यमान है। इतना ही नहीं, उधर अनुमानवादी महिम भट्ट तो इस प्रकार प्रचंड हो रहे हैं, मानों वे ध्वनि को बिल्कुल धराशायी करके ही छोड़ेंगे। खैर, सबसे पहले हम लक्षणावादियों से ही बात करते हैं। उनकी प्रमुख दलील है—"जिस प्रकार मुख्यार्थ की संगति न बैठने पर उपचार से लक्ष्यार्थ का ग्रहण होता है, ठीक उसी प्रकार वाच्यार्थ की संगति बैठने पर ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, अतः क्यों न प्रतीयमान अर्थ को लक्ष्यार्थ का ही एक भेद मान लिया जाय ?" इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि व्यंग्यार्थ सदा लक्षणा के माध्यम से ही प्राप्त नहीं होता, उसकी उपलब्धि सीधे वाच्यार्थ या मुख्यार्थ से भी हो सकती है। जहाँ लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ के निष्क्रिय हो जाने पर ही काम करता है, वहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सक्रियता की दशा में भी अपने कार्य में संलग्न हो जाता है। यों कहना चाहिए कि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ की हिंसा करके ही आगे बढ़ता है जबकि व्यंग्यार्थ पूरा अहिंसक होता है। ऐसी स्थिति में भला दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

ध्वनि के सबसे बड़े विरोधी आचार्य महिम भट्ट ने तो इसके विरोध में पूरा एक ग्रन्थ—व्यक्ति-विवेक—ही लिख डाला। इसमें उन्होंने ध्वनि की परिभाषा, उसके भेदोपभेदों आदि का खंडन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ध्वनि वस्तुतः अनुमान से पृथक् नहीं है, अतः उन्होंने ध्वनि के स्थान पर 'काव्यानुमिति' नाम प्रस्तावित किया। उनके विचार से अर्थ के भी केवल दो ही प्रकार हैं—वाच्य तथा अनुमेय। वाच्य अर्थ से अनुमित अन्य अर्थ हेतु से जिसकी अनुमिति हो, वही अनुमेय है। इसी को ध्वनिवादियों ने व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ कहा है। इस प्रकार महिम जिस तत्त्व का खंडन करना चाहते थे, उसी को उन्होंने दूसरा नाम देकर स्वीकार कर लिया है। अतः ध्वनि को चाहे 'ध्वनि' कहा जाय या 'काव्यानुमिति', इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, ध्वनि के विरोध में एक प्रबल युक्ति और है—वह यह कि क्या ध्वनि को समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में समन्वित नहीं किया जा सकता ? इस युक्ति पर भी आनन्दवर्धनाचार्य विचार कर चुके हैं और इन अलंकारों से ध्वनि की तुलना करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि एक तो इनमें ध्वनि की भाँति व्यंग्यार्थ को प्रमुखता प्राप्त नहीं होती, दूसरे ध्वनि का क्षेत्र अलंकारों से अधिक व्यापक है, अतः ध्वनि में भले ही अलंकारों का समन्वय किया जा सके, किन्तु अलंकारों में ध्वनि को अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से यहाँ आनन्दवर्धन के मत में थोड़ी दुर्बलता है। यह ठीक है कि जिन अलंकारों से उन्होंने ध्वनि की तुलना की है, वे ध्वनि से थोड़े भिन्न हैं, किन्तु यदि उन्हे कोई साम्य रखने वाला अलंकार मिल भी जाता तो क्या वे उसे ध्वनि का पर्याय स्वीकार कर लेते ? और सही बात तो यह है कि एक ऐसा अलंकार विद्यमान भी है—वह 'अन्योक्ति' है। अन्योक्ति में भी व्यंग्योक्ति की ही भाँति दो अर्थ होते हैं तथा व्यंग्यार्थ

वाच्यार्थ से प्रमुख होता है। उदाहरण के लिए बिहारी के इस दोहे को लीजिए—

नहि पराग नहि मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सों बंध्यो आगे कौन हवाल॥

उपर्युक्त दोहा यदि अलंकारवादियों की दृष्टि से अन्योक्ति है तो ध्वनिवादियों की दृष्टि से व्यंग्योक्ति या ध्वनि है। अतः कहना चाहिए कि ध्वनि भी एक विशेष प्रकार का अलंकार ही है, किन्तु उसे ध्वनिवादियों ने अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान कर दिया है। यहाँ हमारा लक्ष्य केवल ध्वनि-सिद्धान्त का परिचय देना ही है, उसका खंडन करना नहीं, अतः इस सम्बन्ध में हम अधिक विचार अन्यत्र करेंगे।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में अन्तर

वाच्यार्थ और व्यंयार्थ में निश्चित रूप से अन्तर है, इसे स्पष्ट करने के लिए हमारे आचार्यों ने अनेक स्पष्ट आधार निश्चित किए हैं, जो इस प्रकार है—

(क) **बाद्धा के अनुसार**—वाच्यार्थ की प्रतीति प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है, जब कि व्यंग्यार्थ कुछ व्यक्ति ही समझ सकते हैं।

(ख) **स्वरूप**—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भी प्रायः अन्तर होता है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय कि 'आप तो बहुत दुबले हैं' तो इसका व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से बिल्कुल उलटा होगा।

(ग) **संख्या**—वाच्यार्थ प्रायः एक ही होता है जब कि व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं।

(घ) **निमित्त**—वाच्यार्थ केवल शब्द-ज्ञान से ही समझ में आ सकता है जब कि व्यंग्यार्थ को समझने के लिए प्रतिभा एवं बुद्धि भी अपेक्षित है।

(ङ) **काल**—वाच्यार्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है जब कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति उसके अनन्तर होती है।

(च) **कार्य**—वाच्यार्थ से केवल विषय का ज्ञान होता है जब कि व्यंग्यार्थ आनन्द या चमत्कार भी उत्पन्न करता है।

(छ) **आश्रय**—वाच्यार्थ केवल शब्दों पर आश्रित रहता है जब कि व्यंग्यार्थ शब्द, अर्थ, वक्ता के लहजे, प्रसंग आदि पर निर्भर होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में निश्चित रूप से अन्तर है, अतः दोनों का पार्थक्य ही मानना उचित है।

काव्यत्व का अधिवास कहाँ ?

ध्वनि के सम्बन्ध में यह भी एक विवाद प्रचलित है कि काव्यत्व का अधिवास उसके किस पक्ष में है :—वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ? इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इन्दौर वाले भाषण में कहा था—"वाच्यार्थ के अयोग्य और अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ? इसका बेधड़क उत्तर यही है—'वाच्यार्थ में', चाहे

वह योग्य हो या उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।" आगे उन्होंने 'साकेत' से उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया—"आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ। मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥"—इसका वाच्यार्थ (बहुत अत्युक्त, व्याहत तथा) बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला आप ही मिट जायगी, तब अपने प्रियतम लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या! पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में ही है, इस योग्य और बुद्धि-ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।"

पं० रामदहिन मिश्र ने आचार्य शुक्ल के इस मत का खंडन करते हुए शास्त्रीय आधार पर काव्यत्व का अधिवास व्यंग्यार्थ में ही सिद्ध किया है। इसी मत का समर्थन करते हुए डा० नगेन्द्र ने भी लिखा है—"किसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए उस वाक्य का कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है? उस वाक्य का वाच्यार्थ जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार रहता है? अथवा व्यंग्यार्थ जिसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाव की रमणीयता रहती है?....इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का सम्बन्ध रतिजन्य व्यग्रता में ही है जो व्यंग्य है।" आगे चलकर उन्होंने और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—शुक्ल जी का यह तर्क बडा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं; एक तो उर्मिला को 'अत्यन्त औत्सुक्य है' यह व्यंग्यार्थ नहीं रहा, वाच्यार्थ हो गया। औत्सुक्य की व्यंजना ही चित्त की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे, जिस अनुपपन्नता पर वे इतना बल दे रहे हैं, वह रमणीयता का कारण नहीं, उसका एक साधन मात्र है। उसका यहाँ वही योग है जो रस की प्रतीति में अलंकार का। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा पतीत होता है मानो विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षण में शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू चल गया हो।"

इस प्रकार यह विवाद एक साधारण बात से गम्भीर विषय बन गया है। इसके सम्बन्ध में हम दोनों ही आचार्यों के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए अपनी धारणा इस प्रकार निवेदित कर देना चाहते हैं—

(क) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से काव्यत्व का अधिवास कहाँ है? यह प्रश्न वैसा ही है जैसा कि यह पूछना कि प्राण धड़ में रहते हैं या सिर में? वस्तुतः जब तक सिर और धड़ संयुक्त रहते हैं तब तक ही दोनों में प्राण रहते हैं, दोनों को पृथक् कर देने पर दोनों ही प्राण-हीन हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जब तक वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में समन्वित है या व्यंग्यार्थ से आवृत्त है तब तक ही उक्ति में काव्य-तत्त्व की सत्ता रहती है।

(ख) ध्वनि की परिभाषा एवं उसके किए गए पाँच अर्थों के अनुसार व्यंग्यार्थ से सम्बन्धित शब्द, अर्थ (वाच्यार्थ), व्यंग्यार्थ, व्यंजना शक्ति, व्यंजित वस्तु, अलंकार, रस आदि ये सब 'ध्वनि' संज्ञा से ही अभिभाषित होने योग्य हैं। अतः व्यंग्यार्थ जैसी निधि

का स्वामी वाच्यार्थ भी सामान्य दरिद्र वाच्यार्थ ही नहीं रहता, अपितु वह ध्वनि नामधारी वैभवशालियों की ही पंक्ति में आ विराजता है।

(ग) यदि किसी ध्वनि-काव्य के दो अनुवाद तैयार करवाए जायँ, एक में केवल उसका वाच्यार्थ हो तथा दूसरे में उसका केवल व्यंग्यार्थ हो तो इस स्थिति में अवश्य ही काव्य-रसिक पहले अनुवाद को ही पसंद करेंगे; जैसे बिहारी के 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाले दोहे के दोनों प्रकार के अनुवाद देखिए—

१—अनुवाद (केवल वाच्यार्थ)

इस कली में न तो अभी पराग है, न ही मधुर मधु, और न ही यह पूरी तरह खिल ही पाई है। हे भ्रमर! तू अभी से इसके वशीभूत हो गया, न जाने आगे क्या हाल होगा?

२—अनुवाद (केवल व्यंग्यार्थ)

राजा जयसिंह से बिहारी कह रहे हैं कि तुम्हारी यह नवेली वधू अभी तो अल्प-वयस्क ही है, इसमें सौन्दर्य, यौवन एवं अनुराग का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाया है फिर भी तुम इसके वशीभूत हो रहे हो तो फिर न जाने आगे क्या हाल होगा?

निस्सन्देह यहाँ दूसरे अर्थ की अपेक्षा पहला ही अधिक आकर्षक है, और इसका कारण डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में दूसरे अर्थ का वाच्यार्थ में परिणत हो जाना है। यही तो बेचारे व्यंग्यार्थ की सबसे बड़ी दुर्बलता है—वह वाच्यार्थ के बिना जीवित नहीं रह पाता, जबकि वाच्यार्थ उसी के बल पर ऐश्वर्य एवं सम्मान का भागी होता है। अस्तु, आचार्य शुक्ल ने दुर्बल क्षणों में नहीं—अपितु सोच-समझकर व्यंग्यार्थ की इस दुर्बलता का लाभ उठाया है। बाकी, 'व्यंग्यार्थ-समन्वित वाच्यार्थ' का ही नाम ध्वनि है। अतः दोनों के सह-अस्तित्व में ही सौन्दर्य की सत्ता मानी जा सकती है, किसी एक में नहीं।

ध्वनि के भेद

ध्वनि के सर्वप्रथम दो भेद किए जाते हैं—(१) अभिधामूला और (२) लक्षणा-मूला। जैसा कि इनके नाम से ही प्रतीत होता है, अभिधामूला में सीधे अभिधेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है, जबकि लक्षणामूला में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसके भी अनेक उपभेद हैं। अभिधामूला के दो उपभेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। जहाँ वाच्यार्थ के साथ-साथ ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है—दोनों के बीच में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, वहाँ असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं। जैसे—"अरे! घी तो यहाँ रुपये का दो छटाँक मिलता है।" इसका व्यंग्यार्थ है कि यहाँ महँगाई बहुत है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बोध होने का क्रम प्रतीत हो जाता है, जैसे—

माली आवत देख कै कलियाँ करें पुकार।
फूले फूले चुनि लिए कालि हमारी बार॥

यहाँ माली के स्थान पर काल या मृत्यु सम्बन्धी जिस अर्थ का बोध होता है, वही व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अनुभूति के किंचित् वाद प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दो भेदों के भी अनेक भेद और किए गए हैं। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के छः प्रकार—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत, रचनागत और प्रबन्धगत तथा संलक्ष्यक्रम के तीन भेद—शब्द शक्त्युद्भव, अर्थ-शक्त्युद्भव और शब्दार्थोभय-शक्त्युद्भव किये गये हैं, जिनका सोदाहरण विवेचन पं० रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्यदर्पण' में किया है। हम यहाँ इन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण न समझकर छोड़ रहे हैं।

अब लक्षणामूला ध्वनि के भेदों को लीजिए। सर्वप्रथम इसके दो भेद—(१) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य एवं (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—किये गये हैं। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि लक्षणा में मूल वाच्यार्थ की उपेक्षा होती है, किन्तु उस उपेक्षा की भी दो कोटियाँ हैं—एक जहाँ थोड़ी उपेक्षा हो जाती है, दूसरी जहाँ बिल्कुल हो जाती है। लक्षणामूला ध्वनि के ये दोनों भेद क्रमशः इन्हीं दो कोटियों पर आश्रित हैं। अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य में वाच्यार्थ थोड़ा-सा अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है, जैसे—"राखी सजी पर कलाई नहीं है।" यहाँ 'कलाई' का व्यंग्यार्थ है भाई की कलाई या वह भाई जिसको राखी बाँधी जा सके। स्पष्ट है कि यहाँ 'कलाई' का अर्थ संक्रमित हो गया है। इसके विपरीत 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' में वाच्यार्थ का विल्कुल तिरस्कार हो जाता है; जैसे "पेट में तो चूहे कूद रहे हैं।" यहाँ व्यंग्यार्थ में 'चूहे' शब्द का अर्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है।

अभिधामूला की भाँति लक्षणामूला के भी अनेक उपभेद और होते हैं जिनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है। हम अपने लेख में इन सबको स्थान देना अनावश्यक समझते हैं। हाँ, एक अन्य प्रकार से ध्वनित काव्य का और वर्गीकरण किया गया है, जो उल्लेखनीय है। इस वर्गीकरण के अनुसार ध्वनि के तीन भेद होते हैं—(१) रस ध्वनि, (२) अलंकार ध्वनि और (३) वस्तु ध्वनि। इन तीनों में क्रमशः रस, अलंकार और वस्तु (तथ्य या विषय) की व्यंजना होती है तथा इनमें रस ध्वनि को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय ने रस को अपने यहाँ सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समझौता कर लिया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय का महत्त्व

जैसा कि हमने अभी कहा है, ध्वनि-सम्प्रदाय ने रस को सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समझौता कर लिया, किन्तु फिर भी यह विचारणीय है कि रस और ध्वनि में से किसका अधिक महत्त्व है? क्या ध्वनि इतनी व्यापक है कि रस उसमें समा जाय? हमारे विचार से ऐसा नहीं है। रस यदि साध्य है तो ध्वनि उसकी साधिका मात्र है। रस का सम्बन्ध काव्य के आधारभूत तत्त्वों से है जबकि ध्वनि केवल एक अभिव्यक्ति-प्रणाली है। यह ठीक है कि वह अभिव्यक्ति प्रणाली रसानुभूति के लिए सहायक सिद्ध होती है किन्तु फिर भी उसे आधारभूत तत्त्वों के समान महत्त्व नहीं दिया जा सकता। फिर यदि प्रतीयमान अर्थवाली धारणा को उसके मूल अर्थ में लिया जाय तो कवि को

अपनी सारी बात ऐसी भाषा में कहनी पड़ेगी, जहाँ दोहरे अर्थ हों। यह ध्यान रहे कि ध्वनि-सम्प्रदाय वालों ने रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि आदि के भेद बना करके अपनी इस दोहरे अर्थ वाली धारणा में थोड़ा संशोधन कर लिया, किन्तु फिर भी ध्वनि का मूल लक्ष्य तो प्रतीयमान अर्थ ही है। इसके अतिरिक्त ध्वनि-सम्प्रदाय अपने आपमें एक पूर्ण सिद्धान्त नहीं है, अन्ततः वह रस और अलंकार सम्प्रदाय को आधार बनाकर ही आगे बढ़ सका।

ध्वनि-सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों की भाँति कई त्रुटियाँ और असंगतियाँ भी हैं। एक ओर ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानते हैं तो दूसरी ओर ध्वनि के पाँच अर्थों में प्रतीयमान अर्थ के अतिरिक्त ध्वनि के अन्य अवयव भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता, अप्रधानता और शून्यता के आधार पर ही काव्य को उत्तम, मध्यम एवं अधम घोषित कर देना भी ध्वनिवादियों का अतिवाद है। सही बात तो यह है कि प्रतीयमान अर्थ भी चारुत्व या सौन्दर्य के हेतुओं में से एक है—यदि किसी अन्य हेतु से काव्य में चारुत्व आ जाता है तो काव्य मानने में क्या आपत्ति है? हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वस्तुतः काव्य की आत्मा वह चारुत्व या सौन्दर्य ही है जिसका उल्लेख बार-बार ध्वन्यालोककार द्वारा हुआ है तथा ध्वनि, अलंकार, रीति आदि ये सब उसी चारुत्व की उपलब्धि के साधन मात्र हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि ध्वनि का स्थान इन साधनों में महत्त्वपूर्ण है।

: तेरह :

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

१. 'वक्रोक्ति' शब्द की व्याख्या ।
२. वक्रोक्ति की परम्परा ।
३. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण ।
४. वक्रोक्ति : स्वरूप और भेद ।
५. वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद ।
६. उपसंहार ।

'वक्रोक्ति' का अर्थ है वह उक्ति जिसमें वक्रता हो; वक्रता का शाब्दिक अर्थ है, टेढ़ापन, असामान्य, विचित्र आदि । वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने वक्रता का अर्थ 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न' अर्थात असामान्य या विचित्र ही किया है । अस्तु, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विशिष्टता व विचित्रता में है तथा ऐसी उक्ति ही काव्य की आत्मा है । इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य कुन्तक ने लगभग दसवीं शताब्दी में अपने नये मत की स्थापना करते हुए 'वक्रोक्तिजीवितम्' की रचना की । इस ग्रंथ में प्रतिपादित आधारभूत सिद्धान्त चाहे हमें स्वीकार्य हो या न हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य कुन्तक में पर्याप्त प्रतिभा एवं नूतन विवेचन की क्षमता थी । यद्यपि परवर्ती विद्वानों ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को अपेक्षित महत्त्व प्रदान नहीं किया, किन्तु फिर भी हमारे विचार में मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से इसकी देन ध्वनि-सम्प्रदाय से कम नहीं है ।

वक्रोक्ति की परम्परा

यद्यपि वक्रोक्ति का पूर्ण भाग्योदय दसवीं शताब्दी में कुन्तक के द्वारा ही हुआ, किन्तु इससे पूर्व भी उसका जन्म एवं विकास हो चुका था । वस्तुत: वक्रोक्ति का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं अलंकार-शास्त्र का है । भामह (छठी शती) ने अपने 'काव्यालंकार' में वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए इसे सब अलंकारों की जननी माना है । उनके विचारानुसार वक्रोक्ति के अन्तर्गत शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता सम्मिलित है । यह वक्रोक्ति ही इष्ट (अर्थ) और वाणी (शब्द) की मूल अलंकार है—या यों कहिए कि अलंकार की मूल आधार है । साथ ही उन्होंने इसे अतिशयोक्ति की ही पर्यायवाची माना है । यह ध्यान रहे कि भामह अतिशयोक्ति को भी सभी अलंकारों की जननी मानते हैं । इस प्रकार भामह वक्रोक्ति को काव्यत्व का आधारभूत तत्त्व मान लेते हैं ।

आगे चलकर दंडी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से पृथक् मानते हुए इसे भामह की भाँति विभिन्न अलंकारों का मूलाधार माना है। किन्तु वामन ने इसे एक विशिष्ट अलंकार मात्र मानकर इसके क्षेत्र को संकुचित कर दिया। वामन परवर्ती रुद्रट तो वक्रोक्ति के और भी अधिक विरोधी निकले—उन्होंने इसका स्वरूप इतना अधिक संकीर्ण कर दिया कि वह केवल एक शब्दालंकार मात्र रह गई। इस प्रकार भामह से लेकर रुद्रट तक वक्रोक्ति के क्रमिक ह्रास की पूरी एक शृंखला चलती रहती है। यह आश्चर्य की बात है कि इस वैभव-वंचिता वक्रोक्ति को ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य आनन्दवर्धन ने इतनी अधिक सम्मान प्रदान किया कि एक ही बार में अपनी समस्त खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः पा सकने में समर्थ हुई। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा—

सैषा । सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः, कोऽलंकारोऽनया बिना ॥[1]

अर्थात् यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा अर्थ चमक उठता है। कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना अलंकार है ही क्या ?

सम्भवतः आनन्दवर्धन की इस प्रशंसा के कारण ही कुन्तक को इतना बल मिला कि वे ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध में वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित कर सके। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वक्रोक्ति के प्रति कुन्तक का दृष्टिकोण आनन्दवर्धन से पर्याप्त व्यापक है। किन्तु परवर्ती आचार्यों और विद्वानों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया, उसका व्यापक रूप उन्हें मान्य नहीं हो सका।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आधारभूत सिद्धान्तों को समझने से पूर्व उसके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से परिचित हो जाना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही अपनी काव्य सम्बन्धी अनेक धारणाओं को व्यक्त किया है। सबसे पूर्व वे 'काव्य' शब्द की विवेचना करते हुए बताते हैं—'कवेः कर्म काव्यम्' अर्थात् कवि का कर्म ही काव्य है। यहाँ प्रश्न उठता है—कवि किसे कहते हैं ? कुन्तक इस सम्बन्ध में मौन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'कवि' शब्द की व्याख्या करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। खैर, आगे चलकर वे काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

अर्थात्—काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देनेवाली सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार-युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। आचार्य कुन्तक की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि एक तो वे काव्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व देते हैं, दूसरे वे प्रत्येक रचना के लिए 'आह्लाद-कारिणी' होना आवश्यक मानते

---

१. यह उक्ति मूलतः भामह की है जिसे आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

हैं। डा० नगेन्द्र ने कुन्तक की इन्हीं मान्यताओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) आचार्य कुन्तक के विचार से काव्य में वस्तु-तत्त्व एवं माध्यम या अनुभूति और अभिव्यक्ति—दोनों का तादात्म्य होता है।

(२) काव्य का वस्तु-तत्त्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है अर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो अति प्रचलित होने के कारण प्रभावहीन हो गये हों।

(३) काव्य की अभिव्यंजना-शैली असाधारण या अद्वितीय होती है।

(४) अलंकार काव्य का मूल तत्त्व है, केवल बाह्य भूषण मात्र नहीं।

(५) काव्य का काव्यत्व कवि-कौशल पर आश्रित है—दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है।

(६) काव्य की कसौटी काव्य-मर्मज्ञों का मनःप्रसादन है।

उपर्युक्त निष्कर्षों से स्पष्ट है कि कुन्तक का दृष्टिकोण विशुद्ध कलावादी या सौन्दर्यवादी था। किन्तु आधुनिक कलावादियों की भाँति वह एकांगी नहीं था। आधुनिक कलावादी केवल अपने मनःप्रसादन को ही काव्य की कसौटी मानता है जबकि कुन्तक विद्वान् पाठकों की अनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं—इसी अन्तर के कारण कुन्तक संकीर्ण व्यक्तिवाद से ऊपर उठ जाते है।

वक्रोक्ति : स्वरूप और भेद

जैसा कि हमने आरम्भ में कहा था, आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया था। सर्वप्रथम तो उन्होंने उसकी परिभाषा ही अत्यन्त व्यापक रूप में की ; दूसरे, उसके भेदोपभेद का निरूपण इतने विस्तार से किया कि उसमें वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-कल्पना तक काव्य के सभी अंगों का सन्निवेश हो जाता है। कुन्तक द्वारा की गई वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार है—

उभावेतावलङ्कार्यो तयोः पुनरलङ्कृति ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते ॥—१।१

अर्थात् 'यह दोनों (शब्द और अर्थ) अलंकार्य होते है तथा विदग्धतापूर्ण कथन रूपी वक्रोक्ति ही उन दोनों की अलंकार होती है।'

यहाँ अलंकार का अर्थ व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए 'सौन्दर्य' समझना चाहिए। उद्धृत पंक्तियों में वक्रोक्ति को न केवल शब्द से या अर्थ से—अपितु दोनों से सम्बद्ध माना गया है। वह मूल वस्तु न होकर उसकी साज-सज्जा होती है; उसमें कथन-शैली का समस्त चारुत्व समन्वित हो जाता है।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किये हैं—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता, (३) पद-परार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। यहाँ हम प्रत्येक की अलग-अलग विवेचना करेंगे।

१. वर्ण-विन्यास-वक्रता—कुन्तक के शब्दों में "जिसमें एक या दो या बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार ग्रथित होते हैं, वह वर्ण-विन्यास-वक्रता अर्थात् वर्ण-

रचना की वक्रता कही जाती है।" यहाँ वर्ण से तात्पर्य व्यंजन से है। वस्तुतः व्यंजनों की इस आवृत्ति को अलंकार-सम्प्रदाय के शब्दों में अनुप्रास का नाम दिया जा सकता है। इस वर्ण-विन्यास-वक्रता के भी तीन प्रकार माने गये हैं—(१) वर्गान्त से युक्त स्पर्श अर्थात् क से लेकर म तक के व्यंजनों का ङ, ञ, ण, न, म आदि से योग। (२) तलनादयः—अर्थात् त, ल, न आदि द्वित्व रूप में बार-बार आवृत्त हों। (३) उपर्युक्त दोनों भेदों के अतिरिक्त तीसरा भेद यह है कि जहाँ 'र' का बार-बार प्रयोग हो। वस्तुतः ये भेद भी रीति-गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि—के समन्वय की दृष्टि से किए गए प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' के और भी अनेक उपभेद किये गए हैं जिससे सभी प्रकार के अनुप्रासों, वृत्तियों, यमकों आदि का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। साथ ही आचार्य कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के लिए कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध भी निश्चित किये है। जैसे—एक तो वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए। दूसरे, वर्ण-विन्यास-वक्रता के लिए अत्यन्त चेष्टा करना या असुन्दर वर्णों का प्रयोग उचित नहीं है। तीसरे, उसमें नवीन सौन्दर्य होना चाहिए। चौथे, उसमें प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। पाँचवें, वह श्रुति-सुखद भी होनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ने वक्रता का उसी सीमा तक ही समर्थन किया है, जहाँ तक कि वह काव्य के सहज स्वाभाविक सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक सिद्ध हो—कृत्रिम रूप में प्रयुक्त वक्रोक्ति का समर्थन वे नहीं करते।

२. **पद-पूर्वार्ध-वक्रता**—शब्द के आरम्भ में उत्पन्न वक्रता या यों कहिए कि मूल धातु से सम्बन्धित वक्रता को ही पद-पूर्वार्ध-वक्रता कहते है। इसके भी आठ भेद हैं: १. रूढि-वैचित्र्य-वक्रता, २. पर्याय-वक्रता, ३. उपचार-वक्रता, ४. विशेषण-वक्रता, ५. संवृत्ति-वक्रता, ६. वृत्ति-वक्रता, ७. लिंग-वैचित्र्य-वक्रता, ८. क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता। इनका पृथक्-पृथक् विवेचन यहाँ किया जाता है :—

(१) **रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता**—जहाँ कवि अपनी प्रतिभा के बल पर किसी शब्द के रूढ़ या वाच्य अर्थ को इस प्रकार परिवर्तित कर दे जिससे उक्ति में सौन्दर्य आ जाय, उसे रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता कहते हैं। जैसे—

(क) तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं जब रवि-कर सों विकसाहि॥

(ख) सीता हरण तात जनि कहहु पिता सन जाई।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दशानन आई॥

उपर्युक्त अंशों में क्रमशः 'कमल' और 'राम' रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता के उदाहरण हैं।

(२) **पर्याय-वक्रता**—एक ही अर्थ के द्योतक अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं किन्तु कवि उनमें से किसी एक को चुनकर उक्ति में वक्रता या सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है—इसी को पर्याय-वक्रता कहते हैं। जैसे—

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी !'

यहाँ यदि 'अबला' के स्थान पर उसका दूसरा पर्यायवाची 'नारी' रख दिया जाय तो उसका मूल सौंदर्य नष्ट हो जायगा। अस्तु, पर्यायवाची का कवि द्वारा ऐसा चुनाव ही पर्याय-वक्रता का उदाहरण है।

(३) **उपचार-वक्रता**—'उपचार' शब्द का अर्थ है—"अत्यन्त विभिन्न पदार्थों में अत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता या एकता, जैसे, 'मुख रूपी चन्द्र'।" जहाँ भेद होते हुए भी अभेद का अनुभव हो, ऐसी वक्रता को ही उपचार-वक्रता कहते है। अमूर्त्त पर मूर्त्त का आरोप, अचेतन पर चेतन का आरोप, तथा रूपकादि अलंकार इसी के अन्तर्गत आते हैं। इसका एक उदाहरण—

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर,
केवल प्रशान्ति को रहा चीर।

यहाँ 'तीर' और 'चीर' उपचार-वक्रता के उदाहरण हैं क्योंकि झींगुर का स्वर मूलतः भिन्न होता हुआ भी यहाँ चीरने वाले तीर से अभिन्न प्रतीत हो रहा है।

(४) **विशेषण-वक्रता**—जहाँ विशेषणों की विचित्रता या वक्रता के कारण काव्य में सौंदर्य हो, उसे विशेषण-वक्रता कहते है। उदाहरण—

सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक—दृग-पात।

(५) **संवृत्ति-वक्रता**—जहाँ सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण या गोपन करके वक्रता उत्पन्न की जाती है। जैसे—

'वह चितवनि औरे कछु, जिहि बस होत सुजान!'
'धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ!'

(६) **वृत्ति-वक्रता**—यहाँ वृत्ति से अभिप्राय व्याकरण के समास, तद्धित आदि से है। इनसे सम्बन्धित वक्रता को ही वृत्ति-वक्रता कहते है —जैसे—

'को घटि ए वृषभानुजा, वै हलधर के वीर।'

यहाँ वृषभानुजा में समास की वक्रता है।

(७) **लिंग-वैचित्र्य-वक्रता**—यह वक्रता लिंग-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होती है, यथा—

(क) कामायनी में श्रद्धा के लिए—

कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ सुकुमार!

(ख) पंत की निम्नांकित पंक्ति में—

सिखा दो ना हे मधुप-कुमारी!
मुझे भी अपने मीठे गान।

भौंरे का सामान्यतः पुल्लिग में प्रयोग होता है, जबकि यहाँ उसे स्त्री-लिंग में प्रयुक्त किया गया है जो कि चारुत्ववर्द्धक है।

(८) **क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता**—क्रिया सम्बन्धी विचित्रता। इसके अनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उन्नत वक्षों में आलिङ्गन-सुख लहरों सा तिरता
परिहै मनो रूप अब धरि च्वै।
आनन ते छलकी परैं आँखें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद-पूर्वार्ध-वक्रता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें लक्षण और शब्द-सम्बन्धी विचित्रता के अधिकांश प्रकार समन्वित हो जाते हैं।

३. **पद-परार्ध-वक्रता**—इसका सम्बन्ध शब्द के उत्तरार्द्ध अंश या प्रत्यय आदि से है। इसके भी अनेक भेद किये गये हैं किन्तु यहाँ केवल कुछ उदाहरण देकर ही आगे बढ़ जायेंगे—

पिय सों कहहु संदेसड़ा हे भौंरा, हे काग।
विकम्पित मृदु पुलकित गात।

यहाँ 'संदेसड़ा' और 'विकम्पित' में क्रमशः 'ड़ा' और 'वि' के प्रयोग के कारण जो सौन्दर्य आ गया है वह पद-परार्ध-वक्रता का उदाहरण है।

४. **वाक्य-वक्रता**—यहाँ वक्रता का आधार पूरा वाक्य होता है। स्वयं वक्रोक्तिकार के शब्दों में—"वस्तु का उत्कर्ष-युक्त, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन अर्थ या वस्तु की वक्रता कहलाती है।" यह लक्षण जरा स्पष्ट है, स्पष्ट शब्दों में कहें तो जहाँ किसी वस्तु या विषय के स्वाभाविक रूप का ही ऐसा सहज वर्णन हो कि उसमें किसी प्रकार का अर्थ-सौन्दर्य उत्पन्न हो गया हो, उसे वाक्य-वक्रता कहते हैं। इसके भी अनेक भेद किये गये हैं—जिनमें मुख्य दो हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) अर्थालंकार। दोनों के क्रमशः दो उदाहरण—

(१) मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीन्हों,
तोहीं जसुमति कब जाओ।

(२) उषा सुनहले तीर बरसती,
जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।

वस्तुतः वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत प्रमुख अर्थालंकारों का समावेश हो जाता है।

५. **प्रकरण-वक्रता**—प्रकरण-वक्रता की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती। हमारे विचार से प्रसंगगत वक्रता ही प्रकरण-वक्रता मानी जानी चाहिए। इसके भी अनेक भेद किये गये हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—

(क) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना।
(ख) प्रसंग की मौलिकता।
(ग) पूर्व-प्रचलित प्रसंग में संशोधन।
(घ) रोचक प्रसंगों का विस्तृत वर्णन।
(ङ) प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना।

(च) प्रसंगों का पूर्वापर क्रम से अन्वय।

विस्तार-भय से यहाँ इनका विस्तृत विवेचन नहीं किया जायगा, वैसे नाम से इनका अर्थ स्पष्ट है।

६. **प्रबन्ध-वक्रता**—इसके अन्तर्गत प्रबन्ध-काव्य, महाकाव्य, नाटक, (उपन्यास) आदि का सौन्दर्य आता है। इसके भी ६ भेद बताये गये हैं : (१) मूल-रस-परिवर्तन—ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि जिससे उसका मूलभाव और रस परिवर्तित हो जाय। (२) नाटक के चरित्र में संशोधन। (३) कथा के मध्य में किसी ऐसे कार्य की अवतारणा करना जो कि प्रधान कार्य की सिद्धि में योग दे। (४) नायक द्वारा मुख्य फल के साथ-साथ अनेक फलों की प्राप्ति। (५) प्रबन्ध का नामकरण प्रधान कथा या घटना का सूचक। (६) एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रबन्धों का वैचित्र्य वैविध्य।

वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट है कि कुन्तक ने उसे इतना व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया था कि जिससे वह काव्य के सभी अवयवों एवं क्षेत्रों से सम्बन्धित हो सके। वर्ण-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक के सभी कवि-व्यापार वक्रोक्ति के इस व्यापक स्वरूप के अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्य से परवर्ती विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया। आगे चलकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार मात्र रह गई जिसके दो भेद माने गये—(१) काकु वक्रोक्ति एवं (२) श्लेष वक्रोक्ति। काकु में स्वर के उतार-चढ़ाव या बोलने के लहजे के द्वारा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। जैसे—

मैंने कहा—प्रिये ! जाओ मत, बैठो !
वह भोली समझी कि, जाओ, मत बैठो !

श्लेष-वक्रोक्ति में शब्द के अन्य अर्थ को ग्रहण करके अर्थ बदल दिया जाता है। यथा—"अरे **घनश्याम**, हो तो यहाँ क्या काम, जाकर वर्षा करो।" वस्तुतः वक्रोक्ति का यह संकुचित स्वरूप कुन्तक की मान्यता के सर्वथा विपरीत है। यह संकुचित रूप उसे काव्य की आत्मा तो क्या, उसके शरीर की एक अंगुली बनने लायक भी नहीं छोड़ता।

वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद

एक बार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त का ही विलायती उत्थान बताया था। तब से ही इन दोनों का नाम साथ-साथ लेने की एक परम्परा बन गई है, किन्तु वस्तुतः दोनों में गहरा भेद है। अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे की मान्यता थी कि कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से है जबकि कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से असम्बद्ध नहीं मानते। दूसरे, क्रोचे उक्ति की सहज स्वाभाविकता में काव्य का सौन्दर्य मानते हैं, जबकि कुन्तक वक्रता या विचित्रता को ही सौन्दर्य का मूल आधार बताते हैं। तीसरे, क्रोचे मानसिक अभिव्यंजना को ही प्रमुख मानते हैं, बाह्य अभिव्यक्ति उनके लिए गौण है, इसके विपरीत कुन्तक बाह्य अभिव्यक्ति—शाब्दिक अभिव्यक्ति की ही चर्चा करते हैं, क्रोचे की तरह मानसिक अभिव्यक्ति की वे कल्पना ही नहीं करते। चौथे, क्रोचे कला को अविभाज्य मानते हैं

जबकि कुन्तक ने उसके विभिन्न भेदापभेदों का निरूपण किया है। पाँचवें, क्रोचे केवल कवि की आत्म-तुष्टि को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं जबकि कुन्तक इसके स्थान पर सहृदय के मन को प्रसन्नता प्रदान करना लक्ष्य मानते हैं। वस्तुतः इस प्रकार अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति-सिद्धान्त में गहरा अन्तर दृष्टिगोचर होता है, किन्तु डा० नगेन्द्र ने कई ऐसे बिन्दु भी ढूंढ़े हैं जहाँ दोनों में साम्य हो जाता है। जैसे—

(क) दोनों अभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण-तत्त्व मानते हैं।

(ख) दोनों ने काव्य में कल्पना-तत्त्व को प्रमुखता दी है।

(ग) दोनों ही मूलतः उक्ति को अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं। क्रोचे की भाँति कुन्तक ने भी अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना है।

(घ) दोनों ही सफल अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्य-अभिव्यंजना मे श्रेणियाँ नहीं मानते।

यद्यपि डा० नगेन्द्र ने अपनी प्रतिभा शक्ति के बल पर दोनों में थोड़ा साम्य खोज निकाला है, किन्तु यह साम्य भी केवल शाब्दिक है, ऊपरी है—अर्थ की दृष्टि से भीतर प्रवेश किया जाय तो वहाँ भी दोनों में गहरा वैषम्य दृष्टिगोचर होगा। उदाहरण के लिए इसी निष्कर्ष को लीजिए, कि दोनों ही अभिव्यंजना को काव्य का प्राण-तत्त्व मानते हैं। अभिव्यंजना से सामान्यतः काव्य के माध्यम या शैली का तात्पर्य लिया जाता है किन्तु क्रोचे के लिए अनुभूति वस्तु से अलग शैली का कोई अस्तित्व ही नही है जबकि कुन्तक शैली की वक्रता को ही काव्यत्व का सारा श्रेय दे डालते हैं। अतः कुन्तक और क्रोचे के अभिव्यंजना सम्बन्धी दृष्टिकोणों में आकाश-पाताल का अन्तर है। इसी प्रकार उक्ति की अखण्डता के सम्बन्ध में भी दोनों का दृष्टिकोण परस्पर विरुद्ध है। क्रोचे वस्तुतः उसे अखण्डता मानते हैं जबकि कुन्तक वर्ण-विन्यास-वक्रता, पद-परार्ध-वक्रता आदि के भेदों का निरूपण करके उसे खण्ड-खण्ड रूप में देखते हैं। अस्तु, जैसा कि आगे चलकर डा० नगेन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है, यही कहना उचित है कि दोनों के सिद्धान्तों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है।

उपसंहार

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के उपर्युक्त पर्यालोचन के अनन्तर हम अन्त में कह सकते हैं कि इसके सिद्धान्त अधिक मान्यता एवं प्रचार नहीं पा सके, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। वक्रोक्ति के व्यापक रूप में रीति, अलंकार, ध्वनि, रस आदि सभी पूर्वप्रचलित सिद्धान्तों का समन्वय किसी न किसी मात्रा में हो जाता है। कुन्तक की 'वर्ण-विन्यास वक्रता' में रीति के गुणों का, 'पद पूर्वार्ध-वक्रता' और 'पद परार्ध-वक्रता' में शब्दालंकारों का, 'वाक्य-वक्रता' में अर्थालंकारों का, 'प्रकरण-वक्रता' में ध्वनि का और 'प्रबन्ध-वक्रता' में रस का प्रतिनिधित्व माना जा सकता है। वस्तुतः वर्ण-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक का समस्त कवि-कौशल एवं काव्य-सौन्दर्य इसमें किसी न किसी रूप में समाविष्ट हो जाता है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि इतना व्यापक होते हुए भी यह सिद्धान्त युग की मान्यता प्राप्त करने में सफल क्यों न हो सका? हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं। एक तो यह सिद्धान्त इतनी देर से आया कि इससे पूर्व रस, अलं-

कार, ध्वनि, रीति आदि विद्वानों के हृदय में स्थान बना चुके थे। अब लोगों में इतना उत्साह नहीं रह गया था कि वे किसी नव-आविष्कृत सिद्धान्त को समझने का कष्ट करते। दूसरे, यह सिद्धान्त शैली-पक्ष की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता जैसी कि रस-सिद्धान्त करता है। वस्तुतः जिन पक्षों की वक्रोक्ति-सिद्धान्त व्याख्या करता है उन्हीं की रीति, अलंकार, ध्वनि से भी हो जाती है। तीसरे, इसका विवेचन तथा भेदोपभेदों का वर्गीकरण भी थोड़ा अस्पष्ट एवं जटिल हो गया है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से यह लोक-प्रिय नहीं हो सका। किन्तु यदि हम 'लोक-प्रियता' को ही किसी सिद्धान्त की कसौटी न मानें तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त आचार्य कुन्तक की अद्भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिन्तन के समन्वय से उद्भूत एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से यदि इसे रीति, अलंकार और ध्वनि सिद्धान्त से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बता दिया जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा—हाँ, रस-सिद्धान्त से अवश्य यह हलका पड़ता है। अस्तु, प्राचीन आचार्यों के शब्दों में पुनः कहा जा सकता है—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति····कोऽलंकारोऽनया विना" (यह सर्वत्र वक्रोक्ति ही है····कौन-सा सौन्दर्य है जो इसके बिना हो।)

: चौदह :

औचित्य-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

१. भूमिका।
२. औचित्य की पूर्व-परम्परा।
३. औचित्य का लक्षण।
४. औचित्य के अंग।
५. औचित्य-अनौचित्य के कुछ उदाहरण।
६. क्षेमेन्द्र-परवर्ती आचार्य।
७. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और औचित्य।
८. उपसंहार।

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में पाँच प्रमुख सम्प्रदाय—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति—प्रतिष्ठित हो चुके थे किन्तु फिर भी काव्य के आधारभूत तत्त्व के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका। इतना ही नहीं, अनेक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण 'काव्य की आत्मा' संबंधी विवाद सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझ गया था—रस, अलंकार रीति आदि प्रत्येक सम्प्रदाय अपने-अपने मत को प्रमुखता देते थे तथा दूसरे के मत को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी स्थिति में काव्य के सामान्य अध्येता के सामने यह समस्या थी कि वह किस मत को माने और किसको नहीं। ठीक इसी समय आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की स्थापना करके इस विवाद को सुलझाने में गहरा योग दिया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस, गुण, अलंकार आदि सभी का महत्त्व है, किन्तु उसी अवस्था में जबकि ये सब औचित्य से समन्वित हों। औचित्य के अभाव में ये सभी तत्त्व व्यर्थ है। इस प्रकार औचित्य सम्प्रदाय इन सबके लिए उचित समन्वय का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ।

औचित्य की पूर्व-परम्परा

यद्यपि 'औचित्य' की एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्थापना करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है, किन्तु उनसे पूर्व भी अनेक आचार्य इसकी चर्चा सामान्य रूप से कर चुके थे (भरत ने नाट्य-शास्त्र में औचित्य का आधार लोक की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप)को मानते हुए लिखा—'जो लोक-सिद्ध है वह सब अर्थों में सिद्ध है और नाट्य का जन्म लोक-स्वभाव से हुआ है, अतः नाट्यप्रयोग में लोक ही प्रमाण है।' आगे चल-कर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि जैसा पात्र हो, उसी के अनुरूप उसकी भाषा, वेष, चरित्र आदि होने चाहिए—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गति-प्रचारः ।
गति-प्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ।

अर्थात् 'वय के अनुरूप वेष होना चाहिए, वेष के अनुरूप गति, गति के अनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए ।' इस प्रकार आचार्य भरत ने स्वाभाविकता के रूप में औचित्य का प्रतिपादन किया है—इतना अवश्य है कि उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया ।

आगे चलकर दंडी ने भी यह संकेत किया कि काव्य में औचित्य का स्थान है । उपमा के प्रसंग में उन्होंने बताया कि यदि सहृदयों को उद्वेग न हो, तो उपमान और उपमेय के लिंग-वचन आदि में परस्पर भेद होना भी कोई दोष नहीं है । वस्तुतः भामह, दंडी, वामन, रुद्रट आदि का दोष-विवेचन एक प्रकार से औचित्य के अभाव या अनौचित्य की ही व्याख्या है । किन्तु औचित्य की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने वाले आचार्यों में सर्वप्रथम आनन्दवर्धन आते हैं । उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके छः प्रकार निश्चित किए—(१) रसौचित्य, (२) अलंकारौचित्य, (३) गुणौचित्य, (४) संघटनौचित्य, (५) प्रबन्धौचित्य, (६) रीति-औचित्य । इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है ।

(१) **रसौचित्य**—इसका सम्बन्ध रस से है । काव्य में रस का उचित रूप से प्रतिपादन तब ही सम्भव है जबकि उसमें रसौचित्य हो । रसौचित्य के लिए आनन्दवर्धन ने मुख्यतः दस नियम निर्धारित किए हैं—(क) शब्द और उसके अर्थ का नियोजन औचित्यपूर्ण हो (ख) व्याकरण की दृष्टि से प्रयोग शुद्ध हो (ग) प्रबन्धकाव्य में संधि, घटना आदि का प्रयोग रसानुकूल हो (घ) विरोधी रस के अंगों का वर्णन न हो (ङ) गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का इतना विस्तार न हो कि उससे मुख्य रस ही दब जाय (च) अंगरस और अंगीरस का सम्बन्ध आपस में ठीक अनुपात में हो (छ) अन्य रसों की नियोजना में पारस्परिक अनुकूलता हो (ज) प्रबन्ध-काव्य या नाटक में रस का प्रयोग उचित अवसर पर हो (झ) विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के वर्णन में औचित्य की रक्षा की जाय । हमारे विचार से इनमें से कुछ भेद तो अनावश्यक हैं । चौथे भेद (घ) में जो बात कही गई है, लगभग उसी को अगले तीन भेदों (ङ, च, छ) में दोहराया गया है । इसी प्रकार के अन्य भेदों में से भी अनेक को निकाला जा सकता है । रसौचित्य के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में रस के विभिन्न अवयवों तथा विरोधी रसों का समन्वय उचित रूप से होना चाहिए, तब ही उससे रस-निष्पत्ति हो सकेगी ।

(२) **अलंकारौचित्य**—इसके भी पाँच भेद बताये गये हैं—(क) अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हो (ख) अलंकार लाने के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना चाहिए (ग) अलंकार भावों की पुष्टि में योग देने वाले होने चाहिए (घ) उनका स्थान

काव्य में गौण होना चाहिए, मुख्य नहीं (ङ) यमक, श्लेष आदि शब्दालंकार कोरे चमत्कार के लिए प्रयुक्त न हों।

(३) **गुणौचित्य**—काव्य में विभिन्न गुणों का समन्वय रस के अनुकूल होना चाहिए। जैसे—ओज का वीर रस में, माधुर्य का शृंगार और करुण में।

(४) **संघटनौचित्य**—संघटना या रचना का उद्देश्य रस है, अतः उसमें विभिन्न तत्त्वों का नियोजन रस के अनुकूल होना चाहिए। इसके भी विचार नियामक हैं—

(क) संघटना रसानुकूल हो।

(ख) पात्र की प्रकृति, स्थिति तथा मानसिक दशा के अनुसार इसकी योजना हो।

(ग) प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल हो।

(घ) काव्य की प्रकृति के अनुकूल हो।

(५) **प्रबन्धौचित्य**—प्रबन्धगत औचित्य के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नांकित नियम निर्धारित किए है—(क) प्रसिद्ध तथा कल्पित वृत्तों में समानुपात रहना चाहिए। (ख) वर्ण्य वस्तु का प्रयोग प्रकृत रस के विपरीत नहीं होना चाहिए। (ग) जो घटनाएँ काव्य के मुख्य ध्येय में बाधक सिद्ध होती हों उन्हे परिवर्तित कर देना चाहिए। (घ) प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार अंगीरस की दृष्टि से करना चाहिए। (ङ) वर्णन विषय से दूर न जाना चाहिए। (च) अंग-घटना का विस्तार इतना न किया जाय कि वह अंगी बन जाय। (छ) प्रकृत रस के अनुकूल ही घटनाओं का चयन होना चाहिए। (ज) पात्रों की प्रकृति परिवर्तित न करनी चाहिए।

(६) **रीति-औचित्य**—रीति का प्रयोग भी उचित रूप से यानी वक्ता, रस, अलंकार तथा काव्य के स्वरूप के अनुकूल करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने औचित्य का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार से किया था। उनके अनन्तर कुन्तक एवं महिम भट्ट ने भी इसका उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में अपने ग्रंथों में किया। कुन्तक ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा—"जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो अथवा जहाँ वक्ता या श्रोता के अति स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती हो वह औचित्य है।" दूसरे शब्दों में किसी वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन ही औचित्य है। महिम भट्ट ने अपने 'व्यक्ति-विवेक' में औचित्य के दो भेद माने—शब्दौचित्य और अर्थौचित्य। इस प्रकार औचित्य की परम्परा चली आ रही थी कि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार' लिखकर उसे काव्य का प्राण घोषित किया और साथ ही उसे अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया।

औचित्य का लक्षण

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा—"जो उसके योग्य है आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं—उसका भाव औचित्य है।" इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए डा० मनोहर गौड़ ने लिखा है—"काव्य में भी संयोजन-क्रिया की प्रमुखता रहती है। कल्पना का यही कार्य होता है। जीवन में अनेकत्र अनेकदा दृष्ट एवं

अनुभूत पदार्थों का किसी भाव या कथा के सहारे सामंजस संयोजन किया जाता है। इस सामंजस्य को सादृश्य अथवा संतुलन को ही औचित्य कहा जाता है। यह सापेक्ष वस्तु है। नीम का चारा गौ के लिए असदृश और ऊँट के लिए सदृश है। अधिक भूषणों का उपयोग ग्रामीण स्त्री के लिए उचित एवं नागरिक के लिए अनुचित है। इस प्रकार औचित्य एक विधेयात्मक तत्त्व सिद्ध होता है। यही समस्त सौन्दर्य का मूल है।" हमारे विचार से औचित्य को आधुनिक शब्दावली में 'स्वाभाविकता' कहना अधिक उचित होगा। काव्य मे घटनाओं और पात्रों के आयोजन में स्वाभाविकता होने पर ही वह प्रेषणीय हो पाता है। अस्तु, स्वाभाविकता ही औचित्य है।

औचित्य के अंग

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखते हुए औचित्य के २८ अंग या (भेद) निर्धारित किए हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रबन्धार्थ, (४) गुण, (५) अलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (८) कारक, (९) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१९) सत्त्व, (२०) अभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सार-संग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) अवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) आशीर्वाद और (२८) काव्य के अन्य विविध अंग। इन २८ तत्त्वों को सुगमता की दृष्टि से निम्नांकित चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) **शब्द**—पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात।

(ख) **काव्यशास्त्रीय तत्त्व**—प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, सार-संग्रह, तत्त्व, आशीर्वाद, काव्य के अन्य अंग।

(ग) **चरित्र संबंधी**—व्रत, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम।

(घ) **परिस्थिति संबंधी**—काल, देश, कुल, अवस्था।

उपर्युक्त अंगों के पर्यालोचन से पता चलता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य की विषय-वस्तु और उनकी शैली—दोनों में ही औचित्य का विधान किया है।

औचित्य-अनौचित्य के कुछ उदाहरण

आचार्य क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को सम्यक रूप से समझने के लिए हम यहाँ उनके द्वारा विवेचित औचित्य के कुछ उदाहरणों का अवलोकन कर सकते हैं। पद-औचित्य की विवेचना करते हुए वे लिखते है—"सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है, जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी तथा श्यामा के मस्तक पर चन्दन का तिलक। जैसे—'हे देव ! युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्गधारा में शत्रुओं के कुल डूब गए।' इस प्रकार की प्रशंसा बहुशः बन्दियों से सुनकर, भोली गुर्जर-नरेश की पत्नी जंगल में चकित होकर जल की आशा से पति के कृपाण की ओर देखती है। यहाँ 'भोली' शब्द से अर्थ के औचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है।" इसके विपरीत किसी अनुचित शब्द के प्रयोग से जिस प्रकार काव्य-सौन्दर्य को ठेस पहुँचती है, इसका स्पष्टी-

करण करते हुए एक उदाहरण दिया गया है—"सौन्दर्य रूपी धन के व्यय का कुछ सोच नहीं किया; महान् क्लेश उठाया, स्वच्छन्द और सुख से रहने वाले लोगों को चिन्ता के ज्वर से पीड़ित किया। यह बेचारी भी योग्य पति के अभाव में दुखी है। विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था।" इसकी विवेचना करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि यहाँ 'तन्वी' शब्द केवल अनुप्रास लोभ से प्रयुक्त हुआ है, वह किसी प्रकार के अर्थौचित्य के चमत्कार को प्रकट नहीं करता। उनके विचार से यहाँ 'सुन्दरी' शब्द का प्रयोग उचित था।

अलंकार-औचित्य के सम्बन्ध में आचार्यवर ने स्पष्ट किया है कि प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप ही अलंकार का प्रयोग होना चाहिए। उदाहरण के लिए "अपना उत्सव देखने के लिए उत्सुक होकर वत्सराज कामदेव की भाँति इधर ही आ रहे हैं। लड़ाई की चर्चा समाप्त हो चुकी है। अतः वे प्रेमी प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवासित साक्षात् कामदेव के समान लगते हैं।" यहाँ वत्सराज की कामदेव से उपमा शृङ्गार रस के प्रसंग में बड़ी चारुता उत्पन्न करती है। अतः यह औचित्य चमत्कार का कारण बनता है। इसी प्रकार रसौचित्य की व्याख्या करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं—"औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। मधुमास जैसे अशोक को अंकुरित कर देता है, उसी प्रकार यह भी भावुक हृदयों को अंकुरित कर देता है।.... मधुर, तिक्त आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शृङ्गार आदि रसों को परस्पर समन्वित करने पर एक विलक्षण रसानुभूति होती है।" अस्तु, आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन सर्वत्र काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लक्ष्य से ही किया है—अलंकार, गुण, रस आदि का ऐसा आयोजन जो काव्यत्व के विरुद्ध पड़ता है, उनके द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया है।

क्षेमेन्द्र-परवर्ती आचार्य

क्षेमेन्द्र-परवर्ती आचार्यों में से कुछ ने 'औचित्य' की चर्चा तो की है किन्तु उन्होंने उसे काव्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार नहीं किया। मम्मट ने कहा है कि औचित्य के कारण गुण भी दोष या दोष भी गुण बन सकता है—अतः उसके आधार पर गुण-दोषों की ही परीक्षा की जा सकती है। इससे अधिक उसका महत्त्व नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में औचित्य की चर्चा गौण रूप से की है। उन्होंने यह बताया है कि पूर्वकवियों का अनुकरण कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित। आगे चलकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसे गुण-दोषों तक ही सीमित रक्खा। हाँ, आधुनिक युग के कतिपय आचार्यों ने अवश्य ही इसकी प्रशंसा की है। साहित्याचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—"सच्ची बात तो यह है कि औचित्य भारतीय आलंकारिकों की संसार के आलोचना-शास्त्र को महती देन है। जितना प्राचीन तथा सांगोपांग विवेचन इसका भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं। यह हमारे साहित्य के महत्त्व का पर्याप्त परिपोषक है।" इस सम्बन्ध में हम अपना मत लेख का उपसंहार करते समय व्यक्त करेंगे।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और औचित्य

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी औचित्य पर पर्याप्त विचार हुआ है। प्रसिद्ध यवनाचार्य अरस्तू ने अपने 'पोइटिक्स' में चार प्रकार के औचित्य की मीमांसा की है—(१) घटनौचित्य, (२) रूपकौचित्य, (३) विशेषणौचित्य, (४) विषयौचित्य। घटनौचित्य के सम्बन्ध में उनका विचार है कि साहित्य में वर्णित घटना जगत् से सम्बद्ध और स्वाभाविक होनी चाहिए। दूसरे, प्रासंगिक घटना मुख्य घटना से उचित रूप में सम्बन्धित होनी चाहिए। रूपकौचित्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि गद्य को प्रभावशाली एवं सुन्दर बनाने के लिए ही उसका प्रयोग करना चाहिए। रूपक-प्रयोग में इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि वस्तु का उत्कर्ष दिखाने के लिए उत्कृष्ट गुणों से युक्त विशेषण प्रयुक्त करने चाहिए तथा अपकर्ष दिखाने के लिए हीन गुणों वाले विशेषण। साथ ही उपमान और उपमेय में जाति, गुण, धर्म आदि का भी साम्य अपेक्षित है। विशेषणौचित्य में विशेषण का लक्ष्य वर्ण्य विषय के भावार्थ को पुष्ट करना होता है। विषयौचित्य के लिए भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। भाव यदि उदात्त है तो भाषा क्षुद्र या अशक्त नही होनी चाहिए। अरस्तू ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'रेटारिक्स' में भी औचित्य (Propriety) की विशद रूप में विवेचना की है। इसमें शैली सम्बन्धी विभिन्न गुणों एवं तत्त्वों के औचित्य पर प्रकाश डाला गया है।

लौंजाइनस (२१३—२७६ ई०) ने अपने उदात्त-तत्त्व सम्बन्धी ग्रन्थ (On the Sublime) में दो प्रकार के औचित्य—अलंकारौचित्य एवं शब्दौचित्य—की विवेचना की है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि अलंकारों और शब्दों के उचित प्रयोग से ही काव्य के प्राण-तत्त्व—उदात्त तत्त्व की सिद्धि होती है।

आगे चलकर एक अन्य पाश्चात्य आचार्य होरेस ने अपने 'काव्य-कला' सम्बन्धी प्रबन्ध में कवियों के लिए तीन उपदेश दिए हैं, जिनमें एक "काव्य में औचित्य का सदा ध्यान रखना है।" इसका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि यदि ऐतिहासिक कथा को लेकर काव्य-रचना की जाय तो उसके पात्रों का स्वभाव परम्परा के अनुसार ही दिखाना उचित है। इसके अतिरिक्त अभिनय आदि में भावानुरूपता एवं स्वाभाविकता का ध्यान रखा जाना चाहिए, छन्दों के औचित्य के सम्बन्ध में उनकी सम्मति है कि जिस प्रकार का विषय हो, उसी के अनुकूल छन्द का चुनाव करना चाहिए।

आगे चलकर "यूरोप के क्लासीकल युग में औचित्य की पूरी-पूरी मान्यता रही। इसी मार्ग के अनुयायी कवि तथा आलोचकों की दृष्टि में कला के क्षेत्र में अनुशासन की मान्यता वर्तमान थी। शास्त्र तथा लोक—दोनों का ही अनुशासन कला में उन्होंने माना था। लोक का अनुशासन औचित्य ही है। क्षेमेन्द्र ने काव्य-समीक्षा के प्रेरणा-तत्त्व जिस प्रकार जीवन से लिये थे, उसी प्रकार क्लासीकल समीक्षकों ने भी काव्यालोचन का आदर्श लोक को माना है। लोक के उदात्त, शिष्ट रूप को आदर्श बताया है। यही औचित्य की मूल भावना है।" (डा० मनोहरलाल गौड़)

अठारहवीं शती के महाकवि पोप ने भी औचित्य पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने

अपनी समीक्षा सम्बन्धी पद्यात्मक लेख में भावानुकूल वर्ण-योजना पर विचार करते हुए लिखा है—

It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense,
Soft is the strain when zephyr gently blows,
And the smooth stream in smoother number flows,
But when loud surges lash the sounding shore,
The hoarse rough verse should like a torrent roar.

अर्थात् कविता में केवल उद्वेगकारी कर्ण-कटुता का अभाव ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वर्ण भाव की प्रतिध्वनि के रूप में होना चाहिए। मलयानिल के बहने के अवसर पर प्रयुक्त शब्दों में सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए, मंद-मंद प्रवाही निर्झर और भी सुकोमल पदों में प्रवाहित होता है, किन्तु जब प्रचंड झंझावात का थपेड़ा खाकर भीषण ऊर्मियाँ किनारों से टकराती हैं, तब ओजस्वी पद्य भी तुमुल प्रवाह की भाँति घोर गंभीर गर्जना करता है।' कहना न होगा कि पोप का यह निर्देश भारतीय आचार्यों के पदौचित्य एवं गुणौचित्य के ही अनुकूल है। वस्तुतः औचित्य को भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने समान रूप से महत्त्व प्रदान किया है।

उपसंहार

अन्त में औचित्य-सम्प्रदाय के महत्त्व के सम्बन्ध में हम निजी दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं। जहाँ तक उसकी उपलब्धियों का सम्बन्ध है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र में औचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई। एक ओर तो इससे अलंकारियों, रीतिवादियों एवं वक्रोक्तिवादियों की अति चमत्कारवादी प्रवृत्तियों के नियंत्रण में योग मिला, दूसरी ओर काव्य में स्वाभाविकता को अत्यधिक सम्मान प्राप्त होने लगा। क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल अलंकार और रीति का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य के बढाने में सहायता तो देता ही नहीं, अपितु उसे ठेस भी पहुँचा सकता है। यदि हम छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक की संस्कृत रचनाओं को देखें तो पता चलेगा कि इस युग का साहित्य किस प्रकार कृत्रिम अलंकार-योजना से आच्छादित होकर सौन्दर्यविहीन, शुष्क एवं जटिल हो गया था। औचित्यवाद ने इसका घोर वहिष्कार करके परवर्ती युग की काव्य-रचनाओं को—भले ही वे संस्कृत भाषा की न होकर अन्य भाषा की हों—नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

क्षेमेन्द्र का औचित्य या स्वाभाविकता सम्बन्धी दृष्टिकोण आधुनिक युग की धारणाओं के भी अनुकूल है। इतना अवश्य है कि जहाँ आधुनिक युग का साहित्यकार साहित्य को नियमों से सर्वथा मुक्त कर देने में उसकी स्वाभाविकता मानता है, वहाँ क्षेमेन्द्र आवश्यक नियमों का पालन करते हुए यथार्थ चित्रण में स्वाभाविकता मानते हैं। किन्तु यह अन्तर भी युग के दृष्टिकोण के अनुकूल ही है। उस युग का पाठक या सामाजिक प्राचीन नियमों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, अतः उनका पालन उस युग के साहित्यकार के लिए अपेक्षित था, जबकि आज का दृष्टिकोण बदल गया है।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि क्या औचित्य को काव्य का जीवन या प्राण माना जा सकता है ? क्या औचित्य अपने-आपमें इतना समर्थ है कि वह काव्य में सौन्दर्य-तत्त्व की प्रतिष्ठा कर सके ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें निषेधात्मक ही देना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि औचित्य से काव्य के मूल सौन्दर्य की रक्षा होती है, उसके अभाव में सौन्दर्य सौन्दर्य नहीं रहता—कुरूपता में परिणत हो सकता है, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि वह मूल सौन्दर्य का स्थानापन्न नहीं बन सकता। औचित्य में अपने-आपमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर सके। उदाहरण के लिए विज्ञान, दर्शन एवं इतिहास की पुस्तकें भी औचित्य से युक्त होती है—भाषा, शैली एवं विचार आदि में से किसी का भी अनौचित्य वहाँ स्वीकार नहीं होता, किन्तु फिर भी उनमें वह सौन्दर्य नहीं आ पाता जो कि काव्य में उपलब्ध होता है। यह ठीक है कि कई बार औचित्य या स्वाभाविकता के कारण ही कोई उक्ति सुन्दर बन जाती है, किन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो वहाँ भी उसके सौन्दर्य के मूल में औचित्य के साथ-साथ कोई अन्य तत्त्व भी मिश्रित होगा। उदाहरण के लिए सूरदास के बाल-वर्णन की प्रशंसा में कई वार उसकी स्वाभाविकता की चर्चा की जाती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल स्वाभाविक या उचित होने के कारण ही वह सुन्दर है। वस्तुतः सूर के बाल-वर्णन में भावात्मकता का पुट ही सौन्दर्य का मूल कारण है, स्वाभाविकता तो उस मूल कारण की एक विशेषता मात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्वाभाविक रूप में प्रस्तुत भाव-व्यंजना काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि में सहायक नहीं होगी, किन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि भावना-शून्य होने पर एक स्वाभाविक वर्णन भी दंडी द्वारा कथित 'वार्ता' मात्र रह जायगा, काव्य की संज्ञा उसे नहीं दी जा सकेगी।

अस्तु, कहना चाहिए कि औचित्य वह तत्त्व है जो कविता-कामिनी के मुख-चंद्र को निखारकर निष्कलंक, अम्लान एवं स्वच्छ तो बनाता है, किंतु उसे ज्योत्स्ना का नया वैभव प्रदान करना उसके वश की बात नहीं है। प्रयोगवादी शब्दावली में कहें तो वह अधिक से अधिक 'लक्स की टिकिया' है, 'सौन्दर्य की पुड़िया' उसे नहीं कह सकते। या बिहारी के शब्दों में—

'वह चितवनि औरें कछु, जिहि बस होत सुजान।'

: पन्द्रह :

प्लेटो का आदर्शवाद

पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का आदिस्रोत यूनान रहा है । यूनान के दार्शनिकों, विचारकों एवं काव्य-चिन्तकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन ईसा से चार-पाँच शताब्दियों पूर्व किया था, उन्हीं की अनुगूँज परवर्ती युग में यूरोप के विभिन्न विचारकों की शब्दावली में सुनाई देती है । यूनान के गौरवशाली चिन्तकों एवं महान् दार्शनिकों में सुकरात के शिष्य प्लेटो (४२८ ई० पू—३४७ ई० पू०) का नाम सर्वोपरि है । प्लेटो मूलतः दार्शनिक एवं आचार्य थे—उन्होंने ई० पू० ३८८ में अपनी जन्मभूमि एथेन्स में एक विद्यालय की भी स्थापना की थी तथा अपने अन्तिम समय तक उसी में अध्यापन कार्य करते रहे । विद्यालय की स्थापना से पूर्व वे विदेश-भ्रमण के लिए चले गये थे । लगभग ग्यारह वर्ष तक उन्होंने एशिया माइनर से लेकर इटली तक विभिन्न देशों की यात्रा करते हुए विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों एवं विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया । कदाचित् यही कारण है कि हम प्लेटो में पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों से भिन्न, सर्वथा नूतन एवं मौलिक विचारों का उन्मेष देखते हैं । वैसे वे पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों—मुख्यतः पाइथोगोरस एवं सुकरान्त के भी पर्याप्त ऋणी हैं । फिर भी प्लेटो का दृष्टिकोण सर्वत्र स्वतन्त्र एवं मौलिक दिखाई पड़ता है जिसका प्रकटीकरण उनके द्वारा रचित विभिन्न दार्शनिक एवं राजनीतिक ग्रन्थों में हुआ । उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'दि रिपब्लिक' (गणराज्य), 'दि स्टेट्समैन' (राजनेता), 'दि लाज' (विधि) आदि उल्लेखनीय हैं ।

प्लेटो के साहित्यिक विचार उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक सिद्धांतों से प्रभावित हैं, अतः उनकी साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं के विवेचन से पूर्व उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारों को समझ लेना आवश्यक है ।

प्लेटो के दार्शनिक विचार—दर्शन का चरम लक्ष्य सत्य या अन्तिम सत्य की खोज करना होता है, पर अन्तिम सत्य के सम्बन्ध में भी दार्शनिकों के मुख्यतः दो वर्ग रहे हैं—एक, जो किसी सूक्ष्म सत्ता या परोक्ष शक्ति को—जिसे परमात्मा का भी नाम दिया जाता है—अंतिम सत्य या शाश्वत तत्त्व मानते हैं, जबकि दूसरे वर्ग में वे आते हैं, जो इस स्थूल एवं भौतिक जगत् को ही सृष्टि का आधारभूत तत्त्व एवं सत्य मानते हैं। इन्हें क्रमशः आदर्शवादी एवं यथार्थवादी कहा जाता है। प्लेटो प्रथम वर्ग में आते हैं। वे मानते थे कि इस भौतिक जगत् के पीछे किसी सूक्ष्म, शाश्वत एवं अलौकिक जगत् का आधार है या यों कहिए कि यह जगत् किसी आध्यात्मिक लोक की प्रतिच्छाया है; अतः यह जगत् और इसके पदार्थ मिथ्या हैं, जबकि उनका वास्तविक रूप विचार (Idea) रूप में अध्यात्म-लोक में विद्यमान है। इस सृष्टि का निर्माण किसी अलौकिक शक्ति या परमात्मा के विचारों (Ideas) के अनुसार हुआ—अतः विचार ही मूल तत्त्व है जबकि वस्तु मिथ्या है। प्लेटो के अनुसार इस संसार में जितनी वस्तुएँ है, वे सभी विचाररूप में अलौकिक जगत् में विद्यमान हैं। सांसारिक पदार्थ अपूर्ण, परिवर्तनशील एवं नाशवान् है, अतः वे मिथ्या है जबकि अलौकिक जगत् में विद्यमान उनका विचार या प्रत्यय अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत होने के कारण—सत्य है। इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा विचार या तत्त्व (Idea) को ही प्रमुखता देने के कारण ही प्लेटो के विचारों को तत्त्ववाद या आदर्शवाद (Idealism) कहा जाता है। ध्यान रहे अंग्रेजी का 'आइडियलिज्म' (आदर्शवाद) शब्द भी 'आइडिया' (विचार) से बना है—जो इस तथ्य का सूचक है कि यह वाद पदार्थों की अपेक्षा उनके विचार को अधिक महत्त्व देता है। आगे चलकर यही 'आदर्शवाद'—आध्यात्मिक विचारों, नैतिक सिद्धान्तों एवं उच्च कोटि के मानव-मूल्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा। अस्तु, प्लेटो भारतीय अद्वैतवादियों की भाँति जगत् को मिथ्या और विचाररूपी ब्रह्म को सत्य मानता था—उसकी इस धारणा का प्रभाव उसके राजनीतिक एवं साहित्यिक विचारों पर भी पड़ा, जिसे आगे स्पष्ट किया जायगा।

राजनीतिक विचार—प्लेटो के समय यूनान की राजनीति अत्यन्त अस्त-व्यस्त दशा में थी। स्वयं प्लेटो के नगर में प्रजातंत्रीय व्यवस्था थी, पर वह भी अत्यन्त शोचनीय स्थिति में पहुँच गयी थी। प्रजातंत्र में जब शक्ति कुछ अदूरदर्शी, स्वार्थी, विलासी धन-लोलुपों के हाथ में चली जाती है तो वह मूर्खों का शासन सिद्ध होता है। एथेन्स के इस मूर्ख-शासन ने ही प्लेटो के गुरु सुकरात के प्राण ले लिये थे जिसकी प्रतिक्रिया प्लेटो के मन में भी अत्यन्त तीव्र रूप में हुई थी। कदाचित् इसीलिए वह एक ऐसी शासन-प्रणाली का आविष्कार करने के लिए लालायित थे, जिसमें सत्य के पुजारियों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हो। यह तभी संभव है जबकि शासन की सत्ता किसी सत्यवेत्ता विद्वान् एवं सदाचारी कर्मनिष्ठ व्यक्ति के हाथ में रहे। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने एक ऐसे 'गणराज्य' की कल्पना की, जिसका शासक कोई महान् दार्शनिक आचार्य या महात्मा होगा। अपने ग्रन्थ 'दि रिपब्लिक' में प्लेटो ने विस्तार से एक ऐसी योजना-पद्धति का प्रतिपादन किया है जिससे इस प्रकार के शासक का चयन हो सके। उसके विचारानुसार विद्यालयों में ही

इस प्रकार के चयन की प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाना चाहिए। सात से लेकर बीस वर्ष तक की आयु के विद्यार्थियों में से जो सर्वोच्च स्तर के सिद्ध हों, उन्हें सैनिक के रूप में चुना जाना चाहिए। इन सैनिकों को भी विशेष शिक्षा दी जानी चाहिए और उनमें से जो उच्च स्तर के सिद्ध हों, उन्हें शासक वर्ग में ले लिया जाना चाहिए। इस शासक वर्ग को भी विशेष शिक्षा-दीक्षा देकर उसमें से भी जो सर्वोच्च स्तर का सिद्ध हो, उसे राजा या प्रमुख शासक चुना जाना चाहिए। इस प्रकार प्लेटो के स्वप्नों का शासक न केवल दर्शन, विज्ञान एवं शासन-पद्धति में पारंगत होगा, अपितु वह अपने वैयक्तिक एवं चारित्रिक गुणों की दृष्टि से भी सम्पन्न होगा। सम्भव है, सत्ता-प्राप्ति के अनन्तर यह शासक भी स्वार्थी एवं लोभी होकर प्रजा के साथ अन्याय करने लगे—इस सम्भावना को समाप्त करने के लिए प्लेटो ने उसके लिए व्यक्तिगत धन-सम्पत्ति एवं परिवार का निषेध किया। प्लेटो का आदर्श शासक अपने उचित उपयोग के लिए राज्य की सम्पत्ति को काम में ले सकेगा तथा सीमित एवं अस्थायी रूप में किसी स्त्री से यौन-सम्पर्क भी स्थापित कर सकेगा, किन्तु वह विवाह करके अपना अलग घर कभी नहीं बसाएगा। सच पूछें, तो अधिकांश शासकों या मंत्रियों को प्रायः उनके बेटे-बेटियाँ ही अधिक बदनाम करते हैं या यों कहिए कि सन्तान-प्रेम के कारण ही कई बार शासकगण नियमों की अवहेलना कर देते हैं अथवा पक्षपात और सिफारिश का आश्रय ग्रहण करते हैं जिससे शासन में भ्रष्टाचार का बीज-वपन होता है। प्लेटो इस यथार्थ से भली-भाँति परिचित थे—इसीलिए उन्होंने शासक के निजी परिवार एवं सम्पत्ति का सर्वथा निषेध किया है।

प्लेटो का लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना करने का था जिसमें सत्य, न्याय, धर्म और सदाचार की पूर्ण प्रतिष्टा हो सके। इसके लिए एक ओर शासक में इन सबकी प्रतिष्ठा आवश्यक है, तो दूसरी ओर राज्य की सारी व्यवस्था एवं उसका वातावरण भी उसके अनुकूल होना चाहिए। इस व्यवस्था और वातावरण को अनुकूल या प्रतिकूल बनाने में कला और साहित्य क्या योग दे सकते हैं—इसी दृष्टिकोण से प्लेटो ने इन पर विचार किया है। वस्तुतः कला और साहित्य पर स्वतंत्र एवं निरपेक्ष दृष्टि से विचार करना उसका लक्ष्य नही था, अपितु आदर्श गणराज्य की सहयोगिनी शक्तियों के रूप में ही इनकी आलोचना की गयी है, कदाचित् इसीलिए वे इनके साथ पूरा न्याय नहीं कर सके।

साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण—प्लेटो के लिए साहित्य का महत्त्व उसी सीमा तक था, जहाँ तक वह उसके आदर्श गण-राज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय और सदाचार की भावना की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है। कला और साहित्य से असीम आनन्द प्राप्त होता है—इस तथ्य को प्लेटो महोदय अस्वीकार नहीं करते, किन्तु वे ऐसे आनन्द को जो उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्त्ति में बाधक सिद्ध हो, कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते। दूसरे शब्दों में, कला और साहित्य की कसौटी उनके लिए सौन्दर्य या आनन्द न होकर उपयोगिता थी। इतना ही नहीं, स्वयं सौन्दर्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि जो वस्तु उपयोगी है वही सुन्दर है। एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह अपना कोई उपयोग रखती हो, अन्यथा एक स्वर्णजटित चमचमाती

हुई ढाल भी असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से महत्त्वशून्य हो।' संक्षेप में उन्होंने शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही साहित्य पर विचार किया। दुर्भाग्य से उस समय का यूनानी साहित्य कामोत्तेजक एवं भावोद्वेलन-प्रधान था—अतः सामाजिक हित की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होता था; फलतः प्लेटो ने साहित्य के विरुद्ध मोर्चा लगाते हुए उस पर अनेक आक्षेप आरोपित किए, जिन पर आगे क्रमशः विचार किया जायगा।

पहला आक्षेप : मिथ्यात्व—प्लेटो ने अपने पूर्वोक्त दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार काव्य या साहित्य को मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति सिद्ध किया। उनके विचारानुसार साहित्यकार जिन वस्तुओं या व्यक्तियों अथवा क्रिया-कलापों का वर्णन करता है, वे पहले से ही भौतिक जगत् में विद्यमान हैं—जिनकी अनुकृति वह अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करता है। पर यह अनुकृति भी दो प्रकार की हो सकती है—एक कुर्सी को देखकर अनुकृति के द्वारा दूसरी अनुकृति प्रस्तुत करना है। यह दूसरे प्रकार की अनुकृति एक प्रकार की मिथ्या एवं भ्रामक अनुकृति है तथा चित्रकार, कवि और कथाकार भी ऐसी ही मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करते हैं। और इससे भी बुरा यह है कि वे जिन वस्तुओं की अनुकृति प्रस्तुत करते हैं वे स्वयं मिथ्या हैं, क्योंकि उनका सत्य रूप तो केवल विचार (Idea) रूप में अलौकिक जगत् में ही है। ऐसी स्थिति मे कलाकार की स्थिति उस नकलची की सी हो जाती है, जो नकल भी झूठ की कर रहा हो। कल्पना कीजिए, परीक्षा-भवन में एक परीक्षार्थी किसी दूसरे परीक्षार्थी की नकल कर रहा है, और उस नकल मे भी एक तो वह बहुत सी अशुद्धियाँ कर रहा है, दूसरे जिस उत्तर की वह नकल कर रहा है, वह भी अपने-आप में गलत हो! ऐसी स्थिति में वह परीक्षार्थी एक नहीं—तीन प्रकार की गलतियाँ कर रहा है; नकल करना, गलत नकल करना और गलत वस्तु की नकल करना! प्लेटो के विचार से साहित्यकार की भी स्थिति ऐसी ही है! वह मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करता है और इस प्रकार वह सत्य से तिगुना दूर है या यों कहिए कि वह तिगुने झूठ का आविष्कारक है—अतः वह प्रशंसनीय नहीं, दंडनीय है!

दूसरा आक्षेप : अमौलिकता एवं अज्ञानता—कवि या चित्रकार वस्तुतः कृति नहीं, अनुकृति एवं प्रतिकृति मात्र प्रस्तुत करता है, अतः उस पर दूसरा आरोप अमौलिकता एवं अज्ञानता का आरोपित किया जा सकता है। एक मोची के कार्य को देखकर जब दूसरा मोची अनुकृति द्वारा जूतों की जोड़ी बनाता है, तो हम उसे अमौलिक तो कह सकते हैं किन्तु अज्ञानी नहीं, क्योंकि वह जब तक जूता बनाने के सारे ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अनुकृति प्रस्तुत नहीं कर सकता। पर चित्रकार या कवि पर यह बात लागू नहीं होती! चाहे उन्हे इस बात का भी पता न हो कि जूते में जो चमड़ा लगता है, वह कहाँ से आता है या उसमें गाय की खाल का उपयोग होता है या बकरी की खाल का—पर फिर भी वे उसका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत कर सकते हैं! ऐसी स्थिति में कवि का ज्ञान मोची के ज्ञान से भी कम होता है! फिर मोची के बनाये जूतों को तो पहनकर आप सड़क पर चल सकते हैं, काँटों से बच सकते हैं, सर्दी-गरमी से बच सकते

हैं, पर क्या चित्रकार या कवि के द्वारा प्रतिबिम्बित जूतों से ऐसा कर सकते हैं ? उनका क्या उपयोग है ! उपयोग न सही, उनसे तो यह भी पता नहीं चलता कि जूते कैसे बनाये जाते हैं, या कहाँ मिलते हैं ! इस प्रकार प्लेटो के अनुसार तो कवि या चित्रकार का महत्त्व मोची या बढ़ई जितना भी नहीं है ! प्लेटो के शब्दों में—'एक चित्रकार मोची, बढ़ई या अन्य कारीगर की कला से सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए भी उनके कार्यों को इस प्रकार चित्रित कर देगा कि उससे सरल प्रकृति के लोगों अथवा बच्चों के मन में उसके वास्तविक कारीगर होने का भ्रम उत्पन्न हो जायगा !' इस प्रकार कवि न केवल स्वयं अज्ञानी है, अपितु वह अज्ञान के प्रसार में भी योग देता है !

तीसरा आक्षेप : अनुपयोगिता—कवि या साहित्यकार अनुकृति के बल पर जो रचना प्रस्तुत करता है, वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होती, अतः प्लेटो के विचार से कलात्मक रचनाएँ समाज के लिए सर्वथा अनुपयोगी हैं। कवि द्वारा वर्णित विषय से न तो उसकी यथातथ्य जानकारी प्राप्त हो सकती है और न ही उससे हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। और तो और उससे शिक्षा-उपदेश भी प्राप्त नहीं होता ! इसलिए प्लेटो ने कवियों को चुनौती देते हुए कहा है कि वे सिद्ध करें कि कविता की समाज के लिए क्या उपयोगिता है ? कवियों में सर्वश्रेष्ठ उस युग में होमर माना जाता था तथा प्लेटो भी उसका कम सम्मान नहीं करता था, फिर भी उसकी महानता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए उसने कहा—"हमें होमर से यह पूछना है....क्या Asclepius की भाँति उसने कभी रोगियों को रोग-मुक्त किया है अथवा अपने पीछे अपने द्वारा वर्णित भेषज विद्या तथा अन्य कलाओं की किसी परम्परा को छोड़ा है ? युद्ध सम्बन्धी विभिन्न व्यूह-रचनाओं, राजनीति-शिक्षण-विधि आदि जो उनकी कविताओं के सर्वोच्च और श्रेष्ठतम विषय है—इनके बारे में हम उससे क्या कोई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ? उसे सम्बोधित करते हुए हम कह सकते हैं—'मित्रवर होमर ! यदि तुम इस विवेचन में सक्षम हो कि किन प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्ति निजी और सार्वजनिक जीवन में उच्चतर और हेय बनता है तो हमें बताओ कि तुम्हारी सहायता से किस राज्य ने श्रेष्ठ शासन का लाभ उठाया है ? लकेदेमान की श्रेष्ठ व्यवस्था लाइसरगस के कारण है तथा इसी तरह और भी कई छोटे-बड़े नगर दूसरों के द्वारा लाभान्वित हुए हैं, पर क्या कोई यह कहता है कि तुम एक श्रेष्ठ विधायक रहे हो और तुम्हारे द्वारा किसी (राज्य) का हित सधा है !....क्या कोई ऐसा युद्ध है, जो उसके द्वारा अथवा उसकी सलाह मान कर लड़ा गया हो ? परन्तु होमर ने यदि सार्वजनिक सेवा का कोई कार्य सम्पन्न नहीं किया तो भी व्यक्तिगत रूप से क्या वह किसी का शिक्षक या मार्ग-दर्शक रहा है ? यदि होमर वास्तव में मनुष्य जाति के शिक्षण और उन्नयन में समर्थ हुआ होता—यदि वह मात्र अनुकर्त्ता न होकर ज्ञाता होता तो उसके पद-चिह्नों पर चलने वाले अनेकानेक शिष्य होते, जो उसकी परम्परा को आगे बढ़ाते और उसको अपने सम्मान और प्यार का पात्र बनाते !" (ग्रीक-साहित्य-शास्त्र : पृष्ठ २२-३३)

इस प्रकार प्लेटो होमर जैसे कवि की अपेक्षा उस व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है, जो किसी की चिकित्सा करके उसे रोग-मुक्त कर सके, या युद्धों का ज्ञान प्रदान

कर सके अथवा राज्य की शासन-प्रणाली में कोई सुधार कर सके। दूसरे शब्दों में वह कवि में कवि के नहीं, अपितु चिकित्सक योद्धा, नेता या अध्यापक के गुणों की खोज करता है! उसका यह प्रयास वैसा ही है जैसा कि कोई किसी फिल्म-अभिनेत्री से पूछे कि तुम्हें कमीज के बटन टाँकने आते हैं या नहीं—और उसके 'ना' कहने पर उसे सर्वथा घटिया और बदसूरत करार दे दे!

कवि : दुर्बलता एवं अनाचार का पोषक—प्लेटो के विचार से कवि न केवल अनुपयोगी एवं महत्त्वशून्य है, अपितु वह समाज में दुर्बलता एवं अनाचार के पोषण करने का भी अपराध करता है। प्लेटो के विचार से किसी भी समाज और राज्य में सत्य, न्याय और सदाचार की प्रतिष्ठा तभी संभव है जबकि उसके सभी व्यक्ति अपनी वासनाओं एवं भावनाओं पर पूरा नियंत्रण रखते हुए विवेक-बुद्धि एवं नीति-ज्ञान के अनुसार चलें। इसके विपरीत कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्तियों की वासनाओं एवं भावनाओं को उद्वेलित कर देता है—ऐसी स्थिति में उसकी भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं और बुद्धि का अंकुश ढीला पड़ जाता है। यह स्थिति व्यक्ति को न केवल दुर्बल एवं अशक्त बनाती है, अपितु उसे कुमार्ग की ओर भी अग्रसर करती है! यह ठीक है कि कविता से आनन्द मिलता है—इसे प्लेटो महोदय अस्वीकार नहीं करते, पर ऐसे आनन्द से क्या लाभ जो हममें दुर्बलता एवं दुराचार की प्रवृत्ति का संचार करे! इसीलिए उसकी स्पष्ट घोषणा है कि यदि हम राज्य में सत्य, न्याय और सदाचार की रक्षा करना चाहते हैं तो कविता का बहिष्कार करना होगा! कवियों को राज्य से निकाल देना होगा। उन्हें राज्य में वापस आने की भी छूट दी जा सकती है, बशर्ते कि वे यह सिद्ध कर सकें कि कविता न केवल आनन्ददायक है, अपितु राज्य और मानव-समाज के लिए हितकर भी है। पर ध्यान रहे वह कवियों को अपनी वकालत कविता में नहीं, अपितु गद्य में ही करने की अनुमति देता है, क्योंकि उसे भय है कि कविता में बोलने की छूट दी गयी, तो कदाचित् वे हमें फुसला लेने में सफल हो जायँ!

आक्षेपों पर पुनर्विचार—इस प्रकार प्लेटो अपनी घोर आदर्शवादिता के कारण कविता का पूर्णतः बहिष्कार कर देता है, किन्तु यदि उसके आक्षेपों पर पुनर्विचार किया जाय तो वे एकांगी एवं निरर्थक सिद्ध होंगे। सबसे पहले मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति की ही बात लीजिए—प्लेटो के विचार से प्रत्यक्ष या तत्त्व (Idea) सत्य है, पदार्थ या वस्तु मिथ्या है; इस दृष्टि से कवि सत्य का विज्ञापक सिद्ध होता है, क्योंकि वह वस्तु विचार में पुनः रूपान्तरित कर देता है। वह व्यक्ति, नगर, उपवन, भवन आदि स्थूल पदार्थों को पदार्थ-रूप में नहीं, अपितु विचार-रूप में परिणत कर देता है। दूसरे शब्दों में यदि अध्यात्मलोक का विचार-जगत् चिरन्तन, शाश्वत एवं सत्य है तथा भौतिक लोक नाशवान् एवं मिथ्या है, तो कवि भौतिक लोक के नाशवान् पदार्थों को पुनः वैचारिक सत्ता में परिणत करता हुआ उन्हें शाश्वत रूप प्रदान कर देता है। कवि जिन वस्तुओं एवं पात्रों की रचना करता है, वे अमर होते हैं; अतः कहना चाहिए कि यह मिथ्या जगत् को सत्य में पुनः परिणत कर देता है। गणित का नियम है कि दो निषेधात्मक तथ्य एक विधेयात्मक तथ्य में परिणत हो जाते हैं (Two negatives make one positive)

नियम के अनुसार भी 'मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति = सत्यकृति' कही जा सकती है। अतः उसका पहला आक्षेप भ्रामक एवं असंगत सिद्ध होता है।

दूसरे आक्षेप के अनुसार कवि अमौलिक एवं अज्ञानी है क्योंकि वह सांसारिक वस्तुओं के अनुसार ही वर्णन करता है तथा उन वस्तुओं का शास्त्रीय (technical) ज्ञान भी उसे नहीं होता। उदाहरण के लिए जूता बनाने की कला से अभिज्ञ न होते हुए भी वह जूतों का वर्णन अपनी रचना में कर देता है—अतः वह अज्ञानी है। पर प्लेटो महोदय भूल गये कि यदि वह जूता बनाने की कला भी जानता होता, तो उससे उसकी रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि कविता में इसका कोई उपयोग होना कठिन था और यदि वह अपने ज्ञान-प्रदर्शन के लिए इसका उपयोग चेष्टापूर्वक करता भी, तो उससे उसकी रचना कविता न बनकर शास्त्र बन जाती। वस्तुतः इस विद्या का ज्ञान मोचियों के लिए ही अपेक्षित है—कवियों के लिए नहीं। कला और शास्त्र के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, अतः कलाकार से शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा करना अनुचित है।

तीसरे और चौथे आक्षेपों के अनुसार कविता अनुपयोगी, दुर्बलता की पोषक एवं अनाचार की प्रचारक है, इसलिए वह त्याज्य है। यहाँ हम सबसे पहले यही पूछते हैं कि 'उपयोगिता' क्या है? किसी वस्तु को उपयोगी बताने की कसौटी क्या है? क्या रोटी, वस्त्र और मकान उपयोगी है? यदि है तो क्यों? इनके उत्तर में कदाचित् कहा जाय कि ये पदार्थ व्यक्ति के जीवन की रक्षा करते है—पर प्लेटो के विचार से तो व्यक्ति का जीवन भी नाशवान है और ये वस्तुएँ भी नाशवान् है, अतः सब मिथ्या है। जब जीवन और जगत् मिथ्या ही हैं तो उन्हें बचाने का अर्थ होगा मिथ्या की रक्षा करना और सत्य को नष्ट करना!

शायद उपयोगिता की कसौटी यह बताई जाय कि जो वस्तु मानव-समाज को सुख पहुँचाती है, वह उपयोगी है। पर सुख की क्या कसौटी है? एक व्यक्ति किसी के बाग से चुराकर आम खाता है—उससे उसे सुख मिलता है, तो क्या हम कहेंगे कि चुरा-कर आम खाना उपयोगी है? कदाचित् यहाँ कहा जाय कि चोरी करना अनैतिकता है इसलिए उचित नहीं। दूसरे शब्दों में, ऐसा कार्य जो अनैतिक न होते हुए भी किसी को या समूह को सुख पहुँचावे, तो वह उपयोगी कहा जा सकता है! इस दृष्टि से कविता को देखा जाय तो वह भी कम उपयोगी सिद्ध न होगी। कविता के लिए अनैतिकता का होना आवश्यक नहीं है—वह सारे समाज को आनन्द पहुँचाती है, अतः उसे उपयोगी कहा जा सकता है। सच पूछा जाय तो जहाँ दूसरी वस्तुएँ अप्रत्यक्ष रूप से निम्नकोटि का सुख (ऐन्द्रिक आनन्द) पहुँचाती हैं वहाँ कविता उच्च कोटि का बौद्धिक आनन्द प्रत्यक्ष रूप में पहुँचाती है।

यह कहना भी अनुचित है कि भावनाएँ सदा व्यक्ति को दुर्बल एवं कुमार्गी ही बनाती हैं। यदि युद्ध-भूमि में प्राणों का बलिदान करने वाले सिपाही में राष्ट्र-प्रेम एवं कर्त्तव्य-परायणता की भावना न हो तो वह क्यों आत्म-त्याग करेगा? कोरी बुद्धि एवं शुष्क विचार हमें किसी भी भले-बुरे कार्य से विमुख तो कर सकते हैं, पर किसी भी महान् कार्य में प्रवृत्त नहीं कर पाते। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब तक हमारे विचार,

चाहे वे कितने ही उच्च एवं उदात्त क्यों न हों, हमारी भावनाओं के अंग नहीं बन जाते या यों कहिए कि वे भावानुभूति में परिणत नहीं हो जाते, तब तक उन्हें क्रियान्वित करना कठिन होता है। मानसिक प्रवृत्तियों का क्रम यह है—बुद्धि > भावना > क्रिया। यदि हम अपने जीवन से भावना को बिल्कुल निकाल दें—यद्यपि यह असंभव है—तो हम सर्वथा गतिहीन एवं कर्मशून्य हो जाएँगे। अतः प्लेटो का यह संदेह अनावश्यक था कि कविता के कारण होनेवाले प्रत्येक भावोद्वेलन से व्यक्ति दुर्बल एवं दुराचारी बनता है। हाँ, निम्न-कोटि की वासना-प्रधान कुछ कविताओं पर भले ही यह बात लागू होती हो।

कविता प्रत्यक्ष रूप में नीति-नियमों एवं सदाचार की शिक्षा नहीं देती, पर अप्रत्यक्ष रूप में वह जैसा गंभीर प्रभाव उत्पन्न करती है, वैसा किसी अन्य साधन से संभव नहीं। इसीलिए अनेक बार दार्शनिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक विचारों के प्रतिपादन के लिए कविता का माध्यम अपनाया गया है। कबीर, तुलसी, भारतेन्दु जैसे कवियों ने वैचारिक क्रांति में जो सफलता प्राप्त की, उसका श्रेय उनकी काव्य-कला को ही है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों ने काव्य को 'कान्तासम्मित उपदेश' मानकर इस तथ्य की पुष्टि की है कि कविता नीति और सदाचार की शिक्षा भी अप्रत्यक्ष रूप में दे सकती है।

सच पूछें तो काव्य या साहित्य बौद्धिक आनन्द प्रदान करने के साथ-साथ हमारी सामाजिक चेतना का परिष्कार करता हुआ हमें व्यक्तिगत स्वार्थों के बन्धनों एवं निजी अहं की सीमाओं से मुक्त करता है। आचार्य शुक्ल की शब्दावली में वह हमें भाव-योग के मार्ग से मुक्ति प्रदान करता है। अतः कलात्मक, सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक—इन सभी दृष्टिकोणों से कविता मूल्यवान सिद्ध होती है। यह दूसरी बात है कि संकीर्ण दृष्टि, क्षुद्र मनोवृत्ति एवं निजी सीमाओं के कारण कोई कवि अपनी रचना का उपयोग वासनाओं के उत्तेजन, क्षुद्रताओं के प्रसार एवं अनैतिकता की स्थापना के लिए करे, पर इसमें कविता का क्या दोष है! यदि कोई स्वर्णघटित प्याले में अमृत के स्थान पर विष ढालकर परोसे तो इसमें बेचारे प्याले का क्या दोष!

प्लेटो की उपलब्धियाँ—अस्तु, सामान्य रूप में प्लेटो के सभी आक्षेप निरर्थक एवं भ्रामक सिद्ध होते हैं, पर यह बात केवल सच्चे साहित्यकारों की सात्विक रचनाओं के आधार पर ही कही जा सकती है। कई बार कवि और कलाकार भी युगीन प्रवृत्तियों में बहकर अपनी रचनाओं को वासनाओं, कुण्ठाओं एवं अनाचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। वे कवि-कर्म को जीवन की उदात्त एवं गंभीर साधना बनाने की अपेक्षा उसे कामुक लम्पटों एवं व्यभिचारियों की कला का रूप दे देते हैं—ऐसी स्थिति में कविता सचमुच अपने उच्च सिंहासन से लुढ़ककर बाज़ार की गंदी-गलियों में—कूड़े के ढेर पर आसीन हो जाती है! दुर्भाग्य से प्लेटो भी ऐसे ही वातावरण में जी रहा था, और यह सच है कि जब-जब कविता वासना से उन्मत्त, क्षुद्र व्यक्तियों अथवा प्रतिभा-शून्य नपुंसकों के हाथों में पड़ जाती है, तब-तब वह कला-प्रदर्शन के स्थान पर नग्न होकर भोंडा नाच करने अथवा अस्पष्ट, बेसुरे एवं कर्कश स्वर में गाने के लिए विवश

होती है (ऐसी स्थिति में समाज कविता को उपेक्षित या निर्वासित कर देने के लिए भी प्रस्तुत हो तो स्वाभाविक है।)

कविता की बुराई करते हुए भी उसकी प्रकृति एवं प्रक्रिया के बारे में प्लेटो ने जो संकेत दिये थे, वे अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो उसने कविता को अनुकृति बताकर काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, जो परवर्ती युग में विकसित होकर काव्य-समीक्षा का आधार बना। दूसरे, उसने काव्यानुभूति का स्वरूप आनन्ददायक एवं उसका आधार भावोद्वेलन को स्वीकार करते हुए आस्वादन-प्रक्रिया के आधारभूत सूत्रों की स्थापना की। इस दृष्टि से प्लेटो की स्थापनाएँ भारतीय रस-सिद्धान्त के बहुत निकट पड़ती हैं, क्योंकि दोनों ही काव्यानुभूति को भावोद्वेलन के द्वारा आनन्दानुभूति की उपलब्धि मानते हैं। फिर भी अपने दृष्टिकोण की एकांगिता एवं अपने युग के काव्य की दूषित प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण वह कविता को निष्पक्ष एवं संतुलित दृष्टि से नहीं देख सका। सच पूछा जाय तो वह मूलतः काव्य-मीमांसक नहीं, दार्शनिक एवं राजनीतिज्ञ था, उसका सर्वोच्च लक्ष्य अपने सपनों के आदर्श गणराज्य की प्रतिष्ठा करना था—ऐसी स्थिति में उसके हाथों यदि कविता का अपमान हुआ तो क्या आश्चर्य। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि जब-जब कवि अपने उदात्त लक्ष्य से च्युत होकर वासना के कर्दम में लिप्त होता है, तब-तब उसकी वही गति होती है, जो प्लेटो के द्वारा हुई! ऐसी स्थिति में किसे दोष दिया जाय!

: सोलह :

अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त

१. अरस्तू का सामान्य परिचय ।
२. अनुकृति-सिद्धांत ।
३. अनुकृति-सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा ।
४. विरेचन-सिद्धान्त ।
५. काव्य-रूपों का विवेचन ।
६. उपसंहार ।

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यूनानी विद्वान् अरस्तू (३७४ ई० पू०—३२२ ई० पू०) का स्थान इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें यदि पाश्चात्य विद्याओं का आदि आचार्य भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी । वे एक ओर प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के शिष्य थे तो दूसरी ओर विश्व-विजेता सिकन्दर महान् के गुरु होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है । उन्होंने अपने जीवन में लगभग चार सौ ग्रन्थों की रचना की जिनमें तर्क-शास्त्र, भौतिकशास्त्र, मनोविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि अनेक विषयों की सार-गर्भित विवेचना मिलती है । उनके साहित्य-सम्बन्धी विचार "काव्य-शास्त्र" (Poetics) एवं "भाषण-शास्त्र" (Rhetorics) में उपलब्ध होते हैं । इन्हीं के आधार पर हम यहाँ उनके प्रमुख काव्य-सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे ।

अनुकृति सिद्धान्त

अरस्तू का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'अनुकृति-सिद्धान्त' है । वे अनुकृति को ही विभिन्न कलाओं—जिनमें काव्य-कला भी सम्मिलित है—का मूलाधार मानते हैं । यदि भारतीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि अरस्तू के विचार से काव्य की आत्मा 'अनुकृति' है । उन्होंने इस अनुकृति के माध्यम, विषय और विधान का विस्तार से विचार किया है । यद्यपि सभी कलाओं का मूल तत्त्व अनुकृति ही है, किन्तु उन सबके माध्यम आदि के पारस्परिक अन्तर के कारण ही वे एक दूसरी से पृथक् की जाती हैं, अतः काव्य के विशिष्ट अध्ययन के लिए उसके माध्यम आदि का ज्ञान अपेक्षित है ।

(१) काव्य में अनुकृति का माध्यम—जिस प्रकार संगीत में सामंजस्य और लय का, नृत्य में केवल लय का, उपयोग होता है, उसी प्रकार काव्य-कला में अनुकृति के लिए भाषा का उपयोग किया जाता है । यह भाषा गद्य या पद्य-दोनों में से किसी भी रूप

में प्रयुक्त हो सकती है। सामान्यतः लोग इस अनुकृति के तत्त्व को भूलकर केवल छन्द को ही कविता का प्रमुख लक्षण मान लेते हैं, किन्तु अरस्तू ने इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'....it is the way with people to talk on 'poet' to the name of a metre, and talk of elegiac-poets, and epic-poets thinking that they call them poets not by reason of the imitative nature of their work, but indiscriminately by reason of the metre they write in. Even if a theory of medicine or physical philosophy be put forth in a metrical form, it is usual to describe the writer in this way....' अर्थात् 'प्रायः लोग 'छन्द' के साथ 'कवि' शब्द इस तरह जोड़ देते हैं, और शोक-गीति-रचयिताओं की चर्चा इस प्रकार करते हैं मानों वे अनुकृति के नहीं, वरन् छन्द के ही आधार पर, निर्विवेक रूप से कविपद के अधिकारी हों। यदि चिकित्सा-शास्त्र या भौतिक-दर्शन का कोई भी सिद्धान्त छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तो उसके भी प्रस्तुत-कर्त्ता को प्रथानुसार कवि कहा जायगा।' वस्तुतः अरस्तू के विचार से साहित्य को भौतिक-शास्त्र से पृथक् करनेवाला तत्त्व छन्द नहीं अपितु 'अनुकृति' है तथा उस अनुकृति के लिए छन्द ही माध्यम हो—ऐसा आवश्यक नहीं, भाषा का कोई भी रूप काव्यात्मक अनुकृति का माध्यम बन सकता है।

(२) **अनुकरण के विषय**—काव्य में क्रिया-कलापों की अनुकृति प्रस्तुत होती है और इन क्रिया-कलापों के प्रतिनिधि होते हैं—मनुष्य। इन मनुष्यों को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—अच्छे और बुरे। यह विभाजन मुख्यतः नैतिक आचरण पर आधारित है तथा नैतिक आचरण के विभेदक लक्षण हैं—सद्वृत्ति और दुर्वृत्ति। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में या तो यथार्थ जीवन से श्रेष्ठतर व्यक्तियों के कार्य प्रस्तुत होते हैं या हीनतर या फिर यथावत् रूप में। यह भेद चित्रकारी, नृत्य, संगीत आदि में भी मिलता है। काव्य के त्रासदी और कामदी—दो भेदों में से कामदी का लक्ष्य हीनतर रूप को प्रस्तुत करना होता है, जबकि त्रासदी का लक्ष्य है भव्यतर चित्रण करना। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते है कि काव्य में मानवीय क्रिया-कलापों का अनुकरण होता है।

(३) **अनुकृति की विधि**—काव्य के विभिन्न रूपों में अनुकृत विषय एवं उनके माध्यम की समानता होते हुए भी उनमें परस्पर विधि या शैली का अन्तर विद्यमान रहता है अरस्तू ने सामान्यतः तीन शैलियों का उल्लेख किया है—(१) जहाँ कवि कही अपने विषय का वर्णन करता है तथा कहीं अपने पात्रों के मुँह से कुछ कहलवा देता है। उदाहरण के लिए होमर का काव्य देखा जा सकता है (२) प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कवि सर्वत्र एक जैसा ही रूप रखे (३) कवि स्वयं दूर रहकर समस्त पात्रों को नाटकीय शैली में प्रस्तुत करे। अरस्तू के इस वर्गीकरण को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि पहली शैली प्रबन्धात्मक है, जिसमें कवि तथा विभिन्न पात्र प्रसंगानुसार कुछ कह सकते हैं। दूसरी आत्माभिव्यंजनात्मक है, जिसमें स्वयं कवि या कोई एक पात्र ही आदि से लेकर अन्त तक सारी विषय-वस्तु प्रस्तुत करता है। तीसरी

नाट्य शैली है, जिसमें सभी पात्र वक्ता हो सकते हैं, जबकि कवि को मौन हो जाना पड़ता है।

(४) **काव्य में अनुकृति का महत्त्व**—अरस्तू ने अनुकृति को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया है कि उनके विचार से काव्य की सृष्टि और उसके आस्वादन का मूल कारण अनुकृति ही है। वे काव्य के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि कविता सामान्यतः दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है। इनमें से पहला कारण है—मानव की सहज स्वाभाविक अनुकरण की प्रवृत्ति। "अनुकरण की यह प्रवृत्ति मनुष्य में शैशवावस्था से ही विद्यमान रहती है। मनुष्य और अन्य प्राणियों में एक अन्तर यह है कि वह जीवधारियों में सबसे अधिक अनुकरणशील होता है तथा आरम्भ में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है।" कविता की उत्पत्ति के दूसरे कारण के रूप में उसने सामंजस्य और लय की प्रवृत्ति का आख्यान किया है।

काव्य-सृष्टि के साथ-साथ काव्यास्वादन का रहस्य भी मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति में ही निहित है। अरस्तू के विचार से—"अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है—जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है, उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति को देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।" यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुकृति को देखकर हमें प्रसन्नता क्यों होती है? इसका उत्तर देते हुए अरस्तू ने बताया है कि ज्ञान के अर्जन से प्रत्येक व्यक्ति को प्रबल आनन्द प्राप्त होता है। "अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उससे वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुओं का अर्थ-ग्रहण करता हुआ सोचता है—"अरे, यह तो वह व्यक्ति है...."

उपर्युक्त मान्यता के विपरीत कई बार हम यह भी देखते हैं कि जिस वस्तु को हमने पहले नहीं देखा, उसे भी देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं—अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि कलाजन्य आनन्द अनुकृति-जन्य आनन्द ही है। अरस्तू भी इसे स्वीकार करता हुआ कहता है कि "यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा—वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"

अनुकृति-सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा

अरस्तू के अनुकृति-सिद्धान्त की परवर्ती विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्या करते हुए उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। सबसे पूर्व तो अनेक विद्वानों ने अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त 'मीमेसिस' (Mimesis) शब्द की ही मीमांसा की। यद्यपि यह शब्द अरस्तू का अपना आविष्कार नहीं था, तथा यूनानी भाषा में यह बहुत पूर्व से प्रचलित था। काव्य के क्षेत्र में इसका प्रयोग अरस्तू से पूर्व प्लेटो भी कर चुके थे, किन्तु फिर भी आलोचकों का विचार है कि अरस्तू ने इसका प्रयोग प्लेटो से अधिक सूक्ष्म अर्थ में किया था। बूचर महोदय के विचारानुसार 'अनुकृति' का अर्थ सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन नहीं है। कलाकृति में मूल का पुनरुत्पादन नहीं होता, अपितु

जैसा वह इंद्रियों को प्रतीत होता है वैसा उत्पादन होता है। प्रो० गिलबर्ट मरे ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए बताया कि 'अनुकरण' शब्द में 'करण' या 'सृजन' विद्यमान है, अतः अनुकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है, अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय है ऐसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। स्कॉट जेम्स ने अनुकरण को कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्यायवाची माना है। अस्तु, विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से 'अनुकरण' का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है, किन्तु हमारे विचार से 'अनुकरण' शब्द अपने-आपमें इतना स्पष्ट है कि स्पष्टीकरण का बहाना बनाकर वे विद्वान् अपनी-अपनी मान्यताओं को अरस्तू पर थोपने का प्रयत्न करते रहे हैं। यही कारण है कि इनके द्वारा नई व्याख्याएँ ही अधिक हुई हैं, स्पष्टीकरण नहीं।

अरस्तू के भारतीय व्याख्याता डा० नगेन्द्र ने भी उनके अनुकृति सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा करने का सफल प्रयास किया है। एक ओर उन्होंने 'मीमेसिस' (अनुकरण) शब्द की आवश्यकता को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है—"मीमेसिस" का अर्थ 'इमीटेशन' के अर्थ से इतना भिन्न नहीं है कि उसमें सर्जना का भी अन्तर्भाव हो सके, अतएव यह आक्षेप असंगत नहीं हो सकता कि अरस्तू ने उचित शब्द का प्रयोग नहीं किया। जो अर्थ उन्होंने अनुकरण शब्द में भरना चाहा है, वह उसकी सामर्थ्य के बाहर है।'—तो दूसरी ओर उन्होंने उसके अर्थ-तत्त्व का अनुसंधान करते हुए कहा—"परन्तु शब्द को लेकर विवाद करना अधिक सार्थक नहीं होगा—विवेच्य विषय तो अर्थ है। यह सिद्ध है कि अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यंकन-मात्र नहीं है—वह पुनः सर्जन का पर्याय है और उसमें भाव-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का यथेष्ट अन्तर्भाव है, उसमें सर्जना और सर्जना के आनन्द की अस्वीकृति कदापि नहीं है।"
(अरस्तू का काव्य-शास्त्र : भूमिका, पृ० ११)

विरेचन सिद्धान्त

अरस्तू का कला सम्बन्धी दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—विरेचन सिद्धान्त है। 'विरेचन' का अर्थ है, विचारों का निष्कासन या शुद्धि। मूलतः इस शब्द का सम्बन्ध चिकित्सा-शास्त्र से है, जिसमें रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों की शुद्धि को विरेचन कहते हैं। अरस्तू से पूर्व भी यह शब्द यूनान में प्रचलित था, किन्तु साहित्य पर इसे लागू करने का श्रेय अरस्तू को ही है। प्लेटो ने कला और काव्य पर यह आक्षेप लगाया था कि इनसे हमारी दूषित वासनाएँ और मनोवृत्तियाँ उत्तेजित एवं पुष्ट होती हैं—सम्भवतः इसी का खण्डन करने के लिए अरस्तू ने प्रतिपादित किया कि कला और साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप में विरेचन हो जाता है—अतः वे समाज के लिए हानिकारक नहीं हैं। संगीत के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उसने लिखा—"संगीत सुनते समय हम कार्य और [illegible], जो अभिव्यक्त करनेवाले रागों का भी आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि करुणा और त्रास अथवा आवेश कुछ व्यक्तियों में बड़े

प्रबल होते हैं और न्यूनाधिक प्रभाव तो प्रायः सभी पर रहता है। कुछ व्यक्ति हाल की दशा में आ जाते हैं; किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागों के प्रभाव से, जो कि रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं—वे शान्त हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्रायः सभी—इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।" (अरस्तू का काव्य-शास्त्र : भूमिका, पृ० ८६) इसी प्रकार त्रासदी के प्रसंग में भी अरस्तू ने लिखा कि करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि अरस्तू कलाओं का लक्ष्य मनोविकारों का विरेचन मानते हैं।

अरस्तू-परवर्ती विद्वानों ने 'विरेचन' शब्द की व्याख्या करते हुए इसके विभिन्न अर्थ किए हैं, जिन्हे मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) धर्म-परक अर्थ, (२) नीति-परक-अर्थ, (३) कला-परक-अर्थ। धर्म-परक-अर्थ के अनुसार विरेचन का अर्थ है—बाह्य विकारों की उत्तेजना और उनके शमन के द्वारा आत्मा की शुद्धि और शान्ति। नीति-परक-अर्थ है—मनोविकारों की उत्तेजना द्वारा विभिन्न अन्तर्वृत्तियों का समन्वय या मन की शान्ति और परिष्कृति। विरेचन सिद्धान्त की कला-परक-व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों के विचार से कलाजन्य आनन्द भी विरेचन की परिधि में आता है तो कुछ इसे अस्वीकार भी करते हैं। उनके विचार से 'विरेचन' केवल अभावात्मक (विकारों का अभाव मात्र) क्रिया है, परितोष या आनन्द का भाव उसकी सीमा से बाहर है किन्तु प्रो० बूचर ने इस प्रकार के तर्कों का खंडन करते हुए बताया है कि विरेचन के दो पक्ष है—एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। मनोवेगों के उत्तेजन और तत्पश्चात् उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति उसका अभावात्मक पक्ष है, इसके उपरान्त कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए बूचर की मान्यता को अस्वीकार करते हुए लिखा है—"हमारा मत है कि विरेचन कला-स्वाद का साधक तो अवश्य है—समंजित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कला-स्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है, अतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित् न्याय नहीं है, यह व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति तक ही सीमित है। 'विरेचन' शब्द से मन की वह विशदता ही अभिप्रेत है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने, 'अन्तर्वृत्तियों के समंजन' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विरेचन' की कला-परक व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। हमारी दृष्टि में इस मतभेद का मूल कारण यह है कि विरेचन एक अपूर्ण एवं सीमित सिद्धान्त है, जो केवल दुःखान्त रचनाओं पर ही लागू होता है; किन्तु अरस्तू के व्याख्याता इसे परिपूर्ण सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करके व्याख्या

करने का प्रयास करते हैं। काव्य और कलाओं द्वारा हमारी सभी प्रकार की भावनाओं की उद्दीप्ति और अभिव्यक्ति होती है जबकि विरेचन का सम्बन्ध केवल 'विकृत' या 'अशुद्ध' भावनाओं से ही है। अशुद्ध एवं कलुषित भावों के रेचन से मन के आनन्द प्राप्त करने की बात मानी जा सकती है, किन्तु पवित्र एवं शुद्ध भावों के रेचन के सम्बन्ध में क्या कहा जायगा! अवश्य ही इस प्रसंग में विरेचन की बात नहीं कही जा सकती। अस्तु, इस एकांगी सिद्धान्त को सर्वाङ्गीण रूप देना उचित प्रतीत नहीं होता।

विरेचन-सिद्धान्त और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त की तुलना भारतीय आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद से भी की जा सकती है, क्योंकि दोनों आचार्य काव्यानन्द या रसास्वादन के मूल में वासनाओं के रेचन या उनकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि काव्य के माध्यम से पाठक की हृदयस्थित वासनाओं की उद्दीप्ति एवं अभिव्यक्ति होती है—उनका यह 'अभिव्यक्ति' शब्द यहाँ अरस्तू के रेचन का समानार्थक माना जा सकता है। इस दृष्टि से दोनों सिद्धान्त एक ही हैं, किन्तु उनमें परस्पर थोड़ा अन्तर भी है। जहाँ अरस्तू महोदय केवल दूषित वासनाओं के ही रेचन की बात कहते हैं, वहाँ अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। वे सभी प्रकार की वासनाओं की अभिव्यक्ति की बात स्वीकार करते हैं। दूसरे अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त मुख्यतः करुणा एवं त्रास भाव की दृष्टि से प्रतिपादित है, जबकि अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद सभी भावों पर लागू होता है। अस्तु, इस थोड़े से अन्तर के होते हुए भी इन दोनों को पर्याप्त निकट माना जा सकता है।

काव्य-रूपों का विवेचन

अरस्तू ने विभिन्न काव्य-रूपों की भी विस्तार से मीमांसा करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उन्होंने मुख्यतः काव्य के ये पाँच रूप माने हैं—(१) महाकाव्य, (२) त्रासदी, (३) कामदी, (४) रौद्र स्तोत्र, (५) गीतकाव्य। इनमें से उन्होंने प्रथम तीन को ही महत्त्वपूर्ण माना है, शेष की चर्चा गौण रूप से की है। महाकाव्य को उन्होंने 'उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति' मानते हुए उसकी अनेक विशेषताएँ बताई हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) महाकाव्य काव्य का एक भेद है। (२) इसमें एक ही समय में घटित होनेवाली अनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। (३) इसमें उच्चकोटि के पात्रों का चित्रण होता है। (४) इसका आकार विपुल होता है। (५) इनमें एक ही छन्द का प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने महाकाव्य के चार मूल तत्त्वों पर प्रकाश डाला है—कथावस्तु, चरित्र, विचार-तत्त्व और पदावली। महाकाव्य के कथानक में सामान्यतः ये विशेषताएँ होती हैं—(क) वह प्रख्यात होता है। (ख) उसका क्षेत्र विस्तृत होता है। (ग) महाकाव्य का कथानक विस्तृत होते हुए भी किसी एक विशेष कार्य या घटना से सुसम्बद्ध होना चाहिए। (घ) उसमें पूर्वापर क्रम, संभाव्यता तथा कुतूहल आदि के गुण भी होने चाहिए।

महाकाव्य के पात्रों के सम्बन्ध में अरस्तू की सम्मति यह है कि उनका भद्र, वैभवशाली, यशस्वी, कुलीन, सहज मानव-गुणों से विभूषित, एवं उदात्त होना अपेक्षित है। इसी प्रकार उन्होंने उसकी शैली में गरिमा और प्रसाद की आवश्यकता बताई है। अस्तु, वस्तु, पात्र, शैली आदि सभी की दृष्टि से महाकाव्य एक आदर्श रचना होती है। अरस्तू की यह धारणा भारतीय आचार्यों के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' की भूमिका में सिद्ध किया है—कथानक की ऐतिहासिकता, क्षेत्र की व्यापकता, कार्य की एकता, एवं प्रबन्ध की सुव्यवस्था आदि की दृष्टि से अरस्तू एवं भारतीय आचार्यो के महाकाव्य, सम्बन्धी लक्षण परस्पर अभिन्न हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि अरस्तू की दृष्टि महाकाव्य के बाह्य तत्त्वों पर ही अधिक रही—वे उसके भावतत्त्व की सूक्ष्मता तक नहीं पहुँच सके जबकि भारतीय विद्वानों ने ऐसा किया है।

नाटक के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हुए अरस्तू ने उसके मुख्यतः दो भेद निर्धारित किए हैं—(१) त्रासदी और (२) कामदी। इन दोनों का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। त्रासदी (Tragedy) की परिभाषा करते हुए उन्होंने बताया है कि इसमें किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति होती है। इसका माध्यम विभिन्न रूपों में प्रयुक्त अलंकार भाषा होती है। यह वर्णनात्मक न होकर अभिनयात्मक होती है तथा इसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है। त्रासदी के मुख्यतः ये छः अंग माने गए हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान और गीत। इनमें से भी कथानक, चरित्र-चित्रण और विचार-तत्त्व अनुकरण के विषय हैं जबकि दृश्य-विधान माध्यम है और पद-रचना तथा गीत उसकी शैली है।

कामदी (Comedy) को अरस्तू ने त्रासदी से हलकी मानते हुए लिखा है कि कामदी का लक्ष्य मनुष्य के हीन रूप का चित्रण करना होता है जबकि त्रासदी में उसका भव्य रूप प्रस्तुत किया जाता है। कामदी का मूल भाव भी हास्य होता है। उसकी विषय-वस्तु के आधार के रूप में किसी ऐसे दोष या चारित्रिक विकृति को ग्रहण किया जाता है, जो कि दर्शकों के मन में हास्य का संचार कर सके। अतः दोष अधिक गम्भीर नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह हास्य की सृष्टि न करके किसी ऐसे गम्भीर भाव की उद्दीप्ति कर देगा, जो कि कामदी के अनुकूल न हो। इन भेदों के अतिरिक्त तात्विक दृष्टि से कामदी और त्रासदी में कोई गहरा अन्तर नहीं है।

उपसंहार

ऊपर विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत अरस्तू के प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर अन्त में हम कह सकते हैं कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू के सिद्धान्त पूर्णतः स्वीकार्य न होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ उनका अनुकृति-सिद्धान्त कला की मूलभूत प्रकृति का परिचय देता है, वहाँ विरेचन से पाठक की आनन्दानुभूति का रहस्य प्रकट होता है। किन्तु साथ ही इनसे कला व काव्य के सम्बन्ध

में भ्रांति का भी प्रचार होता है। अनुकृति-सिद्धान्त कला की नवीनता व मौलिकता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा देता है, तो विरेचन सिद्धान्त उसे मल एवं विकारों की शुद्धि करने-वाला सिद्ध कर देता है। ये दोनों ही सिद्धान्त कला को अभावात्मक रूप दे देते हैं। यदि पहले से कोई वस्तु विद्यमान न हो तो कलाकार अनुकृति किसकी करेगा—और पाठक के मन में पहले से मल या विकार न हों तो कला किसका विरेचन करेगी! खैर, अरस्तू ने जिस युग के लिए ये सिद्धान्त प्रस्तुत किए थे, उस युग के लिए ये ठीक थे, किन्तु आज इन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करना कठिन है! हमारे विचार से अरस्तू के 'अनुकृति' के स्थान पर 'अनुभूति' और 'विरेचन' के स्थान पर 'अभिव्यक्ति' को रखना आधुनिक मान्यताओं के अधिक अनुकूल होगा। वैसे कुछ पाश्चात्य आलोचकों ने अरस्तू के इन शब्दों को इस तरह से घिसने का प्रयास किया है जिससे कि इनका अर्थ क्रमशः अनुभूति और अभिव्यक्ति हो जाय। अरस्तू के भारतीय व्याख्याता डा० नगेन्द्र ने भी उनके विचारों को नये सौन्दर्य से विभूषित करते हुए लिखा है—"वह अनुकृति नहीं है····परन्तु यह तो अरस्तू भी नहीं कहते। पहले तो 'अनुकृति' शब्द के विषय में भी विद्वानों को यह आपत्ति है कि अरस्तू के 'मीमेसिस' शब्द का अर्थ अनुकरण नहीं है, परन्तु यदि इस शब्द को सदोष मान भी लिया जाये, तो भी उनका आशय तो साधु है। यह निर्विवाद है कि वे काव्य को वस्तु का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण या पुनःसृजन ही मानते हैं, स्थूल प्रतिरूपण नही।" अतः हमें मानना चाहिए कि अरस्तू के सिद्धान्त शाब्दिक दृष्टि से भले ही दोष-पूर्ण हों—उनका आशय तो ठीक ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि अरस्तू का 'साधू आशय' अरस्तू के ही शब्दों में अभिव्यक्त हो पाता तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि आज यह शंका की जा सकती है कि कहीं यह साधु आशय, स्वयं अरस्तू का न होकर उनके साधु व्याख्याताओं का ही न हो।

सत्रह :

लोंजाइनस का औदात्य विवेचन

१. सामान्य परिचय ।
२. औदात्य : स्वरूप-मीमांसा ।
३. औदात्य का मूलाधार ।
४. औदात्य के पाँच स्रोत ।
५. औदात्य के बाधक तत्त्व ।
६. लोंजाइनस का पुनर्मूल्यांकन ।

यूनान के साहित्य-चिन्तकों की परम्परा में लोंजाइनस (Longinus) का गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी एक छोटी-सी रचना उपलब्ध है—On the Sublime ('औदात्य' पर विचार) जो कि अनेक शताब्दियों तक अज्ञात एवं अप्रकाशित रही। आधुनिक काल के विद्वानों को इसके अस्तित्व का पता सर्वप्रथम १५५४ ई० में चला तथा तदनन्तर १६५२ ई० में इसका अंग्रेजी अनुवाद हुआ जिससे इसका प्रचलन योरप के विभिन्न भागों में हुआ। स्वयं लोंजाइनस के जीवन-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, कुछ उन्हें पहली शताब्दी का कोई अप्रसिद्ध लेखक मानते हैं, तो दूसरे उन्हें तीसरी शताब्दी के सुप्रसिद्ध लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कि महारानी जेनोबिया का मन्त्री था तथा जिसने अपनी स्वामि-भक्ति की प्रेरणा से आत्मोत्सर्ग कर दिया था। हमारे विचार से लोंजाइनस का उदात्त चरित्र उन्हें 'औदात्य' ग्रन्थ का रचयिता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, अतः हम भी उन्हें तीसरी शताब्दी के महान् लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करें तो अनुचित न होगा।

'औदात्य' स्वरूप-मीमांसा—'औदात्य' (Sublime) ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य औदात्य सिद्धान्त ही है जिसकी विवेचना विस्तार से की गई है। सबसे पहला प्रश्न उठता है—औदात्य क्या है। इसका समाधान करते हुए लोंजाइनस ने अनेक बातें कही हैं—(१) औदात्य अभिव्यक्ति की उच्चता और उत्कृष्टता का नाम है....। (२) अभिव्यक्ति की यह उच्चता (उदात्तता) श्रोता के तर्क का समाधान नहीं करती, वरन् उसे पूर्णतया अभिभूत कर लेती है। (३) किसी वस्तु पर विश्वास करें या नहीं, यह अपने वश में है, पर औदात्य अपनी प्रबल एवं दुर्निवार शक्ति के कारण प्रत्येक पाठक को अनायास ही बहा ले जाता है। (४) किसी भी सर्जना के शिल्प, उसकी सुस्पष्ट व्याख्या और तथ्यों के प्रस्तुतीकरण के गुणों का ज्ञान उसके एक या दो अंशों से नहीं, अपितु सम्पूर्ण रचना के शिल्प-विधान से धीरे-धीरे होता है, जबकि उदात्त विचार यदि अवसर के अनुकूल हो

तो एकाएक विद्युत की भाँति चमककर समूची विषय-वस्तु को प्रकाशित कर देता है तथा वक्ता के समस्त वाग्वैभव को एक क्षण में ही प्रकट कर देता है।

यदि उपर्युक्त कथनों का विश्लेषण करें तो औदात्य के अनेक लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—(क) औदात्य को अभिव्यक्ति की उच्चता से सम्बन्धित किया गया है, इसका अर्थ है कि वह शैली का कोई विशेष गुण है। (ख) दूसरे उद्धरण से ज्ञात होता है कि औदात्य तर्क का समाधान नहीं करता, अपितु वह श्रोता को अभिभूत कर लेता है, इसका तात्पर्य हुआ कि वह बौद्धिक तत्त्व न होकर भावोत्पादक गुण है, क्योंकि उसी स्थिति में वह श्रोता को बहा सकेगा। (ग) तीसरे कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि औदात्य श्रोता को बलात् बहा ले जाता है अर्थात् वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है। (घ) चौथे कथन के अनुसार औदात्य एक ऐसा विचार है, जो कि अवसरानुकूल हो रचना में एकाएक चमत्कार की भाँति स्फुरित होता है।

सच पूछें तो ये लक्षण परस्पर-विरोधी दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि एक स्थान पर औदात्य को शैली का गुण कहा गया है, तो दूसरे स्थान पर उसे भावावेग एवं तीसरे पर उसे चामत्कारिक विचार बताया गया है। ऐसी स्थिति में औदात्य को शैली से सम्बन्धित मानें या भाव अथवा विचार से? इसका उत्तर जैसा कि लोंजाइनस की अन्य स्थापनाओं से स्पष्ट होता है, यही है कि औदात्य एक भाव भी है, विचार भी और शैली भी! औदात्य को यहाँ इतने व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है कि उसकी सत्ता रचना के वस्तु पक्ष से लेकर शैली पक्ष तक—सर्वत्र व्यापक दिखाई देती है। इतना ही नहीं, लोंजाइनस के विचार से तो यह केवल कला का ही नहीं कलाकार का भी गुण है—जब कलाकार के व्यक्तित्व में औदात्य होता है तो वह उदात्त विषय, उदात्त भाव एवं उदात्त विचारों को अपनाता है, परिणामस्वरूप उसकी शैली में भी औदात्य का संचार हो जाता है तथा अन्त में यही औदात्य अपने सुसमन्वित रूप में प्रकट होकर श्रोता या पाठक की आत्मा को झंकृत कर देता है—जिसे हम 'चमत्कार' या 'आनन्द' कहते हैं। इस धारणा का स्पष्टीकरण परवर्ती विवेचन से होता है।

औदात्य का मूल आधार—औदात्य का मूल आधार क्या है? क्या वह वक्ता या लेखक की जन्मजात प्रतिभा पर ही आधारित होता है या उसका प्रस्फुटन शिक्षा-दीक्षा से किया जा सकता है? वह सहज है या अभ्यास पर निर्भर है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए लोंजाइनस ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है। उसके विचार से औदात्य न तो सर्वथा प्रतिभा-सापेक्ष्य है और न ही पूर्णतः अभ्यास-सापेक्ष्य है। वे औदात्य की मूल प्रेरक शक्ति प्रतिभा को मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि नियमों के ज्ञान एवं अभ्यास के द्वारा प्रातिभ ज्ञान का नियमन अपेक्षित है। जिस प्रकार मूल भावों को यदि सर्वथा स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वे व्यक्ति को भटकाकर सर्वनाश की ओर ले जा सकते हैं, अतः उन पर बुद्धि का नियंत्रण अपेक्षित है, उसी प्रकार औदात्य के लिए भी प्रतिभा के साथ शिक्षा का समन्वय अपेक्षित है। पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि अलंकारों या शब्दाडम्बर के ज्ञान से औदात्य की उपलब्धि हो सकती है वस्तुतः औदात्य का आधार व्यक्ति का कोई एक पक्ष, एक गुण या एक प्रवृत्ति नहीं है, अपितु उसके पीछे

सम्पूर्ण व्यक्तित्व की झलक होती है। केवल प्रतिभाशाली व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से हलका छिछोरा हो सकता है, उसकी वासनाएँ अपरिष्कृत एवं प्रवृत्तियाँ क्षुद्र भी हो सकती है—ऐसी स्थिति में उससे औदात्य की आशा कैसे की जा सकती है! इसी प्रकार एक सुपठित विद्वान् महान् शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी स्वार्थी, अहंवादी एवं दंभी हो सकता है, अतः उससे भी औदात्य सर्जना संभव नहीं। वस्तुतः औदात्य का स्रष्टा तो उदात्त व्यक्तित्व ही हो सकता है। एक महान् प्रतिभाशाली, उच्च विद्वान् एवं यशस्वी चरित्रवान् व्यक्ति ही उदात्त का उद्घोषक हो सकता है। लोंजाइनस के शब्दों में—Sublimity is, so to say, the image of greatness of soul........true eloquence can be found only in those whose spirit is generous and aspiring. For those whose whole lives are wasted in paltry any illiberal thoughts and habits cannot possibly produce any work worthy of the lasting reverence of mankind. It is only natural that their words be full of sublimity whose thoughts are full of majesty." अर्थात् 'औदात्य आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है।....सच्चा औदात्य केवल उन्हीं में प्राप्य है जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है। जिनका सारा जीवन तुच्छ एवं संकीर्ण विचारों के अनुसरण में व्यतीत होता है, वे सम्भवतः कभी भी मानवता के लिए कोई स्थायी महत्त्व की रचना प्रस्तुत करने में सफल नही होते। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओं से परिपूर्ण है; उन्ही की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत हो सकते हैं।'

इस प्रकार औदात्य का सम्बन्ध केवल प्रतिभा, केवल अध्ययन और केवल भाषाभ्यास से नहीं, अपितु व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व से है। लोंजाइनस की यह धारणा उन्हे साहित्य-चिन्तन की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी प्रमाणित करती है। इससे पूर्व कदाचित् किसी भी अन्य आलोचक ने साहित्य का उसके रचयिता के व्यक्तित्व से इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था जितना कि यहाँ किया गया है। इस दृष्टि से उन्हे साहित्य में व्यक्तिवादी दृष्टि का मूल प्रवर्त्तक कहा जा सकता है।

औदात्य के पांच स्रोत—यद्यपि औदात्य का मूलाधार साहित्यकार के व्यक्तित्व की ही महानता में निहित है, फिर भी स्पष्टता के लिए वस्तुगत दृष्टि से औदात्य के पाँच ऐसे स्रोतों की भी स्थापना की गई है जिनके द्वारा किसी भी कृति में औदात्य का संचार होता है। वे पाँच स्रोत क्रमशः ये हैं :—

(१) **उदात्त विचार**—काव्यगत औदात्य के स्रोतों के अन्तर्गत सर्वप्रथम उदात्त विचार (grandeur of thought) को लिया गया है। यही उदात्त व्यक्तित्व या महान् आत्माओं का प्रतिबिम्ब होता है, अतः इसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है। व्यक्ति में औदात्य नैसर्गिक ही होता है, पर फिर भी शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारों से उसका सम्यक् विकास या पोषण सम्भव है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदात्त विचार महान् व्यक्तियों की वाणी से स्वतः ध्वनित होते हैं, अतः इसके लिए किसी विशेष बाह्य प्रयास की अपेक्षा नहीं होती। जिस लेखक या वक्ता का निजी व्यक्तित्व उदात्त होगा, वह स्वतः

ही उदात्त विषयों, महान् कार्यों एवं महापुरुषों के चित्रण में रुचि लेता हुआ उनका चित्रण उदात्त रूपों में कर सकेगा। महापुरुषों एवं महान् क्रिया-कलापों के सम्यक् चित्रण के लिए उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक है तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तादात्म्य केवल उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा सम्भव है, जो स्वयं उदात्त व्यक्तित्व के धनी हों। इसका उदाहरण 'ईलियद' के रचयिता होमर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से दिया जा सकता है। होमर की महान् धारणाएँ ही उनकी रचनाओं में उस महानता का संचार कर पायी हैं, जिसे दूसरे शब्द में 'औदात्य' कहा गया है।

(२) **भावों का उदात्त रूप में चित्रण**—काव्यगत औदात्य का दूसरा स्रोत उदात्त भावों का चित्रण है। लोंजाइनस से पूर्व कतिपय लेखकों ने या तो भाव और औदात्य की पृथकता को स्वीकार नहीं किया या फिर उन्होंने भावावेग को औदात्य में बाधक माना है। पर लोंजाइनस ने इस मत का तीव्र रूप में खंडन करते हुए भावावेग को औदात्य का सहायक माना है। "मेरे विचार में जो आवेग उन्मद उत्साह एवं उद्दामता से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।" (ग्रीक साहित्य-शास्त्र, पृ० १६१)

भावावेग की अभिव्यक्ति के विभिन्न साधनों के अन्तर्गत लोंजाइनस ने सर्वाधिक महत्त्व परिस्थितियों (भारतीय शब्दावली में आलम्बन एवं उद्दीपन के संयोग) को दिया है। उपयुक्त परिस्थितियों का चयन एवं उनका सम्यक् रूप में संघटन ही भावावेग का जनक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भावों के चित्रण में विस्तारण एवं बिम्ब-विधान से भी सहायता ली जा सकती है।

(३) **अलंकार नियोजन**—औदात्य का तीसरा स्रोत अलंकारों का नियोजन है। अलंकारों के सम्बन्ध में लोंजाइनस का विचार है कि इनके सम्यक् प्रयोग से औदात्य की सिद्धि में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रसंग में उन्होंने अलंकारों के विभिन्न भेदों का भी निरूपण किया है, जिनमें से प्रमुख ये हैं—१. शपथोक्ति २. प्रश्नालंकार ३. विपर्यय ४. व्यतिक्रम ५. पुनरावृत्ति ६. प्रत्यक्षीकरण ७. संचयन ८. सार ९. रूप-परिवर्तन १०. पर्यायोक्ति ११. रूपक १२. उपमा आदि। (विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य—'ग्रीक साहित्य-शास्त्र')

लोंजाइनस के मतानुसार अलंकारों का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि श्रोता या पाठक को उनके प्रयोग का पता न चले। दूसरे शब्दों में, अलंकार भावावेग की प्रेरणा से सहज स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होने चाहिए, उसी स्थिति में वे प्रभावशाली एवं औदात्य के उत्पादक सिद्ध होते हैं।

(४) **उत्कृष्ट भाषा**—औदात्य का चतुर्थ स्रोत उत्कृष्ट भाषा है। यह तथ्य है कि उपयुक्त एवं प्रभावोत्पादक शब्दावली श्रोता को आकर्षित करती हुई उसे भावाभिभूत कर लेती है। ऐसी शब्दावली, जिसमें भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा, ओज, शक्ति आदि श्रेष्ठ गुणों की अभिव्यक्ति हो, प्रत्येक वक्ता या लेखक के लिए स्पृहणीय है। 'सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचारों को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं, किन्तु इससे

यह तात्पर्य नहीं है कि गरिमामयी भाषा ही प्रत्येक अवसर के अनुकूल है, क्योंकि छोटी-मोटी बातों को भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से बालक के मुँह पर पूरे आकार-वाला मुखौटा लगा देने के समान है।'

उत्कृष्ट भाषा की विभिन्न विशेषताओं के अन्तर्गत सुन्दर शब्दावली के अतिरिक्त ओज, प्रवाहपूर्णता, रूपकों का सीमित प्रयोग, उपमाओं एवं अत्युक्तियों का उचित प्रयोग आदि को स्थान दिया गया है। वस्तुतः भाषा के विभिन्न गुणों की उपयोगिता औदात्य की सृष्टि में है—यदि उसके ये गुण इस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं तो स्वीकार्य हैं, अन्यथा नहीं।

(५) **गरिमामय रचना-विधान**—औदात्य का पाँचवाँ स्रोत गरिमामय रचना-विधान है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सामंजस्य (Harmony) को स्थान दिया गया है। सामंजस्य का एक प्रकार शब्दों को विशेष क्रम में व्यवस्थित करना है। सामंजस्य में एक ऐसी शक्ति होती है जिससे कि वह न केवल श्रोता को प्रसन्नता प्रदान करता है, अपितु एक सीमा तक वह उसे द्रवित करके बहा भी ले जाता है। बाँसुरी की मधुर तान की भाँति रचना का सामंजस्य भी हमारे मन में विभिन्न भावों को उद्वेलित करता हुआ औदात्य की अनुभूति प्रदान करता है। विभिन्न छन्दों का आविष्कार सामंजस्य की स्थापना के लिए ही हुआ है।

इस प्रकार किसी भी रचना में औदात्य की सृष्टि उदात्त विचार, उदात्त भावावेग, सम्यक् अलंकार-नियोजन, उत्कृष्ट भाषा एवं रचनागत सामंजस्य के द्वारा ही होती है। पर ये सभी तो साधन मात्र हैं—इनका साध्य तो केवल औदात्य ही है, अतः इनकी सफलता एवं महत्ता उसी सीमा तक है, जहाँ तक वे साध्य की उपलब्धि में सफल सिद्ध होते हैं।

औदात्य के बाधक तत्त्व—औदात्य के साधक तत्त्वों की भाँति उसके बाधक तत्त्व भी हैं, जिन्हें 'दोष' कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत मुख्यतः भाषा की अव्यवस्था प्रवाह-शून्यता, विषय से अधिक लय की प्रमुखता, उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता, अस्पष्टता, आडम्बरपूर्ण शैली, अनुचित विचार, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, ग्राम्य पदों का प्रयोग, कर्णकटु भाषा, विषयानुरूप शब्दावली का अभाव आदि दोषों को लिया गया है। इन दोषों से रचना का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

लोंजाइनस : पुनर्मूल्यांकन—भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए लोंजाइनस के विचारों का पुनर्मूल्यांकन किया जाय तो हमारे विचार में उसकी निम्नांकित उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ स्वीकार की जा सकती हैं :

(क) **उपलब्धियाँ**—जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, ग्रीक साहित्य-चिन्तन-परम्परा में लोंजाइनस पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने काव्य-वस्तु एवं काव्य-गरिमा का सम्बन्ध रचयिता के व्यक्तित्व से स्थापित करते हुए उसे महत्त्व प्रदान किया। उनसे पूर्व अरस्तू ने अनुकृति सिद्धान्त द्वारा प्रकृति को ही काव्य का आधार-स्रोत मानते हुए कवि के निजी व्यक्तित्व को सर्वथा उपेक्षित एवं तिरोहित कर दिया था। अनुकृति सिद्धान्त के अनुसार कला प्रकृति की अनुकृति है, इसका तात्पर्य है कि कला का सौन्दर्य प्रकृति के सौन्दर्य

की ही अनुकृति-मात्र है, ऐसी स्थिति में कलाकार का क्या योगदान है ? केवल अनुकृति प्रस्तुत कर देना तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। लोंजाइनस ने अनुकृति सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा करते हुए कवि के व्यक्तित्व की विशिष्टता एवं रचना की मौलिकता का प्रतिपादन किया, जो उसकी नूतन दृष्टि का प्रमाण है। वस्तुतः जहाँ प्लेटो घोर आदर्शवादी था, अरस्तू वस्तुवादी या यथार्थवादी, वहाँ लोंजाइनस स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) था। पाश्चात्य परम्परा में कवि व्यक्तित्व को महत्त्व प्रदान करने के कारण ही लोंजाइनस को पहला रोमांटिक आलोचक माना जाता है जो ठीक ही है।

दूसरे, औदात्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा भी सर्वप्रथम लोंजाइनस द्वारा हुई। आगे चलकर विभिन्न पाश्चात्य आलोचकों एवं कला-मीमांसकों ने कला के दो प्रमुख तत्त्वों के अन्तर्गत सौन्दर्य एवं औदात्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है, तथा कान्ट, हीगल, कैरिट, सैंतायन प्रभृति सौन्दर्य-शास्त्रियों ने इनकी विस्तार से मीमांसा की है। वस्तुतः आधुनिक कला-समीक्षा में अरस्तू के अनुकृति-सिद्धान्त की अपेक्षा औदात्य को ही अधिक महत्त्व प्राप्त है।

तीसरे, लोंजाइनस का दृष्टिकोण जितना गम्भीर है, उनका विवेचन-विश्लेषण भी उतना ही सूक्ष्म एवं व्यापक है। वे औदात्य को एक व्यापक रूप प्रदान करते हैं कि उसके अन्तर्गत कवि का व्यक्तित्व विचार-तत्त्व, भाव-तत्त्व, शैली का अलंकरण, शब्द-चयन, रचना के गुण-दोष आदि सभी प्रमुख तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं। वे रचना की सर्जना-प्रक्रिया से लेकर उसकी आस्वादन-प्रक्रिया तक की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों की व्याख्या सर्वथा नूतन, मौलिक एवं प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि लोंजाइनस महान् चिन्तक एवं व्याख्याता थे।

भारतीय दृष्टि से लोंजाइनस का भावावेगों को महत्त्व देते हुए अलंकार, गुण-दोष आदि की मीमांसा करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि लोंजाइनस ने मूलतः औदात्य को लक्ष्य माना है, पर भावावेगों के उद्वेलन एवं तज्जन्य आनन्द की बात भी उन्होंने स्थान-स्थान पर की है जो भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुकूल है। इसी प्रकार उनका रीति विवेचन भी भारतीय अलंकार एवं रीति सिद्धान्त के अनुकूल है।

(ख) सीमाएँ—जहाँ औदात्य की व्यापक रूप में प्रतिष्ठा करते हुए लोंजाइनस ने उसका सम्बन्ध विचार, भाव, शैली आदि सभी पक्षों से स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वहाँ उनकी यह सीमा भी है कि ऐसा करते समय उन्होंने औदात्य के मूल क्षेत्र को भुला दिया है। औदात्य का मूल अर्थ है—उच्च विचार या ऐसी भावनाएँ जो त्याग, आत्मबलिदान या परोपकार की प्रेरक हों। इस दृष्टि से औदात्य एक चारित्रिक या नैतिक तत्त्व है, उसका कला से सीधा सम्बन्ध नहीं है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारों में या महात्मा गाँधी के जीवन-चरित में पर्याप्त मात्रा में औदात्य के होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि वे कलात्मक सौन्दर्य से युक्त हों। कला का प्राथमिक गुण सौन्दर्य है, औदात्य उसका अतिरिक्त गुण है। फिर कला या काव्य में औदात्य की स्थान

औदात्य के कारण नहीं, अपितु उसके काव्य-सौन्दर्य के कारण ही मिलता है, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए कबीर की निम्नांकित उक्ति को लीजिए—

माली आवत देखि कै कलियाँ करें पुकार।
फूले-फूले चुनि लिए कालि हमारी बार।

यहाँ जिस उदात्त विचार की अभिव्यक्ति की गई है, वह अपने कलात्मक सौन्दर्य के कारण ही स्वीकार्य है, अन्यथा नहीं। यदि कोई अभिधा में लिख दे—'हम सबको मरना है अतः संसार का मोह छोड़ो'—तो यह वाक्य काव्य की कोटि में नहीं आयेगा, यद्यपि इसमें औदात्य है।

वस्तुतः औदात्य केवल शान्त रसात्मक काव्य का ही प्रमुख गुण है, अन्य प्रकार के काव्य में उसका होना आवश्यक नहीं है। औदात्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने में, उसे अधिक गम्भीरता प्रदान करने में सहायक तो सिद्ध हो सकता है, पर वह उसका स्थानापन्न या जनक नहीं बन सकता। औदात्य की इस दुर्बलता को जानते हुए लोंजाइनस ने इसका सम्बन्ध भाव, अलंकार, गुण आदि से स्थापित कर दिया, पर यह सम्बन्ध अस्वाभाविक एवं असंगत है। अलंकार, वस्तुतः औदात्य के नहीं, सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्द के स्रोत हैं, अन्यथा रीतिकाल के शृङ्गारी कवियों का परकीया-वर्णन औदात्यशून्य होता हुआ भी हमें प्रभावित नहीं करता। लगता है लोंजाइनस महोदय ने औदात्य का विस्तार करते-करते उसके मूल रूप को ही बदल डाला—वह उनके निबन्ध में, 'सौन्दर्य' का पर्यायवाची बन गया। अस्तु, हम औदात्य के इस व्यापक रूप को जो कि आरोपित एवं अनुपयुक्त है—अस्वीकार करते हुए भी उसे महानता के आधार रूप में स्वीकार कर सकते हैं। कला और काव्य का मूल गुण तो सौन्दर्य या आकर्षण ही है, पर यदि उसमें साथ ही औदात्य भी हो तो वह कला से महान् कला और काव्य से महान् काव्य बन जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अठारह

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजना के प्रवर्त्तक क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०) का जन्म इटली में हुआ था। वे न केवल एक कला-मीमांसक अपितु एक गम्भीर तत्त्ववेत्ता दार्शनिक भी थे। उन्होंने इतिहास के स्वरूप, सौन्दर्य-शास्त्र, मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था, आत्म-दर्शन आदि अनेक विषयों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया। सन् १९०० में उन्होंने एक गोष्ठी में एक लेख—'Fundamental thesis of an aesthetic as science of expression and general linguistics' पढ़ा था। यही लेख उनके अभिव्यंजनावादी विचारों का मूलाधार बना। आगे चलकर उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लेख और लिखे तथा एक लेख 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में भी दिया—इन सबसे उनकी प्रसिद्धि चारों ओर हो गई। उनका कला-सम्बन्धी सर्व-प्रमुख ग्रन्थ 'एस्थेटिक' (सौन्दर्य-शास्त्र) के नाम से प्रकाशित हुआ, जो अब विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है।

क्रोचे का आधारभूत दर्शन

क्रोचे के विचार प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल से प्रभावित हैं, किन्तु उसने उनका अन्धानुकरण नहीं किया। जहाँ वह एक ओर हीगल का अनुयायी है, वहाँ दूसरी ओर वह उनका कठोर आलोचक भी है। हीगल ने पक्ष और विपक्ष के समन्वित रूप को ही सत्य मानते हुए एक नवीन दर्शन-पद्धति का आविष्कार किया था। अपनी इसी पद्धति के अनुसार हीगल ने कला को पक्ष, धर्म को विपक्ष और दर्शन को दोनों का समन्वित पक्ष माना है। क्रोचे ने हीगल की मूल-पद्धति का तो समर्थन किया, किन्तु कला के संबंध

में उसके प्रयोग को उसने त्रुटिपूर्ण बताया। उसके मत से धर्म को कला का विपक्षी या विरोधी मानना अनुचित है।

हीगल ने आत्मा की भी त्रयात्मक स्थिति निर्धारित करते हुए उसकी तीन प्रवृत्तियाँ मानी थीं—(१) ज्ञानात्मक प्रवृत्ति (पक्ष), (२) व्यावहारिक प्रवृत्ति (विपक्ष) और (३) आध्यात्मिक प्रवृत्ति (समन्वय)। क्रोचे ने इसके स्थान पर केवल दो ही मूलभूत प्रवृत्तियाँ मानीं—ज्ञानात्मक और व्यावहारिक। इनमें से भी प्रत्येक के उन्होंने दो-दो भेद किये—ज्ञानात्मक के दो भेद (१) सहजानुभूति और (२) विचारात्मक क्रिया। व्यावहारिक प्रवृत्ति के दो भेद—(१) आर्थिक या निजी योग-क्षेम से सम्बद्ध और (२) नैतिक। इस प्रकार क्रोचे के मत से सभी प्रवृत्तियों को उपर्युक्त चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कला और काव्य का सम्बन्ध इनमें से प्रथम प्रवृत्ति—सहजानुभूति से है। अतः आगे इसी पर विशेष रूप से विचार किया जावेगा।

सहजानुभूति

सहजानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए क्रोचे ने 'नेति-नेति' के मार्ग को अपनाते हुए उसे बौद्धिक ज्ञान, प्रत्यक्षीकरण, संवेदना आदि से भिन्न बताया है। सहजानुभूति और बौद्धिक ज्ञान की पृथकता का प्रतिपादन करते हुए वह लिखते हैं "पहली बात जो मस्तिष्क में अच्छी तरह बिठा लेनी चाहिए, वह यह है कि सहजानुभूत ज्ञान को किसी स्वामी की आवश्यकता नहीं होती। उसे किसी का सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे की आँखें उधार ले, कारण उसकी आँखें स्वयं काफी तेज है।" क्रोचे इस बात को स्वीकार करता है कि कई बार सहजानुभूति में भी बौद्धिक ज्ञान समन्वित हो जाता है, या बौद्धिक ज्ञान के मूल में सहजानुभूति हो सकती है, किन्तु फिर भी वह दोनों है, या बौद्धिक ज्ञान के मूल में सहजानुभूति हो सकती है, किन्तु फिर भी वह दोनों को एक नहीं मानता।

सहजानुभूति और प्रत्यक्ष-बोध के अन्तर को स्पष्ट करते हुए क्रोचे ने बताया है कि सहजानुभूति में यथार्थ और अयथार्थ का भेद नहीं होता जबकि प्रत्यक्ष-बोध में ऐसा होता है। इसी प्रकार सहजानुभूति ऐन्द्रिक संवेदनों से भी भिन्न है। सहजानुभूति साहचर्य या स्मृति व संस्कारों से भी भिन्न है। इस प्रकार सहजानुभूति को एक अच्छी पहेली बना देने के बाद क्रोचे ने अपने पाठकों पर दया करते हुए अन्त में रहस्योद्घाटन किया है कि सहजानुभूति अभिव्यंजना है। सामान्यतः सहजानुभूति और अभिव्यंजना—दो पृथक्-पृथक् क्रियाएँ प्रतीत होती हैं, किन्तु क्रोचे महोदय ऐसा नही मानते। उनके शब्दों में—"सहजानुभूति की क्रिया उसी अंश तक सहजानुभूति है जहाँ तक वह उसे अभिव्यक्त करती है। यदि इस उक्ति में विरोधाभास प्रतीत हो तो इसका कारण यह है कि साधारणतः 'अभिव्यंजना' का प्रयोग एक अत्यन्त सीमित अर्थ में किया गया है। इसे प्रायः 'शाब्दिक अभिव्यंजना' तक ही सीमित रखा जाता है, किन्तु अशाब्दिक अभिव्यंजनाएँ भी होती हैं, जैसे, रेखा, रंग और ध्वनि की अभिव्यंजनाएँ। इन सब तक हमारी मान्यता का विस्तार होना चाहिए।..व्यक्ति का प्रकाशन चित्र, शब्द, संगीत या

अन्य किसी भी रूप में क्यों न हो, सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप ढूंढ़ ही लेती है; वस्तुतः अभिव्यंजना सहजानुभूति का एक अभिन्न अंग है।" इन पंक्तियों को पढ़कर सामान्यतः अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती है—एक ओर तो यह कहा गया है कि सहजानुभूति और अभिव्यंजना अभिन्न हैं, दूसरी ओर प्रतिपादित किया गया है कि सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप ढूंढ़ लेती है, जिसका तात्पर्य है 'कि ढूंढ़ने-वाला और जिसे ढूंढ़ा जाता है—दोनों भिन्न हैं। प्रश्न है जब तक सहजानुभूति उस रूप को नहीं ढूंढ़ पाती, तब तक उसे क्या कहेंगे ? वस्तुतः सहजानुभूति और अभिव्यंजना को लेकर क्रोचे ने यहाँ परस्पर विरोधी बातें कही हैं। क्रोचे अधिक से अधिक यह कह सकता था कि सहजानुभूति अनुभूति की प्रारम्भिक अवस्था है जबकि अभिव्यंजना उसकी अन्तिम दशा, किन्तु उसने दोनों को सर्वथा अभिन्न घोषित करके अपनी बात को अविश्वसनीय रूप दे डाला। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि एक ही वस्तु के दो रूपों को भी अभिन्न नहीं कह सकते—दूध और दही एक ही वस्तु के दो रूप है, फिर भी दही को दूध कहना भ्रमोत्पादक ही सिद्ध होगा। क्रोचे का प्रयास भी लगभग ऐसा ही है।

सहजानुभूति और कला

अभी हम एक पहेली भली-भाँति सुलझा ही नहीं पाये थे कि एक दूसरी पहेली और प्रस्तुत हो गई है। पहले हमने बताया था कि सहजानुभूति अभिव्यंजना होती है—यहाँ इस धारणा पर प्रकाश डाला जायगा कि सहजानुभूति कला होती है। क्रोचे के विचार से प्रत्येक सहजानुभूति अभिव्यंजना है, और प्रत्येक अभिव्यंजना कला है, अतः यदि प्रत्येक सहजानुभूति को कला कह दिया जाय तो यह तनिक भी अनुचित नहीं होगा। शायद कुछ लोग कहना चाहेंगे कि "प्रत्येक सहजानुभूति नहीं, कुछ विशिष्ट प्रकार की ही सहजानुभूति कला होती है" किन्तु क्रोचे इसे स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में हमें यह सोचना पड़ेगा कि कदाचित् सहजानुभूति का सम्बन्ध केवल कलाकार से ही होता होगा, पर यह बात भी क्रोचे के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। वह कवि में और साधारण व्यक्ति में गुण या प्रतिभा का कोई अन्तर नहीं मानता। वस्तुतः सामान्य व्यक्ति और कलाकार में—दोनों में ही सहजानुभूति होती है। किन्तु दोनों की ही सहजानुभूति की मात्रा में अन्तर होता है। कलाकार की सहजानुभूति अधिक व्यापक एवं विस्तृत होती है—किन्तु इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि सामान्य व्यक्ति की सहजानुभूति का कोई महत्त्व ही नहीं है। जिस प्रकार जीव-शास्त्री के लिए चाहे मेढक का शरीर हो या आदमी का—दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, वैसे ही क्रोचे के लिए प्रत्येक व्यक्ति की सहजानुभूति का महत्त्व है। वह लिखता है—'किसी को यह जानकर अचरज नहीं होता कि पत्थर का एक टुकड़ा जिन रासायनिक तत्त्वों से निर्मित है, वे ही एक उन्नत पर्वत में भी विद्यमान हैं। छोटे-छोटे जानवरों और बड़े-बड़े जानवरों की शरीर क्रिया भी एक ही होती है और न ही पत्थरों के लिए पर्वतों से भिन्न, कोई विशिष्ट रासायनिक सिद्धांत होता है। उसी प्रकार यह बात भी सम्भव नहीं कि छोटी सहजानु-

भूति का एक शास्त्र हो और बड़ी सहजानुभूति का कोई अन्य, या एक शास्त्र सामान्य सहजानुभूति का हो और दूसरा कलात्मक सहजानुभूति का हो। सौन्दर्य-शास्त्र केवल एक है, जो सहजानुभूति अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का है।

कला के सम्बन्ध में प्रचलित इस प्राचीन विचार का कि कला प्रकृति की अनुकृति है क्रोचे खण्डन करता है। उसके शब्दों में—"यदि प्रकृति की अनुकृति से यह समझा जाय कि कला प्राकृतिक वस्तुओं की यांत्रिक प्रतिकृतियाँ, लगभग पूर्ण प्रतिलिपियाँ उपस्थित करती है और उनके समक्ष उसी प्रकार का भाव उद्वेलन होता है जैसा कि प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा, तो निःसंदेह यह स्थापना गलत है। मोम की रंगीन पुतलियाँ जो जीवन की नकल करती हैं, जिनके सामने संग्रहालयों में हम अवाक् खड़े रहते हैं, सौन्दर्यात्मक सहजानुभूतियाँ नहीं उत्पन्न करतीं।" अस्तु, उसके विचार से प्रकृति की अनुकृति का वास्तविक अर्थ सहजानुभूति ही है—अर्थात् प्रकृति के स्वरूप का जो बिम्ब हमारे मस्तिष्क में सहजानुभूति के रूप में उदित होता है, वही कला है।

कला में विषय और शैली की अभिन्नता

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति को एक ही मानता है; सहजानुभूति और अभिव्यंजना—दोनों उसके लिए एक हैं, अतः इसी आधार पर वह कला की विषय-वस्तु और उसकी शैली को भी अभिन्न घोषित करता है। उसकी मान्यता है कि जब कलाकार अपनी सहजानुभूति को अभिव्यंजना का रूप देता है तो उसमें वह नया कुछ भी नहीं जोड़ता—शैली के द्वारा वह विषय को प्रस्तुत नहीं करता, अपितु विषय ही शैली के रूप में अवतरित होता है। विषय और शैली में कोई अन्तर नहीं है, इसे स्पष्ट करते हुए उसने एक उदाहरण दिया है—"....**Like water put into filter, which reappears the same and yet different on the** other side" अर्थात् जैसे फिल्टर में से पानी छानने पर, किंचित् अंतर के साथ वही पुनः प्रकट होता है, ठीक वैसे ही अभिव्यक्त विषय (अर्थात् विषय + शैली) अनुभूत विषय का व्यक्त रूप है

कला की अखण्डता

क्रोचे जिस प्रकार विषय और शैली में अभिन्नता मानता है, वैसे ही कला के अन्य तत्त्वों एवं विभिन्न अंगों में भी वह एकता का ही प्रतिपादन करता है। उसके विचार से कला-कृति का विभिन्न तत्त्वों या विभिन्न अंगों के रूप में विश्लेषण करना सर्वथा अनुचित है। "कलाकृति को हम खण्डों में, कविता को दृश्यों, उपाख्यानों, उपमाओं व वाक्यों में, एक चित्र को अलग-अलग आकृतियों और वस्तुओं, पृष्ठ-भूमि, पुरोभूमि आदि में विभक्त करते हैं—यह क्रिया एकता का विरोध करती हुई प्रतीत होती है इस प्रकार वर्गीकरण कृति को नष्ट कर देना है। जिस प्रकार जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों, मांस-पेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में बदल देना है।" इसी प्रकार वह कला की विभिन्न श्रेणियों व कोटियों के निर्धारण का भी विरोध करता है।

उसके विचार से जैसे सौन्दर्य की कोटियाँ नहीं हो सकतीं। वैसे ही कला की भी कोटियाँ नहीं हो सकतीं।

कलाकार के साधन

कला-सृजन की प्रक्रिया या विश्लेषण करते हुए क्रोचे कलाकार के लिए चार साधन अपेक्षित मानते हैं। सर्वप्रथम तो उसके पास सजग इच्छा-शक्ति होनी चाहिए, जिससे कि वह सदैव कला-सृजन के लिए प्रस्तुत रहे। दूसरे, उसे कला के माध्यम का ज्ञान होना चाहिए—कला-सृजन के विभिन्न साधनों के उपयोग के ज्ञान एवं अभ्यास के अभाव में कला की सृष्टि में बाधा उपस्थित हो जायगी। तीसरे, कला-सृजन के आरम्भ में कलाकार के लिए चिंतन अपेक्षित है। जब उसे एकाएक किसी कलात्मक विचार की अनुभूति होती है तो वह उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। वह कई प्रकार से अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता है। अन्त में एकाएक मार्ग खुल जाता है और अभिव्यक्ति का प्रवाह चल पड़ता है। इसी से कलाकार को कला-सम्बन्धी आनन्द की अनुभूति होती है। चौथे, कलाकार में पर्याप्त कल्पना-शक्ति होनी चाहिए जिससे कि वह कलात्मक बिम्बों की आयोजना कर सके।

सामाजिक के लिए अपेक्षित क्षमताएँ

कलाकार की भाँति, सामाजिक के लिए कुछ क्षमताएँ अपेक्षित हैं। क्रोचे के विचार से सामाजिक को कला का आस्वाद प्राप्त करने के लिए एक तो कलाकार के दृष्टिकोण के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए जिससे कि वह कला-कृति के माध्यम से कलाकार द्वारा अनुभूत कलात्मक बिम्बों को पुनः अनुभूत कर सके। इसके लिए उसे जल्दबाजी, सुस्ती, उत्तेजना, बौद्धिक मान्यताओं, व्यक्तिगत सद्भावनाओं से मुक्त होकर कला का अध्ययन या मनन करना चाहिए।

सामाजिक जिस शक्ति से कला के सौन्दर्यात्मक बिम्बों का पुनः उत्पादन करता है उसे 'रुचि' कहते हैं। यह रुचि कलाकार की प्रतिभा का ही दूसरा नाम है। सामाजिक कलाकार के स्तर तक उठ पाने में और उसकी आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने में जितना अधिक सफल हो सकेगा, उतना ही वह कला का अधिक आस्वादन कर सकेगा। वस्तुतः उसके विचार से कलात्मक आस्वादन की चरमावस्था के समय सामाजिक और कलाकार के बीच आत्मिक तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

क्रोचे के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वह कला-सृजन और कला-आस्वादन की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं मानता। दोनों क्रियाएँ एक ही क्रिया के दो रूप हैं या यों कहिए कि जिस मार्ग पर चलकर कलाकार जिस मंजिल पर पहुँचता है, उसी मंजिल पर सामाजिक भी उसी मार्ग से पहुँचता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि कलाकार की क्षमताएँ अधिक होती हैं, अतः वह नेतृत्व करता है, जबकि सामाजिक कलाकार का अनुकरण करता है। यह अन्तर भी हम अपनी ओर से बता रहे हैं, क्रोचे शायद इसे भी न मानता रहा हो।

सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति

क्रोचे के विचार से सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में गहरा अन्तर है। सामान्य अनुभूति के मुख्यतः दो रूप हैं—(१) सुख और (२) दुःख। सुख-दुःख का सम्बन्ध हमारी चार मूलभूत प्रवृत्तियों में से आर्थिक-व्यावहारिक से है, जबकि कला का सम्बन्ध सहजानुभूति से है। अतः सामान्य अनुभूति का क्षेत्र ही कला से पृथक् सिद्ध होता है—ऐसी स्थिति में उसे कलाजन्य अनुभूति के समकक्ष कैसे रक्खा जा सकता है। फिर भी क्रोचे सामान्य प्रसन्नता और कलाजन्य आनन्द में गुणों का नहीं—मात्रा का अन्तर मानता है। नाटक के नायक की विभिन्न परिस्थितियों को देखकर हम हँसते हैं, आँसू बहाते हैं, और आनन्द अनुभव करते हैं—किन्तु हमारा यह हँसना, आँसू बहाना या आनन्द सामान्य सुख-दुःख से हलका होता है। सामान्य जीवन के सुख-दुःख वास्तविक एवं गम्भीर होते हैं जब कि कलाजन्य सुख-दुःख अवास्तविक—काल्पनिक—एवं ऊपरी होते हैं। अस्तु, क्रोचे इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कलाजन्य अनुभूति सामान्य अनुभूति से भिन्न होती है।

क्रोचे के विचारों पर पुर्नविचार

क्रोचे के विभिन्न विचारों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर अब हम निजी दृष्टिकोण से उनकी विवेचना कर सकते हैं। क्रोचे की धारणाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—सहजानुभूति, अभिव्यंजना और कला तीनों पर्यायवाची हैं।

२—कला में विषय और शैली की अभिन्नता रहती है।

३—कला का तात्त्विक या आंगिक विश्लेषण करना कला की हत्या करना है।

४—कला सृजन की प्रक्रिया और कला-आस्वादन की प्रक्रिया मूलतः एक ही है।

५—सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में मात्रा का अन्तर है।

उपर्युक्त धारणाओं के औचित्य पर क्रमशः विचार करते हुए हम सर्वप्रथम सहजानुभूति, अभिव्यंजना एवं कला की एकता पर विचार करते हैं। क्रोचे की तर्क-पद्धति की यह विशेषता है कि वह किन्हीं दो तत्त्वों या पदार्थों की किसी एक समानता के आधार पर ही वह दोनों को अभिन्न घोषित कर देता है। उदाहरण के लिए यदि हम क्रोचे की तर्क-पद्धति का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि गाय, भैंसें और कौआ तीनों एक ही हैं—कैसे? देखिए—गाय और भैंस दोनों दूध देती हैं, अतः दोनों एक हैं। भैंस और कौआ, दोनों काले रंग के होते हैं, अतः दोनों एक हैं। अतः यह निश्चित हुआ गाय = भैंस = कौआ। ठीक ऐसा ही फार्मूला यह है; सहजानुभूति = अभिव्यंजना = कला। एक इटालियन विद्वान् ने क्रोचे के इस फार्मूले की भर्त्सना करते हुए लिखा था कि क्रोचे को कला के समानार्थक शब्द ढूंढ़ने का इतना चाव था कि वह उचित और अनुचित को भी भूल जाता था। उक्त विद्वान् की यह उक्ति हमें भी ठीक प्रतीत होती है।

इसी प्रकार कला में विषय और शैली की अभिन्नता की बात है। एक ही विषय को लेकर अनेक रचनाएँ लिखी जा सकती हैं, किन्तु उनकी शैली में अन्तर रहेगा। तुलसी ने राम के ही जीवन-चरित को लेकर 'रामचरित-मानस' और 'कवितावली' की रचना की, किन्तु क्या दोनों में अन्तर नहीं है? यह ठीक है कि सदैव विषय के अनुरूप ही शैली का प्रयोग करना पड़ता है तथा दोनों में परस्पर गहरे समन्वय की अपेक्षा होती है किन्तु केवल इसी आधार पर दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो काव्य के विभिन्न रूपों के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्द—उपन्यास, नाटक, गीति आदि निरर्थक हो जाते तथा इन सबकी शैली में शैली का कोई अन्तर न होता, विषय का ही अन्तर होता। किन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है, अतः क्रोचे की मान्यता को स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता।

क्रोचे का यह विचार कि कला का तात्विक या आंगिक रूप में विश्लेषण करने से वह प्राण-शून्य हो जाती है—डरावना होता हुआ भी सत्य नहीं है। यह विचार वस्तुतः एक अत्यन्त भ्रान्त धारणा पर आश्रित है। किसी रचना का तात्विक विवेचन या विश्लेषण करने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसके सचमुच टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं। यह बात ऐसी है, जैसी कि चिकित्सा-विज्ञान की कक्षा में प्राध्यापक के यह कहने पर कि, "मानव-शरीर को हम अनेक तत्त्वों में बाँट सकते है—रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी...." कोई विद्यार्थी कहे कि—"नहीं साहब, ऐसा मत कीजिए, रक्त, मांस, हड्डी को अलग-अलग कर देंगे तो वह शरीर जीवित कैसे रहेगा।" जब हम 'गोदान' या 'कामायनी' के विभिन्न तत्त्वों की विवेचना करते है तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम कैंची लेकर पुस्तक के तत्त्वों को अलग-अलग कर देते है, अपितु केवल विवेचन-सुविधा के लिए ही अलग-अलग तत्त्वों की मीमांसा मौखिक रूप से की जाती है। जिस प्रकार 'आई-स्पेशलिस्ट' को एक आँख दिखाने से वह आँख शरीर से अलग नहीं हो जाती, ठीक वैसे ही कला के विभिन्न अंगों की विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षा करने से वे अंग कला से पृथक् नहीं हो जाते। अतः क्रोचे को यह केवल वहम था कि कला के विश्लेषण से उसकी मृत्यु हो जाती है। हाँ, यदि कला और कलाहीनता में भेद न कर सकने वाले किसी दार्शनिक के हाथ में वह पड़ जाय तब अवश्य ऐसा हो सकता है।

कला-सृजन की प्रक्रिया और कलास्वादन की प्रक्रिया को एक बताना भी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भोजन पकाना और भोजन खाना—दोनों एक ही हों। साथ ही कवि की प्रतिभा को पाठक की रुचि का पर्याय बताना भी बिल्कुल विचित्र-सा लगता है। हमारी शेक्सपीयर के नाटकों में रुचि है, तो इसका तात्पर्य है कि हममें शेक्सपीयर बनने की प्रतिभा है, और यदि किसी को जैनेन्द्र के उपन्यास पसन्द हैं तो इसका मतलब है कि वह भी जैनेन्द्र जैसा उपन्यासकार बन सकता है। खैर, इसमें क्रोचे का दोष नहीं है, उसकी शैली ही ऐसी है, जिसे वह विषय से पृथक् नहीं कर पाता। फिर भी इस प्रसङ्ग में उसने एक बात अवश्य महत्त्वपूर्ण कही है—वह यह कि पाठक का कवि के साथ तादात्म्य हो जाता है। यह तथ्य रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण के भी अनुकूल है।

सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति के अन्तर के सम्बन्ध में क्रोचे ने परस्पर-विरोधी बातें कही हैं। एक ओर यदि उसने दोनों का क्षेत्र भिन्न माना है, तो दूसरी ओर उसने उनमें अन्तर गुणों का नहीं, मात्रा का माना है। कलाजन्य अनुभूति को उसने लौकिक अनुभूति से हलका माना है। ऐसी स्थिति में हमारे लौकिक सुख-दुःख का हलका रूप कलाजन्य अनुभूति के समकक्ष सिद्ध होता है, जो ठीक नहीं।

अस्तु, इस प्रकार से क्रोचे का अभिव्यंजनावाद विचारों की दृष्टि से विशुद्ध अभि-व्यंजनावाद है। वह अपनी बात को इस ढंग से कहता है कि पाठक पढ़कर चौंकता है, सोचता है, उलझता है और अन्त में वह जब तक स्वयं को या क्रोचे को अति बुद्धिमान नहीं मान लेता तब तक वह सुलझ नहीं पाता। क्रोचे की बेतुकी बातों से चिढ़कर एक बार 'Making of Literature' के रचयिता जेम्स महोदय ने लिखा था "**the artist about whom he is Philosophizing exists no where but in his own mind.**"—अर्थात् जिस कलाकार (या कला ?) की क्रोचे व्याख्या कर रहा है, उसका निवास उसके दिमाग में ही है और कहीं नहीं !! क्रोचे के समकालीन और भी अनेक विद्वानों ने उसकी भर्त्सना की, किन्तु इससे उसका हित ही हुआ—क्योंकि 'बदनाम हुए तो क्या नाम नहीं हुआ !' और सचमुच यदि क्रोचे इससे थोड़ी भी भिन्न शैली अपनाता तो शायद उसका इतना व्यापक प्रचार नहीं हो पाता।

क्रोचे की उपर्युक्त असङ्गतियों एवं त्रुटियों के बावजूद इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उसके प्रभाव के कारण कला और साहित्य को दार्शनिकता, बौद्धि-कता, नैतिकता एवं उपयोगिता के नियन्त्रण से मुक्ति मिली तथा साथ ही शैली के वाह्य एवं आरोपित चामत्कारिक तत्त्वों की अपेक्षा अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति को बल मिला। अतः कला का लक्ष्य केवल कला या सौन्दर्य माननेवालों की दृष्टि से क्रोचे का महत्त्व अत्यधिक है—ऐसा निस्संकोच कहा जा सकता है।

: उन्नीस :

आई० ए० रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धान्त

१. विषय-प्रवेश ।
२. मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन ।
३. मूल्य का सिद्धान्त और साहित्य ।
४. प्रेषणीयता का सिद्धान्त ।
५. काव्य की भाषा ।
६. काव्यास्वादन की प्रक्रिया ।
७. रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्त्व ।

आधुनिक युगीन पाश्चात्य समीक्षकों में डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में नूतन दृष्टिकोण का परिचय देते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है। डॉ० रिचर्ड्स ने पहले मनोविज्ञान एवं अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य किया था, अतः साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने मनोविज्ञान व अर्थ-विज्ञान को अपनी स्थापनाओं के आधार के रूप में ग्रहण किया। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों को कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करते समय हमारे मन में पहले से ही मूल्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा होती है, या यों कहिए कि हम किसी पूर्व निश्चित मानदंड के आधार पर ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करते हैं। हम किसी वस्तु को अच्छी कह देते हैं और किसी को बुरी। प्रश्न है कि इस 'अच्छे होने' या 'बुरे होने' का मूलाधार क्या है? रिचर्ड्स ने इसी समस्या को उठाते हुए बताया है कि प्रायः लोग नैतिक दृष्टि से ही अच्छे-बुरे का निर्णय कर डालते हैं, किन्तु स्वयं नैतिक दृष्टि का मूलाधार क्या है—इस पर किसी ने स्पष्ट रूप में विचार नहीं किया। अतः सबसे पहले 'अच्छे' और 'बुरे' की धारणा का मनोविज्ञान के आधार पर सामान्य रूप में विश्लेषण किया जाना चाहिए।

डॉ० रिचर्ड्स के विचार से हमारी मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्वेगों से है। जो वस्तु हमारे उद्वेगों को संतुष्ट करती है, उसी को सामान्यतः मूल्यवान् कहा जाता है। ये उद्वेग (Impulses) भी दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रवृत्ति-मूलक और (२) निवृत्ति-मूलक। उदाहरण के लिए प्रथम में आकांक्षाएँ आती हैं तो दूसरे वर्ग में घृणा, निर्वेद आदि को ले सकते हैं। इन उद्वेगों में परस्पर संघर्ष भी हो सकता है। सम्भव है कि किसी एक उद्वेग की तुष्टि से दूसरे उद्वेग को ठेस पहुँचे।

यदि हम अपना कीमती पेन किसी को दान कर दें तो हमारी उदारता की भावना तो तुष्ट होगी, किन्तु साथ ही हमारी अधिकार की भावना को ठेस भी लग सकती है। ऐसी स्थिति में हमारा प्रयास यह होता है कि हम अपने उद्वेगों को इस प्रकार शांत करें कि जिससे दूसरे उद्वेगों से विरोध न हो। इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है, जबकि हम प्रमुख उद्वेगों को अधिक महत्त्व देते हुए गौण उद्वेगों की उपेक्षा करें। प्रश्न है—प्रमुख उद्वेग कौन से हैं और क्यों ? जिस उद्वेग की सन्तुष्टि करने पर अधिकाधिक उद्वेग तुष्ट होते हों तथा कम से कम उद्वेगों का विरोध होता हो, वही प्रमुख उद्वेग है। इन्हीं को अर्थशास्त्रियों ने मूलभूत आवश्यकताओं का नाम दिया है।

प्रेरणाओं की संतुष्टि में न केवल व्यक्ति की दूसरी प्रवृत्तियाँ, अपितु अन्य व्यक्तियों की प्रेरणाएँ भी बाधक बन सकती हैं। इससे व्यक्तियों में विरोध एवं संघर्ष का आरम्भ होता है। इसी विरोध एवं संघर्ष से बचने के लिए समाज में ऐसे नीति-नियमों का विकास हुआ है जिनसे बिना विरोध के ही अधिक से अधिक व्यक्तियों की सन्तुष्टि हो सके या उनकी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। अस्तु, वह नियम जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों को बिना किसी पारस्परिक विरोध के उनकी प्रमुख प्रेरणाओं को तुष्ट करने का विधान करता है—वही सबसे अच्छा नियम है, उसी को हम नैतिक नियम कहते है। संक्षेप में 'नैतिक' या 'अच्छा' या 'मूल्यवान्' का अर्थ है जो 'प्रेरणाओं की तुष्टि में सर्वाधिक सहायक हो।' स्वयं रिचर्ड्स के शब्दों में—"Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more unimportant appetency ; in other words, the only reason which can be given for not satisfying a desire is that more important desires will thereby be thwarted. Thus morals become purely prudential and ethical codes merely the expression of the most general scheme of expediency to which an individual or a race has attained," (Principles of Literary Criticism : Page 48) अर्थात् कोई भी वस्तु जो किसी एक इच्छा को इस प्रकार शान्त करती है कि उससे उसके समान या अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छा का अवरोध नहीं होता—मूल्यवान् है। या दूसरे शब्दों में किसी इच्छा को यदि तुष्ट नहीं करने दिया जाता तो उसका केवल यही आधार हो सकता है कि वैसा करने से उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छाएँ कुण्ठित हो जाएँगी। इसी प्रकार व्यक्ति या जाति के द्वारा अनुमोदित (इच्छा-पूर्ति की) प्राथमिकता पर आधारित सामान्य योजना की ही अभिव्यक्ति नैतिकता या नियमों के रूप में होती है।

मूल्य का सिद्धान्त और साहित्य

मूल्य के उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का नैतिकता से क्या सम्बन्ध है—इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इसी सिद्धान्त को डा० रिचर्ड्स साहित्य पर भी लागू करते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सीधे नैतिकता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। इस सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को अधिक ध्यान से समझना

होगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनके विचार से समाज और धर्म के सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं, अन्धविश्वासों आदि के पीछे मूलतः वही इच्छाओं की तुष्टि का लक्ष्य होता है। किन्तु फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमें सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं आदि को सर्वत्र महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। यद्यपि प्रारम्भ में इनका विकास समाज की किसी अवस्था एवं परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार होता है, किन्तु समय के साथ-साथ वे परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। ऐसी स्थिति में उन नियमों एवं प्रथाओं को भी बदल जाना चाहिए, पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। परिस्थितियाँ जिस तेजी से बदलती हैं, उस तेजी से हमारे नैतिक आदर्श एवं नियम नहीं बदलते। परिणाम यह होता है कि हम युग से पिछड़ जाते हैं, हमारी आन्तरिक एवं बाह्य व्यवस्था में व्याघात तथा हमारे जीवन में असंतोष उत्पन्न होता है।

समाज को अव्यवस्था एवं असंतोष की इस प्रचण्ड आग से बचाने के लिए परम्परागत आदर्शों एवं मान्यताओं में संशोधन एवं परिवर्तन की गहरी आवश्यकता का अनुभव होता है। यह परिवर्तन कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर है "अन्य (महान्) व्यक्तियों के मस्तिष्क (या विचारों) के प्रभाव से।" कला और साहित्य के द्वारा ऐसे प्रभाव उत्पन्न किए जाते हैं जिससे कि हम अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य समाज की मान्यताओं के संशोधन में योग देता है। उनके शब्दों में—"कलाकार का काम तो उन अनुभूतियों को अंकित कर देना एवं चिर स्थायी बना देना होता है, जिन्हें वह सबसे अधिक मूल्यवान समझता है।....कलाकार वह बिन्दु है, जहाँ मन का विकास सुव्यक्त हो उठता है। उसकी अनुभूतियों में—कम से कम उन अनुभूतियों में जो उसकी कृति को मूल्यवान बनाती है—ऐसे आवेगों का सामंजस्य लक्षित होता है जो अधिकांश लोगों के मन मे अस्त-व्यस्त, परस्पर अन्तर्भूत तथा द्वन्द्वरत हुआ करते हैं। जो कुछ अधिकांश लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है, उसकी कृति उसी को व्यवस्था देती है।" (पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २९३)

प्रेषणीयता का सिद्धान्त

रिचर्ड्स का काव्य सम्बन्धी दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'प्रेषणीयता का सिद्धान्त' (a theory of communication) है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्स ने बताया है, किसी भी काव्य की समीक्षा के लिए मूल्य के वैज्ञानिक आधार एवं प्रेषणीयता—दोनों को आधार बनाना चाहिए। 'प्रेषणीयता' शब्द का प्रचार समीक्षा के क्षेत्र में रिचर्ड्स से बहुत पूर्व हो चुका था, किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं था। इसके सम्बन्ध में अनेक रहस्यात्मक बातें प्रचलित थीं। कुछ लोग ऐसा समझते थे कि प्रेषणीयता में कवि की अनुभूति पाठक के हृदय में इस प्रकार संक्रमित की जाती है, जैसे कि एक सिक्का एक जेब से दूसरी जेब में चला जाता है। रिचर्ड्स ने इन धारणाओं का विरोध करते हुए स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया कि प्रेषणीयता कोई अद्भुत या रहस्यमय व्यापार नहीं है, अपितु मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है। उनके शब्दों में—"All that occurs is

that, under certain conditions, separate minds have closely similar experiences." अर्थात् प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रिचर्ड्स ने इन विभिन्न अनुभूतियों में आधार की ही एकता मानी है—उन अनुभूतियों का पारस्परिक ऐक्य उसने स्वीकार नहीं किया है। इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब किसी वातावरण-विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं। वस्तुतः किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूत करना ही प्रेषणीयता है।

प्रेषणीयता के आधारभूत तथ्यों की मीमांसा करते हुए रिचर्ड्स महोदय ने इसका श्रेय मुख्यतः कवि की वर्णन-क्षमता एवं श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं। सामान्यतः (विषय का) दीर्घ एवं घनिष्ठ परिचय, व्यापक जानकारी, जीवन की परिस्थितियों एवं अनुभूतियों की समानता आदि के कारण भी प्रेषणीयता सम्भव है। कुछ विशिष्ट एवं जटिल विषयों में सफल प्रेषणीयता के लिए यह आवश्यक है कि सम्बन्धित व्यक्तियों के अतीत-कालीन संचित अनुभव (या कहिए—संस्कार) बहुत कुछ एक से हों। साथ ही किसी एक विषय की प्रेषणीयता पर इस बात का भी गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसे कौन से दूसरे विषयों एवं तत्त्वों के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि रिचर्ड्स के विचार से विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक निबन्धों में भावोद्दीप्ति का समन्वय नही होना चाहिए, अन्यथा वे अस्पष्ट हो जायेंगे।

कला के लिए प्रेषणीयता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु क्या इसके लिए कलाकार को विशेष प्रयत्न करना चाहिए? यदि कलाकार स्वयं अपनी कला को प्रेषणीय बनाने का प्रयत्न करने लगेगा तो इससे सम्भव है कि उसकी रचना में कृत्रिमता आ जाय, क्योंकि कला मे स्वाभाविकता का गुण तभी सम्भव है, जब कि कलाकार उसमें किसी प्रकार का बाह्य प्रयत्न न करे। अतः रिचर्ड्स महोदय ने एक ओर तो यह माना है कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है, किन्तु कलाकार को इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सही बात तो यह है कि यदि कलाकार तल्लीनतापूर्वक कला की रचना करता है तो उसमें प्रेषणीयता स्वतः ही आ जायगी।" कलाकार जितना अधिक सामान्य रूप से कार्य करेगा, अपनी अनुभूतियों के ठीक प्रकार से प्रस्तुतीकरण में वह उतना ही अधिक सफल होगा तथा उतने ही अधिक तदनुकूल भाव पाठकों के मन में उत्पन्न होंगे।"

प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के इस महत्त्व की ओर भी संकेत करता है कि उसमें मानव जाति के अतीतकालीन अनुभव संचित हैं या यों कहिए कि "हमारे अतीत-कालीन अनुभव के मूल्यांकन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष हैं।" अतः कलाओं का महत्त्व कभी न्यून नहीं हो सकता।

काव्य की भाषा

काव्य में प्रेषणीयता की माध्यम मुख्यतः भाषा है, अतः रिचर्ड्स महोदय ने इसका भी सूक्ष्म विवेचन किया है। भाषा का उपयोग मुख्यतः अर्थ को सूचित करने के लिए होता है। रिचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Practical Criticism", में अर्थ के चार भेद किए हैं—(१) वाच्यार्थ (Sense), (२) भाव (feeling), (३) वक्ता की वाणीगत चेष्टा (tone), और (४) अभिप्राय (Intention)। इन चारों की क्रमशः रिचर्ड्स के दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि सेन्स अर्थात् वाच्यार्थ में किसी वस्तु विशेष, या किसी विधेय को शब्दों के द्वारा सूचित किया जाता है। हम किसी वस्तु की सूचना इसलिए देते हैं कि उसका हमारे किसी न किसी भाव से सम्बन्ध होता है। केवल गणित जैसे कुछ विषयों को अपवाद-स्वरूप छोड़कर यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रयोग ही भावों की प्रेरणा से होता है। टोन या लहजे के द्वारा हमारा श्रोता के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त होता है। किसी से सम्मानपूर्वक बात करते समय हमारा लहजा विनम्रतापूर्ण होगा तो किसी को डाँटते समय वह दूसरे रूप में होगा। रिचर्ड्स के शब्दों में "The tone of his utterance reflects his awareness of this relation." अर्थात् उद्गारों का लहजा (वक्ता और श्रोता के पारस्परिक) सम्बन्ध का सूचक है। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा भेद अभिप्राय (Intention) है। सामान्यतः कोई भी व्यक्ति किसी प्रयोजन से कुछ कहता है, अतः इसका भी भाषा से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है।

भाषा से सामान्यतः उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थ ही सूचित होते है, किन्तु विषय एवं परिस्थिति भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान की पुस्तकों एवं चर्चा में यदि पहले रूप—वाच्यार्थ (Sense) का अधिक प्रयोग होता है तो काव्य में दूसरे रूप या भाव की अतिशयता होती है। फिर भी ये अर्थ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं—वे एक दूसरे से जुड़े हुए है। काव्य में भाव (या भावार्थ) की इतनी अधिक महत्ता होती है कि वहाँ वाच्यार्थ या सूच्य तथ्य गौण हो जाते हैं। वहाँ तथ्य साधन होते हैं साध्य नहीं, अतः जो लोग केवल तथ्यों अथवा विचारों से आधार पर ही कविता का मूल्यांकन करते हैं, वे काव्य के साथ न्याय नहीं करते। ऐसे आलोचकों का विरोध करते हुए डॉ० रिचर्ड्स लिखते हैं—"The statements which appear in the poetry are there for the sake of their effects upon feelings, not for their own sake. Hence to challenge their truth or to question whether they deserve serious attention as statements claiming their truth, is to mistake their function. The point is that many, if not most, of the statements in poetry are there as a means to the manipulation and expression of feelings and attitudes, not as contribution to any body of doctrine of any type whatever." (Practical Criticism, page 184) अर्थात् जब कविता में किसी प्रकार के विचारों की अभि-

व्यक्ति होती है तो वहाँ वे भावों के प्रभाव के लिए होती हैं न कि स्वयं अपने लिए। अतः उनकी सत्यता को ललकारना या उन्हें सत्य के प्रतिपादक मानकर उनकी गंभीरता पर विचार करना, उनके मूल कार्य को गलत रूप देना है। मूल बिन्दु यह है कि यदि अधिकतम नहीं तो अधिकांश विचार काव्य में भावों और दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति के निमित्त होते हैं—किसी सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादक के रूप में नहीं—वह सिद्धान्त चाहे कैसा ही क्यों न हो।"

अर्थ और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करते हुए रिचर्ड्स ने उसके तीन रूप माने हैं—प्रथम, जहाँ अर्थ ही भाव का बोधक हो। द्वितीय, जहाँ अर्थ भाव की अनुभूति का सूचक हो। तृतीय, जहाँ प्रसंग-विशेष के कारण ही अर्थ विभिन्न भावों का सूचक हो। वस्तुतः रिचर्ड्स का यह वर्गीकरण अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया, फिर भी इससे अर्थ और भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया

काव्यास्वादन या काव्य-प्रेषण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए रिचर्ड्स ने उसे ६ अवस्थाओं में बाँटा है—(१) मुद्रित शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण, (२) नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं से सम्बन्धित बिम्बों का ग्रहण, (३) स्वतन्त्र बिम्बों का ग्रहण, (४) विभिन्न वस्तुओं का बोध, (५) भाषानुभूति, (६) दृष्टिकोण से सामञ्जस्य।

इनमें से प्रत्येक अवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० रिचर्ड्स ने बताया है कि सर्वप्रथम काव्य के पठन से उसके अक्षरों की छपाई, स्पष्टता, शुद्धता आदि का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार मुद्रित अक्षरों के ऐन्द्रियक बोध में कविता के बाह्य-पक्ष या शैली-पक्ष का पर्याप्त महत्त्व होता है। बिम्बों की स्वतन्त्र कल्पना के सम्बन्ध में उन्होंने एक नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है। उनके विचार से किसी कविता को पढ़कर दो पाठकों के मन में एक जैसे ही बिम्ब उत्पन्न नहीं होंगे। सम्भव है कि एक पंक्ति को पढ़-कर पचास पाठकों के मन में पचास प्रकार की मूर्तियाँ उदित हों। अतः काव्य में मूर्ति-विधान का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। डॉ० रिचर्ड्स के विचार से मूर्ति-विधानजन्य अनुभूति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वे हैं, जिनके कारण विभिन्न पाठकों के अनुभव में समानता आती है। वे तत्त्व भाव-सम्बन्धी हैं।

विभिन्न शब्दों के अर्थ-बोध एवं बिम्ब-ग्रहण से हमें काव्य की सूच्य वस्तु का या उसके अर्थ का बोध होता है। शिक्षा और अभ्यास के कारण ही हम सूच्य वस्तु का बोध कर पाते हैं। सूच्य वस्तु के बोध के फलस्वरूप भावों और भावात्मक दृष्टिकोणों में (attitudes) की अनुभूति होती है। काव्यानुभूति के अन्तिम तथा सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण अंग ये ही हैं। डॉ० रिचर्ड्स लिखते हैं—"Emotion are primarily signs of attitudes and owe their great prominence in the theory of art to this. For it is the attitudes evoked which are the all important parts of any experience. Upon the texture and form of the attitudes involved its value depends." (Principles of Literary

Criticism, page 132) अर्थात् भाव दृष्टिकोण के चिह्न हैं तथा इसी कारण उनका कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों में बहुत महत्त्व है। किसी की अनुभूति का महत्त्व उसमें जागृत होनेवाले दृष्टिकोणों पर निर्भर है। दृष्टिकोणों के आयोजन और उनका रूप ही उनके मूल्यांकन का आधार है।" यहाँ 'दृष्टिकोण' शब्द का प्रयोग वस्तुतः भावना (Sentiment) के अर्थ में किया गया है, जिसे भारतीय रस-सिद्धान्त की शब्दावली में 'स्थायी-भाव' कह सकते हैं। 'इमोशन' और 'एटीच्यूड' के बीच रिचर्ड्स ने वही सम्बन्ध माना है, जो संचारी भाव और स्थायी भाव के मध्य है। अतः स्थायी भाव की उद्दीप्ति को ही काव्य का लक्ष्य मानना रस-सिद्धान्त के अनुकूल है। किन्तु स्वयं स्थायी भाव की उद्दीप्ति का लक्ष्य क्या है—इसके उत्तर के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों एवं रिचर्ड्स के विचारों में पर्याप्त मतभेद है। भारतीय आचार्य रस या आनन्द की निष्पत्ति को ही लक्ष्य मानते हैं, जबकि रिचर्ड्स इसे सर्वथा गौण मानते हैं। उनके विचार से "It is not the intensity of the conscious experience, its thrill, its pleasure or its poignancy which gives its value, but the organisation of its impluses for freedom and fullness of life." अर्थात् अनुभूति की गहराई या इसकी उत्तेजना या इससे प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता या इसमे प्राप्त होने वाली वेदना—आदि पर इसका (काव्यानुभूति का) मूल्य निर्भर नही है। अपितु, इससे सम्पन्न होनेवाली आवेगों की वह व्यवस्था, जिससे कि जीवन में मुक्तावस्था एवं परिपूर्णता आती है, ही (मूल्य का आधार) है।

अस्तु, रिचर्ड्स महोदय काव्यानुभूति में भावोद्दीप्ति को लक्ष्य मानते हुए भी उसका उद्देश्य हमारे स्थायो आवेगों को सुव्यवस्थित करना बताते हैं। प्रसन्नता या आनन्द को काव्य का उद्देश्य मानना उन्हे स्वीकार्य नहीं है।

रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्त्व

'रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का संक्षेप में अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उनकी अपने दृष्टिकोण मे समीक्षा कर सकते हैं। सबसे पूर्व उनके मूल्य के मनोवैज्ञानिक आधार-सम्बन्धी सिद्धान्त को ही लीजिए। उन्होंने किसी भी वस्तु या कार्य के मूल्य का आधार हमारी प्रमुख प्रेरणाओं, इच्छाओं या प्रवृत्तियों की तुष्टि को ही माना है। इस तुष्टि के लिए यह अपेक्षित है कि हमारी-विभिन्न प्रवृत्तियों में परस्पर ऐसा समन्वय हो कि जिससे एक की तुष्टि से दूसरों का विरोध न हो। साहित्य का मूल्यांकन वे इसी आधार पर करते हैं। कहने के लिए इसे रिचर्ड्स की बहुत बड़ी देन माना जा सकता है, किन्तु इसमें शब्दावली की जितनी नवीनता है, उतनी विचारों की नवीनता नहीं है। इच्छाओं की पूर्ति ही सुख है, आनन्द है—यह तथ्य प्राचीन युग से ही हमें ज्ञात है, जिसे रिचर्ड्स ने नये शब्दों में प्रस्तुत किया है। किन्तु अपने इस सिद्धान्त को काव्य पर लागू करते समय वे यह स्पष्ट नहीं कर पाये कि काव्य में "प्रमुख प्रवृत्तियों की व्यवस्था" की पहचान क्या है। सामान्यतः किसी भी काव्य के अध्ययन से दो प्रकार के प्रभाव उत्पन्न होते हैं—एक जो उसे पढ़ने के साथ-साथ प्रसन्नतादायक प्रभाव, दूसरे, वे प्रभाव जो हमारे विचारों

का परिष्कार करते हुए हमारे व्यक्तित्व के स्थायी अंग बन जाते हैं। रिचर्ड्स महोदय इनमें से प्रथम प्रभाव को गौण मानकर द्वितीय को ही प्रमुख मानते हैं। काव्य से प्राप्त होनेवाले तात्कालिक आनन्द के स्थान पर दृष्टिकोण के स्थायी परिष्कार को महत्त्व प्रदान करने का प्रयास नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसे व्यावहारिक समीक्षा का रूप कैसे दिया जाय, इस पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला। प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के स्वतन्त्र महत्त्व की दृष्टि से प्रतिपादित है, किन्तु इसका वे मूल्य के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से कोई सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर ऐसी संगति नहीं बिठाई जा सकी जिससे कि यह कहा जा सके कि ये दोनों एक ही व्यक्ति या एक ही दृष्टिकोण की देन हैं। मूल्य के मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त में जहाँ वे काव्य के वस्तु पक्ष को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं, वहाँ प्रेषणीयता में उसके शैली-पक्ष को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है—अतः इन दोनों सिद्धान्तों में हमें सामंजस्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

काव्य की भाषा को उन्होंने अर्थ की दृष्टि से चार भेदों—वाच्यार्थ, भाव, चेष्टा (लहजा) और अभिप्राय में बाँटा है, किन्तु यह विभाजन वैज्ञानिक एवं सुसंगत नहीं है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—भाषा का प्रयोग भाव की प्रेरणा से होता है, आगे चलकर वे प्रतिपादित करते हैं कि हम अपनी बात किसी अभिप्राय से कहते हैं। ऐसी स्थिति में 'भाव की प्रेरणा' और 'बात का अभिप्राय' दोनों अलग-अलग नही माने जा सकते। वाणीगत चेष्टा (tone) को उन्होंने वक्ता और श्रोता के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित माना है, किन्तु वास्तविकता यह नही है। सामान्यतः एक ही वक्ता एक ही श्रोता से विभिन्न अवसरों पर विभिन्न लहजों मे बात कर सकता है, जबकि उसका सम्बन्ध वही रहता है। पिता अपने पुत्र को कभी प्यार से कोमल स्वर में पुचकारता है तो कभी क्रोध मे जोर से डाँटता भी है। यहाँ दोनों का सम्बन्ध वही है, किन्तु वक्ता की मनोदशा या भावदशा के परिणामस्वरूप ही उसका लहजा परिवर्तित हो जाता है। अतः लहजे (tone) का आधार सम्बन्ध न होकर भाव-दशा है। सही बात तो यह है कि रिचर्ड्स के भाव, लहजा और अभिप्राय—अर्थ के तीन भेद, भेद न होकर एक दूसरे के अंग हैं। अर्थों के इस वर्गीकरण की अपेक्षा भारतीय आचार्यों का वर्गीकरण—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना सम्बन्धी—अधिक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत है। किन्तु रिचर्ड्स महोदय इस वर्गीकरण से परिचित न होने के कारण लाभ नहीं उठा सके।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विश्लेषण में भी डॉ० रिचर्ड्स को अधिक सफलता नहीं मिली। उनके द्वारा ६ अवस्थाओं का निरूपण अत्यधिक जटिल एवं दुर्बोध है। फिर भी इतना अवश्य है कि उनके इस निरूपण में तथ्यों की वास्तविकता मिलती है। पहले हम किसी रचना में शब्दों को पढ़ते है, उनका अर्थ ग्रहण करते है, उस अर्थ से सम्बन्धित वस्तु की कल्पना उदित होती है, उस कल्पना से संचारीभाव की अनुभूति होती है और उन संचारी भावों से स्थायी भाव की पुष्टि या उद्दीप्ति होती है—इन्ही तथ्यों को रिचर्ड्स ने ऐसे शीर्षकों मे प्रस्तुत किया है, जो कि नए पाठक को विचित्र से लगते है। जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, काव्यास्वादन की प्रक्रिया रस-सिद्धान्त की मान्यताओं से

मिलती-जुलती है। किन्तु रस-सिद्धान्त में भावों की उद्दीप्ति के द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है, जबकि रिचर्ड्स संचारी भावों और स्थायीभाव दोनों के लिए ही 'उद्दीप्ति' की ही बात कहते हैं। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स की यह भी एक विचित्र कल्पना है कि काव्य से प्राप्त होनेवाला तात्कालिक आनन्द सर्वथा गौण है। यह मान्यता स्वयं उनके प्रेषणीयता के सिद्धान्त के ही विपरीत पड़ती है। प्रेषणीयता का प्रमुख लक्षण प्राप्त होने वाला आनन्द ही है। इस लक्षण के बिना प्रेषणीयता का निर्णय करना कठिन है, किन्तु रिचर्ड्स इसी लक्षण की बिल्कुल उपेक्षा कर देते हैं। साथ ही प्रवृत्तियों की तुष्टि का भी बोध रस-दशा या आनन्द की निष्पत्ति से ही होता है—किन्तु उन्होंने काव्य से पड़ने वाले स्थायी संस्कारों के आगे इस रस-दशा को हेय एवं उपेक्षणीय घोषित करके कला के लिए एक ऐसा मानदंड प्रस्तुत किया है, जो कि अव्यावहारिक है। अस्तु, हमारे विचार से रिचर्ड्स के सिद्धान्त भाषा की दृष्टि से मौलिक विचारों की दृष्टि से गम्भीर एवं क्षेत्र की दृष्टि से व्यापक होते हुए भी परस्पर सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित नहीं हैं। वे अपने सभी सिद्धान्तों को लक्ष्य के किसी एक सूत्र में भलीभाँति गूँथकर प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सके। उनकी आधारभूत धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु उनकी व्याख्या करते-करते वे उनसे बहुत दूर निकल जाते हैं। फिर भी उन्होंने अपने युग के विद्वानों एवं कलाकारों का ध्यान कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर आकर्षित किया है तथा उनके दृष्टिकोण को पर्याप्त प्रभावित भी किया है। सम्भवतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने साहित्य का एक ऐसा मान-दंड खोजने का प्रयास किया, जो भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र के आधारभूत तत्त्वों से समन्वित हो। यह प्रयास यद्यपि पूर्णतः सफल नहीं हो सका, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। अतः निश्चित ही आधुनिक युग के साहित्य-चिन्तकों में उनका स्थान बहुत ऊंचा है।

हिन्दी-साहित्य का विकास

(काव्य-धाराओं एवं काव्य-रूपों के विकास सम्बन्धी निबन्ध)

: बीस :

हिंदी-साहित्य का आविर्भाव-काल

१. विभिन्न मत—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० रामकुमार वर्मा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
२. हिन्दी : अर्थ एवं क्षेत्र ।
३. हिन्दी : उद्भव एवं विकास ।
४. हिन्दी का प्रथम कवि कौन ?
५. निर्णय ।

हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में अब तक विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर उनमें से अधिकांश—प्रायः सभी, असंगत एवं भ्रामक सिद्ध होते हैं। हिन्दी के प्रथम इतिहास-लेखक गार्सां द तॉसी ने तो इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया था, उनके अनन्तर इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह सरोज' (१८८३ ई०) में किसी पुरानी अनुश्रुति के आधार पर सातवीं शताब्दी के पुष्य नामक कवि को हिन्दी का पहला कवि घोषित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप में इसी समय से हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव माना। किन्तु परवर्ती अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि इस नाम के किसी कवि के अस्तित्व का कोई प्रमाण या उसकी कोई रचना प्राप्य नहीं है, ऐसी स्थिति में उसे हिन्दी का आदि कवि कैसे माना जा सकता है ? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में अनुमान किया है कि यह पुष्य संभवतः अपभ्रंश का प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत ही है, जिसका अविर्भाव नवी शती में हुआ था। हमारे विचार से यह अनुमान ठीक है किन्तु यदि ऐसा न भी हो तो भी हिन्दी के किसी पुष्य का कोई अस्तित्व अब स्वीकार्य नहीं है, अतः उसके आधार पर हिन्दी के आविर्भाव-काल का निर्णय करना ठीक नहीं। पर दुर्भाग्य से हिन्दी-साहित्य के परवर्ती इतिहासकार भी, जिनमें सर जार्ज ग्रियर्सन एवं मिश्रबन्धु का नाम उल्लेखनीय है, इस पुष्य सम्बन्धी भ्रान्ति में पड़ जाने के कारण हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव सातवीं शती में ही मानने को विवश हो गये। वैसे पुष्य के अस्तित्व की संदिग्धता का पता इन्हें था, क्योंकि ग्रियर्सन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'यह (पुष्य कवि) प्राचीनतम भाषा कवि है, जिसका कोई उल्लेख मुझे देशी लेखकों की कृतियों में नहीं मिला है। 'शिवसिंह सरोज' का कथन है कि यह ७१३ ई० में उपस्थित था और 'भाषा की जड़' यही कवि है। इस विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि इसका नाम पुष्प या पुष्य था अथवा पुंड था।....यदि भाषा से अभिप्राय प्राकृत के पश्चात्कालीन भाषा रूप से है, तब तो यह पूर्णरूपेण अस्वाभाविक वक्तव्य प्रतीत होता है। मुझे तो टाड में सरोज के

इस कथन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। टाड में किसी पुष्य का उल्लेख अवश्य है पर यह एक उत्कीर्ण लेख का रचयिता है....पर यह उत्कीर्ण लेख किस भाषा में लिखा गया था, टाड में मुझे इसका कोई उल्लेख नहीं मिला।'—इससे स्पष्ट है कि हिन्दी के एक कवि के रूप में पुष्य को मान्यता देना ग्रियर्सन को अस्वीकार्य था, किन्तु फिर भी कई बार जो लीक पड़ जाती है, उससे हटना परवर्ती चिन्तकों के लिए असम्भव हो जाता है।

परवर्ती युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२९ ई०) में पुष्य को कोई स्थान नहीं दिया तथा उन्होंने आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में भी परम्परागत धारणा में संशोधन करते हुए सम्वत् १०५० से हिन्दी साहित्य के आदि काल का आरम्भ माना। यद्यपि शुक्लोत्तर इतिहास लेखकों ने प्रायः इसी मत को स्वीकार किया है तथा आज भी सर्वाधिक मान्यता इसी को प्राप्त है, किन्तु यदि हम आचार्य शुक्ल के निर्णय की पुनर्परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि वह भी उतना ही निराधार एवं असंगत है जितना कि उससे पूर्व प्रचलित मत था। आचार्य शुक्ल का यह निर्णय मुख्यतः दो धारणाओं पर आधारित है—एक, अपभ्रंश हिन्दी का ही एक रूप है, जिसे उनके शब्दों में 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'पुरानी हिन्दी' कहा जा सकता है। अपभ्रंश को हिन्दी मान लेने पर उसका आविर्भाव-काल सातवीं शताब्दी ही सिद्ध हो जाता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए वे लिखते हैं—"अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।' ऐसी स्थिति में उन्हें हिन्दी-साहित्य का आरम्भ भी सातवीं शताब्दी से ही मान लेना चाहिए था, किन्तु उनकी दूसरी धारणा इसके विपरीत पड़ती थी। वह दूसरी धारणा यह थी कि अपभ्रंश का प्रारंभिक साहित्य—१०५० विक्रमी तक का साहित्य—उनकी दृष्टि से सांप्रदायिक साहित्य मात्र था, उसे विशुद्ध काव्य-कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इस निष्कर्ष को उन्होंने बार-बार दोहराया है, कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं यथा, :

(क) "सिद्धों में सरह सबसे पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अतः हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लगता है।"

(ख) "उनकी (सिद्धों और योगियों की) रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।"

(ग) "मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य का काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः अर्थात् हिन्दी-साहित्य का आदि काल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है।"

यहाँ विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि आचार्य शुक्ल ने संवत् १०५० का

निर्णय यों ही 'मुंज और भोज के समय' के आधार पर एकाएक कर लिया—मानों मुंज और भोज हिन्दी के कोई कवि हों—किसी निश्चित साहित्यिक आधार पर नहीं किया। वस्तुतः हिन्दी का पहला कवि किसे माना जाय, इस प्रश्न को शुक्लजी बड़ी चतुराई से टाल गये हैं। मुंज और भोज का हिन्दी-साहित्य से क्या सम्बन्ध था, उनके समय को ही यहाँ आधार क्यों बनाया गया, इस सम्बन्ध में भी आचार्य शुक्ल मौन हैं। अतः यह निर्णय अपने-आप में बहुत-कुछ अस्पष्ट है, या यों कहिए कि उसका आधारभूत कारण स्पष्ट नहीं। किन्तु इससे भी अधिक प्रतिकूल स्थिति तो यह है कि आचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में जिन दो धारणाओं को 'आधार' रूप में ग्रहण किया था, वे भी अब बिल्कुल अमान्य हो गई हैं। अब न तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' या 'प्राकृताभास हिन्दी' कहा जा सकता और न ही अपभ्रंश के प्रारम्भिक कवियों की रचनाओं को केवल सांप्रदायिक शिक्षा मात्र कहकर काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत किया जा सकता है। यदि अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानते हैं तो निश्चित ही हमें सरह पाद को हिन्दी के पहले कवि के रूप में स्वीकार करते हुए हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल सातवीं शती से मानना होगा तथा अपभ्रंश के सभी कवियों को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना होगा। वस्तुतः भाषावैज्ञानिक, साहित्यिक एवं व्यावहारिक—सभी दृष्टियों से अब अपभ्रंश की हिन्दी से भिन्नता सिद्ध हो गई है। जैसे राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य कतिपय विद्वान् आज से कुछ वर्षों पूर्व तक अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानने का समर्थन करते रहे हैं, किन्तु इस मत को मान्यता देने में दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि यदि हिन्दी की जननी अपभ्रंश को भी हिन्दी कहे तो फिर अपभ्रंश की जननी प्राकृत एवं प्राकृत की जननी पूर्ववर्ती भाषाओं को भी हिन्दी कहने में क्या 'आपत्ति है? इस दृष्टि-कोण को अपनाने पर तो सभी पूर्ववर्ती भाषाओं को हिन्दी में स्थान दिया जा सकता है जो उचित नहीं होगा। दूसरे, अपभ्रंश से केवल हिन्दी का ही नहीं, उत्तरी भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं—पंजाबी, गुजराती, बंगाली, मराठी, उड़िया, असमी आदि—का भी सम्बन्ध है। ये सभी अपभ्रंश से विकसित होने के कारण हिन्दी की बहिनें लगती है, यदि अपभ्रंश और हिन्दी को अभिन्न मान लिया जाय तो इन सबकी जननी हिन्दी सिद्ध हो जायगी, कदाचित् यह स्थिति हिन्दी वालों को मान्य हो भी सके, किन्तु अन्य भाषा-भाषी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। वस्तुतः अपभ्रंश पर जितना अधिकार हिन्दी का है उतना ही पंजाबी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं का भी है, अतः उस पर हिन्दी का एकाधिकार सिद्ध करना अनधिकार चेष्टा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि आचार्य शुक्ल ने सिद्धान्त रूप में तो अपभ्रंश को हिन्दी से अभिन्न घोषित कर दिया, पर व्यवहार-रूप में वे भी इसकी यथार्थता में सन्देह करते थे, कदाचित् इसी का परिणाम है कि उन्होंने अपभ्रंश और हिन्दी काव्य का परिचय अलग-अलग अध्यायों में दिया है। जहाँ वे आदिकाल के प्रकरण संख्या २ का शीर्षक 'अपभ्रंश' 'काल' रखते हैं, वहाँ उन्होंने प्रकरण संख्या ३ का शीर्षक 'देश-भाषा काव्य' रखा है। इन दोनों में क्या अन्तर है? तथा क्या दोनों ही हिन्दी से ही सम्बन्धित हैं या नहीं;—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया, किन्तु यह उन्होंने स्पष्ट

रूप में स्वीकार किया है कि "इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि हम अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी से अलग कर दें तो शुक्ल जी के इस आदिकाल के पास केवल संदिग्ध सामग्री शेष रह जायगी जिसके आधार पर किया गया निर्णय भी संदिग्ध एवं अवास्तविक सिद्ध होगा। वस्तुतः आज यही स्थिति है। आचार्य शुक्ल के द्वारा कथित हिन्दी की आदिकालीन रचनाओं में से अब कुछ अपभ्रंश की सिद्ध हो गई हैं, कुछ अस्तित्वहीन प्रमाणित हुई हैं और कुछ बहुत बाद की रचित हैं। अस्तु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन धारणाओं एवं तथ्यों के आधार पर हिन्दी-साहित्य का आरम्भ संवत् १०५० से माना था, वे सभी अब अस्पष्ट, असंगत, संदिग्ध एवं अमान्य सिद्ध हो गये हैं, ऐसी स्थिति में अब उसी निर्णय को मानते रहना अपनी रूढ़िवादिता का परिचय देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आचार्य शुक्ल के अनन्तर डा० रामकुमार वर्मा एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इतिहास को नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है किन्तु जहाँ तक उपर्युक्त प्रश्न का सम्बन्ध है, ये विद्वान् भी कोई स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त उत्तर नही दे पाये हैं। डा० रामकुमार वर्मा एक ओर तो हिन्दी को अपभ्रंश से विकसित उससे भिन्न भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं—'अपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद उसे भी 'साहित्य-मरण' के लिए बाध्य होना पड़ा और दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किए। फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ'—इससे स्पष्ट है कि वे हिन्दी भाषा का सूत्रपात अपभ्रंश के साहित्यिक मरण के बाद दसवीं शताब्दी में मानते हैं, पर दूसरी ओर वे हिन्दी-साहित्य के विकास काल को 'संधिकाल' कहते हुए, उसकी काल-सीमा ७५०-१२०० रखते हैं और अपभ्रंश के सारे साहित्य को हिन्दी-साहित्य में स्थान दे देते हैं। वे ऐसा अनजान में नहीं, अपितु बहुत सोच-समझ कर करते हैं। वे लिखते हैं—'अर्ध-मागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।' डा० वर्मा का यह विचित्र निर्णय अनेक शंकाओं को जन्म देता है—एक तो उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'छाप' से उनका क्या आशय है। अपभ्रंश में हिन्दी भाषा का पूर्वरूप मिलना संभव है, यदि इसी को 'छाप' कहते हैं तो इस स्थिति में न केवल अपभ्रंश, अपितु प्राकृत और संस्कृत पर भी हिन्दी की छाप मानी जा सकती है। वस्तुतः छाप पूर्ववर्ती की परवर्ती पर पडती है, न कि परवर्ती की पूर्ववर्ती पर, अतः दसवीं शती में उत्पन्न होनेवाली हिन्दी की छाप सातवीं शताब्दी की अपभ्रंश पर मानना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। दूसरे, पहले भाषा का उद्भव होता है तदनन्तर उसमें साहित्य-रचना होती है, जबकि डा० वर्मा के अनुसार हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल (७वीं शती) हिन्दी भाषा के उद्भव-काल (१०वीं

शती) से तीन शताब्दी पूर्व पड़ता है। वस्तुतः डा० वर्मा के प्रति पूरी श्रद्धा होते हुए भी उनके निष्कर्षों को स्वीकार करना हमारे लिए बहुत कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन निष्कर्षों के पीछे डा० वर्मा के उस कवि-हृदय की प्रेरणा है, जो अपभ्रंश काव्य की सौन्दर्य-श्री को किसी न किसी प्रकार हिन्दी के अधिकार-क्षेत्र में ले आने के लिए विवश हो गया होगा। किन्तु इतिहास को शुद्ध एवं वैज्ञानिक रूप देने के लिए इस प्रकार के लोभों का संवरण किए बिना काम नहीं चलता।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इतिहास-लेखन के समय अपभ्रंश और हिन्दी की भिन्नता को पूरी तरह ध्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप में घोषित किया है कि भाषा-शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनों भाषाएँ एक नहीं हैं। उनके विचारानुसार हिन्दी का विकास आचार्य हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित उस ग्राम्य अपभ्रंश से हुआ, जिसमें रासक, डोम्बिका, आदि लिखे जाते थे। यह विकास कब हुआ—इसका स्पष्ट निर्णय तो वे नहीं देते, पर उनके शब्दों मे 'यही भाषा (हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित ग्राम्य अपभ्रंश) ही आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप मे विकसित हुई है।' यदि हम 'आगे चलकर' का तात्पर्य एक शताब्दी भी लें तो इस दृष्टि से हिन्दी का आविर्भाव आचार्य हेमचन्द्र (१०८८—११७२ ई०) के सौ साल बाद लगभग १३वी शताब्दी में सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल तो इसके और भी बाद में माना जाना चाहिए था, पर यह विचित्र बात है कि वे भी यहाँ पूर्ववर्ती इतिहासकारों की रूढ़ियों को स्वीकार करते हुए आदिकाल की प्रारम्भिक सीमा १००० ई० ही मान लेते हैं। ऐसा उन्होंने कदाचित् पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रति अति सौजन्य एवं सहिष्णुता की प्रवृत्ति के कारण ही किया है, अन्यथा वे स्पष्ट रूप में मानते है कि चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी का कोई साहित्य नहीं मिलता। उनके शब्दों मे—'दसवी से चौदहवी शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है।' यहाँ 'भाषा की दृष्टि' से यह भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि कदाचित् अन्य दृष्टियों से यह साहित्य हिन्दी का होगा, किन्तु वस्तुतः ऐसा नही है। किसी भी साहित्य को हिन्दी का साहित्य कहलाने के लिए उसका भाषा की दृष्टि से हिन्दी का होना अनिवार्य है, अन्यथा कालिदास और रवीन्द्र को भी हिन्दी का कहा जा सकता है। आदिकाल सम्बन्धी अध्याय की अन्तिम पंक्ति—'इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य-रूप अंकुरित हुए हैं' तथा भक्तिकाल सम्बन्धी अध्याय के आरम्भ में उनके द्वारा प्रयुक्त यह उपशीर्षक 'वास्तविक हिन्दी-साहित्य का आरम्भ'—ये दोनों तथ्य भी यह ध्वनित करते है कि आचार्य द्विवेदी वास्तव में तो हिन्दी-साहित्य का अस्तित्व चौदहवीं शताब्दी पूर्व नहीं मानते, किन्तु उनकी इस ध्वनिवादी शैली के कारण सामान्य पाठक वास्तविक हिन्दी-साहित्य और अवास्तविक हिन्दी-साहित्य के भेद को स्पष्ट रूप में ग्रहण नही कर पाता।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में किए गये अब तक के प्रयास मुख्यतः तीन प्रकार की भ्रान्तियों एव असंगतियों पर आधारित हैं। एक तो अधिकांश विद्वान् अपभ्रंश और हिन्दी के भेद को ध्यान मे नही

रख सके, कुछ ने सिद्धान्त रूप में तो दोनों को अलग माना, किन्तु व्यवहार में दोनों के साहित्य को घुला-मिलाकर एक कर दिया। दूसरे, वे हिन्दी भाषा के उद्‌भव-काल एवं उसके साहित्य के आविर्भाव-काल में संगति नहीं बनाए रख सके, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने साहित्य का आविर्भाव भाषा के उद्‌भव से भी पूर्व माना। तीसरे, अनेक विद्वानों ने संदिग्ध, अप्रामाणिक परवर्ती एवं अस्तित्वहीन रचनाओं को हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं के रूप में स्वीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में उनके निष्कर्षों में असंगति एवं अनौचित्य का आ जाना स्वाभाविक था। अस्तु, इस सम्बन्ध में किसी सही निर्णय पर पहुँचने के लिए हमें सबसे पहले उपर्युक्त तीनों विषयों—हिन्दी का क्षेत्र, उसका उद्‌भव-काल एवं उसकी प्रथम प्रामाणिक रचना—पर सम्यक् रूप से विचार कर लेना चाहिए, तथा उसी से उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर ही प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में अपना निर्णय देना चाहिए। आगे हम ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी : अर्थ एवं क्षेत्र

हिन्दी भाषा के क्षेत्र में किन-किन भाषाओं एवं उपभाषाओं को स्थान देना चाहिए—इस सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मत मिलते हैं। एक ओर प्रारम्भिक इतिहास-कारों ने जहाँ अपभ्रंश को भी 'प्राकृताभास हिन्दी' या "पुरानी हिन्दी" कहकर उसे हिन्दी का ही एक रूप मान लिया, वहाँ नवीनतम दृष्टिकोण के अनुसार हिन्दी की एक उपभाषा 'खड़ी बोली' तक ही हिन्दी को सीमित रखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। इस पारस्परिक विरोध का मूल कारण यह है कि हिन्दी का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें अनेक भाषाओं, उपभाषाओं एवं बोलियों को स्थान प्राप्त है। इतना ही नहीं, समय और परिस्थितियों के अनुसार उसमें कभी कोई भाषा प्रमुखता प्राप्त करती रही है तो कभी कोई तथा इसके साथ ही उसकी सीमाएँ भी बदलती रही हैं। उसके विकास का इतिहास देखें तो यह तथ्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी का नामकरण उसके आविर्भाव से भी बहुत पहले हो गया था। पाँचवीं-छठी शताब्दी में अरब-फारस के लोग जहाँ 'भारत' को 'हिन्द' कहते थे, वहाँ वे यहाँ की सभी भाषाओं को सामान्य रूप मे 'जबाने हिन्दी' (हिन्दी भाषा) के नाम से पुकारते हुए उसके अन्तर्गत संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि को सम्मिलित करते थे। इस बात का प्रमाण यह है कि छठी शती ईस्वी में बादशाह नौशेरवाँ के दरबारी कवि ने 'पंचतन्त्र' का अनुवाद करते हुए इसे 'जबाने हिन्द' का ग्रन्थ कहा है, जब कि यह वस्तुतः संस्कृत का है। इसी प्रकार अल्बेरुनी (११वीं शती), फारसी कवि औफी (१३ वीं शती), अमीर खुसरो (१३-१४ वीं शती) आदि मुस्लिम लेखकों ने भी 'हिन्दी' का प्रयोग भारत की सभी भाषाओं के लिए किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में 'हिन्दी' का अर्थ भारत की किसी एक विशिष्ट भाषा से न होकर सामान्य रूप से भारत की सभी सामान्य भाषाओं से था। जैसा कि डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने स्पष्ट किया है, इस स्थिति में 'हिन्दी' एक सामूहिक नाम था।

आगे चलकर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक भारत में विभिन्न नयी भाषाओं का उदय एवं विकास हो गया, तथा उन्होंने प्रान्तीय आधार पर नये-नये नाम ग्रहण किए, फिर भी भारतीय भाषाओं के लिए सामान्य रूप में हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी आदि नामों का प्रयोग होता रहा। उदाहरण के लिए बाबर ने एक स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' का तथा जायसी ने 'हिन्दवी' नाम का प्रयोग किया है। फिर भी इस बीच के युग में हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी नामों का प्रचार कम रहा, इनके स्थान पर विभिन्न भाषाओं को अलग-अलग प्रान्तीय नामों से ही पुकारा जाता रहा।

उन्नीसवीं शती में अंग्रेजों एवं मुसलमान लेखकों द्वारा पुनः हिन्दवी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी नामों के प्रयोग में वृद्धि होने लगी। उदाहरण के लिए 'अनुराग बाँसुरी' के रचयिता नूर मोहम्मद (१८वीं शती) ने अवधी भाषा के लिए तथा इंशाअल्ला खाँ (१६वीं शती) ने 'रानी केतकी की कहानी' की ब्रज मिश्रित खड़ी बोली के लिए तथा अनेक अँग्रेज लेखकों ने खड़ी बोली के लिए 'हिन्दुस्तानी' एवं 'हिन्दी' का प्रयोग किया। इस प्रकार पुनः 'हिन्दी' या 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग व्यापक स्तर पर होने लग गया। वस्तुतः आज स्थिति यह है कि हिन्दी कोई एक भाषा नहीं है, वह राष्ट्र की एक ऐसी सामान्य भाषा है, जिसके विभिन्न रूप विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न वर्गों में पाये जाते हैं। राष्ट्र की कुछ भाषाएँ भिन्न लिपियों में आबद्ध होकर या भिन्न साहित्य के रूप में सीमित होकर स्वतन्त्र हो गयी हैं, जबकि शेष सभी भाषाएँ—राजस्थानी, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, मैथिली आदि तथा उनसे सम्बद्ध बोलियाँ हिन्दी में आती हैं। दूसरे शब्दों में हिन्दी भारत की केन्द्रीय एवं राष्ट्रीय भाषा है। जिस प्रकार भारत का नक्शा और उसकी सीमाएँ समय-समय पर राजनीतिक कारणों से बदलती रही है, उसी प्रकार राष्ट्रीय भाषा हिन्दी की भी सीमाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं—किसी समय वह सारे भारत का प्रतिनिधित्व करती थी, तो अब वह केवल उन भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है, जो सहर्ष उसमें सम्मिलित हैं। अन्यथा हिन्दी का पंजाबी और गुजराती से भी उतना ही सम्बन्ध है, जितना राजस्थानी से है, (सही पूछा जाय तो राजस्थानी तथा पश्चिमी हिन्दी पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा गुजराती के अधिक निकट पड़ती है) या अवधी और मैथिली से उसका उतना ही सम्बन्ध है जितना कि असमी और बँगला से है। अस्तु, हमारे विचार से आज भी हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं है, अपितु भारत की अनेक भाषाओं के समूह का नाम है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि वे कौन से सूत्र हैं, जो कि इन विभिन्न भाषाओं को एक समूह—हिन्दी—में बाँधे हुए हैं ? इसके उत्तर में तीन तत्त्वों पर प्रकाश डाला जा सकता है—एक तो इस समूह की सभी भाषाओं की एक सामान्य लिपि है, वे अन्य लिपियों में भी लिखी जा सकती हैं फिर भी उनमें मुख्य रूप से देवनागरी का ही प्रयोग होता है। दूसरा तत्त्व भौगोलिक एकता सम्बन्धी है। ये सभी भाषाएँ भारतवर्ष के केन्द्रीय भू-भाग में प्रचलित हैं, जिसे विद्वानों ने 'मध्य देश' की संज्ञा दी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी' की परिभाषा ही इस भौगोलिक आधार पर करते हुए लिखा है—'राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी

सीमान्त तक तथा उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को हम हिन्दी कहते आए है। इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित है। सबका भाषा-शास्त्रीय ढाँचा एक जैसा ही नहीं है। फिर भी साहित्य की चर्चा करने वाले सभी देशी-विदेशी विद्वान् इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यिक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिन्दी कहते है। जिस विशाल भू-भाग को आज हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र कहा जाता है, उसका कोई एक नाम खोजना कठिन है, परन्तु इसके मुख्य भाग को पुराने जमाने से ही मध्य देश कहते रहे है।'

लिपि की समानता और भौगोलिक एकता के अतिरिक्त तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व सांस्कृतिक एकता है। मैथिली, अवधी, राजस्थानी, ब्रज आदि भाषाएँ बाह्य दृष्टि से परस्पर कितनी ही भिन्न क्यों न हों, किन्तु आन्तरिक दृष्टि से—मूलभूत चेतना एवं दार्शनिक दृष्टि से, परम्परागत मान्यताओं एवं धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, तथा प्रेरणा-स्रोत एवं आन्दोलनों की दृष्टि से वे सब एक है। इतना ही नहीं, इन भाषाओं के प्रयोग-कर्त्ताओं में भी सदा एक आन्तरिक एकता की भावना रही है जिससे एक प्रदेश के लोग प्रसन्नतापूर्वक दूसरे प्रदेश की भाषा को अपनाते रहे है। यही कारण है कि अनेक कवियों ने एक साथ ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि का प्रयोग किया है। अस्तु, जिस प्रकार विभिन्न प्रदेशों मे पारस्परिक भेद के होते हुए भी उनकी सामान्य एकता के आधार पर उन्हें एक राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है, वैसे ही उपर्युक्त समानताओं—लिपि की समानता, भौगोलिक समानता एवं सांस्कृतिक समानता—के आधार पर भारत के मध्य भाग (उत्तर में काश्मीर एवं पंजाब को, पूर्व बंगाल, उड़ीसा, असम आदि को, पश्चिम में गुजरात को तथा दक्षिण मे दक्षिणी सीमावर्ती प्रान्तों को छोडकर शेष भारत) की भाषाओं के समूह को 'हिन्दी' का नाम दिया जाता है, जिनमें समय, स्थान एवं परिस्थिति के भेद से कभी कोई भाषा प्रमुख हो गई है तो कभी किसी अन्य ने प्रमुखता प्राप्त कर ली है।

जिस प्रकार एक राष्ट्र का केन्द्र—या उसकी राजधानी समय-समय पर परिस्थितियों के अनुकूल बदलती रहती है, वैसे ही हिन्दी का भी केन्द्र बदलता रहा है। प्रारम्भ मे वह मैथिली, राजस्थानी, अवधी, ब्रज आदि अलग-अलग केन्द्रों में विभाजित थी। आगे चलकर ब्रज ने इतनी अधिक प्रमुखता प्राप्त कर ली कि न केवल समस्त हिन्दी प्रदेशों मे अपितु गुजरात, पंजाब एवं बंगाल तक मे इसका प्रचार हो गया। एक ओर गुरु गोविन्द-सिंह के दरबार मे ब्रजभाषा की शताधिक रचनाओं का लिखा जाना तथा दूसरी ओर बंगाल में ब्रज एवं मैथिली मिश्रित 'ब्रजबुलि काव्य परंपरा' का प्रवर्त्तन होना, इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का गौरव ब्रजभाषा-युग में ही प्राप्त हो गया था। आगे चलकर जब ब्रज का स्थान खड़ी बोली ने ग्रहण किया तो उसे भी उत्तराधिकार के रूप में वह गौरव प्राप्त हो गया जो ब्रजभाषा को प्राप्त था। ऐसी स्थिति में खड़ी बोली को पूर्ववर्ती केन्द्रीय भाषाओं का ऋण स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो लोग इस तथ्य से परिचित नहीं है, वे कई बार केवल खड़ी बोली को ही—जो लगभग एक शताब्दी से केन्द्रीय भाषा है—एकमात्र हिन्दी मानने की भूल करते हुए हिन्दी साहित्य का इतिहास

पिछले अस्सी वर्षों से ही आरम्भ करना चाहते है । यदि दृष्टिकोण को इतना संकुचित कर लिया जाय तो अस्सी वर्ष से ही क्यों, पिछले-पन्द्रह-बीस वर्षों से ही यह आरम्भ माना जा सकता है, क्योंकि छायावादियों की खड़ी बोली में और परवर्ती कवियों की बोली मे भी कई दृष्टियों से गहरा अन्तर ढूँढ़ा जा सकता है । वस्तुतः हिन्दी पर जितना अधिकार खड़ी बोली का है उतना ही मैथिली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि भाषाओं का भी है, अतः उपर्युक्त दृष्टिकोण को ठीक नहीं कहा जा सकता । अस्तु ।

उपर्युक्त विवेचन से हम इन निष्कर्षो पर पहुँचते है—(१) प्रारम्भ में 'हिन्दी' सभी भारतीय भाषाओं का सामान्य नाम था । (२) अब 'हिन्दी' का प्रयोग भारतीय भाषाओं के एक विशेष समूह के लिए होता है जिसमे लिपि, भौगोलिक सीमाओं एवं सांस्कृतिक तत्त्वों की दृष्टि से एकता है । (३) हिन्दी के अन्तर्गत मुख्यतः मैथिली, अवधी, राजस्थानी, ब्रज एवं खडी बोली का समावेश किया जाता है । (४) इन भाषाओं में से समय-समय पर कुछ भाषाएँ अधिक प्रमुखता प्राप्त करती रही है, फिर भी शेष भाषाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

उपर्युक्त विधेयात्मक निष्कर्षो के आधार पर इन निषेधात्मक निष्कर्षो की भी पुष्टि हो जाती है कि उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ, जैसे प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, बँगला आदि हिन्दी के क्षेत्र में नहीं आती । ऐसी स्थिति में इनके साहित्य को हिन्दी साहित्य में स्थान देने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु कुछ लोग इस युक्ति के आधार पर कि अपभ्रंश की बहुत-सी साहित्यिक परंपराएँ हिन्दी में आई है, इसके साहित्य को हिन्दी मे स्थान देना चाहते है । जहाँ तक पूर्ववर्ती परम्पराओं को समझने के लिए अन्य भाषाओं के साहित्य का अध्ययन करने की बात है, इसमे हमें कोई आपत्ति नही है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम परंपराओं के आधार पर ही अन्य भाषाओं के साहित्य को भी हिन्दी का साहित्य घोषित कर दें । यदि ऐसा ही करना हो तो फिर अपभ्रंश ही क्यों, संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी के साहित्य को भी हिन्दी का साहित्य माना जा सकता है, क्योंकि प्राचीन और अर्वाचीन युग में इनकी बहुत सी परम्पराएँ हिन्दी मे आई है तथा आगे भी आ सकती है । वस्तुत. ऐसा करना सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक—दोनों ही दृष्टियों से अनुचित एवं अस्वाभाविक सिद्ध होगा ।

हिन्दी का उद्‌भव-काल—जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, हिन्दी के उद्भव-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित है । जहाँ शिवसिंह सेंगर, मिश्रबन्धु एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का उद्भव सातवीं शती के आस-पास मानते है, वहाँ डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा व अन्य कतिपय विद्वान् दसवीं शताब्दी से मानते है। इनमें से प्रथम वर्ग के विद्वान् तो हिन्दी के अन्तर्गत अपभ्रंश को भी सम्मिलित कर लेते हैं, अतः उनका मत हिन्दी के स्थान पर अपभ्रंश से सम्बन्धित मानना चाहिए । दूसरे वर्ग के विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि में यथेष्ट प्रमाण नहीं दिये है । प्रायः उन्होंने 'अनुमान' के आधार पर ही—और शायद इसलिए भी हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव इसी समय से माना जाता है—दसवीं शताब्दी से हिन्दी का उद्भव मान लिया है । इनकी भ्रान्ति का एक कारण यह भी रहा है कि इनके सामने हिन्दी की कुछ कृतियाँ

थीं जो उस समय १८वीं शती में रचित मानी जाती थीं, पर अब वे बहुत परवर्ती सिद्ध हो चुकी हैं। अस्तु, इस मत को भी मान्यता नहीं दी जा सकती।

इस सम्बन्ध में एक अन्य वर्ग ऐसे विद्वानों का भी है जिन्होंने शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हुए हिन्दी का उद्भव-काल तेरहवीं शती के बाद सिद्ध किया है। इनमें डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० नामवर सिंह प्रभृति उल्लेखनीय हैं। डा० चटर्जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'यह मालूम नहीं पड़ता कि यह 'हिन्दी' ठीक-ठीक कौन सी बोली थी, परन्तु सम्भव है यह ब्रज भाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश्य न होकर १३वीं शती में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि १३वीं व शती १४वीं शती ईस्वी तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नहीं होता।' डा० उदयनारायण तिवारी उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि अधिक स्पष्ट शब्दों में करते हैं—'आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् तेरहवीं शती के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक का काल संक्राति काल था, जिसमें भारतीय आर्य-भाषा, धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी। इसी प्रकार डा० नामवर सिंह के विचार से भी 'तेरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट किया था, अतः हिन्दी का उद्भव यहीं से माना जा सकता है।' यद्यपि डा० तिवारी संक्रान्तिकाल की अंतिम सीमा पन्द्रहवीं शताब्दी तक खींचते है, फिर भी ये तीनों विद्वान् उसकी प्रारम्भिक सीमा तेरहवीं शती से ही मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मत का अनुमोदन करते हुए लिखा है—'हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा 'आगे चलकर' आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई।' यद्यपि द्विवेदी जी ने यहाँ 'आगे चलकर' का काल-परिमाण नहीं दिया, फिर भी यदि उसका तात्पर्य एक शताब्दी भी लें तो उनके विचारानुसार हिन्दी का आविर्भाव आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) के एक सौ वर्ष बाद अर्थात् तेरहवीं शती से होता है। अस्तु, आचार्य द्विवेदी के मत को भी—जहाँ तक भाषा के अविर्भाव-काल का सम्बन्ध है—इसी वर्ग में स्थान दिया जा सकता है, यह दूसरी बात है कि हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का आरम्भ वे दसवीं शताब्दी से मानते हैं।

उपर्युक्त मतों के अनुसार यदि हिन्दी भाषा का उद्भव १३वीं शती से माना जाय तो उसके साहित्य का आरम्भ अवश्य ही उसके सौ-दो सौ वर्ष बाद से माना जायगा, क्योंकि कोई भी भाषा साहित्य में स्थान पाने में एक-दो शताब्दियों का समय अवश्य ले लेती है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का आरम्भ चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती से सिद्ध होता है। पर यह ठीक नहीं है। हमें इससे पूर्व ही हिन्दी-साहित्य के अस्तित्त्व के अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनकी चर्चा आगे की जायगी। हमारे विचार से इस स्थिति में हिन्दी

का उद्भव थोड़ा और पहले से माना जाना चाहिए। अतः इस विषय पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है।

जैसा कि विभिन्न विद्वानों ने स्वीकार किया है, अपभ्रंश के उत्तरकाल में उसके दो प्रमुख भेद विकसित हो गये थे—एक उसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप एवं दूसरा लोक-संपर्क से विकसित ग्राम्य रूप। इस ग्राम्य रूप के भी प्रदेश-भेद के अनुसार तीन भेद हो गये थे—पूर्वी, पश्चिमी एवं मध्यदेशीय। इन्हीं भेदों से उत्तरी भारत की अनेक आधुनिक भाषाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें हिन्दी (अर्थात् राजस्थानी, मैथिली, अवधी आदि) भी एक है। इन आधुनिक भाषाओं का विकास कब हो गया था, इसका पता लगाने का कोई निश्चित साधन प्राप्त नहीं है, फिर भी कुछ ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके आधार पर यह निश्चिततापूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी के कुछ रूपों का आविर्भाव बारहवीं शती के पूर्व हो गया था। इन ग्रन्थों में 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' 'प्राकृत-पैंगलम्', 'वर्ण-रत्नाकर' आदि उल्लेखनीय हैं। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण,' गाहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र (१११४-११५५ ई०) के सभा-पंडित दामोदर की रचना है जिसमें लोकभाषा को संस्कृत में रूपान्तरित करने की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। इसके रचयिता ने भूमिका में अपना प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है, उसका लक्ष्य अपभ्रंश को पुनः संस्कृत में परिवर्तित करना है। जिस प्रकार एक पतिता ब्राह्मणी को प्रायश्चित्त के द्वारा पुनः ब्राह्मणीत्व प्रदान किया जा सकता है, वैसे ही तुर्कों के द्वारा भ्रष्ट एवं 'सर्वजन साधारण' की भापा को पुनः संस्कृत रूप दिया जा सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भाषा के शताधिक नमूने प्रस्तुत किए हैं, जो हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को सूचित करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ वाक्य द्रष्टव्य है—गंगा न्हाए धर्म हो पापुजा।....जस-जस धर्मु बाढ़, तस-तस पाप घाट।'

यद्यपि पुस्तक के रचयिता ने इन्हे 'अपभ्रंश' का ही नाम दिया है, किन्तु व्याकरण एवं शब्द-रूपों की दृष्टि से ये उदाहरण निश्चित रूप से पूर्वी हिन्दी के हैं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इनकी परीक्षा करते हुए इन्हें पूर्वी हिन्दी के उदाहरणों के रूप में स्वीकार किया है। पर उस समय तक 'हिन्दी' नाम बाहर से आनेवाले मुसलमानों में ही प्रचलित था। दामोदर जैसे संस्कृत के विद्वानों की दृष्टि में तो अपभ्रंश का नया विकसित रूप भी अपभ्रंश ही था—जो स्वयं उनके शब्दों में 'तुर्कों द्वारा भ्रष्ट' (सर्वजन-साधारण की) भाषा थी—उसका नया नाम (हिन्दी) स्वीकार करने के लिए वे अभी तैयार नहीं थे। अस्तु, पंडित दामोदर ने भले ही इन उक्तियों को 'हिन्दी' नाम न दिया हो, किन्तु वे इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि ईसा की १२ वीं शती के मध्य तक मध्यप्रदेश में हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का भली-भाँति विकास हो चुका था।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने अपने 'प्राकृत व्याकरण' में जिस 'ग्राम्य अपभ्रंश' का उल्लेख किया है, वह भी पश्चिमी हिन्दी या राजस्थानी का ही प्रारम्भिक रूप प्रतीत होता है। सामान्यतः जब कोई भाषा पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है, तभी वह वैयाकरणों के द्वारा मान्यता प्राप्त करती है। अतः 'ग्राम्य अपभ्रंश'

का हेमचन्द्राचार्य द्वारा उल्लेख होना ही इस बात का प्रमाण है कि वह इससे पूर्व ही परिनिष्ठित अपभ्रंश से इतनी भिन्न हो गई थी कि हेमचन्द्र को उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इतना ही नहीं, हेमचन्द्राचार्य ने इसमें रासक, डोम्बिका जैसे साहित्य के रचे जाने की बात भी कही है। अतः इस 'ग्राम्य अपभ्रंश' या राजस्थानी का उद्‌भव हेमचन्द्राचार्य के बाद नहीं, अपितु उनसे कुछ पहले ही स्वीकार करना होगा। इस दृष्टि से उसका उद्‌भव-काल लगभग ११०० ई० या बारहवीं शती का आरम्भकाल माना जा सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण में देशी शब्दों की सूची दी गई है, जिसमें बहुत से शब्द ऐसे आये हैं, जो राजस्थानी या पश्चिमी हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को सूचित करते हैं, जैसे—कुम्भार, खम्भो, खोड़ि, गड्डो, गाई, डुगर, दुवार, नाव, पराई, पिआस, रस्सी, संझा, हलद्दी आदि। साथ ही 'प्राकृत-व्याकरण' में उद्धृत अनेक पद्यों की भाषा भी हिन्दी के पर्याप्त निकट है; उदाहरण के लिए कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

सिरि जर-खण्डी लोअडी गलि मणियडा न बीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धएँ उट्ठ-बईस॥
हिअड़ा जइ वेरिअ घणा जो कि अब्भि **चड़ाहुँ।**
अम्हाहि बे हत्थड़ा **जइ पुणु मारि मराहुँ॥**

उपर्युक्त पद्यों के मोटे टाइप में अंशों की भाषा को निःसंकोच रूप में प्रारम्भिक हिन्दी कहा जा सकता है।

ग्यारहवीं से तेरहवीं शती तक की कुछ रचनाएँ और भी प्राप्त है, जिनमें हिन्दी के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। इनमे रोड़ाकृत राउलवेल (११ वीं शती), भरतेश्वर बाहुबलि रास (११८४ ई०), रेवंतगिरि रास (१२३१ ई०), शेख फरीदुद्दीन शकरगंजी (११७३-१२६५ ई०) का कलाम, चक्रधर स्वामी (११६४-१२७४ ई०) के पद आदि उल्लेखनीय हैं। राउलवेल एक शिलांकित काव्य है जिसमें विभिन्न प्रदेशों की नायिकाओं का वर्णन करते हुए उनकी बोलियों के उदाहरण प्रस्तुत हैं। डा० हरिवल्लभ भायाणी एवं डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस शिलालेख का लिपिकाल ईसा की ११वीं शती निश्चित किया है। उदाहरण के लिए इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

धवल र कापड़ ओढिअल कइसे।
मुह ससि जोन्ह पसारेल जइसे॥
× × ×
पहिरणु घाघरेंहि जे केरा।
कच्छड़ा वछड़ा डहि पर इतरा॥

(टक्किणी)

एहु कानोडउं काइ सउ झांखइ।
वेस अम्हाणउं ना जाउ वेखई॥

हांस गइ जा चालती अइसी।
सा वाखर णहु राउल कइसी॥

(राजस्थानी)

उपर्युक्त उद्धरण विभिन्न प्रदेशों की आधुनिक भाषाओं के प्रारम्भिक रूप के प्रामाणिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तथा वे इस तथ्य को प्रमाणित करते है कि इस शिलालेख के लिपिकाल के समय आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव हो चुका था, भले ही अभी उनका सम्यक् विकास न हुआ हो।

बारहवी-तेरहवीं शती में रचित कतिपय रासो काव्यों में भी हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते है इनमें 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (११८४ ई०) एवं रेवंतगिरिरास (१२३१ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी के इतिहासकारों का ध्यान अभी तक इन ग्रन्थों की ओर नहीं गया, किन्तु गुजराती के विद्वानों ने इन्हे गुजराती की प्रामाणिक रचनाओं में स्थान दिया है। जैसा कि इस विषय पर शोधकर्त्ता डा० हरीश ने स्पष्ट किया है, इस युग में गुजराती और राजस्थानी का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था, अतः इन रचनाओं की भाषा को जितनी दृढ़ता से गुजराती बताया जा सकता है, उतनी ही दृढ़ता से राजस्थानी या हिन्दी भी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए इनके कुछ अंश द्रष्टव्य है—

हा! कुल मडण हा कुल बीर।
हा! समरंगणि साहस धीर॥

× × ×

कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु।
एहु जि दीजइ दैवह रोसु॥

....(भरतेश्वर बाहुबलिरास)

अस्तु, उक्ति व्यक्ति, प्रकरण, प्राकृत-व्याकरण, राउलवेल काव्य और विभिन्न प्रारम्भिक रासो काव्य ग्यारहवीं शती से लेकर तेरहवी शती तक की हिन्दी के विभिन्न रूपों के नमूने प्रस्तुत करते हैं तथा इनके आधार पर यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि इस अवधि में हिन्दी का उद्भव व विकास हो चुका था। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त भी बहुत सी रचनाएँ मिलती है, जो इसी युग की बताई जाती है। किन्तु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, अतः यहाँ उनका उल्लेख करना अनावश्यक है।

हिन्दी का प्रथम कवि कौन ?—कोई भी भाषा अपने आविर्भाव के साथ ही साहित्य मे स्थान नहीं प्राप्त कर लेती, अतः हिन्दी-भाषा के उद्भव-काल (११०० ई०) को ही हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल नही माना जा सकता। इसके लिए हमें यह देखना होगा कि हिन्दी की प्रथम साहित्यिक रचना या उसका रचयिता कौन है, जिसके आधार पर हिन्दी के आविर्भाव-काल का निर्णय किया जा सकता है। हिन्दी का प्रथम कवि किसे कहा जाय, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित या सर्वमान्य मत प्राप्त नहीं है। प्रारम्भ में शिवसिंह सेंगर एवं मिश्रबन्धुओं ने पुष्य नाम के कवि को हिन्दी का

प्रथम कवि घोषित किया था; किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह पुष्य कोई और नहीं, अपभ्रंश के ही प्रसिद्ध कवि पुष्पदन्त है, जिन्हे हिन्दी का कवि नहीं माना जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय तो नहीं दिया, किन्तु उन्होंने अपने इतिहास में एक ओर अपभ्रंश कवियों में सर्वप्रथम देवसेन का तथा दूसरी ओर 'वीरगाथा' शीर्षक अध्याय में दलपति विजय का उल्लेख किया है, तथा इनका समय नवों-दसवीं शती माना है। यह भी विचित्र बात है कि आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का आरम्भ इन कवियों के रचना-काल से न मानकर इनके लगभग सौ वर्ष बाद से मानते है। ऐसी स्थिति में यह संदिग्ध है कि आचार्य शुक्ल किसे हिन्दी का प्रथम कवि मानते थे। फिर भी उपर्युक्त दोनों कवियों में से एक अपभ्रंश का है तथा दूसरा अठारहवीं शती का सिद्ध हो चुका है, अतः इनमें से किसी को भी हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० रामकुमार वर्मा सिद्ध कवियों के काव्य में हिन्दी-कविता के आदि रूप का अस्तित्व मानते हुए सरहपा (८१७ वि०) को प्रथम कवि मानते है, पर जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सिद्धों का साहित्य अपभ्रंश में है, हिन्दी में नही, अतः इस मत को भी स्वीकार करना कठिन है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रारम्भिक साहित्य को प्रामाणिक, संदिग्ध एवं अर्द्ध प्रामाणिक रचनाओं के रूप में वर्गीकृत करते हुए प्रामाणिक रचना के रूप में सर्वप्रथम 'संदेह रासक' की चर्चा की है, किन्तु जैसा कि वे अन्यत्र स्वीकार करते है, इसकी भाषा अपभ्रंश है। इसी प्रकार अर्द्ध प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक रचनाओं की भी स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं है कि जिससे उनमें से किसी को हिन्दी की प्रथम रचना माना जा सके। इस प्रकार आचार्य द्विवेदी के द्वारा भी स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं होता।

'बीसलदेव रासो' के रचयिता नरपति नाल्ह, अमीर खुसरो, विद्यापति आदि का भी समय-समय पर कुछ लोगों के द्वारा हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में उल्लेख होता रहा है, किन्तु इनमें से कुछ की तो रचनाओं का वर्त्तमान रूप एवं रचना-काल ही संदिग्ध है, जब कि अन्तिम का समय ही पन्द्रहवीं शताब्दी है, जो कबीर के आस-पास पड़ता है। अतः इनमें से किसी को भी प्रथम कवि के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

इधर जैन-कवियों द्वारा रचित कुछ ऐसे रास काव्य प्रकाश में आये है, जिनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है तथा जिनकी भाषा को हिन्दी के प्रारम्भिक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इन रचनाओं के काल-क्रम तथा भाषा के विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' है, जिसका रचना काल ११८४ ई० (१२४१ वि०) है। इस कृति का संपादन एवं प्रकाशन एक चार-पाँच सौ वर्ष पुरानी तथा अत्यन्त विश्वसनीय प्रति के आधार पर मुनि जिन विजय द्वारा हो चुका है। गुजराती और हिन्दी के अन्य विद्वानों ने भी इसे प्रामाणिक माना है। डा० हरिशंकर शर्मा 'हरीश' ने इसका विशेष अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसे हिन्दी-जैन साहित्य की रास-परम्परा का सर्वप्रथम काव्य माना है। गुजराती के विद्वान् इसे गुजराती का

काव्य मानते हैं, किन्तु पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक गुजराती और राजस्थानी की दोनों भाषाएँ एक ही थीं, अतः इस पर दोनों का अधिकार माना जा सकता है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह रचना प्राचीन एवं प्रामाणिक सिद्ध होती है। इसके कुछ उद्धरण पीछे भाषा के उद्भव के प्रसंग में प्रस्तुत किए जा चुके हैं, जिनसे यह भली-भाँति हिन्दी की रचना सिद्ध होती है।

इस रचना की प्रामाणिकता का एक अन्य आधार यह भी है कि यह परम्परा से विच्छिन्न अकेली रचना नहीं है, अपितु बारहवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक इसकी एक अखण्ड परम्परा मिलती है, जिसमें बीसों रासो काव्य आते हैं। इस रचना के कुछ वर्षों बाद ही रचित बुद्धिरास (१२वीं शती), जम्बू स्वामीरास (१२०९ ई०), जीवदया रास (१२०० ई०), चन्दन बाला रास (१२०० ई०), रेवंतगिरि रास (१२३१ ई०), नेमिनाथ रास (१२३८ ई०), गयसुकुमाल रास (१२५० लगभग) आदि रचनाएँ भी मिलती हैं जो रासो-परम्परा के क्रमिक विकास को सूचित करती हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' के रचयिता शालिभद्र सूरि को उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर (अब तक उनसे प्राचीन किसी अन्य हिन्दी कवि का प्रामाणिक रूप से पता नहीं चलता) हिन्दी का प्रथम कवि माना जा सकता है तथा उनके रचना-काल के आधार पर सन् ११८४ (या १२४१ वि०) से हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल निश्चित किया जा सकता है। यह काल हिन्दी के विकास की दृष्टि से, तथा राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होता है। इस समय तक मुसलमान भारत में आगे तक बढ़ आये थे, हिन्दू राष्ट्र का विघटन एवं पतन हो चुका था जिसके कारण राज्याश्रय में पलनेवाले धर्म एवं साहित्य को जनता का संरक्षण एवं जनता की भाषा का माध्यम स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा था। परम्परागत भाषाएँ—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि साहित्य और व्याकरण के ढाँचे में रूढ़ हो चुकी थीं, तथा उनका स्थान परवर्ती लोकभाषाएँ ले चुकी थीं। अस्तु, इन सभी दृष्टियों से बारहवीं शती के अंतिम चरण से हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव मानना तर्क-संगत प्रतीत होता है। इससे पूर्व का समय जिसे हिन्दी के इतिहासकार आदिकाल, वीरगाथा-काल या चारण-काल आदि में स्थान देते रहे हैं, और जो हिन्दी की प्रामाणिक रचनाओं की दृष्टि से शून्य है, हिन्दी-साहित्य की काल-सीमाओं के बाहर समझा जाना चाहिए। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य का आरंभ यहीं से होता है।

: इक्कीस :

हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन : पुनर्विचार

१. काल-विभाजन : लक्ष्य एवं प्रयोजन ।

२. परम्परागत काल-विभाजन ।

३. काल-विभाजन का नया प्रयास ।

४. उपसंहार ।

किसी भी विषय-वस्तु का बौद्धिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए उसे किन्हीं काल्पनिक पक्षों, खण्डों, वर्गों या तत्त्वों में विभक्त कर लिया जाता है जिससे कि उसके विभिन्न अवयवों को सम्यक् रूप में ग्रहण किया जा सके । ऐसा न केवल सैद्धान्तिक क्षेत्र में, अपितु व्यावहारिक क्षेत्र में भी किया जाता है । एक बहुत बड़े राज्य को सुशासित करने के लिए एक शासक उसे विभिन्न प्रदेशों एवं मण्डलों में विभाजित कर देता है, यद्यपि यह विभाजन कृत्रिम ही होता है । इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी सम्बन्धित विषय को विभिन्न रूपों में विभक्त कर लिया जाता है । इतिहास में हम मुख्यतः देश (Space) के स्थान पर काल (Time) का अध्ययन करते हैं, अतः अध्ययन की सुव्यवस्था की दृष्टि से उसे विभिन्न काल-खण्डों में बाँट लेना सुविधाजनक एवं उपयोगी सिद्ध होता है ।

काल-विभाजन का लक्ष्य अन्ततः इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को स्पष्ट करना होता है । साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है । साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, उसकी परम्पराओं के उत्थान-पतन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन आदि के काल-क्रम को स्पष्ट करना ही काल-विभाजन का लक्ष्य होता है, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है । जहाँ काल-विभाजन उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति में साधक के स्थान पर बाधक बनता हो, वहाँ यही उचित है कि उसके अभाव में ही काम चलाया जाय । उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कीथ ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में ऐसा ही किया है । संस्कृत-साहित्य में अनेक धाराएँ एवं अनेक काव्य-प्रवृत्तियाँ एक ही साथ समानान्तर रूप में उदित एवं विकसित होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका विश्लेषण काल-क्रमानुसार करने की अपेक्षा काव्य-रूप-भेद एवम् काव्य-प्रवृत्तियों के आधार पर करना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है, कदाचित् इसी परिस्थिति के कारण कीथ ने अपने इतिहास में काल-विभाजन करने का प्रयास नहीं किया । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत-साहित्येतिहास को काल-खण्डों में विभक्त करना असंभव है, अपितु हमारा कथन यहाँ केवल यह बताने का है कि यथासंभव [illegible] में काल-विभाजन करने की अपेक्षा

यह अधिक अच्छा है कि उसके बिना ही काम चलाया जाय। इस तथ्य पर यहाँ विशेष बल देने की आवश्यकता इसलिए है कि हिन्दी-साहित्येतिहास का क्षेत्र अभी तक परम्परागत काल-विभाजन की अनेक असंगतियों एवं त्रुटियों के परिणामस्वरूप विभिन्न भ्रान्तियों एवं गुत्थियों से ग्रसित है, जिनके कारण इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग अवरुद्ध हो रहा है। अस्तु, आगे परम्परागत काल-विभाजन के विभिन्न प्रयासों पर पुनर्विचार करते हुए उसे परिशोधित रूप देने का प्रयास किया जायगा।

परम्परागत काल-विभाजन : पुनर्विचार—हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों—गार्सां द तासी एवं शिवसिंह सेंगर—का तो इस ओर ध्यान ही नहीं गया, अतः उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रयास करने का श्रेय जार्ज ग्रियर्सन को है। पर जैसा कि उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ की भूमिका में स्वीकार किया है, उनके सामने अनेक ऐसी कठिनाइयाँ थीं जिससे वे काल-क्रम एवं काल-विभाजन के निर्वाह मे पूर्णतः सफल नहीं हो सके। वे लिखते हैं—'सामग्री को यथासंभव काल-क्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह सर्वत्र सरल नहीं रहा है और कतिपय स्थलों पर तो यह असंभव सिद्ध हुआ है। अतएव वे कवि जिनका समय मैं किसी भी प्रकार स्थिर नहीं कर सका, अन्तिम अध्याय मे वर्णानुक्रम से एक साथ दे दिये गये हैं।....प्रत्येक अध्याय सामान्यतया एक काल का सूचक है। भारतीय भाषा-काव्य के स्वर्णयुग १६वीं एवं १७वीं शती पर मलिक मुहम्मद की प्रेम कविता से आरम्भ करके, ब्रज के कृष्णभक्त कवियों व तुलसीदास के ग्रंथों और केशवदास द्वारा स्थापित कवियों के रीति-सम्प्रदाय को सम्मिलित करके कुल ६ अध्याय है, जो पूर्णतया **समय की दृष्टि से विभक्त नहीं हैं,** बल्कि कवियों के विशेष वर्गों की दृष्टि से बँटे है।'[1]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वयं जार्ज ग्रियर्सन को अपने काल-विभाजन की अपूर्णता एवं न्यूनता का पता था, फिर भी उन्होंने विभिन्न कालों की कतिपय प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास अवश्य किया है। उनका काल-विभाजन इस प्रकार है—(१) चारण-काल (७०२-१३०० ई०) (२) पन्द्रहवीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण (३) जायसी की प्रेम कविता (४) ब्रज का कृष्ण-संप्रदाय (५) मुग़ल दरबार (६) तुलसीदास (७) रीति-काव्य (८) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (६) अट्ठारहवीं शताब्दी (१०) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान (११) महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान। इस प्रकार उनका ग्रंथ इन ग्यारह काल-खंडों में विभक्त है, जो वस्तुतः युग-विशेष के द्योतक कम है, अध्यायों के शीर्षक अधिक है। इसके अतिरिक्त काल-क्रम का प्रवाह भी इसमें अविच्छिन्न रूप से नहीं चलता—यथा, चारण-काल (७००-१३०० ई०) के बाद एकाएक वे पन्द्रहवीं शती में पहुँच जाते हैं, पूरी चौदहवीं शताब्दी को वे इतिहास में से निकाल देते हैं। कालों का नामकरण भी सर्वत्र किसी एक आधार पर नहीं है—कहीं किसी धार्मिक संम्प्रदाय को इसका आधार बताया गया है तो कहीं किसी शासक-विशेष को और कहीं शताब्दी का ही उल्लेख मात्र है। साथ ही तथ्यों की दृष्टि से इसमें सबसे

१. हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास : किशोरीलाल गुप्त, पृ० ४८।

बड़ी भ्रान्ति यह है कि सातवीं शती से लेकर तेरहवीं शती तक के समय को इसमें हिन्दी-साहित्येतिहास का एक युग माना गया है, पर यह भ्रान्ति तो उनके पहले और बाद भी बहुत समय तक चलती रही है, अतः इसके लिए केवल उन्हें ही दोष नहीं दिया जा सकता। अस्तु, ग्रियर्सन का यह प्रयास प्रारम्भिक प्रयास मात्र है, जिसमें विभिन्न न्यूनताओं, असंगतियों एवं त्रुटियों का होना स्वाभाविक है।

आगे चलकर मिश्र बन्धुओं ने अपने 'मिश्र बंधु-विनोद' (१९१३ ई०) में काल-विभाजन का नया प्रयास किया, जो प्रत्येक दृष्टि से ग्रियर्सन के प्रयास से बहुत अधिक प्रौढ़ एवं विकसित कहा जा सकता है। उनका विभाजन इस प्रकार है :

१. आरम्भिक काल— { पूर्वारंभिक काल (७००—१३४३ वि०)
उत्तरारंभिक काल (१३४४—१४४४ वि०)

२. माध्यमिक काल— { पूर्व माध्यमिक काल (१४४५—१५६० वि०)
प्रौढ़ माध्यमिक काल (१५६१—१६८० वि०)

३. अलंकृत काल— { पूर्वालंकृत काल (१६८१—१७९० वि०)
उत्तरालंकृत काल (१७९१—१८८९ वि०)

४. परिवर्तन काल—(१८९०—१९५२ वि०)

५. वर्तमान काल—(१९२६—वि० से अब तक)

जहाँ तक पद्धति की बात है, यह वर्गीकरण बहुत सम्यक् एवं स्पष्ट है, किन्तु तथ्यों की दृष्टि से इसमें भी अनेक असंगतियाँ विद्यमान हैं। सबसे पहले तो उन्होंने भी ग्रियर्सन की भाँति ७०० से १३०० ई० तक के युग को हिन्दी-साहित्य के साथ सम्बद्ध कर दिया है जो वस्तुतः अपभ्रंश का युग है। यह भी विचित्र बात है कि जहाँ वे मध्य-काल में लगभग दो सौ वर्ष के समय को भी साहित्य की प्रौढ़ता के आधार पर दो अवान्तर भेदों—पूर्व माध्यमिक काल एवं प्रौढ़ माध्यमिक काल—में विभक्त करते है, जिसका अर्थ है कि सौ वर्षों में ही साहित्य प्रौढ़ हो गया, जब कि प्रारम्भ में सात-आठ सौ वर्षों में भी वह एक-सा रहता है। इसी प्रकार 'अलंकृत-काल' के बाद 'परिवर्तन-काल' (१८९०—१९२५ वि०) के रूप में केवल ३५ वर्ष के समय को अलग स्थान देना भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है; प्रत्येक काल के बाद दूसरा काल आने से पूर्व सदा परिवर्तन होता ही है, अतः यदि 'परिवर्तन-काल' की संज्ञा स्वीकार करें, तो प्रत्येक काल के अनन्तर एक-एक 'परिवर्तनकाल' देना होगा, जो अनावश्यक है। विभिन्न काल-खंडों के नामकरण में भी एक जैसी पद्धति नहीं अपनाई गई है, जहाँ अन्य नामकरण विकास-वादिता के सूचक हैं, वहाँ 'अलंकार-काल' आन्तरिक प्रवृत्ति पर आधारित है। अस्तु, इन दोषों के होते हुए भी, मिश्र-बन्धुओं का प्रयास पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रौढ़ है, इनमें कोई सन्देह नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२९ ई०) प्रस्तुत करते हुए काल-विभाजन का नया प्रयास किया, जो इस प्रकार है :

आदिकाल (वीरगाथा काल, सं० १०५०-१३७५)
पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५-१७००)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००-१९००)
आधुनिक काल (गद्यकाल, १९००-१९८४)

आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन की यदि मिश्र-बन्धुओं के काल-विभाजन से तुलना करें तो इसकी कई विशेषताएँ सामने आएँगी। एक तो इन्होंने मिश्र-बन्धुओं के प्रारंभिक काल की पूर्वारम्भिक सीमा ७०० वि० के स्थान पर १०५० वि० को मान कर उसे यथार्थ सीमा के थोड़ा निकट ला दिया। दूसरे, इन्होंने मिश्र-बंधुओं के द्वारा किए गये भेदोपभेदों की कुल संख्या को दस से घटाकर चार तक सीमित कर दिया। इससे इनके काल-विभाजन में अधिक सरलता, स्पष्टता एवं सुबोधता आ गई। अपनी इसी विशेषता के कारण वह आज तक बहुमान्य एवं बहुप्रचलित है।

शुक्लोत्तर इतिहासकारों में से अनेक ने आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त काल-विभाजन की तीव्र आलोचना तो की, तथा उसके अनेक दोषों को भी स्पष्ट किया, किन्तु उसे संशोधित करके नया रूप देने में सफलता किसी को नहीं मिली। केवल मात्र डा० रामकुमार वर्मा का ही नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है, जिन्होंने नया काल-विभाजन प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है—

१. संधिकाल (७५०-१००० वि०)
२. चारण-काल (१०००-१३७५ वि०)
३. भक्तिकाल (१३७५-१७०० वि०)
४. रीतिकाल (१७००-१९०० वि०)
५. आधुनिक काल (१९०० से अब तक)

डा० वर्मा के इस विभाजन के अंतिम चार काल-खंड तो आचार्य शुक्ल के ही विभाजन के अनुरूप है, केवल 'वीरगाथाकाल' के स्थान पर 'चारणकाल' नाम अवश्य दे दिया गया है, किन्तु इसमें एक विशेषता 'संधिकाल' की है, जो वस्तुतः गुण-वृद्धि का सूचक कम एवं दोष-वृद्धि का द्योतक अधिक है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, हिन्दी साहित्य का आरम्भ सातवीं-आठवीं शताब्दी से मानना एक विशेष भ्रान्ति का परिणाम है, तथा डा० वर्मा का यह 'संधिकाल' भी उसी भ्रान्ति से सम्बन्धित है, अतः इसे शुक्लजी के काल-विभाजन का परिष्कृत रूप नहीं कहा जा सकता। फिर भी उन्होंने किन्हीं अंशों में आचार्य शुक्ल की रूढ़ि को त्यागने का साहस अवश्य किया है, जो इस युग के लिए कम महत्त्व की बात नहीं है।

इसी बीच डा० रामबहोरी शुक्ल एवं डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र का 'हिन्दी-साहित्य का उद्भव और विकास' ग्रन्थ भी प्रकाश में आया है, जो प्रारंभिक काल की सीमाओं में किंचित् परिवर्द्धन-संशोधन करने के अतिरिक्त सामान्यतः आचार्य शुक्ल के ही अनुरूप है तथा इधर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा अठारह-उन्नीस जिल्दों में 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' तैयार हो रहा है, जिसके कुछ भाग प्रकाशित भी हो गये हैं। वस्तुतः इसका स्थूल ढाँचा आचार्य शुक्ल के ही इतिहास के अनुरूप है, जिसके गुण-दोषों को इसमें अधिक विस्तृत एवं विकसित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के अतीत' में भी रीतिकाल के

नामकरण एवं अन्तर्विभाजन के क्षेत्र में नया प्रयास करते हुए भी शेष बातों में पूर्ववर्ती परम्परा का निर्वाह किया है।

इस प्रकार इस समय आचार्य शुक्ल के ही काल-विभाजन को सर्वमान्य कहा जा सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सर्वथा संगत एवं निर्दोष है। आचार्य शुक्ल ने जिन परिस्थितियों में इतिहास लिखा था, उस दृष्टि से वह ठीक है, किन्तु विगत वर्षों में हिन्दी के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान एवं चिंतन हुआ है, जिसे ध्यान में रखकर विचार करने से आचार्य शुक्ल के प्रयास की अनेक न्यूनताएँ एवं त्रुटियाँ स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। अतः किसी भी नये इतिहासकार के लिए, यदि वह आचार्य शुक्ल की परम्परा का अन्धानुसरण न करके अपने प्रयास को वैज्ञानिक एवं सुसंगत रूप देना चाहता है, तो यह अनिवार्य है कि पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रन्थों की निम्नांकित त्रुटियों एवं असंगतियों का निराकरण करके इस क्षेत्र में आगे बढ़े—

(क) पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने तथा आचार्य शुक्ल ने अपभ्रंश-साहित्य के सम्बन्ध में किसी स्पष्ट नीति का अनुसरण नहीं किया, कभी वे अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी', 'पुरानी हिन्दी' आदि संज्ञाओं से अभिहित करते हुए उसे हिन्दी से अभिन्न मानते रहे, तो कभी दोनों की स्वतन्त्र सत्ताएँ स्वीकार करते रहे। शुक्लोत्तर इतिहासकारों की नीति तो इस सम्बन्ध में और भी अस्पष्ट एवं विचित्र रही है। वे एक ओर तो यह स्पष्ट घोषणा करते है कि अपभ्रंश हिन्दी से भिन्न है, पर दूसरी ओर अपभ्रंश की रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट करते रहे हैं, वस्तुतः इस सम्बन्ध में हमें अब एक स्पष्ट नीति का अनुसरण करना होगा : या तो अपभ्रंश और हिन्दी को सिद्धान्त और व्यवहार—दोनों में एक मानना होगा, अन्यथा अपभ्रंश रचनाओं को हिन्दी-साहित्य में स्थान देने का लोभ संवरण करना पडेगा। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, हम दूसरे पक्ष का समर्थन करते हुए अपभ्रंश और हिन्दी को दो पृथक् भाषाओं के रूप में स्वीकार करना उचित समझते हैं।

(क) जिन रचनाओं के आधार पर आचार्य शुक्ल तथा अन्य इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य के आरंभिक काल, वीरगाथाकाल या आदिकाल की स्थापना की थी, अब वे अस्तित्वहीन, अप्रामाणिक या परवर्तीकाल की सिद्ध हो गई है यथा, 'जय मयंक-जस चन्द्रिका', 'जयचंद्र प्रकाश' अस्तित्वहीन हैं, 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो' आदि का रचनाकाल संदिग्ध है, 'खुमानरासो' परवर्तीकाल (१८वीं शती) का सिद्ध हो गया है, अमीर खुसरो की पहेलियों की भाषा भी संदिग्ध है तथा अन्य कुछ रचनाएँ हिन्दी की न होकर अपभ्रंश की है। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ कवियों को जान-बूझ कर भी पीछे ठेल दिया गया है, जैसे विद्यापति का रचना-काल स्वयं शुक्ल जी ने संवत् १४६० के लगभग माना है, फिर भी उन्होंने विद्यापति को उस वीरगाथा काल में स्थान दिया है, जो १३७५ ई० में ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार रचनाओं की दृष्टि से आचार्य शुक्ल का 'वीरगाथाकाल' बिलकुल आधार-शून्य सिद्ध होता है। कुछ विद्वानों ने इस स्थिति को सुधारने के लिए इस काल के नये नामकरण—आदिकाल—का सुझाव दिया, किन्तु हमारे विचार से केवल नाम बदल देने मात्र से इस असंगति का निराकरण नहीं हो सकेगा। जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है उसका नामकरण

कैसा ? और यदि कोई नामकरण किया ही जाता है तो 'आदि-काल' की अपेक्षा 'शून्य-काल' नाम कहीं अधिक अच्छा रहेगा, क्योंकि इससे हमारे विद्यार्थियों और शोधकर्त्ताओं के सामने यह स्थिति तो स्पष्ट हो जायगी कि रचनाओं की दृष्टि से यह शून्य है। पर हमारे विचार से वर्तमान स्थिति में सबसे अच्छा प्रयास यह होगा कि हम पूर्ववर्ती इतिहासकारों की रूढ़ धारणाओं से सर्वथा मुक्त होकर हिन्दी-साहित्य का प्रारंभ वहाँ से मानें, जहाँ से वस्तुतः वह आरंभ होता है या जब से इसकी प्रथम प्रामाणिक रचना उपलब्ध होती है तथा उसी के अनुसार प्रारम्भिक काल की सीमाएँ एवं प्रवृत्तियाँ निर्धारित करते हुए उसकी स्थापना वास्तविक रचनाओं के आधार पर करें।

(ग) परम्परागत इतिहास-ग्रन्थों में प्रचलित विभिन्न काल-खंडों का नामकरण एवं उनका अन्तर्विभाजन भी हिन्दी-साहित्य की विभिन्न परम्पराओं एवं प्रवृत्तियों के अध्ययन में साधक बनने के स्थान पर बाधक अधिक सिद्ध होता है। 'वीरगाथा काल' की असंगति तो ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है, भक्तिकाल, एवं रीतिकाल नाम भी दोष-शून्य नहीं है। ये नाम अपने युग की किसी एक धारा या एक प्रवृत्ति को ही सूचित करते हैं, जब कि इन युगों में अनेक धाराएँ एवं अनेक प्रवृत्तियाँ साथ-साथ विकसित होती रही हैं। एक प्रवृत्ति को ही प्रधानता देने एवं शेष को गौण मानकर 'फुटकल खाते' अर्थात् रद्दी की टोकरी में डाल देने का परिणाम यह हुआ कि इस समय विभिन्न युगों का अधूरा एवम् एकपक्षीय रूप ही हमारे सामने आ पाता है। एक प्रवृत्ति को ही सर्वप्रमुख मान लेने का दृष्टिकोण अपने लिए तथा पाठकों के लिए सुविधाजनक भले ही प्रतीत हो, किन्तु वह इतिहास की एकांगी एवं अधूरी व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यह प्रयास उस अंध-गज-न्याय का स्मरण कराता है, जिसमें हाथ आए अंग को ही प्रमुख मानकर पूरे हाथी का बोधक मान लिया गया था। अस्तु, इसमें विभिन्न अंगों का नामकरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ न्याय हो सके।

(घ) नये अनुसंधान से अनेक नयी रचनाओं एवम् काव्य-परंपराओं का भी उद्‌घाटन हुआ है, जिन्हे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना आवश्यक है। इसके किए 'भक्ति-काल' की केवल चार काव्य-परम्पराओं (निर्गुण ज्ञानाश्रयी, निर्गुण प्रेममार्गी कृष्ण-भक्ति एवम् रामभक्ति सम्बन्धी काव्य-धाराएँ) से काम नही चलेगा। अब हमे नये वर्गीकरण के अनुसार इस काल में लगभग आठ-नौ परंपराओं का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उन्हें उचित स्थान देना होगा। इन परम्पराओं का परिचय आगे दिया जायगा।

(ङ) 'भक्तिकाल' में प्रवर्तित होनेवाली सभी काव्य-परंपराएँ आधुनिक काल के आरंभ तक अखण्ड रूप से चलती रहती है, अतः भक्तिकाल को रीतिकाल से सर्वथा विच्छिन्न मानना भी ठीक नहीं है।

अस्तु, हम उपर्युक्त तथ्यों एवं विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए काल-विभाजन का नया प्रयास करने की आवश्यकता समझते है, अतः यहाँ ऐसा ही किया जायगा।

काल-विभाजन का नया प्रयास—यहाँ हमें सबसे पूर्व यह स्पष्ट कर लेना चाहिए

कि हमारे काल-विभाजन का आधार क्या होगा या वह किन तथ्यों पर आधारित रहेगा। इस संबंध में सामान्यतः दो मत प्रचलित हैं : एक मत के अनुसार साहित्येतिहास का काल-विभाजन सर्वथा स्वतंत्र रूप में—विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर होना चाहिए, जब कि दूसरे मत के अनुसार साहित्य समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है, अतः तत्सम्बन्धी समाज की विभिन्न परिस्थितियों—विशेषतः राष्ट्रीय परिस्थितियों—के आधार पर साहित्येतिहास का काल-विभाजन किया जाना चाहिए। पहले मत का स्पष्टीकरण प्रो० नलिन विलोचन शर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है—'यदि हम यह मानते हैं कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक या भाषावैज्ञानिक विकास से संयुक्त-रहते हुए साहित्य का स्वतंत्र विकास होता है, और दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है तो हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदण्ड के सहारे निर्धारित होने चाहिए। यह मत स्पष्टतः इस भ्रान्त धारणा पर आधारित है कि साहित्य का विकास स्वतंत्र रूप से—समाज और राष्ट्र की परिस्थितियों से अप्रभावित रहते हुए होता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार साहित्य का विकास पूर्ववर्ती परंपराओं एवं युगीन वातावरण के मेल से होता है, तथा युगीन वातावरण का निर्माण राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों के प्रभाव से होता है, अतः साहित्य के स्वतंत्र विकास की धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी इतना अवश्य है कि साहित्य के इतिहास में परंपराओं एवम् परिस्थितियों का आधार उसी सीमा तक ग्रहण किया जाना चाहिए, जहाँ तक वे साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास को स्पष्ट करने मे सहायक सिद्ध होती हैं, अन्यथा उनका असम्बद्ध एवं स्वतंत्र विवरण अनावश्यक भार सिद्ध होगा। इस प्रकार के भार का उदाहरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास' के कुछ खण्डों में देखा जा सकता है, जिनमें सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के विवरण साहित्येतिहास के अंग नही, अपितु ऊपर से जोड़े हुए किसी अन्य पुस्तक के अंश से लगते हैं। वस्तुतः हमारा लक्ष्य सांस्कृतिक परम्पराओं एवं बाह्य परिस्थितियों के प्रकाश में साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करना है, अतः काल-विभाजन में भी इसी तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा।

साथ ही हमें यह भी नही भूलना चाहिए कि हिन्दी का साहित्यिक क्षेत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत है कि उसमे एक ही युग में अनेक प्रवृत्तियाँ एक साथ चलती हुई दृष्टिगोचर होती है। जिस समय राजस्थान के चारण वीरता के गीत गाने में संलग्न थे, उसी समय मिथिला के कवि सौन्दर्य, प्रेम और विरह के भावों की अभिव्यक्ति में लीन थे। जिस समय अकबर के दरबार में अनेक कवि नायिका के सौन्दर्य की व्याख्या रसिकतापूर्ण शब्दों में कर रहे थे, उसी समय तुलसी की लेखनी भक्ति-रस से ओत-प्रोत पंक्तियाँ लिख रही थीं। अस्तु, जिस वीरता, भक्ति एवं शृङ्गारिकता को हम तीन अलग-अलग युगों की प्रवृत्तियां के रूप में मानते चले आ रहे है, वे वस्तुतः एक ही युग में साथ-साथ विकसित होनेवाली तीन प्रवृत्तियाँ है। जहाँ राज-दरबारों में रसिकता और वीरता का पोषण हो रहा था, वहाँ धर्माश्रय एवं लोकाश्रय में भक्ति-भावना एवं शुद्ध प्रणय

प्रणय की प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। अस्तु, जैसा कि आगे विभिन्न काव्य-परम्पराओं के अध्ययन से स्पष्ट होगा, हिन्दी-साहित्य के विभिन्न केन्द्रों के आश्रय में एक ही साथ विभिन्न प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। इस केन्द्र-भेद या आश्रय-भेद को युग-भेद समझ लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए, सबसे पहले हिन्दी-साहित्य के इतिहास को दो बड़े काल-खण्डों में विभक्त किया जा सकता है; एक १८५७ ई० के पहले का समय और दूसरा, उसके बाद का समय। जिस प्रकार हमारे राजनीतिक इतिहास में १८५७ ई० एक ऐसी विभाजक रेखा है, जिससे मुस्लिम राज्य की समाप्ति तथा ब्रिटिश शासन का आरम्भ होता है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी यह पुराने युग की समाप्ति एवं नये युग के आरम्भ का सूचक है। नये युग के प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म १८५० ई० में हुआ था तथा सात-आठ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी पहली कविता लिख डाली थी, अतः नये युग का आरम्भ, राजनीतिक इतिहास के अनुकूल १८५७ से माना जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने भी इसी समय के आस-पास (सन् १८४३ ई० या १९०० वि०) से नये युग का आरम्भ माना है, जिसे उन्होंने 'आधुनिक काल' का नाम दिया है। यदि इस नये युग को यह नाम दिया जाता है तो इसके समकक्ष समस्त पुराने युग को 'प्राचीन-काल' या 'पूर्व-आधुनिक काल' नाम दिया जाना अपेक्षित है। यद्यपि 'प्राचीन-काल' नाम समय की दृष्टि से बहुत दूरी का सूचक है, अतः एकाएक अनुपयुक्त सा लग सकता है, किन्तु काव्य की विषय-वस्तु एवं काव्य-प्रवृत्तियों को देखते हुए १८५७ ई० के पहले के समस्त हिन्दी-काव्य को 'प्राचीन काल' का साहित्य कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। फिर भी जिन्हे यह नाम कम पसन्द है, वे इसे हिन्दी साहित्य के 'प्रथम उत्थान काल' या 'पूर्व-आधुनिक काल' की संज्ञा दे सकते हैं।

इस 'प्राचीन काल' (११८४-१८५७ ई०) को भी इसकी दीर्घता को देखते हुए दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रारम्भिक काल—११८४-१३५० ई० (२) मध्य काल—१३५०-१८५७ ई०। यद्यपि हमारे विचार से सारा मध्यकाल एक ही प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियों से अनुप्राणित है, फिर भी इसे दो उपखण्डों में विभक्त किया जा सकता है—पूर्व मध्यकाल; १३५०-१६०० ई० तथा उत्तर मध्यकाल १६००-१८५७ ई०। इस प्रकार नूतन काल-विभाजन तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

हिन्दी साहित्य का इतिहास

<table>
<tr><td colspan="3">प्राचीन काल</td><td rowspan="3">आधुनिक काल</td></tr>
<tr><td rowspan="2">प्रारंभिक काल</td><td colspan="2">मध्यकाल</td></tr>
<tr><td>पूर्व मध्य</td><td>उत्तर मध्य</td></tr>
</table>

११८४ ई०   १३५० ई०   १६०० ई०   १८५७ ई०   १९६९ ई० (अब तक)

उपर्युक्त तालिका को और अधिक संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. प्रारम्भिक काल (११८४-१३५० ई०)

२. पूर्व मध्यकाल (१३५०-१६०० ई०)

३. उत्तर मध्यकाल (१६००-१८५७ ई०)

४. आधुनिक काल (१८५७ ई०—अब तक)

परम्परागत काल-विभाजन से इसकी तुलना करने पर दो बातें स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो इसमें नामकरण सामान्य रूप में किया गया है तथा दूसरे काल-सीमाओं में परिवर्तन किया गया है। नामकरण में किसी एक ही प्रवृत्ति—जैसे 'भक्ति', 'रीति' आदि को प्रमुखता दे देने से अन्य प्रवृत्तियाँ गौण हो जाती हैं तथा उससे युग का एकागी बोध प्राप्त होता है, अतः हमने विकासक्रम के आधार पर ही नामकरण करना उचित समझा है। इसी प्रकार सीमा-निर्धारण मे भी विभिन्न कालों की नूतन काव्य-परम्पराओं के उद्भव-काल को ध्यान में रखा गया है। इसका विस्तृत विवेचन हम अपने 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' मे कर चुके है, अतः यहाँ उसका संकेत कर देना पर्याप्त होगा।

काल-विभाजन पर विचार करते समय इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि पुराने इतिहासकारों के सामने हिन्दी-साहित्य का अधूरा चित्र था, बहुत-सी काव्य-धाराओं के अस्तित्व का भी उन्हें पता नही था, जो कि अब अनुसंधान द्वारा प्रकाश में आई है। परम्परागत इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार मध्यकाल में केवल इन पाँच धाराओं का अस्तित्व था—(१) निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा (२) निर्गुण प्रेममार्गी शाखा (३) सगुण कृष्णभक्ति शाखा (४) सगुण रामभक्ति शाखा (५) रीति-काव्य। किन्तु नये अनुसंधान से पूरे मध्यकाल में निम्नाकित धाराओं का अस्तित्व प्रमाणित होता है—(क) मध्यकाल में उद्भूत काव्य-धाराएँ :

(अ) धर्माश्रय मे विकसित—

१. सन्त काव्य-परम्परा (निर्गुण ज्ञानाश्रयी)

२. पौराणिक गीति परम्परा (कृष्ण-भक्ति काव्य)

३. पौराणिक प्रवन्ध परम्परा (राम-भक्ति काव्य)

४. रसिक भक्ति-काव्य-परम्परा।

(आ) राज्याश्रय में विकसित—

५. मैथिली गीति-काव्य परम्परा

६. वीर-काव्य परम्परा

(१) ऐतिहासिक रास-काव्य

(२) ऐतिहासिक चरित्र-काव्य

(३) ऐतिहासिक मुक्तक काव्य

७. शास्त्रीय मुक्तक परम्परा (रीति-काव्य)

(ई) लोकाश्रय में विकसित—

८. रोमांटिक काव्य परम्परा—

(१) रोमांटिक कथा-काव्य
(प्रेमाख्यान-काव्य)
(२) रोमांटिक गीति-काव्य
(रीतिमुक्त काव्य)

उपर्युक्त काव्य-परम्पराओं में निम्नलिखित की चर्चा आचार्य शुक्ल के इतिहास में नहीं है, जबकि ये परम्पराएँ बहुत दीर्घ, सशक्त एवं प्रभावशाली हैं; इनमें से प्रत्येक परम्परा में शताधिक काव्य आते हैं जिन्हें इतिहास में स्थान नहीं दिया गया—

१. रसिक-भक्ति काव्य-परम्परा।
२. मैथिली गीति-परम्परा।
३. ऐतिहासिक रास-परम्परा।
४. ऐतिहासिक चरित-परम्परा।
५. ऐतिहासिक मुक्तक-परम्परा।
६. रोमांटिक गीति-काव्य-परम्परा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से कृष्ण-भक्त कवियों ने गीति-शैली को अपनाया, जबकि राम-भक्त कवियों ने प्रबन्ध-शैली को, जबकि तथ्य यह है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने राम-भक्त कवियों की अपेक्षा अधिक प्रबन्ध काव्य लिखे हैं तथा दूसरी ओर राम-भक्त कवियों ने गीति-काव्य भी पर्याप्त संख्या में लिखे हैं। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि भक्त कवियों ने केवल राम और कृष्ण के ही चरित्र को नहीं, अपितु अन्य अवतारों तथा प्रह्लाद, सुदामा, हरिश्चन्द्र, भरत, दुर्गा, शिव, पार्वती, भक्त ध्रुव, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि की पौराणिक गाथाओं को लेकर शताधिक काव्य लिखे जिन्हें 'राम-काव्य' या 'कृष्ण-काव्य' के अन्तर्गत स्थान देना कठिन है, इसीलिए इन परम्पराओं का नामकरण क्रमशः 'पौराणिक प्रबन्ध-काव्य' एवं 'पौराणिक गीति-काव्य' के रूप में करना आवश्यक है। सच पूछें तो भक्त कवियों का लक्ष्य संस्कृत के समस्त पौराणिक साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत कर देने का था—एक प्रकार से 'पौराणिक भक्ति' का नवजागरण करने का था—अतः इस काव्य की मूल चेतना को समझने के लिए भी इनके नामकरण में 'पौराणिक' विशेषण को स्थान देना आवश्यक है।

अस्तु, पिछले चालीस वर्षों में—आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के अनन्तर—हिन्दी-साहित्य की इतनी प्राचीन एवं मध्यकालीन सामग्री प्रकाश में आई है कि उससे इसके इतिहास का परम्परागत चित्र बहुत कुछ परिवर्तित हो जाता है तथा उसे देखते हुए उसके काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण, परम्पराओं के वर्गीकरण एवं नामकरण में पर्याप्त परिवर्तन, संशोधन एवं परिवर्द्धन करना आवश्यक हो जाता है। हो सकता है, जो विद्वान् पुराने ढाँचे के अभ्यस्त हैं, वे नये वर्गीकरण एवं नामकरण को ग्रहण करने में थोड़ी कठिनाई अनुभव करें, पर यदि सरलता से गृहीत भ्रान्तियों की अपेक्षा कठिनाई से उपलब्ध यथातथ्य विचार का महत्त्व अधिक है, तो उन्हें इस कठिनाई का भी सामना साहस एवं धैर्य के साथ करना चाहिए ताकि हम हिन्दी-साहित्य की अधूरी तस्वीर के स्थान पर उसके एक परिपूर्ण रूप का बोध प्राप्त कर सकें। ●

: बाईस :

आदिकाल और उसकी समस्याएँ

१. नामकरण की समस्या।
२. अपभ्रंश और हिन्दी की भिन्नता।
३. रचनाओं के लुप्त हो जाने के कारण।
४. अस्तित्व की संदिग्धता।
५. काल-सीमा।
६. रचनाओं का वर्गीकरण।
७. निष्कर्ष।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल—जिसे आदिकाल, वीरगाथाकाल, चारण-काल आदि अनेक संज्ञाओं से विभूषित किया गया है—हिन्दी का सबसे अधिक विवाद-ग्रस्त काल है। "शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गयी थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक भाव प्रकट करते थे।"—(हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ—१) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् ने भी इस काल की जटिलताओं को स्वीकार करते हुए लिखा है—"इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है।"

नामकरण की समस्या

आदिकाल की अनेक समस्याओं में से सर्व-प्रथम तो उसके नामकरण की ही है। सबसे पूर्व मिश्र-बन्धुओं ने इसे 'आदिकाल' नाम से पुकारा, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग में वीर-गाथात्मक रचनाओं की प्रधानता बताते हुए इसे 'वीर-गाथा काल' नाम दिया। किन्तु वास्तविकता यह है कि शुक्लजी के द्वारा उल्लिखित वीर-गाथाओं—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द-प्रकाश, जय-मयंक-जस-चन्द्रिका और परमाल-रासो—में से कुछ तो परवर्ती युग में रचित सिद्ध हो चुकी हैं (जैसे—खुमान रासो व परमाल रासो); कुछ अप्रामाणिक (पृथ्वीराज रासो) हैं, कुछ वीररस से शून्य प्रेमकाव्य (बीसलदेव रासो) हैं और कुछ का अस्तित्व ही नहीं है। अतः इसे 'वीर-गाथा-काल' कहना निरर्थक-सा है। डा० रामकुमार वर्मा ने सम्भवतः शुक्लजी की इस धारणा से प्रभावित होकर कि इन वीर-गाथाओं के रचयिता राज्याश्रित चारण थे, इसे 'चारण-काल' की संज्ञा दी है। किन्तु इस युग के अन्तर्गत उन्होंने जिन

रचनाओं को स्थान दिया, उनमें से अधिकांश सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक में रचित हैं और जो रचनाएँ इस काल की सीमा में आती हैं, उनमें किसी का भी रचयिता कोई चारण नहीं है। यह तथ्य स्वयं डा० वर्मा द्वारा रचनाओं के दिये गये परिचय—रचनाकाल एवं रचयिता—से ही सिद्ध हो जाता है, आश्चर्य है कि यह असंगति उनके ध्यान में नहीं आई।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश और हिन्दी को एक ही भाषा मानते हुए इस काल का नामकरण 'सिद्ध-सामंत युग' किया है। 'सिद्ध' वज्रयानी सिद्धों की अपभ्रंश रचनाओं का प्रतीक है और 'सामन्त' हिन्दी के वीर-रसात्मक साहित्य का सूचक; किन्तु उनके मत को स्वीकार करने में भी कई आपत्तियाँ हैं। एक तो अपभ्रंश और हिन्दी को एक मानना ही अनुचित है, अन्यथा आधुनिक युगीन प्रान्तीय भाषाएँ—गुजराती, बँगला, मराठी आदि—जो अपभ्रंश से विकसित हुई हैं, हिन्दी की ही शाखाएँ सिद्ध हो जाएँगी। सम्भवतः हिन्दी-प्रेमी जनता इसे स्वीकार कर ले, किन्तु अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समर्थक इसे कभी मानने को तैयार नहीं होंगे। दूसरे, यदि हिन्दी और अपभ्रंश को एक कहा जा सकता है तो फिर अपभ्रंश और प्राकृत या प्राकृत और पालि को एक कहने में क्या अड़चन है ? फिर तो हिन्दी के अन्तर्गत पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का सारा साहित्य लिया जा सकता है और उस स्थिति में इस युग का नाम 'सिद्ध-सामन्त युग' ही नहीं, "जैन-सिद्ध-सामन्तादि युग" रखना होगा, क्योंकि इस युग के सबसे बड़े कवि जैन हैं।

इस समस्या के समाधान में आचार्य हजारीप्रसाद जी ने भी योग देते हुए लिखा है कि "वस्तुतः हिन्दी का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्परा-विनिर्मुक्त, काव्य रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग-सचेत कवियों का काल है।....यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।" इस नाम की अनुपयुक्तता तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि पाठक या श्रोता के मस्तिष्क को इसके साथ सदैव एक लम्बा वाक्य चेतावनी के रूप में संवाहित करना पड़ता है अन्यथा भ्रान्ति में पड़ जाने का भय है! यह इस काल का दुर्भाग्य है कि हमारे चोटी के इतिहासकारों के पचास-वर्ष के दीर्घ प्रयत्न के पश्चात् भी इसे कोई निर्भ्रान्त नाम नहीं मिल सका।

अपभ्रंश और हिन्दी की भिन्नता

यह नामकरण की समस्या स्वयं तो हल हो ही नहीं पाई, इसने कई नवीन समस्याओं को और जन्म दे दिया है। एक ओर श्री राहुल सांकृत्यायन ने इस सम्बन्ध में अपभ्रंश और हिन्दी की एकता पर प्रकाश डाला था, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। ऊपर आचार्य शुक्ल ने भी कुछ ऐसी ही मौलिक बातें कही हैं—वे भी अप-

भ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी' का नाम देते हुए इसका उद्भव विक्रम की सातवीं शती से मानते हैं—"अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।....अतः हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।" (हि० सा० इ०, पृ० ३ व २०) यहाँ प्रश्न उठता है, जब इस प्राकृताभास हिन्दी का उदय सातवीं शताब्दी से पूर्व ही हो गया था तो फिर आदिकाल का प्रारम्भ १०५० वि० से मानने में क्या संगति है ? इससे पूर्व जो अपभ्रंश कवि हो चुके हैं, उन्हे हिन्दी साहित्य में स्थान क्यों नही दिया गया ? इसका समाधान करते हुए शुक्ल जी ने उत्तर दिया है कि "उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नही है। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र है, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।" (हि० सा० इ०, पृ० २१) इसका तात्पर्य यह है कि यदि शुक्ल जी को यह विश्वास हो जाता कि जैन और सिद्ध कवियों की अपभ्रंश-रचनाओं में साहित्यिकता है तो वे हिन्दी साहित्य का आरम्भ सातवीं शताब्दी से ही मान लेते। पर शायद वे ऐसा भी नहीं करते, क्योंकि उन्होंने आगे चलकर अपने इतिहास में 'अपभ्रंश-काल' और 'देश-भाषा काव्य' शीर्षक दो अध्याय अलग-अलग दिये हैं तथा दोनों अध्यायों में ही उन्होंने नवीं से पन्द्रहवीं शती तक की रचनाओं को स्थान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी इस प्रारम्भिक धारणा में कि 'प्राकृताभास हिन्दी' है, आगे चलकर परिवर्तन आ गया क्योंकि अगले अध्याय में 'अपभ्रंश' को इसी नाम के पुकारते है, 'प्राकृताभास हिन्दी' के नाम से नहीं।

प्रामाणिक रचनाओं का अभाव

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी की मान्यताओं का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है—"अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा गया है, उनमें से कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप है। इन पुस्तकों को ग़लती से प्राचीन मान लिया गया है।" साथ ही उन्होंने डॉ० मोतीलाल मेनारिया के इस मत का भी समर्थन किया है कि वीर-गाथाएँ किसी युगविशेष की प्रवृत्ति न होकर चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के कवियों की जातिगत मनोवृत्ति की सूचक हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाय, तब तो वीर-गाथा काल राजस्थान में आज भी ज्यों का त्यों बना है।

आचार्य हजारीप्रसाद जी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि आदिकाल में हिन्दी भाषी-प्रदेश में रचित एक भी ऐसी रचना नहीं मिलती जिसे हिन्दी की कहा जा सके। उन्हीं के शब्दों में—"वस्तुतः १४ वीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिन्दी-भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है।

रहा है। जो एकाध शिलालेख और ग्रंथ मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था।' प्रश्न है चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी की कोई प्रामाणिक रचना उपलब्ध क्यों नहीं है ? इन विषयों में द्विवेदी जी का कथन है कि इस युग में मध्य देश के शासक गाहड़वाल नरेश थे। वे "इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय नहीं दे सके और यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था, वहाँ तक देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। अन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा-साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे।" द्विवेदीजी का यह मत मौलिक होते हुए भी सर्वमान्य नहीं हो पाया है। डा० दशरथ शर्मा ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है—"कन्नौज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। यदि संस्कृत-संस्कृति के प्रबल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देशी भाषा को इतना मान दिया तो हम किस आधार पर कह सकते है कि उसके एक-दो पूर्वजों ने ही देशी भाषा से विरोध किया था और उन्होंने विरोध भी किया हो तो तीस-चालीस वर्षों में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नही हो जाता।"—(आलोचना, ७ अंक, पृष्ठ ११६) यह भी ध्यान रहे कि कन्नौज पर गाहड़वालों का आधिपत्य १०९० ई० में हुआ तथा देशी भाषा को आश्रय देने वाले गोविन्दचन्द्र सन् १११४ मे गद्दी पर बैठे, अतः द्विवेदीजी का कथित उपेक्षाकाल २४ वर्ष का ही सिद्ध होता है। इस अल्पकालीन उपेक्षा के कारण परवर्ती शताब्दियों का भी साहित्य किस प्रकार नष्ट हो गया, यह बात हमारी समझ के बाहर है।

यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि गाहड़वालों की उपेक्षा के कारण हमारे साहित्य को आश्रय नहीं मिला, तो भी उन अज्ञात, अरचित या अरक्षित रचनाओं के आधार पर इतिहास का ढाँचा खड़ा नही किया जा सकता। जब हमारे पास इस युग की कोई प्रामाणिक रचना ही नहीं तो इसका नामकरण कैसा ? इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने एक लेख—"आदिकाल का अस्तित्व कहाँ है ?"—(साहित्य-सन्देश, नवम्बर, ५४) प्रकाशित करवाया था, किन्तु उसका उत्तर आज तक किसी विद्वान् ने देने का कष्ट नहीं किया। वस्तुतः इस युग में हिन्दी की प्रामाणिक रचनाएँ न मिलने का कारण मुसलमानों का आक्रमण, देश की अशान्ति या किसी शासक-विशेष की अवज्ञा नही है, यदि ऐसा होता तो इस युग में रचित अपभ्रंश की शताधिक रचनाएँ उपलब्ध नही होतीं। यह युग साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का युग है, किन्तु हम उसे बलात् हिन्दी का आदिकाल या वीरगाथा काल सिद्ध करना चाहते है—फलस्वरूप कभी हम अपभ्रंश की रचनाओं को उधार लेते हैं, कभी अस्तित्वहीन या परवर्ती रचनाओं का आश्रय ग्रहण करते हैं और कभी साहित्य नष्ट हो जाने की कहानियाँ कहकर आँसू बहाते है।

वस्तुतः आदिकाल की विभिन्न समस्याओं के समाधान का एक ही मार्ग है कि हम अपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहों एवं दुराग्रहों को त्यागकर सबसे पूर्व इस बात का निर्णय करें कि हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य का उद्भव कब हुआ, तदनन्तर इस काल की प्रामा-

णिक हिन्दी रचनाओं के आधार पर इसके नाम, काल-सीमा एवं प्रवृत्तियों आदि का निर्धारण करें। अस्तु, हम आगे ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी भाषा और साहित्य का उद्भव-काल

प्रारम्भ में विद्वानों की धारणा थी कि अपभ्रंश और हिन्दी एक ही भाषा है, अतः उन्होंने अपभ्रंश की रचनाओं के आधार पर ही हिन्दी भाषा और साहित्य का उद्भव लगभग सात सौ विक्रमी स्वीकार किया। किन्तु अब यह निर्विवाद-रूप से निर्णय हो गया है कि अपभ्रंश और हिन्दी दो भिन्न भाषाएँ हैं, यह दूसरी बात है कि हिन्दी का विकास अपभ्रंश से ही हुआ है। हिन्दी का विकास किस समय हुआ—इस सम्बन्ध में विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। पर जैसा कि हमने अपने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में विभिन्न भाषा-वैज्ञानिकों एवं आलोचकों के विचारों की छानबीन करते हुए सप्रमाण सिद्ध किया है, हिन्दी का उद्भव ग्यारहवीं शती के आरम्भ में हो चुका था। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पंडित दामोदर रचित 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' (१२वीं शती), आचार्य हेमचन्द्र के 'प्राकृत-व्याकरण' (१२वीं शती), रोड़ाकृत, 'राउलवेल' (११ वीं शती) के शिलालेख आदि को देखा जा सकता है, जिनमें प्रारम्भिक हिन्दी के नमूने उपलब्ध हैं।

कुछ विद्वान् हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य—दोनों का आविर्भाव साथ-साथ मान लेते हैं जो ठीक नहीं। किसी भी लोक-भाषा को साहित्य के द्वार तक पहुँचने में थोड़ा-बहुत समय अवश्य लग जाता है—अतः भाषा और साहित्य, दोनों का उद्भव साथ-साथ नहीं माना जा सकता। हमारे कुछ इतिहासकारों ने तो हिन्दी भाषा का उद्भव १२वीं-१३वीं शती में और हिन्दी साहित्य का उद्भव सातवीं शती तक में मान लिया है, जो हास्यास्पद है। क्या हिन्दी भाषा के उद्भव से पूर्व ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव सम्भव है? वस्तुतः दृष्टि की अवैज्ञानिकता एवं चिन्तन की अस्पष्टता के कारण ही इस प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की जाती है, अन्यथा यह स्पष्ट है कि साहित्य का आविर्भाव भाषा के उद्भव-काल के अनन्तर ही सम्भव है।

हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव-काल के निर्णय के लिए, हमें यह देखना है कि हिन्दी का सबसे पहला कवि कौन है? प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों से इस प्रश्न का कोई उत्तर नही मिलता। आचार्य शुक्ल एवं द्विवेदीजी जैसे इतिहासकार भी इस प्रश्न के सम्बन्ध में मौन हैं। कुछ इतिहासकारों ने सातवीं शती के पुष्प या आठवीं शती के स्वयंभू का नाम लिया है, पर इनमें से एक की तो कोई रचना ही उपलब्ध नहीं है और दूसरा अपभ्रंश का कवि है। वस्तुतः सातवीं-आठवीं शती में, जबकि हिन्दी भाषा का ही आविर्भाव नहीं हुआ था, किसी हिन्दी कवि के अस्तित्व की कल्पना करना निरर्थक है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल के हिन्दी कवियों में सबसे पहले 'खुमान रासो' के रचयिता दलपति विजय का परिचय दिया है, क्योंकि इसका रचना-काल उनके मतानुसार दसवीं शताब्दी था, पर अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि यह रचना अठारहवीं शती में रचित

है। आचार्य शुक्ल द्वारा उल्लिखित अन्य रचनाओं में से 'वीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'अमीर खुसरो की पहेलियाँ', 'परमार रासो' आदि में से भी किसी को हिन्दी की पहली रचना होने का गौरव नहीं दिया जा सकता, क्योंकि एक तो उनके रचना-काल अनिश्चित है, दूसरे उनमें से कोई भी तेरहवीं शती से पूर्व रचित सिद्ध नहीं होती। यह भी आश्चर्य की बात है कि प्रथम रचना का निर्णय किए बिना ही आचार्य शुक्ल ने कोरे अनुमान के आधार पर हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल १०५० विक्रमी घोषित कर दिया।

यदि पूर्ववर्ती इतिहासकारों द्वारा उल्लिखित कवियों में से ही किसी को हिन्दी का पहला कवि स्वीकार करना है तो कबीर ही पहले कवि सिद्ध होते हैं, क्योंकि अन्य पूर्ववर्ती कवियों का जीवन-काल एवं रचना-काल या तो अनिश्चित है या फिर वह कबीर के बाद पड़ता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी साहित्य का आरम्भ भक्तिकाल से मानना पड़ेगा तथा पूरे आदिकाल को अस्तित्वहीन मानते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास मे से निकाल देना पड़ेगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास (हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास) में भक्तिकाल के साथ 'वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ' विशेषण लगाकर अप्रत्यक्ष में यह स्वीकार कर लिया है कि वास्तव में भक्तिकाल से ही हिन्दी-साहित्य का आरम्भ होता है। पर इधर गुजरात के जैन-भाण्डारों से कुछ ऐसे राम-संज्ञक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जो कि निश्चित रूप मे १२वीं-१३वीं शती मे रचित हैं तथा जिनकी भाषा प्रारम्भिक हिन्दी है—अतः इसके आधार पर हिन्दी साहित्य के आदिकाल के अस्तित्व को बचाया जा सकता है। इन रचनाओं में सबसे प्राचीन शालिभद्र सूरि रचित 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' है, जिसका रचना-काल स्वयं कवि के निर्देशानुसार संवत् १२४१ वि० (११८४ ई०) है। अतः हम इसी रचना को हिन्दी की प्राचीनतम उपलब्ध प्रामाणिक साहित्यिक रचना मानते हुए मुनि शालिभद्र सूरि को हिन्दी का प्रथम कवि तथा ११८४ ई० को हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल मान सकते हैं। कुछ विद्वानों ने भ्रांतिवश 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' को अपभ्रंश की रचना माना है, किन्तु जैसा कि डा० हरीश तथा अन्य विद्वानों ने इसकी भाषा का वैज्ञानिक अनुशीलन करने के अनन्तर सिद्ध किया है, इसकी भाषा ग्राम्य अपभ्रंश का विकसित रूप है, जिसे प्रारम्भिक हिन्दी कहा जा सकता है। परिनिष्ठित अपभ्रंश से यह भिन्न है। यहाँ नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

हा! कुल मंडण हा कुल वीर!
हा! समरंगणि साहस धीर

× × ×

कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु
एहु जि दीजइ दैवह दोसु!

वस्तुतः यह स्पष्ट ही बारहवीं शती की राजस्थानी या हिन्दी की रचना है। अतः हमें परम्परागत भ्रान्तियों का परित्याग करते हुए हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-

काल या आदिकाल (प्रारम्भिक काल) की आरम्भिक सीमा के रूप में सन् ११८४ ई० को निःसंकोच स्वीकार कर लेना चाहिए।

आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ

इस काल की प्रामाणिक रचनाओं का निर्णय करना भी एक समस्या है, क्योंकि अब तक विभिन्न इतिहासकारों ने इस काल के अन्तर्गत जिन रचनाओं को स्थान दिया है वे विभिन्न कारणों से अप्रामाणिक सिद्ध होती जा रही है। मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ में भगवद्गीता, वर्त्तमाल, संमतसार आदि ऐसी रचनाओं का विवरण दिया है, जो आचार्य शुक्ल के मतानुसार 'नोटिस मात्र' हैं या जिनका अस्तित्व ही नहीं है। राहुल सांकृत्यायन ने भी 'हिन्दी-काव्य-धारा' के अन्तर्गत अपभ्रंश के कवियों को स्थान दिया है जो उचित नहीं। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल के अन्तर्गत ये बारह रचनाएँ स्वीकृत की है—(१) विजयपाल रासो (२) हम्मीर रासो (३) कीर्त्तिलता (४) कीर्तिपताका (५) खुमान रासो (६) बीसलदेव रासो (७) पृथ्वीराज रासो (८) जयचंद्र-प्रकाश (९) जय मयंक जस-चन्द्रिका (१०) परमाल रासो (११) खुसरो की पहेलियाँ (१२) विद्यापति की पदावली। इनमें से प्रथम चार तो अपभ्रंश की रचनाएँ है, अतः उन्हें हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता। पाँचवीं—'खुमान रासो' का रचनाकाल संवत् १७६० के बाद सिद्ध हो चुका है, अतः उसे आदिकाल की रचना नहीं कहा जा सकता। 'बीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' का भी रचनाकाल विवादास्पद है तथा उन्हे पूर्णतः प्रामाणिक भी नही माना जाता। 'जयचन्द्र-प्रकाश' एवं 'जय मयंक जस-चन्द्रिका' का अस्तित्व ही नहीं, उनका नाममात्र कदाचित् आचार्य शुक्ल ने कहीं पढ़ा था, ऐसी स्थिति में उन्हे भी आदिकाल की हिन्दी-रचना कैसे कहा जा सकता है! आचार्य शुक्ल ने मिश्रबन्धुओं द्वारा परिगणित अस्तित्वहीन रचनाओं का उपहास उन्हें 'नोटिस मात्र' कह कर किया है, पर यह विशेषण इन दोनों रचनाओं पर भी लागू होता है। 'परमाल रासो' एवं 'खुसरो की पहेलियाँ' भी भाषा एवं रचना-काल की दृष्टि से अप्रामाणिक एवं परवर्ती सिद्ध होती है। अन्त में एक ही रचना ऐसी बच जाती है जो निश्चित ही प्रामाणिक है—वह है विद्यापति की 'पदावली'। पर इसे आदिकाल में स्थान देते समय स्वयं आचार्य शुक्ल भूल गये कि इसका रचना-काल स्वयं उन्होंने संवत् १४६० वि० माना है, जबकि उनके मतानुसार आदिकाल संवत् १३७५ मे ही समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह रचना आदिकाल की न होकर भक्तिकाल की सिद्ध होती है। विषय-वस्तु, भावात्मक प्रवृत्तियों एवं शैली की दृष्टि से भी विद्यापति की 'पदावली'—जिसमें कि राधा-कृष्ण के प्रेम का निरूपण गीति शैली में किया गया है—वीरगाथाकाल की नहीं, भक्तिकाल की ही रचना सिद्ध होती है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल द्वारा परिगणित रचनाओं में से एक भी ऐसी प्रामाणिक हिन्दी रचना नहीं बचती जिसे 'आदिकाल' या 'वीरगाथा-काल' में स्थान दिया जा सके। कदाचित् इसी स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह स्वीकार किया कि इस काल में जितनी भी प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे अपभ्रंश की ही हैं, लोक-भाषा या

हिन्दी की रचनाएँ संदिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं। उनके मतानुसार 'मूल मध्यदेश में जहाँ आगे चलकर ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य उद्भूत और विकसित हुआ है, वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण ईस्वी सन की १४ वीं शताब्दी से पहले का नहीं मिलता।'

ऐसी स्थिति में हमें हिन्दी-साहित्य का आरम्भ १४ वीं शती से ही मानना चाहिए, पर इधर गुजरात के जैन-भाण्डारों से हिन्दी की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, उन्होंने स्थिति को बदल दिया है। इन रचनाओं में से प्राचीनतम हिन्दी रचना 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त और भी रचनाएँ हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं—'चन्दन बाला-रास' एवं 'जीव दया-रास' (दोनों के रचयिता कवि आसगु थे एवं रचना-काल लगभग १२०० ई०), 'स्थूलिभद्र रास' (जिन धर्म सूरि; १२०९ ई०), 'रेवंतगिरि रास' (विजय सेन सूरि; १२३१ ई०), 'आबू रास' (पल्हण; १२३२ ई०), 'नेमिनाथ रास' (सुमति गुणि; १२३८ ई०), 'कच्छुली रास' (प्रज्ञातिलक; १३०६ ई०); 'गयसुकुमाल रास' (देल्हण; १४वीं शती); 'जिन पद्मसूरि पट्टाभिषेक रास' (सारमूर्ति; १३३३ ई०), 'पंच-पांडव-चरित रास' (शालिभद्र सूरि द्वितीय; १३५३ ई०); 'गोतम स्वामी रास' (उदयवन्त; १३५५ ई०), 'भयण रेहारासु' (रयणु; १४वीं शती), आदि। इन रचनाओं का विस्तृत परिचय यहाँ देना सम्भव नहीं, अतः 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में प्रस्तुत परिचय के आधार पर संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सभी आदिकाल के प्रामाणिक हिन्दी काव्य हैं। यद्यपि इनके रचयिता जैन कवियों का मूल लक्ष्य काव्य के माध्यम से अपने तीर्थंकरों, महापुरुषों तपस्वियों एवं तीर्थस्थलों का गुण-गान करते हुए सामाजिकों की धार्मिक भावनाओं को उद्वेलित करना था तथा अप्रत्यक्ष में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना भी रहा, पर इससे इनके काव्यत्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। यदि धार्मिक प्रेरणा को ही काव्यत्व के लिए निषिद्ध माना जाय तो फिर उस स्थिति में हमें सभी सन्त एवं वैष्णव कवियों को—जिनमें कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, जैसे दिग्गज भी आते हैं—काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करना पड़ेगा। वस्तुतः इनका काव्य केवल सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं है, अपितु उसमें नारी सौन्दर्य यौवन, प्रणय, विरह जैसे विषयों एवं प्रकृति के नाना दृश्यों का भी निरूपण आकर्षक अलंकारपूर्ण शैली में हुआ है—अतः वे काव्यत्व की कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। इनकी विषय-वस्तु पौराणिक है, तथा पात्र धार्मिक साधक हैं तथा इनमें शान्तरस की प्रधानता है। जनता में प्रचलित रास-शैली को अपनाकर उन्होंने उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। वस्तुतः रास या रासो परम्परा को साहित्य में प्रचलित करने का श्रेय इन्हीं कवियों को है, यह दूसरी बात है कि आगे चलकर जब यह परम्परा जैन-मन्दिरों से निकलकर राज-दरबारों में पहुँची, तो इसकी विषय-वस्तु एवं शैली में गहरा अन्तर आ गया। वहाँ पौराणिक गाथाओं के स्थान पर ऐतिहासिक चरित्र एवं शान्तरस के स्थान पर वीररस वर्ण्य हो गया। शैली में भी विस्तार एवं चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति आ गयी। अस्तु, हमारे विचार में परवर्ती युग के रासो काव्य इसी परम्परा के विकसित रूप के सूचक हैं।

इस प्रकार आदिकाल की नवोपलब्ध सामग्री को ध्यान में रखकर विचार करने से अनेक परम्परागत धारणाओं का खण्डन हो जाता है। जहाँ इसका आरम्भ १०५० के स्थान पर १२४१ वि० (११८४ ई०) सिद्ध होता है, वहाँ प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल वीरगाथाकाल न होकर 'जैन-काल', 'धार्मिक काल' या 'शान्तरसात्मक काल' सिद्ध होता है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से हम इसे 'प्रारम्भिक काल' ही कहना उचित समझते हैं। इसकी उत्तरवर्ती सीमा भी अनेक कारणों से सन् १३५० निश्चित की गयी है। वस्तुतः नवीनतम अनुसंधान की दृष्टि से इस काल की सीमाएँ, प्रवृत्तियाँ एवं संज्ञा-आदि सभी कुछ परवर्तित हो जाती हैं, तथा इसकी सभी प्रमुख समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं, पर फिर भी जिन्हें पुराने इतिहासकारों की धारणाओं से बंदरी के मृत बच्चे की भाँति प्यार है, उन्हें कौन समझा सकता है! उनके लिए आज भी 'खुमान रासो' हिन्दी की पहली रचना एवं आदिकाल 'वीरगाथाकाल' ही रहे तो क्या आश्चर्य है।

: तेईस :

भक्ति : उद्भव और विकास

१. भक्ति का अर्थ।
२. भक्ति-आन्दोलन के मूल कारण।
३. भक्ति-भावना का क्रमिक विकास—(क) वैदिक साहित्य, (ख) रामायण, (ग) महाभारत, (घ) गीता, (ङ) नारद-भक्ति सूत्र, (च) पौराणिक साहित्य, (छ) अद्वैत विरोधी दर्शन, (ज) विभिन्न भक्ति-सम्प्रदाय।
४. उपसंहार।

'भक्ति' शब्द का अर्थ विभिन्न शब्द-कोशों में 'विभाजन', 'अनुराग', 'पूजा', उपासना' आदि दिया गया है। किन्तु इन पर्यायवाचियों में भी थोड़ा अन्तर है, अतः भक्ति के उद्भव व विकास आदि पर विचार करने से पूर्व इसका अर्थ स्पष्ट कर लेना उचित होगा। हमारे विभिन्न आचार्यों ने 'भक्ति' की निम्नांकित परिभाषाएँ दी हैं—

१. **श्रीमद्भगवद्गीताकार**—"मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः" (अध्याय १२।१४) अर्थात् जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दिया, वह भक्त मुझे प्रिय है।

२. **पाराशर्य**—"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः" (नारद-भक्ति-सूत्र १६) अर्थात् पूजादि में अनुराग होना भक्ति है।

३. **शाण्डिल्य**—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र-२) अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग-रूपा है।

४. **नारद**—"सा त्वस्मिन् परमप्रेम-रूपा, अमृत-स्वरूपा च। तत्रापि माहात्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवादः तद्विहीनं जाराणामिव।" अर्थात् वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूपा और अमृत-स्वरूपा है। फिर भी माहात्म्य-ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए, अन्यथा यह व्यभिचारियों के प्रेम तुल्य हो जायगी। (नारद-भक्ति-सूत्र २-३)।

५. **वल्लभाचार्य**—"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥" अर्थात् भगवान् में माहात्म्यपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं। (तत्त्वदीप निबन्धः, श्लोक ४६)।

उपर्युक्त परिभाषाओं में शाब्दिक दृष्टि से अन्तर होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से पर्याप्त एकता है। गीताकार ने हृदय और बुद्धि दोनों का समर्पण स्वीकार किया है।

हृदय का समर्पण प्रेम से और बुद्धि का महत्ता के बोध से होता है। पाराशर्य, शाण्डिल्य, नारद और वल्लभाचार्य ने भी अनुराग के साथ-साथ पूजा व माहात्म्य-ज्ञानादि का समर्थन किया है। अस्तु, गीताकार के द्वारा उल्लिखित हृदय एवं बुद्धि को तथा परवर्ती आचार्यों के अनुराग एवं माहात्म्य-ज्ञान को क्रमशः प्रेम और श्रद्धा का नाम देते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा—"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है"—में उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी भक्ति में श्रद्धा और प्रेम दोनों तत्त्वों का सम्मिश्रण होना अनिवार्य है। दोनों में से किसी भी एक तत्त्व के न होने पर वह कोरी श्रद्धा व कोरे प्रेम का रूप धारण कर लेगी तथा उस स्थिति में उसे भक्ति कहना उचित नहीं होगा। हमारे अनेक विद्वानों ने भक्ति के विकास पर विचार करते समय इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा, फलतः उनके निष्कर्ष ऊहात्मक बन गये हैं।

भारतीय धर्म-साधना में भक्ति-भावना का उदय कब और क्यों हुआ—इस विषय पर विभिन्न विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। पाश्चात्य विद्वान् वेवर, कीथ, ग्रियर्सन, आदि इसे ईसाई धर्म की देन बताते हैं। वेवर महोदय ने महाभारत मे वर्णित 'श्वेतद्वीप' का अर्थ गौरांग जातियों का निवास-स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाइयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति-भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ग्रियर्सन महोदय का मत है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शती में कुछ ईसाई मद्रास में आकर बस गये थे, जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। प्रो० विल्सन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की उपज सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया है। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने कृष्ण को क्राइष्ट का ही रूपान्तर घोषित करते हुए अपनी कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि गोपियाँ किसकी रूपान्तर हैं। हमारे अनेक भारतीय विद्वानों—श्री बालगंगाधर तिलक, श्री कृष्ण स्वामी आयंगर, डॉ० एच० राय चौधरी आदि ने उपर्युक्त मतों का खण्डन सुदृढ़ आधारों पर करते हुए भक्ति का मूल उद्गम प्राचीन भारतीय स्रोतों में सिद्ध किया है, अतः उपर्युक्त भ्रामक निष्कर्षों पर विचार करना यहाँ अनावश्यक है। हमारे हिन्दी के इतिहासकारों ने भी इस समस्या के समाधान का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-आन्दोलन को मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया बताते हुए लिखा है—"अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?" किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके विरोध में तर्क दिया है—"मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भाव-धारा को उमड़ना ही था तो पहले उसे सिंध में, फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।" द्विवेदीजी के विचार से भक्ति-आन्दोलन के विकास का श्रेय दक्षिण के आलवार भक्तों को है, जिनकी संख्या बारह मानी जाती है। किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि इन आलवारों को किससे प्रेरणा मिली ? यह भी विचित्र बात है कि राम और कृष्ण का अवतार उत्तरी भारत

में हुआ जबकि उनके प्रति भक्ति-भावना का विकास ठेठ दक्षिण में आलवारों द्वारा हुआ है। वस्तुतः भक्ति के विकासक्रम की सुसंगत व्याख्या करने के लिए वैदिक युग से लेकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक के समस्त धार्मिक साहित्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

भक्ति का क्रमिक विकास

आर्यों की प्राचीनतम साधना का परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० मुशीराम 'सोम' ने ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं के आधार पर भक्ति का उद्भव वैदिक साहित्य से ही दिखाने का प्रयत्न किया है; किन्तु उन्होंने जिसे 'भक्ति' कहा है, वह कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना मात्र है; भक्ति के दूसरे आवश्यक तत्त्व—प्रेम—का उन्मेष उसमें नहीं मिलता। प्रभु के गुणों का वर्णन, स्तुति व प्रार्थना आदि को ही यदि हम भक्ति मान लें तो फिर कदाचित् संसार के अधिकांश धर्म-सम्प्रदाय—जंगली की जातियों से लेकर सुसभ्य समुदायों की पूजा-पद्धतियाँ तक सभी—भक्ति आन्दोलन की शाखाएँ सिद्ध हो सकती हैं क्योंकि श्रद्धा-तत्त्व का अस्तित्व प्रायः सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। वस्तुतः वैदिक धर्म में प्रारम्भ में यज्ञ व कर्म-काण्ड की जटिल-पद्धतियों से बँधी हुई एक उपासना-पद्धति थी, जिसमें शुष्क-कर्म की प्रधानता थी; भक्ति के उपयुक्त कोमल भावनाओं का विकास उसमें नही मिलता। आगे चलकर उपनिषदों में यही धर्म उपासना से चिन्तन में; कर्म मे ज्ञान मे और स्थूल से सूक्ष्म में परिणत होने लगा, जिसमें भक्ति-भावना के उन्मेष के लिए और भी कम स्थान रह गया। यज्ञों के कर्म-प्रधान धर्म में श्रद्धा के लिए तो स्थान था, किन्तु उपनिषदों के अद्वैत-चिन्तन में तो वह भी नहीं रहा। अस्तु, ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक के धार्मिक साहित्य में क्रमशः कर्म और ज्ञान का ही विकास मिलता है, भावना का उन्मेष वहाँ नहीं हो सका। वैसे प्राकृतिक नियम से भावना का विकास कर्म और ज्ञान से पूर्व होना चाहिए था और सम्भवतः ऐसा आर्यों के जीवन मे भी कभी हुआ होगा, किन्तु यह अवस्था वैदिक युग से पहले रही होगी—ऋग्वेद तथा परवर्ती वेदों का आर्य उस अवस्था से बहुत आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। आगे चलकर धर्म के जिस भावना-प्रधान रूप का विकास हुआ, वह वैदिक धर्म के शुष्क कर्मकाण्ड एवं परवर्ती सूक्ष्म-चिन्तन की प्रतिक्रिया-स्वरूप विकसित माना जा सकता है।

यदि भारतीय समाज की परिस्थितियों एवं उसके तत्कालीन दृष्टिकोण के आधार पर उपर्युक्त विकास-क्रम पर विचार करें। तो वह युग-चेतना के अनुकूल एवं स्वाभाविक सिद्ध होगा। वैदिक युग का आर्य समाज उत्तरी भारत में अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष-निरत था ; उसका द्रविड़ आदि आर्येतर जातियों से संघर्ष चल रहा था। रामायण से पूर्व तक उसने उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था ; आर्येतर जातियों को दक्षिण की ओर भगा दिया था ; किन्तु वे पूरी तरह विजित नहीं होने पाई थीं। जब तक पुरुषोत्तम राम ने ठेठ दक्षिण में पहुँच-

कर उनके केन्द्रीय स्थलों को नष्ट नहीं कर दिया, तब तक वे समय-समय पर आर्यों पर आक्रमण करती रहीं। यही कारण था कि विश्वामित्र जैसे ऋषियों को यज्ञादि करते समय शस्त्र-धारी राजकुमारों की आवश्यकता पडती थी। अतः राम के युग तक परिस्थितियों की विषमता एवं संघर्षशीलता के कारण आर्यों का कर्म को प्रमुखता देना स्वाभाविक था, अन्यथा उनका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। रामायण की मूल-कथा भी इसी कर्मशीलता पर प्रकाश डालती है। राम भली प्रकार जानते थे कि उनके वन-गमन के कारण उनके पिता की भावनाओं को, उनके हृदय को गहरी ठेस लगेगी, किन्तु फिर भी उन्होंने इसकी उपेक्षा करके कर्म को स्वीकार किया।

पुरुषोत्तम राम की दक्षिण-विजय ने भारतीय आर्यों को बाह्य-आक्रमण की चिन्ता से दीर्घकाल के लिए मुक्त कर दिया। आर्यों के सबसे प्रबल शत्रु सदा के लिए अशक्त हो गए। निश्चिन्तता के इस वातावरण में अध्ययन, चिन्तन एवं ज्ञान का विकास होना स्वाभाविक था। महाभारत युग तक पहुँचते-पहुँचते उनकी बौद्धिकता चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। प्राचीन नियमों एवं मर्यादाओं की उपेक्षा करके महाभारत के नेता नये-नये नियमों व विधानों के आविष्कार में संलग्न थे। इडा के औरस पुत्र स्वार्थ, कपट एवं अनाचार का चारों ओर बोल-बाला था। एक ओर आर्य-अनार्य धन से खरीदी हुई या बलपूर्वक अपहृत, जुए में हारी हुई कन्याओं या अन्य व्यक्ति की परिणीता युवतियों से विवाह कर रहे थे, दूसरी ओर सत्यवती, अम्बा, अम्बालिका, कुन्ती, द्रौपदी आदि कुलीन घरों की वधुएँ बहुपतित्व व नियोग आदि के नये-नये प्रयोग कर रही थीं। ऐसी स्थिति में कृष्ण ने गीता का उपदेश देकर समाज में पुनः ज्ञान एवं भावना के समन्वय का प्रयत्न किया।

अस्तु, भक्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से महाभारत और गीता मे प्राप्त होता है। महाभारत के शांतिपर्व में तथा भीष्मपर्व में नारायणीयोपाख्यान का वर्णन किया गया है जिसमें भागवत, नारायण या पंच-रात्र धर्म का उल्लेख मिलता है। इन चारों धर्मों में नारायण या वासुदेव की जिस उपासना-पद्धति का निरूपण किया गया है, वह भक्ति भावना का प्रारम्भिक स्वरूप है। महाभारत में भागवत धर्म का प्रवर्त्तक नारायण एवं उसका प्रचारक नारद बताया गया है। दूसरी ओर छांदोग्य उपनिषद् में भागवत धर्म के प्रवर्तन का श्रेय देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को दिया गया है। कृष्ण को भी नारायण का अवतार माना गया है, अतः महाभारत और छांदोग्य उपनिषद् के उल्लेखों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

महाभारत के भागवत धर्म का विकास गीता में मिलता है। जहाँ महाभारत में कोरी उपासना पर बल दिया गया था, वहाँ गीता में उसके साथ-साथ आत्म-समर्पण को भी स्थान दिया गया है। गीताकार कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष ही भक्ति-योग की महत्ता घोषित करते हैं। वे मोक्ष के लिए तपस्या और वैराग्य के मार्ग को अनावश्यक नही मानते तथा साथ ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि भक्ति शुष्क नैतिक आचरण में नहीं, अपितु भाव-पूर्ण उपासना या मुक्ति में है।

ईसा से छठी-सातवीं शताब्दी पूर्व परम्परागत वैदिक धर्म के कर्म-काण्ड एवं उपनिषदों की दुरूह ज्ञान-साधना के विरुद्ध क्रान्ति का स्वर और भी तेज हो गया। जहाँ वैदिक धर्म में शुष्क कर्मकाण्ड था, वहाँ उपनिषदों का निर्गुण ब्रह्म जन-साधारण की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ था। उसका ज्ञान बुद्धिजीवी वर्ग ही प्राप्त करता था। अतः जनसाधारण के उपयुक्त किसी सरल उपासना पद्धति की आवश्यकता को अनुभव करते हुए नये-नये धर्मों का उदय और विकास हुआ, जिन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते है—(१) नास्तिक और (२) आस्तिक। नास्तिक धर्मों के अन्तर्गत जैन और बौद्ध आते है, जबकि आस्तिक में नवोदित पौराणिक धर्म को ले सकते हैं। वस्तुतः यह पौराणिक धर्म पूर्ववर्ती भागवत धर्म का ही एक ऐसा नव-परिवर्द्धित रूप था, जिसमें एक ओर भक्ति-भावना को प्रमुख स्थान दिया गया था, तथा दूसरी ओर उसमें ऐसे तत्वों का समन्वय किया गया था, जिससे वह जैन और बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्धा में टिक सके। जैन और बौद्ध धर्म में लौकिक महापुरुषों—महावीर और गौतम बुद्ध—को प्रमुखता प्राप्त थी, अतः पौराणिक धर्म में भी लौकिक व्यक्तियों—राम और कृष्ण आदि—को विष्णु का अवतार घोषित किया गया। हिन्दू समाज के विभिन्न वर्गों में प्रचलित विभिन्न देवताओं की उपासना का समर्थन किया गया। बौद्ध जातक एवं अवदान कथा-साहित्य की लोक-प्रियता से प्रभावित होकर रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों को परिवर्द्धित करके उन्हे धार्मिक ग्रन्थों का रूप दिया गया। नये-नये धर्म-ग्रन्थ एवं सूत्र-ग्रन्थ रचे गये, जिनमें 'नारद-भक्ति-सूत्र' और 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों में भक्ति-भावना को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है तथा ज्ञान-योग व कर्म-योग को इसके समक्ष तुच्छ घोषित किया गया है। ध्यान रहे, भक्ति के दार्शनिक स्वरूप एवं उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से ये दोनों सूत्र-ग्रन्थ गीता के भक्ति-विवेचन को आगे बढ़ाते हैं। जहाँ गीताकार भक्त के लिए भी सदाचार एवं बाह्य-नियमों को आवश्यक मानते हैं, वहाँ नारद और शाण्डिल्य इनको उपेक्षणीय बताते है। इनके अतिरिक्त गीता में भक्ति-योग को ज्ञान-योग और कर्म-योग के समकक्ष ही स्थान मिला था, इनसे बढ़कर नहीं, जबकि इन सूत्र ग्रन्थों में भक्ति को मुख्य और ज्ञान और कर्म को गौण सिद्ध किया गया है। महाभारत और गीता में भक्ति का अंकुर मात्र था, जबकि सूत्र-ग्रन्थों में उसे पल्लवित एवं विकसित किया गया है।

'नारद-भक्ति-सूत्र' भारतीय साहित्य-परम्परा का ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें पहली बार भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन किया गया है तथा जिसका प्रतिपाद्य एक-मात्र भक्ति है। 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' सम्भवतः रचना-काल की दृष्टि से इससे प्राचीन हो सकता है, किन्तु उसमें विषय की ऐसी स्पष्टता तथा विवेचना की ऐसी गम्भीरता नहीं मिलती; अतः भक्ति के रूप को समझने व उसके विकास की रूप-रेखा को स्पष्टतः हृदयंगम करने के लिए इस ग्रन्थ पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। नारद ने सबसे पूर्व भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूप तथा अमृत-स्वरूपा घोषित किया है। "उसे पाकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष

करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे विषय-भोग की प्राप्ति में उत्साह रहता है। इसे प्राप्त कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।" इस प्रकार भक्ति के स्वरूप को आकर्षक शब्दों में प्रस्तुत करने के अनन्तर नारद प्रारम्भिक अवस्था में लौकिक कर्मों को उपेक्षापूर्वक करते रहने की आवश्यकता बताते हैं, किन्तु भक्ति की चरम अवस्था में वे समस्त लौकिक और वैदिक कर्मों के त्याग को स्वीकार करते हैं। भक्ति का लक्षण निर्धारित करते हुए प्रेम और श्रद्धा दोनों को प्रमुखता दी गई है, क्योंकि श्रद्धा के अभाव में कोरा प्रेम व्यभिचारियों के प्रेम के तुल्य—'तद्विहीनं जाराणामिव'—रह जायगा।

कर्म, ज्ञान और योग से भक्ति की तुलना करते हुए नारद इसे इन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठतर घोषित कर देते है—"सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।" ज्ञान भक्ति का साधन हो सकता है किन्तु भक्ति स्वयं साध्य है। जिस प्रकार भोजन का ज्ञान प्राप्त कर लेने से क्षुधा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही मुक्ति प्राप्त नही हो सकती, अतएव मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन-भक्ति ही है। भक्ति के साधनों में महर्षि ने विषय-वासनाओं का त्याग, अखण्ड भजन, भगवद् गुण-श्रवण, कीर्तन, महापुरुषों की कृपा और ईश्वर की अनुकम्पा का उल्लेख किया है। भक्ति के बाधक तत्त्वों में एकमात्र कुसंगति की चर्चा की गई है, जो उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता की परिचायक है, वे समस्त बुराइयों—काम, क्रोध, मोह, आदि—को कुसंगति का ही प्रभाव मानते हैं। नारद का यह भक्ति-मार्ग वैदिक धर्म के विरोध मे प्रचलित हुआ था, इसका स्पष्ट प्रमाण भी कई स्थानों पर मिल जाता है। माया से कौन बच सकता है? इसका उत्तर देते हुए वे निःसंकोच कहते है—"जो वेदों को भी भली-भाँति त्याग देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।" (**वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।**)

जहाँ भक्ति के सैद्धान्तिक स्वरूप का विकास सूत्र-ग्रन्थों में हुआ, वहाँ उसके व्यावहारिक रूप के विकास का प्रयत्न पौराणिक साहित्य के द्वारा किया गया है। प्रेम के लिए ईश्वर के साकार और सगुण रूप की अपेक्षा होती है, अतः अवतारवाद का विकास हुआ। दूसरी ओर श्रद्धा के निमित्त अवतार-पुरुषों की शक्ति और उनके पराक्रम का चित्रण भी आवश्यक था। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के उद्देश्य से हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण आदि की रचना की गई, जिनमें विभिन्न अवतारों की लीलाओं का चित्रण इस ढंग से किया गया कि वह सौन्दर्य और शक्ति—प्रेम और श्रद्धा की उत्पत्ति में सहायक हो सके। रामायण और महाभारत में भी परिवर्द्धन किया गया, किन्तु उसमें इसके लिए अधिक क्षेत्र नहीं था, अतः उन्हीं के पात्रों को नया रूप दिया गया। महाभारत के कृष्ण लौकिक हैं, जब कि पुराणों में वे पूर्णतः अलौकिकता से युक्त हैं। इस प्रकार सूत्र-ग्रन्थों व पुराणों ने भक्ति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष की साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार की, किन्तु फिर भी इसका प्रचार जैन और बौद्ध धर्म की लोक-प्रियता के कारण प्रारम्भ में अधिक न हो सका। आगे चलकर ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्त-सम्राटों ने इस भक्ति-समन्वित भागवत या पौराणिक धर्म को आश्रय

प्रदान करके इसके प्रचार में योग दिया। गुप्तों की राज-पताका में विष्णु के वाहन गरुड़ का चिह्न अंकित है, जो भागवत धर्म का प्रतीक है।

आगे चलकर सातवी शताब्दी में बौद्धधर्म विकृत होकर वज्रयान या सहजयान मे परिणत हो गया, जिसमें भोग-साधना को प्रमुखता मिली। जैन-धर्म के संरक्षक भी अपने धार्मिक चरित-काव्य में प्रेमतत्व का मिश्रण करने लगे जिससे कि जनता आकर्षित हो सके। शैवधर्म की भी अनेक ऐसी शाखाओं का विकास हुआ जिसमें वामाचारों को प्रधानता दी गई। संस्कृत और लोकभाषाओं में अन्तर बढ़ जाने के कारण तथा सामाजिक एवं नैतिक स्तर के ह्रास के कारण जन-साधारण का भी आकर्षण भोग-विलास की ओर अधिक बढ़ रहा था। अतः वह बौद्ध, जैन एवं शैव धर्म की इन नवविकसित प्रवृत्तियों से प्रभावित होने लगा, जिनमें भोग और प्रेम को प्रमुखता प्राप्त थी। अस्तु, इनकी प्रतिस्पर्धा में पौराणिक या भागवत धर्म के अनुयायियों या प्रचारकों ने भी भक्ति-मार्ग का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया, जिसमे प्रेम ही प्रमुख हो गया, श्रद्धा गौण हो गई। नवी शताब्दी के लगभग रचित श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति के इसी रूप का चित्रण किया गया है। जिसमें कृष्ण की विलासिता और गोपियों की आसक्ति पूर्ववर्ती पुराण ग्रन्थों से बहुत आगे बढ़ गई है। इतना ही नहीं, भागवतकार भक्ति के लिए 'माहात्म्यज्ञान' या श्रद्धा-भाव की कोई आवश्यकता नहीं समझते। क्या गोपियाँ ईश्वर के अलौकिक रूप से परिचित थीं ? इस प्रश्न का उत्तर भागवत में निषेधात्मक देते हुए यह स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया है कि गोपियों का सम्बन्ध वासना और काम से प्रेरित था। वस्तुतः भक्ति का यह रूप, उसकी विकृति का द्योतक है, जो बौद्ध एवं शैव धर्म की विकृत शाखाओं की प्रतिस्पर्धा में प्रस्तुत हुआ है।

भागवत-पुराण की रचना दक्षिण-भारत में हुई थी—ऐसा अधिकांश विद्वान् मानते है। यह बात तथ्य रूप में स्वीकार न भी की जाय तो भी यह एक निर्विवाद सत्य है कि आठवीं-नवी शती तक पौराणिक धर्म का प्रचार दक्षिण भारत मे भी हो चुका था। अस्तु, यह धर्म तेजी से सारे भारत में फैल रहा था, किन्तु एकाएक इसके मार्ग मे दो बडे भारी अवरोध उपस्थित हो गये—एक था कुमारिल भट्ट द्वारा वैदिक कर्मकांड के पुनः प्रतिष्ठापन का आन्दोलन तथा दूसरा शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद। अद्वैतवाद मे ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए भक्ति के मूल विचार को ही अज्ञानमूलक सिद्ध किया गया है। भक्ति दो के बीच होती है; जब आत्मा और ब्रह्म एक ही है तो भक्ति की क्या आवश्यकता है ? शंकराचार्य के अगाध पाण्डित्य, आसाधारण प्रतिभा, अद्भुत शास्त्रार्थ-सामर्थ्य और विलक्षण व्यक्तित्व के प्रभाव से यह सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला, किन्तु दक्षिण भारत के वैष्णवों ने भक्ति के संरक्षण का पूरा प्रयत्न किया। एक तो दक्षिण भारत में आलवार भक्त हुए जिन्होंने शंकराचार्य के सिद्धान्त की कोई परवाह न करते हुए भक्ति की धारा को प्रवहमान रखा। दसवीं-ग्यारहवीं शती में आचार्य नाथमुनि हुए जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, आलवारों के भक्ति-भावपूर्ण गीतों का संग्रह, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या आदि महत्त्वपूर्ण कार्य किए जिनसे भक्ति परम्परा को नया बल मिला। इनके उत्तरा-

धिकारियों में रामानुजाचार्य हुए। उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन करते हुए विशिष्टाद्वैत की स्थापना की, जिसमें ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हुए भी जीव को और ब्रह्म को अभिन्न नहीं माना जाता है। 'विशिष्टाद्वैत' का अर्थ है कि विशिष्ट का विशिष्ट रूप से अद्वैत। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव और प्रकृति उसके विशेषण, इस विशिष्ट रूप में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। प्रो० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में—'इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा 'विशेष्य' कहलाता है, जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा उसे 'विशेषण' कहते हैं। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है। नियम्य तथा अप्रधान होने से जीव तथा जगत् विशेषण है। विशेषण पृथक् न होकर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकता कल्पना युक्ति-युक्त है।"—(भारत दर्शन, पृ०-४६२) इस प्रकार जीव और ब्रह्म में विशेषण-विशेष्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए जीव को ब्रह्म से हीन सिद्ध किया गया। इस स्थिति में जीव द्वारा ब्रह्म की भक्ति को उपयुक्त स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने ईश्वर के पाँच रूपों की कल्पना की, जिनमें उसके सगुण रूप को भी प्रतिष्ठा मिली। इस प्रकार उन्होंने भक्ति का एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार तैयार किया जिसके अभाव में उसकी नीवें हिल गई थीं।

श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति के स्वरूप एवं उसके महत्त्व का भी विवेचन विस्तार से किया है। उन्होंने भगवान् विष्णु की उपासना का प्रचार करते हुए दास्य-भाव की भक्ति पर विशेष बल दिया। भक्ति के उदय के निमित्त वे साधक को स्वकर्मों के अनुष्ठान से हृदय को शुद्ध कर लेने की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। भगवान् का प्रीतिपूर्वक ध्यान करना ही उनके विचार से भक्ति है (स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिः)। 'भगवत्-कैंकर्य'—भगवान् का दास्य—से ही जीवों को भगवत्सान्निध्य प्राप्त होता है। भक्ति का चरम अवसान 'प्रपत्ति' अर्थात् 'आत्म-समर्पण' में बताया गया है। प्रपत्ति के भी तीन आकार या विशेषण हैं—(१) अनन्य-शेषत्व (भगवान् का ही दास होना) (२) अनन्यसाध्यत्व (एकमात्र भगवान् को ही उसकी प्राप्ति का साधन मानना), और (३) अनन्ययोग्यत्व (अपने को भगवान् के द्वारा ही योग्य मानना) प्रपत्ति भी प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होती, अपितु पहले इसके (प्रपत्ति के) द्वारा ईश्वर की कृपा जागृत होती है और उसी कृपा से जीव को मुक्ति मिलती है। भगवान् और भक्त का सम्बन्ध स्थापित करने में गुरु का भी महत्त्व स्वीकार किया गया है। मुक्ति की कल्पना भी रामानुज-मत में मौलिक रूप में की गई है। जहाँ न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन के अनुसार मुक्ति की अवस्था में जीव में ज्ञान व आनन्द की चेतना नहीं रहती, वहाँ रामानुज-मत के अनुसार इस अवस्था में भी जीव को एक ऐसा अप्राकृत या सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो जाता है जिससे उसे ज्ञान तथा आनन्द का अनुभव होता है तथा वह अनन्तकाल तक भगवान् की सेवा और उसके सान्निध्य में स्थित रहता है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ने जीव, ब्रह्म, एवं मुक्ति आदि की मौलिक ढंग से व्याख्या करते हुए भक्ति को अनेक नये तत्त्वों से समन्वित करके आगे बढ़ाया।

आगे चलकर और भी कई आचार्य हुए, जिन्होंने नये-नये दार्शनिक मतों की स्थापना करते हुए भक्ति मार्ग को अधिक प्रशस्त बनाया। इनमें द्वैतवाद के प्रवर्त्तक श्री मध्वाचार्य (११९९ ई०–१३०३ ई०), द्वैताद्वैतवाद के संस्थापक श्री निम्बार्काचार्य (१२—१३ वीं शती) और शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक श्री वल्लभाचार्य (१४५९—१५३० ई०) उल्लेखनीय हैं। श्री मध्वाचार्य ने शंकर के मायावाद का खण्डन उग्रता-पूर्वक करते हुए विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। श्री निम्बार्काचार्य ने लक्ष्मी और विष्णु की भक्ति के स्थान पर राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया तथा श्री वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण की उपासना का समर्थन किया। दूसरी ओर रामानुजाचार्य की ही परम्परा में चौदहवीं शताब्दी के लगभग स्वामी रामानन्द हुए जिन्होंने सीता-राम की भक्ति का प्रचार किया। परवर्ती युग में विष्णु के विभिन्न अवतारों में से राम और कृष्ण की ही भक्ति का प्रचार अधिक हुआ तथा इनमें भी कृष्ण की भक्ति अधिक लोकप्रिय हुई। कृष्ण के भी लोक-रक्षक रूप को कम लिया गया, उनके लोक-रंजक या शृंगारी रूप को ही अपनाया गया।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन पुनः नये उत्साह के साथ सारे भारत में फैलने लगा। आचार्य चैतन्य महाप्रभु के चैतन्य सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय, श्री हित हरिवंश के राधा-वल्लभ सम्प्रदाय आदि ने एक ओर कृष्ण की माधुर्य भक्ति का प्रचार किया तो दूसरी ओर कबीर, दादू, नानक आदि संतों ने भक्ति-का एक ऐसा रूप विकसित किया, जिसमें ईश्वर के सगुण-निर्गुण मिश्रित रूप की उपासना की गई। यद्यपि हमारे विद्वान् इन्हे सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्गुण-एकेश्वरवादी या रहस्यवादी बताते है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपासना में प्रायः वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं; जो भक्ति की मूलाधार हैं, अतः हम इन सन्तों को भी भक्ति-आन्दोलन के उन्नायकों मे स्थान देना उचित समझते है।

सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते भक्ति के स्वरूप में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। युग के विलासितापूर्ण दृष्टिकोण के प्रभाव से भक्ति में से भी श्रद्धा-तत्त्व का ह्रास हो गया और वह दो शाखाओं में विभाजित हो गई—रागानुगा और वैधी। रागानुगा के भी कई भेदोपभेद किए गये जिनमें माधुर्यभाव को प्रमुखता मिली। माहात्म्य-ज्ञान के स्थान पर रसिकता का प्रचार हुआ। इस अति रसिकता के कारण कृष्ण-भक्ति के केन्द्र तो अपवित्रता और अश्लीलता से ग्रसित हो ही गये, राम-भक्तों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप राम-भक्ति के क्षेत्र में भी रसिकोपासना का प्रचार हुआ और राम के रास-विहार एवं भोग-विलासिता की अतिरंजनापूर्ण कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं।[1] जिस राम ने एक-पत्नी-व्रत का आदर्श प्रतिष्ठित किया था, वे इन भक्तों के हाथ में पड़कर सहस्राधिक सखियों के पति बनने को विवश हुए। भक्ति की इस चरम अधोगति को देखकर नारद का यह वाक्य याद आता है—भक्ति में मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए 'अन्यथा पातित्यशङ्कया।'

---

१. भक्ति काव्य में रसिकता के प्रादुर्भाव के कारणों एवं उनकी प्रवृत्तियों के सम्यक् बोध के लिए द्रष्टव्य—'रसिक भक्ति-काव्य परम्परा' (हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास; पृष्ठ—३३४-३६०)

: चौबीस :

सन्त-काव्य : उद्गम-स्रोत और प्रवृत्तियाँ

१. नामकरण-सम्बन्धी मतभेद ।
२. संत' शब्द की व्युत्पत्ति और उसका अर्थ ।
३. उद्गम-स्रोत—(क) अपभ्रंश साहित्य, (ख) नाथपंथ, (ग) वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन, (घ) महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय, (ङ) इस्लाम का प्रभाव ।
४. परम्परा का प्रवर्त्तन व विकास ।
५. प्रमुख कवि और उनका काव्य ।
६. सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) विषय-वस्तु-गत प्रवृत्तियाँ, (ख) भाव-गत प्रवृत्तियाँ, (ग) शैली-गत प्रवृत्तियाँ ।
७. उपसंहार ।

हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल (१३७५—१७०० वि०) में एक काव्य-धारा-विशेष का प्रवर्त्तन हुआ, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'निर्गुण-भक्ति-साहित्य' तथा डा० रामकुमार वर्मा ने 'संत-काव्य-परम्परा' का नाम दिया है । 'ज्ञानाश्रयी' शब्द से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि इस धारा के कवियों ने 'ज्ञान-तत्त्व' को सर्वाधिक महत्त्व दिया होगा, जबकि वास्तव में 'प्रेम के अढ़ाई अक्षरों' के सम्मुख इन्होंने संसार के सारे ज्ञान को तुच्छ बताया है । भक्ति का आलम्बन सगुण ईश्वर ही उपयुक्त है, अतः 'निर्गुण भक्ति नाम भी अपने आपमें एक असंगति है । वस्तुतः इस काव्य-धारा के कवियों का एक विशेष दृष्टिकोण है, जो 'संत' शब्द द्वारा भली प्रकार व्यंजित होता है । अतः इस धारा को 'संत-काव्य' की संज्ञा देना प्रथम दो नामों की अपेक्षा अधिक उचित है ।

'संत' शब्द की व्याख्या भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न ढंग से की है । श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसकी व्युत्पत्ति 'शांत' शब्द से मानते हुए इसका अर्थ निवृत्ति-मार्गी या वैरागी लिया है । श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है—'संत' शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने 'सत्' रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, जो सत्य स्वरूप, नित्य-सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही सन्त है ।" (उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' पृ० ५) यह व्याख्या जितनी लम्बी है, उतनी ही अव्यावहारिक भी है । इसमें सन्त का आदर्श इतना अधिक उच्च है कि तथाकथित कवियों में से अनेक इस

तक नहीं पहुँच पाएँगे। आचार्य विनयमोहन ने व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ "जो आत्मोन्नति-सहित परमात्मा के मिलन-भाव को साध्य मानकर लोक-मंडल की कामना करता है" किया है। (हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ५६) हमारे विचार से श्रीमन्त की तरह 'सत्' शब्द के बहुवचन 'सन्तः' से विकृत होकर 'सन्त' बना है, अतः व्यापक अर्थ में किसी भी ईश्वरोन्मुखी सज्जन पुरुष को 'सन्त' कह सकते हैं। तुलसीदासजी ने भी इसका इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा है—'सन्त-समागम हरि भजन, तुलसी दुर्लभ दोय'। संकुचित अर्थ में केवल निर्गुणोपासकों को ही इस विशेषण से युक्त किया जाता है, जबकि सगुणोपासकों को 'भक्त' की संज्ञा दी गई है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में 'सन्त-काव्य' मे कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि के काव्य का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है, जबकि तुलसी, सूर, आदि के साहित्य को 'भक्ति-काव्य' कहा जाता है।

उद्गम-स्रोत

हमारे दृष्टिकोण से सन्त-काव्य-धारा के विकास में योग देनेवाले मुख्यतः ये पाँच स्रोत है—(१) अपभ्रंश के सिद्ध और जैन मुनियों का साहित्य, (२) नाथ-पन्थ, (३) वैष्णव भक्ति-आन्दोलन, (४) महाराष्ट्रीय सन्त-सम्प्रदाय और (५) इस्लाम का प्रचार। इनमें से प्रत्येक के प्रभाव की व्याख्या यहाँ अलग-अलग की जाती है।

(१) **अपभ्रंश साहित्य**—अपभ्रंश के सिद्ध जैन मुनियों के मुक्तक-काव्य का सन्त-काव्य पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। सिद्ध साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ सन्त-साहित्य में विकसित हुई हैं; जैसे—परम्परागत व्यवस्था एवं अन्य सम्प्रदायों की बाह्य-पद्धतियों का खण्डन, स्वानुभूतियों की व्यंजना, मुक्तक पद-शैली रूपक, उलटवासियों एवं प्रतीकों का प्रयोग एवं सामान्य लोकभाषा को अपनाना आदि। इसके अतिरिक्त सन्त कवि भी सिद्धों की भाँति अशिक्षित निम्न वर्ग से सम्बन्धित एवं पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन की अवहेलना करनेवाले थे; इतना अवश्य है कि सिद्धों ने अपनी साधना-पद्धति में स्थूल-शृंगारिकता को स्थान दिया, जबकि सन्त कवियों ने उसका परिष्कार सूक्ष्म प्रणयानुभूतियों के रूप में कर लिया। जैन कवियों में से योगिन्दु, मुनि रामसिंह, देवसेन आदि के उपदेशपरक मुक्तक साहित्य की अनेक विशेषताओं का प्रभाव हिन्दी के सन्त-साहित्य पर पाया जाता है। वस्तुतः साहित्यिक विषयों, रस, शैली एवं विभिन्न प्रवृत्तियों की दृष्टि से सन्त-काव्य का सिद्धों एवं जैन मुनियों के साहित्य से गहरा सम्बन्ध है।

(२) **नाथ-पंथ का प्रभाव**—नाथ-पंथ के प्रवर्त्तक कौन थे—इस विषय में विद्वानों में मत-भेद है, किन्तु साधारणतः गुरु गोरखनाथ को ही इसका श्रेय दिया जाता है। नाथ-पंथ की गुरु-परम्परा में गोरखनाथ से पूर्व आदिनाथ और मीननाथ का भी उल्लेख मिलता है। इस पंथ के अनुयायी शिव की उपासना करते हैं तथा इनकी साधना-पद्धति में तन्त्र-मन्त्र एवं योग-साधना का बहुत अधिक महत्त्व है। इसी से वे 'योगी' कहलाते हैं। तत्कालीन समाज पर नाथ-पंथी योगियों की आश्चर्यजनक पद्धतियों एवं

चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का भारी प्रभाव पड़ा। इनके महत्त्व का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि हिन्दी के प्रायः सभी प्रेमाख्यानों के नायकों के साधक रूप का चित्रण तथा उनकी साधना-पद्धति का निरूपण इसी पंथ के अनुसार किया गया है। देश के सभी भागों में इनका प्रभाव पाया जाता है।

नाथ-पंथी-योगियों के चमत्कारों का जनता पर अत्यधिक प्रभाव होने के कारण ही परवर्ती सन्त-मत एवं भक्ति-सम्प्रदायों के प्रचार में बड़ी भारी बाधा उपस्थित हुई। अशिक्षित जनता ज्ञान और भक्ति की सीधी-सादी बातों को ग्रहण करने से पूर्व इनके प्रचार का चमत्कार देखना चाहती थी। उनकी दृष्टि में जो व्यक्ति अधिक जटिल साधना, कठिन पद्धति या अलौकिक चमत्कार या प्रदर्शन कर सकता था, वह उतना ही बड़ा पहुँचा हुआ सन्त, भक्त या महात्मा माना जाता था। यही कारण है कि जहाँ सगुण-भक्ति के प्रचारकों ने स्पष्ट शब्दों में नाथ-पंथियों का विरोध किया—"गोरख जगायो जोग। भक्ति भगायो लोग" या "जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै"—वहाँ सन्त-कवियों ने विरोध का एक अप्रत्यक्ष ढंग अपनाया। उन्होंने एक ओर तो योग-साधना के पारिभाषिक शब्दों—पिंगला, सुषुम्णा, ब्रह्म-रन्ध्र, कुण्डलिनी आदि की नये ढंग से व्याख्या की तथा दूसरी ओर यौगिक समाधियों के स्थान पर सहज-प्रेम की तन्मयता का प्रतिपादन किया। अस्तु, उनकी शब्दावली में ऊपर से ऐसा आभास होता है कि वे भी योग-मार्ग के समर्थक हैं, जबकि उसके भीतरी अर्थ में प्रवेश करने पर पता चलता है कि वे योग का नहीं, भक्ति का प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार जन-साधारण की श्रद्धा वे धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप में नाथ-पंथ से संत मत की ओर आकर्षित करने में सफल हो सके। अतः स्पष्ट है कि कबीर आदि सन्तों ने नाथ-पंथियों के 'योग-तत्त्व' को ग्रहण नहीं किया, अपितु उसका खण्डन किया; किन्तु कुछ विद्वान् इनकी शब्दावली को देखकर ही इन्हे नाथ-पंथियों के अनुयायी घोषित करते है, जो उचित नहीं। उदाहरण के लिए कबीर के निम्नांकित पदों को देखा जा सकता है—

अवधू, अच्छर हे सो न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना-पवना दोनों बिनसै, कहाँ गया जोग तुम्हारा।
गगना मद्धे जोती झलकै, पानी मद्धे तारा।
घटिगे नीर बिनसगे तारा, निकरि गयो केहि द्वारा।
मेरुदण्ड पर डारि उलीचै, जोगी तारो लाया।
सोई सुमेर पर खाक उड़ानो, कच्चा जोग कमाया।

× × ×

कह अरु अकह दुहुँ ते न्यारा, सत्त असत्त के पारा।
कहै कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाव भव-पारा।

× × ×

अवधू जोगी जगर्थे न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खण्डै धारा।

बसे गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहिं छाँड़े पीवै महारस मीठा।

× × ×

संतो सहज समाधि भली।
जब से दया भई सतगुरु की, सुरति न अनत चली।

उपर्युक्त पदों में कबीर ने योग-साधना के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ऐसा उसके खण्डन के उद्देश्य से ही किया गया है।

(३) **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन**—सन्तमत के उद्गम काल तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द आदि आचार्यों द्वारा वैष्णव-भक्ति आन्दोलन का प्रवर्त्तन हो चुका था। कबीर, रैदास, सेना, पीपा आदि अनेक प्रारम्भिक सन्तगुरु रामानन्द के ही शिष्य थे। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से सन्तमत एवं वैष्णव-भक्ति मे पर्याप्त भेद हैं, किन्तु फिर भी इन्होंने वैष्णव भक्ति के अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया है। एक तो ईश्वर के पर्यायवाची नाम के रूप में—राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों का प्रयोग उन्होंने वैष्णव-भक्तों की भाँति ही श्रद्धापूर्वक किया है। ध्यान रहे अल्लाह, खुदा आदि शब्दों का प्रयोग वे उपदेश देते समय या हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन करते समय ही करते है। प्रेमानुभूति की तन्मयता के समय उनकी वाणी ऐसा नहीं करती। दूसरे, उनके प्रेम के स्वरूप में वैष्णव भक्ति-भावना से गहरा साम्य मिलता है। कुछ विद्वान् इसे सूफी-मत की देन बताते हैं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। सूफियों का प्रेम-तत्त्व समानता की भावना पर आधारित है, जबकि सन्तों ने भक्त-कवियों की भाँति अपनी आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा किंचित् हीन स्वीकार किया है। जैसे—

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ॥
जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ॥

सूफी मत में परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में करते है, जबकि संत कवियों ने भारतीय आदर्श के अनुसार अपनी आत्मा को पतिव्रता नारी तथा परमात्मा को पति के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन वैष्णव मत के प्रति उन्होंने अपनी गहरी श्रद्धा प्रकट की है, जबकि सूफी दरवेशों का उपहास किया है। प्रमाण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) वैष्णवों के प्रति श्रद्धा—

मेरे संगी दोय जणां, एक वैष्णों एक राम।
वो हैं दाता मुकति का, जो सुमिरावै नाम॥

× × ×

बैश्नों की छपरी भली, ना साखत का बड़ गांऊ।

× × ×

साखत बांभण मत मिलै, बैसनों मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल॥

(कबीर ग्रन्थावली)

(आ) सूफी दरवेशों की उपेक्षा—

है कोई दिल परवेश तेरा।
नासूत, मलकूत, जबरूत को छोड़ि कैं,
जाइ लाहूत पर करै डेरा॥

× × ×

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज कावै जाइ!
जिनका दिल स्याबित नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाई॥

(कबीर का रहस्यवाद)

यहाँ यह ध्यान रहे कि संत-मत के उद्भवकाल में वैष्णव-भक्ति का स्वरूप अत्यन्त सरल, पवित्र एवं स्वच्छ था, इसी से कबीर ने उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है; किन्तु आगे चलकर सभी धर्म-साधनाओं की भाँति वैष्णव-भक्ति भी विकृत हो गई और उसमें विधि-विधानों, भोग, ऐश्वर्य आदि अनेक कलुषित तत्त्वों का समावेश हो गया। हमारा प्रतिपाद्य यहाँ इतना ही है कि सन्त-कवियों का प्रेम तत्त्व वैष्णव-भक्ति-भावना से प्रेरित है; सूफी मतानुयायियों की प्रेम-पद्धति से उसका मेल नहीं होता।

(४) **महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय**—हिन्दी प्रदेश में सन्त-मत का प्रचार होने से पूर्व उसका विकास बहुत-कुछ महाराष्ट्र में हो चुका था। महाराष्ट्र में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में महानुभाव सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय आदि की स्थापना हुई, जिनकी विचारधारा, साधना-पद्धति और अभिव्यंजना-शैली में सन्त-काव्य से गहरा साम्य है। महानुभाव सम्प्रदाय की स्थापना श्री चक्रधर स्वामी (११९४-१२७४ ई०) ने की थी। उन्होंने एक ओर तो कृष्ण-भक्ति का उपदेश देते हुए जीव, देवता, परमेश्वर आदि को अनादि बताया, दूसरी ओर अद्वैतवाद के कुछ सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया। फिर उन्होंने मोक्ष के निमित्त ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया। चक्रधर की विचारधारा को उनके परवर्ती अनुयायियों—महदायिसा, दामोदर आदि ने आगे बढ़ाया। इसी सम्प्रदाय के साथ-साथ ही वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना सन्त ज्ञानेश्वर (११९७ ई०) द्वारा हुई। उन्होंने भी अद्वैत मत, सगुण रूप और भक्ति भावना का समन्वय किया। ज्ञानेश्वर की ही परम्परा मे निवृत्तिनाथ (११९७ ई०), मुक्ताबाई (१२०१ ई०), नामदेव (१२७२ ई०), एकनाथ (१४७० ई०), तुकाराम (१५७२ ई०) आदि सन्त हुए। इन महाराष्ट्रीय सन्तों की वाणी में विषय, भाव और शैली की दृष्टि से हिन्दी सन्त-कवियों की रचनाओं से गहरा साम्य मिलता है। इतना ही नहीं, इनमें से अनेक सन्तों ने हिन्दी भाषा में भी काव्य-रचना की है। भगवान् के प्रति दृढ़ अनुराग, मिलनाकांक्षा, प्रणय-निवेदन, अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन, गुरु का महत्त्व, मूर्ति-पूजा व जाति-पाँति-भेद का विरोध, योग-साधना का खण्डन, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन आदि बातें महा-

राष्ट्रीय और हिन्दी सन्त-कवियों में समान रूप से मिलती हैं। यहाँ सन्त नामदेव की रचनाओं से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) परमात्मा के प्रति प्रेम—

मोहि लागत ताला बेली ! बछरे बिनु गाय अकेली।
पानीआ बिनु मीन तलफे। ऐसे राम बिनु बापुरो नामा॥

× × ×

मैं बउरी मेरा राम भरतार। रचि रचि ताकउँ करउँ सिंगार।

(आ) अद्वैत दर्शन—

सभु गोविन्दु है सभु गोविन्दु है, गोविन्दु बिनु नहीं कोई।

× × ×

जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न कोई।

(इ) गुरु का महत्व—

जऊ गुरु देऊ न मिलै मुरारी।
जऊ गुरुदेऊ न ऊतरै पारि।

(ई) मूर्तिपूजा व जाति-पाँति का विरोध—

एकै पाथर कोजै पाँऊ। दूजे पाथर धरिए पाँऊ।
जै इहु देऊ तऊ उहु भी देवा। कहि नामदेव हरि की सेवा।

× × ×

कहा करउ जाती, कहा करउ पाती।
राम को नामु जपउ दिन राती।

(उ) यौगिक साधना का खण्डन—

सबहि अतीत अनाहदि राता, आकुल कै घरि जाऊगो।
इड़ा पिंगुला, अउरु सुखमना, पऊनै बंधि रहाऊगो॥

× × ×

नामा कहै चितु हरि सिऊ राता, सुन्न समाधि पावऊगो॥

इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वान् सन्त कवियों की अनेक प्रवृत्तियों—निर्गुणोपासना, वर्ण-व्यवस्था व मूर्तिपूजा के विरोध आदि—को इस्लाम का प्रभाव बताते हैं, किन्तु इनका विकास भारतीय साहित्य में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था। सिद्धों व गोरखपंथी योगियों ने हिन्दू धर्म की अनेक बाह्य-पद्धतियों, वर्ण-व्यवस्था एवं मूर्तिपूजा का विरोध कठोर शब्दों में किया है। हाँ, सन्त कवियों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन अवश्य तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित है, उस युग में जबकि मुस्लिम शासक धर्म के नाम पर हिन्दू जनता पर अत्याचार कर रहे थे, उन्होंने 'अल्लाह और राम' की एकता घोषित करके धार्मिक कट्टरता को कम करने का प्रयत्न किया। इन्होंने हिन्दू धर्म की बाह्य पद्धतियों का खण्डन करते समय इस्लाम के अनुयायियों का सा उत्साह दिखाया, किन्तु फिर भी ये इस्लाम से बहुत दूर रहे। एक तो इन्होंने नमाज, रोजा आदि की

व्यर्थता सिद्ध की, दूसरे उन्होंने साधना के क्षेत्र में इस्लाम के तत्त्वों की उपेक्षा की। सन्त मत के खण्डनात्मक पक्ष में ही इस्लाम का अस्तित्व है; उसका मंडनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्त्वों से परिपूर्ण है। ईश्वर का गुणगान करते समय वे राम, गोविन्द, हरि का नाम लेते हैं, अल्लाह या खुदा का नहीं, संसार की असारता को घोषित करते हुए अद्वैतवाद और माया की बात करते है, मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाली बहिश्त और आखिरी कलाम की नहीं; और विधि-निषेधों की चर्चा में वे हिन्दू-शास्त्रों का आधार ग्रहण करते है कुरान का नहीं। केवल हिन्दू धर्म की रूढ़ियों का खण्डन करने के कारण ही सन्त-मत को उससे भिन्न नहीं कहा जा सकता; यदि ऐसा होता तो 'आर्य-समाज' को आज हिन्दू धर्म से भिन्न माना जाता, क्योंकि उसके अनुयायियों ने भी सन्तों की भाँति प्राचीन रूढ़ियों का खण्डन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त-काव्य किसी विदेशी साहित्य या अभारतीय धर्म-साधनाओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है, अपितु वह तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित अपभ्रंश की काव्य-धारा विशेष का विकसित रूप है, जो महाराष्ट्र में होता हुआ हिन्दी-प्रदेश में पहुँचा। सन्त-मत वस्तुतः भक्ति आन्दोलन की ही एक शाखा है जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों के द्वारा न होकर निम्न-वर्ग के अशिक्षित वर्ग द्वारा हुआ। तात्त्विक दृष्टि से राम-कृष्ण के सगुण रूप की उपासना या मूर्तिपूजा को छोड़कर उसमें तत्कालीन राम-भक्ति एवं कृष्ण-भक्ति के सिद्धान्तों से कोई बड़ा भारी अन्तर नहीं मिलता। उस युग में बड़े-बड़े मन्दिर एवं उनमें स्थापित मूर्तियाँ मुख्यतः उच्च वर्ग के अधिकार में थीं, निम्न वर्ग के लोगों की पहुँच वहाँ तक नहीं थी अतः इस वर्ग से सम्बन्धित संतों का मूर्तिपूजा एवं मन्दिरों की उपेक्षा करना स्वाभाविक ही था।

परम्परा का प्रवर्त्तन व विकास

सामान्यतः इस परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर को दिया जाता है, किन्तु उनसे पूर्व भी अनेक संत हो चुके थे, जिन्होंने हिन्दी में रचना की। इनमे नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका जन्म सम्वत् १३२७ (सन् १२७०) कार्तिक शुक्ला एकादशी रविवार को महाराष्ट्र में हुआ था। इन्होंने अपने ८० वर्ष के दीर्घ जीवन-काल में अनेक लम्बी यात्राएँ करके उत्तरी भारत का भ्रमण किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया, जिसके स्मारक अब भी राजस्थान और पंजाब के अनेक स्थानों पर उपलब्ध है। इनके विचारों का परिचय पीछे दिया जा चुका है, जिसमें इनका परवर्त्ती-सन्त कवियों से गहरा साम्य सिद्ध होता है। कबीर, रैदास, रज्जब, दादू आदि सन्तों ने भी नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा से लेते हुए उनकी गणना उच्चकोटि के सन्तों के रूप में की हैं। नामदेव की हिन्दी में रचित पदावली बड़ी संख्या में मिलती है। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि हिन्दी-सन्त-काव्य-परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर की अपेक्षा नामदेव को अधिक है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में महात्मा कबीर का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा, सुदृढ़ व्यक्तित्व और प्रौढ़ चिन्तन एवं कवि-सुलभ सहृदयता एवं मार्मिक व्यंजना शैली के बल पर संत-मत और संत-काव्य का प्रचार शीघ्र ही सारे उत्तरी भारत में कर दिया। नामदेव के व्यक्तित्व से कोमलता अधिक होने के कारण वे अपने विरोधियों से संघर्ष और वाग्-युद्ध में प्रवृत्त नहीं हुए, किन्तु कबीर ने काशी के पंडितों और दूसरे विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा और अपनी युक्तियों से उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया। इस तरह संत-मत के मार्ग से बीच के कंकड़-पत्थरों, झाड़ियों एवं काँटों को दूर करके उसे साफ-सुथरा व प्रशस्त बनाने का कार्य कबीर के द्वारा हुआ। उनके पश्चात् तो संत-मत नये-नये पन्थों का रूप धारण करके निर्बाध रूप से आगे बढ़ता रहा। इन पन्थों में कबीर-पन्थ के अतिरिक्त रैदासी पन्थ, सिख पन्थ, दादू पन्थ (१७वीं शती), निरंजनी सम्प्रदाय (१७वीं शती), बावरी पन्थ (१७वी शती), मलूक पन्थ (१७-१८वीं शती), दरियादासी सम्प्रदाय (१८वीं शती), चरणदासी सम्प्रदाय (१८वीं शती), गरीबपन्थ (१८-१९वी शती), पानप पन्थ (१८-१९वीं शती), रामस्नेही सम्प्रदाय (१८-१९वीं शती) आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि प्रायः अनेक संतों द्वारा उन्नीसवीं शती तक अनेक नए-नए पन्थ स्थापित किए गए, किन्तु सिद्धान्त व विचारधारा की दृष्टि से इनमें विशेष मौलिकता नहीं मिलती—मूल-स्वरूप इन सबका एक ही है। इतना अवश्य है कि धीरे-धीरे ये पन्थ भी अपने मूल उद्देश्य से दूर हटकर रूढ़ियों, विधि-विधानों, पाखण्ड प्रदर्शन एवं माया-जाल की बुराइयों से ग्रस्त हो गए। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि संत-काव्य की परम्परा हिन्दी में १४वीं-१५वी शती से आरम्भ होकर बीसवीं शती तक अखण्ड रूप से चलती रही; अतः इसे केवल भक्तिकाल की ही काव्य-धारा कहना उचित नहीं।

प्रमुख कवि और उनका काव्य

संत-कवियों में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व महात्मा कबीर का ही था। उनके नाम पर हिन्दी में ६१ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु उसमें अधिकांश अप्रामाणिक है। प्रामाणिक समझी जानेवाली रचनाओं में डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली', डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित 'संत कबीर' और कबीर-पन्थियों के साम्प्रदायिक ग्रंथ—'बीजक'—का उल्लेख किया जा सकता है। कबीर-साहित्य को विषय-वस्तु की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित कर सकते है—(१) जिसमें अपने विचारों का प्रतिपादन किया गया है, (२) जिसमें विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों की रूढ़ियों का खण्डन किया गया है, और (३) जिसमें कवि ने वाद-विवाद और खंडन-मंडन से ऊपर उठकर अपनी अलौकिक अनुभूतियों का प्रकाशन भाव-पूर्ण शब्दों में किया है। उनके कवित्व का सर्वोत्कृष्ट रूप तीसरे वर्ग के काव्य में—जिसमें उन्होंने अपने अलौकिक प्रियतम के प्रेम की व्यंजना की है—मिलती है।

रामानन्द जी के शिष्यों में **रैदास जी** का भी उल्लेख किया जाता है, जो उच्च कोटि के संत-कवि थे। प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीरा ने भी अनेक पदों में इनका स्मरण

गुरु के रूप में किया है। रैदास जी के कुछ पद गुरु-ग्रंथ साहब में संकलित हैं। इनके काव्य में व्यक्तित्व की कोमलता, अनुभूति की तरलता और अभिव्यक्ति की सरलता मिलती है। डॉ० हजारीप्रसाद के शब्दों में—"अनाडम्बर सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्संदेह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।"

कबीर के अनुयायी संत-कवियों में **धर्मदास जी** का नाम उल्लेखनीय है। अपने गुरु की वाणी का संग्रह 'बीजक' के रूप में करने का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है। इनके स्वरचित पदों का संग्रह भी 'धनी धरमदास की बानी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके पद भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हैं। आचार्य शुक्ल का मत है कि इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए है, इसमें कठोरता और कर्कशता नहीं है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक है, क्योंकि इन्होंने खण्डन-मण्डन से विशेष प्रयोजन न रख, प्रेमतत्त्व को लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है।" कहीं-कहीं इनकी भाषा में पूर्वीपन झलकता है।

सिक्ख-धर्म के प्रवर्त्तक **गुरु नानक** का भी सन्त कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है। इनकी रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संकलित हैं, जिनमें निर्गुण ब्रह्म की उपासना संसार की क्षण-भंगुरता, माया की शक्ति, नाम जप की महिमा, आत्म-ज्ञान की आवश्यकता, गुरु-कृपा का महत्त्व, सात्त्विक कर्मों की प्रशंसा, आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। कबीर की भाँति जीव-हिंसा, मूर्तिपूजा, बाह्याचारों आदि का खण्डन आपने भी निर्भीकतापूर्वक किया है। इनके भक्ति सम्बन्धी उद्‌गारों में हृदय की सच्ची अनुभूति मिलती है।

सन्त-परम्परा के अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों—दादूदयाल, सुन्दरदास, रज्जबदास, यारी साहब, पलटू साहब, मलूकदास, प्राणनाथ आदि तथा प्रसिद्ध कवयित्रियों—दया-बाई व सहजोबाई—ने उत्कृष्ट कोटि की काव्य रचना की। दादूदयाल जाति के धुनिया थे तथा उन्होंने दादू पन्थ की स्थापना की। इनके काव्य में भी ईश्वर की व्यापकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, संसार की अनित्यता, अलौकिक प्रियतम से प्रेम और विरह का चित्रण हुआ है। दादू की वाणी में यद्यपि कबीर का-सा उक्तियों का चमत्कार नहीं मिलता, किन्तु प्रेम-भाव का निरूपण उन्होंने अधिक सरलता और गम्भीर से किया है। खण्डन-मण्डन में इनकी रुचि कम थी। इनकी भाषा में राजस्थानी का पुट अधिक है। इन्हीं के **शिष्य सुन्दरदास** थे, जिन्होंने ५ वर्ष की अवस्था में ही अपने घर को त्याग-कर इनसे वैराग्य की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में काशी जाकर इन्होंने प्राचीन साहित्य और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। वस्तुतः सन्त-कवियों में अध्ययन व विद्वत्ता की दृष्टि से सुन्दरदास का स्थान सबसे ऊँचा है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'ज्ञान समुद्र' और 'सुन्दर विलास' उल्लेखनीय हैं। दादू दयाल के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य **रज्जबदास** जी ने भी लगभग पाँच हजार छन्दों की रचना की, जो उनकी

'बानी' में संगृहीत हैं। इन्होंने ईश्वर-विषयक प्रेम की व्यंजना अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की है।

यारी साहब और पलटू साहब का सम्बन्ध बावरी सम्प्रदाय से था। इन दोनों की कविता में भाषा की सरलता और भावों की स्पष्टता परिलक्षित होती है। पलटू साहब ने अनेक शैलियों—शब्द, साखी, कुंडलियाँ, झूलना, अरिल्ल आदि का प्रयोग किया है। अपनी फक्कड़ता के लिए प्रसिद्ध सन्त कवि **मलूकदास** ने भी अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की, जिनमें ज्ञान बोध, रतन खान, भक्त बच्छावली, भक्त विरुदावली, पुरुष-विलास, गुरु-प्रताप, अलख बानी आदि उपलब्ध हैं। **प्राणनाथ** जी के द्वारा रचित ग्रन्थों में रामग्रन्थ, प्रकाशग्रन्थ, षटऋतु, सागर-सिंगार आदि उल्लेखनीय हैं। **सहजोबाई और दयाबाई**—दोनों प्रसिद्ध सन्त चरणदासजी की शिष्याएँ थीं। सहजोबाई के उद्गार "सहज प्रकाश" में तथा दयाबाई की भावपूर्ण उक्तियाँ 'दयाबोध' और विनय-मालिका' में संगृहीत हैं। इनके काव्य में नारी-सुलभ कोमलता, अनुभूति की तरलता एवं अभिव्यक्ति की सरलता दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त भी अनेक सन्त-कवि एवं कवयित्रियाँ हुई, जिनमें जगजीवनदास, दरियासाहब, शिवनारायण, तुलसी साहब, रामचरण दास, बावरी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

प्रवृत्तियाँ

सन्त-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) विषय-वस्तु सम्बन्धी, (२) भाव-पक्ष सम्बन्धी और (३) शैली पक्ष से सम्बन्धित। यहाँ प्रत्येक वर्ग की प्रवृत्तियों का विवेचन अलग-अलग किया जाता है।

(१) **विषय वस्तु**—प्रायः सभी प्रमुख सन्त-कवियों का आविर्भाव समाज के निम्न-वर्ग में हुआ था तथा कविता करने का इनका प्रमुख उद्देश्य अपने विचारों का प्रचार करना तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना था। अतः इनके काव्य की विषय-वस्तु का सम्बन्ध भौतिक जगत् से न होकर सूक्ष्म आध्यात्मिक विचारों से है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते है कि इनके काव्य में दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचारों का वर्णन हुआ है। सूक्ष्म विचारों की अभिव्यंजना के लिए प्रायः कवि लोग किसी ऐतिहासिक पात्र, पौराणिक आख्यान या सांसारिक जीवन की किसी प्रमुख घटना का आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु सन्त कवियों ने ऐसा नहीं किया। विशुद्ध विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उपयुक्त रहता है, परन्तु उन्होंने कविता का माध्यम अपनाया इसके कई कारण है। एक तो वह युग ही गद्य का नहीं था, आयुर्वेद तक के ग्रन्थ उस युग में पद्य में रचे गए थे; दूसरे सन्त मत से सम्बन्धित गुरु और शिष्य—दोनों ही अशिक्षित वर्ग के थे, अतः उपदेशों को मौखिक रूप से स्मरण रखने के लिए उनका पद्यबद्ध होना आवश्यक था और तीसरे, वे अपने विचारों को अधिक रोचक एवं सरल शैली में अभिव्यक्त करना चाहते थे; अतः इन सब कारणों से इन्होंने काव्य-रचना की।

सन्त कवियों की विचारधारा निजी अनुभूतियों पर आधारित है; अतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की सी तरलता मिलती है। उनके उपदेशों में विधि और निषेध दोनों पक्षों का समन्वय हुआ है। जहाँ उन्होंने निर्गुण ईश्वर, रामनाम की महिमा, सत्संगति, भक्ति-भाव, परोपकार, दया, क्षमा आदि का समर्थन पूरे उत्साह से किया है, वहाँ मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जानेवाली हिंसा, तीर्थ-व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज आदि विधि-विधानों, बाह्याडम्बरों, जाति-पाँति-भेद आदि का डटकर विरोध किया है। प्रायः इन्होंने अपने युग के वैष्णव-धर्म जैसे कुछ सम्प्रदायों को छोड़कर शेष सभी धर्म-सम्प्रदायों की कटु आलोचना की है। ऐसा करते समय इन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों की दार्शनिक उक्तियों एवं उनके पारिभाषिक शब्दों की भी पुनरावृत्ति की है। विशेषतः नाथ-पन्थी योगियों के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों—षट्चक्र, कुंडलिनी, इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा, ब्रह्मरन्ध्र, समाधि आदि का प्रयोग इन्होंने बारम्बार करते हुए उनकी व्याख्या अपने ढंग से की है। स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन्होंने सभी धर्मों से प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को छोड़कर शेष धर्म-सम्प्रदाय का प्रभाव न होकर उनकी प्रतिक्रिया ही इनमें अधिक मिलती है।

(२) **भावपक्ष**—सन्त-कवियों में मुख्यतः अलौकिक प्रेम-भाव की व्यंजना हुई है जिसे 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी गई है। कुछ विद्वानों ने इनके रहस्यवाद को सूफी मत से प्रभावित बताया है, किन्तु वास्तव में सूफी रहस्यवाद से इनके प्रणय-भाव में अनेक सूक्ष्म भेद हैं, जिन पर 'पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। वैष्णव-भक्ति की भी अनेक विशेषताएँ इनके प्रेम में मिलती हैं, किन्तु फिर भी इनका प्रणय सर्वत्र भक्ति की सीमा मे ही आबद्ध नहीं रहता। भक्त की तृप्ति अपने आराध्य को दो हाथ की दूरी से देख लेने मात्र से ही हो जाती है; वह अधिक से अधिक उसके दर्शन चाहता है; संत कवियों की भाँति उसके साथ एकमेक होकर सेज पर सोने की कल्पना वह नही करता। किन्तु रहस्यवाद के लिये आत्मा और परमात्मा की समानता का जो विचार अपेक्षित है, वह सन्त कवियों में नहीं मिलता। उनका आदर्श भारतीय पत्नी का है, जो अपने आपको पति की अपेक्षा हीन मानते हुए भी उसके प्राणों से लिपट जाना चाहती है। अस्तु, सीधे-सादे शब्दों में इनका प्रेम भक्ति और रहस्यवाद के बीच की स्थिति से सम्बन्ध रखता है, जिसे हम 'प्रणय' कहना ही अधिक उचित समझते हैं।

इन्होंने अपने अलौकिक प्रेम की व्यंजना कुछ ऐसे लौकिक रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यम से की है, जिनसे वह पाठक की अनुभूति का विषय बन जाता है। अनुभूति की तरलता से युक्त होने के कारण वह श्रोता के हृदय को द्रवित करने में समर्थ है। प्रणयानुभूति के क्षेत्र में पहुँचकर वे अपनी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को भूल जाते हैं। कबीर जैसा अक्खड़ भी विरह-वेदना से त्रस्त होकर सौ-सौ आँसू बहाने लगता है। बनारस के पंडितों को ललकारने वाला, अपनी उक्तियों से उनके शास्त्र-ज्ञान को चकनाचूर कर देने वाला कबीर अपने प्रियतम के प्रेम में बेसुध होकर अपने आपको "राम का कुत्ता" तक घोषित कर देता है। विरहानुभूतियों की अभिव्यक्तियों में इन्हे पूरी सफलता मिली है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है :—

विरहनि ऊभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलैंगे आइ।

× × ×

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाही विश्राम॥

× × ×

आइ न सकौं तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा योंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ॥

—कबीर

कौन विधि पाइये रे, मीत हमारा सोई।
पास पीय परदेस है रे, जब लग प्रगटइ नाँहि।
बिन देखे दुःख पाइए रे, यह सालइ मन माँहि॥
जब लग नैन देखिये रे, परगट मिलइ न आइ।
एक सेज संग रहइ रे, यह दुख सहा न जाइ॥

× × ×

कहा करहूँ कइसे मिलहि रे, तलफइ मेरा जीवन।
दादू आतुर विरहिनी रे, कारन आपने पीव॥

—दादू दयाल

तीव्र-विरह-वेदना की अनुभूतियों के अनन्तर इन कवियों के भावुक जीवन में मिलन की घड़ियों का भी आगमन होता है। वे अपना सारा पौरुष, सारा गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूलकर किसी नवीना किशोरी के हृदय की भाँति कोमलता से गद्गद, लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय में तरह-तरह की शंकाओं का आन्दोलन उठने लगता है—

मन परतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणैं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग॥

—कबीर

और अन्त में मधुर मिलन के वे क्षण भी आते हैं, जबकि उसकी सारी शंकाएँ, सारी लज्जाएँ और समस्त तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में बह जाते हैं—

जोग-जुगत री रंग-महल में, पिय पाये अनमोल रे।
कहत कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥

इस प्रकार इनके काव्य में प्रणय की दोनों अवस्थाओं—विरह और संयोग—का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में हुआ है। उपदेशपरक उक्तियों में शान्त-रस की भी व्यंजना हुई है!

(३) **शैली एवं भाषा**—इनके काव्य में मुख्यतः गेय-मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है। गीति-काव्य के पाँचों प्रमुख तत्व—(१) भावात्मकता, (२) वैयक्तिकता, (३) संगीतात्मकता, (४) सूक्ष्मता और (५) भाषा की कोमलता—इनके काव्य में मिलते हैं, किन्तु कहीं-कहीं उपदेशपरक पदों में भावात्मकता का स्थान बौद्धिकता ने ग्रहण कर लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने साखी, दोहा, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया हैं। रीतिकाल के संत कवियों ने कवित्त, सवैयों एवं कुण्डलियों में भी काव्य-रचना की है।

अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम इन्होंने लोक-प्रचलित भाषा को ही बनाया। इसका कारण केवल संस्कृत को कूप-जल एवं भाषा को बहता नीर समझना ही नहीं, अपितु स्वय उनका तथा उनके शिष्यों की अशिक्षा के कारण और किसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने की असमर्थता भी थी। प्रदेश-भेद के अनुसार विभिन्न कवियों ने प्रारम्भिक खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी, पंजाबी प्रभावित ब्रज एवं विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि जानबूझकर अपनी भाषा को आलंकारिकता से लादने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया, किन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण इनकी अभिव्यक्ति में अलंकार, रीति एवं ध्वनि से सम्बन्धित विभिन्न तत्वों का समावेश स्वतः ही हो गया है। आचार्य हजारीप्रसाद जी ने कबीर की भाषा के सम्बन्ध में जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, उसे हम सभी प्रमुख संत कवियों पर लागू करते हुए कह सकते है कि भाषा इनके सामने लाचार-सी नज़र आती है। उसमें इतना सामर्थ्य नहीं कि वह इन अक्खड़ साधुओं की कोई बात मानने ने इन्कार कर दे। अतः उन्होंने जैसा कहलाना चाहा, वैसा ही इनकी भाषा ने पूरी शक्ति के साथ कह दिया है।

उपसंहार

अन्त में हम कह सकते है कि सन्त-काव्य में अनेक न्यूनताएँ होते हुए भी वह हिन्दी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है। जिस युग में इन्होंने काव्य-रचना की, वह भारत के लिए अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का घोर अन्धकारमय युग था; और ये कवि उस युग की जनता के निम्नतम स्तर से सम्बन्ध रखते थे, फिर भी उन्होंने ज्ञान की जो ज्योति जलाई वह अद्‌भुत है, अपूर्व है! सुसंस्कृत युग और सुशिक्षित समाज के सुपठित कवियों द्वारा उच्चकोटि की रचनाओं का प्रणीत होना विशेष महत्व की बात नही, अपने पतन की चरम अवस्था में भी पतित, दलित एवं जर्जरित भारत का ऐसे महान् प्रतिभाशाली, गम्भीर चिन्तक एवं स्पष्टवक्ता कवियों को जन्म दे देना एक ऐसा आश्चर्य है जिसका दूसरा उदाहरण विश्व-इतिहास में शायद ही कहीं मिले। मुगल-कालीन भारत में जबकि उच्च-वर्ग की जनता अपने शासकों का अनुकरण करती हुई विलासिता के रंग में डूबी हुई थी, मन्दिर, तीर्थ और धर्म-स्थान व्यभिचार के केन्द्र बन रहे थे, और विभिन्न सामाजिक पर्वों पर मनोरंजन के पवित्र एवं शुभकृत्यों के आयोजन के स्थान पर सुरा और सुन्दरी के सत्कार का प्रबन्ध होता था, ऐसी स्थिति में निम्न वर्ग

के अशिक्षित जन-समुदाय का अनैतिकता, अनाचार और अधःपतन की चरम सीमा तक पहुँचकर मटियामेट हो जाना स्वाभाविक था, किन्तु सन्त-मत के विभिन्न उन्नायकों ने उन्हें एक ऐसा नेतृत्व प्रदान किया जिससे राष्ट्र का यह बहुसंख्यक वर्ग विनाश से बच सका।

साहित्यिक दृष्टि से भी सन्त-कवियों की देन का कम महत्त्व नहीं है। अपनी अनुभूतियों को सहज-स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त करके उन्होंने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया। आधुनिक कवियों एवं लेखकों की भाँति उन्होंने अपने साहित्य में अपरिपक्व विचारों, अस्पष्ट जीवन-दर्शन और अधकचरे मनोविज्ञान का मिश्रण नही किया, अपितु मस्तिष्क के शुष्क विचारों को हृदय की अनुभूति में अवगाहित करके व्यक्त किया। सच्चे कवि की वाणी में अभिव्यक्ति के साधन स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण इन कवियों का साहित्य है। "भाषा कैसी ही हो, भाव चाहिए मित्त" की उक्ति सन्त-काव्य पर पूर्णतः चरितार्थ होती है।

: पचीस :

प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा : प्रेरणा व उद्गम-स्रोत

१. नामकरण व लक्षण।
२. विश्व में रोमांस साहित्य का उद्भव व विकास।
३. भारत में प्रेमाख्यान-काव्य की परम्परा।
४. हिन्दी में प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तन।
५. उपसंहार।

हिन्दी में 'प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा' को अब तक विभिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है, यथा—'प्रेम मार्गी (सूफी) शाखा', 'प्रेम-काव्य', 'प्रेम-गाथा', 'प्रेम कथानक काव्य', 'प्रेमाख्यानक', 'प्रेमाख्यान' आदि। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने इन विभिन्न नामों का प्रयोग करते समय इनके अर्थ का स्पष्टीकरण करने का प्रयास नहीं किया। ऐसी स्थिति में किसी भी ऐसे काव्य को, जिसमें प्रेम का चित्रण किया गया हो, इस परम्परा में स्थान दिया जा सकता है, जबकि वस्तुतः ऐसा करना ठीक नहीं। प्रेम एक ऐसी व्यापक भावना है कि उसका अस्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी या अधिकांश रचनाओं में होता है, किन्तु उन सभी को इस परम्परा में स्थान नहीं दिया जाता। इसका सम्बन्ध केवल एक विशेष प्रकार के प्रेम, साहसिक प्रेम या स्वच्छन्द प्रेम से है, जिसे अंग्रेजी में 'रोमांस' (Romance) कहा गया है। वस्तुतः इस काव्य-परम्परा का सम्बन्ध एक ओर तो विश्व में व्याप्त रोमांस-काव्य की परम्परा से है तथा दूसरी ओर भारत की प्राचीन कथा-काव्य-परम्परा से है, इन दोनों तथ्यों का स्पष्टीकरण आगे विस्तार से किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त दोनों परम्पराओं के सम्बन्ध को सूचित करनेवाले क्रमशः दो शब्दों—'रोमांसिक' एवं 'कथा-काव्य' को ग्रहण करते हुए हम इस परम्परा को 'रोमांसिक कथा-काव्य-परम्परा' के नाम से पुकारना अधिक उचित समझते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस परम्परा के कवियों ने भी प्रायः अपनी रचना के लिए 'कथा-काव्य' संज्ञा का प्रयोग किया है।

रोमांस व कथा-काव्य के लक्षण—'रोमांस' शाब्दिक दृष्टि से तो फ्रांस की प्राचीन भाषा का नाम है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इसका तात्पर्य एक विशेष प्रकार की रचनाओं से लिया जाता है। इन रचनाओं में साहस, प्रेम, सौन्दर्य, कल्पना एवं अलौकिक तत्त्वों की प्रमुखता रहती है। इसमें भी मुख्यतः प्रेम का चित्रण होता है, किन्तु वह प्रेम एक विशेष प्रकार का होता है—उसमें साहस, शौर्य्य एवं संघर्ष का मिश्रण रहता है। दूसरे शब्दों में इसी को साहसिक या रोमांटिक प्रेम भी कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने जो लक्षण

रोमांस के बताए हैं, लगभग वे ही संस्कृत के आचार्यों ने साहित्य के एक विशेष रूप—'कथा' के बताए हैं। आचार्य भामह एवं दंडी के अनुसार इसमें कन्या के अपहरण, युद्ध, विरह एवं प्रेम की प्रमुखता होती है। वस्तुतः ये लक्षण क्रमशः साहस, संघर्ष, शौर्य्य एवं प्रेम आदि तत्वों के ही सूचक हैं। अन्य कथा-प्रवृत्तियों एवं शैली सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से भी रोमांस और कथा-काव्य में गहरा साम्य है, इसीलिए पाश्चात्य इतिहासकारों ने भारतीय कथा-काव्यों को 'रोमांस की ही संज्ञा दी है; किन्तु हिन्दी में 'कथा' शब्द का प्रयोग सामान्य कहानियों एवं उपन्यासों के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतः इन काव्यों की विशिष्टता को सूचित करने के लिए 'कथा' के पूर्व 'रोमांसिक' विशेषण का प्रयोग अपेक्षित है। साथ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में कथा-साहित्य गद्य में ही लिखा जाता था, जबकि आगे चलकर पद्य में लिखा जाने लगा, किन्तु इससे इसके मूल रूप में विशेष अन्तर नहीं आया। रुद्रट ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि यह (कथा) संस्कृत में गद्य में तथा अन्य भाषाओं (प्राकृत, अपभ्रंश आदि) में पद्य में लिखी जाती है। यह बात रोमांस पर भी लागू होती है। रोमांस प्रारम्भ में गद्य में लिखे जाते थे, जब कि १२वीं-१३वीं शती में वे छंदोबद्ध होने लग गए। हिन्दी में भी ये काव्य पद्य में ही लिखे गए हैं।

विश्व-साहित्य में रोमांस (प्रेमाख्यानक काव्य) का उद्भव एवं विकास— पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार रोमांस के मूल तत्व प्राचीन ग्रीक एवं लैटिन साहित्य में विद्यमान थे। आगे चलकर इन्हीं तत्वों के आधार पर प्राचीन फ्रेंच, जर्मन एवं इंगलिश में रोमांस काव्यों की एक ऐसी धारा का प्रवर्त्तन हुआ, जो यूरोप की अधिकांश भाषाओं के साहित्य में फैल गई। वस्तुतः यह एक ऐसी व्यापक काव्य-धारा है, जो मध्यकाल के समस्त यूरोपीय साहित्य पर छायी हुई है। इतना ही नहीं, विश्व के अन्य भागों पर दृष्टि डालें तो वहाँ भी इसकी कई शाखाएँ फैली हुई दृष्टिगोचर होंगी। यूरोप की ही भाँति एशिया में भी—भारत से लेकर ईरान तक इसका प्रचार एवं प्रसार दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से यह विश्व-साहित्य की सबसे अधिक प्रबल एवं व्यापक काव्य-धारा प्रतीत होती है।

यहाँ एक प्रश्न है—विश्व के विभिन्न भागों में फैली हुई रोमांस काव्य की ये धाराएँ क्या परस्पर सम्बद्ध हैं या इनका विकास स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग हुआ है ? इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक विचार करने के अनन्तर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, उनसे यह पता चलता है कि यह धारा सबसे पहले भारत में कथा-साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हुई, तदनन्तर विभिन्न स्रोतों से यह अरब, फ़ारस, यूनान, रोम एवं स्पेन में होती हुई पश्चिमी एशिया एवं सारे यूरोप में फैल गयी। हिन्दी के उन पाठकों को, जो अब तक इस परम्परा को फारसी मसनवियों या विदेशी सूफियों की देन मानने की भ्रांति से ग्रस्त हैं, यह बात बड़ी विचित्र लग सकती है। उन्हें शायद यह पता ही नहीं है कि जिस धारा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके चरण-चिह्नों पर चलनेवाले परवर्ती आचार्य विदेशी मानते हैं, उसी को रीक (Reich), बेनफी (Benfy), कीलर (Keller),

हर्टेल (Hertel) जैसे यूरोपियन विद्वान् तथा 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ग्राफ इंगलिश लिट्रेचर' व 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के कतिपय लेखक विश्व को भारत की देन मानते हैं। यह धारा किस प्रकार भारत में पनपकर एक ओर अरब-फारस व ईरान के आख्यानों के रूप में तथा दूसरी ओर ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, इंगलिश आदि के रोमांसों के रूप में विकसित हुई, इसकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ हम केवल उन तथ्यों एवं प्रमाणों का संकेत मात्र कर देना चाहते हैं, जिनके आधार पर उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया गया है—

(क) रोमांस काव्यों की एक शाखा यूनान और रोम से होती हुई यूरोप के शेष भागों में प्रसारित हुई। यूनान को यह शाखा (सम्भवतः सिकन्दर के आक्रमण के समय) भारत से प्राप्त हुई थी। भारत का कथा-साहित्य यूनान में पहुँचा है—इस तथ्य को अनेक यूरोपियन विद्वानों ने अपनी-अपनी शोध के आधार पर प्रमाणित किया है, जिनमें रीक, वेजनर, बेनफी, कीलर, हर्टेल आदि का नाम उल्लेखनीय है। रीक (Reich) महोदय ने भारतीय और यूनानी आख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि भारतीय कथा-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ यूनानी आख्यानों में विद्यमान हैं; जैसे—(१) प्रथम दर्शनजन्य प्रेमोत्पत्ति, (२) स्वप्न में प्रिय-दर्शन, (३) अलौकिक रूप में भाग्य-परिवर्तन, (४) साहसिक यात्राएँ, (५) समुद्र में जहाज का टूटना, (६) नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, (७) प्रकृति का विस्तृत रूप में चित्रण आदि। इसी प्रकार वेजनर (Wagener) ने इस विषय पर शोध करते हुए यूनानी आख्यानों पर भारतीय कथा-साहित्य का गहरा प्रभाव सिद्ध किया है। बेनफी ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि आश्चर्यपूर्ण कहानियों का उद्गम-स्रोत भारत है। कीलर (Keller) महोदय ने ईसा से दो-तीन शताब्दी पूर्व की भारतीय चित्र-कला एवं मूर्तियों तथा जातक कथाओं के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि कथा-साहित्य का यूनान से पूर्व भारत में आविर्भाव हो गया था, अतः यूनान पर ही भारत का ऋण होना सम्भव है। कुछ विद्वानों ने इसके विपरीत भारत के कथा-साहित्य को यूनान की देन सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली है। हर्टेल (Hertel) ने विरोधियों के मत का खण्डन करते हुए प्रमाणित किया है कि ग्रीक के अनेक सर्वोत्कृष्ट आख्यान मूलतः भारतीय हैं।

यद्यपि कीथ जैसे विद्वानों ने यूनानी आख्यानों पर भारत का ऋण स्वीकार करने में संकोच करते हुए यह युक्ति दी है कि शायद यूनान और भारत दोनों ही ने किसी तीसरे स्रोत से यह साहित्य प्राप्त किया हो, या यह भी सम्भव है कि दोनों का विकास स्वतन्त्र रूप में हुआ हो; किन्तु ये युक्तियाँ अन्य प्रमाणों को देखते हुए महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होतीं।

(ख) भारतीय कथा-साहित्य के यूनान में पहुँचने के और भी कई महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। एथेन्स नामक एक प्राचीन यूनानी-कवि द्वारा ग्रीक में रचित—**'Zariadress and Odates'** नामक आख्यान प्राप्त हुआ है। वेबर महोदय ने 'वासवदत्ता' की भूमिका में इसे उद्धृत करते हुए प्रतिपादित किया है कि इसका कथानक

वासवदत्ता से बिल्कुल मिलता-जुलता है, अतः 'वासवदत्ता' का आधार यह ग्रीक काव्य है किन्तु इसके कवि ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उसे यह आख्यान सिकन्दर महान् के एक कर्मचारी 'Mytiline' (जो सम्भवतः भारत की यात्रा करके लौटा था) ने सुनाया था। ऐसी स्थिति में इस पर 'वासवदत्ता' का प्रभाव मानना चाहिए या 'वासवदत्ता' पर इसका ? जिस 'वासवदत्ता' काव्य की बात वेबर साहब कर रहे हैं, वह बहुत बाद का है, किन्तु इसकी मूल कहानी, जो कि उदयन और वासवदत्ता के ऐतिहासिक वृत्त से सम्बन्धित है, सिकन्दर के आगमन से भी पहले की है, अतः इससे यही प्रमाणित होता है कि यह कहानी भारत से ही यूनान में पहुँची होगी, न कि इसके विपरीत हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त ग्रीक में Syntipas नाम का एक प्राचीन आख्यान मिलता है जिसमें 'अनेक स्थल ऐसे है, जिन्हे सफलतापूर्वक तभी समझा जा सकता है, जब यह मान लिया जाय कि वे केवल किसी संस्कृत मूल के बिगड़े हुए रूप हैं', इससे यह प्रमाणित होता है कि यह आख्यान भी मूलतः किसी संस्कृत रचना पर आधारित है। अस्तु, इन तथ्यों से भारतीय कथा-साहित्य के यूनान मे पहुँचने की ही बात प्रमाणित होती है।

(ग) भारतीय कथा-साहित्य के यूरोप में प्रसारित होने के एक अकाट्य प्रमाण के रूप में पंच-तंत्र के विभिन्न अनुवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसा कि इतिहासकारों ने प्रमाणित किया है, पाँचवीं शती से लेकर सोलहवी शती तक एशिया और यूरोप की बीसों भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये थे, जो इस प्रकार है—पहलवी भाषा में Burzoe द्वारा (५-६वीं शती), सीरिया की भाषा में (५७० ई०), अरबी मे (७५० ई०), ग्रीक में (११वी शती), हिब्रू (११वी शती), इटैलियन, लैटिन एवं जर्मन मे (१५-१६वी शती), डैनिश, आइसलैण्डी, डच और स्पेनिश भाषाओं में (१५वीं शती), अंग्रेजी मे (१५७० ई०)। इसी प्रकार शुक सप्तति, वैताल-पचीसी आदि के अनुवाद यूरोप की विभिन्न भाषाओं में हुए है।

(घ) यूरोप मे रोमांस-काव्य के अभ्युत्थान में योग देने वाले आधारभूत ग्रन्थों के रूप मे 'अरेबियन-नाइट्स', 'जोसफ एण्ड बरलाम', 'सिंदबाद की कहानी' आदि को स्वीकार किया गया है। डा० ए० बी० कीथ ने अरेबियन नाइट्स का उद्गम-स्रोत एक जैन गाथा 'कनक मंजरी' को सिद्ध किया है। यह कहानी अरब-फारस से होती हुई यूरोप में पहुँची। 'जोसफ एण्ड बरलाम' की गाथा भी असंदिग्ध रूप से गौतम बुद्ध की ही जीवन-गाथा मानी जाती है। इसी प्रकार सिंदबाद की कहानी भी मूलतः भारतीय है। अरबी इतिहासकार मसूदी (मृत्यु ९५६ ई०) ने इसे भारतीय कथा माना है। इस प्रकार पाश्चात्य रोमांस काव्य के आधारभूत ग्रन्थ भारतीय सिद्ध हो जाते हैं।

(ङ) इसी प्रकार तेरहवीं-चौदहवीं शती के अनेक पाश्चात्य रोमांस-काव्य जैसे Gest a Romnorum (१३०० ई०) Perceforest, The Wright's chaste wife, Constant du Hamel, Isabeau आदि रोमांचक कथाएँ भी बृहत्कथा की कहानियों पर आधारित हैं।

(च) पाश्चात्य रोमांस काव्य में उपलब्ध अनेक कथानक-रूढ़ियाँ, धार्मिक विश्वास एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ भी मूलतः भारतीय सिद्ध हुई है। उदाहरण के लिए स्वयंवर की प्रथा, प्रेमी-प्रेमिकाओं के पुनर्जन्म में मिलने का विश्वास, सतीत्व की परीक्षा आदि तत्त्व भारतीय है।

(छ) पाश्चात्य रोमांस के विकास में भारतीय-कथाओं के योगदान को स्वीकार करते हुए 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंगलिश लिट्रेचर', भाग १, में श्री डबल्यू० पी० केर ने स्पष्ट रूप में लिखा—'The far-east began very early to tell upon western imaginations. not only through the marvels of Alexander in India, but in many and various separate stories. One of the best of these and one of the first, as it happens, in the list of English romances, is 'Flores and Blanche flour'....'Barlaam and Josaphat' is the story of the Buddha, and 'Robert of Sicily', 'the proud King' has been traced to a similar Origin.'[1]

इसी प्रकार 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (भाग १९) में भी रोमास के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए पूर्व (भारत) के कथा-साहित्य को उद्गम-स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है—"That such matter was abundant in the literature and folk-lore of the east....Certain fragments of eastern stories making their way first it may be, through Spain by pilgrimges, laterly by the crusaders."[2]

(ज) भारतोय कथा-साहित्य के ईरान में होते हुए यूरोप में पहुँचने का एक अन्य प्रमाण यह है कि बादशाह बहराम गौर (४२०-४३८ ई०) ने भारत से दस हजार (?) गवैये ऐसे बुलवाये थे, जो कि सारंगी पर प्रेम-कथाएँ सुनाकर मुग्ध कर लेते थे। इन गवैयों के ही वंशज आगे चलकर एशिया और यूरोप के अनेक भागों में फैल गये तथा इन्हे 'जिप्सी' कहा जाता है। इन जिप्सियों के द्वारा भी भारतीय कथाएँ पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में फैलीं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इन जिप्सियों के द्वारा आयातित कथाओं को भी रोमांस के उद्गम-स्रोतों के रूप में स्वीकार किया है।

---

१. हिन्दी अनुवाद—'पाश्चात्य कल्पनाओं (कथाओं) पर सुदूर पूर्व का प्रभाव बहुत पहले से पड़ने लग गया था। केवल सिकन्दर के द्वारा (प्राप्त) भारतीय चमत्कारों के माध्यम से ही नहीं, उसके भी अतिरिक्त विभिन्न स्वतन्त्र कथाओं के रूप में, जैसे अंग्रेजी रोमांसों में सर्वप्रथम कृति "Flores and Blanche flour....... है। Barlaam and Josaphat की कथा भी बुद्ध की कथा है तथा 'राबर्ट आफ सिसली', 'दी प्राउड किंग', आदि का भी मूलोद्भव वहीं (भारत में) ढूंढ़ा गया है।'

२. हिन्दी अनुवाद—'इस प्रकार की सामग्री पूर्व के साहित्य एवं लोक-कथाओं में बहुत अधिक विद्यमान थी।...इन पूर्वी कहानियों के कुछ अंश पहले स्पेन के तीर्थ-यात्रियों द्वारा तथा बाद में आक्रमणकारियों द्वारा पहुँचते रहे।'

उपर्युक्त तथ्यों, प्रमाणों एवं स्वीकृतियों को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं कि विश्व के कथा-साहित्य विशेषतः रोमांचक कथा-साहित्य का उद्भव-स्रोत भारतीय साहित्य ही है। किन्तु जैसा कि इतिहासकारों ने स्पष्ट किया है, भारतीय साहित्य एक बार में, या एक साथ ही यूरोप में नहीं पहुँच गया। वह समय-समय पर विभिन्न माध्यमों से वहाँ पहुँचा। पहले सिकन्दर एवं परवर्ती यूनानी शासकों के समय में, जब कि भारत एवं यूनान के बीच राजनीतिक संपर्क स्थापित हुआ, तब पहुँचा। तदनन्तर अरब और फ़ारस के व्यापारियों द्वारा, जबकि अरब का स्पेन पर अधिकार था, स्पेन होता हुआ यूरोप में पहुंचा। भारत की अनेक कथाएं पहले अरब-फारस की भाषाओं मे अनूदित हुई और तदनन्तर यूरोप में पहुँची। इस प्रकार जिप्सियों तथा अन्य यात्रियों के द्वारा भी भारतीय कथा-साहित्य यूरोप में प्रचारित हुआ। अस्तु, प्रचार का माध्यम चाहे जो रहा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय कथा-साहित्य का पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में पर्याप्त प्रचार हुआ तथा उसी ने विश्व के रोमांस-काव्य की दीर्घ परम्परा के उद्भव एवं विकास में पर्याप्त योग दिया।

भारत में रोमांचक या प्रेमाख्यानक कथाओं की परम्परा—यद्यपि रोमांचक कथाएं मुख्यतः कल्पना पर आधारित होती हैं, किन्तु उस कल्पना के पीछे भी थोड़ी-बहुत वास्तविकता अवश्य होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि इन कथाओं में सामान्य रूप से ऐसा समाज प्रतिबिम्बित है, जो सौन्दर्य और प्रेम को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता है तथा इस क्षेत्र में वह धर्म और नीति की मर्यादाओं को तुच्छ मानता है। विवाह के क्षेत्र में वह इतना अधिक स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द प्रतीत होता है कि वह विवाह से पूर्व नायिका के कुल, जाति, धर्म आदि पर कोई विचार नहीं करता। इच्छित सुन्दरी को पाने के लिए वह सबसे संघर्ष करने एवं सारी कठिनाइयां सहन करने को प्रस्तुत है। संक्षेप में, वह समाज अत्यधिक सौन्दर्य-प्रेमी, स्वच्छन्द, प्रगतिशील एवं साहसी प्रतीत होता है। भारत के अतीत पर दृष्टि डालें तो हमें ये सारी विशेषताएँ महाभारत के आधारभूत समाज में भली-भाँति दृष्टिगोचर होंगी। उसमें सौन्दर्य की इतनी अधिक प्रतिष्ठा दिखाई देती है कि उसके आगे धर्म, जाति एवं कुल के बन्धन गौण है। उदाहरण के लिए शान्तनु जैसा क्षत्रिय नरेश धीवर कन्या सत्यवती को, भीम अनार्य कन्या हिडिम्बा को, अर्जुन नागकन्या उलूपी को केवल सौन्दर्याकर्षण के कारण ही स्वीकार कर लेते है। अपनी सौन्दर्य-लालसा की पूर्ति के लिए किसी कन्या का बलात् अपहरण—भले ही वह अपने मित्र की बहन ही क्यों न हो, महाभारत के समाज में उचित है। उदाहरण के लिए सुभद्रा के रूप पर मुग्ध अर्जुन को स्वयं कृष्ण परामर्श देते है कि वह उसका अपहरण कर ले। इसी प्रकार विवाह से पूर्व संघर्ष के भी इस युग में पर्याप्त उदाहरण मिलते है। कृष्ण और रुक्मिणी, पाण्डव एवं द्रौपदी, अर्जुन और सुभद्रा, प्रद्युम्न और प्रभावती, अनिरुद्ध और उषा के विवाह से पूर्व नायक-पक्ष को प्रतिनायक या नायिका के संरक्षकों से संघर्ष करना पड़ता है। अस्तु, सौन्दर्य-प्रियता, प्रेम की स्वच्छन्दता एवं विवाह सम्बन्धी प्रगतिशीलता आदि की दृष्टि से महाभारतीय समाज पूर्णतः रोमांटिक कहा जा सकता है। अतः इसी युग को रोमांचक कथाओं का

उद्भव-काल माना जा सकता है। वैसे महाभारत से सम्बन्धित समाज के समय के बारे में विद्वानों में परस्पर मतभेद है, किन्तु सामान्यतः महाभारत युद्ध की घटना ईसा से १४०० वर्ष पूर्व की मानी जाती है, अतः हम इसी समय के आस-पास से रोमांचक कथाओं का मूल उद्भव-काल मान सकते हैं।

यद्यपि महाभारत-ग्रन्थ मूल महाभारतीय समाज के समय से बहुत बाद का माना जाता है, किन्तु भारतीय साहित्य में यही पहला ग्रन्थ है, जिसमें एक साथ अनेक रोमांचक कथाओं का प्रारम्भिक रूप उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए इसमें अर्जुन-सुभद्रा, भीम-हिडिम्बा, नल-दमयन्ती, तप्ता-संवरण के प्रणय के ऐसे प्रसंग विद्यमान है, जो रोमांटिक तत्त्वों से युक्त है। इनमें भी नल-दमयन्ती उपाख्यान तो और भी अधिक रोमांचक है, जिसे परवर्ती युग के भी अनेक कवियों ने अपनाया है। महाभारत के अनन्तर 'हरिवंश-पुराण' रोमांचक आख्यानों की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें कृष्ण-रुक्मिणी (अध्याय-५९-६०), प्रद्युम्न-प्रभावती (अध्याय ११३-१६७) और उषा-अनिरुद्ध (अध्याय २६५-२६७) के आख्यान विस्तार से प्रस्तुत किए गये हैं जिनमें परवर्ती रोमांचक आख्यानों की अधिकांश कथानक-रूढ़ियाँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण-रुक्मिणी में नायक-नायिका में गुण-श्रवण द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में प्रेमोत्पत्ति, देव-मन्दिर के निकट दोनों की प्रथम भेंट, नायिका का बलात् हरण, प्रतिनायक से युद्ध आदि की घटनाओं का वर्णन मिलता है। 'उषा-अनिरुद्ध' में स्वप्न-दर्शन व चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति, नायक को सोते हुए महल मे उठा ले जाना, नायिका के पिता के द्वारा विवाह में बाधा, विवाह से पूर्व युद्ध, आदि की घटनाएँ आई हैं। प्रद्युम्न और प्रभावती में हंस के द्वारा संदेशों के आदान-प्रदान, नायक के रूप बदलकर घर से निकलने, नायिका के पिता से संघर्ष आदि का वर्णन हुआ है। वस्तुतः इन आख्यानों में सौन्दर्य, प्रेम, साहस संघर्ष आदि रोमांचक तत्त्वों के अतिरिक्त कथानक सम्बन्धी बहुत-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग परवर्ती कथाओं में बारम्बार हुआ है तथा इसीलिए उन्हें 'कथानक-रूढ़ि' (Motif) की संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त परम्परा का विकास आगे चलकर प्राकृत के कथा साहित्य में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक संस्कृत काव्य अपने अति आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण रोमांचक साहित्य के विकास में अधिक योग नहीं दे सका, जबकि दूसरी ओर प्राकृत में, जो कि जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टि की सूचक थी, रोमांचक साहित्य का अधिक विकास हुआ। इस सम्बन्ध में प्राकृत की 'वृहत्कथा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका रचना-काल अनुमानतः पहली शती माना जाता है, किन्तु मूल ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। पर इसी के आधार पर संस्कृत में रचित दो ग्रन्थ 'वृहत्कथा-मंजरी' और 'कथा सरित्सागर' मिलते हैं, जिनसे 'वृहत्कथा' की मूल विषय-वस्तु के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। 'कथा-सरित्सागर' के माध्यम से पता चलता है कि इसमें अनेक साहसी नायकों के प्रेम और संघर्ष का वर्णन किया गया था। वस्तुतः इसमें अनेक ऐसी नयी कथानक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग परवर्ती कथाकारों द्वारा बराबर हुआ है। यहाँ इनमें से कुछ का उल्लेख संक्षेप में किया जाता है :—

(क) इसमें नायिकाओं के नाम प्रायः 'वती' प्रत्ययवाले हैं, जैसे—मृगांकवती अलंकारवती, शशांकवती, पद्मावती, लावण्यवती, रत्नवती, धनवती, हिरण्यवती, मंदारवती, मदिरावती, मलयवती आदि। रोमांचक काव्यों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है, उदाहरण के लिए हिन्दी काव्यों में प्रयुक्त कुछ नाम द्रष्टव्य है—पद्मावती, मृगावती, कनकावती, पुष्पावती आदि।

(ख) नायक का जन्म प्रायः विशेष अनुष्ठान या दैवी आशीर्वाद से होता है।

(ग) नायक-नायिका में प्रेमोत्पत्ति प्रायः स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन या प्रथम-दर्शन से होती है।

(घ) नायिका प्रायः किसी न किसी द्वीप (मलयद्वीप, सिंहलद्वीप, रत्नद्वीप, स्वर्ण-द्वीप आदि) की वासिनी होती है, जिससे नायक के समुद्र-यात्रा करने, जहाज के टूटने, नायक के बचने के प्रसंगों का समावेश होता है।

(ङ) नायक प्रायः ब्राह्मण, भिक्षु या तपस्वी का वेश धारण करके नायिका की प्राप्ति के लिए घर से निकलता है।

(च) नायक को किसी संन्यासी, पक्षी या दैवी शक्ति की सहायता से नायिका का पता चलता है।

(छ) नायक-नायिका की प्रथम भेंट प्रायः किसी मंदिर या फुलवारी में होती है।

(ज) नायक को प्रायः नायिका के संरक्षक से संघर्ष करना पड़ता है।

(झ) नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को पर्याप्त शौर्य्य एवं साहस से काम लेना पड़ता है।

(ञ) मुख्य नायिका की खोज करते समय प्रायः नायक की भेंट किसी अन्य सुन्दरी से, या ऐसी सुन्दरियों से हो जाती है, जो किसी राक्षस या अत्याचारी व्यक्ति के बन्धन में होती है, जिन्हे नायक मुक्त करवा कर अपने साथ ले लेता है।

(ट) अन्त में किसी सिद्ध योगी, देवता या वैताल की सहायता से नायक को सफलता मिलती है।

उपर्युक्त कथानक-प्रवृत्तियों का विशेष महत्त्व इसलिए है कि परवर्ती रोमांचक साहित्य में—भले ही वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी में लिखित हो या ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन एवं इंगलिश में रचित, सभी में—इसका प्रयोग रूढ़ि रूप में प्रायः हुआ है। वस्तुतः जहाँ महाभारत एवं हरिवंश पुराण में रोमाचक कथाओं के विभिन्न तत्त्व बीज रूप में मिलते हैं, वहाँ उनका व्यापक एवं विस्तृत पल्लवित रूप सर्वप्रथम वृहत्कथा (अर्थात् कथा सरित्सागर, एवं वृहत्कथा मंजरी) में ही मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वृहत्कथा की कथाओं के पीछे उस समृद्ध एवं वृहत्तर भारत की पृष्ठभूमि है, जबकि भारत के व्यापारी दूर-दूर के द्वीपों में व्यापार के लिए जाते थे तथा वहाँ से अपने साथ गौरांगनाएँ लेकर लौटते थे। 'वृहत्कथा' में नायिकाओं का द्वीपवासिनी होना, समुद्र यात्रा, जहाज का टूटना आदि प्रसंगों से सम्बन्धित अनेक नवीन कथानक-प्रवृत्तियों का प्रयोग इसी पृष्ठभूमि को ध्वनित करता है।

रोमांचक कथाग्रों के विकास की यह परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। ग्रब तक इनमें मुख्यतः कथा-तत्त्व का ही विकास एवं विस्तार हुग्रा था, सूक्ष्म भावों, ग्राकर्षक कल्पनाग्रों एवं काव्यात्मक शैली का प्रादुर्भाव ग्रभी इनमें नहीं हुग्रा था। इस ग्रभाव की पूर्ति संस्कृत के मध्यकालीन गद्यकारों द्वारा हुई जिनमें सुबन्धु, बाण, दंडी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुबन्धु (५-६ठी शती) ने 'वासवदत्ता', बाण (७वीं शती) ने 'कादम्बरी', ग्रौर दंडी (७वीं शती) ने 'दशकुमार चरित' की रचना की, जो सौन्दर्य, प्रेम, ग्रौर शौर्य्य से ग्रोत-प्रोत है। जहाँ तक इनकी कथा-वस्तु ग्रौर कथानक-रूढ़ियों की बात है, इनमें कोई नयी विशेषता नहीं है, 'बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा 'वृहत्कथा' में मिलता है, किन्तु इनकी नवीनता भावों की सूक्ष्म व्यंजकता एवं शैली की ग्रालंकारिकता में है। ग्रस्तु, इन्होंने रोमांचक कथाग्रों की इतिवृत्तात्मकता को काव्यात्मक शैली से युक्त करके इस परम्परा को एक नया मोड़ दिया। इन्हीं के प्रभाव से ग्रागे चलकर संस्कृत ग्रौर प्राकृत में ग्रौर भी कई गद्य-काव्य एवं चम्पू लिखे गये, जो रोमांचक तत्त्वों से भरपूर हैं; जैसे—समरादित्यकथा, सुर-सुन्दरी चरित्र, दमयंती कथा, उदय सुन्दरी कथा, भुवन सुन्दरी कथा, लीलावती ग्रादि। ये सब ग्राठवीं से दसवीं शती के बीच लिखे गये हैं।

प्राकृत-संस्कृत की कथा-काव्य परंपरा की प्रगति ग्रपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा हुई, जिन्होंने दसवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं शती तक ग्रनेक महत्त्वपूर्ण काव्य लिखे, जैसे—नायकुमार चरिउ (पुष्पदन्त; १०वीं शती), जसहर चरिउ (पुष्पदंत, १०वों शती), भविसयत्त कहा (धनपाल; ११वीं शती), सुदंसण चरिउ (नयनंदी, ११वी शती), करकंड चरिउ (मुनि कनकामर; १०६५ ई०), पउमसिरी चरिउ (धाहिल, १२वीं शती), भविसयत्त चरिउ (श्रीधर १२वीं शती), सुलोचणा चरिउ (देवसेज गणि; १२-१३वीं शती) जिणदत्त चरिउ (लक्खन १३वीं शती), बाहुबलि चरित (धनपाल, १४वी शती), धन कुमार चरित (र्यधू १५वीं शती) ग्रादि। यद्यपि जैन कवियों ने ग्रपनी रचनाग्रों को प्रायः 'चरिउ' या 'चरित' की संज्ञा दी है, किन्तु विषय-वस्तु, कथानक, रूढ़ियों, भाव-व्यंजना एवं शैली की दृष्टि से ये कथा-काव्य की परम्परा में ही ग्राती है। पूर्ववर्ती कथाग्रों की भाँति इनमें नायिकाएँ प्रायः 'वती' प्रत्यय वाली है, (जैसे—मदनवती, लीलावती, पद्मावती, ग्रादि) तथा वे द्वीपों की निवासिनी है, जिन्हे पाने के लिए नायकों को समुद्री यात्राएँ करनी पड़ती है। प्रेम की उत्पत्ति इनमें रूप-गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, या स्वप्न-दर्शन द्वारा ही दिखाई गई है तथा सौन्दर्य प्रेम, साहस ग्रौर शौर्य्य का चित्रण रोमांचक शैली में ही हुग्रा हैं। पूर्ववर्ती कथा-साहित्य की जिन कथानक रूढ़ियों का संकेत पीछे किया गया है, प्रायः वे सभी इनमें बराबर प्रयुक्त हुई है। इतना ही नहीं, कई काव्यों में तो पूर्ववर्ती कथाग्रों के ग्रनेक प्रसंगों की ग्रावृत्ति भी ज्यों की त्यों हुई है, जैसे—'वृहत्कथा' में सोई हुई लावण्यवती को मदनवेग नामक विद्याधर उठा ले जाता है, तो करकंड चरित में मदनावली को भी इसी प्रकार सुषुप्त ग्रवस्था में एक विद्याधर उठा ले जाता है। ग्रस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि इन काव्यों को भले ही कवियों ने 'चरित' कहा हो, किन्तु हम प्रत्येक दृष्टि से इन्हें रोमांचक कथा-काव्य की ही परम्परा में स्थान दे सकते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ जैन कवियों ने इस परम्परा को तीन-चार शताब्दी तक आगे बढ़ाया, वहाँ उन्होंने इसमें कुछ नये तत्त्वों एवं नयी प्रवृत्तियों का भी सम्मिश्रण किया। एक तो उन्होंने इसमें धार्मिक या सांप्रदायिक तत्त्वों का मिश्रण किया जिससे कि इनसे मनोरंजन होने के साथ-साथ धर्म संप्रदाय का भी प्रचार हो सके। जहाँ पूर्ववर्ती कथाओं में नायक को किसी सिद्ध या दैवी शक्ति की सहायता से सफलता मिलती है, वहाँ चरित-काव्यों में किसी जैन-तीर्थङ्कर की आराधना या किसी जैन व्रत या अनुष्ठान के प्रभाव से नायक को सफलता मिलती है। इससे जैन-धर्म का महत्त्व तो प्रमाणित हो जाता है, किन्तु कथा की मूल-प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उसका शेष सारा वातावरण रोमांटिक ही रहता है, धार्मिक नहीं। सौन्दर्य, प्रेम और विरह का वर्णन जैन कवियों ने धर्माचार्यों की शैली में नहीं किया; अपितु सच्ची रोमांटिक दृष्टि से किया है, अतः धार्मिक तत्त्वों के मिश्रण के बावजूद ये काव्य रोमांस ही रहते हैं, धर्मोपदेश नहीं बन जाते। दूसरे, इनमें एक नयी प्रवृत्ति यह मिलती है कि वे कथा की समाप्ति नायक-नायिका के मिलन-बिन्दु पर ही न करके उसे कुछ और आगे बढ़ाते हुए उन्हें यौवनावस्था से चरम प्रौढ़ावस्था तक पहुँचाते हैं और अन्त में उन्हें सांसारिक भोगों की निस्सारता का अनुभव करवाते हुए वैराग्य या संन्यास की दीक्षा दे देते हैं। इस प्रकार इन कथाओं की परिणति संयोग शृङ्गार के स्थान पर शान्तिपूर्ण वैराग्य में होती है। तीसरे, इन्होंने गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया है। पर इससे ये कथा-काव्य के क्षेत्र से बाहर नहीं जाती, क्योंकि रुद्रट जैसे आचार्यों ने कथाओं के लिए गद्य और पद्य—दोनों का माध्यम स्वीकार किया है। इस प्रकार तेरहवीं-चौदहवीं शती तक रोमांत्रक कथा-काव्य का वह रूप विकसित हो गया था, जिसे गुजराती और हिन्दी के कवियों ने यह परम्परा सीधे अपभ्रंश कवियों से ग्रहण की, अतः उनमे वे सब सत्त्व मिलते है जिनका उल्लेख यहाँ किया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में अग्रसर होने से पूर्व यह परम्परा महाभारत युग से लेकर चौदहवी शती तक की लगभग पच्चीस सौ वर्षो की लम्बी अवधि में विकास की अनेक मंजिलें तय कर चुकी थी तथा तब तक इसकी अनेक शाखाएँ एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों मे फैल चुकी थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत की भाँति यूरोप की भी आधुनिक भाषाओं में इसका अभ्युत्थान १३वीं-१४वीं शती में ही हुआ था, तथा वहाँ भी इसमें उपर्युक्त नये तत्त्वों—धार्मिकता, वैराग्य एवं पद्यात्मकता—का प्रादुर्भाव न्यूनाधिक मात्रा में हो गया था। आगे चलकर पश्चिम में यही परम्परा पुनः गद्यात्मक वेश धारण करके आधुनिक उपन्यास के रूप में विकसित होती हुई पूर्व की ओर लौटी। दूसरी ओर भारतीय भाषाओं में यह गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, बँगला आदि में विकसित होती हुई समस्त उत्तरी भारत में फैल गयी। इस प्रकार यह परम्परा भारतीय साहित्य में उन्नीसवीं शती तक अखण्ड रूप में प्रचलित रही। अस्तु, निष्कर्ष रूप में इस परम्परा के विकास-क्रम को यहाँ संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

(१) महाभारत-कालीन समाज में रोमांसिक चेतना के आधारभूत मनोवैज्ञानिक

तत्त्वों—जैसे, अदम्य सौन्दर्य-लालसा, स्वच्छन्द प्रणय, वैवाहिक प्रगतिशीलता, साहस एवं शौर्य्य आदि—का प्रादुर्भाव तथा महाभारतीय आख्यानों में उनकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति।

(२) 'हरिवंश पुराण' के आख्यानों में रोमांटिक प्रेम की अनेक प्रवृत्तियों का विकास; जैसे—स्वप्न या चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति।

(३) 'वृहत्कथा' में कथा-वस्तु का अत्यधिक विस्तार तथा समुद्र-यात्रा सम्बन्धी रूढ़ियों का विकास।

(४) संस्कृत गद्य-काव्यों में एक नये तत्त्व—काव्यात्मक शैली—का प्रादुर्भाव।

(५) अपभ्रंश के जैन-कवियों द्वारा धार्मिकता, वैराग्य एवं पद्यात्मकता का संचार।

(६) पश्चिम में इसकी आधुनिक उपन्यास के रूप में परिणति।

प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा का हिन्दी में प्रवर्त्तन—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह परम्परा विशुद्ध भारतीय है, जो प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में होती हुई हिन्दी में पहुँची, किन्तु हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहासकारों एवं आलोचकों ने यह मत प्रचारित कर रखा है कि यह एक विदेशी परम्परा है, जिसका प्रवर्त्तन हिन्दी में सूफी कवियों ने अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए फारसी मसनवियों के आधार पर किया है। इस मत की स्थापना सम्भवतः सबसे पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की थी, जिसकी पुष्टि समय-समय पर विभिन्न आलोचकों एवं शोध-कर्त्ताओं द्वारा होती रही है, जिससे इसका नाम ही 'सूफी-प्रेम-गाथा' या 'सूफी-काव्य-परम्परा' पड़ गया है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल का यह मत हिन्दी के विद्वानों के हृदय में इतनी गहराई से बैठ गया है कि अब शायद इसके विरोध में कुछ कहना, उन्हे उत्तेजित करना होगा। फिर भी यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाय तो इस मत की अनेक आधारभूत धारणाएँ विशुद्ध भ्रान्तियों के रूप में दिखाई पड़ेंगी। आचार्य शुक्ल ने जिन साक्ष्यों के आधार पर उपर्युक्त मत की स्थापना की थी, वे ये है—

(क) हिन्दी के इन आख्यानों में फारसी मसनवियों की ये विशेषताएँ मिलती हैं—(१) कथा का सर्गों या अध्यायों में विभक्त न होना। (२) पूरा काव्य एक ही छन्द में रचा जाना। (३) कथारम्भ में ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर की वन्दना और तत्कालीन नरेश की प्रशंसा का होना।

(ख) इन काव्यों की प्रेम-पद्धति भारतीय न होकर विदेशी है, क्योंकि इनका प्रेम-ऐकान्तिक एवं लोक-वाह्य है तथा उसका आदर्श लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद आदि अरबी-फारसी कहानियों के आदर्श से मिलता-जुलता है। साथ ही इनमें फारसी परम्परा के अनुकूल नायक के विरह की अधिकता दिखाई गई है, जबकि भारतीय परम्परा में नायिका का विरह अधिक दिखाया जाता है।

(ग) 'इस शैली की प्रेम-कहानियाँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी गई हैं।'

हमारे विचार मे उपर्युक्त सभी मान्यताएँ भ्रामक हैं। कथा-काव्य की जिन विशेषताओं को आचार्य शुक्ल ने केवल मसनवियों से सम्बन्धित माना है, वे सब पूर्ववर्ती

भारतीय कथा-काव्य में मिलती हैं। उदाहरण के लिए कथा का सर्गों में विभाजित न होना भारतीय कथाओं का भी प्रमुख लक्षण है। 'अग्नि पुराण' के रचयिता ने कथा के लक्षणों में इसका भी उल्लेख किया है। जहाँ तक काव्य को एक ही छन्द में रचने की बात है, आचार्य शुक्ल से गिनने में भूल हो गयी, अन्यथा वे देखते कि हिन्दी के तथा-कथित आख्यानों में से कोई भी दो छन्दों (चौपाई और दोहा) से कम में नहीं है, अतः यह तर्क तो उनके ही मत के प्रतिकूल पड़ता है। जहाँ तक कथारम्भ में ईश्वर-स्तुति, इष्टदेव या पैगम्बर की वन्दना तथा तत्कालीन नरेश की प्रशंसा की बात है, ये बातें अपभ्रंश के प्रायः सभी चरित्र-काव्यों में मिलती हैं। इतना ही नहीं, नवीं शती मे रुद्रट ने कथा के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए फिर ग्रन्थकार को अपना और अपने कुल का परिचय देना चाहिए, आदि।' यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रुद्रट इन लक्षणों की चर्चा उस समय कर चुके थे, जबकि फारसी की पहली मसनवी (शाहनामा, १०वीं शती) का भी प्रणयन नहीं हुआ था। अतः उपर्युक्त लक्षणों का केवल फारसी मसनवियों से ही सम्बन्ध मानना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है।

इन कवियों की प्रेम-पद्धति एवं प्रेम के आदर्श को विदेशी मानना भी सर्वथा अनु-चित है। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, इन काव्यों में प्रेम की वही पद्धति एवं आदर्श प्रस्तुत किया गया है, जो पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इनकी प्रेम-पद्धति की जिन विशेषताओं को अभारतीय माना है, वे वस्तुतः भारतीय हैं, फारसी मसनवियों मे तो वे बहुत कम मिलती है। उदाहरण के लिए, फारसी मसनवियों —लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद, यूसुफ-जुलेखा आदि—मे प्रेम का उद्भव एकाएक प्रथम दर्शन, गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या स्वप्न-दर्शन से नहीं होता, अपितु नायक-नायिका के पारस्परिक संपर्क एवं साहचर्य से धीरे-धीरे होता है। दूसरे, फारसी मनसवियों में नायक का संघर्ष प्रतिनायक से होता है, जबकि भारतीय कथाओं में प्रायः नायिका के पिता या संरक्षक से होता है। तीसरे, फारसी मसनवियों में नायिका का विवाह प्रति-नायक से होता है तथा विवाह के अनन्तर भी नायिका अपने पति के स्थान पर अपने पूर्व प्रेमी से प्रेम करती रहती है, जबकि भारतीय कथाओं में ऐसा नहीं होता। चौथे, फारसी मसनवियों की परिणति प्रायः नायक की असफलता, निराशा और आत्म-हत्या में होती है, जबकि भारतीय कथाओं में प्रेम की सफलता दिखाई जाती है। हिन्दी के आख्यानों में जिस प्रेम-पद्धति का चित्रण हुआ है, वह मसनवियों के प्रतिकूल तथा भारतीय पद्धति के अनुकूल है।

यह भी एक भ्रान्ति है कि भारत में विरह से नारियाँ ही पीड़ित होती है, पुरुष नहीं। वस्तुतः हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य को छोड़कर शेष भारतीय साहित्य में नारी की अपेक्षा पुरुष के ही विरह की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के १०वें मंडल के १५वें सूक्त में जहाँ पुरुरवा उर्वशी के विरह में करुणोत्पादक विलाप करता है, वहाँ उर्वशी पर उसका कोई प्रभाव ही नहीं होता। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में भी नायक ही नायिका के विरह में पागलों की तरह उन्मत्त होकर

प्रलाप करने लगता है। 'मेघदूत' का यक्ष भी प्रियतमा-वियोग के दुःख को सहन करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है, इसी प्रकार 'कादम्बरी' का नायक विरह की प्रथम आँच में ही मोम की भाँति घुलकर प्राण त्याग देता है। वस्तुतः इस परम्परा के अधिकांश काव्यों में हम पुरुष की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप मे पाते हैं, अतः हमारे विचार से इस प्रवृत्ति को अभारतीय घोषित करना भारतीय साहित्य के ज्ञान का अभाव प्रदर्शित करना है, अन्यथा यह प्रवृत्ति विशुद्ध भारतीय है।

इसी प्रकार यह कहना कि हिन्दी में कथाएँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी हुई है, ठीक नहीं है। इस परम्परा में अब तक लगभग ५५ कवियों की रचनाएँ प्राप्त हुई है, जिनमें से ३५ कवि असंदिग्ध रूप से हिन्दू है। इसके प्रारम्भिक दस कवियों में से भी सात हिन्दू हैं। आचार्य शुक्ल के समय तक इस परम्परा के केवल आठ कवियों का ही पता चल पाया था, शेष का शायद उन्हे ज्ञान नहीं था किन्तु उन आठ कवियों मे भी दो हिन्दू थे—ईश्वरदास एवं सूरदास लखनवी। आचार्य शुक्ल ने इनमें से एक के काव्य को इस परम्परा से अलग करके तथा दूसरे को बिना किसी कारण सूफी घोषित करके, अपने कथन को सच्चा सिद्ध कर दिया, किन्तु वस्तु-स्थिति यह नही है। हमारे विचार से 'सत्यवती कथा' प्रत्येक दृष्टि से इसी परम्परा मे आती है तथा सूरदास लखनवी, जिन्होंने अपने काव्य में हिन्दू देवता और हिन्दू गुरु की वंदना की है, सूफी नही हिन्दू ही थे। अस्तु, इन कवियों के मुस्लिम होने की युक्ति भी निरर्थक सिद्ध होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुक्ल भारतीयता का आदर्श एकमात्र राम की मर्यादावादिता मे ही मानते थे, जब कि इन काव्यों की मूल चेतना ही स्वच्छन्दतावादिता की है। सम्भवतः इसीलिए वे इस परम्परा को भारतीय नहीं मान सके। किन्तु यदि राम के जीवन-चरित्र एवं प्रेमादर्श को ही भारतीयता की एकमात्र कसौटी मान लिया जाय तो उस स्थिति मे हमें न केवल इन काव्यों को, अपितु महाभारत एवं हरिवंश पुराण से लेकर कालिदास, बाण एवं श्रीहर्ष तक के ग्रन्थों को तथा कृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं नल जैसे पात्रों को भी अभारतीय घोषित करना पड़ेगा। आचार्य शुक्ल की राम-भक्ति की पराकाष्ठा तो यहाँ तक है कि उन्होंने सचमुच ऐसा कर दिया है। वे लिखते है—"राम के समुद्र में पुल बाँधने और रावण ऐसे प्रचण्ड शत्रु को मार गिराने को हम केवल एक प्रेमी के प्रयत्न के रूप में नहीं देखते, वीर-धर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न के रूप में भी देखते हैं। पीछे कृष्ण-चरित्र, कादम्बरी, नैषधीय चरित्र, माधवानल काम-कंदला आदि ऐकान्तिक प्रेम कहानियों का भी भारतीय साहित्य में प्रचुर प्रचार हुआ है। ये कहानियाँ अरब-फारस की प्रेम-पद्धति के अधिक मेल में थीं। नल-दमयन्ती की प्रेम-कहानी का अनुवाद बहुत पहले फारसी क्या अरबी तक में हुआ।" यहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कृष्ण-चरित्र से लेकर काम-कंदला तक की भारतीय कहानियों मे 'अरब-फारस की प्रेम-पद्धति का मेल' कैसे हो गया—पर ये अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए एक अनूठा तर्क अवश्य देते हैं, वह है नल-दमयन्ती की कहानी का अरबी-फारसी में अनूदित हो जाना! यदि इसी तर्क से काम लें तो अब

महाकवि तुलसीदास को भी अंग्रेजी-साहित्य के मेल में रख सकते हैं, क्योंकि पिछले दिनों उनकी 'रामचरित-मानस' का भी अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है।

वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने इस परम्परा को विदेशी सिद्ध करने के लिए जितनी भी युक्तियाँ दी हैं, वे सब उनके विपक्ष में ही पड़ती हैं। उपर्युक्त तर्क—नल-दमयन्ती का अरबी-फारसी में बहुत पहले अनूदित हो जाना भी—यही सिद्ध करता है कि यह परम्परा भारत से अरब-फारस पहुँची, न कि वहाँ से भारत में आई है। जैसा कि हम अन्यत्र कह चुके है, फारसी की प्रथम मसनवी 'शाहनामा' में स्वयं कवि ने यह विस्तार से लिखा है कि किस प्रकार बादशाह बहराम गौर ने भारत से मधुर कथाओं के गायकों को बुलाया और किस प्रकार उनका ईरान में स्वागत किया गया। इन्हीं कथा-गायकों के वंशज जिप्सी कहलाते है, जिनके द्वारा भारतीय कथाओं का प्रचार एशिया एवं यूरोप के अनेक भागों में होने की बात कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वान भी स्वीकार करते हैं। अतः आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त मान्यताओं को स्वीकार करना सम्भव नहीं।

इस काव्य-परम्परा का अध्ययन और भी अनेक शोध-कर्त्ताओं ने किया है, जिनमें डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, डॉ० विमल कुमार जैन, डॉ० सरला शुक्ल, डॉ० हरिकांत श्रीवास्तव, डॉ० शिवसहाय पाठक, डॉ० श्याम मनोहर पांडेय, आचार्य रामपूजन तिवारी के नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इन विद्वानों ने पर्याप्त परिश्रम से कार्य करते हुए इस धारा के विभिन्न पक्षों पर नया प्रकाश डाला है, किन्तु वे भी उपर्युक्त भ्रान्तियों से बहुत कम बच पाए हैं, जिससे अनेक शोध-कर्त्ताओं के निष्कर्ष परम्परा विरोधी हो गये हैं, उदाहरण के लिए कुछ निष्कर्ष देखिए—

"भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा नवीन नहीं है, पर दूसरी ओर ईरान के सूफी कवियों की मसनवियों ने भी प्रेरणा दी।" यह एक अन्य विद्वान् का निष्कर्ष है—'हिन्दी के पद्मावत आदि प्रेमाख्यानक काव्य यद्यपि मसनवी शैली में लिखे गये है तथापि भारतीय चरित-काव्यों की प्रबन्ध-शैली का भी सौंदर्य उनमे समाविष्ट है।' यहाँ हम 'यद्यपि' वाली बात ग्रहण करें या 'तथापि' वाली, यह संदिग्ध है। वस्तुतः हमारे बहुत से शोधकर्त्ता इसका स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाये कि इस परम्परा को भारतीय माना जाय या नहीं।

अन्तस्साक्ष्य—हिन्दी की इन कथाओं में अनेक ऐसे अन्तस्साक्ष्य भी मिलते है, जिनसे उनका उद्‌भव-स्रोत भारतीय होने की भली-भाँति पुष्टि होती है; जैसे—(१) इनके रचयिताओं ने अपनी रचनाओं को मसनवी की संज्ञा न देकर 'कथा' या 'कथा-काव्य' की संज्ञा दी है। यह संज्ञा भी दो प्रकार से दी गई है—एक तो कुछ कवियों ने ग्रन्थ के नामकरण में ही 'कथा' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे—लखमणसेन-पद्मावती कथा, सत्यवती कथा, उषा की कथा, कथा रत्नावली, कथा कामलता, कथा कनकावती, नल-दमयन्ती कथा आदि। दूसरे, कुछ ने नामकरण मे तो 'कथा' शब्द का व्यवहार नहीं किया, किन्तु अपने काव्य के आरम्भ या अन्त में अवश्य इसका निर्देश कर दिया है; देखिए—

(क) बावन वीर कथा रस लीउ। अेह पवाडु असाइत कहिउ।

(असाइत : हंसावली)

(ख) बीर कहा मइँ यहि खँड गाँवउँ । कथा काल कई लोग सुनावउँ ।

(दाउद : चंदायन)

(ग) प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु । बुझि लेउ जौ बुझै पारहु ।।

(जायसी : पद्मावत)

(घ) कथा जगत जेती कवि आई । पुरुष मारि ब्रज सती कराई ।

(मंझन : मधुमालती)

(ङ) जाकी बुद्धि होई अधिकाई । आन कथा एक कहै बनाई ।।

(उसमान : चित्रावली)

(च) नूरमोहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात ।

(नूरमोहम्मद : अनुराग बाँसुरी)

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी 'कथा' संज्ञा का ही प्रयोग किया है जो भारतीय कथा-काव्य परम्परा के सम्बन्ध की घनिष्ठता का सूचक है । (२) अनेक कवियों ने अपनी रचना के उद्गम-स्रोत का संकेत स्पष्ट रूप में भी कर दिया है; जैसे—कुतुबन ने 'मृगावती' में लिखा है—

पहले ही ये दुइ कथा अही ।

× × ×

पुनि हम खोली अरथ सब कहा ।

खट भख अहही ऐही मद्द । पण्डित बिन बूझत होइ सिद्ध ।

गाहा, दोहा अरेल, अरल । सोरठा चौपाइ कै सरल ।।

यहाँ कवि ने जिन छंदों—गाथा, दोहा, अरिल्ल आदि का उल्लेख किया है, वे प्राकृत-अपभ्रंश की ही रचना में सम्भव है, अतः निश्चित ही 'मृगावती' की मूलाधार कोई फारसी मसनवी न होकर अपभ्रंश की ही कोई रचना होनी चाहिए । जायसी ने भी 'पद्मावत' के आधारभूत ग्रन्थ का संकेत इस प्रकार किया है—

आदि अंत जस गाथा अहैं । लिखि भाषा चौपाई कहैं ।

यहाँ 'गाथा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है । इसके सामान्यतः दो अर्थ होते है एक, कहानी या आख्यान, दूसरा प्राकृत का छन्द-विशेष । 'गाथा' का एक अन्य अर्थ प्राकृत भाषा भी है, जैसा कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह लिखते है—'गाथा' छन्द संस्कृत में भी मिलते है, अपभ्रंश में भी, किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है; परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया । केवल 'गाहा' (गाथा) कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा ।[1] दूसरी पंक्ति में 'भाषा-चौपाई' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि यहाँ 'गाथा' का अर्थ केवल कहानी मात्र न होकर प्राकृत के छन्द-विशेष का अर्थ है । पद्मावत की आधारभूत रचना प्राकृत के गाथा छन्दों में रचित थी जिसे जायसी ने भाषा की चौपाइयों में रूपान्तरित किया । जैसा कि डॉ० हरदेव बाहरी ने अपने प्राकृत साहित्य के इतिहास में उल्लेख किया है, जायसी से पूर्व प्राकृत में रचित 'पद्मावती' जैसी ही एक कथा भी उपलब्ध है, जिसका नाम 'रयण शेखर

१. सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य, पृ० ८१ ।

कहा' (रत्न-शेखर कथा) है। इसमें नायिका का नाम 'पद्मावती' न होकर रत्नवती है, किन्तु शेष सारा कथानक लगभग 'पद्मावत' का ही है तथा डॉ० बाहरी ने इसे असंदिग्ध रूप से 'पद्मावत' का पूर्व-रूप माना है।[1] ऐसी स्थिति में यही सम्भव है कि जायसी ने प्राकृत की इसी या ऐसी किसी अन्य कथा को 'पद्मावत' का आधार बनाया हो।

इसी प्रकार 'मंझन' ने अपनी 'मधुमालती' का आधार एक ऐसे ग्रन्थ को बताया है जो मूलतः 'द्वापर युग' का था, जिसे उसने कलियुग की 'भाषा' में रूपान्तरित किया। आलम ने 'माधवानल कामकंदला' का आधार एक संस्कृत-कथा को बताते हुए लिखा है—'कथा संस्कृत सुनि कछू थोरी। भाषा बाँधि चौपाई जोरी॥' बोधा ने भी 'विरह-बारीश' का आधार 'सिंहासन बत्तीसी' को बताया है—

सिंहासन बत्तीसी मांही। पुतरिन कही भोज नृप पाहीं।
पिंगल कह बैताल सुनाई। बोधा खेतसिंह पैसह गाई॥

इसी प्रकार जान कवि, शेखनबी, हुसैन आदि ने भी ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे उनकी रचनाओं के मूल स्रोत भारतीय सिद्ध होते हैं। मजे की बात यह है कि इन मुस्लिम कवियों में से भी किसी ने किसी भी फारसी मसनवी की चर्चा तक नही की है, अतः हिन्दू कवियों से तो इसकी आशा करना ही व्यर्थ है। (३) इन कवियों ने स्थान-स्थान पर आदर्श प्रेमियों एवं पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है, पर वे सारे उल्लेख भारतीय ही हैं। १७वीं शती तक किसी भी रचना में लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद जैसे फारसी प्रेमियों का उल्लेख नहीं मिलता, जबकि पूर्ववर्ती भारतीय प्रेमियों का नाम बार-म्बार आया है; उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' में विक्रम-सपनावती, मधु-मुग्धा-वती, राजकुँवर-मृगावती, खंडावत, मधुमालती, प्रेमावती, उषा-अनिरुद्ध आदि प्रेमी-युग्मों का नाम आया है।

वस्तुतः सत्रहवीं शती तक इन कथाओं मे ऐसा कोई साक्ष्य नही मिलता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इनके रचयिताओं को फारसी-मसनवियों का कोई ज्ञान था। सत्रहवीं-अठारहवी शती में अवश्य, जबकि मसनवियों का भी भारत में प्रचार हो गया था, हिन्दी कवियों का भी इधर ध्यान गया है तथा कुछ ने लैला-मजनूं, युसुफ-जुलेखा के कथानक को भी अपनाया है, पर यह बात उस समय की है जबकि यह पर-म्परा हिन्दी में ह्रासोन्मुखी हो गयी थी। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन काव्यों के नामकरण, विषय-वस्तु, ऐतिहासिक पात्रों, भौगोलिक प्रदेशों, कथानक रूढ़ियों, प्रेम सम्बन्धी प्रवृत्तियों एवं शैलीगत विशेषताओं—इन सभी की दृष्टि से इस परम्परा का स्रोत पूर्णतः भारतीय ही है; यह उसी भारतीय कथा-काव्य की एक शाखा है, जिसकी अन्य कतिपय शाखाएँ एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों में विभिन्न माध्यमों से प्रसा-रित हो चुकी थीं। अतः इसे फारसी मसनवियों से प्रेरित एवं प्रभावित मानना सर्वथा अनुचित है। इतना ही नहीं; इसका सूफीमत एवं सूफी प्रचार से भी सम्बन्ध मान अनु-चित है, इसका स्पष्टीकरण अन्यत्र किया जायगा।

---

१. प्राकृत भाषा और उसका साहित्य, पृ० ६४।

: छब्बीस

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा : प्रवृत्तियाँ

१. सामान्य परिचय ।
२. रचयिताओं का काव्य-प्रयोजन ।
३. रचनाओं का नामकरण ।
४. कथावस्तु : स्रोत व रूढ़ियाँ ।
५. विचार तत्त्व व आकर्षण केन्द्र ।
६. शास्त्रीय तत्त्व ।
७. शैली ।
८. उपसंहार ।

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में एक ऐसी दीर्घ काव्य-परम्परा मिलती है जिसे विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है; यथा—'निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा', 'प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा', 'प्रेम-काव्य', 'प्रेम-कथानक काव्य', 'रोमांसिक कथा-काव्य-परम्परा' आदि। इस परम्परा में लगभग ३७ कवियों द्वारा रचित ५५ काव्य उपलब्ध हुए हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं[१]—(१) हंसावली, रचयिता असाइत, रचनाकाल—१३७० ई०, (२) मुल्ला दाऊद रचित चंदायन (१३७९ ई०), (३) दामोदर रचित लखमनसेन पद्मावती कथा (१४५९ ई०), (४) ईश्वरदास रचित सत्यवती कथा (१५०१ ई०), (५) गणपति रचित 'माधवानल-कामकंदला (१५२७ ई०), (६) जायसी कृत 'पद्मावत' (१५२० ई०), (७) मंझन कृत मधुमालती (१५४५ ई०), (८) उसमान कृत चित्रावली (१६१५ ई०), (९) पुहकर रचित रसरतन (१६१८ ई०), (१०) दुःख हरण दास रचित पुहुपावती (१६६९ ई०), (११) नूर मोहम्मद रचित 'इन्द्रावती' व अनुराग बाँसुरी (१७०७ ई०), (१२) बोधा रचित 'माधवानल कामकंदला' (१७५२ ई०), (१३) चतुर्भुजदास रचित 'मधुमालती' (१७८० ई०), (१४) सेवाराम रचित 'नलदमयन्ती चरित्र' (१७९६ ई०), (१५) मृगेन्द्र रचित 'प्रेम पयोनिधि' (१८५५ ई०)।

इस काव्य-परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं, जिनका निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है।[२] यहाँ प्रस्तुत काव्य-परम्परा की प्रमुख

१. इन सभी ग्रन्थों के परिचय के लिए द्रष्टव्य—'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' : पृष्ठ ५४५-५६६ ।

२. द्रष्टव्य—'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', 'हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और बिहारी' तथा प्रस्तुत पुस्तक में प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा : प्रेरणा व उद्गम-स्रोत' शीर्षक लेख ।

विशेषताओं व सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन विभिन्न शीर्षकों में क्रमशः किया जाता है।

रचयिताओं का व्यक्तित्व एवं काव्य-प्रयोजन—सामान्यतः इस परम्परा के कवियों को सूफी मतानुयायी साधक मानते हुए इनका लक्ष्य सूफी मत का प्रचार करना बताया गया है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इस परम्परा के अधिकांश (५४ में से ३७) कवि हिन्दू थे, जिन्होंने काव्यारम्भ में हिन्दू देवी-देवताओं की वन्दना करके हिन्दू धर्म में पूर्ण विश्वास प्रकट किया है, अतः उनके द्वारा तो सूफी मत के प्रचार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मुस्लिम कवियों ने भी अपना उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है[1] जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने शृङ्गार रस के चित्रण द्वारा पाठकों का मनोरंजन करने एवं अपने नाम की प्रसिद्धि के लिए ही प्रेम कथाओं की रचना की थी—हाँ, अपनी बहुज्ञता-प्रदर्शन के लिए वेदान्त, दर्शन, योग-मार्ग, इस्लाम नीतिशास्त्र, काम-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, संगीत शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र एवं भूगोल की सामान्य बातों का भी समन्वय उन्होंने कर दिया, जो कि इस युग के अन्य कवियों केशव, बिहारी आदि—की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। जायसी जैसे एक-दो साधकों को छोड़ कर शेष कवि साधारण गृहस्थ थे, जिन्होंने लौकिक अनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना की। शेख निसार और कवि नसीर ने पुत्र-पत्नी आदि के देहान्त-शोक को भी काव्य-रचना में प्रवृत्ति का निमित्त माना है।[2] उसमान, आलम, जान, नूरमोहम्मद, शेख नबी आदि ने अपनी रचनाओं को

---

१. औ मैं आनि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुई बोल॥ (पद्मावत—उपसंहार खंड)
× × ×
बाँच कथा पोथी भुवन परसन तेहि जगदीश।
हमहि बोल सुमिरे सोई कासिम दई असीस।—(कासिमशाह—हंस जवाहिर)
× × ×
विधना जब लग जगत माँ यह पुस्तक संचार।
सबका साथ रहीम के नाँव रहै उजयार।—(शेख रहीम—भाषा प्रेम रस)
× × ×
मित्र महाशय गुन सदन चित बहलावन हेत।
कहौं कहानी प्रेम की होय के सुनो सचेत।—(शेख रहीम—भाषा प्रेम रस)
× × ×
कहौं बात सुनो सब लोग। कथा-कथा सिंगार वियोग।
सकल सिंगार बिरह की रीति। माधो कामकंवला प्रीति॥ —(आलम)
× × ×
नूर मोहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात।
जेहि मन होइ प्रेम रस, पढ़ै सोइ दिन रात। —(नूर मोहम्मद)

२. जब तें लतीफ कर भरम बिसेख्यो। तप संपत भिरथा देख्यो।
रोय रोय यह बिरह बखानो। कोऊ न रहा जग रहै कहानी॥
—(शेख निसार—यूसुफ जुलेखा)

सर्वगुण सम्पन्न बताते हुए उन्हें तरुणों के हृदय में काम बढ़ानेवाली एवं रसिक भोग-विलासियों को तृप्ति देनेवाली घोषित किया है।[1] चित्रावली के रचयिता को तो अपनी रचना पर अपना इतना गर्व था कि उन्होंने अन्य कवियों को इससे बढ़कर काव्य-रचना करने के लिए चुनौती दी है।[2] इसी प्रकार अनेक हिन्दू कवियों ने भी अपना उद्देश्य एक ऐसी अद्‌भुत कथा लिखना बताया है जिससे विद्वानों की तो बात ही क्या, मूर्खों तक का मन मोहित किया जा सके। साथ ही उन्होंने अपनी रचनाओं को काम एवं विलास की पूर्ति में योग देनेवाली माना है।[3] अस्तु, इन कवियों को चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू—कोई पहुँचे हुए फकीर या अलौकिक अनुभूतियों से विह्वल रहस्यवादी साधक समझना वैसी ही भूल है जैसी विद्यापति, केशव, बिहारी या पद्माकर को थोडी-सी धर्म-दर्शनपरक उक्तियों के आधार पर भक्तकवि समझ लेना है। हाँ, जायसी जैसे एक दो कवि अवश्य इसके अपवाद हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के बहुसंख्यक कवियों को न तो कोई

अन्त वहू मृत्यु रस चाखा। गई परान तोर अभिलाखा।
जस दुखी हूँ मैं जग मांहीं। तस न केहू संसार॥
—(नसीर प्रेम दर्पण)

१. तरुनन्ह के मन काम बढ़ावा। भोगी कहँ सुख भोग बढ़ावा। —(उसमान)
प्रीतिवन्त ह्वै सुनै सो कोई। बाढ़ै प्रीति हिएँ सुख होई।
कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं। ते या कथा रैनि दिन सुनहीं॥—(आलम)
वीर है प्रेम दुख सुख या मांही। को सु सुवाद जु या मँहि नाहीं।
—(जान कवि)
जेहि मन होई प्रेम रस, पढ़ै सोइ दिन रात॥ —(नूर मोहम्मद)
प्रेमी सुनै प्रेम अधिकावे —(शेख निसार)
वीर सिंगार विरह किछु पावा। पूरन पद लै जोग सुनावा।
—(शेख नबी)
कासिम योवन हाथ है, चहै सो काज सँवार॥ —(कासिम शाह)

२. जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥ —(चित्रावली)

३. देखिए निम्नांकित उद्धरण—

(क) सब कू लगै सुहावणी, रचे सुजीय सीण गार।
मुरखहूँ को मन हरे, सब कू लगे सुसार॥
(चन्द्र कँवर री बात : हंस कवि)

(ख) प्रेम पयोनिधि प्रेम की अद्‌भुत कथा महान।
कौतुक हित बरनन करों लख रीझहिं गुनमान॥
—(प्रेम पयोनिधि : मृगेन्द्र)

(ग) राजा पढ़ै राजनीत मंत्री पढ़ै सुबुद्ध।
कामी काम विलास ज्ञानी ज्ञान सुबुद्ध॥
—(मधुमालती : चतुर्भुजदास कायस्थ)

राजाश्रय प्राप्त था, और न ही वे किसी धर्म-सम्प्रदाय के आश्रित थे; ऐसी स्थिति में उनके काव्य का सम्बन्ध सर्व-साधारण जनता एवं लोकाश्रय से ही था। जनता के भी अनेक वर्ग थे, कुछ तरुण युवक थे, जो सौन्दर्य और प्रेम की चर्चा सुनना चाहते थे, तो दूसरी ओर वे प्रौढ़ व्यक्ति थे, जो मनोरंजन के साथ-साथ नीति और शास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे एवं अन्य वर्ग वृद्धों का था जिसकी रुचि धार्मिक तत्त्वों में अधिक थी। ऐसी स्थिति में इन कवियों ने सभी वर्गों के पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए प्रेम, शास्त्र-ज्ञान एवं वैराग्य—तीनों का ही समन्वय न्यूनाधिक मात्रा में अपने काव्यों में करने का प्रयास किया है। इसीलिए अनेक कवियों ने इन सभी लक्ष्यों की पूर्ति का दावा अपने काव्य में किया है।

रचनाओं का नामकरण—इन कवियों ने सामान्यतः नायिका—और वह भी विशेषतः 'वती' प्रत्ययवाली, जैसे सत्यवती, मृगावती, पद्मावती आदि—के नाम पर ही रचनाओं का नामकरण किया है, किन्तु कुछ रचनाओं में नायिका के साथ-साथ नायक के नाम का भी निर्देश मिलता है—जैसे माधवानल-कामकंदला, प्रेमविलास-प्रेमलता, नल-दमयन्ती, उषा-अनिरुद्ध आदि। कहीं-कहीं नायक-नायिका के नाम के अतिरिक्त काव्य-रूप सूचक 'कथा' संज्ञा का भी प्रयोग मिलता है, यथा—लखमसेन-पद्मावती कथा, कथा रत्नावली, कथा कामलता, उषा की कथा आदि। अपवादस्वरूप एक आध रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनमें नायक-नायिका के स्थान पर किसी अन्य आधार पर नामकरण किया गया है, जैसे—अनुराग-बाँसुरी, प्रेम-चिनगारी, प्रेमदर्पण आदि! फिर भी अधिकाश रचनाओं में संस्कृत एवं प्राकृत की परम्परा के अनुसार नायिका के ही नाम को प्रमुखता दी गई है, अतः इसी को हिन्दी कथा-काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

कथा-वस्तु के विभिन्न स्रोत—उद्गम स्रोत की दृष्टि से इस परम्परा के हिन्दी-काव्यों को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) महाभारत, हरिवंश पुराण आदि पौराणिक वृत्त पर आधारित; (२) ऐतिहासिक या अर्द्ध ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित; (३) कल्पना-प्रसूत। प्रथम वर्ग में मुख्यतः नल-दमयन्ती एवं उषा-अनिरुद्ध सम्बन्धी कथाएँ आती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन दोनों कथाओं पर ही दस-बारह कवियों ने अपने-अपने काव्यों की रचना की है, जिससे इनकी लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर चलनेवाले काव्यों मे लखमसेन-पद्मावती (दामो), पद्मावती (जायसी), छिताई वार्ता (नारायणदास) आदि उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमे ऐतिहासिकता का निर्वाह बहुत कम हुआ है। इनके पात्रों में—मुख्यतः नायक—ही प्रायः ऐतिहासिक हैं, शेष प्रायः काल्पनिक हैं। तीसरे वर्ग की रचनाएँ कल्पना-प्रसूत हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि उनकी कल्पना हिन्दी कवियों द्वारा ही हुई हो। अनेक कथाओं की कल्पना पूर्ववर्ती कवियों द्वारा हो चुकी थी, जिनका उपयोग परवर्ती कवियों ने किया है। उदाहरण के लिए, माधवानल-कामकंदला मौलिक काव्य है, किन्तु इसी के कथानक को किंचित् परिवर्तन के साथ सात-आठ कवियों ने अपनाया है तथा यह हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं—जैसे गुजराती—में भी मिलता है। फिर भी अठारहवीं व

उन्नीसवीं शती के दो-तीन काव्यों—यूसुफ-जुलेखा, लैला-मजनूं, प्रेम-दर्पण—को छोड़कर सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि इन कथाओं का उद्गम-स्रोत भारतीय पुराणों, ऐतिहासिक इतिवृत्तों एवं प्राचीन भारतीय कथाओं में ही निहित है। यदि हम केवल उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती और माधवानल-कामकंदला की कथाओं पर ही लिखित सारे हिन्दी काव्यों को सम्मिलित कर लें तो उनकी संख्या बीस तक पहुँच जाती है, अतः इन्हें इस परम्परा की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रतिनिधि कथावस्तु के रूप में लिया जा सकता है।

कथानक रूढ़ियाँ—इन सभी प्रकार के काव्यों में—चाहे उनका इतिवृत्त इतिहास-पुराण पर आधारित हो या कल्पना पर, कुछ घटनाएँ ऐसी मिलती है, जो विभिन्न काव्यों में बार-बार आवृत्त हुई है तथा जिन्हे 'कथानक रूढ़ि' (Motif) की संज्ञा दी गई है। इन काव्यों में निम्नांकित कथानक रूढ़ियों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है—(१) नायिका का किसी द्वीप—विशेषतः सिंहल में जन्म लेना, (२) गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन द्वारा नायक-नायिका में प्रेमोत्पत्ति, (३) शुक, हंस, मैना आदि पक्षियां द्वारा सन्देशों का आदान-प्रदान, (४) अप्सराओं, राक्षसों या अन्य दैवी शक्तियों द्वारा नायक-नायिका को एक दूसरे के पास पहुँचा देना, (५) नायक का वेश बदलकर—मुख्यतः योगी वेश में—नायिका की खोज में निकलना, (६) समुद्र यात्रा एवं उसमें जहाज का टूट जाना, किंतु नायक का किसी प्रकार बच जाना, (७) नायक का किसी अन्य प्रदेश में पहुंचकर किसी राक्षस या अत्याचारी राजा से किसी अन्य सुन्दरी को बचाना और उससे विवाह कर लेना, (८) फुलवारी या मंदिर में नायक-नायिका की प्रथम गुप्त भेंट, (९) नायिका के पिता या संरक्षक से नायक का संघर्ष, (१०) विवाह के अनन्तर अनेक पत्नियों के साथ नायक का सुख-भोग एवं अन्त में नायक की मृत्यु एवं पत्नियों का सती हो जाना।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, इन रूढ़ियों का मूल स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य ही है। महाभारत के नलोपाख्यान; हरिवंश-पुराण के उषा-अनिरुद्ध-प्रसंग, गुणाढ्य की वृहत्कथा, संस्कृत कवियों के गद्य-काव्य, प्राकृत के कथा-साहित्य एवं अपभ्रंश के चरित-काव्यों में ये सभी रूढ़ियाँ बारम्बार प्रयुक्त हुई हैं। हिन्दी की कथाओं का सीधा सम्बन्ध एक ओर महाभारत एवं पौराणिक साहित्य से है, जिनमें नल-दमयन्ती एवं उषा-अनिरुद्ध सबन्धी प्रसंगों में तत्सम्बन्धी बहुत-सी कथानक रूढ़ियाँ उपलब्ध हैं तो दूसरी ओर अपभ्रंश के चरित-काव्यों से है। अपभ्रंश के अनेक चरित-काव्यों में कथानक का पूरा ढाँचा लगभग वही है जो हिन्दी कथा-काव्यों में प्रयुक्त हुआ है; उदाहरण के लिए, नागकुमार चरित्र में चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति, नायक द्वारा अनेक राजकुमारियों का उद्धार व उनसे विवाह करने की घटनाएँ वर्णित हैं तो करकंड चरित में प्रत्यक्ष-दर्शन-द्वारा प्रणयोद्बोध, नायिका का विद्याधर द्वारा उड़ा लिया जाना, नायिका की खोज में नायक का सिंहल द्वीप पहुँचना, वहाँ जाकर एक अन्य सुन्दरी से विवाह करना, अन्त में पर्याप्त संघर्ष से नायिका की प्राप्ति, राज्य-सुख-भोग, वैराग्य, ज्ञान एवं मोक्ष की उपलब्धि आदि रूढ़ियाँ प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार जिणदत्त चरित,

सुदर्शन-चरित, पद्मश्री चरित, भविष्यदत्त कथा, संतकुमार चरित आदि में उपर्युक्त सारी रूढियाँ प्रयुक्त हुई हैं ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में दो-तीन काव्य फारसी मसनवियों के आधार पर लिखे गये थे, उनमें उपर्युक्त कथानक रूढ़ियों का अभाव है । जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, फारसी मसनवियों में प्रेम की उत्पत्ति एकाएक प्रत्यक्ष-दर्शन या चित्र-दर्शन से न दिखाकर धीरे-धीरे बाल्यकाल के साहचर्य से दिखाई जाती है तथा नायिका का विवाह उसके प्रेमी से होकर, उसकी इच्छा के विपरीत प्रति-नायक से हो सकता है । उनकी परिणति वैराग्य एवं शान्ति में न होकर शोक में होती है, क्योंकि नायक की मृत्यु प्रतिनायक के किसी षड्यंत्र से हो जाती है तथा उसके शोक में नायिका भी प्राण त्याग देती है । अस्तु, इस दृष्टि से भारतीय कथानक रूढ़ियों में फारसी रूढ़ियों से गहरा भेद है, तथा अंतिम युग के दो-तीन काव्यों को छोड़कर शेष काव्यों की रूढ़ियों को निश्चित रूप से भारतीय कहा जा सकता है ।

विचार-तत्त्व—जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, इन कवियों का एक लक्ष्य अपनी रचनाओं को विभिन्न क्षेत्रों के शास्त्रीय ज्ञान से युक्त बनाना भी था, अतः इन्होंने न केवल विभिन्न दार्शनिक मत-वादों, धर्म-सम्प्रदायों, नीति एवं सदाचार के नियमों, ज्योतिष एवं शकुन विद्या के विश्वासों की चर्चा स्थान-स्थान पर की है, अपितु काम-शास्त्र, रीति-शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, अश्व-विज्ञान आदि के ज्ञान का भी परिचय विस्तार मे दिया है । इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अनेक काव्यों में घोड़ों की विभिन्न जातियों, मछलियों के विभिन्न भेदों, व्यंजनों एवं पकवानों के विभिन्न प्रकारों, विभिन्न प्रकार के पौधों आदि की भी लम्बी सूचियों का समावेश हो गया है । इस प्रवृत्ति के पीछे कदाचित् कवियों के ज्ञान-प्रदर्शन की प्रेरणा स्वीकार की जा सकती है, किन्तु हमें यहाँ न भूलना चाहिए कि यह प्रवृत्ति मध्यकाल की सभी काव्य-परम्पराओं में न्यूनाधिक रूप में मिलती है । इसका सबसे बड़ा कारण युग-विशेष की आवश्यकता को ही बताया जा सकता है । इस युग में परम्परागत ज्ञान एक ओर संस्कृत-प्राकृत की रचनाओं में आबद्ध हो गया था तो दूसरी ओर नये ज्ञान-कोष मुस्लिम राज्य के प्रभाव के कारण फारसी में तैयार हो रहे थे । जनता की पहुँच संस्कृत और फारसी—दोनों ही तक नहीं थी, अतः उनकी ज्ञान-पिपासा की शान्ति का कार्य भी इस युग के साहित्य-रचयिताओं के ही जिम्मे था । प्रबन्ध-काव्यों में इस कार्य के लिए अधिक स्थान होता है, ऐसी स्थिति में इन रचनाओं को ज्ञान कोष बनाने का प्रयास करना स्वाभाविक ही था, यह दूसरी बात है कि विशुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से यह प्रवृत्ति घातक सिद्ध होती है ।

यह आश्चर्य की बात है कि इस क्षेत्र में अनुसंधान करनेवाले विद्वानों का ध्यान इन कवियों की इस मूल प्रवृत्ति की ओर नहीं गया । उन्होंने इन रचनाओं में केवल धार्मिक एवं दार्शनिक तत्वों की ही प्रचुरता को देखकर इन्हें धर्म-प्रचारक घोषित कर दिया । यहाँ तक भी ठीक था, किन्तु इससे भी अधिक बुरा तो यह हुआ कि जायसी जैसे एक-दो कवियों को सूफी मत में दीक्षित देखकर इस परम्परा के सारे कवियों को ही सूफी घोषित करते हुए उनकी काव्य-रचना का लक्ष्य ही सूफी मत-प्रचार करना मान लिया गया । पर

ये अनुसंधान-कर्त्ता अपने प्रबन्ध के आरम्भ में सौ-डेढ सौ पृष्ठ 'सूफी' शब्द की व्याख्या, सूफी मत के इतिहास एवं सूफी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों आदि की व्याख्या में रँग देने के पश्चात् जब मूल रचनाओं में प्रवेश करते हैं, तो वहाँ उन्हें एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे कि वे इन रचनाओं में सूफी मतों का अस्तित्व सिद्ध कर सकें। ऐसी स्थिति में विभिन्न विद्वानों ने कई प्रकार की युक्तियों से काम लिया। डा० विमलकुमार जैन एवं डा० कमल कुलश्रेष्ठ (पृ० १७५) जैसे विद्वानों ने इस तथ्य को ईमानदारी से स्वीकार कर लिया कि इनमें जो मत-सिद्धान्त मिलते हैं, वे सूफी मत के आधारभूत सिद्धान्तों से बहुत कुछ भिन्न हैं। इसके विपरीत डा० सरला शुक्ला ने यह मानते हुए कि इनमें भारतीय अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि भारतीय दर्शन एवं भारतीय चिन्तन-पद्धति का ही प्रभाव अधिक है, इसे सूफियों की उदारता माना है। पर हमारे विचार से ऐसे उदार कवियों को, जिन्होंने सूफी मत के आधारभूत सिद्धान्तों को छोड़कर उसके सर्वथा प्रतिकूल पड़नेवाले विशिष्टाद्वैत तक के सिद्धान्तों को स्थान दिया है, 'सूफी मत प्रचारक' कहना उचित नहीं है। कुछ शोध-कर्त्ताओं ने एक तीसरे उपाय का भी अवलम्बन लिया है, उन्होंने इनकी सीधी-सादी उक्तियों की भी व्याख्या सूफी मत के अनुसार करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए मुकुन्दसिंह द्वारा रचित 'नल-चरित्र' में एक स्थान पर प्रकृति के उद्दीपन प्रभाव की व्यंजना सहज-स्वाभाविक रूप में की गयी है, जो इस प्रकार है :

तकिए भूप भ्रमर सुखदाए। काम बान सम सोभा पाए।
बानउ के रव होत अपारा। तिहि विध जानहु भ्रमर गुंजारा।
दुऊँ के अहे शिलीमुख नामा। विरही तन कहँ दोउ दुखधामा।

यहाँ विरही हृदय को भ्रमर-गुंजार भी तीरों की चोट सा लगता है, जो प्रकृति के उद्दीपन प्रभाव का द्योतक है। पर डा० हरिकान्त श्रीवास्तव ने कवि को बलात् रहस्यवादी या सूफी मतवादी सिद्ध करते हुए इन पंक्तियों में सूफियों की 'शरीअत' अवस्था का निरूपण बताया है। वे उपर्युक्त पंक्तियों को उद्धृत करते हुए लिखते हैं—'नल-दमयन्ती के रूप का बखान सुन (कर) 'तरीकत' की अवस्था में पहुँच जाते हैं और बाग में प्रकृति के उद्दीपन रूप उनकी रस अवस्था को और भी अग्रसर करते हैं। "तकिए....दुखधामा" —यह शरीअत की अवस्था नल के दूतत्व तक बनी रहती है। दमयन्ती के मन्दिर में नाना स्त्रियों के कामोद्दीपक प्रभाव से बचने के उपरान्त नल मवारिफ अवस्था में पहुँचते हैं। यह कहना अधिक उचित होगा कि मवारिफ और हकीकत की संक्रान्तिक भूमि इस स्थल पर मिलती है।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कवि ने कहीं भी इन अवस्थाओं का संकेत नही किया, फिर भी शोध-कर्त्ताओं ने सूफी मत की चारों अवस्थाओं को इस तरह से ढूंढ़ लिया है, मानों राजा नल ने सचमुच सूफी मत की दीक्षा लेकर ही दमयन्ती से प्रेम आरम्भ किया हो। खैर, इसमें शोध-कर्त्ताओं का भी कोई दोष नहीं, जब एक बार पहले से ही इस काव्य-धारा को सूफी मान लिया गया तो इसके कवियों को किसी न किसी प्रकार तो सूफी सिद्ध करना ही था। हमारे लिए यही सौभाग्य की बात है कि इन शोध-कर्त्ताओं की दृष्टि विद्यापति, तुलसी, सूर, बिहारी और पद्माकर आदि पर नहीं पड़ी, अन्यथा वे भी सूफी सिद्ध किये जा सकते थे, क्योंकि उन सबने प्रकृति का

उद्दीपक प्रभाव वैसा ही—या उससे भी बढ़कर दिखाया है—जैसा कि उपर्युक्त अंश में मिलता है।

यदि हम पूर्व-प्रचलित भ्रान्तियों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इन काव्यों में प्रतिपादित दार्शनिक मान्यताओं पर विचार करें तो यह स्पष्ट रूप में प्रतीत होगा कि इनमें सूफी विचार-धारा की अपेक्षा भारतीय अद्वैत-दर्शन, निर्गुण-ज्ञान-साधना एवं नाथ-पंथियों की योग-पद्धति का ही प्रतिपादन अधिक हुआ है। अवश्य ही इनमें से कुछ कवि सूफी मतानुयायी थे, किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन नहीं किया। जिस प्रकार जायसी, मंझन आदि ने मुसलमान होते हुए भी मुस्लिम पात्रों की अपेक्षा हिन्दू पात्रों का अधिक उत्कर्ष दिखाया है तथा मुस्लिम-संस्कृति की अपेक्षा हिन्दू-संस्कृति का अधिक चित्रण किया है, उसी प्रकार अनेक कवियों ने सूफी मतानुयायी होते हुए भी भारतीय दर्शन की अधिक चर्चा की है। इतना ही नहीं, उन्होंने जिस शब्दावली, एवं जिन दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वे भी भारतीय दर्शन-शास्त्रों से गृहीत हैं। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् को भी (जिन्होंने इस परम्परा को सूफी घोषित किया था) 'पद्मावत' के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ा—'जायसी सूफियों के अद्वैतवाद तक ही नहीं रहे हैं, वेदान्त के अद्वैतवाद तक भी पहुँचे हैं। भारतीय मत-मतान्तरों की उनमें अधिक झलक है।'[१] यह आश्चर्य की बात है कि आचार्यप्रवर ने इस 'अधिक झलक' वाले पक्ष को ही सर्वाधिक गौण कर दिया है।

भारतीय अद्वैतवाद के अनन्तर इन कवियों ने सर्वाधिक स्थान नाम-पंथी योग-साधना को दिया है। एक तो इनके नायक प्रायः योगी-वेश धारण करके घर से निकलते हैं। उन योगियों के विभिन्न उपकरणों का चित्रण इतनी स्पष्टता से किया गया है कि उनके नाथ-पंथी योगी होने में जरा भी सन्देह नहीं रहता, अपितु इसका स्पष्ट निर्देश भी कई बार कर दिया गया है, जायसी के पद्मावत में—

तजा राज, राजा भा जोगी।
औ किंगरी कर गहेउ बियोगी।
× × ×
मेखल, सिंघी, चक्र, कंधारी।
जोग बाट, रुदराछ, अधारी।
कंथा पहिर दंड कर गहा।
सिद्ध होय कहँ गोरख कहा।

इसी प्रकार उसमान की 'चित्रावली' में भी नायक योगी-वेश धारण करके गुरु गोरखनाथ की ही जय कहता है—

सिंगी पूरहु जटा बरावहु।
खप्पर लेहु भीख जेहिं पावहु।
कांधे लेहु बाहि मृग छाला।
गीवँ पहिरहु रुद्राष क माला॥

१. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १४२।

अरहु कान जानि एकहु कहे कोउ जौ लक्ख।
पहिरि लेहु पग पाँवरी-बोलहु सिरी गोरक्ख॥

मंझन कृत मधुमालती, नूरमोहम्मद की इन्द्रावती आदि अन्य काव्यों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है। अस्तु, इन कवियों के नायक न केवल नाथ-पंथी योग की दीक्षा लेते हैं, अपितु वे योग-पद्धति का पूरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए हठयोग की शब्दावली एवं साधना-पद्धति का निरूपण इनमे बार-बार हुआ है। अनेक बार इन गायकों को सफलता भी नाथ-पंथियों के आराध्य देव शिव के द्वारा ही मिलती है। अतः इनके काव्य से किसी धर्म-सम्प्रदाय का प्रचार होता है तो वह योग-पंथ ही है, अन्यथा अन्य किसी भी सम्प्रदाय का इतना प्रत्यक्ष, स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक वर्णन इनमें नहीं मिलता।

अनेक कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से भी दार्शनिक विचारों एवं साधन-पद्धतियों की अभिव्यक्ति की है। इनमें भी सामान्यतः भारतीय साधना-पद्धति की अभिव्यंजना हुई है। जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन रूपी मन का नागमती रूपी सांसारिक आकर्षण से मुक्त होकर गुरु की सहायता से पद्मावती रूपी सात्विक बुद्धि की उपलब्धि का रूपक प्रस्तुत किया है। इस सात्विक बुद्धि या आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा ही मन माया के बन्धन को काटकर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार इनमें मोक्ष प्राप्ति की भारतीय ज्ञान-साधना का ही प्रतिपादन है, किन्तु हमारे विद्वानों ने पहले से ही इसे सूफी-साधना का रूपक मानकर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया—जहाँ कवि ने 'पद्मावती' को 'बुद्धि' का प्रतीक माना है, वहाँ उन्होंने परमात्मा का मान लिया, फलतः उन्हे रूपक की व्याख्या में सफलता नहीं मिली और इसे निरर्थक घोषित करने को बाध्य होना पड़ा। इसी प्रकार उसमान की 'चित्रावली', नूरमोहम्मद की 'इन्द्रावती' एवं 'अनुराग-बाँसुरी' में भी भारतीय तत्त्वों की अभिव्यक्ति की गई है। 'चित्रावली' का नायक शैव-साधक है, नायिकाएँ विद्या और अविद्या की प्रतीक हैं, तथा अन्त में नायक संसार से संन्यास लेकर शिवाराधना में लग जाता है, जिससे इसमें शैव-उपासना के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। इन्द्रावती में तो पात्रों के नाम ही भारतीय दर्शन पर आधारित है—नायक का नाम जीवात्मा है, नायिका का ब्रह्म-ज्योति, मंत्री बुद्धसेन (ज्ञान का प्रतीक) है तथा नायक ज्ञान की सहायता से ही ब्रह्मज्योति की उपलब्धि कर पाता है। इसी प्रकार 'अनुराग बाँसुरी' का नायक 'अन्तःकरण' है, उसके साथी 'संकल्प-विकल्प' हैं, उसके मित्रों में बुद्धि, चित्त और अहं हैं तथा नायिका 'सर्व-मंगला' है। वस्तुतः ये सब पात्र भारतीय दर्शन के ही विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते है।

इसके अतिरिक्त इस परम्परा के अधिकांश कवि हिन्दू हैं, जिनमें एक ओर नंददास जैसा सगुण पुष्टिमार्गीय भक्त है, तो दूसरी ओर बाबा धरणीदास एवं दुःखहरण दास जैसे सन्त मतानुयायी हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य सम्प्रदायों के मतावलम्बी हैं, किन्तु सभी हिन्दू कवियों की अपने मत पर पूरी आस्था है तथा उन्होंने प्रायः अपने काव्य में हिन्दू देवी-देवताओं की स्तुति पूरी श्रद्धा के साथ की है, अतः उन पर सूफी होने का सन्देह करना व्यर्थ है।

वस्तुतः इस परम्परा के विकास में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी कवियों

ने योग दिया है; किन्तु जहाँ तक काव्य-रचनाओं का सम्बन्ध है, उनका दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष ही है। जिस प्रकार विद्यापति ने शैव होते हुए भी राधा-कृष्ण का चित्रण विशुद्ध रसिकतापूर्ण दृष्टिकोण से किया है या बिहारी ने राधावल्लभी होते हुए भी राधा-कृष्ण का चित्रण साहित्यिक दृष्टि से किया है, उनमें धर्म-प्रचार की भावना नहीं मिलती, उसी प्रकार इन कथाओं के रचयिताओं ने—भले ही वे व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम या सूफी मत के अनुयायी हों, धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जिन दार्शनिक तत्त्वों एवं साधनाओं को उन्होंने अधिक स्थान दिया है, उनके पीछे भी किसी विशिष्ट धर्म के प्रचार का लक्ष्य नहीं है। जिस प्रकार भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन इनके काव्य में सहज रूप में ही हो गया है, वैसे ही भारतीय दर्शन के विभिन्न तत्त्वों का समावेश भी इनमें हो गया है। उस समय नाथ-पंथी योग-पद्धति एवं संतों के निर्गुण-दर्शन का प्रभाव भारत के समस्त वातावरण पर छाया हुआ था, ऐसी स्थिति में उसकी अनुगूंज इन काव्यों में भी मिले तो यह स्वाभाविक ही है।

आगे चलकर अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शती में अवश्य विचार-तत्त्वों की दृष्टि से इस परम्परा में एक नया मोड़ आया। इस युग में मुस्लिम कवि हिन्दी भाषा के माध्यम चित्रण में थोड़ा संकोच करने लग गये, जैसा कि नूरमोहम्मद की उक्तियों से प्रकट होता है, परिणामस्वरूप यह परम्परा मुख्यतः हिन्दू कवियों के हाथों में ही रह गयी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परवर्ती युगों के २६ कवियों में से केवल ६ कवि ही मुसलमान हैं तथा उन्होंने भी हिन्दू-जीवन का चित्रण करने की अपेक्षा यूसुफ-जुलेखा, हजरत मूसा, नूरजहाँ आदि की कथाओं के वर्णन में अधिक रुचि प्रदर्शित की है। अतः इन कवियों द्वारा थोड़ी-बहुत मात्रा में अभारतीय तत्त्वों का समावेश हो जाना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है; सब कुछ मिलाकर इस परम्परा में भारतीय तत्त्वों की ही प्रमुखता स्वीकार करनी होगी।

आकर्षण-केन्द्र—इन काव्यों का मूल आकर्षण-केन्द्र धर्म, दर्शन एवं ईश्वर नहीं है, अपितु नारी या सुन्दरी है। नारी को जितना अधिक महत्त्व इन काव्यों में प्राप्त हुआ है, उतना भारत की किसी भी अन्य परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। नारी के सौन्दर्य की व्यंजना संस्कृत के महाकाव्य रचयिताओं ने भी की है, किन्तु वहाँ उस सौन्दर्य का इतना महत्त्व नहीं है कि उसके लिए प्राणों का भी मूल्य दिया जा सके। नारी-सौन्दर्य को इन कवियों ने एक ऐसा विस्तार एवं महत्व प्रदान किया है कि उसके समक्ष संसार की सारी विभूतियाँ आभाहीन एवं तुच्छ प्रतीत होती हैं। इसीलिए सुन्दरियों की प्राप्ति के लिए नायक अपने सर्वस्व का भी त्याग एवं बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाता है तथा प्राणों की बाजी लगाकर ही उसे पाने में सफल हो पाता है। अस्तु, इन काव्यों के सारे कथानक का मूल केन्द्र नायिका ही है, उसी के लिए कथानक की सारी घटनाओं का आयोजन होता है, और वही सारे क्रिया-कलापों की प्रेरणा एवं प्रयोजन है तथा उसी के आधार पर प्रायः कथा का नामकरण होता है। जिस प्रकार भारतीय महाकाव्य एवं नाटक पुरुष-प्रधान या नायक-प्रधान कहे जाते हैं, उसी प्रकार इन्हे नायिका-प्रधान कहा जा सकता है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि ये नायिकाएँ स्वयं प्रायः निष्क्रिय एवं

प्रयत्न-शून्य सी ही दिखाई पड़ती हैं; कथानक के सारे उतार-चढ़ाव में वे प्रत्यक्ष रूप में कोई भाग लेती हुई सी दृष्टिगोचर नहीं होती। आदि से लेकर अन्त तक वे सौन्दर्य की मौन मूर्तियाँ बनी हुई नायक की सारी उछल-कूद, दौड़-धूप एवं हार-जीत को निस्पृह भाव से देखती रहती है और अन्त में जब नायक सारी घाटियों को पार करके उनके पास पहुँचने में सफल हो जाता है, तो उन्हें प्रसाद के रूप में अपनी सौन्दर्य-राशि भेंट करके उनके जीवन को सार्थक बनाती हैं। इस तरह सौन्दर्य को सम्भाले रखना और अन्त में उसे भेंट कर देना ही—उनके जीवन के दो प्रमुख कार्य दिखाई पड़ते हैं। फिर भी पुरुषों से इन्हे जितनी पूजा और जितना सम्मान प्राप्त होता है, वह सचमुच अद्भुत है।

भाव-पक्ष—इन काव्यों का मूल भाव या स्थायी भाव रति या प्रेम है। प्रेम के भी दृष्टिकोण-भेद से कई रूप माने जाते हैं। जहाँ प्रेम समाज की मर्यादाओं से अनुप्राणित हो, वहाँ उसे मर्यादावादी प्रेम कह सकते है, जैसा कि राम-सीता के जीवन में मिलता है। इसके विपरीत दूसरा रूप स्वच्छन्दतावादी प्रेम का है, जो समाज के बन्धनों एवं नैतिक मर्यादाओं को स्वीकार नहीं करता। एक अन्य रूप, इन दोनों के बीच का है, जो सिद्धान्त रूप में तो मर्यादाओं का विरोध नहों करता, किन्तु वास्तविक जीवन में उनके पालन में असमर्थता स्वीकार करता है—यह यथार्थवादी दृष्टिकोण का द्योतक है। रोमांचक कथाओं में प्रायः इनमें से दूसरे प्रकार के प्रेम या स्वच्छन्दतावादी प्रेम, जिसे पाश्चात्य शब्दावली में 'रोमांस' कहा जाता है—का ही चित्रण होता है। स्वच्छन्द प्रेम की उत्पत्ति सौन्दर्य की प्रेरणा से एकाकार होती है तथा वह साहस एवं शौर्य्य से ओत-प्रोत होता है। वह कुल, समाज एवं लोक-मर्यादाओं की उपेक्षा करके अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर होता है। इसमें परिस्थितियों के अनुसार त्याग और बलिदान की भावनाएँ भी विकसित हो जाती हैं, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूलभाव के चरम विकास की दृष्टि से रोमांस को प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप कहा जा सकता है।

हिन्दी के इन काव्यों में प्रायः इसी रूप का चित्रण किया गया है, किन्तु उन्होंने किसी ऐसी परिस्थिति का आयोजन प्रायः नहीं किया जिससे कि वह सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिकूल चला जाय। उदाहरण के लिए, चंदायन जैसी एक-दो रचनाओं को छोड़कर इनमें नायिका कुमारी ही है तथा वह अन्त तक अपने सतीत्व का निर्वाह करती है। इसी प्रकार पुरुषों में बहु-विवाह का प्रचलन होने के कारण भी इनके नायकों का अनेक कुमारियों से विवाह करना सामाजिकता के प्रतिकूल नहीं जाता। अस्तु, इन कवियों ने रोमांस के आधारभूत तत्वों की रक्षा करते हुए भी उसे समाज-विरोधी होने से बचाया है।

प्रेम में परिस्थिति भेद से काम, सौन्दर्य एवं प्रणय का सन्निवेश होता है। इन कवियों ने इन तीनों का ही चित्रण विभिन्न प्रसंगों में चरम सीमा तक किया है। संयोग वर्णनों में कामुकता, नायिकाओं के नख-शिख वर्णन में सौन्दर्य एवं नायक-नायिकाओं के विरह-प्रसंग में प्रणय की अभिव्यक्ति अपने चरमोत्कृष्ट रूप में हुई है। जब हम इनके संयोग वर्णनों को पढ़ते हैं तो लगता है, कवि सारे काम-शास्त्र एवं कोकशास्त्र को खोलकर बैठ गया है, तो दूसरी ओर सौन्दर्य एवं प्रणय की व्यंजना को देखकर प्रायः

आध्यात्मिक सौन्दर्य एवं दिव्य प्रेम की अनुभूति होने लगती है। अस्तु, प्रत्येक तत्त्व को अत्युक्ति की सीमा तक पहुँचा देने की प्रवृत्ति के कारण ही उन्होंने प्रायः ऐसा किया है।

इनके नायक और नायिकाओं के पारस्परिक प्रेम की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि इनमें नायक का प्रेम प्रायः अधिक स्वच्छ, उदात्त एवं त्यागमय है। उसमें प्रणय की अधिक गम्भीरता है, जबकि नायिकाओं में कहीं-कहीं काम वासना की प्रेरणा अधिक मुखर है। उदाहरण के लिए जहाँ जायसी का रत्नसेन पद्मावती के लिए सारा राज्य-वैभव ठुकराकर प्राणों का भी बलिदान करने के लिए तत्पर दिखाई पड़ता है तथा स्वर्ग की अप्सरा को भी यह कहकर ठुकरा देता है कि भले ही वह पद्मावती से अधिक सुन्दर हो, किन्तु उसे पद्मावती को छोड़कर और किसी से कोई मतलब नहीं है, वहाँ पद्मावती में यह बात परिलक्षित नहीं होती। प्रारम्भ में तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी समस्या एकमात्र 'यौन-ज्वार', 'काम-समुद्र' एवं 'मदन-तरंगों' से ही छुटकारा पा जाने की है। इसीलिए वह अपनी समस्या हीरामन तोते के समक्ष प्रस्तुत करती हुई कहती है—

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई।
देस देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं।
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम्ह लाग अनंगा।

× × ×

अस्तु, प्रारम्भ में तो वह विशुद्ध काम-वासना से ही उद्वेलित दिखाई पड़ती है, किन्तु आगे चलकर जब वह रत्नसेन के त्याग को देखती है, उसे अपने लिए शूली पर चढ़ने के लिए तत्पर पाती है तो अवश्य उसमें प्रणय का स्फुरण होता है। वह इस अवसर पर नायक को जो संदेश भेजती है, वह प्रेम की मार्मिकता से ओत-प्रोत है—

जिनि जानहु हौं तुम्ह सौं दूरी। नैनन माँझ गड़ी वह सूरी।

× × ×

तुम्ह कहँ पाट हिए महँ साजा। अब तुम मोर दुहूँ जग राजा।
जौं रे जियहिं मिलि गर रहहिं, मरहिं त एकै दोउ।
तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होउ सो होउ॥

इन काव्यों की नायिकाओं में प्रेम का विकास क्रमशः वासनाओं से भावना की ओर अग्रसर होता है, जबकि नायकों में यह एकाएक ही अपने चरम विकास की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से नायिकाओं के प्रेम को यथार्थवादी एवं मनोविज्ञान संगत कहा जा सकता है, जबकि नायकों का प्रेम, उनके आदर्शवादी एवं अव्यावहारिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों रूपों के साथ-साथ, इनमें नागमती जैसी पत्नियों के दाम्पत्य भाव की भी अभिव्यक्ति मिलती है, जो प्रेम के मर्यादित रूप का प्रतिनिधित्व करती है तथा जिसकी सम्यक् अभिव्यक्ति प्रायः विरहोद्गारों के रूप में ही हुई है। अतः कहा जा सकता है कि इनमें जहाँ रोमांसिक प्रेम की ही प्रधानता है, वहाँ गौण रूप में उसके अन्य रूप भी चित्रित हुए हैं।

प्रणय-भाव के अतिरिक्त इसमें उत्साह, निर्वेद, रौद्र, करुण आदि की भी व्यंजना

प्रसंगानुसार हुई है—किन्तु उन्हें प्रायः गौण रूप में ही स्थान मिला है। जहाँ तक उत्साह का सम्बन्ध है, वह तो इसमें प्रणय का स्थायी सहचर ही बन गया है, क्योंकि इनके नायक निष्क्रिय प्रेमी न होकर उद्यमशील साहसी प्रेमी है। अन्य भावों की भी अभिव्यक्ति इनमें यथा-स्थान मार्मिक रूप में हुई है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

शास्त्रीय तत्त्व—प्रेम की व्यंजना करते समय इन कवियों ने परम्परागत शास्त्रीय तत्त्वों—विशेषतः नख-शिख, नायिका-भेद, काम-दशाओं, विरह की अवस्थाओं आदि के निरूपण—का भी उपयोग कई स्थानों पर किया है। ऐसा करते समय इन्होंने कई बार विभिन्न भेदों का निर्देश भी किया है। उदाहरण के लिए पुहकर द्वारा विरह की अवस्थाओं का निर्देश द्रष्टव्य है—

विप्रलंभ जिमि मूल है, क्रम क्रम विस्तर साख।
दस अवस्था कवि कहत हैं तहाँ प्रथम अभिलाख।

इसी प्रकार नूरमोहम्मद ने भी नायिका-भेद एवं काम-दशाओं का निर्देश किया है—

पिय की प्रीत बखानै एक राखे गोय।
रूप गरवता सुन्दरी प्रेम गरबता होय॥

—**अनुराग बाँसुरी**

चिन्ता कथन बीच-धन परी।
चिन्ता करै घरी औ घरी।
× × ×
उन्माद सौ रोवइ हँसइ।
आँसू धरती मोती खसइ॥

—**इन्द्रावती**

इन कवियों ने न केवल काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का, अपितु कामशास्त्रीय तत्त्वों का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। यहाँ तक कि उसमान ने तो 'चित्रावली' मे पूरा एक खण्ड ही 'कामशास्त्र खण्ड' रख दिया है, जिसमें नायिका-भेद एवं काम-कला सम्बन्धी तत्त्वों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ 'काम-भेद-ज्ञान' के महत्त्व की भी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'काम-भेद जानै जो कोई, दम्पत्ति सेज महा सुख होई।' अस्तु, ये कवि जितना उत्साह अद्वैत की व्याख्या में दिखाते हैं, उतना ही काम-तत्त्व की मीमांसा में भी; ऐसी स्थिति में इन्हे किसी एक क्षेत्र से ही सम्बद्ध मान लेना अनुचित होगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये शास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग एक सीमा तक ही करते हैं, इसी युग के अन्य शृङ्गारी कवियों की भाँति ये रीति-प्रतिपादन को अपना साध्य नहीं बनाते, अपितु उसका उपयोग साधन के रूप में ही करते है।

इनके द्वारा शास्त्रीय तत्त्वों के प्रयोग को कदाचित् इस काल के शास्त्रीय काव्य का प्रभाव समझा जाय, अतः इस सम्बन्ध में भी थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। हमारे विचार से इस परम्परा के लिए यह प्रवृत्ति सर्वथा नयी नहीं है। हिन्दी से पूर्व अपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी हम इस प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं, यथा, स्वयंभू ने काम की दस दशाओं

का तथा नयनंदी ने अपने सुदर्शन-चरित (सन् १०४३ ई०) में नायिका-भेद का निरूपण विस्तार से किया है। फिर भी इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी के बाद के काव्यों में इस प्रवृत्ति को अधिक व्यापक रूप प्रदान करने में इस युग की विशेष रुचि के प्रभाव का भी थोडा-बहुत योग-दान अवश्य है।

काव्य-रूप एवं शैली—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, काव्य-रूप की दृष्टि से ये काव्य भारतीय कथा-काव्य की परम्परा में आते हैं। इसकी पुष्टि एक ओर इनके लक्षणों से हो जाती है तो दूसरी ओर सभी कवियों के उल्लेखों से हो जाती है, क्योंकि प्रायः सभी कवियों ने अपनी रचनाओं को 'कथा' की संज्ञा दी है। किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी के विद्वानों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० शंभूनाथ सिंह को छोडकर और किसी का ध्यान इस तथ्य की ओर नही गया। फलतः उन्होंने इनको एक ओर से तो फारसी मसनवियों की परम्परा मे स्थान दिया तथा दूसरी ओर इनमें भारतीय महाकाव्यों के लक्षणों को ढूंढने का प्रयास किया है, जबकि कथा-काव्य इन दोनों से ही भिन्न काव्यरूप है। इस तथ्य को भलीभाँति हृदयंगम न कर सक पाने के कारण ही हमारे अनेक सुयोग्य शोध-कर्त्ताओं को अनावश्यक रूप से मसनवियों और महाकाव्यों के परस्पर-विरोधी लक्षणों के जंजाल में उलझना पड़ा है तथा अन्त में उन्हे ऐसे निर्णय देने को विवश होना पड़ा है, जो अपने-आप में अस्पष्ट एवं असंगत है। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने इन्हें महाकाव्य की कसौटी पर कसकर इनके ऐसे दोषों की चर्चा की है, जिनका कथा-काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः हमें यहाँ सबसे पहले महाकाव्य और कथा-काव्य के अन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिए।

महाकाव्य और कथा-काव्य में सबसे बड़ा अन्तर उनकी आधारभूत जीवन-दृष्टि, एवं मूल लक्ष्य का होता है। महाकाव्य जहाँ जीवन मे आदर्श एवं मर्यादा की स्थापना के लक्ष्य से प्रेरित होता है, अतः उसका दृष्टिकोण सर्वत्र आदर्शोन्मुखी रहता है, जब कि कथा-काव्य का लक्ष्य मुख्यतः पाठक को रोमांचित एवं आह्लादित कर देना मात्र होता है। इसीलिए महाकाव्य में उच्चकुलोद्भव आदर्श पात्रों की सृष्टि होती है, जबकि कथा-काव्य में आश्चर्यजनक साहसपूर्ण कार्यों को सम्पादित करनेवाले पात्र होते हैं। महाकाव्यों का मूल भाव वीरता या कर्त्तव्य-परायणता की भावना से ओत-प्रोत रहता है, जबकि कथा-काव्य में स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। महाकाव्य में चरित्र या पात्र का घटनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है, जबकि कथा-काव्य में घटनाएँ चरित्र-चित्रण से अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। महाकाव्य की परिणति किसी ऐसे कार्य में होती है, जो नैतिक दृष्टि से महान् हो, जबकि कथा-काव्य के लिए यह अपेक्षित नहीं है। अस्तु, चरम लक्ष्य, विषय वस्तु एवं शैली—सभी के क्षेत्र में महाकाव्य जहाँ शिव के आदर्श से अनुप्राणित रहता है, वहाँ कथा-काव्य में सर्वत्र सौन्दर्य एवं आनन्द की सरिता तरंगित रहती है। अतः इस अन्तर को ध्यान में रखकर ही कथा-काव्य का मूल्यांकन करना चाहिए।

हिन्दी के कथा-काव्यों को 'महाकाव्य' अनुमित कर लिए जाने का एक कारण उनका पद्यबद्ध प्रबन्धात्मक शैली में प्रस्तुत होना है। किन्तु मध्यकाल में तो वैद्यक एवं ज्योतिष को पुस्तकें भी पद्य में लिखी जाने लगी थीं तथा हिन्दी से पूर्व प्राकृत एवं

अपभ्रंश में भी कथाएँ पद्यबद्ध होने लग गयी थीं एवं इसे रुद्रट ने एक लक्षण के रूप में भी स्वीकार कर लिया था, अतः इन कथाओं का पद्य में लिखा जाना स्वाभाविक ही है।

कथा-काव्य में लक्षणों की आंशिक रूप में चर्चा इस परम्परा का अध्ययन आरम्भ करते समय की जा चुकी है, फिर भी संक्षेप मे उन्हे यहाँ पुनः दोहराया जाता है। आचार्य भामह, दंडी, रुद्रट, अग्निपुराणकार, साहित्य-दर्पणकार ने इसकी विभिन्न विशेषताएँ बतायी हैं, जो सम्मिलित रूप में इस प्रकार है—

(क) उसका विषय सुन्दरियों का अपहरण (उपलब्धि), युद्ध (संघर्ष) और वियोग होता है। (भामह, दंडी)।

(ख) कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होती है तथा तदनन्तर ग्रन्थकार अपना और अपने कुल का परिचय देता है और कथा लिखने का उद्देश्य स्पष्ट करता है। (रुद्रट)

(ग) यह शृङ्गार के सारे अवयवों से युक्त होती है तथा कन्या (सुन्दरी) की उपलब्धि ही इसका प्रतिपाद्य होता है। (रुद्रट)

(घ) यह संस्कृत मे गद्य में तथा अन्य भाषाओं में पद्य में लिखी जाती है। (रुद्रट)

(च) इसमें परिच्छेद नहीं होते। (अग्निपुराण)

(छ) इसकी कथा-वस्तु सरस होती है। (साहित्यदर्पणकार)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ मे कथा और आख्यायिका—नाम से गद्य-काव्य के दो भेद थे, किन्तु परवर्ती काव्यों मे यह भेद प्रायः लुप्त हो गया। साथ ही अपभ्रंश के कवियों द्वारा इसमें कई नयी प्रवृत्तियों का भी विकास हुआ, जिनमें से कुछ ये हैं—

(१) अपने आश्रयदाता नरेश की प्रशंसा, जैसे नयनंदी के 'सुदर्शन-चरित' में मिलता है—

'आराम गाम पुखर णिवेसे,
सुपसिद्ध अवंती णाम देसे।
तिहुयण नारायण सिरि णिकेउ,
तहिं णरवर पुंगमु भोयदेउ॥'

(२) कवि द्वारा अपनी अल्पज्ञता एवं आत्म-दैन्य का प्रदर्शन—यह प्रवृत्ति संस्कृत के महाकाव्य-रचयिताओं में भी मिलती थी, जिसे अपभ्रंश-कवियों ने भी अपनाया है, जैसे—'जम्बू स्वामी चरित' से इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मुहियएन कब्बु सक्कमि करेमि।
इछमि भुएहिं सायरु तरे वि॥

(३) धार्मिक तत्त्वों का सन्निवेश।

(४) नायक-नायिका के विवाह के बाद भी कथा को आगे बढ़ाते हुए उनके गृहस्थाश्रम, त्याग, वैराग्य एवं देहावसान आदि का वर्णन करना। अस्तु, हिन्दी कथा-काव्य के ऊपर संस्कृत आचार्यों द्वारा निरूपित एवं अपभ्रंश कवियों द्वारा परिवर्द्धित सभी लक्षण मिलते हैं।—यह दूसरी बात है कि हमारे विद्वानों ने इन्हीं लक्षणों को भ्रान्तिवश फारसी

मसनवी काव्य की विशेषताएँ मानकर मसनवी शैली में रचित घोषित कर दिया है, जो ठीक नहीं।

अभिव्यंजना-शैली—इस परम्परा की अभिव्यंजना शैली की सबसे प्रमुख विशेषता अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति का अतिशय प्रयोग करना है। प्रत्येक वस्तु का वर्णन करते समय उसके सभी पक्षों एवं सभी गुणों को ये अत्युक्ति की चरम सीमा पर पहुँचा देते है, फिर भले ही वह प्रकृति का वैभव हो या नायिका का सौन्दर्य हो अथवा नायक की विरह-वेदना हो। किन्तु यह प्रवृत्ति हिन्दी कथा-काव्य की अपनी नही है। संस्कृत काल में ही इस परम्परा के अनेक कवि—सुबन्धु, दंडी एवं बाणभट्ट इस प्रवृत्ति का विकास कर चुके थे। उनकी रचनाओं में एक वस्तु के केवल मात्र विशेषणों और उपमानों के वर्णन में पृष्ठ के पृष्ठ तक रँगे हुए मिलते हैं। इसी प्रकार अपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान रही है। उदाहरण के लिए 'सुदर्शन-चरित्र' के रचयिता नयनंदी नायिका मनोरमा के सौन्दर्य-वर्णन में उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं की झड़ी सी लगा देते हैं—

> **जाहे णिएविणु कोमलु वाहुउ, विस विक रहित गुणउम्मा हुउ।**
> **जाहे पाणि पल्लवइं सुललिलयइं, कंकेल्ली दलहिंवि अहिलासि यहिं।**
> **जाहि सद्दु णिसणेवि अहिह वियए, णं किण्हतु धरिय माहवियए।**
> **जाहे कंठ रेहत्तय णिज्जिय, संख समुद्दे वुड्ड णं लज्जिय।**
> **जाहे अहरराएं विद्धुय गुणु, जित्तउ जेण धरइ कठिण त्तणु।**
> **जाहे दंसण कंतिए जिय णिम्मल, सिप्पिहें तें पइट्ठ मुत्ताहल।**
> **जाहे सास सुरहि मणउ मणउ पावइ, पवणु तेणउब्बि विरु धावइ।**
> **जाहे विमल मुह इंद सयासए, णि वडण खप्परं व ससि भासइ।**

अर्थात्—जिसकी कोमल बाहुओं को देखकर....जिसके सुललित पाणिपल्लवों की अशोक दल भी इच्छा करते हैं; जिसके मधुर स्वर को सुनकर कोकिला ने कृष्णता धारण कर ली, जिसकी कंठ-रेखाओं से पराजित होकर लज्जित शंख समुद्र में डूब गया; जिसके अधरराग से विजित विद्रुम ने कठिनता धारण कर ली; जिसकी दन्त-कान्ति से विजित निर्मल मोती सीपियों के अन्दर जा छिपे; जिसके श्वास-सौरभ को न पाकर पवन विक्षिप्त सा चारों ओर दौड़ता फिरता है; जिनके मुखचन्द्र के सामने चन्द्रमा....एक खप्पर के समान प्रतीत होता है....

एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विविन्न उपमानों की बारम्बार आवृत्ति करने की यही शैली हिन्दी के कथा-काव्यों में मिलती है; यथा, 'पद्मावत' से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> **बरुनी का बरनौ इमि बनी। साँधे बान जानु दुइ अनी।**
> **उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरो संसारा।**
> **गगन नखत जस जाहिं न गने। वे सब बान ओहि के हने।**
> **धरती बान बेधि सब राखो। साखा ठाढ़ बेहि सब साखी।**

अस्तु, किसी भी विषय-वस्तु का वर्णन करते समय उसे अत्युक्ति की चरम-सीमा तक पहुँचा देने की प्रवृत्ति इस परम्परा में संस्कृत-काल से ही रही है, किन्तु इसी

को कुछ आचार्यों ने सूफी रहस्यवाद की देन समझकर इसमें आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति मान ली है, जो ठीक नहीं।

वस्तुतः हिन्दी के कथा-काव्यों में अलंकारों—विशेषतः उत्प्रेक्षा और रूपक—का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है, जिसके पीछे चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इनके सौन्दर्य, प्रेम और विरह सम्बन्धी वर्णनों की अत्युक्ति को भले ही हम अलौकिकता से प्रेरित मान लें, किन्तु जहाँ संयोग के दृश्य को भी युद्ध का रूप दिया गया है या निर्जीव तोपों को मदविह्वल नारियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है—उसके सम्बन्ध में क्या कहेंगे ? जब जायसी जैसे फकीर भी इस प्रवृत्ति से नहीं बच सके तो औरों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ! अतः हमें यह निःसंकोच रूप में स्वीकार करना होगा कि जहाँ इनकी विषय-वस्तु अत्यधिक रोमांचक है, वहाँ इनकी शैली भी, उसी के अनुरूप पर्याप्त अतिरंजना-पूर्ण है। किन्तु उनकी अतिरंजना अन्ततः भावावेग से उल्लसित एवं परिपूर्ण होने के कारण वस्तु के आकर्षण में अभिवृद्धि ही करती है—उसमें बाधक नहीं वनती।

छन्द-योजना के क्षेत्र में भी इन कवियों ने दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया है, जो अपभ्रंश के चरित काव्यों की द्विपदियों के बीच-बीच घत्ता देने की शैली से पर्याप्त मिलती-जुलती है। कुछ कवियों में इसका अपवाद भी मिलता है, जैसे गणपति कृत 'माधवानल-कामकंदला' केवल दोहों में रचित है, जब कि हंस कवि द्वारा रचित 'चन्द्रकुंवर री बात' में दोहा चौपाई के अतिरिक्त सोरठे, चौहठे, देशी आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, इस प्रकार की भाषा भी सामान्यतः अवधी प्रयुक्त है, किन्तु कुछ में राजस्थानी एवं ब्रज का भी प्रयोग मिलता है, किन्तु ये अपवाद नगण्यप्राय ही हैं।

महत्त्व—अन्त में यह कह सकते है कि सौन्दर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना की दृष्टि से इस परम्परा का महत्त्व है। यद्यपि इस परम्परा के कवियों का प्रेम सामान्यतः लौकिक स्तर का है। किन्तु उसका आदर्श अत्यन्त उच्च है। उन्होंने प्रेम में साहस, त्याग एवं आत्म-बलिदान के भावों का सम्मिश्रण करके उसे कामुकता के स्तर से बहुत ऊँचा उठा दिया है।

मध्यकाल में जबकि लोक-रंजन के अन्य-साधनों का प्रायः अभाव था, इन काव्यों ने इस अभाव की पूर्ति में असाधारण योग दिया। साथ ही इनके द्वारा जनसाधारण के ज्ञानकोष में भी अभिवृद्धि हुई, क्योंकि अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में विभिन्न शास्त्रीय तत्वों को भी प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया है। इस परम्परा की दीर्घता एवं व्यापकता भी इसकी लोकप्रियता एवं महत्ता की सूचक मानी जा सकती है। वस्तुतः आधुनिक युग में जो स्थान उपन्यास-साहित्य का है, वही मध्यकाल में इन प्रेम-कथाओं का रहा है; वे जनता की कलात्मक रुचि एवं साहित्यिक भूख को बराबर शान्त करती रही हैं। इसके अतिरिक्त इस युग के जड़ एवं निस्पंद जीवन में इन आख्यानों की साहसिकता ने न्यूनाधिक चैतन्यता एवं कर्मण्यता का भी संचार अवश्य किया होगा, यह भी स्वीकार किया जा सकता है।

: सत्ताईस :

राम-काव्य या पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा

१. नामकरण।
२. पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों की पूर्व परम्परा।
३. प्रेरणा-स्रोत एवं उद्गम-स्रोत।
४. प्रारम्भिक कवि।
५. परम्परा का विकास।
६. प्रमुख विशेषताएँ एवं महत्त्व।

हिन्दी के मध्यकालीन काव्य के अन्तर्गत शताधिक ऐसे प्रबन्ध-काव्य मिलते हैं, जिनकी विषय-वस्तु पौराणिक ग्रन्थों पर आधारित है। पर साथ ही उनमें काव्यात्मकता का भी अभाव नहीं है। वस्तुतः विषय-वस्तु के विस्तार, पात्रों के वैविध्य एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इस वर्ग की रचनाएँ उच्च कोटि की सिद्ध होती हैं, जिन्हें हम 'पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा' शीर्षक के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं, इनमें राम, कृष्ण, सुदामा, प्रद्युम्न, अर्जुन, प्रह्लाद, ध्रुव, आदि विभिन्न पौराणिक पात्रों के चरित्र का अंकन किया गया है, किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी के प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों में इस परम्परा को 'राम-भक्ति-शाखा' या 'राम-काव्य-परम्परा' की संज्ञा दे दिए जाने के कारण केवल राम-विषयक कतिपय प्रबन्धों को छोड़कर शेष को 'फुटकल खाते' में ही स्थान प्राप्त हो सका। यह भी विचित्र बात है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रौढ़ समीक्षक ने 'राम-भक्ति-शाखा' की स्थापना करते हुए तुलसी से उसका आरम्भ माना है और उन्हीं से उसकी समाप्ति मानी है, क्योंकि 'गोस्वामी जी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि राम-भक्ति की और रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं।' यहाँ तुलसी की जिस विशेषता की दाद दी गई, बिहारी के प्रसंग में भी उसी विद्वान् ने इससे बिल्कुल विपरीत बात के लिए प्रशंसा की है। वहाँ वे लिखते हैं कि बिहारी सतसई को लेकर इतने व्यक्तियों ने उसका अनुकरण किया कि 'बिहारी सम्बन्धी अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है, इतने से ही इस ग्रन्थ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है।' एक समर्थ आलोचक किस प्रकार दो विरोधी बातों को भी एक जैसी सिद्ध कर सकता है, इसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है। पर वास्तविकता यह है कि एक प्रबन्ध-काव्य, दो नाटकों और दो मुक्तक-संग्रहों के आधार पर स्थापित 'राम-काव्य-परम्परा' परम्परा या शाखा कहलाने योग्य नहीं है, क्योंकि एक जैसी काव्य-शैली एवं काव्य-रूपों वाली कम से कम आठ-दस रचनाएँ हों तभी उसे 'परम्परा' का नाम दिया जा सकता

है। अस्तु, हम 'राम-भक्ति-शाखा' जैसे अनुपयुक्त एवं संकीर्ण नाम का बहिष्कार करते हुए इस परम्परा को 'पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा' के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं जिससे कि इस युग के सभी पौराणिक प्रबन्धों को यथोचित स्थान दिया जा सके।

पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों की पूर्व-परम्परा—धार्मिक महापुरुषों को लेकर प्रबंध-काव्य लिखने की परम्परा का प्रवर्त्तन प्राचीनकाल में ही संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में हो गया था। जहाँ वाल्मीकि ने 'रामायण', अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' की रचना संस्कृत में की, वहाँ अनेक जैन कवियों ने प्राकृत एवं अपभ्रंश में विभिन्न तीर्थंकरों एवं धार्मिक नेताओं के चरित का अंकन काव्यात्मक शैली में किया। प्राकृत में रचित 'पउम चरिय' (विमल सूरि : ६० ई०), 'चउपन्न महापुरिस चरिय' (शीलाचार्य; ८६८ ई०), 'सुपास्सनाह चरिय' (श्री पार्श्वनाथ चरित्र), 'महावीर चरित', 'सुमतिनाथ चरित' आदि तथा अपभ्रंश में रचित 'पउम चरिउ' (पद्म चरित्र : स्वयंभू), 'रिट्ठणेमि चरिउ' (स्वयंभू), 'तिसट्ठी महापुरिस गुणालंकार' (पुष्पदंत), 'जसहर चरिउ' (पुष्पदंत), 'जम्बुसामि चरिउ' (वीर कवि), 'पास चरिउ' (पार्श्व चरित : पद्मकीर्ति), 'जिणदत्त चरिउ' (लक्खन), 'णेमिणाह चरिउ' (नेमिनाथ चरित : लक्ष्मणदेव), 'वर्द्धमान चरिउ' (जयमित्र) आदि उल्लेखनीय हैं। जैन-कवियों द्वारा विकसित यही धार्मिक चरित काव्य-परम्परा सीधी हिन्दी में भी पहुँची है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण एक तो यह है कि इस परम्परा का प्रथम हिन्दी कवि सधारु अग्रवाल जैन ही था। उसने 'प्रद्युम्न चरित' की रचना में जैन कवियों के ही दृष्टिकोण, विषय-वस्तु एवं शैली का अनुकरण किया है; दूसरे, हिन्दी के अधिकांश प्रबन्ध-काव्य 'चरित' संज्ञक हैं, यहाँ तक कि तुलसीदास ने भी अपने प्रबन्ध का नाम 'रामायण' न रखकर 'रामचरित-मानस' रखा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश में प्रेम-कथाओं को भी 'चरित' की संज्ञा दी जाती रही है, जबकि हिन्दी में ऐसा नहीं किया गया।

हिन्दी के पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों के विकास में जैन-चरित-काव्यों की परम्परा के अतिरिक्त दक्षिण के पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा का भी गहरा योग-दान सम्भव है। जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, तमिल़, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ एवं मराठी में वैष्णव पुराणों के विभिन्न पात्रों को लेकर प्रबन्ध-काव्य लिखने की एक सुदृढ़ परम्परा का प्रवर्त्तन एवं विकास हिन्दी की इस परम्परा के विकास से पूर्व हो चुका था, अतः यह बहुत सम्भव है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इन परम्पराओं में पारस्परिक सम्बन्ध हो। पर अभी इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

प्रेरणा-स्रोत एवं उद्‌गम-स्रोत—हिन्दी में इस परम्परा के काव्य प्रायः धार्मिक प्रेरणा से ही रचित हैं, किन्तु उनमें सम्प्रदाय-विशेष की कट्टरता परिलक्षित नहीं होती। जिस प्रकार संत-काव्य, कृष्ण-काव्य, रसिक-भक्ति-काव्य, सम्प्रदाय-विशेष के धार्मिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ यह बात इन पर लागू नहीं होती। इनमें सम्प्रदाय के प्रचार की भावना कम है, अपने आराध्य या उसके भक्तों के गुण-गान की ही प्रवृत्ति

अधिक है। वस्तुतः इनका धर्म के क्षेत्र में समन्वयात्मक एवं व्यापक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।

पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों में से बहु-संख्यक काव्य वैष्णव पुराणों से सम्बन्धित हैं, यद्यपि अपवाद-स्वरूप जैन और शैव मत से सम्बन्धित पुराण-कथाओं पर भी कुछ प्रबन्ध अवलम्बित हैं। वैष्णव-वर्ग के काव्य मुख्यतः रामायण, महाभारत एवं भागवत पुराण पर आधारित हैं, गौण रूप से कुछ अन्य पुराणों से भी सम्बन्धित है। सामान्यतः इन्हीं ग्रंथों को इस परम्परा के मूल स्रोतों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

प्रारंभिक कवि—इस परम्परा के उपलब्ध हिन्दी ग्रन्थों में सर्वप्रथम 'प्रद्युम्न चरित' का नाम आता है जिसके रचयिता **सधारु अग्रवाल** थे। सधारु जैन धर्म में दीक्षित थे, अतः उन्होंने प्रद्युम्न के आख्यान को जैन परम्परा के अनुसार प्रस्तुत करते हुए अन्त में अपने धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत काव्य को हिन्दी के वैष्णव प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा अपभ्रंश के जैन-काव्यों की परम्परा में स्थान देना अधिक उचित होगा। किन्तु भाषा की दृष्टि से ऐसा करना सम्भव नहीं। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, हिन्दी के वैष्णव कवियों ने यह परम्परा अपभ्रंश के जैन कवियों से ही अपनाई थी, सधारु का 'प्रद्युम्न चरित' बीच की वह कड़ी है, जो अपभ्रंश और हिन्दी के पौराणिक काव्यों को परस्पर सम्बद्ध करती है तथा इस विनिमय को प्रमाणित करती है। अतः साम्प्रदायिक दृष्टि से यह रचना परवर्ती पौराणिक काव्यों के प्रतिकूल होती हुई भी, काव्य-रूप, विषय-वस्तु एवं प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से इस परम्परा की आदि हिन्दी रचना सिद्ध होती है।

'प्रद्युम्न-चरित' का प्रारम्भिक अध्ययन एवं इसके कुछ अंशों का प्रकाशन डॉ० शिवप्रसाद सिंह के द्वारा उनके शोध प्रबन्ध 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' के अन्तर्गत हो चुका है, जिससे इसके सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का पता चलता है। कवि ने अपभ्रंश के चरित काव्यों की शैली का अनुकरण करते हुए काव्य का आरंभ सरस्वती की स्तुति, इष्टदेव की वन्दना, रचना के प्रयोजन एवं रचना-काल के निर्देश के साथ किया है, यथा—

(क) सरस्वती की स्तुति :

सारद विष्णु मति कवितु न होइ,
मकु आखर णवि बुझइ कोइ।
सो सादर पणमइ सुरसती,
तिन्हि कहुँ बुधि होइ कत हुती ॥१॥

(ख) रचना का प्रयोजन :

सरस कथा रस उपजइ घगउ।
निसुणहु चरित पदूमह तणउ।

(ग) रचना-काल का निर्देश :

सम्वत चउदह सौ हुइ गयौ।
ऊपर अधिक एगारह भयौ।

भादव बदी पंचमी सो सारू।
स्वाति नक्षत्र सनीचर वारू॥

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रचना-काल सम्बन्धी यह उल्लेख गणना के द्वारा भी शुद्ध साबित हुआ है। डा० हीरालाल की जाँच के अनुसार उपर्युक्त तिथि ईस्वी सन् १३५४ के ९ अगस्त शनिवार को पड़ती है तथा नक्षत्र भी इस दिन स्वाति ही पड़ता है, अतः इस तिथि को असंदिग्ध रूप से 'प्रद्युम्न चरित' के रचना-काल के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

कथा का आरम्भ नारद के कृष्ण के यहाँ पहुँचने की घटना से होता है। कृष्ण की पटरानी सत्यभामा अपने उपेक्षापूर्ण व्यवहार से नारद को अप्रसन्न कर देती है जिससे वे इसका बदला लेने के लिए कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की आयोजना करते है। सत्यभामा और रुक्मिणी में सौतिया डाह एवं प्रतिद्वन्द्विता का भाव जागृत होता है तथा वे शर्त लगाती है कि जिसके पहले पुत्र उत्पन्न होगा, वही प्रधान होगी। दोनों के साथ-साथ पुत्र होते हैं किन्तु रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न को एक दैत्य उठाकर ले जाता है, किन्तु वह दैवयोग से बच जाता है तथा सोलह वर्ष के पश्चात् सोलह प्रकार की उपलब्धियों एवं दो प्रकार की विद्याओं के साथ पुनः लौटता है तथा नारद की प्रेरणा से सत्यभामा को भाँति-भाँति के कष्ट पहुँचाता है। फलतः बलराम और प्रद्युम्न में संघर्ष होता है तथा आगे कृष्ण और प्रद्युम्न में भी युद्ध होता है। प्रद्युम्न अनजान से अपनी माँ रुक्मिणी का भी अपहरण कर लेता है, किन्तु नारद के द्वारा रहस्योद्घाटन हो जाने पर कृष्ण एवं प्रद्युम्न मे मेल-मिलाप हो जाता है। प्रद्युम्न अनेक विवाह करता है तथा कृष्ण की मृत्यु व यादवों के नाश के पश्चात् वह जैन धर्म की दीक्षा ले लेता है और अन्त में कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस कथा का स्रोत मुख्यतः जैन पुराण ही है, वैष्णव पुराणों से इसका कोई मेल नही है। अपभ्रंश मे प्रद्युम्न के चरित को लेकर अनेक प्रबन्ध-काव्यों की रचना की गई थी, प्रस्तुत काव्य का कथानक भी उन्हीं पर आधारित है।

पूरा ग्रन्थ लगभग सात सौ चौपाइयों मे समाप्त हुआ है। विभिन्न प्रसंगों के आयोजन एवं प्रस्तुतीकरण तथा भावानुभूतियों की व्यंजना मे कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

चौदहवी शताब्दी के दूसरे कवि, जो इस परम्परा में आते है, **जाखू मणियार** है, जिन्होंने '**हरिचन्द पुराण**' की रचना चैत्र मास की दशमी रविवार, १४५३ वि० (१३९६ ई०) में की थी। इसका निर्देश स्वयं कवि ने इस प्रकार किया है—

चौदह सै तिरपनैं विचार, चैतमास दिन आदित वार।
मन माँहि सुमिर्यो आदीत, दिन दसराहे कियो कवीत॥

काव्य का आरम्भ गणेश एवं शारदा की स्तुति के साथ करते हुए रचना-काल, प्रेरणा-स्रोत एवं आधारभूत ग्रन्थ का भी निर्देश कर दिया गया है। कवि के उल्लेख के अनुसार उसकी मूल कथा ऋषि कृष्ण द्वैपायन (व्यास) द्वारा वर्णित है। वस्तुतः इसका आधार महाभारत ही है—

किस्न दीपायन भारत कीयो, आश्रम छाँड़ि रिषि नीस-यो।
जनमेजय के रावलि गयो, भेट्यो राउ हरिषि मन भयो॥
× × ×
किस्न दीपायन क्रिपा अब करौ, बेगि मोहि भारथ उच्चरौ॥

यद्यपि इस काव्य की कथा-वस्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्र के परम्परागत पौराणिक इतिवृत्त पर ही आधारित है, किन्तु जैसा कि डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने संकेत किया है—'कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण एवं मार्मिक बनाने का प्रयास किया है।'[1] इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के ग्रन्थालय में सुरक्षित है तथा पूरा ग्रन्थ लगभग ६०० छन्दों में समाप्त हुआ है। मुख्यतः इसमें चौपाई छन्द ही प्रयुक्त है, किन्तु बीच-बीच में कुछ अन्य छन्द—'वस्तु', 'अठतालौ' आदि—भी प्रयुक्त है। यह रचना अभी तक अप्रकाशित है, किन्तु इसके जो अंश प्रकाश मे आये है, उन्हे देखने से यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। विभिन्न भावों की व्यंजना मे—विशेषतः करुण रस के प्रसंग में—कवि ने सच्ची सहृदयता का परिचय दिया है, यथा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या का विलाप द्रष्टव्य है—

विप्र पुंछि बन भीतर जाइ, रानी अकली खरी विलखाइ।
'सुत ! सुत ?' कहै वयण उचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ॥
हा ध्रिग ! हा ध्रिग ! करै संसार, फाटइ हियो अति करइ पुकार !
तोड़इ लट अरु फाड़इ चीर, देखै मुख अरु चौवै नीर॥
दीठै पडियो जीवन आधार, सनौ आज भयौ संसार।

वस्तुतः अनुभूति की गम्भीरता एवं शैली की प्रौढता की दृष्टि से यह उच्चकोटि का काव्य है। इसका अध्ययन पूर्ववर्ती एवं परवर्ती पौराणिक काव्यों की अनेक प्रथाओं एवं रूढियों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से यह रचना अभी तक अप्रकाशित है।

अनेक पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों के रचयिता विष्णुदास को अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में स्थान नहीं मिल पाया है, जबकि वे साहित्यिक दृष्टि से सूरदास एवं तुलसीदास जैसे महान् कवियों के भी पथ-प्रदर्शक सिद्ध होते है। मध्यकाल के दोषपूर्ण विभाजन के कारण न तो वे राम-काव्य की संकीर्ण सीमा में बँध पाते थे और न ही कृष्ण-काव्य के ढाँचे मे ही, फलतः वे इतिहास में कोई स्थान पाने से वंचित रहे। अन्यथा उनकी रचनाओं का विवरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा की १९०६-८, १९१२ एवं १९२६-२८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हो चुका था, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल को उनका पता नहीं था।

विष्णुदास ग्वालियर नरेश राव डूंगेन्द्रसिंह के राज्यकाल (आरंभ १४२४ ई०) में वर्तमान थे तथा उनकी पाँच रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं—(१) महाभारत कथा, (२) रुक्मिणी मंगल, (३) स्वर्गारोहण, (४) स्वर्गारोहण पर्व और (५) स्नेह-लीला। इनमें तीसरी और चौथी एक ही प्रतीत होती है, अतः इनकी चार रचनाएँ ही मानी जानी

१. सूरपूर्व ब्रज-भाषा काव्य, पृ० १४९।

चाहिए। ये सभी रचनाएँ प्रबन्धात्मक शैली में रचित होने के कारण प्रस्तुत परम्परा में आती हैं। 'महाभारत कथा' में पांडवों का चरित प्रस्तुत किया गया है, जो १४६५ ई० की रचित मानी गई है। इसमें कवि के धार्मिक दृष्टिकोण की प्रमुखता है, क्योंकि उसने लिखा है—

पांडु चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप बिष्णु कवि भनै।
एक चित्र सुनै दै कान, ते पावैं अमरापुर थान॥

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह काव्यात्मकता से शून्य है। वस्तुतः धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता होते हुए भी यह काव्यात्मक रचना है। उदाहरणार्थ इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

विनसै धर्म किये पाखंडू, विनस नासिर गेह परचंडू।
विनसे रांडु पढ़ाये पांडे, विनसै खेले ज्वारी डांडे॥
विनसै नीच तनैं उपजारू, विनसै सूत पुराने हारू।
विनसै माँगनी जरै जु लाजै, विनसै जूझ होय बिन साजै॥

यहाँ 'विनसै' की आवृत्ति का चमत्कार है, जो लगभग चालीस पंक्तियों में चलता रहता है। आवृत्ति की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश के जैन कवियों में भी प्रमुख रूप से मिलती है, जिसका विकास दूसरी ओर हिन्दी के रोमासिक कथा-काव्यों में भी मिलता है।

'स्वर्गारोहण' या 'स्वर्गारोहण पर्व' में पाडवों के स्वर्ग-गमन की कथा दी गई है, जो दोहा-चौपाई छन्दों मे प्रस्तुत है। कदाचित् यह कल्पना की जा सकती है कि प्रस्तुत काव्य कवि की 'महाभारत कथा' का ही एक अंश होगा। किन्तु वस्तुतः यह स्वतन्त्र ग्रन्थ हे जिसका प्रमाण निम्नांकित मंगलाचरण है :

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक वरदान।
स्वर्गारोहण ग्रन्थ के वरणों तत्व बखान।

यहाँ 'ग्रन्थ' का उल्लेख इसके स्वतन्त्र अस्तित्व का द्योतक है। रचना-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी उनकी 'महाभारत कथा' के स्तर का प्रतीत होता है, नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

सुनहु भीम कह धर्म नरेसा। बार बार सुन ले उपदेसा।
अब यह राज तात तुम लेहू। कै भैया अर्जुन कहँ देहू।
राज सकल अरु यह संसारा। मैं छाँड़ौं यह कहे भुवारा।
बन्धु चार ते लये बुलाई। तिन सों कहीं बात यह राई।

काव्यत्व की दृष्टि से इनकी अपेक्षा 'रुक्मिणी मंगल' में कवि को अधिक सफलता मिली है। इस काव्य में एक स्थान पर कवि ने अपने-आपको 'भाषा-काव्य' बनाने के लिए कोसा भी है—

तुछ मत मोरी थोरी सी बौराई भाषा काव्य बनाई।
रोम रोम रसना जो पाऊँ महिमा वर्ण नहिं जाई॥

'रुक्मिणी मंगल' प्रबन्धात्मक शैली में रचित है, फिर भी इसके बीच-बीच में विभिन्न राग-रागिनियों के पदों और गीतों का आयोजन किया गया है।

वस्तुतः जिस प्रकार दोहा-चौपाई शैली में 'स्वर्गारोहण' काव्य को प्रस्तुत करके विष्णुदास ने परवर्ती पौराणिक प्रबन्ध-रचयिताओं (जिनमें गोस्वामी तुलसीदास भी आ जाते हैं) का पथ-प्रदर्शन किया, वहाँ उन्होंने कृष्ण-भक्ति-विषयक पद लिखकर कुंभनदास, सूरदास आदि के लिए भी नई परम्परा का प्रवर्त्तन किया। अतः काव्यत्व की दृष्टि से विष्णुदास भले ही बहुत उच्चकोटि के कवि सिद्ध न हों, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्त्व बहुत अधिक है।

ईसा की पन्द्रहवीं शती के अन्तिम भाग में एक अन्य महत्त्वपूर्ण कवि **ईश्वरदास,** हुए, जिन्होंने अनेक पौराणिक कथाओं को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया, जैसे—'सत्यवती कथा', 'स्वर्गारोहिणी कथा', 'एकादशी कथा' एवं 'भरत मिलाप'। इनमें से 'सत्यवती कथा' का आधार पौराणिक होते हुए भी इसका प्रस्तुतीकरण रोमांसिक शैली में हुआ है। शेष रचनाओं के नाम से धार्मिकता एवं पौराणिकता का आभास स्पष्ट रूप में मिलता है, किन्तु इसमें काव्यात्मकता का अभाव नहीं है, अतः वे यहाँ विवेच्य हैं। 'स्वर्गारोहिणी कथा' पांडवों के स्वर्गारोहण-प्रसंग से सम्बन्धित है। इसका आरम्भ गणपति एवं शारदा की वन्दना, इष्टदेव की स्तुति, पूर्व कवियों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन, सज्जन एवं दुर्जन की प्रशंसा-निन्दा, रचना-काल के निर्देश, तत्कालीन नरेश के उल्लेख, अपने कुल के परिचय, काव्य-स्रोत एवं काव्य-प्रयोजन के निर्देश के साथ किया है, इससे जहाँ काव्य-रूप सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियों का पता चलता है, वहाँ कवि ईश्वरदास एवं उसके काव्य से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। काव्यारंभ में की गई इष्टदेव की वन्दना केवल रूढ़ि-निर्वाह मात्र जैसी प्रतीत नहीं होती, उसमें भक्ति-भाव की सच्ची प्रेरणा परिलक्षित होती है, यथा—

राम नाम कवि नरक नेवारा, तेहि सेवा मनु लागु हमारा।
संख चक्र धरु सारंग पानी, दया करहु कुछु कहौं बखानी।
मरम न जानौ केसव तोरा, तुम्हरे चरन चितु लागै मोरा।
राम नाम भाव दिन राती, अछर मेरवहु निरमल मोती।
राम नाम ईसर कवि गाए, सुनहु लोग तुम मन चितु लाए।

कवि का प्रयोजन मुख्यतः पाठकों की धार्मिक भावनाओं का उद्बोधन करते हुए उन्हे पाप से मुक्ति दिलवाना ही है—

अछर तीनि बखानौं, भारथ कथा चित लाइ।
कहै ईसर जे सुनितौ, ताकर पाप छै (क्षय) जाइ॥

सारी कथा दोहा-चौपाई शैली में प्रस्तुत है। वस्तुतः काव्य-रूप एवं उसकी विभिन्न रूढ़ियों एवं प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह तुलसी के 'रामचरित मानस' का पूर्व विकसित पूर्व-रूप है। प्रारम्भ की जिन विशेषताओं का उल्लेख हमने अभी किया है, वे सभी 'मानस' में भी मिलती हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत काव्य का विशेष महत्त्व है।

धार्मिक दृष्टिकोण के होते हुए भी, ईश्वरदास कोरे कथाकार नहीं हैं, उनमें कवित्व शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में है। इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त कथा को शुष्क इतिवृत्त

होने से बचा लिया। अनेक स्थानों पर वस्तु-निरूपण एवं भावों की व्यंजना सफलता-पूर्वक की गई है, यथा—

(क) अर्जुन का युद्धकौशल—

जस बिजुली के मारत, परबत फाट अघात।
तस अरजुन के बानन्ह, कौरो भये निपात॥

(ख) युधिष्ठिर का शोक—

बंधु सोग मैं सहैं न पारौं, बंधु बिना जग जीवन हारौं।
बंधु वर्ग मारा सुख लागी, सोग हिदै बारत है आगी।

इनकी दूसरी पौराणिक रचना 'एकादशी कथा' भी काव्यात्मकता से शून्य नहीं है। यद्यपि इसका आरम्भ उतने विधि-विधानों के साथ नहीं किया गया; किन्तु बीच-बीच में नगर-वर्णन, नारी-सौन्दर्य, सौन्दर्याकर्षण, शोकानुभूति, निर्वेद आदि का निरूपण जिस सरस एवं भावोत्पादक शैली में किया गया है, वह इसे उत्कृष्ट काव्यकृति सिद्ध करता है; कुछ प्रसंग देखिए—

(क) मोहिनी का रूप-सौन्दर्य—

जहँ लगु होइ सकल संसारू, काढ़ि लेहु सब कर रूप सुढारू।
एकै करता काढ़ि लेहु रासी, विसु काम लै बैठु संडासी।

(ख) मोहिनी का सौन्दर्याकर्षण—

नैन कटोरन्ह चितवै नारी, हरि हर ब्रह्मा रहे निहारी।
देखि रिषै सबै अकुलाई, देखि कामिनि तन दरसे आई।
ध्यान छूट रिषै देखु जागी, जानहू एक चित्र होइ लागी।
नर गंध्रप देखहिं चित लाई, नारि देखि सब गये मुरछाई।

ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'भरत मिलाप' बताई जाती है जो काफी विवादास्पद है। इसकी विभिन्न प्रतियाँ प्राप्त हैं जिनमें परस्पर गहरा पाठ-भेद मिलता है तथा रचयिता का नाम भी उनमें अलग-अलग है। सामान्यतः इनमें तीन नाम आये हैं—तुलसीदास, ईश्वरदास एवं सूरजदास। डा० शिवगोपाल मिश्र के मतानुसार यह इन्हीं ईश्वरदास की रचना है, क्योंकि इसकी एक प्रति उन्हें ईश्वरदास की अन्य रचनाओं के साथ ही प्राप्त हुई थी तथा भाषा-शैली एवं अनेक प्रतियों के उल्लेख के अनुसार भी यह ईश्वरदास की ही रचना प्रतीत होती है।

वस्तुतः पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा को आगे बढ़ाने में ईश्वरदास का महत्त्व-पूर्ण योगदान है। भले ही हम आज जायसी एवं तुलसी के प्रौढ़ काव्यों के समक्ष इनकी रचनाओं को नगण्य एवं उपेक्षणीय समझें, किन्तु इतिहास की इस धारा के विकास-क्रम को समझने तथा परवर्ती काव्यों के विभिन्न उपादान-स्रोतों को जानने के लिए ईश्वरदास की रचनाओं का अध्ययन अपरिहार्य है।

परम्परा का विकास—सोलहवीं शती के मध्य भाग से इस परम्परा का अत्यन्त द्रुतगति से विकास हुआ, जिसका अनुमान इसी तथ्य से किया जा सकता है कि सोलहवीं से लेकर बीसवीं शती के आरम्भ तक रचित लगभग डेढ़ सौ पौराणिक प्रबन्ध-काव्य अब

तक उपलब्ध हो चुके हैं, जो इस परम्परा में आते हैं। इन्हें विषय-वस्तु की दृष्टि से स्थूल रूप में तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) भागवत पुराण तथा कृष्ण चरित्र पर आधारित काव्य, (२) रामायण तथा रामचरित पर आधारित काव्य और (३) महाभारत तथा कौरव-पाण्डव के चरित्र पर आधारित काव्य। इनके अतिरिक्त कुछ काव्य ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध वैष्णव परम्परा से न होकर शैव, सिक्ख, जैन परम्पराओं से है। यहाँ हम केवल रामायण तथा रामचरित पर आधारित काव्यों का ही परिचय संक्षेप में दे रहे हैं।[1]

तुलसीदास और उनका काव्य—रामचरित्र से सम्बन्धित हिन्दी का प्रथम प्रबन्ध-काव्य सम्भवतः ईश्वरदास कृत 'भरतमिलाप' है, जो सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया था। इसकी विवेचना की जा चुकी है। इसके अनन्तर गोस्वामी तुलसीदास जी के विभिन्न प्रबन्ध-काव्य आते हैं, जो इस परम्परा की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ माने जाते हैं। वस्तुतः तुलसीदास समस्त मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में स्वीकार किए जाते हैं, अतः इनके साहित्य पर यहाँ अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया जाता है।

तुलसीदास के नाम पर वैसे तो लगभग पच्चीस रचनाएँ प्रचलित हैं, किन्तु उनके द्वारा रचित वास्तविक ग्रन्थ ये बारह माने जाते हैं—(१) रामचरित मानस, (२) रामलला नहछू, (३) वैराग्य संदीपिनी, (४) बरवै रामायण, (५) पार्वती-मंगल, (६) जानकीमंगल, (७) रामाज्ञा प्रश्न, (८) दोहावली, (९) कवितावली, (१०) गीतावली, (११) श्रीकृष्ण गीतावली, (१२) विनयपत्रिका। इनके अतिरिक्त इनकी दो प्रामाणिक रचनाएँ और मानी जाती हैं—'हनुमान बाहुक' एवं 'कलि धर्माधर्म निरूपण'। इनमें से 'हनुमान बाहुक' को तो 'कवितावली' के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया जाता है, जबकि दूसरी रचना को डॉ० रामकुमार वर्मा तथा कुछ अन्य विद्वान् ही प्रामाणिक मानते हैं।

काव्य-रूप की दृष्टि से तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रबन्ध-काव्य—रामचरितमानस, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल। (२) गीति काव्य—गीतावली, कृष्ण गीतावली और विनय-पत्रिका। (३) मुक्तक काव्य—वैराग्य संदीपिनी, बरवै रामायण, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, कवितावली, हनुमान बाहुक एवं कलि धर्माधर्म निरूपण। यहाँ केवल प्रबन्ध-काव्य ही विवेच्य है, अतः हम क्रमशः इन्हीं का विवेचन करते हैं, शेष वर्ग की रचनाओं पर अन्यत्र प्रसंगानुसार प्रकाश डाला जायगा।

रामचरितमानस—तुलसीदास की सर्वश्रेष्ठ रचना 'रामचरितमानस' है, जिसकी रचना उन्होंने भगवान् राम की जन्म-भूमि अयोध्या में राम की जन्म-तिथि को संवत् १६३१ वि० (१५७४ ई०) में आरम्भ की थी। इसका निर्देश स्वयं कवि ने इस प्रकार किया है—

---

१. **अन्य परम्पराओं के परिचय के लिए द्रष्टव्य—'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', पृष्ठ २३९-२७५।**

संवत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

राम-चरित सम्बन्धी काव्यों को प्रायः 'रामायण' कहे जाने की परम्परा रही है; किन्तु तुलसीदास ने अपने काव्य को 'रामचरितमानस' के नाम से पुकारा है जिसका विशेष कारण यह है कि कवि ने इसे मानस रूपी सरोवर के रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है। सारी कथा चार वक्ताओं के माध्यम से सात कांडों में प्रस्तुत की गई है। ये चार वक्ता ही इसके चार घाट हैं तथा सात कांड इसके सात सोपान हैं। वैसे इस रूपक के और भी कई अंग हैं; जैसे राम की महिमा इसके जलाशय की गम्भीरता है, उपमादि इसकी तरंगें हैं, छन्दादि इसके कमल हैं, अनुपम अर्थ, भाव, भाषा आदि पराग, मकरन्द और सुगन्ध हैं, आदि। वस्तुतः यह रूपक इसके नामकरण की सार्थकता सिद्ध करता है। यह दूसरी बात है कि यह इतना अधिक विस्तृत एवं बौद्धिक हो गया है कि जिससे इसमें काव्यात्मक आकर्षण बहुत कम रह गया है।

'मानस' की रचना में कवि ने संस्कृत, प्राकृत आदि के विभिन्न पौराणिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों का उपयोग सम्यक् रूप से किया है। कथा का मूल आधार वाल्मीकीय रामायण है, किन्तु उसमें अनेक स्थलों पर परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है, जिसमें कवि की मौलिक दृष्टि का उन्मेष मिलता है। इसके अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, श्रीमद्भागवत, विष्णु पुराण, शिव पुराण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव, रघुवंश, उत्तर रामचरित आदि ग्रन्थों का भी प्रभाव इस पर विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि स्वयं कवि ने 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहकर स्वीकार किया है, इसमें विभिन्न स्रोतों की सामग्री का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया है।

'रामचरितमानस' की रचना केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं हुई, इसमें काव्यात्मक लक्ष्य भी कवि के सामने स्पष्ट रूप से विद्यमान था; इसकी ध्वनि निम्नांकित उक्तियों से मिलती है—

तैसेहिं सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

× × ×

जदपि कवित रस एको नाहीं। राम प्रताप प्रकट यहि माहीं।

× × ×

जे प्रबन्ध नहिं बुध आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।

× × ×

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लाग पछिताना।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि, कविता एवं काव्यात्मकता का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि कवि ने भले ही शिष्टता एवं विनम्रता के नाते अपनी रचना को काव्यत्व से शून्य कह दिया है, किन्तु उसकी आन्तरिक इच्छा अपनी रचना को काव्यात्मक दृष्टि से भी सफल बनाने की अवश्य रही है। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने उन कवियों के प्रयास को निन्दनीय बताया है, जो प्राकृत व्यक्तियों का गुणगान करने

में अपनी कवित्व-शक्ति का अपव्यय करते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि तुलसीदास मे धार्मिक भावनाओं की प्रबलता के होते हुए भी वे अपनी रचना की काव्यात्मकता के प्रति सचेत थे। इतना ही नहीं, 'रामचरित मानस' एवं अन्य रचनाओं के आधार पर उनके काव्य-दर्शन की पूरी रूप-रेखा तैयार की जा सकती है। यहाँ संक्षेप मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलसी काव्य के क्षेत्र में "महत्" के उपासक थे, वे महान् वस्तु एवं महान् लक्ष्य को लेकर चलनेवाले कवि थे, इसीलिए उनकी दृष्टि में वही कला सफल कला थी, जो सौन्दर्ययुक्त होने के साथ-साथ सबके लिए हितकारी भी हो।

गोस्वामी तुलसीदास का राम-विषयक एक अन्य प्रबन्धात्मक काव्य 'रामलला नहछू' है जो केवल २० छन्दों में समाप्त हो गया है। यह सोहर छन्द में रचित है जो अवध और बिहार के लोक-गीतों—विशेषतः पुत्र-जन्म, नामकरण, विवाहादि से सम्बन्धित गीतों—मे प्रयुक्त होता है। इसमें राजा दशरथ के चारों पुत्रों के यज्ञोपवीत-संस्कार का वर्णन है। यज्ञोपवीत से पूर्व 'नख क्षौर' (नाखून काटने) किए जाने का विधान है, तथा इसी 'नख क्षौर' का अपभ्रष्ट रूप 'नहछुर' या 'नहछू' बना है। कुछ विद्वानों ने इसे विवाह सम्बन्धी गीत मान लिया है, किन्तु जैसा कि पं० रामगुलाम द्विवेदी एवं डा० विमल कुमार जैन ने अपने तुलसी-विषयक ग्रन्थों मे सिद्ध किया है, इसका सम्बन्ध यज्ञोपवीत संस्कार मे ही है।

तुलसीदास की महत्ता[1]—तुलसीदास की प्रबन्धात्मक रचनाओं के सम्बन्ध में यहाँ सामान्य रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी कीर्ति का अमर आधार 'रामचरितमानस' ही है। इसे न केवल इस परम्परा का, अपितु समस्त हिन्दी काव्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। हमारे विचार से जब 'पद्मावत', 'कामायनी' आदि से इसकी सम्यक् तुलना नही हो जाती, तब तक इसे हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य कहना तो उचित नही होगा, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पौराणिक प्रबन्ध-काव्य परम्परा में इसका स्थान सर्वोच्च है।

समग्र रूप में तुलसीदास की महत्ता के विभिन्न आधार माने गये हैं; कुछ लोग उन्हें धर्मोपदेशक के रूप में, कुछ भक्त के रूप में और कुछ लोक-नायक के रूप मे सर्वोच्च मानते हैं। अवश्य ही वे अपने युग के सबसे बड़े धर्मात्मा भक्त एवं लोक-नायक थे, किन्तु ये सारे पद एवं विशेषण किसी के काव्यत्व की महत्ता का बोध नहीं करवाते। यदि ऐसा ही होता तो हम महात्मा गांधी को सबसे बड़ा कवि भी मान लेते। हमारे विचार से कवि तुलसीदास की महत्ता का सबसे बड़ा आधार उनमें काव्यत्व की व्यापकता एवं गम्भीरता—दोनों का उचित समन्वय का होना है। जहाँ उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों एवं शैलियों को अपनाकर व्यापकता का परिचय दिया है, वहाँ जीवन के उदात्त आदर्शों एवं गम्भीर भावों के प्रस्तुतीकरण के द्वारा अपने दृष्टिकोण की गम्भीरता को भी प्रमाणित किया है। उनके काव्य में सौन्दर्य का चित्रण है, किन्तु उससे भी

---

१. प्रस्तुत लेख का विषय प्रबन्ध-काव्य होने के कारण तुलसीदास की अन्य रचनाओं का परिचय नहीं दिया गया है।

अधिक महत्त्वपूर्ण है औदात्य की आकर्षक व्यंजना। काव्य की दृष्टि से उनकी समस्त धार्मिकता, नैतिकता एवं दार्शनिकता का सबसे अधिक महत्त्व इस बात में है कि ये सब उसमें औदात्य की प्रतिष्ठा एवं व्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी औदात्य को रस-सिद्धान्त की शब्दावली में प्रत्यक्ष आनन्द-स्वरूप शान्त रस के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

केशवदास की 'रामचन्द्रिका'—राम सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण रचना केशवदास मिश्र द्वारा रचित 'रामचंद्रिका' है। इसका रचना-काल स्वयं कवि के उल्लेख के अनुसार १६५८ वि० या १६०१ ई० है। केशवदास राज्याश्रित शृङ्गारी कवि थे, अतः यह विषय उनकी रुचि के बहुत अनुकूल नहीं था, फिर भी १७ वर्ष पूर्व तुलसी द्वारा रचित 'रामचरितमानस' की प्रसिद्धि ने सम्भवतः उन्हे इस ओर आकर्षित किया। केशवदास किसी का अनुसरण करनेवाले कवि नहीं थे, अतः उन्होंने अपनी रचना में तुलसी के आदर्श, शिल्प एवं रचना-शैली को स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से वे तुलसी के अनुवर्ती या अनुकर्त्ता नहीं है अपितु उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं। कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपने सारे काव्य में तुलसीदास का कहीं उल्लेख न करके अपना सम्बन्ध सीधे वाल्मीकि से स्थापित किया है। कवि ने अपने प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वप्न में वाल्मीकि द्वारा दिये गये आदेश की चर्चा की है। पूरा ग्रन्थ केवल सात कांडों में नहीं, अपितु उन्तालीस प्रकाशों मे विभक्त है। आरम्भ में गणेश, सरस्वती और राम की वन्दना की गयी है तथा अपने वंश, रचना-काल, काव्य-प्रयोजन आदि का निर्देश किया गया है। सारा ग्रन्थ दो भागों—पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध—में विभक्त है। प्रथम भाग में २० प्रकाश हैं जिनमें राम के बचपन से लेकर रावण-वध तक की घटनाएँ वर्णित है, जब कि द्वितीय भाग में राम-भरत-मिलाप, तिलकोत्सव, राम-राज्य-वर्णन, शम्बूक-वध लवणासुर-वध, लव-लक्ष्मण-युद्ध, राम-सीता मिलन आदि का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त उत्तरार्द्ध में राम के राज्य-वैभव एवं राजसी जीवन का चित्रण भी विस्तार से किया गया है। डा० विजयपाल सिंह के अध्ययन के अनुसार 'केशवदासजी ने पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में अधिक मौलिकता का परिचय दिया है।'

पूर्ववर्ती आलोचकों ने 'रामचन्द्रिका' पर अनेक आक्षेप आरोपित किये गये है, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) प्रबन्ध-पटुता एवं सम्बन्ध-निर्वाह की क्षमता केशव मे नहीं थी जिससे 'रामचंद्रिका' अलग-अलग लिखे हुए वर्णनों के संग्रह-सी जान पड़ती है। (२) कथा के मार्मिक एवं गम्भीर स्थलों की पहचान 'रामचंद्रिका' के रचयिता को नहीं थी। वैसे स्थलों को या तो छोड़ गये हैं या यों ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर देते है। (३) दृश्यों की स्थानगत विशेषता इसमें नही मिलती। इन आक्षेपों के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निष्कर्ष है : "सारांश यह कि प्रबन्ध-काव्य-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। परम्परा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे, युद्ध, सेना-तैयारी, उपवन, राजदरबार के ठाट-बाट तथा शृङ्गार और वीर रस) फुटकल वर्णन ही अलंकारों की भरमार के साथ वे करना जानते थे। इसी से बहुत से वर्णन यों ही, बिना अवसर का विचार किए, वे भरते गये हैं। वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न

कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। रामचंद्रिका के लम्बे और चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाठ-बाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन मे ही विशेषतः लगता था।"

इसमे कोई सन्देह नहीं कि केशवदास को प्रबन्धत्व की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' में अधिक सफलता नहीं मिली है, तथा आचार्य शुक्ल के अनेक आक्षेप सर्वथा यथार्थ है। किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने केशव के दृष्टिकोण, लक्ष्य एवं वातावरण को समझने का प्रयास भी बहुत गम्भीरता से नही किया, अन्यथा यह स्पष्ट हो जाता कि केशवदास जिस लक्ष्य एवं वातावरण से प्रेरित थे, उसमे यही सम्भव था; जैसा कि डा० विजयपाल सिंह ने उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर देते हुए अपने शोध प्रबन्ध मे स्पष्ट किया है, "केशवदास तुलसी की भाँति भक्त और धार्मिक कवि नहीं थे, अपितु दरबारी कवि थे, अतः दोनों को एक ही कसौटी से परखना उचित नही। केशव कोर्ट के कवि थे, भला कुटिया के पैमाने से कोर्ट को कैसे नापा जा सकता है? केशव के मार्मिक स्थल कोर्ट के थे और उनमें उन्हे पूर्ण सफलता मिली है। कुटिया और कोर्ट में सदैव न अन्तर चला आया है और सदैव रहेगा। अतः तुलसी के मापदण्ड द्वारा केशव की कटु आलोचना करना महान् कवि के साथ अन्याय करना है।"

सत्रहवीं शती के आरम्भिक कवियों मे **प्राणचंद चौहान** का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने सन् १६१० ई० (१६६७ वि०) मे 'रामायण महानाटक' की रचना की थी। वस्तुतः यह नाटक न होकर पद्यबद्ध संवादों के रूप मे रचित प्रबन्ध-काव्य ही है। उदाहरण के लिए इसकी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—

श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना।
देखै सब पै आहि न आँखी। अंधकार चोरी के साखी॥

इसी प्रकार हृदयराम भल्ला का 'हनुमन्नाटक' (१६२३ ई०) भी वस्तुतः नाटक न होकर १४ अंकों में विभक्त प्रबन्ध-काव्य ही है। इसका मूलाधार संस्कृत का 'हनुमन्नाटक' होने के कारण ही इसे यह संज्ञा दी गई है, अन्यथा कवि ने इसे दूसरा नाम 'रामचंद्र गीत' भी दिया है। श्री चन्द्रकान्त बाली ने अपने 'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस काव्य का विस्तृत परिचय प्रस्तुत करते हुए इसके सम्बन्ध में अनेक नये तथ्यों पर प्रकाश डाला है। श्री बाली के अनुसार हृदयराम पंजाबी थे, तथा उनके 'हनुमन्नाटक' को गुरु गोविन्दसिंह सदा अपने पास रखते थे, इससे सिक्खों में भी इसका बड़ा सम्मान है। पूरा ग्रन्थ लगभग डेढ़ हजार छन्दों में समाप्त हुआ है। यद्यपि इसमें संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' की पूरी छाया ग्रहण की गई है, किन्तु यह मौलिकता से भी शून्य नहीं है। इसमें हनुमान का चरित नहीं, अपितु राम का जीवन-वृत्त जानकी स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक प्रस्तुत किया गया है, इस दृष्टि से इसे 'रामचन्द्र गीत' कहना ही अधिक उचित होगा।

हृदयराम के अतिरिक्त भी पंजाब के अनेक कवियों ने हिन्दी में राम सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है, जिनमें कुछ ये हैं—(१) **गुरु गोविंदसिंह** कृत 'रामावतार'

(१७४५ वि०), (२) **सोढ़ी मिहरवान** कृत 'रामायण' (१७४० वि०), (३) **कृष्णलाल** कृत 'रामचरित' (१८८४ वि०), (४) **गुलाबसिंह** कृत 'अध्यात्म रामायण' (१८४६ वि०), (५) **हरिसिंह** कृत 'अध्यात्म रामायण' (१९वीं शती), (६) **कोरतसिंह** कृत 'कीरत रामायण' (१९१७ वि०), (७) **सतोषसिंह** कृत 'वाल्मीकि रामायण' (१८९४ वि०), (८) **निहाल कवि** कृत 'रामचन्द्रोदय' (१९०२ वि०), (९) **रत्नहरि** कृत 'ललित ललाम' (१९१७ वि०), (१०) **वीरसिंह** कृत 'सुधासिंधु रामायण' (१९०९ वि०)।

अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में 'अद्भुत रामायण' संज्ञक अनेक रचनाएँ लिखी गई थीं, जिनके रचयिताओं में **शिवप्रसाद** (रचना-काल १७७३ ई०), **बेनीराम** (१४वीं शती), **भवानीलाल** (१८०० ई०) और **नवलसिंह** (१८३४ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। इसमें सीता की एक काल्पनिक एवं अद्भुत कथा को प्रस्तुत किया गया है जिसमें रावण का वध राम के द्वारा न दिखाकर सीता के द्वारा दिखाया गया है। काव्यत्व की दृष्टि से साधारण कोटि की यह रचना है।

सीता सम्बन्धी काव्य—सीता या जानकी के विवाह, अपहरण आदि प्रसंगों को लेकर इस काल में अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गये जिनमें ये उपलब्ध हैं—(१) गोस्वामी **तुलसीदास** : 'जानकी मंगल' (१६वीं शती), (२) **कर्मण** : 'सीताहरण', (१५४८ ई०), (३) **मंडन** : 'जानकी जू को विवाह', (१६५९ ई०), (४) **प्रसिद्ध कवि** : जानकी विजय (१७५६ ई०), (५) **मून** : सीताराम विवाह; (१८०३ ई०), (६) **प्रियादास** महाराजा : 'सीता मंगल', (१८१७ ई०), (७) **नवलसिंह कायस्थ** : 'सीता स्वयंवर' (१८३१ ई०), (८) **बलदेवदास** : 'जानकी विजय', (१८३४ ई०)। वस्तुतः इस प्रकार के काव्यों की परम्परा का प्रवर्त्तन गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा 'रुक्मिणी मंगल', 'रुक्मिणी विवाह' जैसे कृष्ण सम्बन्धी काव्यों की प्रेरणा या प्रतिद्वन्द्विता से हुआ। तुलसीदास ने अपने काव्य के लिये वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव आदि संस्कृत काव्यों को आधार बनाया, जबकि परवर्ती कवियों ने सामान्यतः तुलसीदास का ही अनुकरण किया है।

प्रमुख विशेषताएँ एवं महत्त्व

प्रस्तुत काव्य-परम्परा से सम्बद्ध बहु-संख्यक कवि धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी धार्मिक भावनाओं एवं अनुभूतियों की प्रेरणा से काव्य-रचना की। इस युग की कतिपय अन्य धर्माश्रित काव्य-परम्पराओं की भाँति यह परम्परा किसी सम्प्रदाय विशेष के आश्रय में या किसी विशेष आचार्य के निर्देशन में पोषित एवं विकसित नहीं हुई अपितु विभिन्न कवियों ने स्वतन्त्र रूप में ही आत्म-प्रेरणा से काव्य-रचना की थी। इसी तथ्य की घोषणा गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय' कहकर की है। संप्रदाय विशेष पर आश्रित न होने के कारण इन कवियों के दृष्टिकोण में साम्प्रदायिक संकीर्णता या कट्टर मतवादिता दृष्टिगोचर नहीं होती। इन्होंने धर्म के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है तथा विभिन्न सम्प्रदायों में एकता एवं समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

दृष्टिकोण की इसी व्यापकता के कारण इनके काव्य की विषय-वस्तु के क्षेत्र में भी पर्याप्त व्यापकता आ गई है। राम, कृष्ण, शिव आदि से लेकर जैन-सिख आदि विभिन्न धर्मों के महापुरुषों को इनके काव्य में स्थान मिला है। जनता की धार्मिक चित्तवृत्ति को जागृत रखने के लिए उन्होंने अवतारों, महापुरुषों एवं भक्तों के आदर्श चरित का गान श्रद्धापूर्ण शब्दों में किया है जिससे पाठकों के हृदय में सच्ची भक्ति का उद्‌बोधन होता है। इन्होंने भक्ति के नाम पर श्रद्धाशून्य रति भावना या कोरी रसिकता का प्रतिपादन नहीं किया, अपितु उसमें श्रद्धामिश्रित अनुरक्ति का चित्रण किया है, जिसे हम भक्ति का वास्तविक रूप मान सकते हैं। धर्म के नाम पर होनेवाले विभिन्न कृत्रिम प्रयोगों, खण्डन-मण्डन एवं बाह्य-प्रदर्शनों से भी ये दूर हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने धर्म के विभिन्न रूपों, उपासना के विभिन्न भेदों एवं भक्ति की विभिन्न पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इस समन्वयवादिता का सर्वोत्कृष्ट रूप इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास में देखा जा सकता है।

अब तक प्रायः यह भ्रान्ति प्रचलित रही है कि मध्यकाल में कृष्ण-भक्त कवियों ने गीति शैली का प्रयोग किया है तथा प्रबन्ध-शैली का प्रयोग केवल राम-भक्त कवियों द्वारा हुआ है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है।

प्रस्तुत काव्य-परम्परा में भावना की गम्भीरता एवं विविधता तथा शैली की बहुरूपता भी दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इनके काव्य का मूल भाव सामान्यतः भक्ति-भाव ही है, किन्तु इनके अन्तर्गत चरित-नायक की परिस्थिति के अनुरूप शृङ्गार, वीर, रौद्र, भयानक, अद्‌भुत आदि की भी व्यंजना सफल रूप से हुई है।

काव्य-रूप की दृष्टि से इस परम्परा के सभी काव्यों को 'प्रबन्ध' कहा जा सकता है, किन्तु इन सभी का रूप, विस्तार एवं विधान एक जैसा नहीं है। कुछ अत्यन्त संक्षिप्त हैं तो कुछ विस्तृत। कुछ में सर्ग-पद्धति मिलती है तो कुछ में उसका अभाव है। छन्दों की दृष्टि से प्रारम्भ में दोहा-चौपाई शैली का प्रचलन अधिक रहा, किन्तु आगे चलकर छन्द वैविध्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

वस्तुतः यह परम्परा ग्रंथों की संख्या, विषय-क्षेत्र की व्यापकता, भावनाओं की विविधता एवं शैली की बहुरूपता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। न केवल काव्य-संख्या एवं स्थूल परिमाण की दृष्टि से अपितु काव्य-स्तर की उच्चता एवं काव्य-सौष्ठव के विकास की दृष्टि से भी यह परम्परा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। तुलसीदास जैसा महाकवि इस काव्य-परम्परा के उच्च गौरव को सूचित करता है। इस परम्परा के कवियों ने धर्म और समाज के क्षेत्र में अपने व्यापक समन्वयवादी दृष्टिकोण, महापुरुषों के आदर्श चरित एवं भक्ति के व्यापक रूप की स्थापना करके एक ओर धर्म-रक्षा, लोकहित एवं समाज के उत्थान में योग दिया है, तो दूसरी ओर काव्य का उदात्त, उत्कृष्ट एवं लोक मंगलकारी रूप प्रदान करने का स्तुत्य कार्य किया है। अतः प्रत्येक दृष्टि से इस परम्परा का हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

: अट्ठाईस :

कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा : विकास और प्रवृत्तियाँ

१. कृष्ण की ऐतिहासिकता
२. कृष्ण-भक्ति का विकास।
३. दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि।
४. प्रमुख कवि और उनका काव्य।
५. सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) राधा-कृष्ण की लीलाओं का चित्रण, (ख) भक्ति-भावना, (ग) वात्सल्य रस की व्यंजना, (घ) श्रृङ्गार-वर्णन, (ङ) गीति शैली, (च) ब्रज-भाषा का प्रयोग।
६. उपसंहार।

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में विभिन्न मत प्रचलित हैं—कुछ उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं, कुछ अर्द्ध-ऐतिहासिक और कुछ कोरा काल्पनिक। कुछ पाश्चात्य विद्वान् 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्राइस्ट' से सिद्ध करते हुए उसे ईसाइयत से सम्बन्धित करना चाहते हैं, किन्तु यह मत कोरी कल्पना पर आधारित है। कृष्ण (आंगिरस) का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद (१।११६, ७।१, ८।८५ आदि) में मिलता है, जिनके अनुसार ये एक स्तोता ऋषि सिद्ध होते हैं। ये अपने पौत्र विष्णापु के पुनर्जीवन के लिए अश्विनीकुमारों का आह्वान करते हैं। आगे चलकर 'छांदोग्य उपनिषद्' में भी कृष्ण का उल्लेख देवकी के पुत्र, घोर आंगिरस के शिष्य एवं एक वैदिक ऋषि के रूप में उपलब्ध होता है। महाभारत के प्रारम्भिक अंशों में कृष्ण पांडवों के सखा एवं प्रभावशाली राजनीतिज्ञ के रूप में तथा अन्तिम अंशों मे विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित हुए हैं। 'सभा पर्व' में शिशुपाल के कुछ शब्दों के अतिरिक्त महाभारत में कृष्ण के गोप-जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। परवर्ती पुराणों—हरिवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत, ब्रह्म-वैवर्त्त आदि में उनकी बाल्यावस्था सम्बन्धी आख्यानों व गोप-जीवन सम्बन्धी क्रीड़ाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण की रास-लीला एवं गोपियों के प्रेम का विस्तृत रूप में निरूपण लगभग नवीं शताब्दी में रचित भागवत पुराण में हुआ है। इसमें कृष्ण की एक विशेष 'आराधिका' गोप-बाला का भी उल्लेख हुआ है, जो आगे ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में गोपियों में सर्वाधिक प्रभावशालिनी राधिका के रूप में चित्रित हुई है। इस प्रकार वैदिक और संस्कृत साहित्य में कृष्ण के तीन रूप मिलते हैं—(१) ऋषि एवं धर्मोपदेशक का, (२) नीतिकुशल क्षत्रिय नरेश का और (३) बाल और किशोर रूप में विभिन्न प्रकार की अलौकिक एवं लौकिक लीलाएँ दिखानेवाले अवतारी पुरुष का। प्रथम रूप का पूर्ण विकास गीता में, दूसरे का

का महाभारत में और तीसरे का पुराणों में मिलता है। वस्तुतः कृष्ण के ये तीनों रूप भागवत-धर्म की तीन अवस्थाओं के द्योतक हैं। प्रारम्भ में भागवत धर्म में सरल और पवित्र भावपूर्ण उपासना की प्रधानता थी, जिसका प्रतिपादन छांदोग्य उपनिषद् एवं गीता के कृष्ण द्वारा हुआ है। महाभारत युग में भागवत धर्म भावना-प्रधान होते हुए भी कर्म का विरोधी नहीं था, अतः उसमें कृष्ण की कर्मशीलता का चित्रण होना स्वाभाविक है। सम्भवतः महाभारत में चित्रित व्यक्तित्व कृष्ण का मूल ऐतिहासिक रूप है, जो परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे परिवर्तित, विकसित एवं विकृत होता रहा। पौराणिक युग में भागवत धर्म भी बौद्ध, जैन, शैव, महायान, वज्रयान आदि की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कामुकता व विलासिता सम्बन्धी तत्वों से परिपूर्ण हो गया जिससे कि वह जन-साधारण के आकर्षण का केन्द्र बन सके। जैन एवं बौद्ध मतावलम्बियों ने अपने धार्मिक आख्यानों में प्रेमतत्व को किसी न किसी रूप में स्थान दिया है, अतः उनकी प्रतिस्पर्धा में गोपियों एवं कृष्ण के प्रणय सम्बन्धी इतिवृत्त की कल्पना हुई। डा० भण्डारकर गोपाल-कृष्ण को वासुदेव-कृष्ण से भिन्न मानते हैं, किन्तु उनका मत भ्रामक सिद्ध हो चुका है। डा० ए० डी० पुसाल्कर ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि कृष्ण ने गोकुल में गोपियों के साथ सामूहिक नृत्यगानादि में भाग लिया था, जो उनके कला-प्रेम का द्योतक है। आगे चलकर इसी को प्रणय-क्रीड़ा का रूप दे दिया गया। अतः मूलतः गोकुल के कृष्ण के चरित्र में कोई ऐसा दोष नही मिलता, जिससे उनकी सत्ता महाभारतीय कृष्ण या गीता-कार कृष्ण से भिन्न मानी जाए।

कृष्ण-भक्ति का विकास

सम्भवतः महाभारत की सफल क्रान्ति के पश्चात् वासुदेव कृष्ण अपने जीवन काल में ही अपने समाज के लोगों के द्वारा पूजे जाने लगे थे। महाभारत में स्थान-स्थान पर युधिष्ठिर और अर्जुन किस प्रकार उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उच्च आदर्शों व धार्मिक विषयों पर उनसे परामर्श ग्रहण करते हैं, उससे सिद्ध हो जाता है कि कृष्ण का प्रभाव एक राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं, धर्मात्मा और तपस्वी के रूप में भी था। विभिन्न अवसरों पर वेदव्यास जैसे ऋषि भी कृष्ण को अपने से अधिक धर्म-धुरन्धर स्वीकार करते हैं। अस्तु, बीसवीं शताब्दी के महात्मा गांधी की भाँति महाभारत के कृष्ण भी धर्म और राजनीति-दोनों का संचालन साथ-साथ करते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु महात्मा गांधी अति बौद्धिक युग में अवतरित होने के कारण कृष्ण की भाँति अब तक अवतार घोषित नहीं हुए ; पर कौन जानता है, यदि अवतारवाद का प्रचलन रहा, तो पाँच-सात सौ वर्ष बाद वे अवतारी पुरुषों की गणना में नहीं आ जाएँगे ?

महाभारत युद्ध सामान्यतः १४०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। महा-भारत के पश्चात् ५-७ शताब्दियों तक कृष्ण की पूजा का प्रचार अधिक नहीं हो सका, किन्तु कुछ प्रदेशों एवं जातियों में अवश्य इसका प्रचलन रहा। चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व में मथुरा के आस-पास कृष्ण-पूजा के प्रचलन का उल्लेख मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण में मिलता है। आगे चलकर जब जैन और बौद्ध धर्म में क्रमशः महाबीर और गौतम

बुद्ध के चरित्र को महत्व मिला, तो भागवत धर्म के प्रचारकों ने भी राम-कृष्ण जैसे ऐतिहासिक पुरुषों को अलौकिक-शक्तिसम्पन्न घोषित करते हुए उनकी उपासना एवं भक्ति का प्रसार किया। फिर भी मौर्य युग तक बौद्ध धर्म की लोक-प्रियता के कारण कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार नहीं हो सका। किन्तु चौथी-पाँचवीं शती मे गुप्तवंशीय सम्राटों ने भागवत धर्म स्वीकार करके उसकी खूब उन्नति की। सातवीं-आठवी शताब्दी तक दक्षिण भारत में भी कृष्ण-भक्ति का प्रचार जोरों से हो गया। यहाँ के प्रसिद्ध आल-वार भक्तों मे से अनेक कृष्ण के उपासक थे। कृष्ण-भक्ति को अत्यन्त आकर्षक स्वरूप प्रदान करनेवाले भागवत पुराण की रचना भी दक्षिणी भारत में होने की बात स्वीकार की जाती है।

आठवीं-नवीं शती में शंकराचार्य एवं कुमारिल भट्ट के विचारों के प्रभाव से भक्ति-आन्दोलन अधिक तेजी से नहीं चल सका, किन्तु आगे चलकर रामानुज (११वी शती), मध्य (११६६-१३०३ ई०), निम्बार्क (१२-१३वीं शती) बल्लभ (१४७६-१५३० ई०), चैतन्य (१६वीं शती), हित-हरिवंश (१७वीं शती) आदि आचार्य एवं भक्त हुए, जिन्होंने भक्ति विरोधी सिद्धान्तों व वादों का खण्डन करके भक्ति का प्रचार किया। बारहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक इन आचार्यों के द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों की भी स्थापना हुई, जिनमें कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित निम्बार्क सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय एवं राधा वल्लभ सम्प्रदाय मुख्य है। हिन्दी में कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी काव्य की रचना मुख्यतः वल्लभ सम्प्रदाय और राधा-वल्लभ के आश्रय में हुई, अतः इन दोनों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को शुद्धाद्वैतवाद तथा इसके भक्ति-मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य तेलगू-प्रदेश के विष्णु स्वामी मतावलम्बी भक्त लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १४७६ ई० में हुआ था। इन्होंने 'अणु भाष्य', 'जैमिनीय पूर्व मीमासा-सूत्र भाष्य', 'सुबोधिनी' (भागवत पुराण पर भाष्य), 'तत्वदीप निबन्ध' और १६ अन्य लघुकाय प्रकरण ग्रंथों की रचना की, जिनमें शुद्धाद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है। आपने प्रति-पादित किया कि ब्रह्म, जीव और जगत् फलतः एक है; इन सभी में तीन तत्व व्याप्त है—सत्, चित् और आनन्द। किन्तु जहाँ ब्रह्म में ये तीनों तत्व जागृत रहते है, वहाँ जीव में दो ही तत्व—सत् और चित् तथा प्रकृति में केवल एक ही तत्व—सत्—जागृत रहता है, उनमें शेष तत्व निष्क्रिय या तिरोहित हो जाते है। अतः तात्विक दृष्टि से जड़-जगत् भी उतना ही सत्य है, जितना के ब्रह्म सत्य है, अन्तर केवल कुछ तत्वों के तिरो-हित हो जाने मात्र का है। यदि किसी प्रकार इन सुषुप्त तत्वों को जगा लिया जाय तो इनमें और ब्रह्म में कोई अन्तर न रह जायगा। अस्तु, जहाँ शंकर के अद्वैतवाद के अनु-सार जगत् मिथ्या है, वहाँ शुद्धाद्वैतवाद ऐसा नहीं मानता। इसी प्रकार माया को शुद्धा-द्वैतवाद में ब्रह्म की इच्छा शक्ति माना गया है, जो कि सृष्टि की रचना और उसका

विस्तार करती है। जगत् के प्राणी अवश्य इस शक्ति के बन्धन में बँधे हुए हैं, किन्तु स्वयं ब्रह्म इसमें लिप्त नहीं होता। जैसा कि ऊपर कहा गया, वल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति की जिस पद्धति का अपनाया गया है, वह 'पुष्टि' मार्ग कही जाती है। भागवत में 'पोषणं तदनुग्रहः' का उल्लेख एक स्थान पर हुआ है, इसी के आधार पर 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य है कि भक्त का पोषण या विकास ईश्वर की अनुकम्पा से ही होता है, अतः हमें ईश्वर के अनुग्रह में विश्वास रखना चाहिए। भगवान् जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही अवतार धारण करते है। उनका यह अनुग्रह भी उनकी एक लीलामात्र है। सभी जीव ईश्वर के अनुग्रह या पोषण के अधिकारी नहीं बन सकते। आचार्यजी ने जीवों के मुख्यतः दो भेद किए है—दैवी और आसुरी। दैवी जीव के भी दो भेद किए गए है—पुष्टि जीव और मर्यादा जीव। पुष्टि जीव ईश्वर के अनुग्रह में विश्वास रखते है, जबकि मर्यादा जीव कर्म और ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। पुष्टि जीव ही ईश्वर की अनुकम्पा प्रेम-लक्षणा भक्ति के द्वारा प्राप्त करने में समर्थ होते है। वस्तुतः पुष्टि मार्ग में रागानुगा-भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय मे प्रारम्भ मे बाल-कृष्ण की उपासना को प्रमुखता दी गई, किन्तु आगे चलकर माधुर्य भाव की प्रधानता के कारण बाल-कृष्ण के स्थान पर राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा हो गई।

वल्लभाचार्यजी ने अपने मत के प्रचार के लिए सन् १५०० ई० में ब्रज-प्रदेश में गोवर्द्धन पहाड़ी पर श्रीनाथजी की मूर्ति स्थापित की। आगे चलकर उन्नीस-बीस वर्ष पश्चात् एक श्रद्धालु भक्त की सहायता से यहाँ एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो गया तथा अधिकारी कृष्णदास जैसे प्रबन्ध-कुशल व्यक्ति को इसके प्रबन्ध का काय सौप दिया गया, दूसरी ओर कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्द जैसे भक्त कवियों को लीला-गान के निमित्त आश्रय दिया गया। सं० १५८७ वि० में श्री वल्लभाचार्यजी के तिरोधान के अनन्तर अधिकारी कृष्णदास ने मन्दिर की वैभव-वृद्धि में और भी चार चाँद लगा दिये। इसका समस्त वातावरण ऐश्वर्य, रंगीनी और समाज-सज्जा से इस प्रकार अनुरजित हो गया कि बड़े-बडे धनपतियों की कोठियों का राग-रंग भी उसके समक्ष तुच्छ एवं फीका प्रतीत होने लगा। एक ओर ठाकुरजी के निमित्त आगरे की रूपवती वेश्या को आमंत्रित किया गया, दूसरी ओर रास-बिहारीजी को काम-कला और कोक का सम्यक् ज्ञान करवाने के उद्देश्य से नायिका-भेद व शृङ्गार रस सम्बन्धी ग्रंथ, जैसे 'साहित्य लहरी', 'रस मजरी', 'शृङ्गार रस मण्डन' आदि रचित करने की प्रेरणा दी गई। एक ओर तो कृष्णदासजी जैसों ने अपने आपको कृष्ण का प्रतिनिधि घोषित किया, तो दूसरी ओर भक्त पुरुष और महिलाओं को गोप-गोपियों का अभिनय करने की शिक्षा दी गई; फलतः दिन मे 'गो-चारण' और रात्रि मे रास-लीलाओं का कार्य-क्रम प्रतिदिन होने लगा। जब वल्लभाचार्य जी के उत्तराधिकारी श्री विट्ठलनाथजी ने रास-बिहार के कुछ पात्र-पात्राओं के गुप्त सम्बन्ध को शंका की दृष्टि से देखना आरम्भ किया, तो उन्हे भी निर्वासित कर दिया गया। अस्तु, पुष्टिमार्गीय-भक्ति का पुनीत दीपक अन्त में विलासिता का वह कज्जल उगलने लग गया, जिससे उसका भक्ति तत्व विकृत हो गया।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों से सम्बन्धित दूसरा प्रमुख सम्प्रदाय 'राधा-वल्लभ सम्प्रदाय' है जिसकी स्थापना गोस्वामी हित हरिवंशजी ने संवत् १६५० के लगभग वृन्दावन में की। इस सम्प्रदाय का कोई अपना दार्शनिक मतवाद नहीं है। इसके प्रामाणिक ग्रन्थ 'हित चौरासी' और 'राधा-सुधानिधि' (संस्कृत) हैं। इस साहित्य में अध्यात्म-पक्ष का विवेचन बहुत कम हुआ है, भक्ति का प्रकाशन मात्र मिलता है। इससे सम्बन्धित कवियों ने राधा-कृष्ण की कुंज-क्रीड़ा और सुख-विलास का ही चित्रण मधुर रूप में किया है। उन्होंने कर्म और ज्ञान का खण्डन स्पष्ट रूप से करते हुए भक्ति का प्रतिपादन किया है। भक्त के लिए आवश्यक है कि वह राधा-कृष्ण की नित्य-केलि के ध्यान में सतत निमग्न रहे। इस सम्प्रदाय की एक विशेषता है कि इसमें केवल संयोग-सुख की ही लीला स्वीकृत है, वियोग की भावना मान्य नहीं। भला, भक्ति के इन वैभव-पूर्ण मन्दिरों में वियोग जैसे तत्व को स्थान मिलने की कहाँ सम्भावना थी! जो माधुर्य रास-क्रीड़ाओं में उपलब्ध हो सकता है, वह वियोग-लीलाओं में कहाँ!

श्री हित हरिवंशजी ने 'हित' शब्द की व्याख्या करते हुए इसका अर्थ 'मागलिक' प्रेम किया है। जिस प्रेम में संयोग नहीं हो, वह मांगलिक कैसे हो सकता है? अतः उन्होंने इस मांगलिक प्रेम की मूर्ति के रूप में राधा-कृष्ण के युगल की स्थापना की। उनके विचार से 'राधा-कृष्ण' अभिन्न तत्व है, वे प्रेम रूप है, प्रेम के कारण भी है और कार्य भी। वे जलतरंग की भाँति एक-दूसरे में ओत-प्रोत है। हरिवंशजी ने अपना सिद्धान्त बताते हुए कहा कि सृष्टि में जो कुछ जड़-चेतन दृष्टिगोचर होता है, वह सब एक ही वस्तु 'हित' या प्रेम है। प्रेम के इस रसमय रूप के भी दो भेद किए गए है—(१) ब्रज-रस और (२) निकुज-रस। ब्रज-रस में गोपियों का उपपति प्रेम (जार-प्रेम) होता है अर्थात् इसमें परकीया-भाव से सम्बन्ध होता है। यह केवल अवतार-दशा मे प्रकट होता है, अतः इसे अनित्य माना गया है। इससे भिन्न निकुज-रस नित्य, अखंड, सदा एक-रस होता है और उसमें 'स्व' और 'पर' का कोई भेद नहीं रहता। यह केवल वृन्दावन में दृष्टिगोचर होता है, अतः इसे श्री वृन्दावन-रस भी कहते है।

इस प्रकार वल्लभ और राधा-वल्लभ—दोनों सम्प्रदायों में ही कृष्ण की माधुर्य भक्ति का प्रचार है। भक्ति का यह रूप आध्यात्मिक एवं नैतिक दृष्टि से कहाँ तक ग्राह्य था, इस सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ कहना उचित नहीं समझते। साहित्यिक दृष्टि से इनसे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि इनके केन्द्र में अनेक भक्त कवियों को आश्रय प्राप्त हुआ जिससे वे निश्चिततापूर्वक काव्य-धारा के प्रवाहण में संलग्न रहे। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में सूरदास, कुभनदास, परमानन्द दास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुज दास तथा राधावल्लभ सम्प्रदायाश्रित कवियों में दामोदरदास हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास (द्वितीय), ध्रुवदास, नेही नागरीदास, कल्याण पुजारी अनन्य अली, रसिकदास आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रमुख कवि और उनका काव्य

कृष्ण-भक्त कवियों में सबसे ऊँचा स्थान महाकवि सूरदास का है। इनके जन्म,

वंश, निवास स्थान आदि के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित बात नहीं मिलती, किन्तु विभिन्न विद्वानों ने इनका जन्म सारस्वत ब्राह्मण-कुल तथा सीही ग्राम में वैशाख शुक्ला पंचमी मंगलवार सं० १५३५ वि० को माना है। ये जन्म से अंधे थे या बाद में चक्षुहीन हुए—इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद मिलता है। हमारे विचार से इनका बाद में दृष्टि-हीन होना मानना ही उचित है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में सूर-सागर, साहित्य-लहरी और सूर-सारावली उल्लेखनीय हैं। 'सूर-सागर' में भागवत के आधार पर कृष्ण की लीलाओं का गान किया गया है। किन्तु इसमें उनके बाल एवं किशोर जीवन को अत्यधिक विस्तार दिया गया है। इसी कारण उसमें वात्सल्य एवं शृङ्गार की प्रमुखता है। 'सूर-सारावली' भी विषय-वस्तु एवं शैली की दृष्टि से सूर-सागर से अभिन्न है। 'साहित्य-लहरी' में शृङ्गार-रस एवं नायिका भेद का प्रतिपादन शास्त्रीय आधार पर किया गया है, अतः इसे कुछ विद्वानों ने अप्रामाणिक माना था, उन्हे विश्वास नहीं हो सका कि सूरदास जैसा भक्त भी इस अश्लील विषय में प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु अब इस बात के अनेक प्रमाण मिल गये हैं जिनके आधार पर यह सूर द्वारा रचित सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः यह रचना सूर जी की आत्म-प्रेरणा से रचित नहीं, अपितु 'नन्दनन्दन दास हित' रचित है। सूरदासजी ने अपने काव्य में मुख्यतः गीत-शैली का प्रयोग किया है।

श्री विट्ठलदासजी द्वारा संगठित वल्लभ-सम्प्रदाय के आठ प्रमुख कवियों की 'अष्ट-छाप' सूरदासजी के अनन्तर दूसरे कवि **कुम्भनदास** थे। आयु की दृष्टि से ये अष्टछाप के कवियों में सबसे बड़े थे। ये घर-गृहस्थी का पालन करते हुए भक्ति भावना में लीन थे। एक बार इनकी प्रसिद्धि सुनकर सम्राट अकबर ने इन्हे फतेहपुर सीकरी आमन्त्रित किया। वहाँ इन्होंने उपेक्षापूर्वक एक गीत गाया, जिससे इनकी निस्पृहता का परिचय मिलता है :

> **संतन को कहा सीकरी सों काम।**
> **आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरि नाम।**
> **जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परो सलाम।**
> **'कुंभनदास' लाल गिरधर बिनु और सबै बे काम॥**

कुभनदास द्वारा रचित कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु दो सौ के लगभग पद कांकरौली के विद्या-विभाग में संगृहीत है। इन पदों के अवलोकन से इनकी भाव-प्रवणता एवं रसिकता का परिचय मिलता है। अष्टछाप के तीसरे बड़े कवि **परमानन्द दास** थे जिन्होंने 'परमानन्द सागर', 'परमानन्द दास को पद', 'दानलीला', 'उद्धव-लीला', 'ध्रूव-चरित्र', 'संस्कृत-रत्न-माला' आदि ग्रन्थों की रचना की। 'परमानन्द सागर' में इनके लगभग दो हजार पद संगृहीत हैं, जो काव्यत्व की दृष्टि से सूर सागर के पदों से भी बढ़कर बताए गए है, यद्यपि इस कथन में अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है। **कृष्ण-दास**, **गोविन्द स्वामी**, **छीत स्वामी; चतुर्भुजदास** आदि कवियों को भी अष्टछाप में स्थान प्राप्त था, किन्तु इनमें सूरदास की सी काव्य प्रतिभा का अभाव था। विषय और शैली की दृष्टि से उन्होंने सूरदास का ही अनुसरण किया। 'अष्टछाप' में नन्ददास का नाम सबसे

बाद में लिया जाता है। किन्तु कवित्व की दृष्टि से उनका स्थान सूरदास को छोड़कर सबसे ऊँचा है। उन्होंने फुटकल पदों के अतिरिक्त भ्रमर-गीत, रूप-मंजरी, रस-मंजरी, रास-पंचाध्यायी, विरह-मंजरी आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। भ्रमर-गीत सूरदास के ही भ्रमर-गीत-प्रसंग की प्रेरणा से लिखा गया है जिसका प्रमुख उद्देश्य प्रेम की ज्ञान पर विजय दिखाना है। सूरदास ने भी ऐसा किया है, गोपियों के प्रेम-विभोर हृदय में ज्ञान के एक अंश का भी प्रवेश नही हो पाता और इस प्रकार शुष्क ज्ञान की निरर्थकता सिद्ध हो जाती है। नन्ददास ने इससे भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते हुए शुष्क तर्कों के द्वारा ज्ञान से प्रेम की महत्ता सिद्ध की है। इससे नन्ददास दर्शन के क्षेत्र में तो सूरदास से अधिक ज्ञाता सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वे सूरदास की सी भाव-प्रवणता से शून्य दिखाई पडते है। 'रूप-मंजरी' की रचना, दोहे, चौपाइयों की आख्यान-शैली मे की गई है जिसमें किसी विवाहिता स्त्री का कृष्ण के प्रति प्रेम चित्रित करते हुए 'उपपति रस' का समर्थन किया है। ठीक ही है, जब पुरुषों के लिए 'परकीया भाव' जैसे प्रेम का आविष्कार हो चुका था तो नारी के लिए भी 'उपपति रस' की स्थापना आवश्यक थी। 'व्यभिचार' या 'जार भाव' जैसे शब्द को नया रूप देने के लिए इस पवित्र शब्द की कल्पना भागवतकार नहीं कर पाये थे, किन्तु नन्ददास ने ऐसा करके अपने भक्ति-शास्त्र के ज्ञान और प्रेम-क्षेत्र के अनुभव का अच्छा परिचय दिया है। कहते हैं कि पुष्टिमार्ग में आने से पूर्व भी नन्ददास किसी सेठ की युवा पुत्र-वधू को अपने इस 'उपपति रस' की दीक्षा दे चुके थे। खैर, हम सांसारिक लोग उनके इस 'उपपति रस' के रहस्य को क्या समझें।

'रस-मंजरी' में नन्ददासजी ने नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण करते हुए नारी-चेष्टाओं, उनके हाव-भावादि का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। हमारे कुछ विद्वानों ने इसे भी भक्ति-रस से लबालब बताया है, किन्तु यदि यह न बताया जाय कि यह रचना नन्ददास की है तो इसे किसी घोर शृङ्गारी की रचित मानने की धारणा बन सकती है। 'विरह-मंजरी' में भी विरह के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद किये गये है। 'नाम-मंजरी', 'अनेकार्थ माला' आदि रचनाएँ शब्द-ज्ञान के प्रदर्शन के निमित्त रचित है। 'रास-पंचाध्यायी' में भागवत के पाँच अध्यायों का अनुवाद किया गया है। वस्तुतः काव्य क्षेत्र की व्यापकता एवं प्रयुक्त शैलियों की विविधता की दृष्टि से नन्ददास का महत्व अष्टछाप मे सर्वाधिक है। फिर भी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति उनमें कम मिलती है, शुष्क सिद्धान्तों का निरूपण कर देना ही किसी कवि को भक्त सिद्ध नहीं कर देता। वास्तविकता तो यह है कि उसमे भक्ति की अपेक्षा शृङ्गार की अनुभूति अधिक मिलती है।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों में **श्री हित-हरिवंश** द्वारा रचित 'हित चौरासी' बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि स्नातक जी के शब्दों में—"संस्कृत की तत्सम पदावली को ब्रजभाषा के प्रवाह मे ढालने की कला में हरिवंशजी को अद्भुत क्षमता प्राप्त थी"—किन्तु सच्चे कवित्व के लिए इतनी-सी कला से ही काम नहीं चलता, उसके लिए हृदय को वह भावधारा भी अपेक्षित है, जो इस पदावली के शुष्क शरीर में प्राणों का भी संचार कर पाती। हित हरिवंशजी ही क्या, इनके सम्प्रदाय के अधिकांश कवियों में हमें

इस भावानुभूति का अभाव परिलक्षित होता है। राधा-कृष्ण की संयोग-क्रीड़ाओं के निरूपण में ही लीन रहने के कारण इनकी पदावलियों में स्थूल-क्रियाओं का ही चित्रण हुआ है; हृदय की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का निरूपण नहीं हुआ।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों में राजस्थान की प्रसिद्ध कवयित्री 'मीरा' और 'वेलिक्रिसन-रुक्मिणी री' के रचयिता पृथ्वीराज राठौर का भी नाम उल्लेखनीय है। इनका सम्बन्ध उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों से नहीं था, किन्तु इनमें भक्ति का सच्चा आवेश मिलता है। काल-क्रम की दृष्टि से भी इनका आविर्भाव उपर्युक्त कृष्ण-भक्त कवियों के प्रारम्भिक युग मे हुआ।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त कवियों के काव्य में निम्नांकित सामान्य प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) **राधा-कृष्ण की लीलाओं का चित्रण**—इस काव्य धारा के कवियों का मुख्य विषय राधा-कृष्ण की लीलाएँ हैं। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, भारतीय काव्य मे महाभारत से ही कृष्ण के चरित्र को साहित्य में स्थान प्राप्त हो गया था तथा परवर्ती संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्य में भी उनके जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा गया है, किन्तु उनमें उनके लोक-रक्षक रूप को ही प्रमुखता प्राप्त है। श्रीमद्-भागवत पहला ग्रन्थ कहा जा सकता है; जिसमें कृष्ण के लोकरंजक रूप को विस्तार से प्रस्तुत करते हुए उनकी बाल-लीलाओं एवं रास-क्रीड़ाओं को साहित्यिक शैली में चित्रित किया गया है। इतना ही नहीं, इस ग्रंथ में कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध के औचित्य के प्रश्न पर भी विचार किया गया है। परीक्षित के पूछने पर भागवतकार इस समस्या का समाधान करते हुए यह स्वीकार करते है कि गोपियों के प्रेम में वासना का पुट था, नैतिक दृष्टि से उनका यह सम्बन्ध समाज की मर्यादा के विरुद्ध था, किन्तु कृष्ण अलौकिक ब्रह्म के अवतार थे. अतः उन्हे दोष नही लगा। हिन्दी के प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत से ही सामग्री ग्रहण की है किन्तु फिर भी उनके दृष्टिकोण मे भागवतकार के दृष्टिकोण से थोड़ा अन्तर है। जहाँ भागवत के कृष्ण स्वयं गोपियों से निर्लिप्त रहते हैं, वे गोपियों की बार-बार प्रार्थना के ही कारण उनमें प्रवृत्त होते हैं, वहाँ हिन्दी कवियों के नायकराज एक रसिक छैला की भाँति स्वयं गोप-बालाओं की ओर उन्मुख होते है और अपनी विभिन्न चेष्टाओं द्वारा उनके हृदय को जीत लेते है। दूसरे, भागवत मे कृष्ण कहीं भी अपने ब्रह्मरूप को भुला नहीं पाते। वे प्रारम्भ से अन्त तक पाठक के लिए अलौकिक ही बने रहते है, जबकि हिन्दी कवियों के कृष्ण की अलौकिकता का आभास बहुत कम स्थलों पर होता है, वे एक सामान्य बालक व किशोर के रूप में उपस्थित होकर लौकिकता से आवृत्त हो जाते है। भागवत में राधा-सम्बन्धी इतिवृत्त का भी अभाव है, जबकि सूरदास जैसे कवियों ने राधा के बचपन, उनकी युवावस्था आदि की अनेक घटनाओं को कल्पित करके उसे एक सजीव व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। गोपियों के प्रेम की पवित्रता भी भागवत में निष्कलंक नहीं रहती, कृष्ण की अनुपस्थिति में बलराम मदिरा पीकर उनके साथ विहार करते है; किन्तु हिन्दी-

काव्य में वे सर्वत्र एकोन्मुख दिखाई गई हैं। वस्तुतः कृष्ण के चरित्र की रूप रेखाओं में हिन्दी कवियों ने नया रंग भरकर उसे अधिक आकर्षक एवं मधुर बना दिया है। अपने युग एवं समाज के वातावरण के अनुसार इन कवियों ने अनेक नवीन प्रसंगों की भी उद्भावना की है जो रस-सृष्टि में सहायक सिद्ध होते हैं।

(२) **भक्ति-भावना**—यद्यपि हिन्दी में इस धारा के कवियों से भी पूर्व कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य कुछ कवियों द्वारा लिखा गया था, जिनमें विद्यापति उल्लेखनीय हैं, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हम कृष्ण-भक्ति काव्य धारा का आरम्भ विद्यापति से ही क्यों न मान लें ? आधुनिक युग में भी प्रिय-प्रवास, द्वापर आदि काव्यों में कृष्ण-चरित का अंकन किया गया है, अतः यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस धारा के प्रवाह में इन आधुनिक कवियों को भी सम्मिलित करना कहाँ तक उचित होगा ? वस्तुतः इन दोनों प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने के लिए हमें इस काव्य की दूसरी सामान्य प्रवृत्ति—भक्ति भावना पर ध्यान देना आवश्यक होगा। भक्ति दो तत्त्वों—श्रद्धा और प्रेम के मिश्रण का नाम है। विद्यापति के दृष्टिकोण में प्रणय का स्फुरण तो है किन्तु श्रद्धा का उन्मेष नहीं मिलता, दूसरी ओर 'द्वापर', 'प्रिय-प्रवास' आदि के रचयिताओं में शुष्क श्रद्धा मात्र है, प्रेम नहीं; अतः इन दोनों ही कोटि के कवियों को हम कृष्ण-भक्ति काव्य-धारा के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं कर सकते।

कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए विभिन्न विद्वानों ने उसे रागानुगा, प्रेम-लक्षणा, वात्सल्य-भाव, माधुर्य-भाव आदि विशेषणों से युक्त किया है। यद्यपि स्वयं मध्यकालीन आचार्यों ने भक्ति के इस प्रकार के भेदोपभेद किए हैं, किन्तु हम इन सबको अनावश्यक एवं निरर्थक मानते हैं। भक्ति में प्रेम-तत्त्व की स्थिति अनिवार्य होती है, अन्यथा वह भक्ति न रहकर कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना मात्र रह जायगी, अतः इससे पूर्व 'रागानुगा' या 'प्रेमलक्षणा' जैसे विशेषणों का प्रयोग करना बिल्कुल अनावश्यक है। इसी प्रकार वैधी-भक्ति में भी प्रेम-तत्व आवश्यक रहता है तथा रागानुगा, में विधि-विधानों का सर्वथा अभाव नहीं रहता। उदाहरण के लिए पुष्टि-मार्गीय भक्ति को ले सकते हैं। इसे 'रागानुगा' कहा जा सकता है किन्तु श्रीनाथजी के मन्दिर में इतने अधिक नित्य और नैमित्तिक आचारों व उत्सवों आदि का आयोजन होता है कि उसे 'विधि-रहित' कहना उचित नहीं। यदि वैधी का तात्पर्य लोक-मर्यादा को मानने से लिया जाय तो यह बात भी कृष्ण-भक्त कवियों में मिलती है। स्वयं आचार्य जी की गद्दी की प्राप्ति के लिए लौकिक नियमों का आश्रय लिया गया था, अतः हमारी समझ में रागानुगा और वैधी का भेद व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कृष्ण-भक्त कवियों में मीरा और सूरदास को छोड़कर शेष अपनी भक्तिभावना की व्यंजना प्रत्यक्ष रूप में प्रायः नहीं की; एक भक्त की भाँति इन्होंने अपने आराध्य के प्रति सीधा आत्म-निवेदन बहुत कम किया है, वे प्रायः गोप-गोपियों के माध्यम से ही अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः वे अपने आराध्य की बाल-क्रीड़ाओं एवं रास-लीलाओं का अवलोकन करते हैं, किन्तु स्वयं उनमें सम्मिलित नहीं होते। कबीर जैसा अक्खड़ भी अपने रमैया की सेज का आनन्द लूटने में सफल हो जाता है, पर ये कवि

अपने छैल-बिहारी की क्रीड़ाओं के दृष्टा मात्र ही बने रहते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। ये भक्त थे, प्रेमी नहीं। भक्त अपने आराध्य के चरणों का सामीप्य चाहता है, उसके अस्तित्व में अपने को विलीन नहीं कर देना चाहता; वह उसके दर्शनों का भूखा है, उसमें मिलकर एक हो जाने की अभिलाषा उसमें नहीं होती। रहस्यवादियों और भक्ति की मोक्ष सम्बन्धी धारणा में भी यह अन्तर मिलता है। रहस्यवादी आत्मा और परमात्मा की एकता को मोक्ष मानता है, जबकि भक्त गोलोक में सूक्ष्म शरीर धारण करके नारायण के समीप स्थित रहना ही अपना चरम लक्ष्य—मोक्ष स्वीकार करता है।

सूरदास, कुम्भनदास, मीरा आदि प्रारम्भिक कवियों में भक्ति-भावना का जैसा उन्मेष मिलता है, वह परवर्ती कृष्ण-भक्त-कवियों—कृष्णदास, नन्ददास—आदि में नहीं मिलता। नन्ददास में तो शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति इतनी अधिक मिलती है कि उससे उसकी भक्ति की प्रवृत्ति दब-सी गई है। वस्तुतः कृष्ण-मन्दिरों के विलासितापूर्ण वातावरण के प्रभाव से धीरे-धीरे भक्ति का स्थान शृङ्गार ने ले लिया और आगे चलकर वह पूर्णतः शृङ्गारिकता में परिवर्तित हो गई।

(३) **वात्सल्य रस का चित्रण**—पुष्टिमार्ग के प्रारम्भ में बाल-कृष्ण की उपासना का प्रचार था, अतः तत्सम्बन्धी कवियों का बाल-रूप का चित्रण करना स्वाभाविक था। इस क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता महाकवि सूरदास को मिली है। उन्होंने कृष्ण के रूप में बालक की विभिन्न चेष्टाओं व क्रियाओं का चित्रण तथा उनकी उक्तियों की व्यंजना सहज स्वाभाविक ढंग से की है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीन्हों, तोहि जसुमति कब जायो!

× × ×

तू मोंहि को मारन सीखी, दाउहिं कबहुं न खीझै॥
मोहन को मुख रिस समेत लखि, सुनि-सुनि जसुमति रीझै॥

या

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।

इसी प्रकार सूरदासजी ने मातृ-हृदय की आशा-आकांक्षाओं आदि का उद्घाटन भी सफलतापूर्वक किया है। मातृ-हृदय की वेदना को जितनी गहराई से कवि सूर समझ सके हैं, उतनी कोई और नहीं समझ सका। जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो यशोदा देवकी को सन्देश भेजती हैं—

संदेसो देवकी सों कहियो!
हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो!

× × ×

माता यशोदा को आशंका है कि कहीं देवकी कृष्ण को पराया समझ कर उसकी उपेक्षा न करे, अतः वह अपने पुत्र-सुख के लिए अपने अधिकार को त्यागकर धाय बनना

भी स्वीकार कर लेती है। सच्चे स्नेह, वात्सल्य एवं प्रेम में अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) **शृंगार वर्णन**—कृष्ण और गोपियों के प्रेम-वर्णन के रूप में कृष्ण-भक्त कवियों ने पूर्ण स्वच्छन्दता से शृङ्गार रस का वर्णन किया है। कृष्ण और गोपियों का प्रेम सौन्दर्य-जन्य है, जो धीरे-धीरे साहचर्य द्वारा विकसित होता है। वृन्दावन के सुन्दर मधुर प्राकृतिक वातावरण में उनको शृङ्गार-भावना के उद्दीपन की पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में कृष्ण और गोपियों के बीच छेड़-छाड़ चलती रहती है :

तुम पै कौन दुहावे गैया ?
इत चितवत उत धार चलावत, यहै सिखायो मैया !

× × ×

तुम कमरी के ओढ़न हारे, पीताम्बर नहिं छाजत !
सूरदास कारे तन ऊपर, कारी कमरी भ्राजत।

× × ×

सूर कहा ए हमको जानै छाछहि बेचनहारी !

× × ×

यह जानत तुम नन्द महर-सुत।
धेनु दुहत तुमको हम देखति जबहि जात खरिकहिं उत।
चोरी करत रहौ पुनि जानति घर-घर ढूँढत भांडे ॥

यह प्रारम्भिक छेड-छाड़ आगे चलकर गम्भीर प्रणय-वेदना का रूप धारण कर लेती है। प्रेम की विह्वलता एवं तन्मयता का चित्रण इस धारा के कवियों ने सफलता-पूर्वक किया है। यद्यपि संयोग-पक्ष के वर्णन से कहीं-कहीं अश्लील दृश्यों का भी आयोजन किया गया है, किन्तु प्रायः इन्होंने प्रेमानुभूतियों की ही व्यंजना सूक्ष्म रूप में की है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम का अन्त निराशा एवं असफलता में होता है, अतः इनके काव्य में विरहोद्गारों की अभिव्यक्ति को भी पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त हुआ है। राधा और गोपियों द्वारा विभिन्न अवसर पर कही गई उक्तियों से उनके हृदय की गूढ़ वेदना का परिचय मिलता है—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर वज्र ते भारो, रहि कै पापी कहा कियो ॥
घोरि हलाहल सुन री सजनी, औसत तेहि न पियो !
मन सुधि गई संभारति नाहिंन, पूरो दांव अक्रूर दियो ॥
कछु न सुहाइ गई सुधि तब ते, भवन काज को नेम लियो !
निशि दिन रटत 'सूर' के प्रभु, बिनु मरिबो, तउ न जात जियो !!

गोपियों की विरह वेदना की व्यंजना को भरपूर अवकाश 'भ्रमरगीत प्रसंग' या 'उद्धव-गोपी-संवाद प्रसंग' में मिलता है। विशेषतः सूरदास ने इस प्रसंग के वर्णन में

जिस मार्मिकता का परिचय दिया है, वह अद्भुत है। गोपियों का एक-एक शब्द उनके हृदय की व्यथा, वेदना एवं पीड़ा को साकार रूप में प्रस्तुत कर देता है—

बटाऊ होहि न काके मीत।
संग रहत सिर मेलि ठगौरी, हरत अचानक चित्त!

× × ×

कहा परदेशी को पतिआरो?
प्रीति बढ़ाय चले मधुबन को, बिछुरि दियो दुःख भारो!

× × ×

अखियाँ हरिदरशन की भूखी!

× × ×

संसार के सभी असफल प्रेमी-प्रेमिकाओं की भाँति गोपियाँ भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो॥

× × ×

हम जो प्रीत करी माधौ सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनौ नैनन नीर बह्यो॥

इस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों ने प्रेम की सभी अवस्थाओं एवं भाव-दशाओं का चित्रण सफलता पूर्वक किया है। यद्यपि अन्त में नायकराज की अति रसिकता के कारण गोपियों के प्रणय की परिणति सफलता में नही हो पाती, किन्तु रस-दशा के विकास में इससे विशेष अन्तर नहीं पडता।

(५) **गीति-शैली**—इस धारा के कवियों ने मुख्यत. गीति-शैली का प्रयोग किया है।[1] विद्वानों के द्वारा गीति शैली के आवश्यक बताए गए पाँचों तत्व—(१) भावात्मकता, (२) संगीतात्मकता, (३) वैयक्तिकता, (४) संक्षिप्तता और (५) भाषा की कोमलता—इनके काव्य में उपलब्ध होते है। इन्होंने प्रत्येक पद मे किसी एक भाव दशा-विशेष को लेकर उसका सूक्ष्म निरूपण किया है। संगीत की राग-रागनियों का प्रयोग भी प्रायः सभी कवियों ने किया है। यद्यपि राधा-कृष्ण की कहानी का वर्णन होने के कारण इनमें वैयक्तिकता के लिए विशेष क्षेत्र नहीं था, फिर भी उन्होंने प्रायः गोपियों की अनुभूति की व्यंजना उनके शब्दों मे ही की है, अतः वैयक्तिकता की झलक भी उनके काव्य में मिलती है। आकार-प्रकार की दृष्टि से इनके गीत छोटे-बड़े है तथा

---

१. अब यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने केवल गीति-शैली ही अपनाई है; वस्तुतः उनके द्वारा रचित शताधिक प्रबन्ध-काव्य भी उपलब्ध हुए हैं, यहाँ तक कि इन्होंने राम-भक्त कवियों से भी अधिक प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—लेखक के 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' के अन्तर्गत 'पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा' एवं 'पौराणिक गीति परम्परा' : पृष्ठ २४४-३२०।

उनकी भाषा अत्यन्त कोमल एवं मधुर है, अतः गीतिकाव्य के अन्तिम दो तत्त्व भी इनके पदों में उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः इनके गीति-पद गीति-शैली के आदर्श हैं।

६ (१) **ब्रज भाषा का प्रयोग**—कृष्ण की जन्म-भूमि में प्रचलित भाषा के प्रति इन कवियों का अनुराग होना स्वाभाविक था। यद्यपि इनसे पूर्व साहित्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रयोग बहुत हो कम हुआ था, फिर भी उन्होंने इसका निस्संकोच प्रयोग किया। सूर-दास व नन्ददास जैसे प्रतिभाशाली कवि के हाथ में पड़कर ब्रजभाषा चमक उठी, उसका शब्द-भंडार तत्सम एवं उद्भव शब्दों के द्वारा भर गया, मुहावरों के प्रयोग से उसमें व्यंजकता और प्रवाहशीलता के गुण आ गए। उनके हृदय की भाव-भारा में प्रवाहित होकर उसमें ऐसी कोमलता, स्निग्धता, सरलता व सरसता आ गई कि वह परवर्ती कवियों के लिए सर्वगुण-सम्पन्न हो गई। १६वीं शती के उत्तरार्ध में केवल वह ब्रज की ही भाषा न रहकर समस्त उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा बन गई, जिसमें भक्त, शृङ्गारी और दरबारी—सभी प्रकार के कवियों ने काव्य रचना की। अकबर जैसे मुस्लिम सम्राटों के दरबार में भी इसने गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि बिना किसी आन्दोलन के साहित्यकार किसी भाषा की प्रतिष्ठा में किस प्रकार अभिवृद्धि कर सकते हैं।

उपसंहार

कृष्ण-भक्ति धारा के उपर्युक्त पर्यालोचन से इसका महत्त्व स्पष्ट रूप में दृष्टि-गोचर होता है। इस धारा के कवियों ने सांसारिक वातावरण से दूर मन्दिरों में रहते हुए निश्चित रूप से काव्य-साधना की। यह ठीक है कि मन्दिरों का वातावरण पर्याप्त दूषित हो चुका था, फिर भी दरबारी कवियों की भाँति उन्हें पद-पद पर आश्रयदाता को प्रसन्न करने की चिन्ता नहीं थी। इसी से वे कला की उदात्त साधना में प्रवृत्त रह सके। दूसरे, उनकी कविता का धर्म और दर्शन से सम्बन्ध होते हुए भी उसमें कबीर और तुलसी की भाँति धार्मिक प्रचार, दार्शनिक गुत्थियाँ एवं शुष्क उपदेशों का प्रति-पादन नहीं मिलता। उसमें इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा भावात्मकता का ही प्राधान्य है। संगीत के माधुर्य ने उसकी सरसता में और भी अधिक अभिवृद्धि कर दी है उसमें तत्कालीन लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब राधा-कृष्ण के लौकिक जीवन में मिलता है। उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों प्रौढ़ हैं तथा जनता के अल्प-शिक्षित व सुशिक्षित—दोनों वर्ग उसका आस्वादन कर सकते हैं। किन्तु नैतिकता, मर्यादा एवं लोकमंगल की उपेक्षा के कारण इस साहित्य का जनता के चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इनके काव्य-दीपक से आगे चलकर अश्लील शृङ्गारिकता का कज्जल उत्पन्न हुआ। रीति तत्वों का समावेश भी सूरदास एवं नन्ददास जैसे कवियों ने अपने काव्य में किया है। अतः कहा जा सकता है कि परवर्ती रीतिकाल के प्रवर्तन में इन कवियों ने प्रत्यक्ष रूप में गहरा योग दिया है।

: उन्तीस :

रीतिबद्ध काव्य और उसकी प्रवृत्तियाँ

१. रीति शब्द की व्याख्या ।
२. उद्गम स्रोत ।
३. प्रवर्त्तक कौन ?
४. प्रमुख कवि ।
५. सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) आचार्यत्व या रीति-विवेचन, (ख) शृङ्गार वर्णन, (ग) भक्ति एवं वैराग्य का मिश्रण, (घ) आश्रयदाताओं की प्रशंसा, (ङ) मुक्तक शैली, (च) ब्रजभाषा का प्रयोग ।
६. उपसंहार ।

रीति-काव्य और उसकी प्रवृत्तियाँ

'रीति' का सामान्य अर्थ 'विधि', 'प्रणाली' या 'परिपाटी' होता है, किन्तु साहित्य-शास्त्र में इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता रहा है । संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की घोषणा करते हुए इसे एक विशेष रचना-पद्धति से सम्बन्धित किया तथा इसका लक्ष्य काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति करना माना । 'रीति' को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लेने की स्थिति में उसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है; उसकी परिधि में भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष सम्बन्धी सभी सौन्दर्योत्पादक साधनों का समावेश हो जाता है, किन्तु 'काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति' के रचयिता ने इसे वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली जैसी तीन पद्धतियों तक ही सीमित कर दिया । हिन्दी के मध्य-कालीन आचार्यों एवं कवियों ने 'रीति' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए इसके अन्तर्गत रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि सभी रचना-पद्धति-सम्बन्धी नियमों एवं सिद्धान्तों को स्थान दिया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में इसे इसी व्यापक अर्थ में स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने अपना मन्तव्य कहीं स्पष्ट नहीं किया; अतः परवर्ती विद्वानों ने इसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार-शास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त-रीति', 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, संभवतः इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा है । डॉ० नगेन्द्र एवं श्री विश्वनाथप्रसाद ने भी इसी प्रकार की व्याख्या करते हुए 'रीति' शब्द को 'काव्य-रीति' का संक्षिप्त रूप बताया है । 'रीति' को 'काव्य-रीति' का ही संक्षिप्त रूप न मानकर—उसे 'रस-रीति' या 'प्रेम-रीति' का संक्षिप्त क्यों नहीं कहा जा सकता ? इन मध्यकालीन कवियों का मुख्य उद्देश्य, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है, अपने आश्रयदाताओं के हृदय में काम की पिचकारी छोड़ना था, उनकी रसिकता को

उत्तेजित करते हुए उन्हें प्रेम की विभिन्न एवं शिष्ट सुसंस्कृत पद्धतियों से परिचित कराना था; अन्यथा वे केवल शृङ्गार-रस और नायिका-भेद को ही नहीं अपनाते, काव्य के सभी अंगों एवं उपांगों का विवेचन करते। कुछ कवियों ने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी कर लिया है—

एक मिल हम सों अस-गुन्यो।
मैं नायिका-भेद नहिं सुन्यो।
जब लगि इनके भेव न जानें।
तब लग प्रेम-तत्व न पहिचानें।
बिन जाने ये भेद, प्रेम न परचे पोय।
चरन हीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय।

—रसमंजरी (नन्ददास)

सुरबानी यातें करी, नर बानी में ल्याय।
जाते मग रस-रीति को, सब तें समझो जाय।

—सुन्दर शृङ्गार (सुन्दर कवि)

बाढ़ै रति मति अति, पढ़ै जानै सब रस-रीति।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिक-प्रिया को प्रीति।

—केशवदास (रसिक-प्रिया)

उपर्युक्त अंशों के रेखांकित स्थल—प्रेमतत्व, रस-रीति आदि 'काव्य-कला' से नहीं 'काम-कला' से सम्बन्ध रखते हैं; 'रस' शब्द यहाँ रस-सिद्धान्त के लिए नहीं, अपितु 'रसिकता' के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः हमारे विचार से 'रीति' शब्द के अन्तगत—जहाँ तक मध्यकालीन काव्य का सम्बन्ध है—काव्य-रीति और रस-रीति दोनों का समावेश हो जाता है। आचार्य शुक्ल एवं परवर्ती विद्वानों ने इसे केवल प्रथम अर्थ में ही ग्रहण करके इस काव्य को सीमित कर दिया है।

अब 'काव्य-रीति' के अर्थ में 'काव्य-शास्त्र' जैसे व्यापक शब्द का प्रयोग होता है तथा 'रीति' शब्द केवल हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य की उस परम्परा-विशेष के लिए रूढ़ हो गया है, जो आचार्य शुक्ल के मतानुसार सं० १७०० में चिन्तामणि त्रिपाठी से आरम्भ होकर उन्नीसवीं शती के अन्त तक अखण्ड रूप में चलती रही है तथा जिसमें लक्षणों एवं उनके उदाहरणों के रूप मे काव्य रचना की गई है। अस्तु, प्रचलित मतानुसार हम भी 'रीति-काव्य' को रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हुए अपने विवेचन को उक्त परम्परा विशेष तक ही सीमित रखेंगे।

उद्गम-स्रोत एवं प्रेरक तत्व

रीति-काव्य के स्वरूप एवं उसकी प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय देने से पूर्व हमे अपने उद्गय-स्रोत एवं प्रेरक-तत्वों पर विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य-क्षेत्र में 'रीति-विवेचन' का कार्य भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से ही आरम्भ

हो जाता है, किन्तु फिर भी प्रारम्भिक संस्कृति युग में आचार्यत्व और कवित्व के क्षेत्र भिन्न-भिन्न थे, जबकि उत्तरकालीन संस्कृत-युग में कवि अपने आपको आचार्य और आचार्य अपने आपको कवि रूप में प्रस्तुत करने लगे।

जहाँ जयदेव ने 'विलपति रोदति वासकसज्जा' जैसे संकेतों से अपने 'गीत-गोविन्द' को आचार्यत्व की उधार ली हुई पालिश से चमत्कृत किया, तो दूसरी ओर पंडितराज जगन्नाथ ने अपने 'रस-गंगाधर' में काव्य-लक्षणों को स्वरचित उदाहरणों से सुसज्जित करके अपनी कवित्व शक्ति का परिचय देना आवश्यक समझा। अतः हिन्दी कवियों का पूर्ववर्ती संस्कृत के आचार्यों की अपेक्षा संस्कृत के परवर्ती विद्वान् कवियों का अनुकरण करना स्वाभाविक था। आचार्यत्व के स्वतन्त्र क्षेत्र का अस्तित्व समाप्त हो जाने का एक बड़ा भारी कारण मुस्लिम-साम्राज्य में संस्कृत-विद्याभ्यास को प्रश्रय न मिलना भी है, इससे विद्वत्ता के स्तर में गिरावट के साथ-साथ हमारी बौद्धिक प्रतिभा का ह्रास होने लगा। अब आचार्यत्व का लक्ष्य बने-बनाये सिद्धान्तों को रट लेना मात्र ही रह गया। मौलिक दृष्टि से विवेचन करते हुए उनका संशोधन-परिष्कार करना नहीं। जिस प्रकार अंग्रेजी राज्य में अंग्रेजी का महत्त्व सर्वाधिक रहा, उसी प्रकार मुस्लिम राज्य में फारसी का। अस्तु, भारतीय विद्यार्थी न तो पूर्वजों के ज्ञान की धरोहर को ही भली प्रकार संभाले रखने के लिए संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर पाता था और न ही विधर्मी शासकों की कृपा-दृष्टि पाने के लिए सीखी जाने वाली अरबी-फारसी का पूरा आधिपत्य कर पाता था। ऐसी परिस्थिति में स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता, निजी विचारों को आत्म विश्वासपूर्वक प्रकट करने की योग्यता एवं पुराने नियमों एवं सिद्धान्तों के विरोध के साहस का लुप्त हो जाना स्वाभाविक था।

प्राचीन हिन्दू संस्कृति में कला की अभिव्यक्ति धार्मिक जीवन के विभिन्न अंगों के रूप में होती थी, जैसे वास्तुकला की देवताओं के रूप में, मूर्ति एवं चित्रकला की ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों के चित्रण में तथा संगीत व काव्य-कला को भक्तिपरक गीतों एवं लीलाओं के गायन के माध्यम से। अतः कला धर्म से भिन्न होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने में सफल नहीं हो सकी। हिन्दी के भक्ति-काल में भी कला को पराजित पृथ्वी-पतियों के दुर्गों की चार-दीवारी में से निकलकर मंदिरों की शरण में जाना पड़ा। किन्तु हमारे उत्तर-मध्य-युग (रीति युग) में पुनः परिस्थितियों व वातावरण में परिवर्तन उपस्थित हुआ। कुरान में कला को धार्मिक क्षेत्र से बहिष्कृत किया गया है, क्योंकि वह मूर्ति, चित्र, संगीत आदि के माध्यम से अनुकृति का विरोध करता है—अतः मुस्लिम शासकों की छत्र-छाया में कला को धर्म-निरपेक्ष रूप में महत्त्व मिलने लगा, जिसका प्रभाव हमारे कवियों पर भी पड़ा। यह ठीक है कि इस युग का कवि भी अपनी पुरानी आदत के अनुसार कहीं-कहीं धर्म की ओट लेने का प्रयत्न करता है, किन्तु गहराई से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि उनके काव्य की मूल चेतना सौन्दर्योन्मुख ही है, धर्म या भक्ति की प्रेरणा का उन्मेष उनमें नहीं है। यही कारण है कि जो लोग भक्ति-भावना, जीवन-दर्शन, विचार-निधि एवं महत्त्वपूर्ण संदेशों की प्राप्त्याशा से इस काव्य का अध्ययन करते हैं, उन्हें इससे निराश होना पड़ता है।

मुगल-काल के कला-प्रेमी शासकों ने हमारे प्राचीन कला-केन्द्रों को नष्ट तो कर दिया, किन्तु साथ ही उन्होंने सुदृढ़ राज्यों की स्थापना करके उस शान्त वातावरण को भी जन्म दिया, जिसमें हमारी काव्य-वल्लरी शशि-कला की भाँति द्रुतगति से पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित होने लगी। उन्होंने अपने आश्रित कवियों की वैयक्तिकता का तो अपहरण किया, किन्तु साथ ही उन्हें सम्मान व ऐश्वर्य की विभूति भी प्रदान की, जिसकी मादकता से उन्मत्त होकर वे नैतिकता, धर्म व दर्शन आदि को भूलकर स्वकीयाओं एवं परकीयाओं के सौन्दर्य पर मँडराने लगे। यदि उन्हें तत्कालीन शासकों का वैसा निश्चित आश्रय प्राप्त न होता तो सम्भवतः वे विलासिता की वैसी धारा प्रवाहित न कर पाते, जो आज हमें देखने को मिलती है।

हमारी धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने भी रीति-काव्य के रचयिताओं की शृङ्गारिक प्रवृत्तियों के विकास में कम योग नहीं दिया। पुष्टिसंप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण की जिस उपासना का प्रचार उत्साहपूर्वक किया था, अब वह उन्हीं के उत्तराधिकारियों द्वारा 'शृङ्गार रस-मंडन' से मंडित होकर माधुर्यभाव की साधना में परिणत हो चुकी थी। एक ओर कृष्ण के पार्श्व में राधा की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई; दूसरी ओर आराध्य के मनोरंजन के निमित्त आगरे की रूपवती वेश्या को आमंत्रित किया गया। अधिकारी कृष्णदासजी की कृपा से मंदिर में रासलीला के नये-नये संस्करण होने लगे तथा ठाकुरजी को 'काम-कला' व 'नायिका-भेद' आदि सिखाने के उद्देश्य से 'साहित्य-लहरी', 'रस-मंजरी', 'विरह-मंजरी' जैसे ग्रन्थों को रचने की प्रेरणा दी गई। 'परकीया-भाव' पर नैतिकता की छाप पहले ही लग चुकी थी, अब नंददासजी जैसे रसिक भक्तों ने 'उपपति रस' की महत्ता प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता अनुभव की। भागवत पुराण आदि ग्रन्थों की कृपा से कृष्ण के स्वच्छन्द विहार की कहानियों का तो प्रचार बहुत कुछ हो ही चुका था, अब ऐसे-ऐसे सम्प्रदायों की भी स्थापना हुई, जिन्होंने विलासिता में राम को भी कृष्ण से बढ़कर सिद्ध किया। अस्तु, मंदिरों का वातावरण कामुकता और रसिकता की गंध से ओत-प्रोत हो गया, जिसके प्रभाव से समाज के प्रागण में भी अनैतिकता एवं व्यभिचार का नग्न-नृत्य हो तो आश्चर्य ही क्या ? भले घरों की बहू-बेटियाँ पास-पड़ोस के युवकों से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करने में या 'तन-मन-धन गोसाईं जी के अर्पण' करने में किस प्रकार लीन हो गई थीं, इसकी झलक उस युग के साहित्य में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। प्रमाण-स्वरूप पड़ोसियों के घर की छत पर से या दीवार के छेद में से 'प्रेम' का आदान-प्रदान करने वाली अथवा मिश्रजी के मुख से परकीया-दोष का बखान सुनकर मुस्करा देने वाली बिहारी की नायिकाओं को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, रसिकता को उस युग में व्यक्तित्व का एक आवश्यक गुण समझा जाने लगा था तथा यौवन के दिनों में फिसल जाना एक साधारण बात समझी जाती थी। अतः इस युग के साहित्य में कामुकता, रसिकता एवं प्रणय की बाढ़ हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

प्रवर्तक कौन ?

रीति-काव्य का आरम्भ विक्रम की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण में ही हो

जाता है। सं० १५९८ वि० में कृपाराम ने 'हित-तरंगिणी' का निर्माण किया, जो कि इस परम्परा का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ कहा जा सकता है, किंतु इसके कुछ दोहों में बिहारी के दोहों से साम्य होने के कारण विद्वानों ने इसके रचना-काल को सन्देह की दृष्टि से देखा है। बिहारी में अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावापहरण की प्रवृत्ति मिलती है, उनकी सतसई के शताधिक दोहे 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'अमरुशतक' तथा केशव, बलभद्र मिश्र आदि पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों के आधार पर निर्मित है, अतः 'हित-तरंगिणी' के रचना काल पर सन्देह करना आवश्यक है। आगे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में अनेक ऐसे ग्रंथ लिखे गए जिनमें रीति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती है। साहित्य-लहरी (१६०७-सूरदास कृत), नंददास कृत 'रस-मंजरी' (१६३७ वि०), गोपाकृत 'अलंकार-चंद्रिका' (१६१५ वि०), मोहन का 'शृङ्गार-सागर' (१६१६ वि०), करुणेश के 'करुणाभरण', 'श्रुति-भूषण', 'भूपभूषण' आदि (१६३७ वि० लगभग), बलभद्र मिश्र का 'नख-शिख' (१६४० वि०) आदि। इन ग्रंथों में रीति-काल सम्बन्धी अनेक विषयों—नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद निरूपण, अलंकार निरूपण आदि—का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उन सब में विषय और शैली की दृष्टि से सर्वत्र कोई एक व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। इस परम्परा को एक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ रूप देने का श्रेय केशवदास को है जिन्होंने रसिक-प्रिया (१६४८ वि०) और 'कवि-प्रिया' (१६५८ वि०) मे रीति-काव्य सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का विवेचन प्रौढ़ता से किया है। अतः रीति-काव्य परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय कृपाराम तथा उसे व्यवस्थित प्रौढ़ रूप देने का यश केशवदास को मिलना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि त्रिपाठी (रचना-काल सं० १७०० वि०) को रीति-परम्परा का प्रवर्त्तक सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पक्ष में तीन तर्क दिए है—(१) रीति ग्रन्थों का अविरल और अखण्डित प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला। (२) केशव अलंकारवादी थे, जबकि परवर्ती कवियों ने केशव से भिन्न आदर्श—रस-सिद्धान्त को अपनाया। (३) परवर्ती कवियों ने अलंकारों के निरूपण में केशव की शैली को न अपनाकर कुवलयानन्द की शैली—एक ही दोहे मे लक्षण और उदाहरण देने की शैली—का प्रयोग किया। हमारे विचार से उपर्युक्त तीनों आक्षेप निराधार है। नवीनतम अनुसन्धान से जो ग्रन्थ प्रकाश में आये है, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि रीति-परम्परा केशव से चिन्तामणि तक अखंडित रूप से आगे बढ़ती रही है। वे ग्रन्थ है—रस-चन्द्रिका (बाल-कृष्ण—१६-५७ वि०), अलक-शतक व तिल-शतक (मुबारक-कृत—१६७० वि०), रंग-भाव-माधुरी (रस-नायिका-भेद का ग्रन्थ—ब्रजपति भट्टकृत—१६८० वि०), नख-शिख (लीलाधर—१६७६ वि०), सुन्दर-शृङ्गार (सुन्दरकृत रसनायिका-भेद का ग्रंथ—१६८८ वि०), रहीम (१६१३-८३ वि०), कृत नगर-शोभा, बरवै नायिका-भेद और मदनाष्टक, फतेह-प्रकाश (क्षेमराज—१६८५), सुधानिधि (तोष—१६९१), भाषा-भूषण (जसवन्तसिंह—१६९५), काव्य-प्रकाश और शृङ्गार मंजरी (चिन्तामणि १७०० वि०)। यह आश्चर्य की बात है कि सुन्दर शृङ्गार, बरवै-नायिका-भेद और भाषा-भूषण की उपेक्षा करके रीति-परम्परा का आरम्भ चिन्तामणि के ग्रन्थों से माना जाय।

दूसरा तर्क कि केशव अलंकारवादी थे—यह भी भ्रामक है। केशव ने जहाँ 'कवि-प्रिया' में अलंकारों का विवेचन किया है, वहाँ 'रसिक-प्रिया' में रस सिद्धान्त के सभी अंगों एवं भेदों का प्रतिपादन किया है। कवि रूप में भले ही केशव अलंकारवादी रहे हों, किन्तु जहाँ तक आचार्यत्व का सम्बन्ध है, उन्होंने अलंकार और रस—दोनों को मान्यता दी है। कुछ लोग केशव को अलंकारवादी सिद्ध करने के लिए निम्नाकित छन्द उद्धृत करते हैं—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजइ कविता बनिता मित्त॥

ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि यहाँ कवि अलंकारों को काव्य की आत्मा-प्राण घोषित नहीं करता है, अपितु उनका महत्त्व उतना ही स्वीकार करता है जितना कि 'वनिता' के लिए आभूषणों का है। यदि अलंकारों को आभूषणों तुल्य महत्त्व देने से ही किसी को अलंकारवादी घोषित किया जा सकता है तो फिर संस्कृत के साहित्यदर्पणकार से लेकर हिन्दी के चिन्तामणि, देव, श्रीपति, भिखारीदास आदि प्रायः सभी रीति-बद्ध कवि अलंकारवादी सिद्ध होते हैं, क्योंकि प्रायः इन सभी ने अलंकारों का विवेचन करते हुए उन्हे 'भूषण' या 'आभूषण' के तुल्य महत्त्व दिया है; देखिए—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।

—साहित्य-दर्पण

"शोभा को बढ़ाने वाले रस-भाव आदि के उपकारक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे अंगद (आभूषण विशेष) की भाँति अलंकार कहलाते हैं।"

सगुन अलंकारन सहित, दोष-रहित जो कोइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित, विबुध कहत सब होइ॥ —चिन्तामणि

शब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस-शरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति अलंकार गम्भीर॥

—देव (काव्य-रसायन)

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, बनिता कविता रूप॥

—श्रीपति (काव्य-सरोज-१०)

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध॥

—सोमनाथ (रस-पीयूष निधि, तरंग-६)

"दासजी अपना मत प्रकट करते हैं कि रस ही कविता का अंग है, अलंकार आभूषण है। गुण, रूप और रंग तथा दोष कुरूपता के समान है।"

—हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० १३६

वस्तुतः प्रायः सभी रीति कवियों ने केशव की भाँति अलंकारों को आभूषणों की भाँति काव्य का शोभावर्द्धक उपकरण माना है।

केशव के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने संस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों दंडी आदि का अनुकरण किया, परवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ आदि का अनुकरण नहीं किया, जबकि हिन्दी के रीति-कवि विश्वनाथ आदि के ही मार्ग पर चले। यह आक्षेप भी 'कवि-प्रिया' के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। 'रसिक-प्रिया' की अधिकाश सामग्री—रस-विवेचन, नायक के चार भेद, नायिका के 'तीन प्रमुख तथा अवान्तर भेद आदि—मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' एवं विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' पर आधारित हैं।

केशव के परवर्ती कवियों में से कुछ ने अलंकार-निरूपण में 'कुवलयानन्द' की पद्धति का प्रयोग किया है, जबकि कुछ ने केशव का अनुकरण करते हुए लक्षण और उदाहरण अलग-अलग छन्दों में दिये है। दूसरे वर्ग के कवियों मे मतिराम (ललितललाम), भूषण (शिवराज भूषण), रघुनाथ (रसिक मोहन), दूलह (कवि-कुल-कंठाभरण), ग्वाल (रसिकानन्द), प्रतापसाहि (अलंकार-चिन्तामणि) उल्लेखनीय है। वैसे तो सूक्ष्म-दृष्टि से प्रत्येक आचार्य के दृष्टिकोण, विवेचन एवं शैली में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलना स्वाभाविक है, किन्तु इसी से किसी को परम्परा से बाहर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः केशव ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' में जिस ढाँचे को खड़ा किया तथा जिन विषयों का जिस पद्धति मे विवेचन किया है, परवर्ती कवियों ने प्रायः कुछ अपवादों को छोड़कर उसी ढाँचे, उसी पद्धति और उन्ही विषयों को अपनाया है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि रीति-परम्परा के जन्म का श्रेय कृपाराम को तथा उसे विकसित करके पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य केशवदास को है।

आचार्य केशवदास से लेकर उन्नीसवीं शती के अन्त तक इस काव्य-परम्परा में शताधिक कवि हुए है जिनमें चिन्तामणि त्रिपाठी, मतिराम, कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, देव, सुरति मिश्र, भिखारीदास, पद्माकर, ग्वाल, प्रतापसाहि आदि उल्लेखनीय है। इन सबके काव्य-ग्रन्थों का परिचय देना यहां सम्भव नही, केवल इनके काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना ही पर्याप्त होगा।

प्रवृत्तियाँ

रीतिबद्ध कवियों के काव्य में निम्नांकित प्रवृत्तियाँ मिलती है :—

(१) **आचार्यत्व या रीति-विवेचन**—रीति-काव्य मे आचार्यत्व की प्रवृत्ति मुख्यतः दो कारणों से प्रेरित है। एक तो इसके रचयिता अपने आपको केवल कवि ही नहीं अपितु काव्य-शास्त्र का ज्ञाता भी—"काव्य की रीति सिखी सुकबिन सों (भिखारीदास)" —सिद्ध करना चाहते थे। दूसरे, वे आश्रयदाता नरेशों व धनाढ्य लोगों को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देना चाहते थे, अतः उनका दृष्टिकोण प्राचीन संस्कृत के रीति-सम्बन्धी ग्रन्थों की जानकारी दिखाना मात्र था, मौलिकता का प्रदर्शन अपेक्षित नहीं था। यदि किसी ने जन्मजात प्रतिभा के कारण ऐसा करने का कुछ प्रयत्न भी किया तो उसके सामने प्रश्न उपस्थित होता था—बताओ ऐसा संस्कृत में कहाँ लिखा है?' अस्तु, इन कवियों के विवेचन में मौलिकता को बहुत कम—लगभग नहीं के बराबर—प्रश्रय मिला।

काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी इन्होंने बहुत थोड़े विषयों को अपनाया। जैसा कि पीछे दी हुई सूची से ज्ञात होगा, इन्होंने मुख्यतः रस, नायिका-भेद एवं अलंकारों का ही विवेचन किया। बहुत थोडे ग्रन्थ ऐसे है जिनमें काव्य की अन्य समस्याओं—काव्य का वर्गीकरण, काव्य-सम्बन्धी विभिन्न मानदंड, शब्द-शक्तियाँ आदि का स्पष्टीकरण किया गया है। संस्कृत में नाटक, प्रबन्ध, कथा आदि काव्य-रूपों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है किन्तु इन विषयों की हिन्दी के इन ग्रन्थों में उपेक्षा हुई है। जिन विषयों को लिया गया है उनके विवेचन में भी शुद्धता एवं स्पष्टता का प्रायः अभाव है। इस असफलता के कई कारण बताये जा सकते है जिनमें प्रमुख ये है—एक तो इन कवियों का उद्देश्य—जैसा कि पीछे संकेत किया गया है—आचार्यत्व नही, अपितु आचार्यत्व का प्रदर्शनमात्र था। दूसरे, उस समय का काव्य-क्षेत्र ही अत्यन्त संकुचित हो गया था, साहित्य के विभिन्न रूपों में से अनेक विलुप्त हो गए थे, अतः उनकी चर्चा करना अनावश्यक था। तीसरे, उनके लक्ष्य—पाठक या श्रोताओं—का स्तर भी बहुत उच्च कोटि का नही था, जिससे कि वे सूक्ष्म विवेचन में प्रवृत्त होते। और चौथे, उन्होंने गद्य का प्रयोग नही किया। फिर भी इन्होंने पूर्वजों की ज्ञान-राशि को किसी-न-किसी मात्रा मे हिन्दी मे सुरक्षित एवं प्रचारित रक्खा; अन्यथा संस्कृत से अनभिज्ञ जनता उसमे सर्वथा वंचित हो जाती—अतः इसका श्रेय इन्हे अवश्य दिया जायगा।

(२) **शृङ्गार वर्णन**—जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"इन रीति ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।" वस्तुतः इन्होंने रीति-विवेचन के अन्तर्गत भी उन्ही विषयों को अधिक विस्तार दिया, जिनका शृङ्गार रस मे सम्बन्ध था। इनके द्वारा "इस रस का इतना अधिक विस्तार हिन्दी-साहित्य मे हुआ कि इसके एक-एक अंग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे गए।" यहाँ कुछ अंगों पर प्रकाश डाला जाता है।

आलम्बन का सौन्दर्य

शृङ्गार के अन्तर्गत इन्होंने मुख्यतः संयोग-पक्ष का एवं नायिका के सौन्दर्य का निरूपण किया। आलम्बन की मधुर छवि एवं उसकी सूक्ष्म चेष्टाओं के अंकन के लिए उन्होंने नख-शिख-वर्णन की परम्परागत शैली मे थोड़ा संशोधन करके नई पद्धति का विकास किया। नख-शिख-वर्णन-प्रणाली में नायिका के सभी स्थूल अंगों का क्रमशः वर्णन किया जाता था, जो रूढ़िबद्ध हो जाने के कारण अपना प्रभाव खो चुकी थी, अतः इन कवियों ने केवल कुछ अंगों को लेकर समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, जिसमे इन्हे पर्याप्त सफलता मिली है।

उदाहरण के लिए एक छन्द देखिए—

कुन्दन को रंग फीको लगे, झलकै ऐसो अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं, मतिराम लहे मुसुकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये, नेरे ह्वै नैननि त्यौं-त्यौं खरी निकरै सी निकाई॥

—मतिराम

कहीं-कहीं इन कवियों ने नायिका के सौन्दर्य की एक-एक विशेषता पर ही पूरा छन्द लिख दिया है, किन्तु फिर भी उसमें किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती—

घाघरि झीन सौं, सारी महीन सौं, पीन नितम्बन भार उठै सचि।
बास-सुबास सिंगार-सिंगारनि, बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि॥
स्वेद चलै, मुख चँद च्वै, डग द्वैक धरे मति फूलन सो पचि।
जात है पंकज वारि बयारि लौं, वा सुकुमारि की लंक लला लचि॥

—भिखारीदास

यहाँ केवल 'सुकुमारता' का वर्णन किया गया है, यह भी अतिशयोक्तिपूर्ण है किन्तु इससे उसकी मार्मिकता में कोई न्यूनता नहीं आई।

नायिका की चेष्टाएँ व अनुभूतियाँ

उनके अतिरिक्त रीति-कवियों के सौन्दर्य-चित्रण की एक बड़ी भारी विशेषता नायिका के हावों व अनुभावों का अत्यन्त स्वाभाविक रूप मे चित्रण करना है। इस क्षेत्र में वे अपने पूर्ववर्ती कवियों से भी आगे बढ गये हैं। नायिकाओं की हृदयस्थ भावनाओं एवं प्रिया के सान्निध्य से प्राप्त होनेवाली अनुभूतियों की व्यंजना भी इन्होंने अत्यन्त सूक्ष्मता-पूर्वक की है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

आपने हाथ सों देत महावर, आप ही बार संवारत नीके।
आपुन ही पहिरावत आनिकै हार सँवारि के मौरिसिरी के।
हौं सखि लाजन जात मरी, 'मतिराम' सुभाव कहा कहौं पी के।
लोग मिलैं घर घेर कहैं, अबई ते ए चेरे भए दुलही के।

—मतिराम

उपर्युक्त पंक्तियों में अभिव्यक्त अनुभूतियाँ गार्हस्थ्य-जीवन से संबंध रखती हैं—इन्होंने शृङ्गार-चित्रण के लिए प्रायः तत्कालीन दाम्पत्य एवं गार्हस्थ्य-जीवन से सामग्री ली है—किन्तु प्रेम की स्वच्छन्द अनुभूतियों का भी इनके काव्य में अभाव नहीं है। 'मैनशर' से पीड़ित होकर कही नव-वधू बाला को अर्द्ध निशा मे किसी 'बटोही' को जगाते देखते हैं तो कही किसी निर्मोही को हृदय दे बैठने के कारण किसी तरुणी को निर्वेद से ग्रस्त पाते हैं—

घर ना सुहात, ना सुहात बन बाहर हूँ,
बाग न सुहात जे खुसाल खुसबोही सौं।
× × ×
साँझ न सुहात, ना सुहात दिन मांझ कछू
व्यापी यह बात, सो बखानत हौं तोहीं सो।
राति न सुहात न सुहात परभात आली
जबै मन लागि जात काहू निरमोही सों॥

—पद्माकर

प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण

इनके शृङ्गार की परिधि की व्यापकता के अनुकूल ही इनके काव्य में प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं व भाव-दशाओं का चित्रण हुआ है। मतिराम, देव और पद्माकर जैसे कवियों ने प्रेमोत्पत्ति से लेकर उसकी चरम-परिणति तक की प्रायः सभी अवस्थाओं को अनुभूतिपूर्ण शब्दों में चित्रित किया है। यथा—

मिलनाकांक्षा—

ऐरी इन नैनन के नीर में अबीर घोरि,
बोरि पिचकारी, चितचोर पै चलाइ आउ ?

—पद्माकर

प्रेमासक्ति—

मूरति जो मनमोहन की, मन मोहिनी के मन ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल को बोल सुने, छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीक झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं नैननि लाज घटा थिरकी सी।
पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी-खिरकीनि फिरै फिरकी सी।

—देव

वस्तुतः उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ एक से एक अधिक स्वाभाविक, सरस और मार्मिक हैं। कुछ आलोचकों ने इनके विरह-वर्णन को ऊहात्मकता से ओत-प्रोत बताते हुए इन्हे इस क्षेत्र में असफल घोषित किया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऊहात्मकता का प्रयत्न बिहारी जैसे चमत्कारी कवि में ही अधिक मिलता है। ध्यान रहे, हम बिहारी को रीति-सिद्ध कवि मानते हुए भी इस परम्परा में स्थान नही देते। इस सम्बन्ध में हमने अन्यत्र प्रकाश डाला है। वैसे थोड़ी मात्रा में ऊहात्मकता रीति-बद्ध कवियों में भी आई है किन्तु वह प्रायः काव्य की सरसता को ठेस नहीं पहुँचाती, जैसा कि देव का निम्नांकित पद है—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जियै मिलबेई की आस कै आसहु पास अकाश रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

यहाँ मृत्यु तक का चित्रण किया गया है जिसे हम सामान्यतः ऊहात्मकता की कोटि में रख सकते हैं, किन्तु फिर भी कवि ने इस स्वाभाविकता से सारे दृश्य को प्रस्तुत किया है कि वह बरबस ही हमारे हृदय में स्थान बना लेता है।

अस्तु, हम यह स्वीकार करते हुए भी कि रीति सीमाओं व आश्रयदाताओं के मनोरंजन के दृष्टिकोण के कारण इनके शृङ्गार-वर्णन में वह स्वच्छन्दता एवं सरसता नहीं आ सकी जो घनानन्द जैसे रीति-मुक्त कवियों में मिलती है, किन्तु फिर भी इसमें जितनी सरसता एवं मार्मिकता मिलती है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अपनी सीमा में रहते हुए भी इन्होंने जो कुछ किया, वह नैतिकता की दृष्टि से न सही—कलात्मक-दृष्टि से तो स्तुत्य है।

(३) **भक्ति एवं वैराग्य का मिश्रण**—रीति-काव्य में शृङ्गार-निरूपण के साथ-साथ भक्ति एवं वैराग्य-सम्बन्धी भावनाओं की भी विवृत्ति पर्याप्त मात्रा में मिलती है। भक्ति को तो हम पूर्ववर्ती युग का प्रभाव कह सकते है। एक तो उस युग का कवि ही नही, समाज का सामान्य व्यक्ति भी अपनी समस्त सत् एवं असत् वृत्तियों पर भक्ति का आवरण किसी न किसी रूप में डालकर चलना आवश्यक समझता था, दूसरे, शृङ्गार के नायक-नायिका के रूप में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा ने भी इनके काव्य में भक्ति के लिए क्षेत्र तैयार किया। कवि में भावुकता का गुण होना सहज स्वाभाविक है, अतः जब ये भक्ति सम्बन्धी छन्दों की रचना में प्रवृत्त होते है तो वहाँ वे कहीं-कहीं 'सच्चे भक्त' का भ्रम उत्पन्न कर देते है। इस तथ्य से अपरिचित विद्वानों ने विद्यापति, बिहारी और पद्माकर जैसे घोर शृङ्गारी कवियों तक को 'भक्त कवि' की संज्ञा दे डाली है।

वैराग्य की प्रवृत्ति को अतिशृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण करना उचित होगा। जैसा कि डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने अपने शोध प्रबन्ध में स्पष्ट किया है—वृद्धावस्था मे अशक्त होकर केशव, देव, पद्माकर आदि सभी प्रमुख कवि वैराग्य से ग्रसित दिखाई पड़ते है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है। यहाँ पद्माकर के कुछ निर्वेद-मूलक उद्गार द्रष्टव्य है—

आस बस डोलत सु याके बिसवास कहा, साँस बस बोलै मल माँस ही को गोला है।
कहै पद्माकर, विचार छन भंगुर या, पानी को सो फेन जैसे फलक फफोला है।

× × ×

छोड़ हरि नाम नहिं पैहै बिसराम अरे, निपट निकाम तम चाम ही को चोला है।

(४) **प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन**—यद्यपि इस परम्परा के कवियों ने 'षट्-ऋतु' व 'बारहमासा' शीर्षक से अनेक स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना की, किन्तु फिर भी यह आश्चर्य का विषय है कि उनमे प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप में नहीं मिलता। इन काव्यों में प्रकृति एवं ऋतुओं का शृङ्गार रस की पृष्ठ-भूमि या शास्त्रीय परिभाषा में 'उद्दीपन' के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के विभिन्न अंगों में से इनकी दृष्टि विशेषतः विभिन्न ऋतुओं के कामोद्दीपक वैभव पर ही पड़ी है। पावस के आर्द्र कोमल वातावरण के कारण नव-वयस्का 'गोरी' के सौन्दर्य के प्रभाव में कैसी तीक्ष्णता आ गई है, इसका वर्णन नीचे की पंक्तियों में देखिए—

ऐसी झरी बून्दन में दूंदन उठायो काम, मूंदे मुख प्यारी बनी गूंदे न बहरि कै।
कहै सिवनाथ झिल्ली गन गाजत हैं, सावन में बहै रस लहरी छहरि कै।
उनें री सु कुंज, दुति दुनारी दुगन बाढ़ी, हुन री कहित खोर देन ही गहरि कै।
ऊन री घटा में गोरी, तू न री अटा पै बैठ, खून री करेगो, लाल चूनरी पहरि कै।

—शिवनाथ

इसी प्रकार वसन्त का मादक वैभव नायक-नायिका के हृदय को रस-विह्वल कर देता है—

उमग्यो परत अनुराग बन बागनि में, राखि है सोहाग सोहागनि हूँ कंत की।

× × ×

या रितु सोहाइ में सोहाई न करो री कोई फिरत बोहाई 'देव' मैन मतिमंत की।
चाहति सुजान नव लाल मधुकर मिल्यो, नवला विमल नव जीवन बसन्त की।

—देव

सुखपूर्ण दिवसों में मानव हृदय को आह्लादित कर देनेवाली यही प्रकृति शोक-संतप्त प्राणी के लिए और भी अधिक संताप-वर्द्धक सिद्ध होती है। पावस की जो घटाएँ किसी युगल दम्पत्ति को अमृत वर्षा करती सी प्रतीत होती है, वे ही किसी विरहिणी अबला के लिए दुःसह शोक-व्यथा को जन्म देनेवाली बन जाती हैं—

साँझ के सलौने घन अंबुज सुरंगन सौ,
कैसे कै अनंग अंग अंगनि सताउतो।

× × ×

काहु विरही की कही मानि लेतो जो पै दई,
जग में दई ते दया सागर कहाउतो।
पावस बनायो तो न विरह बनाउतो,
जौ विरह बनायौ तो न पावस बनाउतो॥

—पद्माकर

आधुनिक युगीन वे आलोचक जो प्रकृति को उसके मूल रूप में देखने के अभ्यस्त है, सम्भवतः इस प्रकार के चित्रों से संतुष्ट नहीं होते। किन्तु यदि काव्य का उद्देश्य वस्तुओं को यथा-तथ्य रूप में प्रस्तुत करना न मानकर, उन्हे मानवीय अनुभूति के रंग में रँगकर चित्रित करना स्वीकार किया जाता है तो अवश्य ही हम प्रकृति के इस उद्दीपन रूप को भी प्रशंसा के योग्य समझते है।

(५) **आश्रयदाताओं की प्रशंसा**—इस काव्य की रचना मुख्यतः शासक वर्ग एवं सामन्त लोगों के आश्रय में हुई, अतः उनकी प्रशंसा की प्रवृत्ति का भी इसमें मिलना स्वाभाविक है। इस उद्देश्य की पूर्ति दो प्रकार से की गई है—(१) अपने ग्रन्थों का नामकरण आश्रयदाता के आधार पर करना, जैसे—भवानो विलास, जगत्-विनोद आदि। (२) आश्रयदाता के जीवन-चरित्र को लेकर खंडकाव्य की रचना करना—केशव (जहाँगीर जस-चन्द्रिका, रतनावली), पद्माकर (हिम्मत बहादुर विरदावली) आदि के ग्रन्थ। यद्यपि इस प्रकार के काव्य-प्रबन्धत्व की दृष्टि से सफल नहीं है, किन्तु इस प्रवृत्ति का एक लाभ अवश्य हुआ—ऐतिहासिक या अर्द्ध ऐतिहासिक इतिवृत्तों को लेकर वीररसात्मक काव्यों की रचना हुई। कवियों की जो वाणी शृङ्गार रस की मंद-मंद स्वर-लहरियों को गुँजाने की ही अभ्यस्त थी, उसने रौद्र और वीर तुमुल घोष करने का भी साहस दिखाया।

(६) **मुक्तक शैली**—सामान्यतः इस परम्परा के काव्य-ग्रन्थों में मुक्तक-शैली का ही प्रयोग किया गया है। यह विचारणीय है कि इससे पूर्व भक्ति युग में प्रबन्ध एवं

गीति-शैली का प्रचलन था, अतः इन कवियों ने उनका तिरस्कार करके मुक्तक शैली को क्यों अपनाया ? इसका समाधान ढूंढ़ने के लिए हमें अकबरी दरबार पर दृष्टि डालनी होगी । प्रारम्भ में चारण-भाटों में मुक्तक शैली का प्रचार था, नरहरि बंदीजन जैसे भाट को अकबर के दरबार में प्रश्रय मिला । दूसरी ओर फारसी कविता की मुक्तक शैली का भी प्रभाव पड़ा । अतः हम देखते हैं कि अकबरी दरबार के अनेक प्रमुख हिन्दी कवि—नरहरि, ब्रह्म, टोडरमल, रहीम, गंग आदि—रीति-बद्ध शृङ्गारी कवियों से पूर्व ही कवित्त-सवैयों की मुक्तक-शैली का प्रयोग करने लग गए थे, अतः केन्द्रीय सत्ता में इस शैली की प्रतिष्ठा हो जाने पर सम्बन्धित शासकों व नरेशों के यहाँ भी इसी को प्रश्रय मिलना स्वाभाविक था ।

विभिन्न छन्दों से रीति-काव्य में कवित्त, सवैया, घनाक्षरी एवं दोहे को ही प्रमुखता मिली ! इन छन्दों के कारण भाषा के माधुर्य एवं स्वर-झंकृति में विकास हुआ । दोहे में अवश्य कवित्त-सवैयों की सी झंकार नही मिलती, किन्तु उसमें संक्षिप्तता एवं शब्द-लाघव का गुण मिलता है ।

(७) **ब्रज भाषा का प्रयोग**—व्रजभाषा की प्रतिष्ठा साहित्य क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा ही हो चुकी थी, इन कवियों द्वारा उसका और भी अधिक विकास हुआ । लाक्षणिक प्रयोगों, स्वाभाविक अलंकरण, भावपक्ष की कोमलता एवं सरसता से युक्त होकर इस काव्य में ब्रज भाषा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उदित हुई । इसमें कोई सन्देह नही कि रीति-काव्य के रचयिता चाहे सफल आचार्य नहीं बन सके हों, किन्तु इन्होंने अपने दीर्घ भाषाभ्यास एवं उसकी सूक्ष्म जानकारी का परिचय अवश्य अपनी शैली की प्रौढ़ता के द्वारा दिया है ।

अस्तु, उपर्युक्त, प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते है कि रीति-काव्य क्षेत्र की संकोर्णता, रूढ़ियों की परिधि एवं नियमों की शृङ्खलाओं में ही आबद्ध रहा, किन्तु इन परिस्थितियों में भी उसने जैसी सरसता, कोलता एवं मार्मिकता प्राप्त की, वह कम महत्त्व की बात नहीं है । चाहे उन्होंने केवल शृङ्गार को ही लिया, किन्तु उसके विभिन्न अंगों का जैसा चित्रण उन्होंने किया, वह अन्यत्र सुलभ नहीं । उसकी दृष्टि चाहे नायिका-भेद तक ही सीमित रही, किन्तु उनकी जैसी सजीव एवं हाव-भावपूर्ण अनेकानेक मूर्तियाँ उन्होंने प्रस्तुत की है, वैसी किसी अन्य साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होती । साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी में ये पहले कवि थे, जिन्होंने कला को शुद्ध कला के रूप में देखा, सौन्दर्य की साधना को ही अपने कर्त्तव्य का चरम लक्ष्य स्वीकार किया ।

:: तोस ::

स्वच्छन्द मुक्तक काव्य-परंपरा

१. सामान्य परिचय ।

२. कवि और काव्य—रसखान, आलम, घनानन्द, बोधा, ठाकुर, द्विजदेव ।

३. प्रमुख विशेषताएँ—
(क) प्रेरणास्रोत (ख) स्वच्छन्द प्रेम (ग) नारी-सौन्दर्य (घ) विरह की प्रधानता (ङ) वैयक्तिकता (च) शैली ।

४. उपसंहार ।

हिन्दी साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में एक नूतन काव्य-परम्परा का विकास हुआ जिसे 'रीतिमुक्त काव्य-परम्परा', 'स्वच्छन्द प्रेम काव्य-परम्परा', 'स्वच्छन्द मुक्तक काव्य-परम्परा' आदि नामों से पुकारा जाता है । इस परम्परा में मुख्यतः उन कवियों को स्थान दिया जाता है जिन्होंने मध्यकाल में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण वैयक्तिक रूप में तथा मुक्तक शैली में किया है । इन कवियों में से अनेक—आलम, घनानन्द, बोधा आदि—ऐसे भी थे, जिनका न केवल काव्य, अपितु जीवन भी स्वच्छन्द प्रेम की अनुभूतियों से ओत-प्रोत था । इन कवियों ने हिन्दू होते हुए भी मुस्लिम युवतियों से प्रणय सम्बन्ध स्थापित करके स्वच्छन्दवादिता का परिचय दिया था । स्वच्छन्द प्रेम की अन्य प्रवृत्तियाँ—जैसे, सौन्दर्यानुभूति, साहसिकता, विरह-वेदना आदि की प्रधानता—भी इनके व्यक्तिगत जीवन में दृष्टिगोचर होती हैं । यद्यपि इन कवियों का प्रारम्भ में राज्य-दरबारों से सम्बन्ध था, किन्तु प्रेम की प्रेरणा से इन्होंने अपने राज्याश्रय, समाज एवं धर्म तक को ठुकरा दिया, अतः इनका प्रेम कोरी रसिकता नहीं है, अपितु वह साहस, संघर्ष एवं त्याग की भावनाओं से अनुप्राणित है । दूसरे, इन्होंने प्रायः अपनी प्रेयसियों को अपने जीवन एवं काव्य में वही स्थान दिया है जो रोमांसिक कथा-काव्यों में उनकी नायिकाओं को प्राप्त है, इनमें नारी का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य केवल विलासिता का साधन मात्र नहीं है, अपितु आराधना एवं साधना की ऐसी वस्तु है जिस पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं । इसीलिए इनके प्रेम में भी एकोन्मुखता एवं भावना की गम्भीरता परिलक्षित होती है । तीसरे, इनके जीवन में विरह-वेदना की अधिकता होने के कारण उनमें प्रणय का अत्यन्त स्वच्छ परिष्कृत एवं उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है, जिसका मध्यकालीन काव्य में प्रायः अभाव है । वस्तुतः रोमांसिक प्रेम के जिस आदर्श रूप की प्रतिष्ठा इनसे पूर्व कथा-काव्य-रचयिताओं ने काल्पनिक आख्यानों के माध्यम से की थी, उसे इन्होंने अपने जीवन की वास्तविकता में परिणत कर दिया । सामाजिक दृष्टि से ऐसा किया जाना कहाँ तक उचित है, इसका यहाँ स्वीकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता, किन्तु जहाँ तक काव्यत्व का

सम्बन्ध है, अवश्य ही इनका काव्य वैयक्तिक अनुभूतियों पर आधारित होने के कारण पर्याप्त शक्तिशाली एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है।

यहाँ इन कवियों के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण और दिया जा सकता है। हमने इन्हें 'लोकाश्रित' वर्ग में स्थान दिया है, जबकि इनमें से अनेक का राज्याश्रय से भी सम्बन्ध रहा है। किन्तु उनमें से कुछ ने तो अपने स्वच्छन्द प्रेम की प्रेरणा से राज्याश्रय का परित्याग कर दिया था, तो कुछ राज्याश्रय में रहते हुए भी उसकी ओर से निश्चिन्त रहे हैं; उन्होंने अपने आश्रयदाताओं की रुचि एवं तुष्टि की अपेक्षा स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। इस दृष्टि से उनका काव्य राज्याश्रित कवि की मनोवृत्तियों की अपेक्षा लोकाश्रित या आत्माश्रित स्वच्छन्द कवि की मनोवृत्तियों से अधिक ग्रस्त है, इसीलिए हमने इनके काव्य को लोकाश्रित वर्ग मे रखना अधिक उचित समझा है। लोकाश्रित काव्य के भी दो भेद किए जा सकते हैं—(१) व्यक्ति-प्रधान (२) समाज-प्रधान। दोनों में क्रमशः वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है। इस काव्य मे वैयक्तिकता को न केवल सामाजिकता से अधिक महत्त्व दिया गया है, अपितु उसे समाज-विरोधी रूप मे, सामाजिकता का अतिक्रमण करनेवाले रूप में भी प्रस्तुत किया है; अतः इसे प्रथम वर्ग—व्यक्ति-प्रधान काव्य—में ही स्थान दिया जा सकता है। आगे इन कवियों का एवं उनके काव्य का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

कवि और काव्य

प्रस्तुत परम्परा मे रचना-काल की दृष्टि से सर्वप्रथम **रसखान** (१५५८-१६३३ ई०) को स्थान दिया जा सकता है। ये एक मुस्लिम सरदार थे किन्तु इनका मूल नाम ज्ञात नहीं है, कविता मे ये 'रसखान' या 'रसखानि' उपनाम का प्रयोग करते थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'सुजान-रसखानि' एवं 'प्रेम बाटिका' उपलब्ध है। इन्होंने कृष्ण एवं गोपियों के स्वच्छन्द प्रेम का निरूपण अत्यन्त मार्मिक रूप मे किया है, साथ ही कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावना की भी व्यंजना गम्भीर रूप मे की है। उदाहरण के लिए इनके कुछ छन्द द्रष्टव्य है—

(क) कृष्ण-गोपियों की प्रणय-भावना :

जा दिन ते वह नंद को छोहरो या बन धेनु चराइ गयो है।
मोहिनी ताननि गोधन गावत, बेनु बजाइ रिझाइ गयो है।
वा दिन सों कछु टोनो सो कै रसखानि हिये में समाइ गयो है।
कोऊ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज बीर बिकाई गयो है॥
उनहीं के सनेहन सानी रहैं, उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनहीं की सुनैं न औ बैन त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं।
उनहीं संग डोलन मैं रसखानि सबै सुख सिंधु अघानी रहैं।
उनही बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखि मेरो अँसुवानी रहैं।

(ख) भक्ति-भावना :

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन ।
जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन ।
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्‌यौ कर छत्र पुरंदर-धारन ।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारन ।।
वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नवौं निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं ।
रसखानि जबै इन नैनन तें ब्रज के बन-बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिकहू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं ।।

वस्तुतः रसखानि ने अपने कवित्त-सवैयों में प्रेम के जिस सूक्ष्म भावात्मक रूप का चित्रण किया है, वह अपूर्व है । इनके प्रणय-चित्रण में कहीं भी शारीरिकता, नग्नता एवं अश्लीलता दिखाई नहीं पड़ती; सर्वत्र वह भावना के उदात्त एवं गम्भीर रूप को प्रस्तुत करते है । प्रेम का ऐसा शुद्ध, स्वच्छ, उदात्त एवं गम्भीर रूप हिन्दी के किसी भी अन्य कृष्ण-भक्त कवि मे दृष्टिगोचर नहीं होता । अवश्य ही प्रणयानुभूतियों की विशदता एवं गम्भीरता की दृष्टि से सूरदास इनसे बहुत आगे है तथा कृष्ण के जीवन-चरित्र को भी उन्होंने अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया है, पर ऐन्द्रिकता, नग्नता एवं अश्लीलता की दृष्टि से उनका काव्य सर्वथा निर्दोष एवं आक्षेपमुक्त नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार कृष्ण के प्रति अपने अनुराग की प्रत्यक्ष व्यंजना में भी रसखान, हिन्दी के सभी कृष्ण-भक्त कवियों में—केवल मीराँ को छोडकर—सबसे आगे दिखाई पड़ते है । फिर भी इन्हे कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा के स्थान पर इस परम्परा में स्थान दिये जाने का कारण यह है कि इनमें धर्मपरक भक्ति-भावना की अपेक्षा सौन्दर्याकर्षण-जन्य प्रेम की स्वच्छन्दता अधिक दिखाई पड़ती है । उसमें सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण, सौन्दर्योन्मुखता, रूपासक्ति, विरह-वेदना आदि की अभिव्यक्ति लगभग उसी स्वर एवं उसी शैली में हुई है, जिसे इस परम्परा के परवर्ती कवियों ने स्वीकार किया । रसखान के काव्य का भावपक्ष जितना गम्भीर है, शैली-पक्ष भी उतना ही प्रौढ़ है, इसमे कोई सन्देह नहीं ।

आलम—आलम नाम के अब तक दो कवि माने जाते रहे है, एक 'माधवानल कामकंदला' (प्रबन्ध-काव्य) के रचयिता एवं अन्य औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह के आश्रित प्रस्तुत परम्परा के कवि; पर अब यह प्रमाणित हो गया है कि ये दोनों एक ही हैं । श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस सम्बन्ध मे विस्तार से विचार करते हुए इनका रचना-काल सन् १५८३-१६२३ ई० निश्चित किया है ।[1] इनकी रचनाओं में 'माधवा-नल-कामकंदला', 'सुदामा-चरित', 'श्याम स्नेही', 'आलम केलि' आदि उल्लेखनीय है । इनमें प्रथम तीन प्रबन्ध-काव्य हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है, यहाँ इनका मुक्तक-संग्रह 'आलम-केलि' ही विचारणीय है ।

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ६२१ ।

'आलम-केलि' में प्रस्तुत प्रणय-चित्रण को समझने के लिए इनके व्यक्तित्व एवं जीवन से सम्बन्धित एक विशेष घटना को ध्यान में रखना चाहिए। कहा जाता है कि ये पहले हिन्दू थे, किन्तु एक मुस्लिम युवती, जो कि रंगरेजिन थी, की काव्य-कला पर मुग्ध होकर उससे विवाह तथा धर्म-परिवर्तन कर लिया था। इससे ज्ञात होता है कि इनमें कितनी अधिक भावुकता, रसिकता, कला-प्रियता एवं स्वच्छन्दता थी, जिसकी व्यंजना 'आलम-केलि' में भी मिलती है। कुछ आलोचकों का यह अनुमान है कि इस ग्रन्थ के बहुत-से छन्द जिन पर 'शेख' की छाप है, इनकी पत्नी के द्वारा रचित हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

'आलम-केलि' मे संयोग एवं वियोग शृङ्गार की विभिन्न परिस्थितियों, दशाओं एवं अनुभूतियों के साथ-साथ राधा-कृष्ण की लीलाओं का भी चित्रण यत्र-तत्र हुआ है। अतः कहा जाता है कि उनके स्वच्छन्द प्रेम पर उस युग के कृष्ण-भक्ति-काव्य का भी थोडा बहुत प्रभाव अवश्य था।

इनके काव्य मे प्रेम के विभिन्न पक्षों का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में हुआ है। इनकी वैयक्तिक प्रणय-गाथा सुखान्त मे परिणत हो जाने के कारण इनकी विरह-वेदना में वह गम्भीरता नहीं आ सकी, जो इस परम्परा के अन्य कवियों में मिलती है तथा उसमें कहीं-कही कामुकता, अश्लीलता एवं नग्नता के भी दर्शन होते है, फिर भी उसमे पर्याप्त सरसता एवं प्रभावोत्पादकता है। यथा—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल कौंकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करो बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि, तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते, तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

उपर्युक्त पंक्तियों से आलम की काव्य-प्रतिभा, सरसता एवं उनकी शैली की प्रौढ़ता का परिचय मिलता है। निःसन्देह उन्हे उच्चकोटि का कवि स्वीकार किया जा सकता है।

घनानंद—हिन्दी में घनानंद या आनंदघन नाम के अनेक कवि मिलते हैं, जिनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को विभिन्न इतिहासकारों ने घुला-मिला दिया है, जिससे अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गई है! हमारे विचार से सुजान-प्रेमी घनानंद एवं भक्त कवि आनन्दघन दो भिन्न व्यक्ति है; दोनों की रचनाओं की मूल भावना एवं अभिव्यंजना शैली में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है। आनंदघन संभवतः चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित थे तथा उन्होंने भक्ति-भावपूर्ण पद लिखे है; यथा—

श्री चैतन्य दयानिधि धीर।
कलि-काल मलीन दीन जन पावन करन परम गंभीर।
पूरनचंद नंदनंदन को उदै सदा उमगनि की भीर।
बहु नाव चढ़ाय बहुत जन प्रेम मगन करि पाए तीर।
भाव तरंग अभंग विभंजित महामधुर रस रूप सरीर।

विविध ताप तें जरत जीव जे सीतल किये परसि नीर।
करुना दृष्टि-वृष्टि सों सींचे जय जय जय आनंद मुदीर।।

इस प्रकार के पद घनानन्द के न होकर आनन्दघन के ही हैं। अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण में भी ये आनन्दघन ही मारे गये थे, न कि घनानंद। इस सम्बन्ध में चाचा हित वृन्दावनदास ने अपनी 'हरिकला बेलि' में लिखा है—

आनंदघन को ख्याल इक गायो खुलि गए नैन!
सुनत महा विह्वल भयो मन नहिं पायो चैन।।
ऐसे हूँ हरि-संत-जन मारे जमननि आइ।
वह अति देखि हियो भयो लीनो सोच दबाइ।।

यहाँ जिस हरि संत-जन आनन्दघन का उल्लेख किया है, वे भक्त आनन्दघन ही हैं, न कि स्वच्छन्द शृङ्गारी कवि घनानंद, जबकि भूल से यह मान लिया गया है कि घनानन्द की मृत्यु 'नादिरशाही' आक्रमण में हुई। अस्तु, इस विषय पर अभी और शोध की अपेक्षा है।

प्रस्तुत घनानन्द मुगल सम्राट मुहम्मदशाह रंगीले (१८वी शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध) के 'मीर मुंशी' थे। वे दरबार की एक वेश्या 'सुजान' पर आसक्त हो गये थे। इसी कारण इन्हे अन्त मे दरबार छोड़ना पड़ा तथा ये जीवन-भर सुजान के विरह में तड़पते रहे। सुजान का विरह ही इनकी समस्त कविताओं का प्रेरणा-स्रोत एवं विषय-वस्तु है। विरह की सच्ची प्रेरणा से काव्य-रचना करने के कारण इनके काव्य में एक ऐसी सहजता एवं स्वाभाविकता आ गई है, जो अन्यत्र बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रेरणा की ओर संकेत करते हुए इन्होंने स्वयं भी लिखा है—'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मेरे तो मोहीं कवित्त बनावत!'

घनानन्द ने सौन्दर्य, प्रेम और विरह का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म, मार्मिक एवं उत्कृष्ट रूप में किया है। उन्होंने अपनी प्रेयसी के सौन्दर्य का अंकन करते समय अपनी परिष्कृत रुचि एवं सच्ची अनुभूति का परिचय दिया है यथा—

झलकै अति सुन्दर आनन गौर छकै दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि में छबि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै।।
लट लोल कलोल कपोल करे, कलकंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै।।

उपर्युक्त चित्रण कवि की विशुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि का परिणाम है जिसमे कामुकता का लवलेश भी नहीं! कवि के लिए किसी अंग-विशेष की पृथुलता या उन्नतता में आकर्षण नहीं है, उसे तो प्रिया के रोम-रोम में सौन्दर्य की तरंगें उठती हुई दिखाई दे रही हैं। इस युग के कतिपय अन्य कवियों—केशव, बिहारी, आदि—की भाँति इन्होंने नारी के समस्त नख-शिख को प्रस्तुत नहीं किया, अपितु उसकी चितवन, मुस्कराहट, लज्जा जैसे सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया है।

घनानन्द के प्रेम में विरह की प्रधानता है; वस्तुतः उनका काव्य विरह-काव्य है। विरही हृदय की विभिन्न दशाओं एवं अनुभूतियों की व्यंजना इन्होंने अत्यन्त गम्भीर एवं उदात्त रूप में की है। प्रणय-विभोर मन की कोई ऐसी वृत्ति नहीं है जिसका सहज-स्वाभाविक चित्रण घनानंद के काव्य में अनुपलब्ध हो। प्रिया की स्मृति को आचार्यों ने प्रेम के एक संचारी के रूप में स्वीकार किया है। घनानंद ने स्थान-स्थान पर इसका निरूपण अत्यन्त आकर्षक रूप में किया है, जैसे—

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि वहै
लड़कीली बानि आनि उर में अरति है!
वहै गति लैन और बजावनि ललित नैन,
वहै हँसि दैन हियरा तें न टर्रति है!
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे को छवि
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है!
आनन्द निधान प्राण प्रीतम सुजान जू को,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है!

यहाँ प्रिया की सूक्ष्म चेष्टाओं, उसके ललित हावों एवं मधुर व्यवहार की ही स्मृति का निदर्शन हुआ है, जो कवि की प्रणय-भावना के अनुरूप है। कालिदास के 'मेघ-दूत' का यक्ष जहाँ अपनी प्रिया के विभिन्न अंगों की स्थूलता एवं पृथुलता तथा उसके साथ व्यतीत की हुई संयोगकालीन रात्रियों की स्मृति मे ही तल्लीन रहता है, वहाँ घनानन्द मे ऐसा कही भी नहीं मिलता। उसकी भावना सर्वत्र कामुकता एवं रसिकता के स्तर से बहुत ऊपर उठी हुई दिखाई पड़ती है।

विरह-वेदना की गम्भीरता का परिचय प्रिय को दिये गये उपालम्भों से भी मिलता है। घनानन्द के उपालम्भ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यथा—

कित को ढरिगो वह ढार अहो जिहि मो तन आँखिन ढोरत हे!
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सो आनि निहोरत हे!!
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनो, तब यों सब भाँतिन भोरत हे!
मन-माँहि जो तोर नहीं, तो कहो बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे!!

यही उपालम्भ कही-कही अत्यन्त दैन्यता, विकलता एवं प्रलाप मे परिणत हो जाता है, जबकि विरही अपनी व्यथा को सह पाने में असमथ होकर कहने लगता है—

मीत सुजान अनीति करो जिन, हा हा न हूजिये मोहि अमोही।
दीठि को और कहूँ नहिं ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही॥

× × ×

पहिले घनआनन्द सींचि सुजान कही बतियाँ अति प्यार पगी।
अब लाय वियोग की लाय, बलाय बढ़ाय, बिसास दगानि दगी॥
अँखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगैं, कौन घरी सु लगी।
मति दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी॥

× × ×

जो घनआनन्द ऐसी रुची, तौ कहा बस है ग्रहा प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरिहाय तुम्हें, धरनी में धँसौं कि ग्रकासहि चीरौं ॥

प्रिय से मिलन की इस ग्रातुरता का परिचय प्रिय को भेजे गए विभिन्न सन्देशों से मिलता तो उसके प्रेम की सघनता का प्रमाण संदेश लेकर ग्रानेवाले के प्रति दिखाई गई विशिष्ट कृतज्ञता, दैन्यता एवं ग्रात्मीयता में ढूँढा जा सकता है—

जहाँ तें पधारे मेरे नैननि ही पाँव धारे,
वारे ये विचारे प्रान पैंड पैंड पै मनौ।
ग्रातुर न होहु हा! हा! नेकु फैंट छोरि बैठो,
मोहिं वा बिसासी को है ब्यौरो बूझिबौ घनौ।
हाय! निरदई कों हमारी सुधि कैसें ग्राई,
कौन विधि दीनों पाती दीन जानि कै भनौ ॥

इस प्रकार हम देखते है कि घनानन्द ने विरह-वेदना की व्यंजना ग्रत्यन्त मर्म-स्पर्शी शब्दों में की है। उनकी उक्तियों में प्रणय की सच्ची ग्रनुभूति, भावना की सच्ची प्रेरणा एवं वेदना की सच्ची ग्राकुलता व्यक्त हुई है। इस क्षेत्र में घनानन्द की टक्कर का कोई ग्रन्य कवि दिखाई नही पडता। विद्यापति में सौन्दर्य-लालसा एवं रूप सौन्दर्य की ग्रभिव्यक्ति ग्रत्यन्त मनोरम शैली में हुई है, किन्तु उसमें प्रेम की ऐसी गम्भीरता कहाँ! सूरदास की गोपियाँ भी विरह-वेदना से कम व्यथित नही है, किन्तु उनके सामूहिक रुदन में एकाकी प्रेमी की व्यथा का ऐसा मौन चीत्कार कहाँ! प्रेम दीवानी मीराँ ग्रपने साँव-लिया के रंग में बेमुध है किन्तु वे इस बात को जानती है कि उनका मिलन ग्रात्मिक स्तर पर ही सम्भव है, ग्रतः उनकी पीडा पर ग्रलौकिकता एवं ग्राध्यामिकता का ऐसा ग्रावरण पडा हुग्रा है जो उसे ग्रधिक चंचल नही होने देता। इनके ग्रतिरिक्त नायिका-भेद की पुस्तकें पढकर जैसे-तैसे शृङ्गार-निरूपण करनेवाले ग्रन्य कवियों से तो इनकी ममता ही क्या? वस्तुतः यदि इनकी तुलना किसी से हो सकती है तो इसी परम्परा के ग्रन्य कवि रसखान ग्रौर बोधा से हो सकती है। किन्तु ग्रनुभूति की गम्भीरता, ग्रभि-व्यंजना की सशक्तता एवं प्रभाव की तीक्ष्णता की दृष्टि से व घनानन्द से थोड़े पीछे ही रह जाते है। हमारे विचार से यदि हिन्दी के समस्त शृङ्गारी कवियों में घनानन्द को शीर्ष-स्थान प्रदान कर दिया जाय तो ग्रनुचित नहीं होगा। भावात्मकता के साथ-साथ शैली की प्रौढ़ता, सशक्तता, लाक्षणिकता, व्यंजकता ग्रादि की दृष्टि से भी इनकी पंक्तियाँ व्रज-भाषा काव्य के प्रौढतम रूप का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें सन्देह नहीं कि मध्य-कालीन प्रवन्ध-काव्यों मे जो स्थान तुलसीदास के 'रामचरित मानस' का है, वही इस काल के मुक्तक काव्य में घनानन्द के कवित्त-सवैयों का है; उनके मुक्तक हिन्दी मुक्तकों के सौन्दर्य की चरम सीमा का स्पर्श करते हैं, यह तथ्य है।

बोधा—बोधा का मूलनाम बुद्धसेन बताया जाता है। ये पन्ना दरबार के ग्रश्रित थे तथा 'सुभान' नामक वेश्या से प्रेम करते थे। यही इनके काव्य का ग्रालम्बन एवं प्रेरणा-स्रोत है। इनका रचना-काल १७७३-१८०३ ई० माना जाता है। इनके मुक्तकों में सौन्दर्य, प्रेम ग्रौर विरह का निरूपण ग्रत्यन्त मार्मिक रूप में हुग्रा है, यथा—

(क) सौन्दर्यानुभूति :

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।

× × ×

जान मिलै तो जहान मिलै नहिं जान मिलै तो जहान कहाँ को।

(ख) प्रेम-पंथ की विकरालता :

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सके न तहाँ परतीति को टाँडो लदावनो है।।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि ता पै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है।।

(ग) विरहानुभूतियों की व्यंजना :

'कबहूँ मिलबो, कबहूँ मिलबो, यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर ते कढ़ि आवै, गरे तें फिरैं, मन की मन ही में सिरैबो करै।।
कवि बोधा न चाँड सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै।।

वस्तुतः भाव-पक्ष की गम्भीरता एवं मार्मिकता की दृष्टि से बोधा पूर्णतः घनानन्द के लघु संस्करण प्रतीत होते हैं, किन्तु इनकी अभिव्यञ्जना-शैली में उनकी सी स्वच्छता, परिष्कृति एवं प्रौढ़ता परिलक्षित नहीं होती। इन्होंने 'विरह-वारीश' नाम की एक रोमांसिक कथा भी लिखी थी, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। इनके मुक्तक-संग्रहों मे 'विरही सुभान-दम्पत्ति विलास', 'इश्कनामा', 'बारहमासा' आदि का नाम उल्लेखनीय हैं।

ठाकुर—इस नाम के हिन्दी में अनेक कवि हुए हैं, किन्तु प्रस्तुत कवि का जन्म ओरछा में १७६६ ई० में हुआ था। इनकी कविताओं का एक संग्रह लाला भगवानदीन ने 'ठाकुर-ठसक' नाम से प्रकाशित करवाया था। यद्यपि इस परम्परा के अन्य कवियों की भाँति ठाकुर के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में स्वच्छन्द प्रेम की कोई गाथा प्रचलित नहीं है, फिर भी वे अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण इस परम्परा में आते हैं। उन्होंने अपने युग के शास्त्रबद्ध मुक्तककारों पर व्यंग करते हुए लिखा है—

सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानो है!
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।

× × ×

ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबौ खेल करि जानो है।।

यहाँ उन्होंने स्वच्छन्द एवं सहज काव्य-रचना की जिस प्रवृत्ति का समर्थन

अप्रत्यक्ष रूप में किया है, वही इनके काव्य में भी प्रत्यक्ष होती है। प्रणयानुभूतियों की व्यञ्जना इन्होंने अत्यन्त सहज स्वाभाविक रूप में की है :

वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए, इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वै है।

वस्तुतः इन्होंने प्रणयी हृदय की साधरण बातों को भी पूर्ण सहजता एवं सरसता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। यह दूसरी बात है कि वैयक्तिक विरहानुभूतियों के अभाव के कारण कविता में वेदना की वह गम्भीरता नहीं आने पाई, जो इस परम्परा में अन्यत्र मिलती है।

द्विजदेव—इस परम्परा के अन्तिम कवि अयोध्या के महाराज मानसिंह माने जाते हैं जो 'द्विजदेव' उपनाम से कविता करते थे। इन्होंने भी ठाकुर की प्रणय भावनाओं की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप में की है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

तू जो कही, सखि ! लोनो सरूप
सो मो अँखियान कों लोनी गई लगि।

× × ×

एहो ब्रजराज ! मेरो प्रेमधन लूटिबे को,
बीरा खाय आए किते आपके अनोखे नैन !

× × ×

हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समैं में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समैं में चल पवन दगा दई॥

इनके दो मुक्तक-संग्रह—'शृंगार-बत्तीसी' एवं 'शृंगार-लतिका'—प्रकाशित हैं। यद्यपि घनानन्द, बोधा की उच्चता एवं गम्भीरता इनमें नहीं मिलती, फिर भी इनके काव्य में सरसता अवश्य है। विशेषतः ऋतु-वर्णन के क्षेत्र में इन्होंने अपनी परम्परा के अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक रुचि दिखाई है। जिसकी प्रशंसा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'ऋतु-वर्णन में इनके हृदय का उल्लास उमड़ पड़ता है। बहुत से कवियों के ऋतु-वर्णन हृदय को सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं। पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिए मानो आपसे आप आगे बढ़ता था, इस कथन की यथार्थता निम्नांकित उद्धरणों में देखी जा सकती है;

मिलि माधवी आदिक फूल के व्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लता गन तान वितान सबै विधि चित्त चुरायो करैं।

द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, वसन्त! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि विष-बूँद बरसावे ना।
द्विजदेव की सौं अब चूके मत दाँव, ए रे
पातकी पपीहा! तू पिया की धुनि गावे ना॥

× × ×

हौं तौ बिन प्रान, चहत तजोई अब,
कत नभ चंद तू अकास चढ़ि धावैं ना॥

उपर्युक्त अंशों में प्रकृति के वैभव, विभिन्न ऋतुओं के उन्मादक प्रभाव एवं उनकी विशिष्ट अनुभूतियों की व्यञ्जना भावानुरूप शैली में की गई है, जो कवि के प्रकृति-प्रेम की परिचायक है।

द्विजदेव को इस परम्परा का अन्तिम कवि माना जाता है, यद्यपि इसका प्रभाव परवर्ती कवियों पर भी पाया जाता है; विशेषतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कवित्त-सवैयों में इस परम्परा के स्वच्छन्द प्रेम की प्रतिध्वनि स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ती है, किन्तु काल-सीमा की दृष्टि से वे आधुनिक काल में आते हैं, अतः यहाँ इस परम्परा के कवियों की चर्चा समाप्त की जाती है।

प्रमुख विशेषताएँ

प्रस्तुत काव्य-परम्परा के विशिष्ट कवियों एवं उनके काव्य के अध्ययन के आधार पर उनकी प्रमुख विशेषताओं का निर्देश यहाँ संक्षेप में किया जाता है :

(१) **प्रेरणा-स्रोत एवं काव्य-प्रयोजन**—प्रस्तुत परम्परा के कवियों ने सामान्यतः स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा से काव्य-रचना की है; इस क्षेत्र में उन्होंने किसी बाह्य निर्देश को स्वीकार नहीं किया है। घनानन्द ने उसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

'लोग है लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत!'

अर्थात् लोग लगकर या प्रयास करके कविता बनाते हैं, जब कि मुझे तो मेरी कविता (या कवित्त) बनाती है। कवि के कथन का आशय यह है कि वह कविता बनाने का प्रयास नहीं करता, अपितु अनुभूतियों की प्रेरणा से वह स्वतः ही कविता बनाने को विवश हो जाता है। यह परिस्थिति इस युग के शास्त्रीय मुक्तक रचयिताओं की स्थिति के प्रतिकूल पड़ती है। जहाँ वे केशवदास के शब्दों में कल्पना एवं चिन्तन के बल पर काव्य-रचना करते थे ('चरन धरत चिन्ता करत') वहाँ वे सहजानुभूति की प्रेरणा से अनायास ही भावाभिव्यक्ति में प्रवृत्त हो जाते थे। वस्तुतः इस परम्परा के सहजानुभूति से प्रेरित काव्य को ही सच्चा मानते थे, चेष्टापूर्वक रचित काव्य का तो उन्होंने उपहास किया है; यथा—

सीखि लीनो मीन मृग, खंजन, कमल, नयन,
सीखि लीनो जस और प्रताप को कहानो है।
× × ×
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेलि करि जानो है।।

—ठाकुर

इससे स्पष्ट है कि कवियों ने सच्ची कविता के मर्म को समझकर सहजानुभूति एवं सच्ची प्रेरणा के महत्त्व को स्वीकार किया था तथा यही कारण है कि हम इनके काव्य में काव्येतर तत्त्वों के स्थान पर अनुभूति की प्रधानता पाते है।

(२) **स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता**—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, इन कवियों के जीवन एवं काव्य में स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता की प्रधानता है। स्वच्छन्द प्रेम का अर्थ यह है कि इन्होंने विशुद्ध सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा से जाति, समाज एवं धर्म के बन्धनों की अवहेलना करते हुए ऐसी नायिकाओं मे प्रणय-सम्बन्ध स्थापित किया था, जो अन्य जाति एवं धर्म से सम्बन्धित थीं। उदाहरण के लिए आलम, घनानन्द एवं बोधा मूलतः हिन्दू थे, किन्तु उनकी प्रेयसियाँ—क्रमशः शेख, सुजान, सुभान, मुस्लिम थीं। ऐसी स्थिति में इन्हे प्रेम के क्षेत्र में पर्याप्त साहस, संघर्ष एवं त्याग का परिचय देना पड़ा। मित्रों के उपहास, समाज के बहिष्कार, आश्रयदाताओं के विरोध को सहन करते हुए इन्होंने प्रेम के क्षेत्र में सत्यता, गम्भीरता एवं औदात्य का परिचय दिया। बोधा के शब्दों में वे अपनी प्रेयसी के लिए संसार के समस्त वैभव को ठुकराने के लिए सहर्ष प्रस्तुत थे—

'एक सुभान के आनन पै, कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
जानि मिले तो जहान मिलै, नहीं जान मिलै तो जहान कहाँ को।'

प्रेम की इसी अनन्यता के कारण इनके शृंगार-वर्णन में निम्न स्तर की कामुकता, छिछली रसिकता एवं बाह्य चेष्टाओं के स्थान पर प्रणय के स्वच्छ, गम्भीर एवं वेदना-प्रधान रूप की व्यञ्जना मिलती है।

(३) **नारी-सौन्दर्य के प्रति आस्था**—इन कवियों ने नारी के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को आस्था की दृष्टि से देखते हुए उसका चित्रण अत्यन्त स्वच्छ, सूक्ष्म एवं उदात्त रूप में किया है। इन्होंने परम्परा के अनुसार नखशिख की स्थूल परिपाटी का निर्वाह करने के स्थान पर उसके सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की है, यथा—

अँग अंग तरंग उठे, द्युति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै!
× × ×
'छवि को सदन, गोरो वदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मृदु मीठी मुस्कयानि में!'

—घनानन्द

वस्तुतः इन्होंने नारी के प्रति अत्यन्त सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण एवं अपनी परिष्कृत रुचि एवं व्यापक सौंदर्य-चेतना का प्रमाण प्रस्तुत किया है, जो महत्वपूर्ण है।

(४) **विरह की प्रधानता**—इनमें से अधिकांश कवियों का प्रेमपूर्ण जीवन प्रायः प्रेयसी की मधुर स्मृति में ही व्यतीत हुआ था। सामाजिक परिस्थितियों की विषमता के कारण वे अपने जीवन में संयोग की घड़ियाँ प्राप्त करने में प्रायः असफल रहे। आलम ने अवश्य हिन्दू धर्म को त्यागकर अपने प्रेयसी शेख के सान्निध्य का सुख प्राप्त कर लिया था, किन्तु कतिपय अन्य कवियों पर यह बात लागू नहीं होती। यही कारण है कि उनके काव्य में विरह-वेदना की अभिव्यक्ति अत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक रूप में हुई है।

(५) **वैयक्तिकता**—हिन्दी काव्य में कदाचित् ये पहले कवि हैं, जिन्होंने लौकिक प्रेम की वैयक्तिक अनुभूतियों को निःसंकोच रूप में व्यक्त किया है। इन्होंने अपनी प्रेम-कहानी सुनाने के लिए न तो राधा-कृष्ण की भक्ति का आवरण उधार लिया और न ही किसी रत्नसेन या पद्मावती का आश्रय ग्रहण किया। दूसरे, यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि इन्होंने अपनी प्रेयसियों—सुजान या सुभान को अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित करने का साहस किया। वस्तुतः इन कवियों की सी वैयक्तिकता आगे चलकर छायावादी एवं छायावादोत्तर कालीन कविताओं में ही मिलती है, हिन्दी काव्य में अन्यत्र इसका प्रायः अभाव है।

शैली—इन कवियों ने अपने काव्य में प्रायः मुक्तक शैली में कवित्त-सवैयों का प्रयोग किया है। इनकी भाषा प्रौढ़ ब्रज है जिसे उन्होंने नयी शक्ति और नया सौन्दर्य प्रदान किया है। घनानन्द जैसे कवियों ने अपने लाक्षणिक प्रयोगों एवं विरोधाभास, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, प्रतीक जैसे तत्त्वों के प्रयोग द्वारा उसकी अर्थ-शक्ति में पर्याप्त अभिवृद्धि की। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन्होंने कला-पक्ष की साज-सँवार के लिए प्रयास किया, अपितु यह समझना चाहिए कि भावों की सच्ची प्रेरणा एवं भाषा पर पूर्ण अधिकार के कारण ही उनकी शैली में वक्रता एवं लाक्षणिकता सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों का प्रादुर्भाव सहज ही हो गया।

अस्तु, इस परम्परा का काव्य भावों की गम्भीरता एवं शैली की प्रौढ़ता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अवश्य ही इन्होंने जीवन के लिए कोई महान् सन्देश प्रदान नहीं किया, इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु जहाँ तक सौन्दर्य—विशुद्ध काव्य-सौन्दर्य—की बात है, ये कवि किसी से पीछे नहीं हैं। इन्होंने कला की साधना विशुद्ध कलात्मक प्रयोजनों से की थी तथा इस दृष्टि से इनकी उपलब्धियों का महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। बौद्धिक तत्त्वों, शास्त्रीय ज्ञान एवं नैतिक आदर्शों में न इनकी रुचि थी और न ही इसकी इनसे आशा की जा सकती है। वस्तुतः इनके शब्द प्रेम-विवश हृदय के सच्चे उद्गार हैं, जिन्हें इसी रूप में ग्रहण करना उचित एवं संगत होगा।

:: इकतीस ::

हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप और विकास

१. आदि महाकाव्य।

२. महाकाव्य का स्वरूप—(क) भारतीय दृष्टिकोण, (ख) पाश्चात्य दृष्टिकोण, (ग) आधुनिक दृष्टिकोण।

३. संस्कृत के महाकाव्य।

४. प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य।

५. हिन्दी में महाकाव्य का विकास—(क) पृथ्वीराज रासो, (ख) पद्मावत, (ग) रामचरित मानस, (घ) रामचंद्रिका, (ङ) साकेत, (च) कामायनी, (छ) कुरुक्षेत्र, (ज) उर्वशी तथा अन्य।

६. उपसंहार।

थी महाकाव्य रचने की मेरे मन में।
तब कंकण किंकिणि से सहसा टकराकर,
फट पड़ी कल्पना शत सहस्र गायन में।
उस दुर्घटना से महाकाव्य कण-कण हो,
चरणों के आगे बिखर पड़ा है क्षण में।
थी महाकाव्य रचने की मेरे मन में।
हा! कहाँ गई यह युद्ध कथा सपने-सी।

—रवीन्द्र ठाकुर (अनूदित)

साहित्य के विभिन्न रूपों में महाकाव्य का कितना महत्त्व है, यह विश्व-कवि रवीन्द्र की उपर्युक्त पंक्तियों से—जिनमें उन्होंने अपनी महाकाव्य रचने की आकांक्षा पूर्ण न होने पर, गहरा क्षोभ व्यक्त किया है—अनुमित किया जा सकता है। 'महाकाव्य' शब्द ही 'महत्' और 'काव्य' इन दो शब्दों के समास से व्युत्पन्न है। भारतीय साहित्य के काव्य के साथ 'महत्' विशेषण का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकिकृत रामायण के उत्तर-काण्ड में मिलता है, जहाँ राम ने लव-कुश से प्रश्न किया था—

किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः॥

अर्थात् यह काव्य कितना बड़ा है और किस महात्मा की प्रतिष्ठा है? इस महत् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं? यहाँ 'कर्त्ता काव्यस्य महतः' 'महाकाव्य' शब्द

की ओर संकेत करता है। साथ ही इसमें महाकाव्य के तीन मूल लक्षणों की भी ध्वनि मिलती है—(१) महाकाव्य आकार-प्रकार में बड़ा होता है। (२) उसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा का चित्रण किया जाता है। और (३) उसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि या उच्चकोटि का साधक कवि होता है।

भारतीय दृष्टिकोण

संस्कृत आचार्यों में महाकाव्य के स्वरूप की सर्वप्रथम विस्तृत व्याख्या करने का श्रेय आचार्य भामह को है, जिन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में बन्ध की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद किये हैं—१. सर्गबद्ध, २. नाटक, ३. आख्यायिका, ४. कथा और ५. अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य। सर्गबद्ध का ही दूसरा नाम महाकाव्य है। उनके मतानुसार इसमें किसी महान् विषय का निरूपण होना चाहिए। उनमें ग्राम्य शब्दों का परिहार, अर्थ का सौन्दर्य, अलंकारों का प्रयोग और सच्ची या उच्चकोटि की कहानी का वर्णन होना आवश्यक है। उसमें राजदरबार, दूत, आक्रमण, युद्ध आदि का चित्रण होता है तथा अन्त में नायक का अभ्युदय दिखाया जाता है। नाटक की पाँचों संधियों का आयोजन भी उसमें किया जाता है। साथ ही उसका कथानक उत्कर्षपूर्ण होते हुए भी अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। उसमें काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारों वर्गों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—का निरूपण होता है, फिर भी प्रधानता अर्थ को दी जाती है। उसके वर्णन में 'लोक-स्वभाव' या स्वाभाविकता का गुण विद्यमान रहता है तथा उसमें सभी रसों का पृथक्-पृथक् निरूपण होता है। प्रारम्भ में नायक का कुल, शक्ति, प्रतिभा या विद्वत्ता के आधार पर उत्कर्ष दिखाकर अन्त में किसी अन्य पात्र की सफलता के निमित्त उसका वध दिखाना अनुचित है। यदि नायक को सर्वाधिक प्रभावशाली या अन्त में उसे सफल सिद्ध नही किया गया तो उसके प्रारम्भिक अभ्युदय का कोई महत्त्व नहीं है, अतः महाकाव्य के अन्त में नायक को विजयी दिखाना आवश्यक है। (काव्यालंकार—१।१८-२३)।

भामह के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने महाकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, किन्तु उसमें अधिक मौलिकता नहीं मिलती। प्रायः सभी ने भामह के ही लक्षणों का पिष्टपेषण किया है। दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्क्रिया और वस्तु-निर्देश की ओर संकेत करने की नई बात कही है। आगे चलकर साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने अवश्य भामह की व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए इसके लक्षणों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है—"जिसमें सर्गों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-संधियाँ रहती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या किसी लोक-प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्ध रखने वाली होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें से कोई एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है।

कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों के गुणों का वर्णन होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, षड्ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव सांगोपाग वर्णन होना चाहिए। इसका नामकरण कवि के नाम या चरित्र के नाम अथवा चरित्र-नायक के नाम के आधार पर होना चाहिए। कहीं इनके अतिरिक्त भी नामकरण होता है, जैसे भट्टि। सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर सर्ग का नाम रक्खा जाता है। संधियों के अंग यहाँ यथासम्भव रखे जाने चाहिएँ। यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हर्ज नहीं है। जलक्रीड़ा, मधुपानादिक सांगोपांग होने चाहिएँ। महाकाव्य के उदाहरण जैसे 'रघुवंशादि' (साहित्य-दर्पण. अध्याय ६।३१५—३२४) भामह और विश्वनाथ के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों की तुलना से स्पष्ट होगा कि परवर्ती आचार्य ने केवल संख्या-विस्तार कर दिया है, महाकाव्य की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों के दृष्टिकोणों में विशेष अन्तर नहीं मिलता। अस्तु, दोनों की व्याख्याओं का निष्कर्ष संक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) महाकाव्य की कथावस्तु का आधार व्यापक होता है जिससे उसमें जीवन, जगत् और प्रकृति के विभिन्न अंगों का विस्तृत रूप में चित्रण सम्भव हो सके।

(२) उसका नायक एक ऐसा आदर्श और महान् व्यक्ति होता है जिससे वह पाठकों की श्रद्धा प्राप्त कर सके तथा उन्हे कोई सन्देश दे सके।

(३) उसमें मानव-हृदय की सभी प्रमुख चित्त-वृत्तियों, भावनाओं आदि का चित्रण होना चाहिए।

(४) सारा कथानक सर्गों में विभाजित तथा संधियों से युक्त हो जिससे उसमें प्रबन्धत्व का गुण आ सके।

(५) उसकी शैली में काव्य-सौष्ठव व काव्य के सभी प्रमुख गुणों का विकास होना चाहिए।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य (Epic) को गौरवपूर्ण स्थान देते हुए उसके स्वरूप की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। प्रसिद्ध यूनानी आलोचक अरस्तू (Aristotle) ने अपने काव्य-शास्त्र (Poetics) में लिखा है कि "महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है, जो स्वतः गम्भीर एवं पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें आद्यन्त एक छन्द हो, जिसमें एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चरित्र श्रेष्ठ हों, कथा सम्भावनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।" (काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डॉ० शकुन्तला दुबे; पृष्ठ ८३)

यद्यपि स्थूल दृष्टि से भारतीय तथा यूरापीय महाकाव्य के लक्षणों में गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मूल प्रकृति की दृष्टि से दोनों मे गहरा अन्तर भी है। भारतीय महाकवियों ने जहाँ जीवन को समष्टि रूप में ग्रहण करते हुए तथा मंगलमयी भावनाओं का प्राधान्य दर्शाते हुए महाकाव्य का अन्त सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् में किया है, वहाँ पाश्चात्य काव्य-रचयिताओं ने अपने दृष्टिकोण को इहलोक की विभूति तक ही सीमित रखते हुए उसमें अनिवार्य रूप से उपस्थित होनेवाले दैवी क्लेशों में ही जीवन का पटाक्षेप किया है। भारतीय जीवन में आध्यात्मिकता, आदर्शवादिता एवं समन्वयात्मकता की प्रधानता रही है। जबकि पाश्चात्य जीवन में भौतिकता, यथार्थवादिता एवं विश्लेषणात्मकता को प्रमुखता प्राप्त है, अतः इसी के अनुरूप उनके महाकाव्यों में अन्तर मिलना स्वाभाविक है। भारतीय महाकाव्यों में सत् की असत् पर विजय, पवित्र भावनाओं का विकास व नायक के उत्कर्ष तथा कथा की सुखमय परिणति पर बल दिया गया है, जबकि पाश्चात्य महाकाव्यों मे इनसे विरोधी तत्त्वों का चित्रण मिलता है। पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीयता पर अधिक बल दिया गया है। पश्चिम में देवों को क्रूर माना गया है, जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्न होते है, भारतीय महाकाव्यों मे उत्पीड़न केवल चरित्र की परीक्षा के लिए होता है, अकारण नहीं। अस्तु, यूरोपीय महाकाव्य की प्रकृति का पता महाकवि होमर के दिये गए इस सन्देश से भली-भाँति चल जाता है—"निर्बल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है, उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा क्लेश मे जियें और वे स्वयं (देवता) सदा आनन्द में रहे।"

आधुनिक दृष्टिकोण

आधुनिक युग में महाकाव्य के स्वरूप एवं लक्षणों के सम्बन्ध में हमारे आलोचकों एवं कवियों के दृष्टिकोण मे पर्याप्त विकास हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्ववर्ती संस्कृत-आचार्यो के निर्धारित लक्षणों की उपेक्षा करते हुए उसके केवल चार तत्त्वों को महत्त्व दिया है—(१) इतिवृत्त, (२) वस्तु-व्यापार वर्णन, (३) भाव-व्यंजना और (४) संवाद। शुक्लजी के विचारानुसार महाकाव्य का इतिवृत्त व्यापक होने के साथ-साथ सुसंगठित भी होना चाहिए। उसमे ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन होना चाहिए जो हमारी भावनाओं को तरंगित कर सके। कवि की भाव-व्यंजना मे हृदय को आन्दोलित कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। महाकाव्य के संवादों में रोचकता, नाटकीयता और औचित्य का गुण होना अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त सन्देश की महानता और शैली की प्रौढ़ता भी महाकाव्य के दो आवश्यक तत्त्व है—यद्यपि शुक्लजी ने इनका स्पष्ट रूप से उल्लेख नही किया है, किन्तु उनके द्वारा की गई विभिन्न महाकाव्यों की समीक्षा से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

शुक्लजी का महाकाव्य-सम्बन्धी मानदण्ड मुख्यतः तुलसीकृत 'रामचरित-मानस' पर आधारित है, जो द्विवेदीयुगीन रचनाओं पर भी लागू हो जाता है; किन्तु परवर्ती

युगों के महाकाव्य के लिए उनका मानदण्ड उपयुक्त नहीं रहता। छायावादी युग की रचनाओं में कामायनी आदि ग्रन्थ ऐसे है, जिन्हे हम महाकाव्य के नवीनतम स्वरूप के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण कर सकते है। इन ग्रन्थों में इतिवृत्त बिलकुल संक्षिप्त और सूक्ष्म है, स्थूल घटनाओं का प्रायः अभाव-सा है; पात्रों के सूक्ष्म मनोविश्लेषण एवं उनकी हृदयगत भावनाओं की अभिव्यञ्जना की प्रमुखता है; बाह्य-संघर्ष के स्थान पर मानसिक संघर्ष का चित्रण है, तथा प्राचीन कथानकों के आधार पर वर्तमान युग की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए महान् सन्देश दिया गया है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थूल विशेषताओं एवं शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य का नवीनतम रूप में अपने मूल रूप से बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। इसी को ध्यान में रख डॉ० नगेन्द्र ने महाकाव्य के देशकाल निरपेक्ष पाँच लक्षण प्रस्तुत किए है जो सर्वमान्य होने चाहिए—(१) उदात्त कथानक (२) उदात्त कार्य (३) उदात्त भाव (४) उदात्त चरित्र और (५) उदात्त शैली। किन्तु उसकी प्रकृति का मूल गुण—महाकवि द्वारा महान्-पात्र या सन्देश को प्रस्फुटित करने वाली महान् काव्य-रचना—अब भी उसमें सुरक्षित है।

संस्कृत के महाकाव्य

भारतीय महाकाव्य-परम्परा का आरम्भ रामायण और महाभारत से होता है, यद्यपि इनसे भी पूर्व कुछ महाकाव्य लिखे गए थे, जो अनुपलब्ध है। रामायण और महाभारत मे पूर्ववर्ती कौन है, इसके सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, किन्तु हम प्राचीन धारणा को स्वीकार करते हुए रामायण को ही पूर्ववर्ती मानते है। रामायण आदि-कवि वाल्मीकि की सुन्दर कृति है, जिसमें राम के चरित्र का गुण-गान सात कांडों मे किया गया है। इसमे प्रबन्धत्व का निर्वाह सम्यक् रूप से हुआ है तथा इसकी शैली सरल किन्तु प्रौढ़ है। विद्वानों ने इसे करुण रस-प्रधान बताया है, किन्तु हमारे विचार से ऐसा मानना उचित नहीं। यह ठीक है कि इसके नायक राम के जीवन में अनेक दुःखद परिस्थितियों एवं घटनाओं का संयोग होता है, किन्तु राम उनके समक्ष पराजित, दुःखी या निराश दिखाई नहीं पडते। उनमें सर्वत्र अपने प्राचीन आदर्शो की रक्षा का, मर्यादाओं के पालन का तथा विपक्षियों के संहार का उत्साह दिखाई देता है। राम पाठक की दया के आलम्बन नही, अपितु उसकी श्रद्धा के पात्र बनते है। उसे पढ़कर हमें कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा मिलती है—परिस्थितियों के आगे नत-मस्तक होकर भाग्य के क्रूर विधान को स्वीकार कर लेने की नहीं; अतः इस काव्य का प्रधान रस वीर है, करुण नहीं। वैसे अन्य रसों की आयोजना भी इसमें अंगी रूप में हुई है।

महाभारत आकार-प्रकार की दृष्टि से रामायण की अपेक्षा बहुत विस्तृत है तथा यह अठारह पर्वों में विभक्त है। इसकी मुख्य कथा में कौरव और पांडवों के संघर्ष का चित्रण है, किन्तु प्रासंगिक रूप में कृष्ण के भी जीवन-चरित्र का वर्णन हुआ है। इसका प्रारम्भ वीर रस के साथ हुआ है, किन्तु अन्त शान्त में होता है। इसके विभिन्न पर्वों में

अनेक उपाख्यानों का संग्रह किया गया है, जिनमें 'नल-दमयन्ती', 'संवरण-तप्ता' आदि के उपाख्यान शृङ्गार रस से ओत-प्रोत हैं। रामायण की-सी सुसम्बद्धता इसमें नहीं मिलती। यद्यपि कला की दृष्टि से रामायण और महाभारत प्रारम्भिक काव्य ही हैं, किन्तु परवर्ती साहित्य को इन्होंने जिस मात्रा में प्रभावित किया, उतना किसी अन्य रचना ने नहीं किया।

आगे चलकर संस्कृत में अनेक महाकाव्य लिखे गए जिनमें अश्वघोष का 'बुद्ध-चरित', कालिदास के 'कुमार-सम्भव' और 'रघुवंश', भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल वध' और श्रीहर्ष का 'नैषधीय-चरित' उल्लेखनीय हैं। इन महाकाव्यों में वे प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं, जिनके आधार पर विभिन्न आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए हैं। अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों मे रस-सृष्टि के निमित्त भाव-व्यंजना को प्रमुखता प्राप्त है, जब कि परवर्तीयुगीन रचनाओं में आलंकारिकता और ज्ञान प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है। कथानक की जैसी रोचकता, सुसम्बद्धता एवं प्रबन्धत्व का जैसा निर्वाह वाल्मीकिकृत रामायण में मिलता है, उसका इन महाकाव्यों में अभाव है। कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक संस्कृत के सभी महाकवियों को कथावस्तु की कोई चिन्ता नही है; उसे अपने भाग्य पर छोड़कर ये धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। जहाँ अश्वघोष और कालिदास प्रत्येक चरण पर सूक्ष्म भावानुभूतियों की व्यंजना में तल्लीन हो जाते हैं, वहाँ भारवि, माघ और श्रीहर्ष प्रत्येक पंक्ति मे अलंकारों की झड़ी लगा देते हैं। वस्तुतः संस्कृत के परवर्ती महाकवियों का ध्यान विषय-वस्तु की अपेक्षा शैली के चमत्कार की ओर अधिक है और यही कारण है कि उनमें यथार्थ जीवन की परिस्थितियों, पात्रों के सहज-स्वाभाविक रूप और वास्तविक घटनाओं का चित्रण नहीं मिलता।

प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य

प्राकृत और अपभ्रंश मे महाकाव्य-परम्परा और आगे बढ़ी। प्राकृत के महाकाव्यों में 'रावण वहो' (रावण वध), 'लीलावइ' (लीलावती), सिरिचिन्हकव्वं (श्रीचिन्ह काव्य), उसाणिरुद्ध (उषानिरुद्ध), कंस वहो (कंस वध) आदि उल्लेखनीय है। अपभ्रंश मे जैन कवियों द्वारा भी उच्च कोटि के महाकाव्य लिखे गए जिनमें कुछ ये हैं—(स्वयंभू ९वीं शती ई०) के 'पद्मचरित' और 'रिट्ठणेमिचरिउ' मे क्रमशः रामायण और महाभारत से कथानक ग्रहण किया गया है। पुष्पदंत (१०वीं शती ई०) ने 'महापुराण', 'नागकुमार चरित', यशोधरा चरित' में अनेक जैनधर्मानुयायी महापुरुषों के चरित्र का गान किया है। आगे चलकर पद्मकीर्ति, धनपाल, वीर, नयनन्दि, कनकामर मुनि आदि ने भी पुष्पदन्त का अनुकरण करते हुए अनेक चरित्र-काव्य लिखे, जिनमें से कुछ में महाकाव्य की संज्ञा से भूषित होने की क्षमता है। प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य मुख्यतः धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित हैं। उनका लक्ष्य जन-साधारण की श्रद्धा को अपने तीर्थङ्करों व पौराणिक पात्रों की ओर उन्मुख करना है। अतः उनमें कथानक की रोचकता, पात्रों का

औदात्य, साम्प्रदायिक शिक्षाओं का प्रचार और शैली की सरलता मिलती है। ये महाकाव्य माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों की भाँति कोरे विद्वानों के मनन की ही वस्तु नही है, साधारण शिक्षित व्यक्ति भी उनका रसास्वादन कर सकता है।

हिन्दी के महाकाव्य

प्राकृत और अपभ्रंश की महाकाव्य-परम्परा हिन्दी मे और भी अधिक पल्लवित, पुष्पित और विकसित हुई। हमारे कुछ विद्वानों की मान्यता है—'हिन्दी में यद्यपि लम्बे आकार के अनेक सर्गबद्ध काव्य-ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु उनमें से केवल कुछ को ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थ मे तो महाकाव्य का प्रायः अभाव ही समझना चाहिए। वास्तव मे हिन्दी भाषा के सम्पूर्ण विकास-काल मे महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव रहा है।' वस्तुतः यह धारणा कुछ निजी भ्रांतियों पर आधारित है, अन्यथा जिस काल मे महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, गोविन्दसिंह, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू जैसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ, उसे महाकाव्य की रचना के अनुपयुक्त बताना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। यदि शुष्क निराशावादी दृष्टिकोण को लेकर न चला जाय तो हिन्दी में हमे अनेक महाकाव्य—पद्मावत, रामचरितमानस, कामायनी, कुरुक्षेत्र आदि दृष्टिगोचर होंगे, जिन पर किसी भी भाषा का साहित्य गर्व कर सकता है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल, आदिकाल या वीरगाथा काल का तो अस्तित्व ही संदिग्ध है। इस युग मे रचित मानी जानेवाली रचनाओं में अधिकाश अप्रामाणिक या परवर्ती है। इसी कोटि की रचनाओं में 'पृथ्वीराज रासो' भी एक है, जो महाकाव्य की सी महत्ता मे सम्पन्न है। इस ग्रन्थ का यह दुर्भाग्य था कि अभी वह साहित्य-गगन मे पूर्णतः उद्भासित भी न हो पाया था कि कुछ इतिहासकारों की क्रूर दृष्टि इस पर पड़ गई, फलतः यह ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता व स्वाभाविकता आदि ग्रहों की काली छाया से आवृत्त होकर आभा-शून्य हो गया। यदि विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से देखें तो किसी भी रचना का महत्त्व इस बात में नही है कि वह किस युग मे किस कवि के द्वारा रची गई, अपितु उसकी भावनाओं को तरंगित करने की शक्ति, उसमें निहित काव्य-गुणों की व्यापकता तथा उसकी शैली की प्रौढ़ता मे है। यदि 'रामचरितमानस' का रचयिता तुलसी के स्थान पर और कोई सिद्ध हो जाय और उसके रचना-काल में दो-तीन शताब्दियाँ आगे-पीछे होने का प्रमाण मिल जाय तो क्या इससे उसका महत्व न्यून हो जायगा ? मानस का महत्त्व तुलसी के कारण नहीं, अपितु तुलसी का महत्त्व मानस के कारण है। अतः रासो का रचयिता भी चन्द हो या कोई अन्य, वह बारहवी शती में रचित हो या सत्रहवी मे—महाकाव्य की दृष्टि मे उसके महत्त्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

'पृथ्वीराज रासो' के विभिन्न आकारों के अनेक संस्करण मिलते हैं जिनमें सबसे बड़ा संस्करण ६९ सर्गों में विभाजित तथा लगभग अढ़ाई हजार पृष्ठों का है। परम्परा के अनुसार इसके रचयिता चन्द वरदायी माने जाते हैं, जो चरित-नायक पृथ्वीराज राठौर के

मन्त्री और सेनापति भी थे। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के अनुसार इसमें नायक के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए ऐतिहासिक इतिवृत्त मे पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया गया है। जीवन के व्यापक स्वरूप एवं प्रकृति और जगत के विस्तृत क्षेत्र को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इसके रचयिता ने अनेक मौलिक घटनाओं की कल्पना की है, जिससे यह मध्यकालीन जीवन का एक वृहत् चित्रपट बन गया है। यही कारण है कि इसमें तत्कालीन जीवन का सामन्ती वैभव, सामाजिक आचार-व्यवहार, धार्मिक विधि-विधान एवं उस युग के विभिन्न पर्व, त्योहार और उत्सवादि के उल्लसित दृश्य सजीव रूप में चित्रित हैं। सन् संवत्, राजनीतिक घटनाओं व युद्ध आदि से सम्बन्ध रखनेवाले इतिहास की स्थूल रेखाएँ इसमें नहीं मिलती, किन्तु अपने युग के सामाजिक जीवन का सूक्ष्म रूप-रंग इसमें पूर्णतः विद्यमान है। वस्तुतः मध्यकालीन संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिए जितनी सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है, उतनी किसी अन्य साधन से दुष्प्राप्य है।

काव्यत्व की दृष्टि से भी रासो का महत्व न्यून नही है। वैसे तो इसमें प्रायः सभी रसों का चित्रण कहीं-न-कहीं हुआ है, किन्तु वीर, रौद्र और शृङ्गार की व्यंजना में तो कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। युद्ध-सम्बन्धी दृश्यों के चित्रण मे तो कवि की निजी अनुभूतियों का योग दृष्टिगोचर होता है—

बज्जिय घोर निसान राँन चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामन्त समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
उठ्ठि राज पृथ्वीराज बग्ग लग्गा मनौं वीर नट।
कढत तेग मनोवेग लगत मनौं बीज झट्ठ घट्ठ॥

× × ×

मच्चै कूह कूहं बहे सार सारं, चमक्कै चमक्कै करारं सुधारं।
भभक्कै भभक्कै बहे रत्त धारं, सनक्कै सनक्कै व बान भारं॥

यहाँ अक्षरों के द्वित्व, शब्दों की आवृत्ति और वाक्य-विन्यास की विलक्षणता के द्वारा ओज गुण की सृष्टि कर दी गई है जिससे रण क्षेत्र का वातावरण सजीव रूप में प्रस्तुत हो जाता है। इसी प्रकार शृङ्गार की अभिव्यक्ति में कवि ने विषय के अनुरूप कोमल एवं मधुर शब्दावली का प्रयोग किया है—

"वेई आवास जुग्गनि पुरह, वेई सहचरि मंडलिय।
संजोग पयंपति कंत बिन, मुहि न कछू लग्गत रलिय॥"

अर्थात सब कुछ—घर, योगिनीपुर, सहचरियों के समूह आदि—वही हैं, किन्तु प्रिय पति के संयोग के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

वस्तुतः युग-चित्रण की व्यापकता, भावों की सफल अभिव्यक्ति एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक उच्चकोटि का काव्य है, जिसमें महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसमें ऐसा कोई व्यापक सन्देश—राष्ट्रीय एकता जैसा—नहीं मिलता, अतः इसे महाकाव्य की कोटि में रखना उचित नहीं, किन्तु हम उनसे सहमत नहीं हो सकते। सामन्ती युग में जैसा सन्देश एक

कवि दे सकता है, वैसा इसमें भी दिया गया है—अपनी मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है! सारा काव्य इसी सन्देश की ध्वनि से गुंजित है। किन्तु जो लोग एक मध्ययुगीन कवि से आधुनिक युग की सी राष्ट्रीय एकता का सन्देश पाने की आशा करते हैं, उन्हे अवश्य इससे निराश होना पड़ता है।

हिन्दी के पूर्व-मध्य युग (भक्तिकाल) के महाकाव्यों में मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' का भी बहुत ऊँचा स्थान है, जो प्रेमाख्यान-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इस काव्य-परम्परा के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का प्रचार हो रहा है, जैसे यह परम्परा फारसी मसनवियों से प्रभावित है, इसके कवियों का उद्देश्य सूफी धर्म का प्रचार करना था तथा इनमें आध्यात्मिक प्रेम का चित्रण किया गया है, आदि-आदि। इन भ्रान्तियों का निराकरण हम अन्यत्र (देखिए—'हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा और महाकवि बिहारी) कर चुके है। वास्तव में इस परम्परा का सम्बन्ध भारत की उस प्राचीन प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा से है, जिसका आरम्भ सुबन्धु की 'वासवदत्ता', बाण की 'कादम्बरी' और दंडी के 'दशकुमार चरित' से होता है। संस्कृत कवि गद्य मे प्रेमाख्यान लिखते थे, जबकि प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों ने पद्य में लिखने की परिपाटी को जन्म दिया तथा आगे चलकर हिन्दी, पंजाबी और गुजराती कवियां ने भी पद्य का ही प्रयोग किया। कथानक की रूढ़ियों, प्रेम के स्वरूप एवं विकास तथा शैलीगत विशेषताओं की दृष्टि से अपभ्रंश, हिन्दी और गुजराती के प्रेमाख्यानों मे गहरा साम्य है तथा इसके अतिरिक्त हमारे पास अनेक ऐसे ठोस प्रमाण है, जिनके आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी के प्रेमाख्यान फारसी मसनवियों से नही, अपितु पूर्ववर्ती भारतीय प्रेम तथा साहित्य से सम्बन्धित है। 'पद्मावत' के रचयिता ने भी अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भारतीय प्रेमाख्यानों का ही उल्लेख किया है—फारसी मसनवियों का नहीं।

'पद्मावत' का इतिवृत्त अर्द्ध-ऐतिहासिक है; कवि ने भारतीय प्रेमाख्यानों की रूढ़ियों को गुम्फित करने के लिए उसके ऐतिहासिक इतिवृत्त में पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर लिया है। नायक रत्नसेन द्वारा नायिका पद्मावती को प्राप्त करने तक की कहानी, जिसे इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध कहा जाता है, काल्पनिक है; किन्तु फिर भी वह उत्तरार्द्ध से अधिक महत्त्वपूर्ण है। पूर्वार्द्ध के अन्त में जाकर कहानी समाप्त सी हो जाती है, किन्तु आगे चलकर इस ढंग से उसका पुनरुत्थान किया गया है कि वह कवि की प्रबन्ध-कुशलता का परिचायक बन गया है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के दो स्वतन्त्र कथानकों को इस सफलता से सम्बद्ध कर दिया गया है कि पाठक को इस जोड़ का पता तक नहीं चलता।

पात्रों की विविधता का भी 'पद्मावत' में अभाव नहीं है। यह ठीक है कि जायसी ने प्रत्येक पात्र की किसी एक ही चरित्रगत विशिष्टता को उभारा है, जैसे रत्नसेन की प्रणय-विह्वलता, पद्मावती की सौन्दर्य एवं कामजन्य मदान्धता, राघव-चेतन की शठता, अलाउद्दीन की कूटनीतिज्ञता, गोरा-बादल की शूरवीरता आदि,

किन्तु इस क्षेत्र में उनकी प्रतिस्पर्धा कोई अन्य कवि नहीं कर सकता। चारित्रिक प्रवृत्तियों के चित्रण में उनका दृष्टिकोण वैचित्र्य के स्थान पर एकत्व का रहा है, इसी से उनके पात्रों में मनोवृत्तियों की जटिलता न मिलकर गम्भीरता के दर्शन होते है। विभिन्न भावो की व्यंजना मे पद्मावत के रचयिता ने एक महाकवि की-सी क्षमता का परिचय दिया है, विशेषतः प्रेम और विरह की अभिव्यक्ति में तो असाधारण सफलता मिली है।

'पद्मावत' के दार्शनिक पक्ष के साथ सबसे अधिक अन्याय उन विद्वानों के द्वारा हुआ है, जो पहले से ही यह मानकर चलते है कि इस ग्रन्थ में सूफी मत का प्रतिपादन किया गया है। वे 'पद्मावत' के रूपक को जायसी के संकेतों के आधार पर न समझकर सूफी मत के आधार पर उसकी व्याख्या करने का प्रयास करते है; फलतः वे कथानक के साथ रूपक की संगति बैठाने मे सफल नही होते। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि पद्मावत की वे पंक्तियाँ, जिनमें इसके रूपक के प्रतीकार्थो का संकेत दिया गया है—प्रक्षिप्त है। किन्तु जैसा कि हमने अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी में शृङ्गार-परम्परा और महाकवि बिहारी) में स्पष्ट किया है, इसके रूपक में हिन्दू-दर्शन के अनुसार सात्विक ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का सन्देश दिया गया है। रत्नसेन 'मन' है, और पद्मिनी, 'बुद्धि' या ज्ञान का प्रतीक है—किन्तु हमारे विद्वान रत्नसेन को आत्मा और पद्मिनी को परमात्मा मानकर व्याख्या करते है जो कि कवि के संकेतों (तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पद्मिनी चीन्हा।) से असम्बद्ध होने के कारण उचित नही। जिस प्रकार मे सासारिक कर्मजाल रूपी इड़ा के चक्कर में फँसा हुआ कामायनी का मनु (मन) हृदय पक्ष से सम्बन्धित श्रद्धा की सहायता से आनन्द प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार नागमती रूपी 'दुनिया-धंधा' मे आसक्त रत्नसेन रूपी मन, गुरु के उपदेश से सात्विक ज्ञान—हृदयवासिनी बुद्धि (हिय सिंघल बुधि पद्मिनी चीन्हा)—या श्रद्धा (पद्मिनी) को प्राप्त करता है और अन्त में आसुरी वृत्तियों का दमन करके मोक्ष प्राप्त करता है। कामायनी और पद्मावत के पात्रों में गहरी समानता है—दोनों में मन के प्रतीक क्रमशः मनु और रत्नसेन; सांसारिक बुद्धि के इड़ा और नागमती, हृदयवासिनी बुद्धि या श्रद्धा के श्रद्धा और पद्मिनी; आसुरी वृत्तियों के किरातकुलि और राघव-चेतन व अलाउद्दीन है। अतः जिस प्रकार कामायनी का सन्देश सांसारिक कर्मों की आसक्ति को त्यागकर आनन्द प्राप्ति का है, वैसे ही पद्मावत का मोक्ष-प्राप्ति का है। सम्भवतः कुछ लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे कि मुसलमान होकर भी जायसी ने हिन्दू-दर्शन को क्यों अपनाया, किन्तु उन्हे स्मरण रखना चाहिए कि सारी 'पद्मावत' में ही हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू धर्म का चित्रण हुआ है, अतः उसमें हिन्दू दर्शन की अभिव्यक्ति हो तो अस्वाभाविकता क्या है?

जहाँ तक युग की परिस्थितियों एवं लोक-जीवन के चित्रण का प्रश्न है, पद्मावत को हम अपने युग का एक सच्चा दर्पण कह सकते है, जिसमें तत्कालीन समाज की विभिन्न रीति-रिवाजों और प्रथाओं का, लोक-विश्वास और लोक-विचारों का, विभिन्न पर्वों व उत्सवों का, दीवाली, होली, बसन्त आदि त्योहारों का सजीव प्रति-

बिम्ब देखने को उपलब्ध होता है। साथ ही इसमें शैली की प्रौढ़ता, अलंकारों का वैभव और उपमानों का भंडार भी विद्यमान है; अतः इसमें उन सभी प्रमुख गुणों का समन्वय हो जाता है, जिनके आधार पर कोई रचना 'महाकाव्य' पद की अधिकारिणी होती है।

अवधी भाषा और दोहा-चौपाई शैली में प्रबन्ध-लेखन की जिस परम्परा का प्रवर्त्तन प्रेमाख्यान के रचयिताओं द्वारा हुआ था, उसका परिष्कृत रूप हमें महाकवि तुलसी द्वारा रचित 'रामचरित मानस' में उपलब्ध होता है। 'रामचरित' किसी एक युग, एक भाषा और किसी एक कला का विषय नही है, अपितु विभिन्न युगों और विभिन्न भाषाओं व कलाओं में पुरुषोत्तम राम के दिव्य-जीवन का चित्रण होता रहा है। गुप्तजी की यह उक्ति 'राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।' सम्भवतः इसी तथ्य की ओर संकेत करती है, किन्तु तुलसी के महाकाव्य का अध्ययन करते समय इस भ्रान्ति से बचना उचित होगा। यह महाकाव्य एक ऐसी प्रतिभा, शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि को लेकर हिन्दी काव्य क्षेत्र में अवतरित हुआ है कि रामचरित का प्राचीन विषय भी एक नवीन सौन्दर्य, नये आकर्षण और एक नयी अभिव्यक्ति से सम्पन्न हो गया।

'रामचरित-मानस' को कथानक की अनेक भूमिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सारी कथा अनेक वक्ताओं और अनेक श्रोताओं के माध्यम से व्यक्त होती है, किन्तु फिर भी इसकी प्रबन्धात्मकता को कहीं कोई ठेस नहीं लगती। निर्झरिणी की भाँति कहानी अनेक प्राचीन और नवीन कथानकों की पर्वतीय शाखाओं, दुर्गम घाटियों और अडिग चट्टानों में प्रवेश करती हुई आगे बढती है। उसकी राह में अनेक समतल और विषम स्थल, हरे-भरे वन-प्रदेश और शुष्क मरुस्थल भी उपस्थित होते हैं, किन्तु तुलसी की मानस-सरिता का प्रवाह कहीं भी अवरुद्ध, क्षीण या भंग नहीं होता। तुलसी अपने पात्रों के जन्म-जन्मान्तरों तक की घटनाएँ सुना देते है, किन्तु ऐसा करने से पूर्व वे उपयुक्त वातावरण और समय की भी खोज कर लेते है। तुलसी की काव्य-कला के इस विराट् ढाँचे और विस्तृत रूप को देखते हुए, उसमें शिल्पगत दो-चार त्रुटियों को ढूंढ़ निकालना विशेष महत्त्व नहीं रखता।

'रामचरित-मानस' के पात्रों में कुछ ऐसी विशिष्टता, स्वाभाविकता और भव्यता मिलती है, जो अनायास ही पाठक की बुद्धि और कल्पना को केन्द्रित कर लेती है। दशरथ की तीनों रानियों और उनके चारों पुत्रों में से प्रत्येक के चरित में कुछ ऐसा स्पष्ट अन्तर है जिसमें हम उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं। इसी प्रकार रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण तीनों राक्षस-कुलोत्पन्न होते हुए भी वैयक्तिक विशिष्टता से सम्पन्न हैं। कही-कहीं पात्रों के चरित्र का विकास भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर दिखाया गया है; जैसे, पति-परायणा कैकेयी का कुलघातिनी बन जाना। सुग्रीव जैसे सरल व्यक्ति का राज्य-प्राप्ति के अनन्तर भोग-विलास में लीन हो जाना या विभीषण का भ्रातृद्रोह के लिए विवश होना। विभिन्न अवसरों पर पात्रों के संवाद—परशुराम-लक्ष्मण सम्वाद, मंथरा-कैकेयी-सम्वाद, अंगद-रावण-सम्वाद आदि—सर्वत्र मर्यादित न होते हुए

भी स्वाभाविक, रोचक एवं नाटकीय हैं। उनमें पात्रानुकूल भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति हुई है।

'रामचरित-मानस' में प्रायः सभी प्रमुख रसों की व्यञ्जना प्रसंगानुसार हुई है, यद्यपि इसमें प्रमुखता भक्ति और शान्त रस की है। मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का भी चित्रण महाकवि तुलसी ने सफलतापूर्वक किया है। भाव-दशा के विकास में वे एक ही साथ अनेक संचारियों और अनुभावों का आयोजन करने में समर्थ हैं, उदाहरण के लिए दशरथ की शोक-विह्वल दशा का चित्रण द्रष्टव्य है—

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू, कहु सुमन्त्र कहँ राम कृपालू।
कहाँ लखनु कहँ राम सनेही, कहँ प्रिय पुत्रबधू वैदेही॥

× × ×

सो तनु राखि करब मैं काहा, जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा।
हा रघुनन्दन प्रान पिरोते, तुम्ह बिन जिअत बहुत दिन बीते॥

'रामचरित-मानस' का भाव-पक्ष जितना गम्भीर है, उसकी शैली भी उतनी ही प्रौढ़ है। सभी दृष्टिकोणों से इसमें काव्य-कला के महत् रूप का दर्शन होता है। जहाँ तक युग-धर्म और सन्देश का सम्बन्ध है, यह ग्रन्थ समस्त [illegible] भारत में एक पवित्र धर्म-ग्रन्थ की भाँति आदृत होता रहा है। अपने युग की विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान इसमें प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसकी कुछ त्रुटियाँ भी बताई गई हैं ; जैसे—इसमें पौराणिकता का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में होने के कारण अवान्तर कथाओं तथा प्रसंगों का आधिक्य है, तथा माहात्म्य, स्तोत्र, देवताओं की पुष्प-वर्षा के वर्णन, सैद्धान्तिक विवेचन और प्रचारात्मक उपदेशों की भी अधिकता है, किन्तु फिर भी इसकी विशेषताओं को देखते हुए इसे उच्च कोटि का महाकाव्य मानना उचित है।

हिन्दी के उत्तर-मध्ययुग (रीतिकाल) में प्रबन्ध-काव्य तो अनेक लिखे गए, किन्तु उसमें काव्यत्व की वह प्रौढ़ता या गम्भीरता नहीं मिलती जिससे उन्हे 'महाकाव्य' की संज्ञा दी जा सके। इनमें से केशव की '**रामचन्द्रिका**' को कुछ विद्वान् 'महाकाव्य' मानने के पक्ष में रहे हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकाव्य के स्थूल लक्षणों की पूर्ति करने का प्रयास इसमें किया गया है। पूरी कथा ३९ सर्गों में विभाजित है तथा पुरुषोत्तम राम इसके चरित्र नायक हैं। किन्तु इसमें अनेक ऐसे दोष मिलते हैं, जिनसे यह महाकाव्य की महत्ता से वंचित हो जाती है। कवि का मूल लक्ष्य पांडित्य-प्रदर्शन, विविध छन्दों और अलंकारों का आयोजन करना रहा है जिससे वह मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन नहीं कर सका। केशव की कल्पना इतनी विराट् नहीं कि वह समस्त युग और समाज के सब रूपों को सजीव रूप में प्रस्तुत कर सके। इसका कथानक शिथिल और गति-शून्य-सा और वस्तु-वर्णन देश-काल के औचित्य से शून्य है। अनावश्यक वर्णनों की भरमार, अत्यधिक वस्तु-परिगणना की प्रवृत्ति, नाना प्रकार के छन्दों के प्रभावहीन प्रयोग एवं शैली की क्लिष्टता के कारण इसमें काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकी। अतः महाकाव्य तो क्या, इसे एक सफल प्रबन्ध-काव्य स्वीकार करना भी कठिन है।

आधुनिक युग में अनेक ऐसे प्रबन्ध-काव्य लिखे गए हैं, जो आकार-प्रकार की विशालता एवं स्थूल लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य की कोटि में आ सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म गुणों की दृष्टि से इनमें केवल तीन ही प्रमुख है—(१) साकेत, (२) कामायनी और (३) कुरुक्षेत्र। 'साकेत' राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना जाता है। इसमें रामायण की पुनीत कथा को नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए उपेक्षित उर्मिला एवं कैकेयी को विशेष महत्त्व दिया गया है, किन्तु प्रत्येक महान् रचना 'महाकाव्य' नहीं कहला सकती। कालिदास का 'मेघदूत' कम महत्त्वपूर्ण नही है, किन्तु उसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः 'साकेत' में उस व्यापक दृष्टिकोण, जीवन के विराट् रूप, भावक्षेत्र की गम्भीरता एवं युग-सन्देश की महत्ता का अभाव है, जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। इसमें मुख्यतः जीवन का एक खण्डरूप—राम-लक्ष्मण वनवास और उर्मिला का विरह—ही प्रस्फुटित हुआ है। अपने दुःख-भार की शिला को नेत्रों के जल से तिल-तिलकर काटने वाली उर्मिला के प्रति हमे पूरी सहानुभूति है, किन्तु उसे आराध्या-रूप में स्वीकार करने में हम असमर्थ है। गुप्तजी अवश्य उसे कताई-बुनाई के प्रशिक्षण में दीक्षित करके समाज-नेत्री के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, किन्तु इसमें उन्हे सफलता नहीं मिली। शेष पात्रों में से भी किसी का व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली नहीं बन सका कि उसे हम महाकाव्य का नायक कह सकें। वास्तव में 'साकेत' का गौरव 'विरह-काव्य' के रूप में है; महाकाव्य सिद्ध न होने से भी उसके महत्त्व मे विशेष अन्तर नही पड़ता।

'**कामायनी**' कविवर जयशंकर प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है, जिसे हिन्दी के आधुनिक-युगीन प्रबन्ध-काव्यों में शीर्ष स्थान प्राप्त है। इसके कथानक की रूप-रेखाएँ सूक्ष्म, अस्पष्ट एवं अस्वाभाविक होते हुए भी उनमे मानव-जाति के समस्त इतिहास को समेटने का प्रयत्न किया गया है। प्रलय से लेकर आधुनिक युग तक की कहानी को इसमें गुम्फित किया गया है। समस्त काव्य मे स्थूल घटनाएँ तीन-चार ही है; वे भी श्रद्धा और मनु के बार-बार मिलने और बिछुड़ने, मनु और इड़ा के मिलने और बिछुड़ने तक सीमित है। अतः प्रबन्ध-काव्य की सी इतिवृत्तात्मकता एवं रोचकता का इसमे अभाव है, किन्तु मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का जैसा मार्मिक, विस्तृत एवं गम्भीर चित्रण किया गया है, वह इसके सारे अभावों की पूर्ति कर देता है। कथानक का आरम्भ शोक से करते हुए इसमें क्रमशः शृङ्गार, वीर, रौद्र, विस्मय एव शान्त रस की आयोजना की गई है। मानवीय सौन्दर्य की अभिव्यंजना इसमें प्रकृति के मनोहर रूप-रंग की आभा में वेष्टित करके की गई है; इसकी नायिका श्रद्धा की मंजुल-मनोहर छवि पर भारतीय साहित्य की समस्त नायिकाओं—उर्वशी, तिलोत्तमा, शकुन्तला, दमयन्ती, पद्मावती आदि—के सौन्दर्य को शत-शत बार न्योछावर किया जा सकता है। नारी के व्यक्तित्व के सभी स्थूल और सूक्ष्म गुणों का समन्वित रूप प्रथम बार हमें 'कामायनी' की नायिका में उपलब्ध होता है। उसकी केवल एक वृत्ति—लज्जा को लेकर पूरे सर्ग की रचना कर देना कामायनीकार की काव्य-प्रतिभा का प्रमाण है।

काव्यत्व की दृष्टि से कामायनी जितनी प्रौढ़ है, जीवन-दर्शन और युग-सन्देश की

दृष्टि से वह उतनी ही महान् भी है। इसमें मानव-जीवन की उन चिरन्तन समस्याओं का चित्रण किया गया है, जो स्थूल भौतिक जगत् की घटनाओं से नहीं, अपितु मस्तिष्क और हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों द्वारा उपस्थित होती है। संघर्ष और युद्ध का कारण कोई जाति-विशेष, देश-विदेश या वाद-विशेष नहीं है, अपितु हमारी ही अपनी चित्तवृत्तियाँ है। सुख की लालसा में भटकता हुआ मानव किस प्रकार स्वार्थ-वृत्ति के माया-जाल में फँस जाता है जिससे उसका जीवन अनेक असंगतियों का केन्द्र बन जाता है। अस्तु, मानव-जीवन मे सुख और शान्ति का मूल-मन्त्र कामायनीकार के शब्दों में 'ज्ञान, क्रिया और इच्छा' में उचित समन्वय स्थापित करना है। आज के युग में बुद्धि या ज्ञान का एकांगी विकास हो रहा है, जो समस्त मानव-जाति के लिए अशुभ एवं घातक है।)

'कुरुक्षेत्र' श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की उत्कृष्ट रचना है। इसका इतिवृत्त कामायनी से भी लघु, संक्षिप्त एवं घटना-विहीन है, फिर भी उसमे रोचकता का अभाव नही है। महाकाव्य के स्थूल लक्षण इस पर लागू नहीं होते, किन्तु काव्य की गरिमा और आदर्श की महानता इसमे मिलती है। युधिष्ठिर की मानसिक अवस्था का क्रमिक विकास इसमे मर्मस्पर्शी रूप मे दिखाया गया है। युधिष्ठिर और भीष्म के रूप मे मानों शान्त और वीर रस मे वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन पात्रों के माध्यम से इसमे शान्ति की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। षष्ठ सर्ग में कामायनीकार की भाँति इसमे भी आधुनिक युग की अति-बौद्धिकता का विरोध किया गया है। अन्त में कवि का सन्देश है—"शान्ति नही तब तक, जब तक नर का सुख-भाग न सम होगा।" जो युग की आवश्यकता के अनुरूप है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से कामायनी और कुरुक्षेत्र—दोनों मे ही महाकाव्य की अनेक विशेषताएँ नही मिलती, किन्तु महाकाव्य की-सी महत्ता और उदात्तता अवश्य इनमे है।

उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त भी इस युग में रचित शताधिक प्रबन्ध-काव्य इस प्रकार के मिलते है, जिन्हे 'महाकाव्य' के रूप में ही रचा गया है, पर वे अधिक प्रचलित नही हो सके; यथा—'नल-नरेश' (प्रतापनारायण; १६३३), 'नूरजहाँ' (गुरुभक्त सिंह; १६३५); 'सिद्धार्थ' (अनूप शर्मा; १६३७), 'कृष्णायन' (द्वारकाप्रसाद मिश्र; १६४३), 'साकेत-संत' (बलदेवप्रसाद मिश्र; १६४६), 'अंगराज' (आनन्दकुमार; १६५०), 'वर्द्धमान' (अनूप शर्मा; १६५१), 'देवार्चन' (करील; १६५२), 'रावण' (हरदयालु सिंह; १६५२), 'पार्वती' (रामानन्द तिवारी; १६५५); 'झाँसी की रानी' (श्यामनारायण प्रसाद; १६५५), 'मीरा' (परमेश्वर द्विरेफ; १६५७), 'एकलव्य' (डा० रामकुमार वर्मा, १६५८), 'उर्मिला' (बालकृष्ण शर्मा; १६५८), 'उर्वशी' (दिनकर; १६६१) आदि प्रमुख है। इनमे से यहाँ कुछ रचनाओं का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।[1]

द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' (१६४३ ई०) 'रामचरित-मानस' के अनुकरण पर रचित कृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य है जो सात काण्डों में विभक्त है—

---

१. आधुनिक युग में रचित प्रबन्ध-काव्यों का (जो कि महाकाव्य के निकट पड़ते हैं) विस्तृत परिचय 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में 'आदर्शवादी काव्य-परम्परा' (पृष्ठ ६४०-६७७) में देखिए।

(१) अवतरण कांड (२) मथुरा कांड (३) द्वारका कांड (४) पूजा कांड (५) गीता कांड (६) जय कांड और (७) आरोहण कांड। इसकी भाषा अवधी तथा शैली दोहा-चौपाई की ही है। विभिन्न पात्रों के—मुख्यतः कृष्ण के—चरित्र को चित्रित करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्ण को अत्यन्त दिव्य एवं उदात्त रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। महाकाव्य के विभिन्न लक्षणों का भी निर्वाह हुआ है।

बलदेवप्रसाद मिश्र का 'साकेत-संत' (१९४६ ई०) भरत के चरित्र पर प्रकाश डालनेवाला सफल प्रवन्ध काव्य है। इसका नाम गुप्तजी के 'साकेत' की स्मृति करवाता है। वस्तुतः जिस प्रकार साकेतकार का लक्ष्य उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को ऊँचा उठाना रहा है, वैसे ही इसमें भरत के चरित्र को उठाने का लक्ष्य रहा है। इसमें घटनाओं की अपेक्षा पात्रों के चित्रण का ध्यान अधिक रहा है। भरत, मांडवी, कैकेयी को अत्यन्त सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। रचना अत्यन्त भावपूर्ण, गम्भीर एवं प्रौढ़ है; एक नमूना द्रष्टव्य है—

कुलवधू कब रहती स्वच्छन्द, उसे बस अपना भवन पसन्द।
आपके रहें अचल सुख-साज, उसे प्रिय अपना स्वजन समाज॥

गुरुभक्तसिंह 'भक्त' के दो ऐतिहासिक महाकाव्य **'नूरजहाँ'** (१९३५ ई०) और **'विक्रमादित्य'** (१९४७ ई०) उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहले काव्य में रोमांस की प्रमुखता होने के कारण इसे आदर्शवादी तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु विषय-वस्तु की अन्य विशेषताओं एवं प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से इसे यहाँ स्थान दिया जा सकता है। यह अठारह सर्गों में विभक्त है तथा महाकाव्य के लिए अपेक्षित प्रायः सभी शास्त्रीय लक्षणों का समावेश इसमें मिलता है, फिर भी भावनाओं के जिस औदात्य एवं सन्देश की जिस गरिमा की महाकाव्य में अपेक्षा होती है, उसका इसमें अवश्य अभाव है। नूरजहाँ के प्रति जहाँगीर के अतिशय अनुराग की अभिव्यक्ति इसमें सफलतापूर्वक हुई है।

'विक्रमादित्य' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित है, पर इसमें उसके जीवन के उदात्त पक्ष को कम तथा शृङ्गारिक रूप को अधिक लिया गया है। कवि का मूल लक्ष्य चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी के प्रणय का अंकन करना ही दिखाई पड़ता है। यह भी विचित्र बात है कि कवि ने अपने दोनों ही काव्यों में ऐसी नायिकाओं को लिया है, जिनका पहला विवाह अन्यत्र हो जाता है तथा उनके प्रेमी उन्हे प्राप्त करने के लिए उनके पतियों का वध करते हैं। लगता है, भक्तजी का उद्देश्य विवाह की मर्यादाओं की अपेक्षा प्रेम का अधिक महत्त्व स्थापित करना रहा है या दूसरे शब्दों में वे प्रेम को ही विवाह का वास्तविक आधार सिद्ध करना चाहते हैं, जो किसी सीमा तक ठीक भी है।

अनूप शर्मा ने विभिन्न धर्म-प्रवर्तकों को लेकर दो महाकाव्य—**'सिद्धार्थ'** (१९३७ ई०), एवं **'वर्द्धमान'** (१९५१ ई०) प्रस्तुत किए हैं। 'सिद्धार्थ' की कथा-वस्तु अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' एवं मैथ्यू आर्नल्ड के 'लाइट आफ एशिया' से प्रभावित है तथा अठारह सर्गों में विभक्त है। गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा को भी इसमें पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। बुद्ध को अवतार पुरुष के रूप में चित्रित करते हुए उनके चरित्र

को बहुत ऊँचा उठाया गया है। अन्य पात्रों के भी चरित्र-चित्रण पर यथेष्ट ध्यान दिया गया है। प्रकृति-वर्णन तथा विभिन्न भावों की व्यंजना में कवि को अच्छी सफलता मिली है।

'वर्द्धमान' में जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर का चरित्र सत्रह सर्गों में प्रस्तुत किया गया है। इसमें महावीर के जन्म से लेकर ज्ञान-प्राप्ति तक के पूरे जीवन को अंकित किया गया है। इसकी शैली पर हरिऔध के 'प्रियप्रवास' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसी के अनुरूप इसमें संस्कृत के वर्णिक छन्दों का जैसे वंशस्थ, मालिनी, द्रुत-विलम्बित आदि का प्रयोग किया गया है। यद्यपि काव्य में मूलतः शान्त-रस का प्रतिपादन किया गया है; किन्तु प्रसंगानुसार अन्य रसों के भी समावेश का यत्न किया गया है।

श्यामनारायण पाण्डेय का राजपूतकालीन इतिहास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-काव्य **'हल्दीघाटी'** (१९४९ ई०) उल्लेखनीय है। इसमें हिन्दू-गौरव महाराणा प्रताप के चरित्र को सत्रह सर्गों में अंकित किया गया है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें केवल हल्दीघाटी के युद्ध की घटना का ही वर्णन किया गया होगा, किन्तु वास्तव में ऐसा नही है। इस दृष्टि से यह नाम दोषपूर्ण है। महाराणा के शौर्य, त्याग एवं आत्म-बलिदान की व्यंजना मे कवि को पूरी सफलता मिली है। पाण्डेय जी की शैली में ओज और प्रवाह का गुण अपेक्षित मात्रा में मिलता है; यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

सावन का हरित् प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा।
फैलाकर पंख थिरकते थे, मन हरती थी वन-मोर-छटा॥
पड़ रही फुही, झींसी झिन-झिन पर्वत की हरी वनाली पर।
"पी कहाँ!" पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर॥
वारिद के उर में दमक-दमक, तड़-तड़ बिजली थी तड़क रही।
रह-रहकर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही॥

मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'पृथ्वीराज रासो' के प्रसिद्ध कथानक के आधार पर **'आर्यावर्त्त'** (१९४३) नामक प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किया है। जैसा कि इसकी भूमिका में कहा गया है कवि ने इसे महाकाव्य बनाने का प्रयास करते हुए संस्कृत के तत्सम्बन्धी विभिन्न लक्षणों का समावेश किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वियोगी जी ने पृथ्वीराज और चन्दबरदाई के जीवन-चरित्र को पूरी सहृदयता से प्रस्तुत किया है। वैसे आलोचकों ने इसकी अनेक न्यूनताओं का उद्घाटन करते हुए इसके महाकाव्यत्व को अस्वीकार किया है—हमारे विचार से महाकाव्य न सही, एक प्रबन्ध-काव्य के रूप में यह सफल रचना है।

इस युग में क्रूर, दुष्ट एवं नीच समझे जानेवाले पात्रों को भी ऊँचा उठाने का प्रयास अनेक प्रबन्ध-काव्य-रचयिताओं ने किया है। इनमें हरदयालसिंह का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने **'दैत्यवंश'** (१९४० ई०) और **'रावण'** (१९५२ ई०) नामक दो प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किए हैं। दैत्यवंश ब्रजभाषा मे रचित है। इसमे 'हिरण्य-

कशिपु', 'बलि', 'बाणासुर' आदि दैत्यों के चरित्र को पौराणिक आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसका मुख्य रस तो वीर है किन्तु अन्य रसों को भी प्रसंगानुसार स्थान दिया गया है। काव्य में एक स्थान पर अनेक नायक होने के कारण इसमें अपेक्षित एकोन्मुखता एवं अनिवार्यता नहीं आ पाई। इसकी शैली में पर्याप्त प्रवाह और ओज मिलता है।

'रावण' में लंकापति दशानन के चरित्र को पूर्ण सहानुभूति के साथ अंकित करने का प्रयास किया गया है। यह काव्य सत्रह सर्गों में विभक्त है तथा इसकी कथा-वस्तु मूलतः वाल्मीकि रामायण पर आधारित है। किन्तु बीच-बीच में कवि ने अपनी मौलिक सर्जन-शक्ति से भी अपेक्षित कार्य लिया है। रावण के चरित्र को ऊँचा उठाते हुए उसे एक अत्यन्त पराक्रमी, उत्साही, त्यागी, शूरवीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रावण के अतिरिक्त अन्य राक्षसों को भी उच्च रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रकृति-वर्णन, नारी-सौन्दर्य-चित्रण तथा विभिन्न भावनाओं की व्यंजना मे कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

इस युग के अनेक कवियों का ध्यान राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के जीवन-चरित्र की ओर भी आकृष्ट हुआ है। सन् १९४६ ई० से लेकर अब तव अनेक कवियों ने गांधी के चरित पर विशालकाय प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं, जिनमें से तीन यहाँ विवेच्य हैं—(१) 'महामानव' (१९४६ ई०), (२) 'जननायक' (१९४९ ई०) और (३) 'जगदालोक,' (१९५२ ई०)। 'महामानव' की रचना **ठाकुरप्रसाद सिंह** द्वारा हुई है। यह पन्द्रह सर्गो में विभक्त है। स्वयं कवि ने इसे महाकाव्य न कहकर 'जनजागरण की महागाथा' कहा है। गांधी जी के चरित्र की विभिन्न विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयास कवि ने किया है, किन्तु यथोचित घटनाओं के अभाव में वह भली-भाँति सफल नहीं हो सका। प्रबन्धत्व की दृष्टि से भी इसमें शिथिलता है। दूसरा काव्य 'जननायक' **रघुवीरशरण मित्र** द्वारा विरचित है। यह विशालकाय काव्य लगभग छः सौ पृष्ठों में पूरा हुआ है तथा इकतीस सर्गो में विभक्त है। इसकी अधिकांश घटनाएँ महात्मा गांधी की 'आत्म-कथा' पर आधारित हैं। गांधी के चरित एवं चरित्र को अत्यन्त श्रद्धा के साथ प्रस्तुत किया गया है। इनकी शैली अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण है। उदाहरण के लिए कुछ अंश यहाँ उद्धृत है :—

> **धन्य ! सुदामापुरी जहाँ पर मनमोहन ने जन्म ले लिया।**
> **माता-पिता धन्य ! वे जिनको प्रभु ने दिव्य प्रकाश दे दिया है।**
> **जिसमें चित्र लिखे मोहन के उस मिट्टी का प्यार धन्य है !**
> **जिसमें जन्म लिया मोहन ने वह गांधी-परिवार धन्य है ! !**

महात्मा गांधी के चरित्र पर आधारित तीसरा प्रबन्ध-काव्य '**जगदालोक**' है जिसकी रचना **ठाकुर गोपालशरण सिंह** ने १९५२ ई० में की है। इसमें गांधी जी के जन्म, शिक्षा, इंगलैण्ड यात्रा आदि से लेकर उनके बलिदान तक की प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं को बीस सर्गों ने वर्णित किया गया है। इसके कतिपय प्रसंग अत्यन्त सरस एवं सजीव हैं। महात्मा गांधी की चारित्रिक महत्ता को उभारने का कवि ने विशेष प्रयत्न किया है।

महाभारत के विभिन्न प्रसंगों एवं पात्रों को लेकर भी अनेक कवियों ने सुन्दर प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किए हैं, जिनमें वीर कर्ण से सम्बन्धित **'अंगराज'** (१९५० ई०) **आनन्दकुमार** द्वारा विरचित है, जिसमें कर्ण के चरित्र को उज्ज्वल रूप में उपस्थित किया गया है। पूरा काव्य २५ सर्गों में विभक्त है। कर्ण के साथ-साथ महाभारत के अन्य पात्रों—युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, द्रौपदी आदि के चरित्र पर भी मौलिक रूप में प्रकाश डाला गया है। कर्ण के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए पांडव-पक्ष के पात्रों को नीचे गिराना आवश्यक समझा गया है, जो ठीक नही कहा जा सकता। इसका प्रमुख रस वीर है किन्तु साथ ही विभिन्न स्थलों पर शृङ्गार, करुण, शान्त की भी व्यंजना की गई है। भाव-व्यंजना एवं शैली की दृष्टि से रचना प्रौढ़ है तथा तात्त्विक दृष्टि से इसे महाकाव्य के रूप में मान्यता दी गई है।

एकलव्य (१९५८) **डा० रामकुमार वर्मा** द्वारा रचित प्रबन्ध-काव्य है जिसमें एकलव्य की गुरुभक्ति की व्यंजना चौदह सर्गों में की गई है। नायक के चरित्र-चित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है, तथा इसकी अभिव्यंजना शैली भी पर्याप्त प्रौढ़ एवं सशक्त है; अस्तु, यह एक सफल प्रयास है। इसी प्रकार १९६० में प्रकाशित नरेन्द्र शर्मा का 'द्रौपदी' काव्य भी प्रबन्ध के क्षेत्र में नया प्रयोग है। इसके विभिन्न पात्र विभिन्न तत्त्वों के प्रतीक है; यथा—युधिष्ठिर आकाश-तत्त्व के, भीम प्राण-तत्त्व के, अर्जुन अग्नि-तत्त्व के, नकुल जल-तत्त्व के और सहदेव भूमि-तत्त्व के। इस प्रतीकात्मकता के कारण काव्य में बौद्धिकता का संचार अनपेक्षित रूप में हो गया है, फिर भी द्रौपदी के कुछ चित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत हुए हैं। कवि का लक्ष्य सम्भवतः नारी के त्याग, वलिदान एवं शक्ति की महत्ता का बोध कराना रहा है। इसकी प्रबन्धात्मकता एवं भाव-व्यंजना के सम्बन्ध में डा० सावित्री सिन्हा के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'जिस प्रकार घटनाएँ क्षिप्र गति से आती है और चली जाती है, उसी प्रकार विभिन्न भावनाओं के पूर्ण परिपाक की झलक मिलती है और समाप्त हो जाती है। आह्लाद और विषाद की अनेक मनःस्थितियों का चित्रण इसमें सजीवता के साथ हुआ है।'

हिन्दी के कुछ कवियों और साहित्यकारों पर भी अनेक प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत हुए हैं, जिनमें 'तुलसीदास' (निराला : १९३९ ई०), 'देवार्चन' (करील : १९५२ ई०), मीराँ (परमेश्वर द्विरेफ : १९५७ ई०) और 'युगस्रष्टा प्रेमचंद' (द्विरेफ : १९५९ ई०) उल्लेखनीय हैं। 'तुलसीदास' एक सौ छन्दों मे रचित है तथा इसमें तुलसी की विभिन्न मानसिक परिस्थितियों एवं भाव-चेतना के विकास-क्रम को अत्यन्त प्रौढ़ एवं सशक्त शैली में दिग्दर्शित किया गया है। तुलसीदास के ही जीवन-चरित को अधिक विस्तार से 'देवार्चन' में कवि करील के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह काव्य सत्रह सर्गों में विभक्त है तथा नायक के जीवन की विभिन्न घटनाओं को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इसके कुछ प्रसंग अत्यन्त भावपूर्ण एवं मार्मिक हैं। परमेश्वर 'द्विरेफ' के दोनों प्रबन्ध-काव्यों में क्रमशः मीराँ और प्रेमचंद के वेदना एवं व्यथापूर्ण जीवन को अंकित करने का सफल प्रयास किया गया है। मीराँ का चरित्रांकन अत्यन्त कुशलता से किया गया है तथा विभिन्न भावों की व्यंजना में भी कवि ने पूर्ण सहृदयता का परिचय दिया है। 'युगस्रष्टा

प्रेमचंद' भी उच्चकोटि का काव्य है, जिसमें नायक के व्यक्तित्व, चरित्र एवं जीवन-दर्शन को व्यक्त करने का सुन्दर प्रयास किया गया है।

१८५७ ई० की प्रसिद्ध राष्ट्रीय क्रान्ति पर भी अनेक प्रबन्ध-काव्य उपलब्ध हैं, जैसे—'झाँसी की रानी' (श्यामनारायण प्रसाद : १९५५), 'तात्या टोपे' (लक्ष्मीनारायण कुशवाहा : १९५७), झाँसी की रानी' (आनन्द मिश्र : १९५६)। श्यामनारायण प्रसाद की कृति में महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य, साहस, त्याग एवं आत्मबलिदान की व्यंजना २३ सर्गों में सफलतापूर्वक की गई है। कवि की शैली में ओजस्विता एवं प्रवाहपूर्णता के गुण विद्यमान हैं। यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

लग गई हृदय में रिपु-गोली,
सो गए भूमि के आँचल पर।
लिख दी मारुत ने वीर-कथा,
तरु-तरु के कम्पित दल-दल पर ॥
यह सुनकर रानी उछल पड़ी,
सिंहनी सदृश वह तड़प उठी।
अरि-हृदय-रक्त की प्यासी असि,
लेकर बिजली-सम कड़क उठी ॥

इसी प्रकार **लक्ष्मीनारायण कुशवाहा** का 'तात्या टोपे' भी वीररस एवं राष्ट्रीय क्रान्ति के भावों से ओत-प्रोत अत्यन्त सशक्त रचना है। यह ३१ आहुतियों (सर्गों) में विभाजित है। कवि का आदर्श है—

पुण्य चरित्रों को गाकर के कलम पुण्य हो जाती है।
कवि कर्तव्य निभा जाता है, कलम धन्य हो जाती है ॥

'तात्या टोपे' में इसी आदर्श की उपलब्धि हुई है। कवि के कृतित्व की सफलता घोषित करने के लिए इसकी कुछ पंक्तियों का दिग्दर्शन पर्याप्त होगा :

जगे देश के सकल सूर में क्रान्ति-शंख का नाद हुआ।
देश-वेदिका पर मिटने को जन-जन में उन्माद हुआ।
सकल शत्रु विध्वंस करेंगे, सिंह देश के गरज चले,
जननि-सपूत जननि की खातिर, पूरा करने फरज चले ॥

१९५८ ई० में प्रकाशित प्रबन्ध-काव्यों में **रामानन्द तिवारी** का 'पार्वती', **बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'** का 'उर्मिला' एवं **गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'** का 'तारक-वध' उल्लेखनीय है। 'पार्वती' की रचना मुख्यतः कालिदास के 'कुमार-संभव' के आधार पर हुई है। पूरा काव्य २७ सर्गों में विभक्त है। परम्परागत कथानक में आधुनिक दृष्टि से अपेक्षित संशोधन-परिष्कार करते हुए विभिन्न पात्रों को सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। तिवारी जी की शैली भी प्रौढ़ एवं सुविकसित है। 'नवीन' जी का 'उर्मिला' काव्य सम्भवतः 'साकेत' की सफलता से प्रेरित है। इसमें छः सर्गों में उर्मिला-लक्ष्मण की कहानी को प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'गिरीश' जी का 'तारक-वध' भी पौराणिक कथा-वस्तु पर आधारित तथा उन्नीस सर्गों में विभक्त है।

कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण, पात्रों के चरित्र-चित्रण, भाव-व्यंजना, विचारों के औदात्य व शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इसे एक सफल महाकाव्य माना गया है। कवि ने इसमें कार्त्तिकेय के द्वारा तारकासुर-वध को दैवी प्रवृत्तियों द्वारा आसुरी प्रवृत्तियों के दमन के रूप में प्रस्तुत किया है।

दिनकर जी ने 'उर्वशी' (१९६१) में काम और प्रेम की समस्या को वैदिक युगीन कथानक—उर्वशी और पुरुरवा की कथा; ऋग्वेद दसवाँ मंडल—के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इनमें सौंदर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना सफल रूप में हुई है। अब तक दिनकर को केवल कठोर भावों एवं क्रान्ति का ही कवि माना जाता था, 'उर्वशी' की रचना ने सिद्ध कर दिया कि वह मधुर भावों एवं कोमल अनुभूतियों में किसी से पीछे नहीं हैं। कदाचित् स्वयं कवि ने भी इसी चुनौती को ध्यान में रखकर ही अपनी नई रचना प्रस्तुत की है। जब राजनीति के क्षेत्र में भी क्रान्ति के नेता सत्ता के भोग में लीन हो गए थे, ऐसे वातावरण में 'कुरुक्षेत्र' का कवि उर्वशियों का चित्रण करे तो अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। अस्तु, कवि का प्रेरणा-स्रोत जो चाहे हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि यह रचना कवि के गौण व्यक्तित्व का ही प्रतिनिधित्व करती है; हिन्दी कविता मे 'कवि दिनकर' के नाम से जिस साहस, शौर्य एवं क्रांति का बोध होता है, उस कवि के अनुरूप यह कृति नहीं है। फिर भी नारी-व्यक्तित्व की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा, सौन्दर्य के आकर्षक चित्रण, एवं कोमल भावनाओं की मधुर व्यंजना की दृष्टि से यह उच्चकोटि का काव्य है। पुरुष के त्याग, संयम एवं चारित्रिक दृढ़ता का आख्यान वे बहुत पहले कर चुके थे; इसमें उसकी दुर्बलता और असहायता का उद्घाटन हुआ है :

> **चाहिए देवत्व पर इस आग को धर दूँ कहाँ पर**
> **कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर**
> × × ×
> **बुद्धि बहुत करती बखान सागर तट की सिकता का,**
> **पर तरङ्ग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है।**

वस्तुतः 'उर्वशी' को अनेक दृष्टियों से 'कामायनी' के अनंतर इस युग का दूसरा प्रौढ़ महाकाव्य कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में महाकाव्य-परम्परा अभी तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है, यह दूसरी बात है कि इस परम्परा के सभी काव्य महाकाव्यत्व के उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करते। फिर भी इनके द्वारा जीवन, समाज एवं साहित्य में उच्च मानवता के उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा का सुन्दर प्रयास हुआ है। अतः इनका महत्व अक्षुण्ण है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के आलोचकों ने इनके प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाकर इनके साथ बड़ा अन्याय किया है, जिसका प्रतिकार अब हो जाना चाहिए।

: : बत्तीस : :

हिन्दी गीति-काव्य : स्वरूप और विकास

१. स्वरूप—(अ) परिभाषा, (आ) लक्षण, (इ) वर्गीकरण ।

२. विकास—(अ) प्राचीन भारतीय साहित्य में, (आ) प्राचीनतम उदाहरण, (इ) सिद्ध-काव्य, (ई) संस्कृत—भागवतकार, क्षेमेन्द्र, जयदेव, (उ) विद्यापति व मैथिली गीति-परम्परा, (ऊ) सूरदास एवं कृष्ण भक्ति-गीति-परम्परा, (ए) सन्त-काव्य, (ऐ) आधुनिक गीति-काव्य, (क) भारतेन्दु युग, (ख) छायावादी युग, (ग) प्रगतिवादी युग, (घ) प्रयोगवादी युग ।

३. उपसंहार ।

यद्यपि प्राचीन युग से ही हमारे यहाँ लोक-साहित्य के रूप में गीति-काव्य की परम्परा रही है, किन्तु आधुनिक युग में इसे अंग्रेजी के 'लिरिक' (Lyric) के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया जाता है । 'लिरिक' की व्युत्पत्ति 'लायर' (Lyre) नामक वाद्य-यन्त्र से हुई । इसके सहारे जिन गीतों का गान होता था, उन्हे 'लिरिक' कहा जाने लगा । हमारे यहाँ 'गीति' शब्द से केवल गाने की क्रिया का बोध होता है, उसके साथ किसी वाद्यविशेष का आश्रय ग्रहण किया जाना आवश्यक नहीं । वस्तुतः 'गीति' शब्द हमारा अपना है, यह 'लिरिक' के अनुकरण पर गढ़ा हुआ नही है तथा अर्थ की दृष्टि से यह लिरिक से अधिक व्यापक भी है ।

काव्य या कविता का प्रमुख तत्त्व भाव माना जाता है और सबसे अधिक भावात्मक कविता 'गीति' रूप में मानी जा सकती है । फूल में सुगन्ध होती है, किन्तु इत्र तो एकमात्र सुगन्ध ही का संचयन होता है; ठीक इसी प्रकार कविता मे भाव होते हैं, पर एकमात्र भावों का संचयन ही गीति-काव्य है । पाश्चात्य विद्वानों मे से अनेक—जाफ्राय (Jouffroy), हीगल (Hegal), अर्नेस्ट रिस (Ernest Rhys), जान ड्रिंक वाटर (John Drink Water), गमर (Gummere) और हडसन (Hudson) आदि ने विभिन्न प्रकार से गीति-काव्य की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु पूर्ण सफलता उनमें से किसी को नहीं मिली । जाफ्राय ने अस्पष्ट-सी भाषा में प्रतिपादित किया कि गीति-काव्य और काव्य पर्यायवाची शब्द है और उनमें सभी तत्त्वों का अन्तर्भाव होता है, जो निजी, आह्लादजनक एवं सजीव होते हैं । हीगल ने गीति-काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्घाटन हो, उसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप-विशेष के प्रतिबिम्ब का निदर्शन होता है । उसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, उसकी आशाओं, उसके आह्लाद की तरंगों और उसकी वेदना को

चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है।" अर्नेस्ट रिस के विचारानुसार "गीति-काव्य एक ऐसी संगीतमय अभिव्यक्ति हैं, जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है, किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्तता रहती है।" इसी प्रकार जान ड्रिंक वाटर के कथनानुसार, "गीति-काव्य एक ऐसी अभिव्यंजना है, जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमें किसी अन्य प्रेरणा के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती।" कॉलरिज ने एक स्थान पर लिखा था, "कविता श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम है" ड्रिंक वाटर ने इस परिभाषा को गीति-काव्य के अनुरूप स्वीकार किया है। प्रो० गमर और हडसन महोदय ने अपनी परिभाषाओं में गीति-काव्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया है। प्रो० गमर ने लिखा है कि "गीति-काव्य वह अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी कविता है, जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है, जिसका संबंध घटनाओं से नहीं अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है।" हडसन के विचारानुसार "वैयक्तिकता की छाप गीति-काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है, किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है, जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि यहाँ विभिन्न विद्वानों ने अन्धगज-न्याय के अनुसार ही गीति-काव्य रूपी हाथी के किसी एक अंग को ही उसका पूर्ण स्वरूप मान लिया है। किसी ने भावनात्मकता पर अधिक बल दिया है तो किसी ने संगीतात्मकता और वैयक्तिकता को ही गीति-काव्य का प्राण समझ लिया है। हमारे विचार से गीति-काव्य की परिपूर्ण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—"गीति-काव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्त शैली मे रचित रचना होती है, जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भाव-दशा का प्रकाशन संगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली में करता है।" ध्यान रहे कुछ विद्वानों ने प्रबन्ध शैली में रचित गीति-काव्यों को भी 'गीति' कहा है, किन्तु हमारे विचार से गीति-काव्य की मूल आत्मा का निर्वाह भी अवश्य रहेगा; और जहाँ इतिवृत्तात्मकता होगी, वहाँ भावात्मकता—जो कि गीति-काव्य की आत्मा है—का एकमात्र आधिपत्य नहीं रह सकता। 'सूर-सागर' को भले ही हम 'प्रबन्ध-काव्य' कहे किन्तु उसके गीतों का आस्वादन मुक्त रूप में ही किया जाता है। वस्तुतः 'सूर-सागर' में प्रबन्धत्व कम है, मुक्तकता अधिक है।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गीति-काव्य के छः तत्त्व निर्धारित किए जा सकते हैं—(१) भावनाओं का चित्रण या भावात्मकता, (२) वैयक्तिकता अर्थात् निजी अनुभूतियों का प्रकाशन, (३) संगीतात्मकता या लय का प्रवाह, (४) शैली की कोमलत व मधुरता, (५) संक्षिप्तता और (६) मुक्तक शैली। इनमें से एक-आध तत्त्व के अभाव में भी किसी रचना को गीति-काव्य की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु एक सर्वोत्कृष्ट गीति में इन सभी तत्त्वों का समाहार होना परमावश्यक है।

वर्गीकरण

सामान्यतः हम गीति-काव्य को दो वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—(१) लोक

गीति और (२) साहित्यिक गीति। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसे विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया है जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—सोनेट (Sonnet), ओड (Ode), एलिजी (Elegy), सांग (Song), इपिस्लि (Epistle), ईडिल (Edyll) आदि हमारे हिन्दी के आलोचकों में से भी कुछ ने इनका अंधानुकरण करते हुए इस प्रकार का वर्गीकरण किया है। डॉ० दुबे ने भेद किए हैं—[१] प्रेम-प्रधान गीत, [२] देश-प्रेम के गीत, [३] भक्ति-प्रधान गीत, [४] विचारात्मक गीत, [५] बुद्धि-प्रधान गीत, [६] प्रकृति के गीत, [७] सामाजिक गीत। इस प्रकार तो मानव-हृदय मे जितने भाव हैं, उतने ही गीति-काव्य के भेद किए जा सकते हैं; फिर डॉ० दुबे ने प्रेम और देश-प्रेम को तो ले लिया; किन्तु वात्सल्य और करुण रस को वे कहाँ स्थान देंगी ? क्या सूर के बाल-लीला सम्बन्धी पदों का उन्हें कोई ध्यान नहीं रहा ? खैर, उनकी मौलिकता का एक बहुत बड़ा प्रमाण है, विचारात्मक गीति के अतिरिक्त एक और भेद करना—'बुद्धि-प्रधान गीत !' क्या विचारात्मक गीत में बुद्धि और बुद्धि-प्रधान गीति में विचार नहीं होते ! वस्तुतः यह वर्गीकरण पर्याप्त असंगत है।

अब आकारगत वर्गीकरण को लीजिए। डॉ० दुबे ने यहाँ मौलिकता को भूलकर अंधानुकरण की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। देखिए—[१] चतुर्दशपदी, [२] सम्बन्ध गीति, [३] शोक-गीति, [४] गीत, [५] संगीत-प्रधान [६] पत्र-गीति। यदि सोचने का थोड़ा-सा कष्ट किया जाय तो यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'शोक-गीति' का सम्बन्ध आकार से नहीं, विषय से है; पत्र-गीति और सम्बन्ध-गीति का सम्बन्ध भी आकार से नहीं शैली से है; और 'चतुर्दशपदी' है तो चतुष्पदी या द्वादशपदियों को भी स्थान मिलना चाहिए था।

हमारे विचार से गीति-काव्य का यह वर्गीकरण अनावश्यक एवं अनुपयोगी है। मानव-अनुभूतियों के विस्तार की कोई सीमा नहीं—अतः विषय या आकार के आधार पर गीतों का वर्गीकरण करना अनावश्यक है।

उद्भव और विकास

असभ्य, अशिक्षित एवं अविकसित जातियों में भी किसी न किसी प्रकार के गीतों का प्रचार पाया जाता है; अतः यह कहा जा सकता है कि गीति-काव्य का उद्भव मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक युग में ही हो गया होगा। किन्तु आरम्भ में गीति-काव्य लोक-साहित्य के रूप में ही प्रचलित रहा; साहित्य में स्थान उसे बहुत बाद में प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान् जो हर बात को वैदिक साहित्य में ढूंढ़ निकालने के अभ्यस्त हैं, गीति-काव्य का उद्भव भी ऋग्वेद से सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं का सस्वर पाठ होता था, इसमें संदेह नहीं, किन्तु इसी से उन्हे 'गीति-काव्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सामवेद की संगीतात्मक पंक्तियों को गीति-काव्य बताना भी वैसा ही है, जैसा पद्माकर और मतिराम के लयपूर्ण कवित्त-सवैयों को गीति बताना।

भारतीय साहित्य में गीति-काव्य का सर्वप्रथम उदाहरण हमें कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' में मिलता है, जहाँ उसकी नायिका नृत्य-गान-प्रतियोगिता में

एक 'चतुष्पदिका' गाती है—'हे हृदय ! प्रिय का मिलना दुर्लभ है, अतः उसकी आशा छोड़ दे । मेरी बाईं आँख फड़क रही है । जिसे पहले देखा था, क्या उसे फिर देख पाऊँगी ? हे नाथ ! मुझ पराधीन को तुम अपने प्रेम के वशीभूत समझना ।' (द्वितीय अंक, ४) । यद्यपि इसे कवि ने 'गीति' का नाम नहीं दिया है, किन्तु इसमें गीति-काव्य की टेक को छोड़कर प्रायः सभी तत्त्व—भावात्मकता, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, भाषा की कोमलता और मुक्तक शैली—मिलते हैं । अतः इसे 'गीति-काव्य' का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है । यह चतुष्पदी नृत्य के अवसर पर प्राकृत भाषा या तत्कालीन लोकभाषा में गाई गयी है, अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि साहित्यिक गीतों की रचना का आरम्भ पहले प्राकृत अथवा लोकभाषा में हुआ तथा काव्य-कला के स्थान पर पहले संगीत एवं नृत्य कला के क्षेत्र में गीतों का प्रयोग होता था, आगे चलकर इसे साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ ।

प्रारम्भ में गीति-पद्धति का प्रचलन मुख्यतः जन-साधारण में था, अतः साहित्यकारों द्वारा उसकी उपेक्षा होना स्वाभाविक था । भारतीय साहित्य में उसे सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय अपभ्रंश के सिद्ध कवियों को है । वे स्वयं अशिक्षित थे तथा उन्होंने काव्य के लिए अशिक्षित वर्ग की भाषा को ही ग्रहण किया, अतः शैली में भी जन-साधारण की गीति-शैली को स्वीकार कर लेना स्वाभाविक था । सिद्ध कवियों की गीतियाँ 'चर्या-पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनमें उन्होंने प्रायः साधिका (या मुद्रा) से अपना प्रणय-निवेदन किया है—

तिअड्डा चापि जोइनि दे अंक वाली । कमल कुलिश घोंटि करहु विआली ।।
जोइनि तइँ विनु खनहि न जीवमि । तो मुह चुम्बि कमल रस पीवमि ।।
खेपहुँ जाइनि लेप न लाअ । मणि-कुले बहिआ उडिआने समाअ ।
सासु घेरें घालि कोंचा-ताल । चाँद-सूज वेणि पखा फाल ।।
भणइ गुन्डरी अम्हें कुन्दुरे वीरा । नर अ नारी माझे उभल चीरा ।।

—गुडरीपा (चर्यागीति); राग—अरण ।

सिद्धों के इन चर्या-पदों में गीति-काव्य के सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं—इनमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति है । वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, भाषा की कोमलता, मुक्तक शैली एवं संक्षिप्तता आदि गुण भी इनमें विद्यमान हैं । सिद्ध कवियों ने राग-रागिणियों का उल्लेख भी सर्वत्र किया है । अतः इनके गीति होने में कोई सन्देह नहीं है ।

सिद्ध कवियों की यह गीति-शैली हिन्दी-काव्य में दो धाराओं में बँटकर पहुँची । एक ओर तो अपभ्रंश कवियों से प्रभावित होकर संस्कृत के अनेक कवियों—भागवतकार, क्षेमेन्द्र और जयदेव—ने इसे अपनाया और विकसित किया—यही परम्परा आगे जयदेव से मैथिली कवियों—विद्यापति आदि—को प्राप्त हुई तथा उनके द्वारा इसका प्रचार कृष्ण-भक्त कवियों में हुआ । दूसरी ओर सिद्धों की गीति-परम्परा नाथ-पंथी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों में होती हुई हिन्दी के संत-कवियों को प्राप्त हुई । इस प्रकार भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में गीति-धारा का प्रवाह दो स्रोतों—कृष्ण-भक्त और सन्त-काव्य—के रूप में प्रवाहित हुआ, जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है ।

संस्कृत काव्य में सर्वप्रथम गीति-शैली का प्रयोग, जैसा कि ऊपर कहा गया है, भागवतकार ने अपने ग्रन्थ के दशम स्कन्ध में गोपियों के विरह के प्रसंग में किया है। उन्होंने वियोगानुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए गोपियों के मुँह से ही तीन-चार गीतियों का गान करवाया है, जो भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता आदि गुणों से युक्त है। श्री क्षेमेन्द्र ने भी अपने ग्रंथ (दशावतार चरित्र) में कृष्णावतार प्रसंग में एक गीति का प्रयोग किया है, जो सरसता से ओत-प्रोत है। इस गीति में टेक का भी प्रयोग हुआ है—

ललित विलास कला सुख खेलन
ललना लोभन शोभन यौवन
मानितनव मदने।
केशि किशोर महासुर मारण
दारुण गोकुल दुरित विदारण
गोवर्द्धन धरणे।
कस्य न नयन युगं रति सज्जे
मज्जसि मनसिज तरल तरंगे
वर रमणीरमणे।

क्षेमेन्द्र की परम्परा को जयदेव ने 'गीतगोविन्द' मे आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने काव्य को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से 'हरि-स्मरण' के साथ-साथ 'विलास-कला' का भी समन्वय किया। यद्यपि इस दृष्टिकोण के कारण 'गीतगोविन्द' मे भक्ति-भावना प्रकाश गौण हो गया है; राधा-कृष्ण का स्थूल क्रीड़ाओं का इतिवृत्त ही उसमे अधिक आ गया है, किन्तु फिर भी उसमें भावात्मकता का सर्वथा अभाव नही है। गीतगोविन्दकार की कदाचित् महाकवि कहलाने की आकाक्षा थी, अत. उन्होंने इस एक सौ श्लोकों से भी छोटी रचना को बारह सर्गो में विभाजित किया है जिससे वह 'महाकाव्य' की संज्ञा से अभिभूषित हो सके; किन्तु इसमे कथानक का तन्तु इतना सूक्ष्म, शिथिल एवं अस्पष्ट है कि इसे 'प्रबन्ध' कहना 'प्रबन्ध' शब्द का दुरुपयोग है। जयदेव ने इस ग्रंथ की रचना मे काव्यशास्त्र की और काम-शास्त्र की रूढ़ियों का भी समन्वय प्रयत्नपूर्वक किया है। राधा-कृष्ण का मिलन सहज-स्वाभाविक ढग से न होकर नायिका-भेद की सीढ़ियों को पार करता हुआ उपस्थित होता है। दोनों के मिलन से पूर्व राधा को क्रमशः अष्ट नायिकाओं—अन्यसम्भोगदुःखिता, मानवती, अभिसारिका, कलहान्तरिता आदि के रूप धारण करने पड़ते है। 'रोदति विलपति वासकसज्जा' जैसे संकेतों द्वारा कवि ने इन रूपों का उल्लेख भी स्पष्ट रूप मे कर दिया है। अस्तु, 'गीतगोविन्द' में भावों की स्वाभाविकता की अपेक्षा रूढ़ियों का कृत्रिम प्रयोग अधिक है; किन्तु फिर भी अपनी कोमल मधुर शब्दावली एवं संगीतात्मकता के कारण 'गीतगोविन्द' बहुत लोकप्रिय हुआ तथा इसने परवर्ती साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया।

जयदेव की गीति-परम्परा को हिन्दी-काव्यक्षेत्र में विकसित करने का श्रेय विद्यापति को है। उन्होंने 'देसल बयना सब जन मिट्ठा' की घोषणा करते हुए संस्कृत की

काव्य-माधुरी को लोकभाषा—मैथिली या हिन्दी—में प्रवाहित करने का साहस किया; उनके गीति-काव्य का विषय राधा-कृष्ण की शृङ्गारी क्रीड़ाओं का वर्णन ही है, किन्तु भावात्मकता की दृष्टि से वे जयदेव से आगे हैं। जयदेव का ध्यान मुख्यतः घटनाओं पर रहता है, जबकि विद्यापति का भाव-दशाओं पर। वे पूरी गीति में किसी एक परिस्थिति को लेकर उससे सम्बन्धित भावनाओं का चित्रण अनुभूति से पूर्ण इस प्रकार वेष्टित कर देते हैं कि वह विशुद्ध भावावेग का रूप धारण कर लेता है—

सहजहि आन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आँखि !
पंकज मधु पिवि मधुकर रे, उड़ए पसारल पाँखि !

× × ×

ततहि धाओल दुह लोचन रे, जतहि गेलि वर नारि !
आसा लुबुधल न तेजए रे, कृपन क पाछु भिखारि ! !

यहाँ सौन्दर्य की स्थूल रूप-रेखाओं का चित्रण कम है, उससे सम्बन्धित आकाक्षाओं, लालसाओं व विभिन्न भावानुभूतियों की ही व्यंजना अधिक है। पंक्ति के अन्त में 'रे' की आवृत्ति से तो द्रवीभूत हृदय की सरलता स्पष्ट रूप मे मुखरित हो रही है।

विद्यापति जिस प्रणय-गाथा का वर्णन अपने काव्य में करते है, वह उनकी नहीं, उनके नायकराज एवं नागरी राधा की है, किन्तु फिर भी उन्होंने एक ऐसी शैली अपनाई है जिससे उनकी गीतियों मे वैयक्तिकता का समावेश हो जाता है; जैसे कि निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

कतन वेतन मोहि देसि वदना

× × ×

कहहि मो सखि कहहि मो
तक तकर अधिवास

× × ×

कि मेरा जीवन कि मोरा जौवन
कि मोरा चतुर पने

× × ×

सखि ! हे आज जाइब मोंहि
घर गुरुजन डर न मानब
वचन चूकब नाहिं ॥

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कवि नायक-नायिका के लिए 'अन्य-पुरुष' वाची सर्वनामों का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष में उनकी अनुभूतियों को व्यक्त करता है, जिससे इनमें वैयक्तिकता का गुण आ गया है।

संगीत के स्वरों का भी विद्यापति को पूरा अभ्यास था। भाषा की कोमलता एवं मधुरता पर तो मानो उनका एकाधिकार था। उनकी पदावली के छोटे-छोटे पदों में भाव, संगीत एवं भाषा का अनूठा समन्वय हुआ है—

नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु-तर धिरे-धिरे मुरली बजाव।
समय संकेत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव ॥

वस्तुतः विद्यापति के काव्य में गीति-काव्य की सभी विशेषताओं का निर्वाह सफल रूप मे हुआ हैं। उनकी पदावली इतनी लोकप्रिय हुई कि उनके प्रदेश में शताधिक कवियों ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। मैथिली गीतों की परम्परा पन्द्रहवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक अखण्ड रूप में प्रवाहित होती रही है। चन्द्रकला, दशावधान ठाकुर, भीष्मकवि, लोचन, गोविन्ददास, भूपतीन्द्र, बुद्धिलाल, रमापति आदि कवियों ने विद्यापति का अनुकरण करते हुए अनेक सरस पदों की रचना की है।

विद्यापति के पदों का प्रचार केवल मिथिला तक ही सीमित नहीं रहा, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम आदि प्रदेशों मे उनके गीतों का स्वर गुंजित होने लगा। वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन के प्रचारक श्री चैतन्य द्वारा तो उनके पदों की प्रसिद्धि और भी दूर-दूर तक फैल गई। श्री चैतन्य के अनेक अनुयायी वृन्दावन में आकर रहने लग गए थे, जिनके द्वारा विद्यापति की पदावली का प्रचार ब्रज-प्रदेश में हुआ तथा आगे चलकर अष्टछाप के कवियों ने इसी परम्परा का विकास ब्रजभाषा में किया। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य में स्थूल ढाँचा बहुत कुछ मैथिली गीति-परम्परा के आधार पर निर्मित है, यह दूसरी बात है कि उसकी मूल भावना में परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। विद्यापति के पद राजाओं के रंग-महल में राजा शिवसिंह एवं रानी लक्ष्मीदेवी जैसे रसिक दम्पति के सम्मुख रचे गये थे, जब कि कृष्ण-भक्त कवियों का काव्य वैष्णव-मन्दिरों में राधा-कृष्ण की मूर्ति के समीप बैठकर लिखा गया था, अतः दोनों के स्वर की मूल ध्वनि में थोड़ा-बहुत अन्तर होना स्वाभाविक भी हैं। राधा-कृष्ण के आश्रय में शृङ्गारिकता का चित्रण दोनों काव्य-धाराओं में हुआ है, किन्तु विद्यापति में रसिकता का उन्मेष अधिक है, जबकि अष्टछाप के कवि अन्ततः अपने भक्ति भाव को स्पष्ट कर देते हैं। राधा-कृष्ण को छेड़-छाड़ का वर्णन करनेवाला कवि सूर अपने प्रत्येक पद के अन्त मे 'सूर-श्याम-प्रभु' कहकर श्रोता को यह स्मरण करा देता है कि वह किसी भक्त के उद्‌गार सुन रहा है।

अष्टछाप के कवियों में सर्वोच्च स्थान महाकवि सूरदास का है। यदि हम कहें कि उनके गीतों में गीति-काव्य की सभी विशेषताएँ विद्यमान है तो सम्भवतः उनकी कला के साथ पूरा न्याय नहीं होगा। सभी विशेषताओं के विद्यमान होने की बात तो अनेक कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, किन्तु सूरदास में तो कुछ ऐसी विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है जिसे शब्दों में समझाना सरल नहीं। उनके पदों में भावनाओं का एक ऐसा अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है, जिसके आदि-अन्त का कोई पार नहीं; उनके उद्‌गारों में अनुभूति की ऐसी स्वच्छन्दता विद्यमान है कि उनमें निजी और परकीय का भेद करना संभव नहीं; उनके स्वरों में ऐसी मधुर लहरियों का गुंजार हो रहा है कि वहाँ संगीत-शास्त्र के नियमों को याद रखना वश की बात नहीं और उसमें भाषा का ऐसा लालित्य व शब्दों का ऐसा माधुर्य घुला हुआ है कि उसके आस्वादन में मग्न होकर कटुता एवं तिक्तता के स्वाद

को भूल जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं। बालकृष्ण की उक्तियों में जैसी स्वाभाविकता, विरह-विधुरा राधा के शब्दों में जैसा दैन्य, एवं श्याम की दरस की प्यासी गोपियों के उपालम्भों में जैसा व्यंग्य है, वह किसी भी सहृदय के मन को मोहित कर सकता है। सूर के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में कुछ पाठकों को 'वैयक्तिकता' के अभाव का आभास होगा, क्योंकि उनमें वर्णित घटनाएँ कवि के निजी जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं, किन्तु यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विद्यापति की भाँति कवि सूर ने भी गोप-बालाओं की अनुभूतियों को स्वानुभूतियों के रूप में ही प्रकाशित किया है; यथा—

ऊधो मन नहिं हाथ हमारे।

× × ×

ऊधो ! हम हैं अति बौरी !

× × ×

कबहुँ सुधि करत गोपाल हमारी ?

× × ×

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में गीति-काव्यों का दूसरा स्रोत संत-कवियों द्वारा प्रवाहित हुआ। कृष्ण-भक्त कवियों को गीति-काव्य की जो धारा प्राप्त हुई थी, वह जयदेव एवं विद्यापति के द्वारा बहुत कुछ परिष्कृत एवं विकसित हो चुकी थी, किन्तु संत कवियों ने उसके अपरिष्कृत एवं अविकसित रूप को ही अपनाया। अशिक्षा, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण, विचारों की तीव्रता, भावों की अस्पष्टता, शैली की जटिलता एवं भाषा की अशुद्धता की दृष्टि से अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व हिन्दी में संत-काव्य द्वारा ही होता है। उपर्युक्त न्यूनताओं एवं दोषों के कारण संत-कवियों की गीति-काव्य-धारा के स्वच्छन्द प्रवाह के बीच-बीच में कुछ ऐसे व्यवधान उपस्थित हो जाते है, जो उनके आस्वादन की गति में बाधक सिद्ध होते हैं। किन्तु फिर भी जहाँ कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि उपदेशों के प्रचार, खंडन-मंडन एवं योगमार्ग की चर्चा को भूलकर विशुद्ध अनुभूति की व्यंजना में प्रवृत्त हुए हैं, वहाँ उनके पदों में पर्याप्त भावात्मकता, सरसता एवं मधुरता आ गई है। जैसे—

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये !
भाग बड़े घरि बैठे आये !

मंगलचार माँहि मन राखौं। राम रसांइण रसना चाखौं।
मंदिर माँहि भया उजियारा, ले सूती अपना पिव प्यारा॥

× × ×

कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा, सखी ! सुहाग राम मोहि दीन्हा॥

वैयक्तिकता का तत्त्व तो संत-काव्य में स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान था, क्योंकि इन्होंने प्रायः निजी अनुभूतियों को ही व्यक्त किया है। संगीतात्मकता का प्रमाण इनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न राग-रागनियों में मिलता है। भाषा में अवश्य सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता सर्वत्र नहीं मिलती, किन्तु कुछ पदों में ये गुण भी विद्यमान हैं। अतः

विद्यापति और सूर के पदों का सा माधुर्य न होते हुए भी संत-कवियों के काव्य का महत्त्व कम नहीं है।

हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में गीति-धारा के किसी नए स्रोत का प्रस्फुटन नहीं हुआ, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस युग में गीति-काव्य की रचना हुई ही नहीं। हमारे इतिहासकारों ने जिस ढंग से संत एवं कृष्ण-भक्त कवियों का परिचय दिया है, उससे यह भ्रांति फैल गई है कि रीति-काल में केवल कवित्त-सवैया पद्धति में ही काव्य-रचना हुई, जबकि वास्तविकता यह नहीं है। इसी युग में जबकि राजाओं के आश्रय मे रीति-बद्ध काव्य की रचना हो रही थी, मैथिली, कृष्ण-भक्त और संत कवियों द्वारा गीति-काव्य की धारा अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही थी। सुन्दरदास, मलूकदास, अक्षर-अनन्य, ध्रुवदास आदि अनेक कवि रचना-काल की दृष्टि से रीति-काल के कवि हैं। फिर भी इतना अवश्य है कि नवीनता के प्रति अधिक आकर्षण होने की प्रवृत्ति के कारण लोगों की अधिक रुचि नवीन कवित्त-सवैया पद्धति में ही थी, अतः गीति-धारा का प्रवाह मंद गति से ही आगे बढ़ रहा था।

आधुनिक युग में गीति-धारा के तीन स्रोत क्रमशः प्रस्फुटित हुए। पहला स्रोत भारतेन्दु युग में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रस्फुटित हुआ जिसमें उन्होंने सूर, तुलसी का अनुकरण करते हुए भक्ति-भावना से पूर्ण पदों की रचना की। कविता में भारतेन्दु की मूल-पद्धति कवित्त-सवैया की थी, अतः इनके पदों में मौलिकता या ताजगी का आभास नहीं होता, पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों का ही पिष्ट-पेषण उनमें अधिक है। दूसरा स्रोत छायावादी कवियों द्वारा प्रस्फुटित हुआ। इन कवियों ने निजी प्रेमानुभूति को लेकर काव्य-रचना की तथा इनका प्रेरणा-स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय काव्य कम था, पाश्चात्य लिरिक-कविता अधिक थी, उनमें एक नया उत्साह, नई स्फूर्ति दृष्टिगोचर होती है। अब तक हिन्दी के गीतिकारों ने प्रायः राधा-कृष्ण के प्रेम की ही व्यंजना अपने काव्य में की थी। निजी प्रेमानुभूतियों के प्रकाशन का प्रयत्न गीति-काव्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी में ही मिलता है। वैसे प्रेम दीवानी मीरा व घनानन्द आदि के द्वारा भी ऐसा हो चुका था; किन्तु एक का प्रेम आध्यात्मिक था, जबकि दूसरे की शैली गीति नहीं थी, अतः छायावादियों को ही इसका श्रेय देना उचित है। छायावादी कवियों का दृष्टिकोण वस्तु-परक रहा, संगीत और लय का भी उन्होंने पूरा ध्यान रखा है। निराला तथा महादेवी वर्मा का कृतित्व इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। निराला ने अपने विविध प्रयोगों द्वारा हिन्दी गीति-काव्य को समृद्ध किया तो महादेवी जी ने लोक-गीतों पर आधारित धुनें लेकर उसमें नया संगीत भरा। उनकी शैली में संक्षिप्तता, सूक्ष्मता एवं मधुरता का गुण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शास्त्रीय दृष्टि से गीति-काव्य के लिए आवश्यक सभी तत्त्व छायावादी काव्य में उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसे दोष भी समन्वित हैं, जिनके कारण वे हमारे हृदय का उद्वेलन उस सीमा तक नहीं कर पाते, जिस सीमा तक हम गीति-काव्य से आशा रखते हैं। भावात्मकता उनमें है, किन्तु उसके चारों ओर दार्शनिकता एवं बौद्धिकता की एक

ऐसी चौखट कसी हुई है, जिससे यह स्वच्छन्दतापूर्वक पाठक के हृदय से हिल-मिल नहीं सकती ; वैयक्तिकता भी उनमें है किन्तु वह प्रकृति-बाला की गोदी में इस तरह छिपी हुई है कि उसे पहचान पाना सरल नहीं ; उनकी भाषा मधुर है ; किन्तु उसमें पेड़ों की सनसन, पत्तों का मरमर एवं चिड़ियों की चहचहाहट का मिश्रण इतना अधिक हो गया है कि उसे समझना टेढ़ी खीर है । इसके अतिरिक्त छायावादी कवि धरती पर मनुष्यों की तरह चलता-फिरता दिखाई नहीं देता, वह कभी भौंरों का रूप धारण कर उड़ता हुआ अपनी सुहाग-भरी जूहियों के पास पहुँचता है ; कभी नक्षत्र-लोक से निमन्त्रण पाकर गगन के उस पार तक चला जाता है, तो कभी अपने अलौकिक प्रियतम के साक्षात्कार के लिए नभ की दीपावलियों को बुझा देने का दुष्प्रयत्न करता दिखाई पड़ता है । भला, इस अलौकिक जगत् में पहुँचकर किसी अपरिचित के साथ आँख-मिचौनी खेलनेवाले कवि की लीला को हम क्या समझें ? उसकी गुनगुनाहट मीठी है, बिल्कुल भौंरों जैसी, जिसका अर्थ हम नहीं समझ सकते ; उसका सौन्दर्य तितली जैसा है, जिसे हम छू नहीं सकते ; उसका माधुर्य अमृत जैसा है, जिसे हम पा नहीं सकते । यही कारण है कि छायावादी कवियों के गीति-काव्य की स्वर लहरियाँ जन-मानस की भावनाओं को उद्वेलित नहीं कर सकीं । चंचला की चमक और विद्युत् की गर्जना की भाँति एकाएक स्फुरित होकर वे विस्तृत नभ के किसी कोने में ही विलीन हो गईं !

आधुनिक युग में गीति-काव्य का तीसरा स्रोत प्रगतिवादी कवियों की कलम से प्रस्फुटित हुआ । इनका दृष्टिकोण छायावादियों से सर्वथा विरोधी रहा । छायावादी उच्चता में यदि आसमान को छूने का प्रयत्न करते थे तो ये ठेठ पाताल मे ही पहुँच जाना चाहते हैं ; धरती के सीधे-सादे जीवन दोनों में ही नहीं है । उनके स्वर मे नारी की ऐसी मन्द-मन्द कोमलता थी, जो पास मे बैठे हुए को भी नही सुनाई दे तो इनके स्वर का विस्फोट कोसों दूर व्यक्ति के श्रुत-कर्णो को भी चोट पहुँचाने मे समर्थ है । इनकी कविता मे भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता, वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता, संगीतात्मकता की अपेक्षा बेसुरापन, भाषा की कोमलता की अपेक्षा कठोरता अधिक है, अतः गीति-काव्य के लक्षणों की पूर्ति इनमें नहीं मिलती । किन्तु जहाँ नवीन, दिनकर, मिलिन्द आदि ने अनुभूति से परिपूर्ण कविताओं की रचना की है, उनमें गीति की आत्मा स्वतः ही मुखरित हो उठती है । यथा, दिनकर की इस 'हुंकार' को सुनिए—

स्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं ।
माँ को हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं ।
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं ।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं ।
पापी महलों का अन्धकार देता तब मुझको आमंत्रण ।

यह खेद का विषय है कि ऐसी ओजपूर्ण भावोत्तेजक गीतियाँ प्रगतिवादी कवियों द्वारा अधिक संख्या में नहीं लिखी गई, कुछ ने तो कोरी तुकबंदियाँ ही कर दी है—

ताक रहे हो गगन !
मृत्यु नीलिमा गहन ।
अनिमेष अचितवन काल नयन ;
देखो भू को ।
जीव प्रसू को ।

—पंत (युगवाणी)

इन पंक्तियों को गीति-काव्य की संज्ञा देने में भी संकोच होता है ।

इधर प्रयोगवादियों ने भी अपने प्रयोगों द्वारा गीति-काव्य के कई नवीन स्वरूपों का आविष्कार किया है; जिनमें कहीं वे भावात्मकता के अभाव में जी रहे हैं, तो कहीं वैयक्तिकता के विस्फोट से पाठकों को चौंका रहे हैं । संगीतात्मकता और शैली की मधुरता का भी इनमें पूरा प्रकोप है, केवल बात यह है कि उसका आस्वादन करने के लिए हमें नई आँखें और नये कान चाहिए, पुराने दिमाग और पुराने शरीर के अवयवों से नई कविता को ग्रहण करना सम्भव नहीं । यदि हमारे नये कवि दस-बीस वर्ष प्रयत्न करते रहें तो सम्भव है कि उनके शब्दों की तड़ातड़ से हमारी श्रवणेन्द्रियाँ घिसकर इतनी चिकनी हो जाएँगी कि वे भी इस नई कविता के रस को निगलने में समर्थ हो सकें । उनकी इस 'तड़ातड़' का नमूना द्रष्टव्य है—

"तूफान है !
दरवाजों की भड़ाभड़ आवाज है !
धूल है !
दम घुटता है ? घुटने दो ! !
हिम्मत बाँधो चीखो मत ! !
चीख के बाद भी दरवाजा बंद न करने दूँगा ! !"

'नई कविता' के नए गीतों के श्रोताओं को चाहिए कि वे दम घुटने की परवाह न करके हिम्मत बाँधकर इन गीतों को सुनते रहे ।

सौभाग्य से नए गीतों के इस रेगिस्तान के बीच में कभी-कभी बच्चन, नरेन्द्र, नीरज, रामअवतार त्यागी, बालस्वरूप राही, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की मधुर रचनाओं में नखलिस्तान के भी दर्शन हो जाते हैं, जिससे बोध होता है कि हिन्दी मधुर गीति-काव्य-धारा का स्रोत अभी सूखा नहीं है, उसकी गति भले ही मन्द हो गई हो, किन्तु वह धीरे-धीरे आगे अवश्य बढ़ रहा है !

:: तैंतीस ::

हिन्दी मुक्तक काव्य : स्वरूप और विकास

१. मुक्तक की परिभाषा।
२. मुक्तक का स्वरूप।
३. मुक्तक के भेदोपभेद।
४. मुक्तक काव्य का सिद्धान्त—(क) प्राचीन भारतीय काव्य में, (ख) प्राचीन हिन्दी काव्य में, (ग) आधुनिक हिन्दी काव्य में।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रबन्ध-काव्य के विपरीत रूप अर्थात् अप्रबन्ध-काव्य के लिए मुक्तक शब्द का व्यवहार किया है। अग्निपुराण ने ऐसे श्लोकों को मुक्तकों की संज्ञा दी है, जो अपने अर्थद्योतन में स्वतः समर्थ हों—"मुक्तक श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।" आगे चलकर ध्वन्यालोक के लोचनकार अभिनवगुप्त ने इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है कि ऐसे पद्य को, जिसका अगले-पिछले पद्यों से कोई सम्बन्ध न हो तथा जो अपने विषय को प्रकट करने में अकेला समर्थ हो, मुक्तक कहते हैं। साथ ही स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप में अर्थ-द्योतन में समर्थ होते हुए भी वह प्रबन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इसकी एक विशेषता और बताई है कि वह उसमें विभाव, अनुभावादि से परिपुष्ट इतना रस भरा होता है कि वह पाठक को रसानुभूति प्रदान कर सकता है। आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि प्रबन्ध के अन्तर्गत जितने भावों या रसों का परिपाक सम्भव है, उतने ही भावों या रसों की व्यंजना मुक्तक में भी सम्भव है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक के स्वरूप का अधिक स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है, इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है।" यद्यपि यहाँ मुक्तक के स्वरूप की रूप-रेखा बहुत ही आकर्षक शब्दावली में प्रस्तुत की गई है जिससे प्रबन्ध और मुक्तक के अन्तर पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु हमारे प्राचीन और आधुनिक आचार्यों ने कहीं भी इस प्रश्न पर विचार नहीं किया कि मुक्तक रचना में रस-निष्पत्ति किस प्रकार होती है? रस-निष्पत्ति के लिए भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारी आदि का चित्रण अपेक्षित होता है, किन्तु मुक्तक का क्षेत्र संकीर्ण होता है, उसमें इन सबके लिए स्थान नहीं होता—किसी एक अंग का ही चित्रण हो पाता है, अतः उससे रसानुभूति की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? और यदि किसी एक अवयव से ही रस-

निष्पत्ति हो सकती है तो फिर प्रबन्ध में सभी अवयवों के विकास पर क्यों बल दिया जाता है ?

यह तो स्वयं आचार्य शुक्ल ने ही स्वीकार कर लिया है कि प्रबन्ध मे जहाँ हृदय को रस-मग्न करने की क्षमता होती है, वहाँ मुक्तक से रस के छीटे ही पड़ते हैं, जिनसे हृदय-कलिका खिल उठती है (उसमे मग्न नहीं हो पाती)। इसका तात्पर्य हुआ कि रसानुभूति की दृष्टि से मुक्तक-काव्य मे प्रबन्ध को अपेक्षा न्यून शक्ति होती है। फिर भी हमारी मूलभूत समस्या—कि मुक्तक से रस-निष्पत्ति (भले ही रस की धारा न होकर छीटे ही सही) किस प्रकार होती है—का समाधान नही होता।

हमारे विचार से उत्कृष्ट कोटि का मुक्तक-काव्य प्रबन्ध-काव्य से चुनकर अलग किया हुआ कोई ऐसा अंश नहीं होता, जो कि वाटिका से चुनकर तैयार किए हुए गुल-दस्तों के समान हो और न ही वह प्रबन्ध का एक लघु-संस्करण होता है। प्रबन्ध और मुक्तक का सम्बन्ध पूरे शरीर और उसके एक अंग (हाथ, पैर आदि) का सा नही होता, और न ही दीर्घकाय मनुष्य और लघुकाय शिशु का सा होता है। एक बार डॉ० गुलाब राय जी ने उपन्यास और कहानी का अन्तर स्पष्ट करते हुए बैल और मेढक का उदाहरण दिया था, वही बात प्रबन्ध और मुक्तक के सम्बन्ध मे कह सकते हैं। वस्तुतः दोनों की स्वतंत्र सत्ता है और दोनों स्वतंत्र विधाएँ हैं। एक मुक्तककार रस के सारे अवयवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता, जिससे कि वे उन सबका चर्वण करके रस की उपलब्धि कर सकें, अपितु कवि स्वयं अपने मानस में ही उन सबका आलोड़न-विलोड़न कर लेता है और उससे प्राप्त अनुभूति-मात्र को अपने काव्य में प्रस्तुत करता है। कहना चाहिये कि प्रबन्ध में वह सारी स्थूल सामग्री उपस्थित होती है, जिससे रस की निष्पत्ति सम्भव होती है; जबकि मुक्तककार सामग्री प्रस्तुत न करके उसका केवल सार या रस-मात्र प्रस्तुत करता है। प्रबन्धकार, मैदा, चीनी, घृत आदि सब कुछ प्रस्तुत करता है जिससे हलुआ तैयार हो सके; जबकि मुक्तककार केवल बना-बनाया हलुआ ही उपस्थित कर देता है, भले ही आकार-परिमाण की दृष्टि से वह न्यून ही क्यों न हो।

मुक्तक-काव्य में रस के सभी स्थूल अवयवों का चित्रण नहीं होता, उसमे किसी एक अवयव या भाव-दशा का निरूपण होता है, किन्तु इसमे कुछ ऐसे संकेत होते हैं जिससे शेष अवयवों की कल्पना करने में पाठक स्वयं समर्थ हो सके। उदाहरण के लिए निम्नांकित सवैया द्रष्टव्य है—

पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुन्दरता सरसौ।
'घन आनन्द' जीवनदायक हौ, कबौं मेरियौ पीर हिए परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को ले बरसौ।

यहाँ आलम्बन और आश्रय का स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं है, उनकी परिस्थितियों व भाव-दशा का भी अंकन नहीं है, किन्तु प्रणयी हृदय के व्याकुल उद्गारों द्वारा ही सारी स्थिति की व्यंजना हो जाती है। वस्तुतः यहाँ स्थायीभाव के विभिन्न अवयव न होकर स्वयं स्थायीभाव ही द्रवीभूत होकर प्रवाहित हो रहा है।

मुक्तक के भेदोपभेद

संस्कृत के विद्वानों एवं आचार्यों ने मुक्तक के कई भेदोपभेद किए हैं। दंडी ने उसके मुख्य तीन भेद किए है—मुक्तक, कुलक कोष और संघात। आगे चलकर भेदों की संख्या में वृद्धि हो गई। ये भेदोपभेद मुख्यतः श्लोक संख्या व विषय-भेद पर ही आधारित है। विभिन्न विद्वानों द्वारा मुक्तक के ये ९ भेद स्वीकृत किए गए हैं—(१) मुक्तक—एक श्लोक में पूर्ण होनेवाली रचना, (२) युग्मक—दो श्लोकों में समाप्त होनेवाली, (३) विशेषक—तीन श्लोकों वाली रचना, (४) कलापक—चार श्लोकों वाली रचना, (५) कुलक—पाँच श्लोकों वाली रचना, (६) कोष—ऐसे श्लोकों का संग्रह जो परस्पर सम्बद्ध न हों, (७) प्रघट्टक—एक ही कवि द्वारा रचित श्लोकों का समूह, (८) विकीर्णक—अनेक कवियों द्वारा रचित श्लोकों का संग्रह, (९) संघात या पर्याय बन्ध—एक कवि द्वारा एक विषय पर रचित छन्दों का संग्रह।

उपर्युक्त वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक है और न ही विशेष उपयोगी। सामान्यतः आजकल मुक्तक के प्रथम भेद मुक्तक (एक श्लोक वाली रचना) को मुक्तक कहा जाता है। शेष भेदों का प्रचलन नहीं है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने हिन्दी में प्रचलित मुक्तकों का वर्गीकरण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है जो इस प्रकार है—

(१) संख्याश्रित मुक्तक काव्य जैसे 'हजारा', 'सतसई', 'शतक', 'पचासा', 'बावनी', 'चालीसा', 'पचीसी', 'बाईसी' आदि।

(२) वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य—जैसे मातृका संज्ञक (दोहा मातृका), कक्क संज्ञक, ककहरा; अखरावट, बारहखड़ी आदि।

(३) छन्दाश्रित—दोहावली, कवितावली।

(४) रागाश्रित—जैसे राम लावनी, रेखता आदि।

(५) ऋतु-आश्रित—चर्चरी, फागु, होरी, बारहमासा, षड्ऋतु आदि।

(६) पूजा-धर्म आश्रित—स्तोत्र, स्तुति, स्तवन आदि।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह वर्गीकरण भी विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित नहीं है। इसमें विभिन्न मुक्तक-संग्रहों के नामकरण को ही आधार माना गया है, उसकी विषय-वस्तु या शैली का ध्यान नहीं रक्खा गया। वस्तुतः मुक्तक-काव्य भेदोपभेद के पचड़े एवं वर्गीकरण की सीमाओं से भी मुक्त रहना अधिक पसन्द करता है, अतः उसे बलात् भेदों के कठघरे में जकड़ना उचित नहीं होगा। मुक्तक-काव्य का कोई निश्चित विषय, निश्चित रूप या निश्चित शैली नहीं है, अतः उसके रूप-भेदों की संख्या अगणित है।

उद्‌भव और विकास

यद्यपि सृष्टि के आदि-काव्य के विषय मे आज हम कुछ नहीं जानते, किन्तु इतना निश्चित है कि उसकी शैली मुक्तक ही रही होगी। क्योंकि प्रबन्ध-काव्य का विकास तो धीरे-धीरे मानवीय सभ्यता की उन्नति एवं मानव-मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ मुक्तक काव्य के अनन्तर ही हुआ होगा। विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना ऋग्वेद

भी मुक्तक रूप में ही रचित है। आगे चलकर पालि और प्राकृत साहित्य में भी मुक्तकों की प्रधानता मिलती है। बौद्ध कवियों द्वारा थेरि गाथाओं में तथा जैन कवियों द्वारा अर्द्धमागधी में उपदेश एवं नीति-प्रधान सुन्दर मुक्तकों की रचना हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—"स्वार्थ-रहित देनेवाला दुर्लभ है, स्वार्थ-रहित जीवन निर्वाह करनेवाला भी दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देनेवाला और स्वार्थ-रहित होकर जीनेवाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।" एक अन्य मुक्तक में कहा गया है—"जैसे बिड़ाल के रहने के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच में ब्रह्मचारियों का रहना क्षम्य नहीं।"

प्राकृत के मुक्तक-काव्य का सर्वाधिक वैभव हाल की 'गाथा-सप्तशती' में उपलब्ध होता है। इसमें कवि ने अपना उद्देश्य काम की शिक्षा देना घोषित किया है, अतः इसमें शृङ्गार-रस की प्रधानता होना स्वाभाविक है। शृङ्गार के अतिरिक्त इसमें नीति, ज्योतिष, वैद्यक शास्त्र एवं कृषि-विज्ञान आदि की भी चर्चा हुई है। गाथा-सप्तशतीकार का दृष्टिकोण सर्वत्र यथार्थवादी है, अतः इसमें काल्पनिक जगत् के राजा-रानियों को भूलकर खेत-खलिहानों में कार्य करनेवाले जन-साधारण का चित्रण स्वाभाविक रूप में किया गया है। प्रेमी-प्रेमिका के मनोभावों, दूत-दूतिकाओं द्वारा पहुँचाए जानेवाले संदेशों, परिवार और समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करके होनेवाले गुप्त सम्बन्धों आदि का चित्रण इसमें खुलकर हुआ है। इसमें शैली की सरलता, सरसता और स्वाभाविकता का गुण विद्यमान है।

स्वयं हाल के कथनानुसार प्राकृत में शृङ्गारी मुक्तकों की संख्या करोड़ों तक पहुँचती थी, जिनमें से कुछ अच्छे मुक्तकों का संग्रह उसने 'काव्य-सप्तशती' के रूप में किया। नाट्य-शास्त्र, ध्वन्यालोक, शृङ्गार-प्रकाश, दश-रूपक, काव्य-प्रकाश आदि ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर प्राकृत के मुक्तकों को उद्धृत किया गया है, जिससे अनुमान किया जाता है कि प्राकृत में मुक्तक-शैली का बहुत प्रयोग एवं प्रचार रहा होगा। सम्भवतः प्राकृत में मुक्तकों की लोकप्रियता से प्रभावित होकर ही संस्कृत के कवियों का ध्यान भी मुक्तक-रचना की ओर आकर्षित हुआ होगा। संस्कृत के कवियों में अमरुक ने 'अमरुक-शतक' की, भर्तृहरि ने शृङ्गार-शतक, नीति-शतक एवं वैराग्य-शतक की और गोवर्द्धन ने आर्या-सप्तशती की रचना की। इन ग्रन्थों पर 'गाथा-सप्तशती' का पूरा प्रभाव पाया जाता है। इनके अतिरिक्त कवि विल्हण की 'चोर-पंचाशिका', कालिदास की 'शृङ्गार-तिलक' आदि भी उलेखनीय हैं। संस्कृत के अन्य कवियों ने देवी-देवताओं की स्तुति में भी मुक्तक शैली में शतक, स्तोत्र एवं स्तुति-पाठ लिखे, जैसे चंडी-शतक, दुर्गा-सप्तशती, राम-स्तोत्र आदि, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से ये महत्त्व-शून्य हैं।

प्राकृत और संस्कृत की मुक्तक-परम्परा का विकास अपभ्रंश में हुआ। एक ओर सिद्ध कवियों में से सरहपाद ने 'दोहा-कोष' की रचना की, तो दूसरी ओर जैन कवियों में से योगीन्दु ने 'परमात्म-प्रकाश' व 'योगसार' की, रामसिंह ने 'पाहुड दोहा', सुप्रभाचार्य ने 'वैराग्यसार', देवसेन ने 'सावधम्म दोहा', जिनदत्त सूरि ने 'उपदेश-रसायन राज' आदि की रचना की। इन मुक्तकों में धर्म, सदाचार एवं नीति का प्रतिपादन हुआ है, अतः

इनमें शान्त रस की प्रमुखता है। किन्तु अपभ्रंश में शृङ्गारिक मुक्तकों का भी अभाव नहीं है। प्राकृत-व्याकरण, छन्दानुशासन, कुमार-प्रतिबोध, प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रबन्ध-कोष, प्राकृत-पैंगलम् आदि में अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों के असंख्य मुक्तकों को उद्धृत किया गया है। इन मुक्तकों में भावों की सरसता, व्यंजना का वैभव, शैली की स्वाभाविकता एवं भाषा की सरलता आदि अनेक गुण विद्यमान हैं।

हिन्दी में मुक्तक काव्य का विकास

पूर्ववर्ती प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के मुक्तक साहित्य को विषय की दृष्टि से इन तीनों वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बौद्ध एवं जैन कवियों के धर्म एवं वैराग्य-सम्बन्धी मुक्तक। (२) गाथा-सप्तशतीकार अमरुक, गोवर्द्धनाचार्य आदि के शृङ्गारी मुक्तक। (३) भर्तृहरि व अन्य कवियों के नीति सम्बन्धी मुक्तक। हिन्दी में भी इन तीनों धाराओं का विकास दृष्टिगोचर होता है। कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि सन्त कवियों ने धर्मोपदेश एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तकों की रचना की तो दूसरी ओर, बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि ने शृङ्गारी मुक्तकों की परम्परा को आगे बढ़ाया। भर्तृहरि के 'नीति-शतक' की भाँति गिरिधर, वृन्द, रहीम आदि ने नीति-विषयक मुक्तकों की भी रचना की। हिन्दी के मध्यकालीन शृङ्गारिक मुक्तकों को भी मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) रीतिबद्ध मुक्तक और (२) रीतिमुक्त मुक्तक। इस प्रकार आधुनिक युग से पूर्व रचित मुक्तक-साहित्य को हम इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं—(१) भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक, (२) रीतिबद्ध मुक्तक-काव्य, (३) स्वच्छन्द प्रेम-मूलक मुक्तक और (४) नीति-सम्बन्धी मुक्तक-काव्य। इनके अतिरिक्त पाँचवाँ वर्ग वीर-रस के मुक्तकों का भी हिन्दी में मिलता है।

(१) **भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक**—इस वर्ग के मुक्तकों की परम्परा का प्रवर्त्तन संत कबीर द्वारा हुआ। उनके पूर्व अपभ्रंश में योगीन्दु, रामसिंह, देवसेन, जिनदत्त सूरि आदि के द्वारा धर्म एवं वैराग्य सम्बन्धी दोहों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। कबीर ने भी दोहों से ही मिलती-जुलती शैली को अपनाया, जिसे उन्होंने दोहा न कह-कर 'साखी' के नाम से पुकारा। कबीर अशिक्षित थे, अतः वे छन्दों के नियमों की पूर्ति में समर्थ नहीं थे और न ही अपने काव्य को किन्हीं कृत्रिम नियमों में आबद्ध करना चाहते थे, अतः उनकी साखियों में भावों की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप में उपलब्ध होना स्वाभाविक है। 'कबीर-ग्रन्थावली' में उनकी साखियाँ ५९ अंगों में विभाजित है, जिनसे उनके विषय-क्षेत्र के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। इनमें मुख्यतः गुरु-भक्ति, ज्ञान, परिचय, चेतावनी, माया, कुसंगति, विरक्ति, ईश्वर-प्रेम, विरह आदि विषयों का निरूपण हुआ। कबीर के मुक्तकों में मार्मिकता की दृष्टि से विरह-सम्बन्धी उक्तियां सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

चोट सताणी विरह की, सब तन जर-जर होइ।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोइ॥
विरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आई॥

इन साखियों में अनुभूतियों की तीव्रता के कारण पर्याप्त सरलता आ गई है। इसके अतिरिक्त कबीर सूक्ष्म विषयों का निरूपण भी स्थूल रूपकों के माध्यम से करते हैं जिससे वे सहज ही अनुभूतिगम्य हो सकते हैं—

माखी गुड में गडि रहि, पंख रही लपटाय।
तालो पीटै सर धुनै, मीठै बोई माय॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केश जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥

यहाँ क्रमशः लोभ एवं संसार की नश्वरता का प्रतिपादन इस ढंग से किया गया कि पाठक के कल्पना-चक्षुओं के समक्ष एक सजीव दृश्य उपस्थित हो जाता है। लोभ की बुराइयों या संसार की नश्वरता का वर्णन यहाँ अभिधात्मक शैली में न होकर व्यंजना की सहायता से हुआ है। शैली की इसी विशेषता के कारण कबीर की उपदेशात्मक उक्तियाँ भी काव्यात्मकता से ओत-प्रोत हो गई हैं।

कबीर का अनुकरण न केवल परवर्ती संत कवियों द्वारा हुआ, अपितु रामभक्ति शाखा एवं कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने भी थोड़ी-बहुत मात्रा में मुक्तकों की रचना की। आगे चलकर दोहों के स्थान पर कवित्त और सवैयों का भी संतकवियों द्वारा प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिए सुन्दरदास के कवित्त व सवैयों की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की सुधि होय,
ना तो मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए॥

× × ×

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि, खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत रहे तन, धूप समै जो पंचागिनि बारी।
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सहे दुःख भारी।
डासन छाँडि कै कासन ऊपर, आसन मार्यो पर आस न मारी।

तुलसीदास ने अपनी 'कवितावली' मे भी कवित्त-सवैयों की रचना अत्यन्त सरल रूप में की है। वस्तुतः परवर्ती युग मे हिन्दी कवि दोहे की अपेक्षा इन छन्दों को अधिक अपनाने लगे। इसका कारण सम्भवतः एक तो इनका विस्तार है, जिससे किसी भी विषय का अधिक सुगमता से इनमें निरूपण हो सकता है। दूसरे, इनमें नाद का ऐसा माधुर्य, शब्दों का ऐसा प्रवाह और भाषा की ऐसी लचक का आविर्भाव हो जाता है, जो सहज ही श्रोता के मन को आकर्षित कर सके। अतः इन्हे लोकप्रियता प्राप्त होना स्वाभाविक है।

(२) **रीतिबद्ध मुक्तक-काव्य**—जिस प्रकार धर्म-सम्प्रदायों के आश्रय में भक्ति और वैराग्य के मुक्तकों की रचना हुई, उसी प्रकार राज्याश्रय में रीति-बद्ध मुक्तक-काव्य का विकास हुआ। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना प्रचुर मात्रा

में हुई, किंतु उनमें काव्य-शास्त्र के लक्षणों की पूर्ति का प्रयास नहीं मिलता। वस्तुतः संस्कृत में शास्त्रीय लक्षणों का समन्वय करने का प्रयास सर्वप्रथम एक मुक्तककार में नहीं—एक गीतिकार में मिलता है, जिन्होंने अपने 'गीत-गोविन्द' में नायिका-भेद एवं शृङ्गार के विभिन्न शास्त्रीय भेदोपभेदों का समन्वय उल्लेखपूर्वक किया है। हिन्दी में भी रीति का प्रयोग प्रारम्भ में भक्त कवियों द्वारा हुआ—सूरदास की 'साहित्य-लहरी' एवं नन्ददास की 'रसमंजरी' हिन्दी की रीति-परम्परा के प्रारभिक ग्रन्थ हैं। जिस समय भक्त कवि इस ओर लगे हुए थे, अकबर के दरबार में नरहरि, ब्रह्म, रहीम और गंग आदि के द्वारा कवित्त-सवैयों में शृङ्गारिकता पनप रही थी। इन दरबारी कवियों के काव्य में नायिका के रूप-सौन्दर्य, उसकी विभिन्न चेष्टाओं, उसके नख-शिख, तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं की लीला का चित्रण होता था, किन्तु उनमें काव्य-शास्त्र के लक्षणों की पूर्ति का प्रयास नहीं मिलता। यथा बीरबल 'ब्रह्म' का यह छन्द देखिए—

सेजहि तें उठि नारि चली, मन-मोहन जू हँसि चीर गह्यो,
प्रगट्यो रवि, कान्ह विहान भयो, मुख मोरि कै यों मृगनैनी कह्यो।
बेनी दुहूँ कुच बीच रही उपमा कवि ब्रह्म भने निबह्यो,
जनमेजय के मनो जज्ञ समै दुरि तच्छक मेरु की संधि रह्यो।

तो इस प्रकार अकबरी दरबार में शृंगारी मुक्तकों की बहुत सी प्रवृत्तियों का विकास हो चुका था, किन्तु केशवदास पहले रीतिकालीन कवि हैं, जिन्होंने अपनी 'रसिक-प्रिया' एवं 'कवि-प्रिया' में भक्त-कवियों द्वारा गीतिकाव्य मे पोषित 'रीति-प्रवृत्ति' को शृङ्गारिक मुक्तकों से सम्बन्धित किया। आगे चलकर तो रीति और शृङ्गारिकता का मुक्तक-काव्य में ऐसा समन्वय हो गया कि किसी गीतिकार ने रीति का नाम तक नहीं लिया।

अकबरी दरबार का प्रभाव तत्कालीन शासक वर्ग के अन्य लोगों पर भी पड़ा, जिससे अनेक नरेशों, सामन्तों और रईसों के आश्रित कवि रीतिबद्ध शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना मे प्रवृत्त हो गए। देव, मतिराम, पद्माकर, ग्वाल आदि अनेक कवियों ने रीति के निर्वाह के साथ-साथ अनुभूतिपूर्ण सरस मुक्तकों की रचना की है। इनके अतिरिक्त हमारे अनेक सतसई-कारों—बिहारी, मतिराम, विक्रम आदि—ने दोहों में शृङ्गार-रस का प्रतिपादन किया, जिस पर रीति का प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः मध्यकालीन शासक वर्ग की रुचि के प्रभाव से हिन्दी का मुक्तक-काव्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया।

(३) **स्वच्छन्द प्रेम-मूलक मुक्तक-काव्य**—मध्यकाल में ऐसे कवियों का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने वैयक्तिक प्रेमानुभूतियों की व्यंजना के लिए मुक्तक-शैली को ग्रहण किया। ऐसे कवियों में घनानन्द, बोधा, आलम, रसखान आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन्होंने रीति-बद्ध शृङ्गारी कवियों की भाँति कवित्त-सवैया पद्धति का ही प्रयोग किया, किन्तु शास्त्रीय नियमों या रीति के पचड़े में ये नहीं पड़े। भावात्मकता व अनुभूति की गम्भीरता की दृष्टि से इनका काव्य मध्यकाल के समस्त मुक्तक-काव्य में सर्वोत्कृष्ट है। भाव-पक्ष भी अत्यन्त प्रौढ़ है। व्यंग्यात्मकता एवं भाषा की प्रवहण-शीलता के

कारण इनके मुक्तकों के प्रभाव में गहरी अभिवृद्धि हो गई है। मुक्तक-काव्य में रसानुभूति की क्षमता किस मात्रा में विद्यमान है, यह देखने के लिए घनानन्द, बोधा, आलम आदि की कुछ पंक्तियों का आस्वादन ही पर्याप्त होगा—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ सांचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकै कपटी जो निसाँक नहीं॥
'घन आनन्द' प्यारे सुजान सुनो, इत एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

—घनानन्द

× × ×
एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
× × ×
जान मिलै तौ जहान मिलै, नहिं जान मिलै तो जहान कहाँ को।
× × ×
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है।
× × ×
सहते ही बनै न, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबौ करै।

—बोधा

× × ×
जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरि बैठि चुन्यो करैं।
× × ×
नैनन में रहते जे सदा तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।

—आलम

(४) **नीति-मुक्तक-संबंधी काव्य**—जैसा कि पीछे कहा गया है, मध्यकाल के कुछ कवियों ने केवल नीति-सम्बन्धी विषय को लेकर मुक्तकों की रचना की। इनमें वृन्द, गिरिधर, घाघ, वैताल आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने दोहा, कुण्डलिया, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग किया। यद्यपि विषय की बौद्धिकता के कारण इनके काव्य में भावात्मकता के विकास के लिए स्थान नहीं था, किन्तु फिर भी शैलीगत आकर्षण के कारण इनकी सूक्तियाँ भी पर्याप्त रोचक बन गई हैं; देखिए—

भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काग पिक ऋतु बसंत के माँहि॥

—वृन्द

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं में सोय।
छाँह न बाकी बैठिए, जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा देहै।
जा दिन बहै बयारि टूट तब जर तें जैहै॥
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

—गिरधर कविराय

(५) **वीर-रसात्मक मुक्तक-काव्य**—प्रायः मध्यकाल को शृंगारी-युग कहा जाता है, किन्तु इस युग में वीर-रसात्मक काव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस काव्य को दो उपभेदों में बाँट सकते हैं—(१) राजस्थानी कवियों द्वारा डिंगल भाषा में रचित और (२) अन्य कवियों द्वारा ब्रजभाषा में रचित। प्रथम वर्ग में पृथ्वीराज, बाँकीदास, दुरसा जी, सूर्य्यमल मिश्र आदि कवि आते है, जिन्होंने वीरभावों की अभिव्यक्ति अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की। उस युग के राष्ट्रनायक महाराणा प्रताप की वीरता, दर्प एवं महिमा को लेकर इन्होंने अनेक ओजपूर्ण मुक्तकों की रचना की। आश्चर्य तो यह है कि पृथ्वीराज और दुरसा जी का अकबरी दरबार से गहरा सम्बन्ध होते हुए भी उन्होंने महाराणा के गौरव-गान में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया, अपितु महाराणा के आगे अकबर की हीनता, तुच्छता एवं लघुता का प्रतिपादन खुले शब्दों में किया है; कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य है :—

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो औझके, जाण सिराणैं सांप॥
आइरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा।
नग तग नीसरियाह, राण बिना सहराजवी॥

—पृथ्वीराज

अकबर गरब न आंण, हींदू सह चाकर हुवा॥
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़े॥

—दुरसा जी

कवि राजा सूर्य्यमल मिश्र ने अपनी 'वीर सतसई' में मध्यकालीन राजपूती आदर्श की व्यंजना सफलतापूर्वक की है। राजस्थानी कवियों ने मुख्यतः दोहा व उससे मिलते-जुलते छन्दों का प्रयोग किया है।

ब्रजभाषा में वीररस के मुक्तकों की रचना करने वाले वर्ग में सर्वश्रेष्ठ कवि भूषण माने जाते हैं, जिन्होंने महाराज छत्रसाल और छत्रपति शिवाजी के यश का गान कवित्त-सवैयों में तथा फड़कती हुई भाषा व ओजस्वी शैली में किया है। उनके अतिरिक्त पद्माकर, ग्वाल आदि कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के लिए कुछ वीर-रस के छन्दों की रचना की थी, जिनमें बहुत-कुछ भूषण का अनुकरण हुआ है।

इस प्रकार हम देखते है कि मध्यकाल का मुक्तक साहित्य विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बहुत व्यापक है। भक्ति, वैराग्य, शृंगार, नीति और वीर रस के अतिरिक्त इस युग में 'बेनी के भंडौवे' और 'खटमल-बाइसी' जैसी हास्य-रस की भी मुक्तक-रचनाएँ लिखी गईं। वस्तुतः शैली की दृष्टि से रीति-काल को हम 'मुक्तक-काल' भी कह दें तो अनुचित नहीं होगा।

आधुनिक काल—आधुनिक-काल का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में मुक्तकों के भाव-क्षेत्र एवं विषय-क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक ओर पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करते हुए भक्ति-भावना और प्रेम से ओत-प्रोत मुक्तकों की रचना की तो दूसरी ओर देश-प्रेम, समाज-सुधार, हास्य और व्यंग्य आदि

विषयों पर छोटे-छोटे मुक्तक लिखे। उनके साहित्य में अनुभूति की विशदता, भावों की स्पष्टता और भाषा की स्वाभाविकता व कोमलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। उनका मुक्तक काव्य भी इन गुणों से वंचित नहीं है। उनके युग के अन्य कवियों ने भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अनुकरण किया।

द्विवेदी-युग प्रबन्धात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के कवि एवं लेखक राष्ट्रीय-जागरण के उद्देश्य से विगत युग के महापुरुषों के जीवन का चित्रण करना चाहते थे, जो प्रबन्ध-शैली में ही सम्भव है। फिर भी नाथूराम 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी आदि ने मुक्तक रचना की, जिनमें उपदेशात्मकता की प्रधानता है। इस युग के कवियों की शैली में इतना अधिक विस्तार मिलता है कि वह मुक्तक रचना के उपयुक्त नहीं लगती, अतः इनके मुक्तकों में अपेक्षित भावात्मकता नहीं आ सकी। आगे चलकर छायावादी और प्रगतिवादी युग के कवियों ने भी मुक्तकों की अपेक्षा गीति-शैली का अधिक प्रयोग किया, किन्तु फिर भी उन्होंने यत्र-तत्र अच्छे मुक्तकों की रचना की है। इस युग में ऐसी छोटी-छोटी कविताओं की भी रचना हुई, जिसमें छन्दों की संख्या पाँच-सात है तथा जो गेय न होकर पाठ्य है—इन्हें 'प्रलम्ब मुक्तक' कहा गया है। मुक्तक शैली में रचित 'आँसू' और 'मधुशाला' जैसी अत्यन्त लम्बी रचनाएँ भी लिखी गई हैं।

इधर 'प्रयोगवादियों' ने 'नई कविता' में एक ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो मुक्तक और गीति के बीच की कही जा सकती है। आकार-प्रकार की दृष्टि से इनकी रचनाएँ मुक्तक ही हैं; किन्तु उनका सस्वर पाठ होने के कारण वे गीति का रूप धारण कर लेती हैं। इनकी रचनाओं में भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता, अनुभूति की अपेक्षा विचारों की अधिकता है; अतः इन्हें सूक्तियाँ—अपितु उक्तियों की संज्ञा दी जा सकती है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में हिन्दी मुक्तक-काव्य की धारा विभिन्न विषयों के धरातल पर प्रवाहित होती हुई निरन्तर आगे बढ़ती रही और सदा बढ़ती रहेगी।

:: चौंतीस ::

हिन्दी गद्य का उद्भव और विकास

१. भूमिका—गद्य-साहित्य का अभाव क्यों ?
२. आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य—
  (१) राजस्थानी गद्य : जैन रचनाएँ—राज्याश्रित साहित्य
  (२) मैथिली गद्य
  (३) ब्रजभाषा गद्य—मौलिक रचनाएँ, टीकाएँ, अनूदित ग्रंथ
  (४) खड़ीबोली का प्रारम्भिक गद्य
३. आधुनिक काल में खड़ीबोली गद्य का विकास
४. उपसंहार ।

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी में गद्य-साहित्य इतनी न्यून मात्रा तथा अविकसित दशा में मिलता है कि वह प्रायः नगण्य-सा समझा जाता है । पूर्ववर्ती युगों में हिन्दी गद्य के अविकसित रहने का क्या कारण है, इस प्रश्न पर विचार तो अनेक विद्वानों ने किया है, किन्तु कोई सन्तोषजनक समाधान अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया । कुछ विद्वान् मानते हैं कि प्रत्येक भाषा के साहित्य का आरम्भ ही पद्य से होता है, अतः हिन्दी में भी ऐसा होना स्वाभाविक है । कुछ विचारकों के मतानुसार संस्कृत में पद्य का ही महत्त्व था तथा परवर्ती भारतीय भाषाओं ने भी संस्कृत के इसी आदर्श का पालन किया, अतः हिन्दी में भी गद्य का विकास नहीं हो सका । हमारे विचार में ये दोनों ही धारणाएँ भ्रामक हैं । यह कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है कि प्रत्येक साहित्य का आरम्भ पद्य से ही हो । यदि थोड़ी देर के लिए इसे स्वीकार भी कर लिया जाय, तो इसके अनुसार हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल में भी गद्य का अभाव रहना चाहिए था, मध्यकाल पर यह लागू नहीं होता । इसी प्रकार यह मानना भी ठीक नहीं है कि संस्कृत में गद्य को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था । हमें यह न भूलना चाहिए कि संस्कृत में 'काव्य' संज्ञा का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों के लिए होता था तथा गद्य को न केवल काव्य का उत्कृष्ट रूप माना जाता था, अपितु इसी को कवियों की कसौटी भी समझा जाता था । दूसरे, संस्कृत में अनेक रूपों—नाटक, कथा, आख्यायिका आदि—की अत्यन्त समृद्ध एवं सुविकसित परम्परा थी । अतः हिन्दी के प्रारम्भिक युगों में गद्य का विकास न होने के पीछे 'संस्कृत के आदर्शों का पालन' करना नहीं, अपितु उन्हें त्याग देना ही कारण है । वस्तुतः हिन्दी से पूर्व अपभ्रंश में ही संस्कृत की गद्य-परम्परा बहिष्कृत एवं लुप्त हो चुकी थी । जिन काव्य-रूपों—कथा, आख्यायिका, चरित आदि—में संस्कृत के साहित्यकारों ने गद्य का प्रयोग किया था, उन्हीं में अपभ्रंश के कवियों द्वारा पद्य प्रयुक्त हुआ है ।

यहाँ प्रश्न है कि संस्कृत की गद्य-परम्परा परवर्ती भाषाओं में विकसित क्यों न हो पायी ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि जब किसी युग-विशेष में जीवन का दृष्टि-कोण बौद्धिकतापरक, यथार्थवादी, वस्तुवादी एवं व्यावहारिक अधिक होता है, तो उसमें गद्य को अधिक प्रोत्साहन मिलता है, जबकि इसके विपरीत जीवन में भावुकता, तर्क-शून्यता, आध्यात्मिकता एवं काल्पनिकता की प्रतिष्ठा होने पर उसमें अभिव्यक्ति पद्य का माध्यम अपनाती है। ईसा की सातवीं-आठवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक के समय को भारतीय इतिहास की दृष्टि से मध्यकालीन युग कहा जाता है, जिसमें धीरे-धीरे बौद्धिकता, तार्किकता, यथार्थवादिता आदि के स्थान पर क्रमशः भावुकता, अन्ध-विश्वास, काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो गई। अतः ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का भी पद्य की ओर उन्मुख हो जाना स्वाभाविक ही था। आगे चलकर जब पुनः मुद्रण-यंत्र के प्रचलन, शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना, धार्मिक, सामाजिक एवं बौद्धिक आन्दोलनों के उत्थान तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार के कारण जीवन में ज्यों-ज्यों बौद्धिकता, ज्ञान, तर्क एवं चिन्तन की प्रतिष्ठा हुई, त्यों-त्यों गद्य-साहित्य का भी विकास होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् तो हिन्दी में गद्य-साहित्य की इतनी उन्नति हुई कि कुछ इतिहासकार हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल को 'गद्य-काल' तक की संज्ञा देते हैं। अस्तु, हमारे विचार से आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य के अभाव का सबसे बड़ा कारण विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण हमारे जीवन में बौद्धिकता के स्थान पर रागात्मकता, दार्शनिकता के स्थान पर भक्ति-भावना एवं यथार्थवादिता के स्थान पर काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो जाना ही है; अन्य कारण गौण हैं।

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की स्थिति

जैसा कि पीछे कहा गया है, आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य प्रायः अविकसित रहा, किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि उसका सर्वथा अभाव रहा है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। पूर्ववर्ती युग के हिन्दी गद्य को भाषा की दृष्टि से मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) राजस्थानी गद्य (२) मैथिली गद्य (३) ब्रज-भाषा का गद्य और (४) खड़ीबोली का गद्य। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

१. **राजस्थानी गद्य**—राजस्थानी की प्राचीनतम उपलब्ध गद्य-रचनाएँ तेरहवीं शताब्दी की हैं, जिनमें **'आराधना'** (१२७३ ई०), **'अतिचार'** (१२८३ ई०), **'बालशिक्षा'** (संग्रामसिंह रचित, रचना-काल १२७६ ई०) उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ मुनि जिनविजय द्वारा संपादित 'प्राचीन गुजराती गद्य-संदर्भ' में संगृहीत हैं। इन रचनाओं की भाषा उस समय की है, जबकि राजस्थानी और गुजराती अभिन्न थीं तथा वे अलग-अलग भाषाओं के रूप में विकसित नहीं हुई थीं, इसी लिए गुजराती और राजस्थानी के विद्वान् इन्हें अपनी-अपनी भाषाओं के साहित्य में स्थान देते हैं। डा० मोतीलाल मेनारिया, डा० हीरालाल माहेश्वरी ने इन्हें राजस्थानी साहित्य में ही स्थान दिया है। इनकी भाषा की प्राचीनता के कारण इन्हें अपभ्रंश की रचनाएँ मान लेने की भी भ्रान्ति हुई है। इधर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में

लिखित शोध-प्रबन्ध में हरिमोहन श्रीवास्तव ने भी इन्हें हिन्दी-गद्य साहित्य में ही स्थान दिया है। अस्तु, इन रचनाओं को हिन्दी-गद्य की प्रारम्भिक अवस्था की सूचक कृतियों के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। इनका अधिक विवरण अनुपलब्ध है, यहाँ इनकी शैली के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(क) 'सम्यक्त्व प्रतिपत्ति करहु, अरिहंतु देवता सुसाधु ग रु जिन प्रणीत धम्म सम्यक्त्व दंडकु ऊचरहु, सागार प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊहु सरणि पइसरहु।

—('आराधना' से)

(ख) 'पुंढ विकाई जीव आउकाई जीव ते उकाइ जीव वाउकाइ जीव वणस्वइकाइ जीव बेइप्रिय त्रेप्रिय प्रिय जलचर थलचर खेचर जिवं जंतुताह मिच्छामि हुवइउं।'

—(वही)

चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में रचित अनेक राजस्थानी-गद्य-रचनाएँ श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं, जिनमें से कुछ पर उन्होंने समय-समय पर 'राजस्थान-भारती' (वर्ष ३, अंक २-४) में प्रकाशित लेखों के द्वारा प्रकाश डाला है। इनमें से **'तत्त्व-विचार'** एवं **'धनपाल कथा'** उल्लेखनीय हैं, जिनका रचना-काल चौदहवीं शती माना गया है। 'तत्त्व-विचार' मे जैन-धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। इसकी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—'एउ संसारु असारु। खणभंगरु, अणाइ चउ गईउ। अणोरु अपारु संसारु।.... ईम परि परि भमता जीव जाति कुलादि गुण सम्पूर्ण दुर्लभु माणुखउ जनमु। सर्व्वही भव मद्धि महा प्रधानु। मन चिंतितार्थ संपादकु। कथमपि देव तणइ योगि पावियइ।' इसकी भाषा पर्याप्त विकसित परिलक्षित होती है।

'धनपाल कथा' में 'तिलक-मंजरी' के रचयिता प्रसिद्ध जैन कवि धनपाल के जीवन की एक कथा प्रस्तुत की गई है। इसकी भाषा-शैली का नमूना द्रष्टव्य है—'उज्जयनी नाम नगरी। तहिंठे भोजदेव राजा। तीयहिं तणइ पंचह सयह पंडितह मांहि मुख्यु धनपाल नामि पंडितु। तीयहिं तणइ थरि अन्यदा कदाचित साधु विहरण निमित्तु पइठा। पंडितह णी भार्या त्रीजा दिवसह णी दधि लेउ उठी।........व्रतिया भणियउं। केता दिवसह णी दधि। तिणि ब्राह्मणी भणियउं, त्रीजा दिवसह णी दधि। महामुनिहिं भणियउं त्रीजा दिवसह णी दधि न उपगरी। व्रतिया ठाला नीसरता पंडिति धनपालि गवाक्षि उपविष्टि हूँतइ दीठा। विणवियउ, किसइ कारणि ठावा नीसरिया....भगवंतहु! किसइ कारणि दधि न विहरू? महामुनिहिं भणियउ।'

इसी प्रकार पन्द्रहवीं शती की एक अन्य रचना **'पृथ्वी चन्द्र चरित्र'** का भी विवरण श्री अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थान भारती' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस रचना का दूसरा नाम 'वाग्विलास' भी है। इसकी रचना माणिक्य चन्द्रसूरि ने १४२१ ई० में की थी। इसकी शैली अलंकारपूर्ण है। देखिए—'जिणिइ वर्षा कालि मधुर ध्वनि मेह गाजइ, दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ, जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जय ढक्का बाजइ। चिहुँ दिशि बीज झलहलइ, पंथी घर भणी पुलइ। विपरीत आकाश चंद्र सूर्य परियास। राति अंधरी, लवइं तिमिर। उत्तर नऊ उनयण, छायउ गयण।....पाणी तणा प्रवाह

खलहलइ, वाड़ी ऊपर वेला वलइ। चीखलि चालतां सकट स्खलइं, लोक-तणा मन धर्म ऊपरि वलइं।

राजस्थानी गद्य-साहित्य की एक सुदृढ़ परम्परा ऐतिहासिक एवं काल्पनिक गद्य कथाओं के रूप में मिलती है। इन कथाओं के तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) वचनिका (२) ख्यात (३) बात। **वचनिका** में प्रायः ऐतिहासिक घटनाएँ ली जाती हैं तथा इसकी शैली की एक विशेषता यह है कि इसमें गद्य का प्रयोग तुकान्त रूप में होता है। **ख्यात** में भी किसी शौर्यपूर्ण घटना का वर्णन होता है, किन्तु इसमें तुकान्त का नियम नहीं होता। **बात** में प्रायः काल्पनिक रोचक वृत्तांत प्रस्तुत किए जाते हैं। तीनों प्रकार की रचनाएँ राजस्थानी में बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, जिनमें शिवदास द्वारा रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' (१४२५ ई०), खिरिया जगा-रचित 'वचनिका राठौर रतनसिंह जी री' (१६५८ ई०), नयनसिंह-रचित 'मुहणौत नैण सी री ख्यात' (१६६५ ई०) आदि विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इनमें अपने आश्रयदाता नरेशों के पराक्रम का वर्णन आलंकारिक शैली में हुआ है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी में बात साहित्य (वार्ता या कहानी) का भी एक विशाल भंडार है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

राजस्थानी गद्य की विशेषताएँ—राजस्थान का अधिकाश गद्य-साहित्य या तो जैन-मंदिरों के आश्रय में रचित है या राजपूत नरेशों के आश्रय मे। अतः दोनों प्रकार के आश्रय में इसे पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ है। धर्माश्रय में रचित गद्य-साहित्य सर्वत्र ही धर्म से प्रेरित नहीं है, अनेक जैन मुनियों ने शिक्षा देने के साथ-साथ कलात्मक सृष्टि के लक्ष्य से भी गद्य-रचनाएँ प्रस्तुत की है, अतः उनमे पर्याप्त साहित्यिकता मिलती है।

राजस्थानी गद्य-रचनाओं की भाषा-शैली के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि उसमें विभिन्न रचनाओं में काल-भेद एवं स्थान-भेद के अनुसार विभिन्न प्रकार की भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं, अतः राजस्थानी गद्य के तेरहवीं शती से लेकर अब तक के विकास-क्रम का अध्ययन अविच्छिन्न रूप से किया जा सकता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से भी राजस्थानी गद्य-साहित्य का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। उसमें धर्म, राजनीति, लोक-वार्ता आदि अनेक विषयों का समावेश हुआ है। वस्तुतः यह खेद की बात है कि राजस्थानी गद्य की यह विपुल सामग्री अभी तक उपेक्षित पड़ी है।

२. **मैथिली गद्य**—राजस्थानी की भाँति मैथिली भाषा में भी गद्य-साहित्य की दीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। इसका प्राचीनतम उपलब्ध गद्य-ग्रन्थ ज्योतिरीश्वर कृत **'वर्ण रत्नाकर'** है, जिसका रचना-काल १३२४ ईस्वी माना जाता है। यह सात अध्यायों में विभक्त है, जिन्हे क्रमशः 'नगर-वर्णन', 'नायक-वर्णन', 'आस्थान वर्णन,' 'ऋतु वर्णन', 'प्रयानक वर्णन', 'भट्टादि वर्णन' और 'कला वर्णन' नाम दिया गया है। यह वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र, कला-शास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान का कोष है, जिसमें विभिन्न विषयों का वर्णन काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है। इसकी शैली का एक

नमूना प्रस्तुत है—'निशाक नाइकाक शंखवलय अइसन आकाश दीक्षिन कमंडल अइसन, तारकाक, सार्थवाह अइसन, शृङ्गार समुद्रक कल्लोल अइसन, कुमुद वनक प्राण अइसन, पश्चिमाचलक तिलक अइसन, अन्धकारक मुक्ति क्षेत्र अइसन, कन्दर्प नरेन्द्रक यश अइसन।'

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इसमें लेखक ने जहाँ व्याकरण का ढाँचा तत्कालीन लोक-भाषा से लिया है, वहाँ उसने विभिन्न संज्ञाओं एवं विशेषणों के रूप में संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया है। संस्कृत के तत्सम पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति अपभ्रंश से परे हटने के लक्ष्य की सूचक है। आगे चलकर आधुनिक भाषाओं में भी अपभ्रंश के तद्भव रूपों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम पद ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं, अतः इस दृष्टि से भी 'वर्ण-रत्नाकर' आधुनिक भाषाओं के नवोत्थान की प्रवृत्ति का सूचक है।

आगे चलकर प्रसिद्ध गीतिकार विद्यापति ठाकुर (१३६०-१४४८ ई०) ने अपनी दो गद्य रचनाओं—'**कीर्तिलता**' एवं '**कीर्ति पताका**'—द्वारा ज्योतिरीश्वर की गद्य-परम्परा को आगे बढ़ाया। 'कीर्तिलता' गद्य-पद्य मिश्रित ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह के युद्ध की एक घटना का विवरण आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। पूरी रचना चार पल्लवों में विभक्त है तथा कथा का आरम्भ गणेश, शिव, सरस्वती की वंदना, दुर्जन-सज्जन चर्चा, आत्म-दैन्य के प्रदर्शन आदि के अनन्तर भृंगी-भृंग के संवाद से होता है। गद्य और पद्य का प्रयोग साथ-साथ हुआ है तथा पद्य-भाग में दोहा, छपद, रड्डा, गीतिका आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं।

विद्यापति की दूसरी रचना 'कीर्ति पताका' खंडित एवं अशुद्ध रूप में उपलब्ध है। इसमें महाराजा शिवसिंह की वीरता का आख्यान करते हुए युद्ध की घटना वर्णित की गई है। इसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है—'राअन्हि करे परसे नासंचरे राउतन्हि करे अस्त्र व्यापारे हुल्तारहि राउला कुलित हरिण यूथ न्याय परकट पपट थानस्ति रनरहि अपाच्छोस न्चोपाति माहे पतिगाहि...।' वस्तुतः इसकी शैली 'कीर्तिलता' से बहुत भिन्न तथा दोषपूर्ण प्रतीत होती है, अतः इसके वर्तमान रूप की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

विद्यापति के अनन्तर मैथिली गद्य की कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं होती। मिथिला, नेपाल एवं आसाम में रचित नाटकों में अवश्य मैथिली गद्य का प्रयोग मिलता है। विशेषतः आसाम के शंकर देव (१४४९-१५५८), माधव देव (१४८९-१५९६), गोपाल देव, रामचरण ठाकुर प्रभृति ने अपने नाटकों में संवादों के रूप में प्रायः गद्य का ही प्रयोग किया है। यहाँ एक उद्धरण प्रस्तुत है—'हा! हा! हमारा स्वामी परम सुकुमार नवीन वयस। वज्राधिक कठिन महेशक धनु, इहात गुण दिते स्वामी जानो नहि पारय। हा! हा! पिता की दारुण कर्म्म कयलि।''

इन नाटकों में प्रयुक्त गद्य में भी पूर्वोक्त रचनाओं की ही भाँति संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। मैथिली प्रदेश दीर्घकाल तक संस्कृत के अध्ययन का केन्द्र रहा है, संभवतः इसी से मैथिली गद्य में तत्सम शब्दों के प्रयोग की

बहुलता है। इसके अतिरिक्त अलंकृति एवं विद्वत्ता-प्रदर्शन के निमित्त भी संस्कृत-शब्दावली का प्रयोग संभव है। पर इससे गद्य की अभिव्यंजना-शक्ति एवं कलात्मकता में अभिवृद्धि हुई है, अतः मैथिली गद्यकारों की यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है।

३. **ब्रज-भाषा-गद्य**—ब्रज-भाषा के गद्य-साहित्य को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(क) मौलिक ग्रन्थ (ख) टीकाओं के रूप में लिखित रचनाएँ और (ग) अनूदित ग्रन्थ। इन तीनों वर्गों का परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

(क) **मौलिक ग्रन्थ**—इस वर्ग में सबसे पुरानी रचना गोरखनाथ कृत '**गोरखसार**' समझी जाती रही है तथा इसे कुछ विद्वान् सं० १४०० के आस-पास की रचित मानते रहे हैं, किन्तु अब यह रचना अप्रामाणिक सिद्ध हो गई है। एक तो गोरखनाथ का जीवन-काल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा दसवीं शताब्दी या उससे पूर्व सिद्ध किया गया है, जबकि इस ग्रन्थ की भाषा बहुत परवर्ती है तथा दूसरे इसमें गोरखनाथ के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की गई है, अतः इसे गोरखनाथ द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। इसका नामकरण भी यह सूचित करता है कि इसमें किसी अन्य व्यक्ति ने गोरखनाथ के विचारों का 'सार' प्रस्तुत किया है। अस्तु, इसके रचयिता एवं रचनाकाल के सम्बन्ध में अभी तक निश्चित जानकारी का अभाव है। इसकी शैली का नमूना यहाँ प्रस्तुत है—"स्वामी तुम तो सत गुरु अम्हे तो सिप सबद एक पुछिवा दया करि मनन करिवा रोस। पराधीन उपरांति बन्धन नांहीं सुआधीन उपरांति मुकति नाहीं। चाहि उपरान्ति पाप नांहीं, अचाहि उपरान्ति पुनि नांहीं, सुसबद उपरान्ति पास नाहीं नारायण उपरान्ति ईसर नांहीं।" वस्तुतः विषय-वस्तु और भाषा-शैली दोनों की ही दृष्टि से यह रचना सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी या उसके बाद की प्रतीत होती है।

ब्रज-भाषा-गद्य के विकास में सर्वाधिक योग देने का श्रेय पुष्टि सम्प्रदाय के भक्त-लेखकों को है, जिन्होंने अपने सम्प्रदाय के विभिन्न व्यक्तियों एवं विषयों को लेकर विपुल गद्य-साहित्य की सृष्टि की। पुष्टि-संप्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं भक्तों द्वारा प्रस्तुत गद्य-साहित्य की एक सूची-मात्र यहाँ प्रस्तुत की जाती है :

(१) गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५१५-१५८५ ई०) द्वारा रचित ग्रन्थ—'शृङ्गार रस-मंडल', 'यमुनाष्टक', 'नवरत्न सटीक' आदि।

(२) चतुर्भुजदास द्वारा रचित 'षट्ऋतु की वार्ता'।

(३) गोकुलनाथ (१५५१-१६४० ई०) द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता", 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'श्री गोसाईजी और दामोदरदासजी का संवाद' 'श्री गुसाईजी की वनयात्रा', 'नित्य सेवा प्रकार', 'चौरासी बैठक चरित्र', 'अट्ठाइस बैठक चरित्र', 'घरूँ वार्ता', 'उत्सव भावना', 'रहस्य भावना', 'चरण-चिन्ह भावना', 'भाव-सिन्धु', 'भावना-वचनामृत' आदि।

(४) गोस्वामी हरिराय जी (१५९०-१६९६ ई०) द्वारा रचित ग्रंथ—'श्री आचार्य महाप्रभुन की द्वादस निज वार्ता', 'श्री आचार्य महाप्रभुन के सेवक चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'गोसाईं जी के स्वरूप के चिन्तन का भाव', 'कृष्णावतार स्वरूप-

निर्णय', 'सातों स्वरूपों की भावना', 'भाव वरसोत्सव', 'द्वादस निकुंज की भावना', 'सात-स्वरूप की भावना', 'छप्पन भोग की भावना' आदि।

(५) गोविन्दास ब्राह्मण कृत 'वार्ता'।

(६) ब्रजभूषण (१७वीं शती) कृत ग्रंथ—'नित्य-विनोद', 'नीति विनोद', 'श्री महाप्रभुजी तथा गुसाईं जी का चरित्र', 'श्री द्वारिकानाथधीश जी की प्राकट्य वार्ता' आदि।

(७) श्री द्वारिकेश जी भावना वाले (१९वीं शती)—'श्री नाथ जी आदि सात स्वरूपन की भावना', 'धनुमणि भावना', 'उत्सुक भावना', 'भाव भावना', 'भाव संग्रह' आदि।

इस प्रकार हम देखते है कि वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायियों ने शताधिक गद्य रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनका विस्तृत विवरण देना यहाँ संभव नहीं। फिर भी सामान्य रूप में इनके सम्बन्ध में कुछ बातें यहाँ कही जा सकती है। एक तो प्रारम्भिक रचनाओं में से अनेक के मूल लेखक कोई और है तथा वे प्रचारित किसी अन्य के नाम पर है। यथा, '**चौरासी वैष्णवन की वार्ता**' तथा '**दो सौ वैष्णवन की वार्ता**' को लिया जा सकता है। ये दोनों गोकुलनाथ जी के द्वारा रचित बताई जाती है, किन्तु दोनों की भाषा-शैली मे इतना अन्तर है कि उन्हे एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नही माना जा सकता। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अकाट्य तर्कों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' गोकुलनाथ द्वारा रचित नहीं हो सकती। उनके विचार से यह किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा सत्रहवीं शती या उसके बाद की रचित है। ऐसी स्थिति में इनके रचयिता एवं रचना-काल दोनों संदिग्ध हो जाते है। किन्तु यह बात गोस्वामी विट्ठलनाथ एवं गोकुलनाथ की ही कुछ रचनाओं पर लागू होती है, परवर्ती रचनाओं पर नहीं। दूसरे, इन रचनाओं में अपने संप्रदाय के आचार्यों एवं भक्तों का गुणगान करना, उसके सिद्धान्तों एवं विधि-विधानों पर प्रकाश डालना तथा भक्ति-भावना को पुष्ट करना ही रचयिताओं का लक्ष्य है, अतः इनमें साहित्यिकता या कलात्मकता के दर्शन नहीं होते। तीसरे, इनमें कथावाचकों की-सी शैली, 'जो' 'सो' की आवृत्ति आदि के कारण भाषा का शैथिल्य आ गया है। फिर भी इनमें क्रमशः गद्यशैली का विकास अवश्य दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से विभिन्न शताब्दियों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

(अ) 'जो गोपी जन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत मे डूबि के इनके मंद हास्य ने जीतै है। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृङ्गार रस श्रेष्ठ रचना कीनी सो पूर्ण होत भई।'

—विट्ठलनाथ (१६वीं शती) : 'शृङ्गार रस मंडन'

(आ) 'बहुर श्री आचार्यजी-महाप्रभुन ने श्री ठाकुरजी के पास भट्ट माग्यो जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छूटे और श्री आचार्य जी महाप्रभु दामोदर दास सो कछू गोपा न रखते और श्री आचार्य जी महाप्रभु श्री भागवत अहर्निस देखत कथा कहते....।'

—गोकुलनाथ (१७वीं शती) : 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'

(इ) 'तुलसीदास श्री गोकुल में आए तब श्री गुसाईं जी तो कहै सीताजी सहित श्री रामचन्द्र जी के दर्शन होय यह कृपा करो। तब ही रघुनाथ जी को ब्याह भयो हतो। सो जानकी जी बहूजी पास ठाढ़े हते। तब आप आज्ञा दिये जो तुलसीदास को दर्शन दऊ।'

—श्री द्वारिकेश भावना वाले (१६वीं शती)

वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के कुछ भक्तों ने भी कतिपय गद्य या गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें **नाभादास** (१७वीं शती) का 'अष्टयाम', **ललित किशोरी और ललित मोहिनी** की 'श्री स्वामीजी महाराज की वचनिका', **यशवन्त-सिंह** की 'सिद्धान्त-बोध' आदि उल्लेखनीय हैं। 'अष्टयाम' में रामचन्द्रजी की दिनचर्या वर्णित है। इसकी भाषा पर्याप्त प्रवाहपूर्ण है, जैसे—'तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुई प्रनाम करते भए। फिर ऊपर वृद्धि समाज तिनको प्रनाम करत भए।' ललित किशोरी और ललित मोहिनी (१८वीं शती) निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके ग्रन्थ की शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है।—'वस्तु को दृष्टान्त मलयागिरि को समस्त वने वाको पवन सो चन्दन ह्वै जाय। वाके कछू इच्छा नाही। बास और अरंड सुगन्ध न होये।' महाराजा यशवन्तसिंह ने अपने 'सिद्धान्त-बोध' मे ब्रह्म-ज्ञान पर विचार किया है।

वस्तुतः विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत इस गद्य-साहित्य का महत्त्व या तो तत्कालीन मनःस्थितियों एवं परिस्थितियों के अध्ययन की दृष्टि से है या भाषा के नमूनों की दृष्टि से, विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्त्व नगण्य है।

कुछ लेखकों ने काव्य-शास्त्र, छन्द-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रीय विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से भी ब्रजभाषा में गद्यात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें ये उल्लेखनीय हैं—**बनारसीदास** (१७वीं शती) की 'बनारसी विलास', **सुखदेवसिंह मिश्र** (१८वीं शती) का 'पिंगल' ग्रंथ; **बेनी** कवि (१७३५ ई०) का 'टिकैतराय प्रकाश', **प्रियादास** कृत 'सेवक-चरित्र' (१७७६ ई०), **लल्लूलाल** कृत 'राजनीति' (१७०९ ई०) और 'माधो विलास' (१८१७), **बख्शी सुमनसिंह** का 'पिंगल-काव्य-भूषण' (१८२२ ई०) आदि। बनारसी दास जैन कवि के रूप में भी ख्यात हैं। इन्होंने 'बनारसी-विलास' में अलंकारों का विवेचन किया है। इनका एक गद्य-ग्रंथ और उपलब्ध है—'वचनिका की अनुगति'। इसकी शैली विवेचनात्मक एवं गम्भीर है; जैसे—'अनन्त जीव द्रव्य सपिहुँ कम जाननै। एक जीव द्रव्य अनन्त पुद्गल द्रव्य करि संयोजित माननै। ताको व्यौरो अन्य-अन्य रूप-जीव-द्रव्य ताकि परनति अन्य-अन्य रूप पुद्गल की परनति।' वस्तुतः इनका विषय जितना गूढ़ है, शैली उतनी स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों की भी शैली अस्पष्ट और शिथिल है।

ब्रज भाषा-गद्य के अन्य मौलिक ग्रन्थों में व्यास का 'शकुन-विचार', वैष्णवदास का 'भक्त-माल प्रसंग', मीनराज प्रधान का 'हरतालिका कथा', कवि महेश का 'हम्मीर रासो' आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी अठारहवीं शती में रचित हैं तथा इनमें से अनेक

गद्य-पद्य मिश्रित हैं। शैली की दृष्टि से भी ये अविकसित एवं शिथिल हैं। जैसे, 'शकुन-विचार' की शैली द्रष्टव्य है—'सुन भो पृच्छक तोहि शत्रुन को आधीन एक बार होइगो पै जो मन चाहि है सो तेरो कार्ज होइगो।'

अस्तु, इन ग्रन्थों का न तो विषय-विवेचन की दृष्टि से महत्त्व है और न ही साहित्यिकता एवं शैली की दृष्टि से ही। इनकी अपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय का वार्ता-साहित्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(ख) **टीका-साहित्य**—विभिन्न साहित्यिक, धार्मिक तथा अन्य प्रकार के ग्रन्थों की टीकाओं के रूप में लिखित गद्य-रचनाएँ ब्रज भाषा में बड़ी भारी संख्या में मिलती हैं। इनमें से प्रमुख रचनाओं की यहाँ नामावली मात्र प्रस्तुत की जाती है—(१) 'शिक्षा ग्रंथ' की टीका; टीकाकार—श्री गोपेश्वर (१७वीं शताब्दी ई०)। (२) 'हित चौरासी की टीका', प्रेमदास कृत। (३) 'भुवन दीपिका' सटीक; लेखक अज्ञात; १६१४ ई०। (४) 'रस-रहस्य' सटीक; कुलपति मिश्र (१७वीं शती)। (५) 'भागवत की टीका'; कृष्णदेव माथुर; १७वीं शती। (६) 'बिहारी सतसई' की टीका; राधाकृष्ण चौबे; १७वीं शती। (७) 'भाषामृत'; भगवानदास (१७वीं-१८वीं शती)। (८) 'कवि-प्रिया-तिलक' और 'बिहारी सतसई' की टीका 'अमर-चन्द्रिका'; सूरति मिश्र (१८वीं शती)। (९) 'अलंकार रत्नाकर'; दलपतिराय तथा वंशीधर। (१०) 'हित चौरासी' तथा 'भक्तमाल' की टीकाएँ; प्रियादास। (११) 'बिहारी सतसई की टीका': रघुनाथ।

टीकाकारों का लक्ष्य मूल विषय की व्याख्या करना मात्र था, किन्तु इसमें उन्हें प्रायः सफलता नहीं मिली है। अधिकाश टीकाकारों की शैली अस्पष्ट, प्रवाहशून्य एवं शिथिल है।

(ग) **अनूदित-ग्रन्थ**—ब्रज-भाषा-गद्य में संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से अनूदित ग्रन्थ भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ अनुवादक एवं अनुवाद-काल के सहित किया जाता है—(१) 'नासकेतु पुराण'; नन्ददास, १७०० ई०, (२) 'मार्कण्डेय पुराण'; दामोदर दास, १६५८ ई०, (३) 'भाषामृत' (श्रीमद्-भगवद् गीता का अनुवाद); भगवानदास, १७०० ई०, (४) श्रीमद्भगवद् गीता का अनुवाद; आनन्द राय, १७०५ ई०, (५) 'वैताल-पचीसी'; सूरति मिश्र, १७११ ई०, (६) बीस उपनिषद् भाष्यों के अनुवाद; अनुवादक अज्ञात; १७२० ई०, (७) 'हितोपदेश'; देवीचन्द; १७४० ई० ई०, (८) 'दर्शनी निर्णय' (वेदान्त सम्बन्धी दर्शन); मनोहरदास निरंजनी; १७५६ ई०, (९) 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति'; अनुवादक अज्ञात, १९वीं शती। इनमें अतिरिक्त वैद्यक शास्त्र के तथा अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के भी कुछ अनुवाद मिलते हैं, जैसे—'माधव-निदान' (चन्दसेन मिश्र; १९१२ ई०), 'ग्रन्थ-संजीवन' (आलम, १७वीं शती), वैद्यक ग्रन्थ की भाषा'। (अंतराम, १७५७ ई०) आदि।

इन अनुवाद-ग्रन्थों की भाषा-शैली पूर्वोक्त टीकाओं की अपेक्षा अधिक सशक्त एवं प्रवाहपूर्ण हैं; यथा—'अहो विप्रनदि राजा जन्मेजय नासकेतु पुराण ही कृतारथ है। जैसे कोई प्राणी एकाग्र चित्त दे करि सुरमें पढ़े जो पारगामी होय, जैसे राजा जनमेजय पार होत भयो और सहस्र गऊ दिये के फल होय।' '(नासकेतु पुराण' नंददास कृत)

अस्तु, ब्रज-भाषा में गद्य-साहित्य की मात्रा की दृष्टि से पर्याप्त है तथा उसका विषय-क्षेत्र भी विविध है, किन्तु साहित्यिकता एवं कलात्मकता की दृष्टि से वह उच्च कोटि का नहीं है। उसकी रचना धार्मिक, दार्शनिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थों के विचारों को समझने-समझाने की दृष्टि से ही हुई है; लालित्य की प्रेरणा उसके मूल में प्रायः दृष्टि-गोचर नहीं होती।

(४) **खड़ीबोली का प्रारम्भिक गद्य—दक्खिनी का गद्य**—जैसा कि अन्यत्र खड़ी-बोली-पद्य पर विचार करते समय स्पष्ट किया गया है, खड़ी बोली के साहित्य का उद्भव एवं विकास प्रारम्भ में दक्षिण के अनेक मुस्लिम राज्यों के आश्रय में हुआ। खड़ी-बोली गद्य का भी प्रारम्भिक रूप दक्षिणी-साहित्य में मिलता है। दक्षिण के साहित्यकारों ने अपनी भाषा को 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'दक्खिनी' 'देहलवी', 'जबान हिन्दुस्तान' आदि कई नामों से पुकारा है, किन्तु वस्तुतः वह खड़ीबोली का ही प्रारम्भिक रूप है। दक्षिण के गद्य लेखकों में ख्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज, शाह मीराँजी शम्सुल उश्शाक, शाह बुरहानुद्दीन जानम, अमीनुद्दीन आला, मुल्ला वजही आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। **ख्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज** (१३४६-१४२३ ई०) का जन्म दिल्ली में हुआ था किन्तु इनका जीवन दक्षिण में दौलताबाद एवं गुलबर्गा में व्यतीत हुआ। इन्होंने लगभग पन्द्रह ग्रन्थ फारसी-अरबी में तथा तीन ग्रन्थ दक्षिणी या खड़ीबोली में लिखी। इनके दक्खिनी के ग्रन्थ ये हैं—(१) मीराजुल आशकीन (२) हिदायतनामा और (३) रिसाला सेहवारा या वारहमासा। 'मीराजुल-आशकीन' दक्खिनी की पहली रचना मानी जाती है तथा चौदहवीं शती की रचना होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। यह १९ पृष्ठों की एक छोटी-सी रचना है, जिसमें सूफी धर्म के उपदेश दिये गए हैं। इसकी भाषा-शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—'कौल नबी अले उल-सलाम, कहे इन्सान के बूझने कों (कूं) पाँच तन, हर एक तन कों पाँच दरवाजे है हौर पाँच दरबान है। पैला तन वाजिबुल वजूद मोकाम उसका शैतानी, नफूश उसका अम्मार याने वाजिब के आँक सों (सूं) गैर न देखना सो, हिरस के कान गैर न सुना सों। इसकी शैली पर फारसी का प्रभाव परिलक्षित होता है। बंदे नवाज की अन्य रचनाएँ भी धर्मोपदेश सम्बन्धी हैं।

दक्खिनी गद्य की अन्य रचनाओं में 'शरहमरगूब उलमलूब' (शाह मीराँजी : १५वीं शती), 'इरशादनामा' (शाह जानम : १४५४-१५८३ ई०) 'रिसाला गुफ्तार शाह अमीन' (अमीनुद्दीन आला; मृत्यु १६७५), 'सबरस' (मुल्ला वजही : १६०५-१६६० ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। इनका विस्तृत परिचय 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में द्रष्टव्य है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये रचनाएँ चौदहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक की खड़ी बोली के विकास-क्रम को स्पष्ट करती हैं। यद्यपि इन सभी का मूल लक्ष्य सूफी-सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, किन्तु समय के साथ-साथ इनकी भाषा क्रमशः अधिकाधिक शक्ति-संपन्न होती गई है; बन्दे नवाज, मीराँजी, जानम, आला, वजही आदि की भाषा-शैली का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है। वजही के अनन्तर भी अबदुस्समद (१६५१) हुसेनी (१६७०),

शाह बुरहानुद्दीन कादरी (१३७३), मुहम्मद शरीफ (१७००) आदि लेखकों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया, किन्तु अठारहवीं शती में इसका स्थान उर्दू ने ले लिया जिससे इसका विकास दक्षिण में अवरुद्ध हो गया।

(ख) **उत्तरी भारत में खड़ीबोली गद्य का विकास**—उत्तरी भारत में खड़ी बोली गद्य की परम्परा का सूत्रपात सत्रहवीं-अठारहवीं शती से होता है। उत्तरी भारत की परम्परा के विकास में दक्षिणी परम्परा ने कितना योग दिया है, इसका स्पष्टीकरण अभी तक नहीं हो सका; किन्तु उत्तर एवं दक्षिण दोनों पर ही मुगल शासकों का अधिकार होने के कारण यह स्वीकार किया जा सकता है कि दोनों में राजनीतिक सम्बन्धों के साथ-साथ साहित्यिक सम्पर्क भी रहा होगा तथा इस तरह इनमें साहित्यिक परम्पराओं का भी आदान-प्रदान होना सम्भव है।

उत्तरी भारत की खड़ीबोली की प्राचीनतम गद्य-रचना के रूप में अब तक प्रसिद्ध कवि गंग की **'चंद छंद बरनन की महिमा'** (रचनाकाल सत्रहवीं शती) का उल्लेख किया जाता है। इसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है—'इतना सुन के पातसाहिजी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया।' इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं।

अठारहवीं शताब्दी की दो महत्वपूर्ण गद्य-रचनाएँ **'भाषा योगवासिष्ठ'** (१७४१ ई०) एवं **'पद्म पुराण'** (१७६१ ई०) है। इनमें से पहली रचना के रचयिता पटियाला के राज्याश्रित कथावाचक **'रामप्रसाद निरंजनी'** थे तथा दूसरी के मध्यप्रदेश के निवासी **पं० दौलतराम** थे। दोनों ही पुस्तकें अनूदित है। भाषा-शैली की दृष्टि से 'योग वासिष्ठ' दूसरी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी गद्य के क्षेत्र में एकाएक चार उच्चकोटि के गद्य लेखक अवतरित हुए। मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। **मुंशी सदासुखलाल** (१७४६-१८२४ ई०) दिल्ली के निवासी थे तथा उर्दू-फारसी के भी विद्वान् एवं साहित्यकार थे। खड़ीबोली में उन्होंने 'विष्णु पुराण' के आधार पर **'सुखसागर'** नामक ग्रंथ का निर्माण किया, जो शैली की दृष्टि से प्रौढ़ है। उदाहरणार्थ यहाँ एक नमूना प्रस्तुत है—'इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने कि भला माने।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी भाषा-शैली की मीमांसा करते हुए ठीक लिखा है कि 'उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूरबी प्रान्तों में भी—प्रचलित पाई, उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अहले जबान थे, पर उन्होंने अपने हिन्दी-गद्य में कथावाचकों, पंडितों और साधु-संतों के बीच दूर-

दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा, जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था।'

इंशा अल्लाखाँ (मृत्यु १८१८ ई०) उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे, किन्तु इन्होंने अपनी 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (लगभग १८०३ ई०) की रचना में विशुद्ध 'हिन्दवी' के प्रयोग का प्रयास किया है। स्वयं उन्होंने भी इस तथ्य का निर्देश करते हुए लिखा है—'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छूट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।.... हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते है, ज्यों का त्यों वही सब डोल रहे और छाँव किसी का न हो।' यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इंशा ने 'हिंदवीपन' और 'भाखापन' को अलग-अलग या परस्पर-विरोधी माना है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट किया है, इंशा का 'भाखापन' से तात्पर्य संस्कृत मिश्रित हिन्दी से है। 'बाहर की बोली' से भी इंशा का तात्पर्य कदाचित् अरबी, फारसी और तुर्की से था! अस्तु, इंशा ने अपने समय के तथा अपने वर्ग के सुसभ्य समझे जाने वाले लोगों की भाषा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यह दूसरी बात है कि वे अपने संस्कारों के कारण उर्दू-फारसी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त न रह सके। विशेषतः उनका वाक्य-विन्यास फारसी से प्रभावित है। उनकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है—'तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत, जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।' इंशा ने अपनी शैली को रोचक एवं आकर्षक बनाने के लिए मुहावरों के साथ बीच-बीच में तुकान्त गद्य का भी प्रयोग किया है, यथा, एक ओर इस प्रकार के मुहावरों की बहार है—'जैसा मुँह वैसा-थप्पड़', 'छाती के किवाड़ खुलना', 'हिचर-मिचर न रहे', 'आठ-आठ आँसू रोना', 'सिर मुड़ाते ही ओले पड़ना' आदि—तो दूसरी ओर इस प्रकार की पंक्तियाँ भी मिलती है—'रानी को बहुत सी बेकली थी। कब सूझती कुछ बुरी-भली थी। चुपके-चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी।' अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि इंशा ने इस कृति की रचना विशुद्ध कलात्मक प्रेरणा से की थी, इसी से इसमे चमत्कार-प्रदर्शन, कही-कहीं आवश्यकता से अधिक हो गया।

लल्लूलाल (१७६३-१८२५) आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे तथा इन्हे संस्कृत के विशेष ज्ञान के साथ उर्दू का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था। फोर्ट विलियम कालेज में इनकी नियुक्ति १८०२ ई० के आरम्भ में हुई थी तथा इसमें वे सम्भवतः १८२३ या उसके कुछ बाद तक कार्य करते रहे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—१. 'सिंहासन बत्तीसी' (१८०१), २. 'बैताल पच्चीसी, (१८०१) ३. 'शकुन्तला नाटक' (१८०१), ४. 'माधोनल' (१८०१), ५. 'राजनीति' (१८०२),

६. प्रेमसागर (१८१० ई०), ७. 'लतायफ-इ-हिन्दी' (१८१०), ८. ब्रजभाषा-व्याकरण (१८११), ९. 'सभा-विलास' (१८१५), १०. 'माधव-विलास' (१८१७), ११. 'लाल-चंद्रिका' (१८१८)। ये सभी ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों के आधार पर रचित है। 'ब्रज-भाषा-व्याकरण' के अतिरिक्त कोई भी पूर्णतः मौलिक नहीं है। भाषा की दृष्टि से इनमें से तीन—'राजनीति', 'माधव-विलास' और 'लाल-चंद्रिका' ब्रज-भाषा के अन्तर्गत आते है जबकि शेष का सम्बन्ध खड़ीबोली से है। इनमें भी शुद्ध खड़ीबोली की रचना 'प्रेम सागर' ही है, शेष उर्दू-फारसी से प्रभावित है। 'प्रेमसागर' की भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है—'महाराज ! जब ऐसे समझाय बुझाय अक्रूरजी ने कुन्ती से कहा तक वह सोच समझ चुप हो रही और इनकी कुशल पूछ बोली—कहो अक्रूरजी ! हमारे माता-पिता औ भाई वसुदेवजी कुटुंब समेत भले है औ श्री कृष्ण बलराम कभी अपने पाँचों भाइयों की सुध करते है ?' वस्तुतः 'प्रेमसागर' की भाषा पर कथावाचकों की शैली का पर्याप्त प्रभाव है तथा उसमे स्थान-स्थान पर ब्रज-भाषा के प्रयोग मिलते हैं, यथा—'सम्मुख जाय', 'सोई', 'भई', 'जाते भये', 'जान लीजे', 'जद' 'तद'। कहीं-कहीं तुक मिलाने का प्रयास भी मिलता है, जैसे—'मैंने व्रज औ द्वारिका की लीला गाई—वह है सबकी सुखदाई। जो जन इसे प्रेम सहित गावेगा—सो निःसंदेह भक्ति-मुक्ति पदारथ पावेगा।' शब्द-रूपों की अस्थिरता इसमें मिलती है, एक ही शब्द के अनेक रूप इसमें मिलाते हैं—पिरथी, पृथ्वी, प्रथिवी, पृथ्वी, कर्म, करम, मुझ, मुज, मुझे आदि। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इनकी भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके सम्बन्ध में ठीक लिखा है—'सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर 'प्रेमसागर' की भाषा में माधुर्य और सरसता है, काव्याभास है, लेकिन वाक्य-रचना में सुसंबद्धता नहीं है। प्रत्येक वाक्य अपनी-अपनी ध्वनि अलग-अलग उत्पन्न करता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना प्रचार की दृष्टि से नहीं, वरन् पाठ्य पुस्तक के रूप में की थी। इसलिए उसमें कृत्रिमता, शिथिलता और अव्यावहारिकता का आ जाना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है। उस पर भी वह ब्रज-भाषा के प्राचीन ग्रन्थ पर आधारित है। लल्लूलाल ने गद्य को अधिक ग्राह्य बनाने, उसकी अभिव्यंजनात्मक शक्ति को बढ़ाने और उसमें चमत्कार लाने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु उन्हें इस कार्य में अधिक सफलता नहीं हुई (मिली)।

सदल मिश्र (१८६८-१८४८ ई०) मूलतः बिहार-निवासी थे। इन्होंने भी उप-र्युक्त कॉलेज में रहते हुए दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रस्तुत कीं—(१) 'चंद्रावती' या 'नासि-केतोपाख्यान' (१८०३) और (२) 'रामचरित्र' (१८०५ ई०)। ये दोनों रचनाएँ क्रमशः संस्कृत की नचिकेता कथा एवं 'अध्यात्म रामायण' पर आधारित हैं। स्वयं लेखक ने भी इस सम्बन्ध में पहली कृति में स्वीकार किया है—'महाप्रतापी वीर नृपति कंपनी महा-राज' के राज में खड़ीबोली में की, क्योंकि 'देववाणी' में कोई समझ नहीं सकता।' 'नासिकेतोपाख्यान' छोटी सी रचना है, जिसमें नासिकेत उत्पत्ति से यमलोक-यात्रा तक का विवरण प्रस्तुत है तथा अन्त में आत्म-ज्ञान की चर्चा की गई है। दूसरी रचना—'राम-चरित्र' लगभग ३२० पष्ठों की है, जो सात कांडों में विभक्त है। इसकी रचना का

प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लेखक ने इसे जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से रचित बताया है। उसके शब्दों में—संस्कृत की पोथियाँ भाषा करने की महाउदार सकल गुण-निधान मिस्तर जान गिल्क्रस्त साहब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा की कि अध्यात्म रामायण को ऐसी बोली में करो जिनमें फारसी अरबी आवे, तब मैं इसको खड़ीबोली में करने लगा।' इससे लेखक की भाषा-नीति पर भी प्रकाश पड़ता है।

जहाँ तक गद्य-शैली का सम्बन्ध है, सदल मिश्र को अधिक सफलता नहीं मिली। उनकी भाषा न केवल शिथिल, दोष-पूर्ण एवं प्रवाह-शून्य है, अपितु उस पर प्रान्तीय भाषाओं का—विशेषतः बिहारी का—भी गहरा प्रभाव है—एक ओर उसमें 'गाछों', 'काँदती', 'जौन-जौन' जैसे शब्द मिलते हैं तो दूसरी ओर उसमें 'फूलन्ह के बिछौने', 'चहुँ दिस', 'स्मरण किए से' 'विनती किया', 'सेवा में बाधा करने चाहता है', 'झूठाने नहीं सकता है' जैसे अशुद्ध प्रयोग मिलते हैं।

ईसाई-प्रचारकों का योग-दान—ईसाई-प्रचारकों ने भी हिन्दी गद्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है। उन्होंने अपने मत का प्रचार करने के लिए अपने धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद, व्याख्यान, लेख तथा पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी में प्रस्तुत कीं, जिनसे अप्रत्यक्ष में हिन्दी-गद्य की सेवा हुई। सन् १७९८ ई० में कलकत्ते के समीप १५ मील दूर पर श्रीरामपुर में ईसाई-प्रचारकों का एक सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हुआ। आगे चलकर इस संस्था ने अपना मुद्रण-यंत्र भी स्थापित कर लिया, जिससे अनेक पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इनके द्वारा कलकत्ता और आगरा में 'स्कूल-बुक-सोसायटी' की भी स्थापना हुई, जिसके द्वारा विभिन्न विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गई। विदेशी पादरियों ने इस कार्य में अनेक भारतीय लेखकों का भी सहयोग प्राप्त किया तथा उन्हें गद्य-लेखन में प्रवृत्त किया। इन संस्थाओं के द्वारा १८३८ से १८५७ ई० के बीच में विभिन्न विषयों पर शताधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई। अंकगणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, कृति-कर्म, ग्राम-शासन, शिक्षा, यात्रा, नीति, धर्म, ज्योतिष, दर्शन, अंग्रेजी राज्य, व्याकरण, कोश आदि सभी प्रमुख विषयों पर इनके द्वारा सरल एवं लोकोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुई। अस्तु, ईसाई-प्रचारकों ने गद्य-शैली के विकास की दृष्टि से भले ही विशेष सफलता प्राप्त न की हो, किन्तु हिन्दी-गद्य का विषय-विस्तार प्रदान करने एवं गद्य-लेखन के प्रयासों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनकी गद्य-शैली में एकरूपता एवं शुद्धता का अभाव अवश्य खटकता है। कहीं वे ब्रज-भाषा से प्रभावित हैं तो कहीं उर्दू से। इनमें कहीं-कहीं अत्यन्त दूषित एवं हास्यास्पद प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे 'परमेश्वर ने हमको डरपोकना आत्मा दिया', 'बालक ऐसा मूर्छा हो गया' आदि, पर विदेशी प्रचारकों की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को देखते हुए इसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। जब स्वयं भारतीयों की शैली ही अभी तक निश्चित नहीं हो पाई थी, तो ऐसी स्थिति में यदि विदेशियों के नेतृत्व में लिखित गद्य एकरूपता से शून्य हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः इनका प्रयास प्रशंसनीय है।

ब्राह्म-समाज का योगदान—हिन्दी गद्य के विकास में बंगाल के राजा राम-

मोहनराय एवं उनके द्वारा स्थापित 'ब्राह्म-समाज' का भी योग-दान है। राजा राम-मोहनराय ने १८१५ ई० में वेदान्त-सूत्रों का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करवाया तथा आगे चलकर १८२९ ई० में एक पत्रिका 'बंगदूत' भी हिन्दी में निकाली। यद्यपि राजा साहब की भाषा पर बॅंगला का थोड़ा प्रभाव रहता था, किन्तु फिर भी उनकी शैली पर्याप्त प्रवाहपूर्ण है। बंगाली होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को अपनाकर अपनी व्यापक राष्ट्रीयता का भी परिचय दिया है। सारे राष्ट्र की भाषा हिन्दी ही हो सकती है, इस तथ्य को राजा साहब ने आज से डेढ सौ वर्ष पूर्व ही ग्रहण कर लिया था, जो उनकी व्यापक दृष्टि एवं दूरदर्शिता का प्रमाण है।

पत्र-पत्रिकाएँ—सन् १८२६ ई० में कानपुर से पं० युगलकिशोर शुक्ल के संपादकत्व मे हिन्दी की प्रथम पत्रिका 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुई जो साप्ताहिक थी। इस पत्रिका का लक्ष्य विभिन्न विषयों का ज्ञान प्रदान करना था, अतः इसमे राजनीतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यापारिक आदि विविध विषयों का समावेश रहता था। पर यह पत्रिका लगभग एक वर्ष बाद बंद हो गई। इसके अनन्तर अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं, जिनमें कुछ का विवरण इस प्रकार है—'बनारस अखबार' (काशी से राजा शिवप्रसाद के संपादकत्व मे; १८४५ ई०), 'सुधाकर' (काशी से बाबू तारा मोहन मित्र के संपादकत्व में; १८५० ई०), 'बुद्धि प्रकाश' (आगरे से मुंशी सदासुखलाल के द्वारा, १८५२ ई० में)। इसके अतिरिक्त और भी कई पत्र निकले यथा—यथा—'विद्यादर्शन' (मेरठ), 'धर्म-प्रकाश' (आगरा), 'ज्ञान दोपिका' (सिकन्दराबाद), 'वृत्तान्तदर्पण' (आगरा), 'भारत खंड अमृत' (आगरा), 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (लाहौर) आदि।

इन पत्र-पत्रिकाओं में खड़ी बोली का प्रयोग होता था तथा इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के व्यवहारिक विषयों पर गद्य-लेखन की परम्परा को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल के आरम्भ (१८५७ ई०) से पूर्व ही गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप में हो गई थी तथा प्रायः सभी वर्गों में विद्वानों एवं लेखकों ने इस क्षेत्र में खड़ीबोली को ही पूर्णतः मान्यता दे दी थी। यद्यपि अभी तक खड़ीबोली का पूर्ण परिष्कार होना वाकी था, किन्तु उसकी स्थापना भली-भाँति हो चुकी थी, राजस्थानी, ब्रज आदि भाषाओं का गद्य खड़ीबोली के गद्य की तुलना में सर्वथा पिछड़ गया था।

आधुनिक काल में खड़ीबोली के गद्य का विकास

आधुनिक काल के आरम्भिक गद्य-लेखकों में दो व्यक्तियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—१. राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और २. राजा लक्ष्मणसिंह। **राजाशिवप्रसाद (१८२३-१८९५ ई०) ने १८४५ ई० में बनारस से 'बनारस अखबार' निकाला, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। आगे चलकर सन् १८५६ ई० में उनकी नियुक्ति सरकारी-शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर हो गई। इस पद पर**

रहते हुए उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों के अभाव की पूर्ति के लक्ष्य से विभिन्न विषयों की पुस्तकें हिन्दी में लिखीं। प्रारंभ में उन्होंने परिष्कृत हिन्दी का प्रयोग किया, किन्तु सरकारी अधिकारियों के प्रभाव से उनका झुकाव उर्दू या उर्दू मिश्रित हिन्दी की ओर हो गया, अतः आगे चलकर वे उर्दू के ही पक्षपाती हो गए। जहाँ उनके प्रारंभिक ग्रंथों 'मानव धर्म-सार', 'योग वाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद्-सार', 'भूगोल हस्तामलक', 'वामा मन-रंजन', 'आलसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना', आदि की भाषा संस्कृत मिश्रित हिन्दी है वहाँ परवर्ती ग्रंथों—'इतिहास तिमिर नाशक', 'बैताल-पचीसी', आदि—की भाषा उर्दू है।

राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६ ई०) विशुद्ध हिन्दी के समर्थक थे, अतः उन्होंने राजा शिवप्रसाद की उपर्युक्त भाषा-नीति का विरोध करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोलियाँ हैं तथा आवश्यक नहीं कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय। अपने इसी दृष्टिकोण के अनुरूप उन्होंने कालिदास के अनेक ग्रंथों—मेघदूत, शकुन्तला, रघुवंश आदि—का अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया। इनमें उन्होंने गद्य को खड़ीबोली में तथा पद्य को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया है। उनकी गद्य-शैली पर भी ब्रजभाषा का किंचित् प्रभाव परिलक्षित होता है—यथा—'फिर भी एक बेर प्यारी ने मुझ निर्दयी की ओर आँसू भरे नेत्रों से देखा। अब वही दृष्टि मेरे हृदय को विष की बुझी भाल के समान छेदती है।' ('शकुन्तला' नाटक; १८६१ ई०)। वस्तुतः उनकी भाषा काव्य के अधिक उपयुक्त है, बौद्धिक विवेचन की क्षमता का उसमें अभाव है।

आर्य-समाज की हिन्दी-सेवा—सन् १८७५ ई० में **स्वामी दयानन्द सरस्वती** (१८२४-८३ ई०) की प्रेरणा से महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था 'आर्य-समाज' की स्थापना हुई जिसके द्वारा धर्म, समाज, शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति हुई। आर्य-समाज के नेताओं ने धर्म और समाज के क्षेत्र में प्रचलित रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, पाखंडों आदि का खंडन करके धर्म और सदाचार के शुद्ध रूप को प्रकाशित किया। इससे भारतीय समाज में जागृति की एक नई लहर और बौद्धिक चेतना की एक नई उद्दीप्ति आयी, जिसका प्रभाव साहित्य और भाषा पर भी पड़ना स्वाभाविक था। जैसा कि हमने अन्यत्र प्रतिपादित किया है, बौद्धिक चेतना का गद्य से सीधा-सम्बन्ध है। जब भी किसी व्यक्ति या समाज के द्वारा विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क एवं चिन्तन-मनन के बौद्धिक प्रयास होते हैं तो उस स्थिति में उसकी अभिव्यक्ति में गद्य के तत्त्वों का आविर्भाव सहज ही हो जाता है। आर्य-समाज भक्ति-आन्दोलन की भाँति भावात्मकता पर आश्रित आन्दोलन नहीं था अपितु वह बौद्धिकता पर आधारित था, अतः उसके नेताओं के द्वारा अत्यन्त सशक्त गद्य का प्रयोग हुआ है। स्वामी दयानन्द स्वयं गुजराती थे, तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे, फिर भी उन्होंने हिन्दी के राष्ट्रीय महत्त्व को स्वीकार करते हुए अपने अनेक ग्रंथों की रचना हिन्दी में ही की, जिनमें **'सत्यार्थ-प्रकाश'** विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका प्रथम संस्करण १८७५ ई० में तथा द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ चौदह

समुल्लासों में विभक्त हैं' जिनमें वैदिक धर्म की व्याख्या के अनन्तर विभिन्न वेद-विरोधी धर्म-सम्प्रदायों का खंडन किया गया है। इसकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है—'ये सब बातें पोप-लीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहाँ जाते हैं, उनका धर्मराज चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिए कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नही ?' यह उनकी तर्कपूर्ण शैली का नमूना है। कहीं-कहीं उनकी शैली व्यंगात्मक भी हो जाती है, यथा—"जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े अवयव गरुड़ पुराण के बाँचने सुनने वालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी तो वे वैसे निकल और चल सकेंगे।" यद्यपि स्वामीजी के अन्य भाषी होने के कारण उनकी शैली में कहीं-कहीं प्रयोग-शुद्धता का अभाव है, पर उनकी वैचारिक शक्ति के कारण शैली पर्याप्त सशक्त हो गई है।

आगे चलकर आर्य-समाज ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, शास्त्रार्थों, प्रवचनों, उपदेशों, जीवन-चरितों, निबन्धों, अनुवाद-ग्रंथों, पाठ्य-पुस्तकों, उपन्यासों आदि के रूप में इतना साहित्य प्रस्तुत किया कि उसका पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करना इस लेख में संभव नहीं। इसका विवरण डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त के शोध प्रबन्ध—'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य-समाज की देन' (१९६१ ई०) में देखा जा सकता है।

वस्तुतः आर्य समाज ने गद्य की विभिन्न विधाओं एवं उसके विभिन्न माध्यमों को अपने प्रचार का साधन बनाते हुए हिन्दी गद्य-साहित्य की उन्नति मे पर्याप्त योग दिया। उसने न केवल संस्कृत की तत्सम शब्दावली को अपनाकर खड़ीबोली के शब्द-भण्डार मे अभिवृद्धि की, अपितु तर्कपूर्ण शैली का विकास करके उसे बौद्धिक विवेचन के भी उपयुक्त बनाया। गद्य के लिए जिस बौद्धिकता, तार्किकता, सूक्ष्मता एवं प्रवाहपूर्णता की अपेक्षा है, वह आर्य समाजी साहित्य में प्रायः दृष्टिगोचर होती है; अतः गद्य के विकास में इस आन्दोलन के योगदान को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र एवं अन्य लेखक—जिस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं उनके अनुयायी धर्म एवं समाज के क्षेत्र मे सुधार-कार्य कर रहे थे, ठीक उसी समय हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नयी क्रान्ति का सूत्रपात कर रहे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०) ने अपने अल्प जीवन-काल में ही हिन्दी गद्य के क्षेत्र मे अद्भुत कार्य किया। एक ओर उन्होंने गद्य-शैली को परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हुए उसका मार्ग निश्चित किया तो दूसरी ओर उन्होंने निबन्ध, नाटक, इतिहास, आलोचना, संस्मरण, यात्रा-विवरण आदि गद्य-रूपों की परम्परा का प्रवर्त्तन किया। गद्य की विभिन्न विधाओं के क्षेत्र में भारतेन्दु के योगदान का स्पष्टीकरण अन्यत्र तत्सम्बन्धी विवेचन करते समय किया जाएगा, यहाँ उनकी गद्य-शैली की कतिपय विशेषताओं का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। एक तो, जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, भारतेन्दु की गद्य-शैली अत्यन्त व्यावहारिक एवं हिन्दी की मूल प्रकृति के अनुकूल है। उन्होंने न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का अनावश्यक रूप में प्रयोग किया और

न ही उनका बहिष्कार किया। तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्होंने यथोचित रूप में किया है। इसी प्रकार उर्दू-फारसी के शब्दों के प्रयोग में भी उन्होंने संतुलित दृष्टि का परिचय दिया है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों तथा ब्रजभाषा के उप-युक्त प्रयोगों से भी उनकी भाषा मुक्त है। दूसरे, उन्होंने विषयवस्तु, भाव-विशेष एवं रूप-विशेष के अनुसार विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। जहाँ प्रणय, विरह एवं शोक के प्रसंग में उनकी शैली अत्यन्त कोमल एवं मधुर हो जाती है, तो हास्य के क्षेत्र में वह चुलबुलेपन से युक्त हो जाती है। इसी प्रकार उनके नाटकों की शैली समी-क्षात्मक लेखों की शैली से इतनी भिन्न है कि डा० श्यामसुन्दर दास को तो एक बार यहाँ तक भ्रम हो गया था कि उनका नाटक सम्बन्धी समीक्षात्मक लेख किसी और का लिखा हुआ है, क्योंकि उसकी शैली नाटकों की शैली से भिन्न है। वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भाषा के मर्म को समझने वाले प्रतिभाशाली लेखक थे तथा उसे विषय, भाव एवं प्रसंग के अनुसार नये-नये रूपों में ढाल लेने की कला में सिद्धहस्त थे, अतः यदि उनकी सिद्धि कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में चका-चौंध उत्पन्न कर दे तो आश्चर्य नहीं। वैसे, देखा जाय तो न केवल उनके लेख एवं नाटकों की शैली में, अपितु विभिन्न नाटकों की शैली मे भी पारस्परिक अन्तर दिखाई देगा; यथा, यहाँ दो उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(अ) 'हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ?....हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ ! प्यारे रात छोटी है और स्वाँग बहुत है।'

—('चन्द्रावली' नाटिका)

(आ) 'बात यह है कि कल कोतवाल को फाँसी का हुक्म हुआ था। जव फाँसी देने को उसको ले गये, तो फाँसी का फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहव दुवले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याय न होगा।'

—(अंधेर नगरी)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से जहाँ पहले मे एक भी उर्दू-फारसी का शब्द नही है, वहाँ दूसरे में 'हुकुम', 'अर्ज', 'सजा', 'जरूर' जैसे अनेक उर्दू-शब्द आये हैं। इस अन्तर का कारण दोनों के पात्रों, परिस्थितियों एवं भावों में अन्तर का होना है। एक का सम्बन्ध प्रणय-निवेदन से है, जब कि दूसरे सरकारी सिपाही की अदालत की चर्चा से है। अतः प्रसंगानुसार भाषा में अन्तर आ जाना स्वाभाविक है।

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों—प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, राधाकृष्ण दास, सुधाकर द्विवेदी, कार्त्तिकप्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, बालमुकुन्द गुप्त, दुर्गाप्रसाद मिश्र, श्रद्धाराम फिल्लौरी, काशी-नाथ, किशोरीलाल गोस्वामी, बिहारीलाल चौबे, तोताराम वर्मा, दामोदर शास्त्री प्रभृति ने भी हिन्दी गद्य के विकास में विभिन्न प्रकार से योग दिया। मूलतः हिन्दी भाषा न होते हुए भी हिन्दी-गद्य लेखन को प्रोत्साहित करने वाले इस युग के दो महान् व्यक्तियों

में बंगाली बाबू नवीनचन्द्र राय (१८३७-१८९०) और इंगलैण्ड के फ्रेडरिक पिन्काट (१८३६-१८९६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नवीनचन्द्र राय ब्राह्म-समाज के अनुयायी थे। उन्होंने हिन्दी में अनेक पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन किया तथा एक पत्रिका 'ज्ञान-प्रदायिनी' भी १८६७ ई० में निकाली। उन्होंने पंजाब में हिन्दी का प्रचार-कार्य भी किया, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। फ्रेडरिक पिन्काट महोदय भी हिन्दी के सच्चे हितैषी थे तथा उन्होंने हिन्दी में लेख लिखने एवं-पत्रिकाएँ सम्पादित करने के अतिरिक्त अपने युग के भारतीय हिन्दी-लेखकों को भी बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने लंदन में बैठे-बैठे ही हिन्दी पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भी वे प्रशंसक थे। इस भारती-भक्त का देहान्त भी भारत-भूमि (लखनऊ में) हुआ, जबकि वे रीआ घास की खेती का प्रचार करने के लिए यहाँ आये हुए थे।

भारतेन्दु-युग के विभिन्न लेखक अपनी-अपनी पत्रिकाएँ भी चलाते थे, जिनमें वे सामयिक एवं ज्ञानवर्द्धक विषयों पर बराबर कुछ न कुछ लिखते रहते थे। कुछ लेखक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर व्यंग्यपूर्ण लेख एवं नाटक भी लिखते थे। इससे गद्य-शैली के विकास की गति में वृद्धि हुई। पर इस युग के लेखक मनमौजी, विनोदी एवं निरंकुश स्वभाव के भी थे, व्याकरण की शुद्धता एवं शब्द-रूपों की एकता का उन्होंने बहुत कम ध्यान रखा। साथ ही व्यंग्यात्मक शैली का विकास अधिक हुआ, गंभीर विषयों में प्रवृत्ति कम होने के कारण विवेचनात्मक शैली अपेक्षाकृत कम विकसित हो पाई। वस्तुतः इन अभावों की पूर्ति परवर्ती युग में हुई। जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं उनके सहयोगी—हिन्दी गद्य के क्षेत्र में नयी गति महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) के प्रयासों से आई। वे सन् १९०० में 'सरस्वती' के संपादक नियुक्त हुए तथा इस पत्रिका के माध्यम से ही उन्होंने अपने युग के हिन्दी-साहित्यकारों का नेतृत्व करते हुए उनका ध्यान हिन्दी गद्य और पद्य की विभिन्न न्यूनताओं एवं त्रुटियों की ओर आकर्षित किया। जहाँ पद्य के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी-बोली की प्रतिष्ठा के आन्दोलन को दृढ़ किया वहाँ गद्य के क्षेत्र में भाषा की शुद्धता, शब्द-रूपों की एकरूपता, व्याकरण के दोष-परिष्कार आदि की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। गद्य के सम्बन्ध में उनकी भाषा-नीति के चार सूत्र इस प्रकार बताए जा सकते हैं—१. विषयानुकूल एवं जनता के अनुकूल सरल, शुद्ध एवं प्रवाहपूर्ण शैली का प्रयोग करना। २. उर्दू एवं अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को स्वीकार करना। ३. शब्द-रूपों एवं प्रयोगों को निश्चित रूप प्रदान करते हुए भाषा में एकरूपता लाना। ४. भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत के सरल एवं उपयुक्त तत्सम शब्दों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों तथा अन्य भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करना। इस नीति का न केवल उन्होंने स्वयं पालन किया, अपितु दूसरों से भी करवाया। उनके समय में विभिन्न लेखक एक ही शब्द को अनेक रूपों में प्रयुक्त करते थे, यथा—'इकलौता', 'एकलोता', 'इकलोता'; 'कुटलता', 'कुटिलता'; 'सिंघासन', 'सिंहासन'; 'हुवा', 'हुया',

'हुआ' आदि। कई लेखक व्याकरण की अशुद्धियाँ भी करते थे, जैसे—'हमारे संतान', 'घी पड़ जाती है', 'धन्य है वह नयन', 'जन्म दिन पर' आदि। आचार्य द्विवेदी ने अपने विभिन्न लेखों में इन पर प्रकाश डालकर हिन्दी गद्य को एक परिष्कृत एवं सशक्त रूप प्रदान किया। गद्य-शैली के परिष्कार के अतिरिक्त गद्य के विषय-क्षेत्र के विस्तार एवं विभिन्न रूपों के विकास के लिए भी उन्होंने अपने युग के साहित्यकारों को प्रेरित एवं उत्साहित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं भी साहित्यिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, भौगोलिक विषयों को अपने निबन्धों में प्रस्तुत किया। हिन्दी-समीक्षा के विकास में भी उनका योगदान है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन अन्य गद्य-लेखकों में डा० श्यामसुन्दरदास, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मसिंह शर्मा, मिश्र-बन्धु, बालमुकुन्द गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय, गोपालराम गहमरी, गोविन्दनारायण मिश्र, लाला भगवानदीन प्रभृति उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने गद्य के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया। इनकी सेवाओं की भी चर्चा अन्यत्र निबन्ध, उपन्यास आदि के प्रसंग में की जायगी।

हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप—हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप महावीरप्रसाद द्विवेदी के परवर्ती युग में दृष्टिगोचर होता है। न केवल गद्य-शैली की दृष्टि से; अपितु गद्य की विभिन्न विधाओं की दृष्टि से भी परवर्ती युग अत्यन्त समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण दिखाई पड़ता है। यद्यपि इस युग के समस्त गद्य-साहित्य का विस्तृत परिचय देना यहाँ संभव नही, किन्तु विभिन्न गद्य-रूपों के उच्चतम उन्नायकों का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है, जिससे गद्य की प्रगति का अनुमान लगाया जा सके।

गद्य की कसौटी निबन्ध है—इस दृष्टि से सर्वप्रथम निबन्ध-साहित्य को लिया जा सकता है। इस क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि', आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक का फूल', डा० नगेन्द्र के 'आस्था के चरण', महादेवी वर्मा के 'अतीत के चल-चित्र' को सर्वोत्तम उपलब्धियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इनमें जहाँ विषय-वस्तु की व्यापकता, विचारों की गंभीरता एवं शैली की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ साहित्यिक सौन्दर्य भी अपने पूर्ण वैभव के साथ दिखाई पड़ता है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक समस्याओं के चित्रण की दृष्टि से मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल, अमृतलाल नागर का, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवती-चरण वर्मा, प्रभृति का तथा ऐतिहासिक दृष्टि से डा० वृन्दावनलाल वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में आदर्श रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। आलोचना के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र के 'रस-सिद्धान्त' को सर्वोत्कृष्ट सैद्धान्तिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है तो व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में क्रमशः आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्य सर्वोत्तम उपलब्धि है। उसी प्रकार नाटक और एकांकी के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदय-शंकर भट्ट, मोहन राकेश, डा० लक्ष्मीनारायण लाल के योगदान पर गर्व किया जा

सकता है। इसी प्रकार जीवनी, आत्मकथा, रेडियो-रूपक, रेखाचित्र, गद्यकाव्य आदि के क्षेत्र में भी न्यूनाधिक मात्रा में कार्य हुआ है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि यद्यपि खड़ीबोली गद्य की प्रतिष्ठा हुए अभी एक शताब्दी भी नहीं हुई, पर इस अल्पकाल में ही प्रत्येक दृष्टि से इसने जिस प्रकार प्रगति की है, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। वस्तुतः यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी एक ऐसी जीवित भाषा है, जिसके बोलनेवालों में पर्याप्त प्रतिभा, अद्भुत कर्मठता एवं निरन्तर कार्य में लगे रहने की क्षमता है, जिसके बल पर वह द्रुतगति से आगे बढ़ रही है। हाँ, स्वतन्त्रता के बाद अवश्य हम थोड़े शिथिल एवं व्यक्ति-केन्द्र हो गए हैं, जिससे हमारे कार्य में वैसी निष्ठा एवं तत्परता दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसी कि पूर्ववर्ती उन्नायकों—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद प्रभृति—में दृष्टिगोचर होती थी; फिर भी हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है—यह बात गद्य-साहित्य पर विशेष रूप से लागू होती है।

:: पैंतीस ::

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

१. नाटक की मूलभूत प्रवृत्तियाँ ।

२. नाटक का उद्भव ।

३. प्राचीन भारतीय नाटक साहित्य ।

४. हिन्दी में नाटक-साहित्य—(क) मैथिली नाटक, (ख) रास-लीला नाटक, (ग) पद्यबद्ध नाटक, (घ) भारतेन्दु-युगीन नाटक, (ङ) प्रसाद-युगीन नाटक, (च) प्रसाद-युगोत्तर नाटक ।

नाटक की उत्पत्ति के मूल में मनोवैज्ञानिकों ने मुख्यतः चार मनोवृत्तियों को स्वीकार किया है—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति, (२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति, (३) जाति या समुदाय की रक्षा की प्रवृत्ति और (४) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति । ये चारों प्रवृत्तियाँ मानव-हृदय में सहज स्वाभाविक रूप में ही विद्यमान हैं, अतः नाट्य-कला के उद्भव के लिए किसी विशेष बाह्य परिस्थिति पर विचार करना अनावश्यक प्रतीत होता है । फिर भी 'भारतीय-नाटक' की उत्पत्ति को लेकर स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों में गहरा वाद-विवाद हुआ तथा उन्होंने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत स्थापित किए हैं । डाक्टर रिजवे (Ridgeway) का मत है कि नाटक का उदय मृत-वीरों की पूजा से हुआ । उनके विचारानुसार प्रारम्भिक काल में मृत आत्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन हुआ । प्रोफेसर हिलेब्राँ (Hillebrandt) और प्रोफेसर कोनो (Konow) भारतीय नाटक का उदय लौकिक व सामाजिक उत्सवों से मानते हैं । उधर डा० पिशेल (Pischel) भारतीय नाटकों का मूल लौकिक आधार मानते हुए कहते हैं कि नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ । प्राचीन भारतवर्ष में कठपुतलियों का प्रचार अवश्य था, इसके प्रमाण गुणाढ्य की वृहत्कथा, महाभारत एवं राजशेखर-कृत बाल रामायण में मिलते हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि कठ-पुतलियों से ही नाट्य-कला का विकास हुआ । कौन जानता है, शायद कठपुतलियों के नाच का प्रचलन ही नाट्य-कला के अनुकरण पर हुआ हो ! डॉ० गुलाबराय ने इन सब मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए लिखा है—"ये सब कल्पनाशील विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष में धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है, जैसा कि लोग समझते हैं । भारतवर्ष में धर्म मानव-जीवन का अंग है । इस देश का दुकानदार भी तो अपनी गोलक को महादेव बाबा की गोलक बताता है ।" डॉक्टर साहब के इस तर्क में बहुत बल है, अतः लौकिक या धार्मिक कृत्यों के वाद-विवाद में उलझना अनावश्यक है ।

नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में एक घटना का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार देवताओं की प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पाँचवें वेद के रूप में नाट्य-वेद की रचना की। इसके लिए शिवजी ने ताण्डव नृत्य दिया और पार्वती जी ने लास्य प्रदान किया। यद्यपि यह प्रसंग विशुद्ध कल्पना पर आधारित है। किन्तु इससे दो तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, एक तो नाटक की उत्पत्ति चारों वेदों की रचना के अनन्तर हुई और दूसरे, नाटक के विभिन्न तत्त्व मूलतः चारों वेदों में विद्यमान है। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि भारत में नाट्य-कला का उदय भी उत्तर-वैदिक युग से पूर्व हो गया हो।

कुछ विद्वान् भारतीय नाटक को यूनानी नाट्य-कला की देन मानते हैं। अतः उनके मतानुसार भारत में नाट्य-कला का विकास भारत पर यूनानियों (सिकन्दर) के आक्रमण के अनन्तर हुआ। वे लोग यूनानी प्रभाव के प्रमाण-स्वरूप 'यवनिका' शब्द को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इस मत का खंडन विभिन्न भारतीय विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। 'यवनिका' शब्द यवन (यूनानी) प्रदेश से सम्बन्धित नहीं है, अपितु इसका शुद्ध रूप 'जवनिका' (जव—वेग, जवनिका—वेग से उठने व गिरनेवाला पट) है। स्वयं यूनानी नाटकों में पर्दे का प्रचलन नहीं था, अतः 'यवनिका' का सम्बन्ध यूनानी नाटकों से स्थापित करना घुणाक्षर-न्याय मात्र है। इसके अतिरिक्त भी भारतीय नाटकों की प्रकृति एवं स्वरूप में गहरा अन्तर मिलता है। हमारे यहाँ नाटक अंकों में विभाजित होते हैं, जबकि यूनानी नाटकों में अंक नहीं होते, वहाँ केवल दो दृश्यों में अन्तर लाने के लिए सम्मिलित गान (Chorus) का आयोजन कर दिया जाता था। वस्तुतः भारत में नाटकों का प्रचलन भारत-यूनानी सम्पर्क से भी बहुत पहले हो चुका था। इस तथ्य के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पाणिनि (ईसा से ४०० वर्ष पूर्व) के सूत्रों में कृशाश्व और शिलालिन् नाम के नट-सूत्रकारों के नामों का उल्लेख हुआ है। 'विनय-पिटक' में अश्वजित् और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं का वृत्तान्त मिलता है, जिन्हें रंगशाला में नर्तकियों से बात करने व नाटक देखने के अपराध में प्रव्राजनीय दण्ड मिला था। इसी प्रकार जैन कल्प-सूत्रों में भद्रबाहु स्वामी ने जड़वृत्ति के साधुओं के अन्तर्गत एक ऐसे साधु का भी उल्लेख किया है, जिसे नाटक देखने का शौक हो गया था। वाल्मीकि रामायण में अयोध्या की प्रशंसा करते हुए उसमें अनेक नट एवं नर्तकियों के निवास का वर्णन किया है। 'हरिवंश पुराण' में 'राम-जन्म' तथा 'कौबेर-रंभाभिसार' आदि नाटकों के खेले जाने का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त भरत के 'नाट्य-सूत्र' (ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व) में अभिनय-कला का जैसा सूक्ष्म-विवेचन हुआ है, वह इस बात का प्रमाण है कि भारत में नाट्य-कला की एक दीर्घ परम्परा इससे कई शताब्दियों पूर्व रही होगी। वस्तुतः भारतीय नाट्य-कला बहुत प्राचीन है तथा उसका विकास यूनानी आक्रमण से पूर्व ही हो गया था। सम्भव है कि यूनानी यहाँ से अन्य कुछ कलाओं की भाँति नाट्य-कला की भी कुछ विशेषताएँ ले गए हों और उनका समन्वय अपने नाटकों में कर दिया हो।

भारत का बहुत-सा प्रारम्भिक साहित्य अनुपलब्ध है, अतः हमारे प्रारम्भिक नाटक भी अब प्राप्य नहीं हैं। उपलब्ध नाटकों में सबसे प्राचीन महाकवि भास (प्रथम शती ईसा पूर्व) की रचनाएँ—प्रतिभा, पंचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता आदि हैं, जिनमें नाट्य-कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। उनके अनन्तर कालिदास, शूद्रक, भवभूति, हर्ष-वर्द्धन, भट्टनारायण, विशाखदत्त आदि नाटककारों की अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ मिलती हैं। संस्कृत में नाटक-साहित्य में बुद्धि और भावना का एकान्त संयोग, अनुभूतियों की विविधता और गंभीरता, चित्रण की असाधारण कुशलता और शैली की स्वाभाविकता और रोचकता आदि गुणों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कथावस्तु के क्षेत्र की जैसी व्यापकता भास में मिलती है, सौन्दर्य का जैसा सजीव अंकन कालिदास में मिलता है, प्रेम की जैसी गंभीरता भवभूति में है, जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का जैसा मार्मिक चित्रण शूद्रक ने किया है और राजनीति के दाँव-पेचों का गुम्फन जिस सफलता से विशाखदत्त ने किया है, वह विश्व-नाटक-साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय है। संस्कृत नाटककारों में स्वाभाविकता का आग्रह इतना अधिक है कि वे अशिक्षित पात्रों के संभाषणों को सहज स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने के लिए असंस्कृत, हेय एवं निम्नवर्गीय भाषा को भी कृतियों में स्थान दे देते हैं।

संस्कृत की नाट्य-परम्परा का विकास परवर्ती भाषाओं में समुचित रूप से नहीं हो सका। यद्यपि संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने अपनी रचनाओं में प्राकृत भाषा को थोड़ा बहुत स्थान दिया है, किन्तु फिर भी प्राकृत में उत्कृष्ट कोटि के नाटक बहुत कम लिखे गये। नाटक के एक विशेष रूप—सट्टक का ही प्राकृत में अधिक प्रचलन रहा। प्राकृत सट्टकों में कर्पूर-मंजरी, रंभामंजरी, चन्द्रलेखा, शृङ्गारमंजरी, आनन्दसुन्दरी आदि उल्लेखनीय है। आगे चलकर अपभ्रंश में नाटक की परम्परा एक बार विलुप्त-सी हो गई। रासक-काव्यों के रूप में अवश्य अपभ्रंश में कई सौ रचनाएँ मिलती है, किन्तु उनमें नाटकीय तत्त्वों का प्रायः अभाव है। एक तो वे विशुद्ध पद्य-बद्ध हैं और दूसरे उनमे अभिनय सम्बन्धी संकेतों का उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त अभिनेय वस्तु का भी उनमें वर्णन कर दिया गया है, अतः उन्हें नाटक कहना उचित नहीं। फिर भी 'नाट्य-दर्पण', 'भाव-प्रकाश' व 'साहित्य-दर्पण' आदि ग्रंथों में 'रासक' के लक्षणों का निरूपण नाटक के रूप में हुआ है। 'साहित्य-दर्पणकार' के विचारानुसार रासक में पाँच पात्र होते है, एक अंक होता है, सुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं और कैशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसमें सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मेनका हित' का नाम लिया है। यद्यपि अब न तो 'मेनका-हित' ही उपलब्ध है और न ही उपर्युक्त लक्षणों से युक्त कोई रासक-कृति मिलती है, परन्तु इसी से यह निश्चित हो जाता है कि कभी नाट्यरासकों की परम्परा भी अवश्य रही है, यद्यपि आज वे अनुपलब्ध या अप्रकाशित हैं।

हिन्दी में नाटक-साहित्य का उद्भव

कुछ वर्षों तक हिन्दी में नाट्य-साहित्य का उदभव १९वीं शती में माना जाता रहा,

किन्तु अब डॉ० दशरथ ओझा ने अपने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान के द्वारा तेरहवीं शताब्दी से ही इसका उद्‌भव सिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार हिन्दी का सर्वप्रथम उपलब्ध नाटक 'गय-सुकुमार-रास' है, जो संवत् १२८६ वि० में रचित हुआ था। उनका कथन है कि "इस रास में रास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। इसकी भाषा पर राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व स्वीकार किया गया है। आगे चलकर रास के तीन रूप हो गये। पहला रूप तो नाट्य-रासक का ही रहा, जो गय-सुकुमार रास व भरतेश्वर बाहुबली रास आदि में बताया गया है। दूसरा रूप धार्मिक महापुरुषों के चरित्र-काव्य के रूप में विकसित हुआ, जिसमें से नृत्य और नाट्य का अंश क्रमशः लोप होने लगा। रास का तीसरा रूप रासो है, जो किसी राजा की पूरी जीवन-गाथा को लेकर विरचित होता रहा।" डॉ० ओझा जी के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि रास के अन्तिम दो रूपों में तो अभिनेयता का सर्वथा अभाव ही है, किन्तु उन्होंने प्रथम वर्ग में आनेवाली रचनाओं 'गय-सुकुमार-रास' व 'भरतेश्वर बाहुबली रास' का विवेचन इतने चलताऊ ढंग से किया है कि जिससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनों ग्रन्थ भी मूलतः नाट्य-रासक हैं। 'गय-सुकुमार-रास' का जो थोड़ा सा परिचय दिया गया है, उससे उसके पात्रों के नाम व कथा-वस्तु का संकेत मात्र मिलता है, उसके नाटकीय तत्त्वों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अतः इसे हिन्दी का आदि नाटक कहना संदेहास्पद है।

मैथिली नाटक

हिन्दी का प्राचीनतम नाटक-साहित्य जो वास्तव में नाटकीय तत्त्वों से युक्त है, मैथिली भाषा में मिलता है। महाकवि विद्यापति द्वारा रचित अनेक नाटक बताये जाते हैं, किन्तु उनमें से अब 'गोरक्ष-विजय' ही उपलब्ध है। इसका गद्य भाग संस्कृत में व पद्य भाग मैथिली में है। अप्रकाशित होने के कारण इसका अधिक विवरण अनुपलब्ध है। जब मिथिला के शासक-वर्ग के कुछ लोग नेपाल में चले गये, तो विद्यापति की नाट्य-परम्परा का विकास मिथिला और नेपाल—दोनों प्रदेशों में साथ-साथ हुआ। नेपाल में रचित नाटकों में 'विद्या-विलाप' (१५३३ ई०), 'मुदित कुवलयाश्व' (१६२८ ई०), 'हर गौरी विवाह' (१६२६ ई०), 'उषा-हरण', 'पारिजात-हरण', 'प्रभावती-हरण' (१७वीं शती) आदि उल्लेखनीय है। मिथिला के नाटकों में से गोविन्द का 'नल-चरित-नाटक' (१६३६ ई०), रामदास झा का 'आनन्दविजय नाटक', देवानन्द का 'उषा-हरण' (१७वीं शती), रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिणी-हरण' (१८वीं शती), उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' (१८वीं शती) आदि महत्त्वपूर्ण है। नेपाल और मिथिला में रचित इन मैथिली नाटकों की परम्परा बीसवीं शती तक अक्षुण्ण रूप में मिलती है। इनकी रचना रंगमंच पर अभिनय करने के लिए होती थी, अतः इनमें अभिनेयता का गुण मिलता है। गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग इनमें हुआ है। भाषा प्रायः सरल मैथिली है। मैथिली नाटकों के प्रभाव से आसाम और उड़ीसा में भी कई ऐसे नाटक लिखे गए, जिनमें विषय-वस्तु, शिल्प एवं भाषा-शैली की दृष्टि से परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है।

रास-लीला नाटकों का विकास

जिस समय भारत के पूर्वी-प्रदेशों—मिथिला, आसाम, उड़ीसा आदि में उपर्युक्त मैथिली-नाटक-साहित्य का विकास हो रहा था, ब्रज-प्रदेश में रास-लीला नाटकों का उद्भव हुआ। डॉ० दशरथ ओझा ने रास-लीला नाटकों को जैन-कवियों द्वारा रचित रासक या रासो काव्यों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तव में दोनों में कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। ब्रज-प्रदेश में विकसित रास-लीलाओं का मूल प्रेरणा-स्रोत भागवत का रास सम्बन्धी वर्णन है। सर्व-प्रथम सोलहवीं शताब्दी में हित-हरिवंश जी को राधा-कृष्ण के अलौकिक रास का दर्शन हुआ, जिसके अनुकरण पर उन्होंने 'कृष्ण रास-मंडल' की स्थापना की और रास-लीलाओं का आयोजन किया। जिस रास-लीला के दर्शन हित-हरिवंश जी को हुए थे, वह कैसी थी, इसका चित्रण उन्होंने स्पष्ट रूप में किया—

आजु नागरी किशोरी भावती विचित्र ओर, कहा कहौं अंग-अंग परम माधुरी ॥
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड-गंड, परम सरस रास लास मंडली जुरी ॥
स्याम सुन्दरी बिहार बांसुरी मृदंग तार, मधुर घोष नूपरादि किंकनी चुरी ॥
देखत हरिवंश आलि नर्त्तनी सुघंग चालि, वारि फेरि देत प्रान देह सी बुरी ॥

गोस्वामी जी के इस रास-लीला-वर्णन में नाटकीयता का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। न ही तो इसमें कोई कथावस्तु है और न ही पात्रों का वार्तालाप। केवल क्रिया-विशेष का ही खुला वर्णन है। हमारी समझ में नहीं आता कि यह रास-लीला भक्तों और साधकों को इतनी मनोमुग्धकारी क्यों प्रतीत हुई तथा रंग-मंच पर इसका अभिनय किस प्रकार किया गया होगा। डॉ० ओझा लिखते हैं—"इसका पुनः पुनः प्रदर्शन करने के लिए ललितसखी के गाँववाले कुछ लड़कों को इसके अभिनय के लिए पूरी शिक्षा दी गई।" ओझा जी के 'इस पूरी शिक्षा' वाले रहस्य को समझना कठिन है, किन्तु हम मान लेते हैं कि ऐसी लीलाएँ अवश्य ब्रज में होती रही होंगी। आगे चलकर इस रास-लीला का क्षेत्र कुछ व्यापक किया गया और उसमें कथावस्तु के कुछ अंशों व दूसरे क्रिया-व्यापारों को स्थान दिया गया। नन्ददास जी ने 'गोवर्द्धन लीला' एवं 'श्याम-सगाई-लीला' की रचना की तथा ध्रुवदासजी व चाचा वृन्दावनदास ने लगभग ४०-५० लीलाएँ लिखीं। आगे चलकर ब्रजवासीदास ने ७४ लीलाएँ लिखीं। कृष्ण-लीला के नाटकों की शैली पर नरसिंह लीला, भागीरथ लीला, प्रह्लाद लीला, दान लीला आदि की रचना हुई। यद्यपि प्रारम्भिक लीलाएँ नाटक की अपेक्षा कविताएँ अधिक हैं, किन्तु धीरे-धीरे उनका विकास अभिनय के अनुकूल होता गया, यद्यपि उनका रूप अन्त तक पद्य-बद्ध ही रहा। वस्तुतः इस श्रेणी के नाटक 'रास-लीला' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनका प्रदर्शन अब भी विभिन्न रास-मंडलियों द्वारा होता है। रास-लीलाओं में नृत्य और गान की ही प्रधानता है।

पद्य-बद्ध नाटक

सत्रहवीं और अठारहवीं शती में कुछ ऐसे पद्य-बद्ध नाटकों की रचना हुई, जो

शैली की दृष्टि से रास-लीलाओं से भिन्न हैं तथा जिनका अभिनय कदाचित् नहीं हुआ। इन नाटकों में रामायण महानाटक (१६६७ वि०), हनुमन्नाटक (हृदयराम, १६८० वि०), समयसार नाटक (बनारसीदास, १६६३ वि०), चंडी-चरित्र (गुरु गोविन्दसिंह), प्रबोध-चन्द्रोदय (यशवन्तसिंह, १७०० वि०), शकुन्तला नाटक (नेवाज, १७२७ वि०) और सभासार नाटक (श्री रघुराम नागर, १७५७ वि०), करुणाभरण (कृष्ण जीवन लछीराम १७७२ वि०) उपलब्ध हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी इस प्रकार नाटक और भी लिखे गए। माधव-विनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला बिहार नाटक, रामायण नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, नहुष नाटक और आनन्द रघुनन्द नाटक की रचना हुई। इन नाटकों में विशुद्ध पद्य का प्रयोग हुआ है तथा 'नाटक' के नाम के अतिरिक्त और कोई ऐसी विशेषता नहीं मिलती, जिससे इन्हे नाटक कहा जा सके। हाँ, प्रबोध-चन्द्रोदय में अवश्य मूल संस्कृत रचना के अनुरूप ही नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है।

आधुनिक युग का नाटक साहित्य

हिन्दी में नाटक के स्वरूप का समुचित विकास आधुनिक युग के आरम्भ से होता हैं। सन् १८५० से अब तक के युग को हम नाट्य-रचना की दृष्टि से तीनों खंडों में विभक्त कर सकते हैं : (१) भारतेन्दु युग (१८५०-१९०० ई०), (२) प्रसाद युग (१९००-१९३०) और (३) प्रसादोत्तर युग (१९३० से अब तक)। इनमें से प्रत्येक युग के प्रमुख नाटककारों का परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(क) भारतेन्दु युग—स्वयं बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का प्रथम नाटक अपने पिता बाबू गोपालचन्द द्वारा रचित 'नहुष नाटक' (सन् १८४१ ई०) को बताया है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह पूर्ववर्ती ब्रजभाषा पद्य-बद्ध नाटकों की ही परम्परा में आता है। सन् १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद प्रकाशित करवाया। भारतेन्दु जी का प्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' (सन् १८६८ ई०) भी किसी बंगला के नाटक का छायानुवाद था। इसके अनन्तर उनके अनेक मौलिक व अनुवादित नाटक प्रकाशित हुए, जिनमें पाखंड-विडम्बनम् (१८७२), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७२), धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस (१८७५), सत्य-हरिश्चन्द्र (१८७५), प्रेम योगिनी (१८७५), विषस्य-विषमौषधम् (१८७६), कर्पूर-मंजरी (१८७६), चन्द्रावली (१८७६), भारत दुर्दशा (१८७६), नीलदेवी (१८७७), अंधेर-नगरी (१८८१), और सती-प्रताप (१८८४ ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु के नाटक मुख्यतः पौराणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर आधारित हैं। सत्य-हरिश्चन्द्र, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर-मंजरी—ये चारों अनुवादित हैं। अपने मौलिक नाटकों में उन्होंने सामाजिक कुरीतियों एवं धर्म के नाम पर होनेवाले कुकृत्यों आदि पर तीखा व्यंग्य किया है। 'पाखण्ड-विडम्बनं', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इसी प्रकार के नाटक हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी-नरेशों की दुर्दशा पर आँसू बहाए गए हैं तथा उन्हें चेतावनी दी गई है कि यदि वे न सँभले तो धीरे-धीरे अंग्रेज

सभी देशी रियासतों को अपने अधिकार में ले लेंगे। 'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु की राष्ट्र-भक्ति का स्वर उद्घोषित हुआ है। इसमें 'अंग्रेज' को भारत-दुर्दैव के रूप में चित्रित करते हुए भारतवासियों के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर विदेशी शासकों की स्वेच्छाचारिता, पुलिसवालों के दुर्व्यवहार, भारतीय जनता की मोहान्धता पर गहरे आघात किए गए हैं। कुछ आलोचक भारतेन्दु-साहित्य को भली प्रकार न समझने के कारण भारतेन्दु की राष्ट्रीयता के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सके। वस्तुतः उस युग में जबकि १८५७ की असफल क्रान्ति को लोग भूले नहीं थे, भारतेन्दु ने ब्रिटिश शासन एवं उसके विभिन्न अंगों की जैसी स्पष्ट आलोचना अपने साहित्य में की है, वह उनके उज्ज्वल देश-प्रेम एवं अपूर्व साहस का परिचय देती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को संस्कृत, प्राकृत, बँगला व अंग्रेजी के नाटक-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने इन सभी भाषाओं से अनुवाद किए थे, नाट्य-कला के सिद्धान्तों का भी उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था, जो उनकी रचना 'नाटक' से सिद्ध है। साथ ही उन्होंने अपने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की थी तथा उन्होंने अभिनय में भाग भी लिया था। इस प्रकार नाट्य-कला के सभी अंगों का उन्हे पूरा ज्ञान और अनुभव था। यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूँढें, जिसने नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना की हो और जिसने नाटकों की रचना ही नही, अपितु उन्हे रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया हो—इन सब विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार हिन्दी मे ही नहीं—समस्त विश्व-साहित्य में केवल दो-चार ही मिलेंगे, और उन सबमें भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा होगा। उनके नाटकों मे जीवन और कला, सौन्दर्य और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वाभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे उच्चकोटि के नाटककार की केवल कुछ उपेक्षणीय दोषों के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास जैसे आलोचक ने भर्त्सना की है। भारतेन्दु द्वारा लिखे गए गम्भीर आलोचनात्मक ग्रन्थ—'नाटक' को उन्होंने किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित घोषित कर दिया, जबकि इस ग्रन्थ की भूमिका में भारतेन्दु ने स्पष्ट रूप से इसे स्वरचित स्वीकार किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा व उनके प्रभाव से उस युग के अनेक लेखक नाट्य-रचना में प्रवृत्त हुए। श्री निवासदास ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी', राधाकृष्णदास ने 'दु:खिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप', खंगबहादुरलाल ने 'भारत-ललना', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य', तोताराम वर्मा ने 'विवाह-बिडम्बन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत-दुर्दशा रूपक' और राधाचरण गोस्वामी ने 'तन-मन-धन, श्री गोसाईंजी के अर्पण' आदि नाटक लिखे। इन नाटकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ही प्रवृत्तियों का अनुकरण हुआ है। प्रायः सभी में समाज-सुधार, देश-

प्रेम या हास्य-विनोद की प्रवृत्ति मिलती है। इनमें गद्य खड़ीबोली में तथा पद्य ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत नाटकों के अनेक शास्त्रीय लक्षणों की इनमें उपेक्षा की गई है। भाषा पात्रों के अनुरूप रखी गई है। शैली में सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं। वस्तुतः भारतेन्दु-युग का नाटक-साहित्य जनता के बहुत समीप था तथा वह 'लोक-रंजन' एवं 'लोक-रक्षण'—दोनों के तत्त्वों से युक्त रहा है। उसने पाठ्य और दृश्य—दोनों रूपों मे तत्कालीन लोक-हृदय का अनुरंजन किया।

(ख) **प्रसाद-युग**—आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य के दूसरे प्रभावशाली नेता जयशंकर प्रसाद हुए। यद्यपि भारतेन्दु युग की समाप्ति एवं जयशंकर प्रसाद के आगमन से पूर्व हिन्दी में अनेक नाटक लिखे गए, जिनमें अधिकांश संस्कृत, बंगला व अंग्रेजी से अनुवादित है, किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते। अनुवाद के माध्यम से बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव हिन्दी के नाटककारों पर पड़ा, जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। पहले जहाँ पौराणिक एवं कल्पित कथानकों को ग्रहण किया जाता था, वहाँ नए युग में ऐतिहासिक विषयों को अपनाया गया। पूर्ववर्ती समाज-सुधारक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण के स्थान पर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक चित्रण को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। अस्तु, इस परिवर्तन की सूचना सबसे पूर्व जयशंकर प्रसाद के नाटकों में मिलती है।

श्री जयशंकर प्रसाद ने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की—सज्जन (१९१० ई०), कल्याणी परिणय (१९१२), करुणालय (१९१३), प्रायश्चित्त (१९१४), राज्यश्री (१९१५), विशाख (१९२१), अजातशत्रु (१९२२), कामना (१९२३-२४), जनमेजय का नाग-यज्ञ (१९२३), स्कंदगुप्त (१९२८), एक घूंट (१९२९), चंद्रगुप्त (१९३१) और ध्रुव-स्वामिनी (१९३३)। भारतेन्दु-युग के कवियों ने देश की दुर्दशा का वर्णन बारम्बार अपनी रचनाओं में किया, जिसके प्रभाव से भारतवासियों मे करुणा, ग्लानि, दैन्य एवं अवसाद की भावना का विकास हो जाना स्वाभाविक था। ऐसी मनः-स्थिति मे समाज एवं राष्ट्र विदेशी-शक्तियों से संघर्ष करने की क्षमता से शून्य हो जाता है। अतः प्रसाद जी ने अपने देशवासियों मे आत्मगौरव, उत्साह, बल एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए अतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया। यही कारण है कि उनके अधिकांश नाटकों का कथानक उस बौद्ध-युग से सम्बन्धित है, जब कि भारत की सांस्कृतिक पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहरा रही थी। प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को प्रसाद ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है; उसमें केवल उस युग की स्थूल रेखाएँ ही नहीं मिलती, तत्कालीन वातावरण के सजीव अंकन की रंगीनी भी मिलती है। धर्म की बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा उन्होंने दर्शन की अन्तरंग गुत्थियों को स्पष्ट करना अधिक उचित समझा है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी उन्होंने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए उनमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन व विकास दिखाया है। मानव चरित्र के सत् और असत् दोनों पक्षों को पूर्ण प्रतिनिधित्व उन्होंने प्रदान किया है। नारी-रूप को जैसी महानता, सूक्ष्मता, शालीनता एवं गम्भीरता कवि प्रसाद के हाथों प्राप्त हुई है, उससे भी अधिक सक्रिय एवं तेजस्वी

रूप उसे नाटककार प्रसाद ने प्रदान किया। प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में किसी-न-किसी ऐसे नारी पात्र की अवतारणा हुई है, जो धरती के दुःखपूर्ण अन्धकार के बीच प्रसन्नता की ज्योति की भाँति उद्दीप्त है; जो पाशविकता, दनुजता और क्रूरता के बीच क्षमा, करुणा एवं प्रेम के दिव्य संदेश की प्रतिष्ठा करती है; जो अपने प्रभाव से दुर्जनों को सज्जन, दुराचारियों को सदाचारी और नृशंस अत्याचारियों को उदार लोक-सेवी बना देती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' की उक्ति प्रसाद की इन दिव्य नायिकाओं पर पूर्णतः लागू होती है।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में पूर्वी और पश्चिमी तत्त्वों का सम्मिश्रण मिलता है। जहाँ उनके नाटकों में कथावस्तु, रस, नायक, प्रतिनायक, विदूषक, शील-निरूपण, सत्य और न्याय की विजय में भारतीय नाट्य-साहित्य की परम्पराओं का पालन हुआ है, वहाँ पाश्चात्य नाटकों के संघर्ष एवं व्यक्ति-वैचित्र्य का निरूपण भी उनकी रचनाओं मे हुआ है। भारतीय नाटकों की रसात्मकता इनमें भरपूर मिलती है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटकों की सी कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी उनमें विद्यमान है। भारतीय नाटककार सुखान्त को पसन्द करते हैं—पश्चिम के कलाकार दुःखान्त को। प्रसाद ने अपने नाटकों का अन्त इस ढंग से किया है कि हम उन्हे सुखान्त भी कह सकते है और दुःखान्त भी ; न उन्हें सुखान्त कह सकते है और न दुःखान्त ही। वस्तुतः उनका अन्त एक ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना के साथ होता है, जिसमें नायक की विजय तो हो जाती है, किन्तु वह फल का उपभोग स्वयं नहीं करता; उसे वह प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के विचित्र अन्त को 'प्रसादांत' की संज्ञा दी गई है।

रंगमंच व अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में अनेक दोष मिलते है। उनका कथानक इतना विस्तृत एवं विश्रृङ्खलित सा है कि उसमें उनसे शिथिलता आ जाती है। उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओं एवं दृश्यों का आयोजन किया है, जो रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त एवं उचित नहीं। लम्बे-लम्बे स्वगत कथन एवं वार्तालाप, गीतों का अत्यधिक प्रयोग, दर्शन शास्त्र की सूक्ष्म एवं जटिल उक्तियों का समावेश, सर्वत्र संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग, वातावरण की गम्भीरता आदि बातें उनके नाटकों की अभिनेयता में बाधक सिद्ध होती हैं। वस्तुतः अपने नाटकों में प्रसाद कवि-दार्शनिक अधिक हैं, नाटककार कम। उनके नाटक विद्वानों द्वारा गम्भीर मनन की वस्तु है, जन-साधारण के सामने उनका सफल प्रदर्शन नहीं किया जा सकता।

प्रसाद-युग के अन्य नाटककारों में माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध), पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त (बरमाला, राजमुकुट आदि), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (महात्मा ईसा), मुंशी प्रेमचन्द (कर्बला, संग्राम) आदि उल्लेखनीय हैं। यह ध्यान रहे कि विषय एवं शैली की दृष्टि से इन नाटककारों में परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर है, तथा ये सभी नाटकों के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों की भी पूर्ति करते रहे हैं, अतः नाटककार के रूप में इनकी कोई विशिष्टता नहीं मिलती।

प्रसादोत्तर नाटक साहित्य

(क) ऐतिहासिक नाटक—प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ। इस क्षेत्र में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट तथा अन्य कतिपय नाटककारों ने महत्वपूर्ण योग दिया। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐंतिहासिक नाटकों में 'रक्षाबन्धन' (१९३४), 'शिव-साधना' (१९३७), 'प्रतिशोध' (१९३७), 'स्वप्न-भंग' (१९४०), 'आहुति' (१९४०), 'उद्धार' (१९४९), 'शपथ' (१९५१), 'भग्न-प्राचीर' (१९५४), 'प्रकाश-स्तम्भ' ('५४), 'कीर्ति-स्तम्भ' ('५५), 'संरक्षक' ('५८), 'विदा' ('५८), 'संवत्-प्रवर्त्तन' ('५९), 'साँपों की सृष्टि' ('५९), 'आन का मान' (१९६१) आदि को लिया जा सकता है। प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अति प्राचीन या सुदूर पूर्व के इतिहास को न लेकर प्रायः मुस्लिम-कालीन भारतीय इतिहास को लेते हुए उसके सन्दर्भ में आधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सकल प्रयास किया है। उनके विभिन्न नाटकों से राष्ट्र-भक्ति, आत्म-त्याग, बलिदान, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि भावों एवं प्रवृत्तियों की उद्दीप्ति एवं पुष्टि होती है। उन्होंने इतिहास का उपयोग रोमांस की सृष्टि के लिए नहीं, अपितु आदर्शों की स्थापना के लिए किया है। नाट्य-कला एवं शिल्प की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ प्रायः निर्दोष एवं सफल सिद्ध होती हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा इतिहास के विशेषज्ञ हैं, उनकी यह विशेषज्ञता उपन्यास और नाटक—दोनों के माध्यम से व्यक्त हुई है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'झाँसी की रानी' (१९४८), 'पूर्व की ओर' ('५०), 'वीरबल' ('५०), 'ललित विक्रम' ('५३) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वर्माजी ने सामाजिक नाटक भी लिखे हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। वर्माजी के नाटकों में कथावस्तु एवं घटनाओं पर विशेष बल मिलता है, तथा कहीं-कहीं वे अति घटना-प्रधान हो गए हैं। फिर भी दृश्य-विधान की सरलता, चरित्र-चित्रण की स्पष्टता, भाषा की उपयुक्तता एवं गतिशीलता तथा संवादों की संक्षिप्तता के कारण इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल हैं।

गोविन्दवल्लभ पंत ने अनेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। उनके 'राज-मुकुट' (१९३५), 'अन्तःपुर का छिद्र' (१९४०) आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। पहले नाटक में मेवाड़ की पन्ना धाय का पुत्र-बलिदान तथा दूसरे में वत्सराज उदयन के अन्तःपुर की कलह का चित्रण प्रभावोत्पादक रूप में किया गया है। पंतजी के नाटकों पर संस्कृत, अंग्रेजी, पारसी आदि विभिन्न परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। अभिनेयता का उन्होंने अत्यधिक ध्यान रखा है।

मूलतः अन्य क्षेत्रों से संबद्ध होते हुए भी ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में यदा-कदा प्रवेश करने वाले लेखकों की कृतियों में से यहाँ ये उल्लेखनीय हैं—**चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** के 'अशोक' (१९३५), 'रेवा' ('३८); **सेठ गोविन्ददास** के 'हर्ष' ('४२), 'शशिगुप्त'

('४२), 'कुलीनता' ('४१); **उदयशंकर भट्ट** का 'मुक्ति-पथ' ('४४), 'दाहर' ('३३), 'शक-विजय' ('४६); **सियारामशरण गुप्त** का 'पुण्य-पर्व' ('३३); **लक्ष्मीनारायण मिश्र** के 'गरुड़-ध्वज' ('४८), 'वत्सराज' ('५०), 'वितस्ता की लहरें' ('५३); **उपेन्द्र नाथ अश्क** का 'जय-पराजय' ('३७); **सत्येन्द्र** का 'मुक्ति-यज्ञ' ('३७), **सुदर्शन** का 'सिकन्दर' ('४७), **वैकुण्ठनाथ दुग्गल** का 'समुद्रगुप्त' ('४६), **जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'** का 'गौतम नन्द', **बनारसीदास करुणाकर** का 'सिद्धार्थ बुद्ध' ('५५), **जगदीशचन्द्र माथुर** का 'कोणार्क' ('५१), **देवराज दिनेश** के 'यशस्वी भोज' और 'मानव-प्रताप' ('५२), **चतुरसेन शास्त्री** का 'छत्रसाल' ('५४) आदि। कुछ लेखकों ने जीवनी-परक नाटक भी लिखे हैं, यथा—लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कवि भारतेन्दु' ('५५) तथा सेठ गोविन्ददास ने 'भारतेन्दु' ('५५), 'रहीम' ('५५) आदि की रचना की है। इन्हें भी हम ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दे सकते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों की उपर्युक्त सूची से इनकी प्रगति एवं अभिवृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि यहाँ इनके विस्तृत विश्लेषण व दिवेचन के लिए अवकाश नहीं है, किन्तु सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि इनमें इतिहास और कल्पना का सन्तुलित संयोग मिलता है। अधिकांश नाटकों में इतिहास की केवल घटनाओं को ही नहीं, अपितु उनके सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व, युगीन चेतना एवं तात्कालिक सत्य को उद्‌घाटित करने का प्रयास भी अनेक नाटककारों ने किया है। कला, शिल्प और शैली की दृष्टि से भी इनमें पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में विकास दृष्टिगोचर होता है। पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक ज्ञान, विचार एवं प्रयोग की नूतनता पर अधिक बल दिये जाने के कारण ोचकता एवं प्रभावोत्पादकता में भी न्यूनता आ गई ह।

(ख) **पौराणिक नाटक**—इस युग में पौराणिक नाटकों की परम्परा का भी विकास हुआ। विभिन्न लेखकों ने पौराणिक आधार को ग्रहण कहते हुए अनेक उत्कृष्ट नाटक प्रस्तुत किए, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है: **सेठ गोविन्ददास** का 'कर्त्तव्य' (१६३५), **चतुरसेन शास्त्री** का 'मेघनाद' ('३६); **पृथ्वीनाथ शर्मा** का 'उर्मिला' ('५०); **सद्‌गुरुशरण अवस्थी** का 'मझली रानी'; **रामवृक्ष बेनीपुरी** का 'सीता की माँ'; **गोकुलचन्द्र शर्मा** का 'अभिनय रामायण'; **किशोरीदास वाजपेयी** का 'सुदामा' (१६३६); **चतुरसेन शास्त्री** का 'राधाकृष्ण'; **वीरेन्द्रकुमार गुप्त** का 'सुभद्रा-परिणय'; **कैलाशनाथ भटनागर** के 'भीम-प्रतिज्ञा' (१६३४); और 'श्रीवत्स' (१६४१); **उदयशंकर भट्ट** के 'विद्रोहिणी अम्बा' (१६३५) और 'सगर-विजय' (१६३७); **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'** का 'गंगा का बेटा' ('४०), **डा० लक्ष्मणस्वरूप** का 'नल-दमयन्ती' ('४१); **प्रभुदत्त ब्रह्मचारी** का 'श्री शुक' ('४४); **तारा मिश्र** का 'देवयानी' ('४५); **गोविन्ददास** का 'कर्ण' ('४६); **कामनिधि शास्त्री** का 'प्रणपूर्ति' ('५०); **उमाशंकर बहादुर** का 'वचन का मोल' ('५१); **गोविन्दवल्लभ पंत** का 'ययाति' ('५१); **डा० कृष्णदास भारद्वाज** का 'अज्ञातवास' ('५२); **मोहनलाल 'जिज्ञासु'** का 'पर्वदान' ('५२); **हरिशंकर सिनहा 'श्रीवास'** का 'माँ दुर्गे' ('५३); **लक्ष्मीनारायण मिश्र** के 'नारद की वीणा' ('४६), और

'चक्र-व्यूह' ('५४), **रांगेय राघव** का 'स्वर्गभूमि का यात्री' ('५१), **मुखर्जी गुंजन** का 'शक्तिपूजा' ('५२); **जगदीश** का 'प्रादुर्भाव' (५५); **सूर्यनारायण मूर्ति** का 'महानाश की ओर' ('६०) आदि। डा० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री ने अपने शोध-प्रबन्ध में इनकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया है कि 'इनका कथानक पौराणिक होते हुए भी उसके व्याज से आज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पौराणिक चरित्रों द्वारा किसी ने कर्त्तव्य के आदर्श को पाठकों के सम्मुख रक्खा है, किसी ने किसी उपेक्षित पात्र के साथ सहानुभूति के दो आँसू बहाए है। किसी ने जाति-पाति के भेद की समस्या का समाधान ढूंढ़ा है तो किसी ने नारी के गौरव के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित किए है। अधिकांश नाटककार इन पौराणिक नाटकों द्वारा आज के जीवन को देखने लगे हैं।'....

इन नाटकों की दूसरी विशेषता है—प्राचीन संस्कृति के आधार पर पौराणिक गाथाओं के असम्बद्ध एवं असंगत सूत्रों में सम्बन्ध एवं संगति स्थापित करने का प्रयास। तीसरे, वे हमें आज के जीवन की संकीर्णताओं एवं सीमाओं से ऊपर उठाकर जीवन की व्यापकता एवं विशालता का सन्देश देते है। रंग मंच एवं नाटकीय शिल्प की दृष्टि से अवश्य इनमे अनेक नाटक दोष-पूर्ण सिद्ध होंगे, किन्तु गोविन्दवल्लभ पंत, सेठ गोविन्द-दास, लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे मँजे हुए नाटककारों ने इसका पूरा ध्यान भी रक्खा है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये नाटक विषय-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक होते हुए भी प्रतिपादन-शैली एवं कला के विकास की दृष्टि से आधुनिक है तथा वे आज के सामाजिक की रुचि एवं समस्याओं के प्रतिकूल नहीं है।

(ग) **समस्या-प्रधान नाटक**—इस युग के कल्पनाश्रित नाटकों को भी उनकी मूल प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) समस्या-प्रधान नाटक (२) भाव-प्रधान नाटक एवं (३) प्रतीकात्मक नाटक। समस्या-प्रधान नाटकों का प्रचलन मुख्यतः इब्सन, बर्नार्ड शा आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से ही हुआ है। पाश्चात्य नाटक के क्षेत्र में रोमांटिक नाटकों की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप यथार्थवादी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें सामान्य जीवन की समस्याओं का समाधान विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण से खोजा जाता है। इनमें विशेषतः यौन समस्याओं को ही लिया गया है। बाह्य द्वन्द्व की अपेक्षा इनमें आन्तरिक या मानसिक द्वन्द्व अधिक दिखाया गया है। स्वगत-भाषण, गीत, काव्यात्मकता आदि का इनमें परित्याग कर दिया गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इन्हे भी दो उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मनोवैज्ञानिक एवं (२) सामाजिक। मनोवैज्ञानिक नाटकों में मुख्यतः काम सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण यौन-विज्ञान एवं मनोविश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग में मुख्यतः लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक आते हैं। दूसरे वर्ग में आज के युग और समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग के लेखकों में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पंत के नाम उल्लेखनीय हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-प्रधान नाटकों में 'संन्यासी' (१६३१), 'राक्षस

का मंदिर' ('३१), 'मुक्ति का रहस्य' ('३२), 'राजयोग' ('३४), 'सिन्दूर की होली' ('३४), 'आधी रात' ('३७) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे थे जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। मिश्रजी के इन नाटकों में बौद्धिकतावाद, यथार्थवाद एवं फ्रायडवाद की प्रमुखता है। इब्सन, शा आदि पाश्चात्य नाटककारों की भाँति इन्होंने भी जीवन के प्रति विशुद्ध बौद्धिकतावादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए पूर्ववर्ती रोमांसवादी या भावुकतावादी दृष्टिकोण का विरोध किया है। उनके अधिकांश नाटकों में यौन सम्बन्धी प्रवृत्तियों एवं काम-समस्याओं को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। **सेठ गोविन्ददास** ने ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण भी अपने अनेक नाटकों में किया है, जिनमें से 'कुलीनता' ('४०), 'सेवा-पथ' ('४०), 'दुःख क्यों ?' ('४६), 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' ('३८), 'त्याग या ग्रहण' ('४३), 'संतोष कहाँ' ('४५), 'पाकिस्तान' ('४६), 'महत्त्व किसे' ('४७), 'गरीबी और अमीरी' ('४७), 'बड़ा पापी कौन' ('४८) आदि उल्लेखनीय है। सेठजी ने आधुनिक युग की विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण सफलतापूर्वक किया है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को न तो लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाँति विशुद्ध यथार्थवादी कहा जा सकता है और न ही सेठजी की भाँति आदर्शवादी; वे इन दोनों के बीच की स्थिति में है, अतः उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहना उचित होगा। उन्होंने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का चित्रण जहाँ यथार्थ के स्तर पर किया है, वहाँ उनके मूल में सुधार या क्रान्ति की भावना निहित है, जो आदर्शवाद की सूचक है। उनके प्रमुख नाटकों में 'स्वर्ग की झलक' ('३९), 'कैद' ('४५), 'उड़ान' ('४९), 'छठा बेटा' (४९), 'अलग-अलग रास्ते' ('५५) आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने नाटकों में नारी-शिक्षा, नारी-स्वातंत्र्य, विवाह-समस्या, संयुक्त-परिवार आदि से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर सामाजिक दृष्टि से तीखे व्यंग्य किए हैं। अनेक नाटकों में उन्होंने आधुनिक समाज की स्वार्थपरता, धन-लोलुपता, कामुकता, अनैतिकता आदि का भी चित्रण यथार्थवादी शैली में किया है। पर अश्क की नाट्य-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समस्याओं और समाधानों को उपदेशात्मक एवं गम्भीर रूप में प्रस्तुत नहीं करते, अपितु उनका निदर्शन हास्य-व्यंग्यमयी शैली में करते हैं, जिससे उनका प्रभाव और अधिक तीखा हो जाता है। रंगमंच और शैली की दृष्टि से तो उनकी तुलना किसी भी अन्य नाटककार से करना कठिन है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के अतिरिक्त सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में से भी सफलता प्राप्त की है। उनके इस वर्ग के नाटकों में से 'राखी की लाज' (१९४३), 'बाँस की फाँस' ('४७), 'खिलौने की खोज' ('५०), 'केवट' ('५१), 'नीलकंठ' ('५१), 'सगुन' ('५१), 'निस्तार' ('५६), 'देखा-देखी' ('५६) आदि प्रमुख हैं। वर्माजी ने इन नाटकों में विवाह, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, सामाजिक वैषम्य, नेताओं

की स्वार्थ-परायणता आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन प्रस्तुत किया है।

गोविन्दवल्लभ पंत के सामाजिक नाटकों में 'अंगूर की बेटी' (१९३७), 'सिन्दूर की बिन्दी' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहली रचना में मदिरा-पान के विषम एवं भयंकर परिणामों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में इस व्यसन से मुक्ति पाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। 'सिन्दूर की बिन्दी' में भ्रष्ट एवं परित्यक्त नारी की समस्या का चित्रण अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार पंतजी के नाटकों में सर्वत्र समाज-सुधार की भावना परिलक्षित होती है, किन्तु साथ ही उनमें रोचकता और कलात्मकता का भी अभाव नहीं है।

पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' (१९३८), 'अपराधी' ('३९), 'साध' ('४४) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है, जिनमें उन्मुक्त-प्रेम, विवाह तथा सामाजिक न्याय से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों को प्रस्तुत किया गया है। 'दुविधा' की नायिका स्वच्छन्द-प्रेम एवं विवाह में से किसी एक को चुनने की दुविधा से ग्रस्त दिखाई गई है। यही समस्या 'साध' में भी है। इस दृष्टि से वे लक्ष्मीनारायण मिश्र के समीप पड़ते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण मिश्रजी के दृष्टिकोण की भाँति अति यथार्थवादी नहीं है।

इस युग के अन्य सामाजिक नाटकों में **उदयशंकर भट्ट** के द्वारा रचित 'कमला' ('३९)', मुक्ति-पथ' ('४४), 'क्रान्तिकारी' ('५३); **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** का 'छाया'; **प्रेमचंद** का 'प्रेम की वेदी' ('३३), **चन्द्रशेखर पाण्डेय की** 'जीत में हार' ('४२); **जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द** का 'समर्पण' ('५०), **चतुरसेन शास्त्री** का 'पग ध्वनि' ('५२), **दयानाथ झा** का 'कर्मपथ' ('५३); **जयनाथ नलिन** का 'अवसान' **शंभूनाथ सिंह** का 'धरती और आकाश' ('५४); **अभयकुमार 'यौधेय'** का 'नारी की साधना' ('५४); **रघुवीरशरण मिश्र** का 'भारत माता' ('५४); **श्री संतोष** का 'मृत्यु की ओर'; **तुलसी भाटिया** का 'मर्यादा'; **रामनरेश त्रिपाठी** का 'पैसा परमेश्वर' आदि उल्लेखनीय है। यद्यपि इन लेखकों में से अधिकांश मूलतः नाटककार न होकर कवि या उपन्यासकार हैं, किन्तु फिर भी इन्होंने अपने युग, समाज और राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन इनमें कुशलतापूर्वक किया है। विषय-प्रतिपादन एवं नाट्य-शिल्प की दृष्टि से अधिकांश रचनाएँ सफल एवं रोचक हैं।

गीतिनाटक—कल्पनाश्रित नाटकों का दूसरा वर्ग **भावप्रधान नाटकों** का है, जिन्हें शैली की दृष्टि से सामान्यतः **'गीतिनाटक'** नाम दिया जाता है। इस वर्ग के नाटकों के लिए भाव की प्रमुखता के साथ-साथ पद्य का माध्यम भी अपेक्षित होता है। आधुनिक युग में रचित हिन्दी का पहला गीतिनाटक जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'करुणालय' (१९१२) माना जाता है। इसमें पौराणिक आधार पर राजा हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप की बलि की कथा प्रस्तुत की गई है। प्रसाद के अनन्तर एक दीर्घ समय तक गीति-नाटकों के क्षेत्र में कोई नया प्रयास नहीं हुआ, किन्तु परवर्ती युग में अनेक गीति-नाटक लिखे गए, यथा—मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा 'अनघ' (१९१२), हरिकृष्ण प्रेमी-द्वारा 'स्वर्ण-

विहान'; उदयशंकर भट्ट के द्वारा 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा' आदि; सेठ गोविन्ददास के द्वारा 'स्नेह या स्वर्ग' (१९४६); भगवतीचरण वर्मा द्वारा 'तारा' आदि। इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता उदयशंकर भट्ट को मिली है। उन्होंने अपने पात्रों की विभिन्न भावनाओं एवं उनके अन्तर्द्वन्द्व को अत्यन्त सशक्त एवं संगीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इनमें पात्रों के संवाद भी प्रायः लय और संगीत से परिपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत हुए हैं। गीति-नाटकों की परम्परा में सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' (जिनमें उनके नौ गीति-नाट्य संगृहीत हैं), डॉ० धर्मवीर भारती का 'अंधा युग', सिद्धकुमार का 'लौह देवता' आदि उल्लेखनीय हैं।

(ङ) **प्रतीकवादी नाटक**—प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा का उत्थान प्रसाद के 'कामना' (१९२७) नाटक से माना जा सकता है। इसके अनन्तर लिखे गये प्रतीकवादी नाटकों में से ये उल्लेखनीय हैं—सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्स्ना' ('३४), भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना' ('३९), सेठ गोविन्ददास का 'नवरस', कुमार हृदय का 'नक्शे का रंग' ('४१) आदि।

इधर **स्वातंत्र्योत्तर युग** के नाटककारों में से डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने भी प्रतीकात्मक नाटकों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगतियों के उद्घाटन का प्रयास किया है। उनके नाटकों में से 'मादा कैक्टस' ('५७), 'सुन्दर रस', 'दर्पण' 'करफ्यू', 'तीन आँखों वाली मछली', 'सूखा सरोवर', 'रात की रानी', 'मिस्टर अभिमन्यु' आदि उल्लेखनीय हैं।

इस युग के प्रमुख नाटककारों में स्वर्गीय **मोहन राकेश** का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'आषाढ़ का एक दिन' ('५८), 'लहरों का राजहंस' ('६३), 'आधे-अधूरे' ('५९) आदि नाटकों के माध्यम से जीवन की यथार्थता का बोध प्रस्तुत किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' संस्कृत के महाकवि कालिदास के चरित्र पर आधारित है जबकि 'लहरों का राजहंस' अश्वघोष के संस्कृत नाटक 'सौन्दरनन्द' पर आधारित है। दोनों का देश-काल प्राचीन होते हुए भी चरित्र-चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व एवं संवेदनाओं की दृष्टि से वे आधुनिक हैं। 'आधे-अधूरे' पूर्णतः कल्पनाश्रित है जिसमें नारी-पुरुष, काम, प्रेम, विवाह और परिवार की समस्याओं को चित्रित करते हुए आज के दाम्पत्य-जीवन की विषमताओं के उद्घाटन का प्रयास किया गया है। राकेश के नाटक शिल्प एवं रंगमंच की दृष्टि से भी सफल सिद्ध हुए हैं।

विगत दो दशकों में अनेक नाट्य रचनाएँ प्रकाश में आई हैं, जिनमें **नरेश मेहता** की 'सुबह के घंटे' (' ९), 'उलझन', 'दामाद', 'खंडित यात्राएँ' आदि; **विनोद रस्तोगी** की 'आजादी के बाद', 'नये हाथ' आदि, विमला रैना की 'तीन युग', रेवती शरण शर्मा की 'चिराग की लौ', 'अपनी धरती', शम्भूनाथ सिंह की 'धरती और आकाश', मन्नू भंडारी की 'बिना दीवारों के घर', ब्रजमोहन शाह की 'निरंकुश', लक्ष्मीनारायण मिश्र की 'चक्रव्यूह', 'वितस्ता की लहरें' आदि, सर्वदानन्द की 'भूमिका', चिरंजीत की 'तस्वीर उसकी' आदि उल्लेखनीय हैं। सामान्यतः इन रचनाओं में यथार्थवादी दृष्टिकोण से

जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया गया है तथा नाट्य शिल्प एवं अभिनेयता का ध्यान रखा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नाटक का विकास अनेक रूपों और अनेक दिशाओं में हुआ है फिर भी हिन्दी रंगमंच के अभाव तथा एकांकी, रेडियो-रूपकों तथा चल-चित्रों की प्रतियोगिता के कारण इसके विकास की गति मंद रही है। वैसे पिछले कुछ वर्षों में अव्यावसायिक संस्थाओं की ओर से रंगमंच के विकास का प्रयास हो रहा है जिससे नाटक का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। यदि चल-चित्रों के माध्यम से साहित्यिक नाटकों को प्रस्तुत किया जा सके तथा चल-चित्र को भी नाट्य साहित्य का अंग मान लिया जाय तो इससे दोनों की ही प्रगति सम्भव है। किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जबकि नाटककारों, फिल्म-निर्माताओं एवं दर्शकों के बीच सामंजस्य स्थापित हो। आशा है कि निकट भविष्य में ऐसा सम्भव हो सकेगा।

:: छत्तीस ::

हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास

१. उपन्यास शब्द की व्याख्या ।
२. उपन्यास शब्द का प्रचलित अर्थ ।
३. उपन्यास के तत्त्व ।
४. उपन्यास के भेद या प्रकार ।
५. उपन्यास का उद्‌भव और विकास ।
६. हिन्दी उपन्यास—(क) भारतेन्दु-युग, (ख) खत्री-गहमरी-गोस्वामी, (ग) प्रेमचन्द और उनके अनुयायी, (घ) जैनेन्द्र, जोशी, भगवतीचरण, (ङ) राहुल, यशपाल, (च) हजारीप्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, (छ) अन्य ।
७. उपसंहार ।

'उपन्यास' शब्द का मूल अर्थ है—'निकट रखी हुई वस्तु,' (उप—निकट, न्यास —रखी हुई), किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रयोग साहित्य के एक ऐसे रूप-विशेष के लिए होता है, जिसमें एक दीर्घ कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है। यद्यपि मूल अर्थ से प्रचलित अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी कुछ विद्वानों ने दोनों में संगति बैठाने का प्रयत्न किया है। एक लेखक महोदय का विचार है कि उपन्यास में जीवन को बहुत निकट प्रस्तुत कर दिया जाता है, अतः इसका यह नाम सर्वथा उचित है, किन्तु वे भूल गए हैं कि साहित्य के कुछ अन्य अंगों—जैसे कहानी, नाटक, एकांकी आदि मे भी जीवन को उपन्यास की ही भाँति बहुत समीप उपस्थित कर दिया जाता है। प्राचीन काव्य-शास्त्र में इस शब्द का प्रयोग नाटक की 'प्रतिमुख-संधि' के एक उपभेद के रूप में किया गया है। भरत मुनि ने इसके लिए 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थः' तथा 'प्रसादनम्' आदि विशेषण प्रस्तुत किए हैं,' जिनका अर्थ होता है—'किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करनेवाला तथा प्रसन्नता प्रदान करनेवाला' किन्तु यह बात साहित्य के अन्य अंगों पर भी लागू होती है। अस्तु, 'उपन्यास' शब्द का कथा-साहित्य के अंग-विशेष के लिए क्यों प्रयोग होने लग गया, तथा सबसे पूर्व किस व्यक्ति ने ऐसा किया—यह एक अनुसंधान का विषय है।

आधुनिक युग में 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी के 'नॉवेल' (novel) के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, एक दीर्घ कथात्मक गद्य रचना है। 'वह बृहत् आकार का गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया जाता है।'

के अनुसार मानव-जाति की रुचि में परिवर्तन होता जायगा, त्यों-त्यों उपन्यास का विषय भी बदलता रहेगा, अतः विषय-वस्तु के आधार पर किए गए वर्गीकरण को भी प्रत्येक युग में परिवर्तित करना पड़ेगा। इसी प्रकार उपन्यास-साहित्य के विकास के साथ-साथ उनमें नयी-नयी शैलियों का प्रयोग तथा नवीन शिल्पगत प्रवृत्तियों का विकास भी सदा होता रहेगा, अतः इनके आधार पर भी उपन्यास के भेदोपभेद को स्थायी रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। हम उपन्यास के तत्त्वों की प्रमुखता के आधार पर ही उसे इन सात वर्गों में विभाजित करना अधिक उचित समझते हैं—(१) कथावस्तु-प्रधान या घटना-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) कथोपकथन-प्रधान या संवादात्मक, (४) देश-काल-प्रधान या वातावरण-प्रधान, (५) शैली-प्रधान, (६) उद्देश्य-प्रधान या विचारात्मक अथवा समस्या-प्रधान और (७) रस-प्रधान अथवा भावात्मक। यद्यपि प्रत्येक उपन्यास में उपर्युक्त सभी तत्त्व किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहते हैं, किन्तु फिर भी लेखक के दृष्टि-कोण, युग की प्रवृत्ति, आधारभूत विषय के अनुसार प्रत्येक उपन्यास में कोई एक तत्त्व प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। हिन्दी के प्रारम्भिक तिलस्मी, ऐयारी एवं जासूसी उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता थी, तो अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में कोरी शैली का ठाठ था। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में समस्याओं की प्रमुखता थी, तो वृन्दावन-लाल वर्मा की रचनाओं में वातावरण या देश-काल की प्रमुखता है। इसी प्रकार जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि लेखकों की रचनाओं में जिन्हें 'मनोविश्लेषणात्मक' कहा गया है, मुख्यतः पात्रों के चरित्र के विश्लेषण को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। कुछ ऐसे उपन्यास भी रचे गए हैं और रचे जा सकते हैं, जिनमें कथोपकथन का बाहुल्य हो या जिनमें विचारात्मकता की अपेक्षा भावात्मक उदगारों की प्रधानता हो। अतः हम समझते हैं कि इस प्रकार का वर्गीकरण उपन्यास-कला के स्वरूप एवं उसकी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने में भी सहायक सिद्ध होगा।

उपन्यास का उद्भव और विकास

आधुनिक उपन्यास-साहित्य के रूप-विधान का विकास सबसे पहले यूरोप में माना जाता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन भारत में उपन्यास जैसी किसी विधा का प्रचार ही नहीं रहा। संस्कृत गद्य में लिखे गए पंचतन्त्र, हितोपदेश, वैताल-पंचविंशति, बृहत्कथा-मंजरी, वासवदत्ता, कादम्बरी और दशकुमार-चरित में हमें क्रमशः औपन्यासिकता का विकास मिलता है। पंचतन्त्र और हितोपदेश में पशु-पक्षियों का इतिवृत्त है, वैताल-पंचविंशति और बृहत्कथा-मंजरी में मानवीय घटनाओं का वर्णन है, किन्तु उनमें अस्वाभाविकता आ गई है, अतः आधुनिक उपन्यास से इनमें बहुत अन्तर है। कुछ विद्वानों ने 'कादम्बरी' को भारत का पहला उपन्यास माना है, यहाँ तक कि मराठी साहित्य में 'उपन्यास' का पर्यायवाची ही 'कादम्बरी' है, किन्तु हमारे विचार से यह ठीक नहीं। 'कादम्बरी' में अलौकिकता, भावात्मकता एवं आलंकारिकता का आग्रह इतना अधिक है कि उसे उपन्यास कहना, 'उपन्यास' शब्द के साथ अन्याय होगा। वस्तुतः मानवीय चरित्र के स्वाभाविक चित्रण, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन, यथार्थवादी

दृष्टिकोण एवं शैली की स्वाभाविकता की दृष्टि से 'दशकुमार-चरित' को हम भारत का पहला सफल 'उपन्यास' कह सकते हैं। इसमें अनेक स्वतन्त्र कथानकों को मूल कथावस्तु के क्षीण तन्तुओं के द्वारा परस्पर सम्बद्ध किया गया है, जो आधुनिक उपन्यास की दृष्टि से इसका यह एक बड़ा भारी दोष है; किन्तु इसके अन्य गुणों को देखते हुए यह दोष उपेक्षणीय कहा जा सकता है।

संस्कृत के कथा-साहित्य का प्रचार अरब, इराक तथा यूरोप के अनेक प्रदेशों में होता हुआ ठेठ यूनान तक हो गया। संस्कृत की अनेक कथाओं का अनुवाद मध्य-एशिया और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में हुआ, जिनके आधार पर अनेक पाश्चात्य विद्वान् यूरोप के रोमांटिक कथा-साहित्य का मूल उद्भव भारतवर्ष के कथा-साहित्य को मानते हैं। जिस प्रकार भारत से भेजी हुई रुई और ऊन को यूरोपवाले कपड़े के बढ़िया थानों में परिवर्तित करके लौटाते रहे हैं, कुछ वैसे ही भारत का प्राचीन कथा-साहित्य यूरोप के क्रमशः रोमांटिक कथा-साहित्य एवं उपन्यास का रूप धारण करके लौटा।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, उपन्यास का उद्भव यूरोप में रोमांटिक कथा-साहित्य से हुआ, जो मूलतः भारतीय प्रेमाख्यानों से प्रेरित था। रोमांटिक का अर्थ है जिसमें प्रेम और साहस का निरूपण हो। संस्कृत के 'वासवदत्ता', 'कादम्बरी' और 'दशकुमार-चरित' में प्रेम, साहस और धैर्य का ही चित्रण किया गया है। इस युग के भारतीय कथा-साहित्य में इन तत्त्वों की इतनी प्रधानता थी कि आचार्य रुद्रट ने कथा-साहित्य के लक्षण निर्धारित करते समय प्रेम और साहस को उसका आवश्यक लक्षण माना है। यूरोप में रोमांटिक उपन्यासों का प्रचार सर्वप्रथम इटली में माना जाता है। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में इटली के लेखक वोकेशियो ने 'डी केमरान' की रचना की, जो व्यंग्य और विनोद से ओत-प्रोत थी। सत्रहवीं शती में स्पेन के लेखक सरवन्ते ने 'डान क्विकजोट्' की रचना की। आगे चलकर फ्रान्स में रोमानी और यथार्थवादी कथा-साहित्य की बहुत उन्नति हुई। दूसरी ओर सत्रहवीं-अठारहवीं शती में इंगलैंड में अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, जैसे—सर फिलिप सिडनी कृत 'आर्केटिया' (१५९०), जॉन बुनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (१६८४), डेनियल डैफो का 'राबिन्सन क्रूसो' (१७१९), जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' (१७२६) आदि। आगे चलकर इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी व रूस में अनेक उच्च कोटि के उपन्यासों की रचनाएँ हुई, जिनम सेम्युअल रिचर्डसन का 'पामेला' (१७४०), हैनरी फीलिंडग का 'टाम जोन्स' (१७४९), आलिवर गोल्डस्मिथ का 'विकार ऑफ वेकफील्ड', जेन आस्टिन का 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस', सर वाल्टर स्कॉट का 'वेवर्ली नॉवेल्स', चार्ल्स डिकेन्स का 'डेविड कॉपरफील्ड', ब्रॉण्टी का 'जेन आयर', थैकरे का 'वेनिटी फेयर', जार्ज इलियट का 'एडम बीड' आदि इंगलैड में प्रकाशित हुए। फ्रान्स के उपन्यास-लेखकों में वाल्तेयर, विक्टर ह्यूगो, बालज़क, जार्ज सेण्ड, जोला, फ्लावेयर, अनातोले फ्रांस आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जर्मनी में गेटे तथा रूस में पुश्किन, गोगोल, लर्मान्तोफ, तुर्गनेव, दास्ताएव्स्की, टॉलस्टाय जैसे महान् लेखकों का आविर्भाव हुआ।

उपर्युक्त नामावली से स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के विभिन्न भागों में उपन्यास साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था, किन्तु हिन्दी में इसका आविर्भाव उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में हुआ । आधुनिक युगीन भारतीय साहित्य में उपन्यासों का विकास अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में हुआ, अतः जिन भाषा-भाषियों का अंग्रेजी से अधिक सम्पर्क था, उनमें उपन्यासों का प्रचार पहले होना स्वाभाविक था । यही कारण था कि बंगाल में उपन्यासों की रचना हिन्दी से पूर्व आरम्भ हो गई थी । बँगला के अनेक उपन्यासकारों—बंकिमचन्द्र, शरत्, रवीन्द्र आदि—का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा ।

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी साहित्य के सभी अंगों के विकास की ओर ध्यान देनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की दृष्टि उपन्यास-साहित्य पर भी पड़ी । उन्होंने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक एक उपन्यास का अनुवाद किया तथा एक मौलिक उपन्यास की भी रचना आरम्भ की जो दुर्भाग्य से पूरा नहीं हो सका । हिन्दी में सबसे पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' भारतेन्दु के जीवन काल में ही—सन् १८८२ में—प्रकाशित हो गया था, जिसकी रचना का श्रेय लाला **श्रीनिवासदास** को है । लेखक ने भूमिका में स्पष्ट किया है कि इसके लेखन में 'महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्तां वगैरह फ़ारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है ।' इससे तथा इसके ढाँचे से पता चलता है कि इसकी रचना बँगला उपन्यासों के आधार पर न होकर सीधे अंग्रेजी के उपन्यासों की प्रेरणा से हुई । 'परीक्षा-गुरु' में दिल्ली के एक सेठ-पुत्र की कहानी है, जो कुसंगति में पड़ गया था जिसका उद्धार अन्त में एक सज्जन मित्र द्वारा हुआ है । लेखक में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति अधिक होने के कारण यह रचना एक सफल उपन्यास का रूप धारण नहीं कर सकी ।

भारतेन्दु-युग के अन्य कई लेखकों ने भी उपन्यासों की रचना की, जिनमें श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती', रतनचन्द प्लीडर का 'नूतन चरित्र' (१८८३), बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान एक सुजान' (१८६२), राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय-हिन्दू' (१८६०), राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा-विपत्ति' (१८८८), कार्तिकप्रसाद खत्री का 'जया' (१८६६), बालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' आदि उल्लेखनीय है । डा० विजयशंकर मल्ल ने श्री फिल्लौरी जी के 'भाग्यवती' को हिन्दी का पहला उपन्यास घोषित किया है, किन्तु उन्होंने अपनी घोषणा की पुष्टि अपेक्षित प्रमाणों से नहीं की । इन लेखकों ने मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त बँगला के उपन्यासों के भी हिन्दी में अनुवाद किए । बाबू गदाधर सिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी', राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी' आदि ; राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जावित्री', 'मृण्मयी' आदि का अनुवाद किया । बाबू रामकृष्ण वर्मा और कार्तिकप्रसाद खत्री ने उर्दू और अंग्रेजी

के बहुत से रोमांटिक और जासूसी उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए। वस्तुतः भारतेन्दु-युग में अनूदित उपन्यासों की ही प्रधानता रही। मौलिक उपन्यासों में भी कला का विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें इतिवृत्त एवं घटनाओं की प्रधानता, चरित्र-चित्रण का अभाव, उपदेशात्मकता की भरमार एवं शैली की अपरिपक्वता दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी के मौलिक उपन्यासों के प्रचार में वृद्धि करने का श्रेय तीन लेखकों—**देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी** और **किशोरीलाल गोस्वामी** को है। खत्रीजी ने सन् १८९१ में 'चन्द्रकांता' और 'चंद्रकांता-संतति' की रचना की, जिनमें तिलस्मी और ऐयारी का वर्णन है। ये उपन्यास इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि कई लोगों ने केवल इन्हें पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। गहमरीजी ने एक 'जासूस' नामक पत्र निकाला, जिसमें पाँच दर्जन से भी अधिक जासूसी उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। उनके उपन्यासों का मूलाधार अंग्रेजी के जासूसी उपन्यास होते थे। गोस्वामीजी ने भी 'उपन्यास' पत्रिका निकाली, जिसमें उनके ६५ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित हुए। गोस्वामीजी के उपन्यासों का विषय सामाजिक था। किन्तु उनमें कामुकता और विलासिता का चित्रण अत्यधिक था। अस्तु, लेखक-त्रय की ये रचनाएँ कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त साधारण कोटि की हैं। इनमें प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं की भरमार है।

खत्री, गहमरी और गोस्वामी की सम्मिलित त्रिवेणी और प्रेमचन्द के बीच की सीमा को मिलानेवाले श्री हरिऔध, लज्जाराम मेहता एवं कुछ अनुवादक हैं। हरिऔधजी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' लिखकर आई० सी० एस० के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी मुहावरों की पाठ्य-पुस्तक का अभाव पूरा किया, तो दूसरी ओर मेहताजी ने 'आदर्श हिन्दू' और 'हिन्दू गृहस्थ' लिखकर सुधारवाद की पताका लहराई।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६ ई०) के पदार्पण के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास मानो किसी अविकसित कलिका की भाँति मौन, निस्पन्द एवं चेतनाहीन सा हो रहा था, दिवाकर की प्रथम रश्मियों की भाँति प्रेमचन्द की पावन कला का पुनीत स्पर्श पाकर मानो वह जग उठा, खिल उठा और मुस्कराने लगा। राजा-रानियों और सेठ-सेठानियों के महलों की चारदीवारी में बन्द रहनेवाला कथानक जनसाधारण की लोक-भूमि में उन्मुक्त रूप से विचरण करने लगा। लौह-मूर्तियों की भाँति स्थिर रहनेवाले या कठ-पुतलियों की भाँति लेखकों के मौन-संकेतों पर अस्वाभाविक गति से दौड़ने-फुदकनेवाले पात्र मांसल, सजीव और व्यक्तित्व-सम्पन्न होकर सामान्य मनुष्यों के रूप में आत्म-प्रेरणा से परिचालित होते दिखाई पड़ने लगे। इसी प्रकार कथोपकथन, देश-काल, शैली, उद्देश्य, रस आदि अन्य औपन्यासिक तत्त्वों का विकास प्रथम बार प्रेमचन्दजी की कृतियों में हुआ। उन्होंने केवल सस्ते मनोरंजन के स्थान पर जीवन की ज्वलंत समस्याओं को अपनी कला का लक्ष्य बनाया। यही कारण है कि उनके प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी सामयिक समस्या का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है; जैसे सेवा-सदन (१९१८) में

वेश्याओं की, रंगभूमि (१६२८) में शासक वर्ग के अत्याचारों की, प्रेमाश्रम (१६२१) में किसानों की, कर्म-भूमि (१६३२) में हरिजनों की, निर्मला (१६२२) में दहेज और वृद्ध-विवाह की, ग़बन (१६३१) में मध्यवर्ग की आर्थिक विषमता की और गोदान (१६३६) में पुनः किसान, मजदूर के शोषण की। प्रेमचन्दजी के प्रारम्भिक उपन्यासों में आदर्शवादिता अधिक होने के कारण उनमें कहीं-कहीं काल्पनिकता और अस्वाभाविकता अधिक आ गई है, किन्तु आगे चलकर वे पूरे यथार्थवादी बन गए, जिसका प्रमाण गोदान में मिलता है। जहाँ प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने समस्याओं के समाधान का गाँधीवादी ढंग से प्रयत्न किया है, वहाँ उनके अन्तिम उपन्यासों—निर्मला, गोदान—आदि में केवल समस्या को प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लिया गया है।'

प्रेमचन्दजी के अनन्तर हिन्दी में शताधिक उच्चकोटि के उपन्यासकारों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न विषयों पर लेखनी उठाई। इनको हम अनेक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। **प्रथम वर्ग** वे में लेखक आते हैं, जिन्होंने सामाजिक समस्याओं का चित्रण करते हुए प्रेमचन्दजी की परम्परा को आगे बढ़ाया। इस वर्ग में जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', आदि उल्लेखनीय हैं। श्री जयशंकर प्रसाद जी ने 'कंकाल' में भारतीय नारी-जीवन की दुर्दशा पर प्रकाश डाला है। उनके अन्य उपन्यास 'तितली' में नारी-हृदय की महानता का उद्घाटन हुआ है। कौशिकजी ने 'माँ' और 'भिखारी' में भी नारी की सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला है। 'उग्र' जी लेखक के रूप में सचमुच उग्र हैं—उन्होंने 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुवा की बेटी' आदि में सभ्य-समाज की भीतरी दुर्बलताओं, अनीतियों और घृणित प्रवृत्तियों का उद्घाटन आवेगपूर्ण एवं धड़ल्लेदार शैली में किया है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने विधवाश्रमों की ओट में 'हृदय की प्यास' बुझानेवालों की खबर ली है। उनकी 'गोली' देशी रियासतों के शासकों की घृणित विलासिता को नग्न रूप में प्रस्तुत करती है। शास्त्रीजी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं, जिनकी चर्चा आगे की जायगी। अश्कजी के उपन्यासों—मुख्यतः 'गिरती-दीवारें'—में मध्यवर्गीय समाज की बाह्य एवं आंतरिक परिस्थितियों का उद्घाटन यथार्थवादी शैली मे हुआ है। विवाह सम्बन्धी सामाजिक रूढ़ियों के कारण होनेवाली आधुनिक युवक-युवतियों के प्रणय की असफल परिणति पर उन्होंने 'चेतन' के माध्यम से प्रकाश डाला है। सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखे जानवाले इन सभी उपन्यासों की शैली में प्रायः सरलता और स्वाभाविकता का आग्रह मिलता है।

दूसरे वर्ग में चरित्र-प्रधान उपन्यास-रचयिताओं को रखा जा सकता है। श्री जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा व श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने विभिन्न मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषण-कर्त्ताओं के सिद्धान्तों के अनुकूल अपने औपन्यासिक पात्रों के चरित्र को सूक्ष्मतापूर्वक चित्रित किया है। चरित्र-चित्रण को इनमें इतनी अधिक प्रमुखता प्राप्त हुई है कि उसके समक्ष अन्य तत्त्व गौण हो गए हैं। ऐसी स्थिति में इनमें सामाजिक परिस्थितियों के स्थान पर व्यक्ति की मानसिक

प्रवृत्तियों के विश्लेषण को विस्तार मिलना स्वाभाविक था। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में 'सुनीता', 'परख', 'सुखदा', 'त्यागपत्र', 'विवर्त्त' आदि उल्लेखनीय हैं। उनके अधिकांश उपन्यासों में पति-पत्नी एवं अन्य पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का चित्रण किया गया है। इनमें प्रायः एक-सा ही चित्रण उपस्थित किया गया है। इनकी नायिका प्रायः विवाहिता होती है, जो वैयक्तिक कुण्ठाओं के कारण अपने सम्पर्क में आने वाले किसी अन्य प्रभावशाली व्यक्ति की ओर आकर्षित होती है। नायिका का पति इस स्थिति से परिचित होता हुआ भी, उसे चुपचाप सहन कर लेता है। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका पति को छोड़कर नव-परिचित से सम्बन्ध स्थापित कर लेगी, किन्तु अन्त तक जाते-जाते जैनेन्द्रजी परिस्थिति को सँभाल लेते हैं। कदाचित् वे यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि पत्नी को अन्य व्यक्तियों से मिलने-जुलने की जितनी अधिक स्वतंत्रता दी जाए, उतनी ही उसके चरित्र में दृढ़ता एवं सबलता आती है। वस्तुतः उनके उपन्यासों में शैली की सरलता के साथ-साथ शुष्कता, भावात्मकता के साथ-साथ बौद्धिकता आवश्यकता से अधिक है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सुबह के भूले', 'मुक्ति-पथ' आदि में चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं वैयक्तिक परिस्थितियों का ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है, किन्तु जैनेन्द्रजी की भाँति शुष्क कथानक नहीं है। उनके पास प्रत्येक उपन्यास में प्रस्तुत करने के लिए नये-नये कथानक हैं, नयी-नयी समस्याएँ हैं, अतः उन्हें एक ही वस्तु को बार-बार दोहराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक ओर उनके पास कल्पना का वैभव है तो दूसरी ओर अनुभूतियों का संचित कोष—जिसके बल पर वे अपनी रचनाओं को सौन्दर्य और रस से भरपूर करने में समर्थ हैं। जैनेन्द्रजी के उपन्यास यदि पेंसिल से बनाए हुए 'रफ स्केच' सदृश हैं, तो जोशीजी की रचनाएँ रंग-बिरंगी सूक्ष्म रेखाओं से सजे हुए सुन्दर चित्र हैं। जिस जटिल दार्शनिकता पर जैनेन्द्रजी गर्व कर सकते हैं, उससे जोशीजी के उपन्यास शून्य हैं, किन्तु जोशीजी की भावनाओं का तारल्य, भाषा का प्रवाह और शैली की प्रौढ़ता आज के किसी भी उपन्यासकार के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन सकती है। किन्तु अपनी कुछ रचनाओं में वे दार्शनिकता-प्रिय आलोचकों से प्रशंसा पाने के निमित्त या उन्हें केवल विद्यार्थियों के काम की वस्तु बनाने के लोभ से उस शुष्क सिद्धान्त-निरूपण में भी पड़ गए हैं, जो उपन्यास की औपन्यासिकता का ह्रास कर देते हैं—'सुबह के भूले', 'मुक्ति-पथ' आदि रचनाएँ ऐसी ही हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष', 'आखिरी दाँव', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भी मनोविश्लेषण को प्रमुखता दी है। दूसरी ओर अज्ञेय जी ने 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' में यौन प्रवृत्तियों का चित्रण सूक्ष्म, जटिल एवं गम्भीर शैली में किया है, जो सामान्य पाठक के हृदय को शान्ति प्रदान करने की अपेक्षा उसके मस्तिष्क को कुरेदने में सहायक सिद्ध होता है।

तृतीय वर्ग में साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए उपन्यासों को स्थान दिया जा

सकता है। श्री राहुल सांकृत्यायन की 'सिंह सेनापति', 'वोल्गा से गंगा' और श्री यशपाल की 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'झूठा सच' आदि रचनाओं में वर्ग-वैषम्य का चित्रण करते हुए सामाजिक क्रान्ति का समर्थन किया गया है।

चतुर्थ वर्ग में देशकाल-प्रधान या ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक कथानकों की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान बहुत पहले चला गया था, किशोरीलाल गोस्वामी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे, किन्तु उनमें ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं मिलता। इस क्षेत्र की उत्कृष्ट रचनाओं में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू', श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'वाणभट्ट की आत्म-कथा' और 'चारु चंद्रलेख', यशपाल की 'दिव्या' आदि हैं, जिनमें सम्बन्धित युग के सम्पूर्ण वातावरण को प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को चरम विकास तक पहुँचा देने का श्रेय श्री वृन्दावनलाल वर्मा को है। आपने 'गढ़-कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' और 'मृगनयनी' का प्रणयन किया है, जिनमें इतिहास के अनेक विस्मृत प्रसंगों को नव-जीवन प्राप्त हुआ है। विशेषतः 'मृगनयनी' में ऐतिहासिकता और औपन्यासिकता, तथ्य और कल्पना, भाव और शैली का सुन्दर समन्वय मिलता है। नवीनतम ऐतिहासिक उपन्यासों में डॉ० रांगेय राघव का 'अंधा रास्ता', सुनामी का 'भगवान् एकलिंग' आदि उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यासों का एक नया वर्ग '**आंचलिक उपन्यासों**' का भी और विकसित हो रहा है। इनमे किसी अंचल या प्रदेश-विशेष के वातावरण को सजीव रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', उदयशंकर भट्ट का 'लोक परलोक', बलभद्र ठाकुर के 'आदित्यनाथ', 'मुक्तावती', 'नैपाल की वो बेटी', श्यामू संन्यासी का 'उत्थान', तरन-तारन का 'हिमालय के आँचल' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें लोक-संस्कृति, लोक-गीतों एवं लोक-शव्दावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी उपन्यास की प्रगति तीव्र गति से हुई है। पिछले पच्चीस वर्षों में अनेक नये और पुराने उपन्यासकारों की शताधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश मे आई हैं। इस युग के लेखकों में **अमृतलाल नागर** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने 'महाकाल', 'सेठ बाँके लाल', 'बूंद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'अमृत और विष', 'मानस का राजहंस' आदि मे मानवतावादी दृष्टि से समाज के विभिन्न पक्षों का चित्रण मार्मिक रूप में किया है। इसी वर्ग में **राजेन्द्र यादव** को स्थान दिया जा सकता है जिन्होंने 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग', 'शह और मात' आदि उपन्यासों में दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन की अनुभूतियों को प्रस्तुत किया है। **मोहन राकेश** के 'अँधेरे बंद कमरे', 'न आने वाला कल' आदि उपन्यासों में उच्च शिक्षित व्यक्तियों के जीवन की कुंठाओं को सफलतापूर्वक व्यक्त किया गया है।

सामाजिक दृष्टिकोण से समस्याओं का विश्लेषण करने वाले उपन्यासकारों में से **नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृत राय, मन्मथनाथ गुप्त** प्रभृति की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस युग में प्रकाश में आई हैं जिनमें नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची',

'बलचनमा', 'दुखमोचन', 'उग्रतारा' आदि; भैरवप्रसाद गुप्त की 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा' आदि; अमृत राय की 'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दाँत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मन्मथनाथ गुप्त ने 'काजल की कोठरी', 'बहता पानी' आदि में क्रान्तिकारी जीवन के अनुभवों का चित्रण किया है। वस्तुतः इन लेखकों ने व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व की अपेक्षा सामाजिक विषमताओं के उदघाटन पर अधिक बल दिया है।

मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण को प्रमुखता देने वाले नये उपन्यासकारों में डा० देवराज, डा० प्रभाकर माचवे, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, नरेश मेहता, गिरिधर गोपाल, यादवचन्द्र जैन प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। **डा० देवराज** ने 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'अजय की डायरी' 'मैं, वे और आप' में नारी-पुरुष सम्बन्धों का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। **डा० प्रभाकर माचवे** के 'द्वाभा' और 'साँचा'; **डा० लक्ष्मीनारायण लाल** के 'बया का घोंसला और साँप', 'धरती की आँखें', 'काले फूल का पौदा'; **नरेश मेहता** के 'डूबते मस्तूल' 'धूमकेतु : एक श्रुति', 'यह पथ बंधु था'; **गिरिधर गोपाल** के 'चाँदनी का खंडहर', यादवचन्द्र जैन के 'पत्थर पानी' में विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व का विश्लेषण सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है।

नवोदित उपन्यासकारों में से **श्रीलाल शुक्ल** का 'राग दरबारी', राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' और 'टोपी शुक्ला' तथा शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' उल्लेखनीय हैं। महिला उपन्यासकारों में से मन्नू भंडारी ('आपका बंटी'), ऊषा प्रियंवदा ('रुकोगी नहीं राधिका'), मेहरुन्निसा परवेज ('आँखों की दहलीज़'), कृष्णा सोबती ('सूरजमुखी अँधेरे के') आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महिला लेखिकाओं में शिवानी ने भी अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे है जिनमें नारी-जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है। उनका 'चौदह फेरे' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उपलब्धियाँ और अभाव—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य आज अनेक दिशाओं में बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है। हिन्दी का उपन्यास-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से विशाल, व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण है। अतः अब तक की प्रगति पर हम संतोष कर सकते है, किन्तु भविष्य की ओर देखने पर थोड़ी आशंका भी होती है। स्वतंत्रता के बाद से हमारे साहित्यकार अतियथार्थवादिता, प्रयोगशीलता एवं नूतनता की प्रवृत्तियों से बुरी तरह ग्रस्त होते जा रहे हैं। यह बात कथा-साहित्य के रचयिताओं पर भी लागू होती है। हमारे विचार से अतियथार्थवाद या नग्न यथार्थवाद उस रंगीन मिठाई की तरह से आकर्षक, लुभावना एवं स्वादिष्ट है, जिसे खाने के बाद हैजा हो जाने का भय रहता है। अवश्य ही नग्नता, अश्लीलता और कामुकता भी जीवन का एक पक्ष है, किन्तु हमें अपनी दृष्टि उसी तक सीमित नहीं कर लेनी चाहिए। यदि हमारे साहित्यकार अपने युग और समाज की नग्न तस्वीर देने के साथ-साथ स्वस्थ जीवन-दृष्टि, असंतुलित दृष्टिकोण एवं व्यापक जीवन-दर्शन भी दे सकें, तो इससे उनकी कला में सौन्दर्य के साथ-साथ औदात्य का भी संचार हो सकता है। यदि वे जीवन को केवल भोगने के साथ-साथ खुली दृष्टि से उसे देखने-पढ़ने का भी प्रयास करें तथा अपने आपको काफी-हाउसों के वातावरण से बाहर निकालकर अतीत की महान् परम्पराओं

कृत्रिम विकास प्रस्तुत किया जाता था, जबकि आधुनिक कहानियों में ऐसा होता है। उनमें देश-काल के वातावरण का भी चित्रण अपेक्षित नहीं था। वस्तुतः प्राचीन कहानी में अलौकिकता, अस्वाभाविकता, आदर्शवादिता एवं काल्पनिकता का आग्रह अधिक था, जबकि आधुनिक कहानी में लौकिकता, स्वाभाविकता, यथार्थवादिता एवं विचारात्मकता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन कहानी स्वर्ग-लोक की कल्पना थी, जबकि आधुनिक कहानी हमें धरती के सुख-दुःख का स्मरण कराती है।

हिन्दी में विकास

हिन्दी गद्य में कहानी शीर्षक से प्रकाशित होनेवाली सबसे पहली रचना 'रानी केतकी की कहानी' है, जो सन् १८०३ ई० में लिखी गई। इसके अनन्तर राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' के 'राजा भोज का सपना', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'अद्भुत-अपूर्व स्वप्न' का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें कहानी की सी रोचकता मिलती है। आधुनिक ढंग की कहानियों का आरम्भ आचार्य शुक्ल ने 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन काल से माना है। इन्होंने प्रारम्भिक कहानियों का विवरण इस प्रकार दिया है—(१) इंदुमती—किशोरीलाल गोस्वामी (१९०० ई०), (२) गुलबहार—किशोरीलाल गोस्वामी (१९०२), (३) प्लेग की चुड़ैल—मास्टर भगवानदास (१९०२), (४) ग्यारह वर्ष का समय—रामचन्द्र शुक्ल (१९०३), (५) पंडित और पंडितानी—गिरजादत्त बाजपेयी (१९०३), (६) दुलाईवाली—बंग-महिला (१९०७)। ये सभी कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। इस प्रकार हिन्दी के प्रथम कहानीकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त प्रारम्भिक कहानीकारों के अनन्तर हिन्दी में अनेक उच्चकोटि के लेखकों–जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि का आविर्भाव हुआ। प्रसाद जी (१८८९-१९३७) की प्रथम कहानी 'ग्राम' सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् आपने समय-समय पर अनेक कहानियाँ लिखीं। आपके कहानी-संग्रह 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुए है। उनकी आरम्भिक कहानियों पर बँगला का प्रभाव है, किन्तु बाद में वे अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। उनके दृष्टिकोण में भावात्मकता की रंगीनी होने के कारण उनकी कहानियाँ भो इसी से ओत-प्रोत है। उनमें भावनाओं का सूक्ष्म चित्रण, वातावरण की सघनता एवं शैली की गम्भीरता अधिक है, स्थूल समस्याओं एवं सरल विचारों का प्रतिपादन उनमें कम हुआ है। उनकी कुछ कहानियों में ऐतिहासिक कथानकों को लिया गया है। किन्तु फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रसाद की कहानियों में रहस्यवाद की अस्पष्टता, दर्शन की जटिलता एवं विचारों की दुरूहता के कारण मनोरंजन की मात्रा कम हो गई है। वस्तुतः नाटकों की भाँति उनकी कहानियाँ भी विद्वान् पाठकों के चिन्तन की वस्तु हैं।

मुंशी प्रेमचन्द के द्वारा रचित कहानियों की संख्या तीन सौ से अधिक है, जो 'मानसरोवर' के आठ भागों में संगृहीत हैं। उनके कुछ स्फुट संग्रह—सप्त सरोज, नव-

निधि, प्रेम-पचीसी, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-तीर्थ, सप्त-सुमन आदि शीर्षकों से भी प्रकाशित हुए हैं। प्रेमचन्दजी पहले उर्दू में लिखते थे—उनका उर्दू में लिखा हुआ प्रसिद्ध कहानी-संग्रह 'सोजे-वतन' सन् १९०७ में प्रकाशित हुआ था जो स्वातन्त्र्य भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। सन् १९१६ में उनकी हिन्दी में रचित प्रथम कहानी 'पंच-परमेश्वर' प्रकाशित हुई। उनकी कहानियों मे 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्र-पात', 'रानी सारंधा', 'अलग्योझा', 'ईदगाह', 'पूस की रात', 'सुजान भगत'. 'कफन', 'पं० मोटेराम' आदि अधिक विख्यात है।

प्रेमचन्दजी की कहानियों में जन-साधारण के जीवन की सामान्य परिस्थितियों, मनोवृत्तियों एवं समस्याओं का चित्रण मार्मिक रूप से हुआ। वे साधारण-से-साधारण बात को भी मर्म-स्पर्शी रूप में प्रस्तुत करने की कला मे सिद्ध-हस्त थे। प्रसादजी की रहस्यात्मकता, जटिलता एवं दार्शनिकता से वे मुक्त है। उनकी शैली मे ऐसी सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता मिलती है, जो पाठक के हृदय को उद्वेलित करने में समर्थ हो सके। उनकी सभी कहानियाँ सोद्देश्य है—उनमे किसी-न-किसी विचार या समस्या का अंकन हुआ है, किन्तु इससे उनकी रागात्मकता मे कोई न्यूनता नहीं आई। भाव और विचार, कला और प्रचार का सुन्दर समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रेमचन्द का कहानी-साहित्य है।

केवल तीन कहानियाँ लिखकर ही अमर हो जानेवाले कहानीकार श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का हिन्दी कहानी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। उनकी प्रथम कहानी 'उसने कहा था' सन् १९१५ में प्रकाशित हुई थी, जो अपने ढग की अनूठी रचना है। इसमें किशोरावस्था के प्रेमांकुर का विकास, त्याग और बलिदान से ओत-प्रोत पवित्र भावना के रूप में किया गया है। कहानी का अन्त गम्भीर एवं शोकपूर्ण होते हुए भी इसमें हास्य और व्यंग्य का समन्वय इस ढंग से किया गया है कि उसमें मूल स्थायी-भाव को कोई ठेस नहीं पहुँचती। विभिन्न दृश्यों के चित्रण में सजीवता, घटनाओं के आयोजन मे स्वाभाविकता एवं शैली की रोचकता—सभी विशेषताएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। कहानी की प्रथम पंक्ति ही पाठक के हृदय को पकड़कर बैठ जाती है, और जब तक वह पूरी कहानी नहीं पढ़ लेता, उसे छोड़ती नहीं, तथा जिसने एक बार कहानी को पढ़ लिया, वह 'उसने कहा था' वाक्य को कदाचित् जीवन-भर भूल नहीं पाता। क्या भाव, क्या विचार, क्या शिल्प और क्या शैली—सभी की दृष्टि से यह कहानी एक अमर कहानी है। गुलेरीजी की दूसरी कहानी 'सुखमय जीवन' भी पर्याप्त रोचक एवं भावोत्ते-जक है। इसमें एक अविवाहित युवक के द्वारा विवाहित जीवन पर लिखी गई पुस्तक को लेकर अच्छा विवाद खड़ा किया गया है, जिसकी परिणति एक अत्यन्त रोचक प्रसंग में हो जाती है। 'बुद्धू का काँटा' भी अच्छी कहानी है।

उर्दू से हिन्दी में आनेवाले लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८९१-१९४६) भी उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षा-बन्धन' सन् १९१३ में प्रकाशित

हुई थी। विचारधारा की दृष्टि से 'कौशिक' जी प्रेमचन्द की परम्परा में आते हैं, उन्होंने भी समाज-सुधार को अपनी कहानी-कला का लक्ष्य बनाया। उनकी कहानियों की शैली अत्यन्त सरस, सरल एवं रोचक है। उनकी हास्य और विनोद से परिपूर्ण कहानियाँ 'चाँद' में 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' के रूप में प्रकाशित हुई थीं। उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं जो 'कल्प-मंदिर', 'चित्रशाला' आदि में संगृहीत हैं। पं० बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' (जन्म—१८९६) का भी महत्त्व कहानी-कला के क्षेत्र में 'कौशिक' जी के तुल्य माना जाता है। उनकी प्रथम कहानी 'हार की जीत' सन् १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, तब से आपके अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्प-लता', 'गल्प-मंजरी', 'सुप्रभात' 'चार कहानियाँ', 'नगीना', 'पनघट' आदि। उन्होंने अपनी कहानियों में भावनाओं एवं मनोवृत्तियों का चित्रण अत्यन्त सरल और रोचक शैली में किया है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का प्रवेश हिन्दी कहानी-जगत् में सन् १९२२ में हुआ। आपकी उग्रता के प्रभाव को आलोचकों ने 'उल्कापात' 'धूमकेतु', 'तूफान' या 'बवंडर' की उपमा दी है, इसी से आपकी कला के विद्रोही रूप का अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में राजनीतिक परिस्थितियों, सामाजिक रूढ़ियों और राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाली प्रवृत्तियों के प्रति गहरा विद्रोह व्यक्त किया। उनमे वीभत्सता एवं अश्लीलता भी आ गई है, किन्तु उनका उद्देश्य जीवन की इस कुरूपता का प्रचार करना नहीं, अपितु उसका अन्त करना है। उनके कहानी-संग्रह 'दोजख की आग', 'चिनगारियाँ', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' आदि प्रकाशित हुए हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी अपनी कहानियों मे सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है, किन्तु उनकी शैली मे 'उग्र' जी की सी उग्रता नहीं है। 'उग्र' जी की सी यथार्थवादिता भी उनमें नहीं मिलती। उनकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' और 'अक्षत' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'ककड़ी की कीमत' आदि हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य का दूसरा युग जैनेन्द्रकुमार के आगमन से आरम्भ होता है। आपने स्थूल समस्याओं के स्थान पर सूक्ष्म मनोविज्ञान का चित्रण किया है। उन्होंने हिन्दी कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की। किन्तु उन्होंने सामान्य मानव की सामान्य परिस्थितियों को न लेकर असामान्य मानव की असामान्य परिस्थितियों से प्रभावित मानसिक-प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया। उनका दृष्टिकोण समाजवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी, भौतिकवादी की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक है। उनके पास विषय-सामग्री का अभाव है। प्रायः वे एक ही बात का पिष्टपेषण अपनी अनेक रचनाओं में करते रहते हैं। घटनाओं की अपेक्षा उन्होंने चरित्र-चित्रण एवं शैली को अधिक महत्त्व दिया है। आपकी कहानियों के संग्रह वातायन, स्पर्धा, फाँसी, पाजेब, जय-संधि, एक रात, दो चिड़ियाँ आदि हैं।

श्री ज्वालादत्त शर्मा ने बहुत थोड़ी संख्या में कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु हिन्दी जगत् में उनका अच्छा स्वागत हुआ। उनकी कहानियों में 'भाग्य-चक्र', 'अनाथ बालिका'

आदि उल्लेखनीय हैं। जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने अपनी कहानियों में करुण-रस की अभिव्यक्ति मौलिक ढंग से की है। उनके कहानी-संग्रह 'किसलय', 'मृदुदल', 'मधुमयी' आदि प्रकाशित हुए हैं। मार्मिकता की दृष्टि से 'द्विज' की कहानियों का बहुत ऊँचा स्थान है। श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' का दृष्टिकोण आदर्शवादी था। उनकी कहानियों में हमें सेवा, त्याग, बलिदान, आत्म-शुद्धि आदि उच्च भावनाओं का चित्रण मिलता है। उनमें भावुकता का प्राधान्य है। उनके कहानी-संग्रह 'नन्दन-निकुंज', 'वनमाला' आदि नामों से प्रकाशित हुए हैं।

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त की कहानियों में यथार्थ की कटुता और कल्पना की रंगीनी का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनमें प्रणय-भावनाओं का चित्रण मधुर रूप में हुआ है। उधर सियारामशरण गुप्त ने कविता की भाँति कहानी के क्षेत्र में भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। उनकी सबसे अच्छी कहानी 'झूठ-सच' है, जिसमें आधुनिक युगीन यथार्थवादी लेखकों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। कहानी-कला की दृष्टि से भी यह रचना बेजोड़ है। उनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संगृहीत हैं।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने कहानी की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में अधिक ख्याति अर्जित की है। उनकी कहानियों में भी कल्पना और इतिहास का समन्वय मिलता है। 'कलाकार का दंड' संग्रह में उनकी कई कहानियाँ संगृहीत हैं। वर्माजी की शैली में सरलता और स्वाभाविकता होती है।

हिन्दी कहानी के तीसरे युग में जैनेन्द्रजी द्वारा प्रवर्तित मनोविश्लेषण की परम्परा का विकास हुआ। श्री भगवतीप्रसाद बाजपेयी ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन किया है। उनके अनेक कहानी-संग्रह—'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'खाली बोतल' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी कहानियों में 'मिठाईवाला', 'झाँकी', 'त्याग', 'वंशी-वादन' आदि उत्कृष्ट कोटि की मानी गई हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने कहानी के क्षेत्र में असाधारण सफलता प्राप्त की है। उनमें विश्लेषण की गम्भीरता के साथ-साथ मार्मिकता और रोचकता का गुण भी मिलता है। उनके कहानी-संग्रह 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेंट', 'दो बाँके' आदि उल्लेखनीय हैं। श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने साहित्य में मनोविश्लेषण की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया है। विपथगा, परम्परा, कोठरी की बात, जयदोल आदि उनके सुन्दर कहानी-संग्रह हैं। इसी परम्परा में इलाचन्द्र जोशी के 'रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'दीवाली और होली' आदि कहानी-संग्रह आते हैं। जोशीजी ने मनोविज्ञान के सत्यों का उद्घाटन अन्य लेखकों से अधिक मर्मस्पर्शी रूप में किया है।

सामाजिक विषयों को लेकर कहानी लिखनेवाले लेखकों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम उल्लेखनीय है। उनकी कहानियों में पिंजरा, पाषाण, मोती, दूलो, मरुस्थल, गोखरू, खिलौने, चट्टान, जादूगरनी, चित्रकार की मौत आदि बहुत लोकप्रिय हुई हैं। 'अश्क' जी विषय-वस्तु, शैली एवं रोचकता की दृष्टि से प्रेमचन्दजी की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। श्री यशपाल ने अपनी कहानियों में आधुनिक समाज की विषमताओं

पर व्यंग्य किया है। उनकी कहानियों में 'पराया सुख', 'हलाल का टुकड़ा', 'ज्ञानदान', 'कुछ न समझ सका', 'जबरदस्ती', 'बदनाम' आदि उल्लेखनीय है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और रमाप्रसाद 'पहाड़ी' का हिन्दी कहानी के क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है। आपकी कहानियों के द्वारा कहानी-कला का विकास हुआ है। विद्यालंकार जी के कहानी-संग्रह 'चन्द्रकला', 'अमावस' तथा पहाड़ी जी के 'सड़क पर', 'मौली', 'बरगद की जड़ें' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में हास्य-रस की कहानियाँ लिखनेवालों में श्री जी० पी० श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, 'बेढब बनारसी', अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग चुगताई और जयनाथ 'नलिन' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में 'पिकनिक', 'भडामसिंह शर्मा', 'गुदगुदी', 'लतखोरीलाल' आदि महत्व-पूर्ण है। उनका हास्य साधारण स्तर का है। 'बेढब बनारसी' और अन्नपूर्णानन्दजी की रचनाओं में अधिक परिष्कृत रुचि का हास्य मिलता है। अन्नपूर्णानन्दजी की कहानियों में 'महाकवि चच्चा', 'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला' उल्लेखनीय हैं। मिर्जा जी ने 'गीदड़ का शिकार', 'लेफ्टिनेन्ट', 'कोल-तार' आदि कहानियाँ लिखीं। 'नलिन' जी के कहानी-संग्रह में 'नवाबी सनक', 'शतरंज के मोहरे' 'जवानी का नशा', 'टीलों की चमक' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि में महिला लेखिकाओं ने भी कम योगदान नहीं किया। सुभद्राकुमारी चौहान, उमा नेहरू, शिवरानी देवी, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मलिक, कमलादेवी वर्मा, चन्द्रप्रभा, तारा पांडेय, चन्द्रकिरण सौन-रिक्सा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्पा महाजन, विद्यावती शर्मा आदि ने बहुत सी कहानियाँ लिखी है। इनकी कहानियों में प्रायः पारिवारिक जीवन और हिन्दू समाज में नारी की दारुण स्थिति के चित्र है, फिर वे जीवन के उस गरिमामय द्वन्द्व को भी उस व्यापक दृष्टि से नहीं आँक सकी हैं, जैसा कि विश्व की महान् कहानी-लेखिकाओं ने किया है।

नयी कहानी

सन् १९५० से हिन्दी कविता की भाँति हिन्दी कहानी के क्षेत्र में भी अति यथार्थ-वादी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन एवं विकास हो रहा है। 'नयी कविता' की भाँति 'नयी कहानी' का नारा बुलन्द करते हुए नवोदित कथाकार नग्न यथार्थ का चित्रण स्वच्छन्द रूप से अपनी कहानियों में कर रहे हैं। आधुनिकता, समसामयिकता न्यूनता आदि आकर्षक शब्दों की ओट में अपनी भोगवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को अवगुंठित करने के प्रयास में ये संलग्न हैं। उनके पास निजी दृष्टिकोण एवं वैयक्तिक मान्यताओं का अभाव है, इसलिए स्वदेश और विदेश की प्रत्येक नवोदित प्रवृत्ति के अन्धानुकरण के लिए वे सदा प्रस्तुत रहते हैं, एक ही लेखक किसी समय एक प्रवृत्ति से ग्रस्त दिखाई पड़ता है तो दूसरे क्षण किसी दूसरी से। जो लेखक कुछ समय पूर्व प्रगतिशीलता के गुण गाता हुआ दिखाई पड़ता था। अब नग्न यौनवाद के प्रवाह में बहता हुआ, प्रतिक्रियावादी साहित्य की रचना में निरत दिखाई पड़ता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने इस प्रवृत्ति को फैशन का

नाम देते हुए बताया है कि हिन्दी कहानी में किस प्रकार एक के बाद एक नये-नये फैशन प्रचलित हो रहे हैं। कभी अश्लील कहानियों का फैशन चलता है, तो कभी आंचलिक कहानियों का और कभी सैक्स तथा सिम्बलिज्म का। वस्तुतः नये कहानीकारों में सुदृढ़ आस्था, स्वस्थ जीवन दर्शन एवं व्यापक जीवन-दृष्टि का नितान्त अभाव है, वे वासना की संकीर्ण घाटियों और विलासिता की खंदक में फँसकर प्रगति की राह से विमुख होते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह स्थिति न केवल इन साहित्यकारों व साहित्य-जगत के लिए, अपितु समाज के लिए भी घातक है।

नये कहानीकारों को भी विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में राजेन्द्र यादव (कहानी संग्रह—'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'एक पुरुष एक नारी' आदि), मोहन राकेश (संग्रह—'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी' आदि), धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, अमरकान्त (जिन्दगी और जोंक), डा० लक्ष्मीनारायण लाल, रमेश वक्षी, शैलेश मटियानी, नरेश मेहता, मन्नू भंडारी, प्रभृति कहानीकार आते है, जिन्होंने मुख्यतः शहरी मध्यवर्गीय जीवन की आन्तरिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। इनका दृष्टिकोण अति यथार्थवादी, तथा लक्ष्य यौन विकृतियों, कुंठाओं, अभावों आदि के चित्रण का रहा है। शिल्प और शैली के क्षेत्र में भी इन्होंने नूतनता पर बल दिया है। दूसरे वर्ग में फणीश्वरनाथ 'रेणु' (संग्रह—'ठुमरी'), राजेन्द्र अवस्थी तृषित (संग्रह—'गंगा की लहरें'), मार्कण्डेय (महुआ ग्राम के जंगल), शिवप्रसाद सिंह ('इन्हे भी इन्तजार है') शेखर जोशी आदि को स्थान दिया जा सकता है। इन्होंने आंचलिक पृष्ठभूमि पर ग्रामीण जीवन को अंकित करने का प्रयास किया है। तीसरे वर्ग में हास्य-व्यंग्यमयी कहानियों के लेखकों को स्थान दिया जा सकता है, जिनमें केशवचन्द्र वर्मा, श्रीलाल शुक्ल, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शान्ति मेहरोत्रा आदि का नाम उल्लेखनीय है। चतुर्थ वर्ग ऐसे लेखकों का है, जिन्होंने व्यापक प्रगतिशील दृष्टि से जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया है। इस वर्ग में कृष्णचन्द्र (संग्रह 'गरजन की एक शाम' 'काला सूरज' 'घूंघट में गोरी जले'), अमृतराय (संग्रह—'भोर से पहले', 'तिरंगे कफन', 'नूतन आलोक', भैरवप्रसाद गुप्त प्रभृति को स्थान दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अनेक कहानीकार ऐसे भी हैं जिन्हे किसी एक विशिष्ट वर्ग में स्थान नहीं दिया जा सकता, यथा—विष्णु प्रभाकर, सत्यपाल आनन्द, कृष्ण बलदेव बैद आदि।

इधर सातवें दशक में 'नयी कहानी' के विरुद्ध भी अनेक छोटे-बड़े संप्रदाय खड़े हुए हैं, जो 'अकहानी', 'सचेतन कहानी', 'समकालीन कहानी', 'प्रभाववादी कहानी', 'सक्रिय कहानी', 'लघु कहानी' आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'अकहानी' पश्चिम की 'एन्टी पोइट्री' एवं 'एन्टी स्टोरी' से प्रेरित है जिसमें अनास्था मूलक प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। 'सचेतन कहानी' आन्दोलन के प्रवर्त्तकों ने मानवतावादी मूल्यों, आस्था-मूलक प्रवृत्तियों एवं स्वस्थ जीवन दृष्टिकोण का लक्ष्य अपनाया था, किन्तु व्यवहार में वे ऐसा नहीं कर पाये। इस वर्ग में डा० महीपसिंह, मनहर चौहान कुलभूषण, रमेश

गौड़, हिमांशु जोशी, सुदर्शन चोपड़ा, सुरेन्द्र मल्होत्रा, जगदीश चतुर्वेदी, वेद राही, धर्मेन गुप्त, देवेन्द्र गुप्त (स्वर्गीय), योगेन्द्रकुमार लल्ला, राजीव सक्सेना, देवेन्द्र सत्यार्थी जैसे अनेक प्रतिभाशाली लेखक सम्मिलित हैं। इसी प्रकार 'समकालीन कहानी', 'प्रभाववादी कहानी', 'सक्रिय कहानी' 'लघु-कहानी' आदि शीर्षक हिन्दी कहानी के क्षेत्र में आत्म-स्थापना के लिए किये गये विभिन्न लघु प्रयासों के सूचक हैं। हर वर्ग या गुट अपने अलग लेबिल से अपना अस्तित्व प्रमाणित करना चाहता है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इनमें परस्पर अधिक अन्तर नहीं है।

हिन्दी कहानी-क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाली अन्य नयी प्रतिभाओं में कृष्णा सोबती, रजनी पनिकर, पुष्पा जायसवाल, उषा प्रियम्वदा, विजय चौहान, सलमा सिद्दीकी, सोमा वीरा, मेहरुन्निसा परवेज, शान्ति मेहरोत्रा, इन्दुबाली प्रभृत्ति लेखिकाओं तथा डा० वीरेन्द्र महेन्दीरत्ता (संग्रह—'शिमले की क्रीम', 'पुरानी मिट्टी नये साँचे') प्रयाग शुक्ल, रघुवीर सहाय, दूधनाथसिंह, सुरेन्द्रपाल, गिरिराज, धर्मेन्द्र गुप्त, रवीन्द्र कालिया, मृत्युञ्जय उपाध्याय, अवधनारायण सिंह, निर्मल वर्मा, रामकुमार, अमरकान्त, मार्कण्डेय, ठाकुरप्रसाद सिंह, बलवन्त सिंह, गंगाप्रसाद विमल, परेश आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अस्तु, अब तक के पर्यालोचन से स्पष्ट हैं कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रतिभाओं का अभाव नहीं है, किन्तु जीवन मे किसी व्यापक लक्ष्य एवं उदात्त मूल्यों के अभाव में उपन्यास की भाँति कहानी का क्षेत्र भी संकीर्ण एवं सीमित होता जा रहा है। उसमें मुख्यतः मध्यवर्गीय शहरी जीवन के कलुषित, अस्वस्थ एवं कुंठाग्रस्त रूप का ही उद्घाटन अधिक हो रहा है, अन्य वर्ग और अन्य पक्ष उपेक्षित हो रहे हैं। आंचलिकता के फैशन ने अनेक कहानीकारों का ध्यान ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित किया है, किन्तु जैसा कि उपेन्द्रनाथ अश्क ने स्पष्ट किया है, ग्रामीण जीवन के वास्तविक अनुभवों के अभाव में लेखकों को उसके चित्रण में बहुत कम सफलता मिली है। अश्कजी के शब्दों में 'देहात की कटु यथार्थता से इन कथाकारों को कोई प्रयोजन नहीं था। देहात में कैसे अत्याचार-अनाचार हो रहे है, इससे भी कोई इन्हे गरज नहीं थी। देहात की उस धरती में उन्होंने शहर के पेचीदा मन वाले लोग बसा दिए।' वस्तुतः विषय-वस्तु की दृष्टि से तथाकथित 'नयी कहानी' एक ऐसे वर्ग के कहानीकारों के व्यक्तित्व, चरित्र एवं जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है, जिनका जीवन घर के बंद दरवाजों, कालेज की दीवारों, शहर की गलियों और नगर के मदिरालयों में बीता है, जिनकी जीवन-यात्रा काफी हाउसों से लेकर पत्र-सम्पादकों के कार्यालयों तक सीमित हैं, जिनकी सबसे बड़ी समस्या दमित वासना, सैक्स की भूख, सुन्दर प्रेयसियों की चाह और भोगी हुई पत्नियों का तलाक है, जिनका आदर्श फ्रायड, सार्त्र और कामू है; जो रहते है भारत में, किन्तु स्वप्न लंदन की रात या पेरिस के मध्यान्ह का लेते है तथा काफी का प्याला, सिगरेट का धुआँ और सम्पादक का मनीआर्डर ही जिनकी रचनाओं का सबसे बड़ा प्रेरणा-स्रोत है। ऐसी स्थिति में उनसे किसी गंभीर अनूभूति, व्यापक अनुभव एवं बड़े सत्य की आशा करना व्यर्थ है।

विषय-क्षेत्र की भाँति शैली की दृष्टि से भी नयी कहानी में अनेक ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं। साहित्य की अन्य विधाओं से कहानी के सबसे बड़े वैशिष्ट्य कथातत्त्व का ह्रास होता जा रहा है। जिस प्रकार रस-विहीन कविताएँ और सिद्धान्त-शून्य आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं, उसी प्रकार कथाशून्य कहानियाँ लिखने के भी प्रयोग किए जा रहे हैं। वे कहानी कम एवं रेखाचित्र, डायरी, पत्र या निबन्ध अधिक दिखाई देती हैं। रचना-शैली में कलात्मक चातुर्य, साज-सज्जा एवं परिष्कार को त्याज्य घोषित करते हुए स्वच्छन्द एवं निर्बाध अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। सरल उपमाओं के स्थान पर अस्पष्ट बिम्बों, दुरूह प्रतीकों तथा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। ये सब प्रवृत्तियाँ कहानी को प्रगति की ओर ले जा रही हैं या दुर्गति की ओर, यह चिन्तनीय है। फिलहाल इन सारी दूषित-प्रवृत्तियों का समर्थन करने के लिए 'आधुनिकता', 'नूतनता', 'कलात्मकता', 'नयी संवेदना', 'आधुनिक बोध' जैसे लुभावने विशेषणों का आश्रय लिया जा रहा है, पर दूसरी ओर अनेक प्रतिभाशाली एवं प्रगतिशील कहानीकार, आलोचक एवं पत्र-सम्पादक इस स्थिति के प्रति सावधान भी हैं—अतः आशा की जा सकती है कि इसमें शीघ्र ही सुधार होगा।

:: अड़तीस ::

हिन्दी निबंध : स्वरूप और विकास

१. 'निबन्ध'—परिभाषा ।

२. निबन्ध—स्वरूप और लक्षण ।

३. निबन्ध के भेदोपभेद ।

४. निबन्ध की शैली के भेद ।

५. हिन्दी में विकास—(अ) भारतेन्दु युग, (आ) द्विवेदी युग, (इ) शुक्ल युग, (ई) शुक्लोत्तर युग ।

६. उपसंहार ।

मूलतः 'निबन्ध' शब्द का अर्थ 'रोकना' या बाँधना है तथा इसके पर्यायवाची के रूप में 'लेख', 'संदर्भ', 'रचना', 'प्रस्ताव' आदि का उल्लेख किया जाता है, किन्तु आजकल इसका प्रयोग लैटिन के 'एग्जीजियर' (निश्चिततापूर्वक परीक्षण करना) से व्युत्पन्न 'ऐसाई' (फ्रेंच) व 'ऐसे' (अंग्रेजी Essay) के अर्थ में होता है। आधुनिक साहित्य में 'निबन्ध' की विधा का विकास भी बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा से हुआ है, अतः इसके स्वरूप को स्पष्ट रूप में हृदयंगम करने के लिए पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई विभिन्न परिभाषाओं पर दृष्टिपात कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा। आधुनिक निबन्ध के जन्मदाता मौनतैन् महोदय का कथन है—"निबन्ध विचारों, उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है।" दूसरी ओर जानसन महोदय के मत में "निबन्ध मन का आकस्मिक और उच्छृंखल आवेग—असम्बद्ध और चिन्तनहीन बुद्धि-विलास मात्र" है। क्रेवल नामक एक पाश्चात्य विद्वान् ने निबन्ध की उपहासपूर्ण ढंग से व्याख्या करते हुए लिखा है—'निबन्ध लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है और न ज्ञान-बुद्धि की जिज्ञासा, वही निबन्ध लेखन में प्रवृत्त होता है तथा विविधता तथा हल्की रचनाओं में आनन्द लेने वाला पाठक ही उसे पढ़ता है।" वस्तुतः प्रारम्भिक निबन्धों में असम्बद्धता, उच्छृंखलता एवं हल्कापन होता था, जिसका उल्लेख इन परिभाषाओं में किया गया है, किन्तु आगे चलकर निबन्ध भी एक विचार-प्रधान, सुसम्बद्ध एवं प्रौढ़ रचना के रूप में विकसित हो गया; इसीलिए बेकन, लौक्स व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे विचार प्रकाशन का एक गम्भीर साधन माना है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि निबन्ध में दो रूप मिलते हैं—एक असम्बद्ध और चिन्तनहीन विचारों से समन्वित और दूसरा गम्भीर विचारों की प्रौढ़ अभिव्यक्ति के रूप में; अतः इनमें से किस रूप को स्वीकार किया जाय—यह विचारणीय है। हमारे विचार से उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। यदि निबन्ध सर्वथा असम्बद्ध और उच्छृंखल विचारों से समन्वित हुआ, तो पागल के प्रलाप में और उसमें कोई अन्तर

नहीं रह जायगा; दूसरी ओर गूढ़ विचारों का लेखा होने की स्थिति में निबन्ध और दर्शन-शास्त्र में भी कोई भेद न रह जायगा। व्यापक अर्थ में राजनीतिक, सामाजिक, अर्थशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषयों के प्रतिपादक लेख को भी निबन्ध कहते हैं, किन्तु क्या उन्हें निबन्ध के संकुचित अर्थ—साहित्यिक निबन्ध—के अन्तर्गत स्थान दे सकते थे ? निबन्ध को हम साहित्य (संकुचित अर्थ में काव्य) का एक अंग मानते हैं और साहित्य का एक अनिवार्य तत्व है—भाव तत्व। इसी भाव तत्व के आधार पर ही हम इतिहास और साहित्य में अन्तर मानते हैं। अत: साहित्यिक निबन्ध में विचारों का प्रतिपादन करते हुए भी उसमें भावोत्तेजन की क्षमता होनी आवश्यक है। निबन्धों में भावोत्तेजना का यह गुण तभी आ सकता है, जबकि इनमें रचयिता के व्यक्तित्व का जीवित स्पर्श हो, उनमे उनकी अनुभूतियों का प्रकाशन हो और उनकी शैली में रोचकता हो। निबन्ध में विचार होते हैं, किन्तु वे मस्तिष्क के शुष्क चिन्तन पर ही आधारित नहीं होते। उनके पीछे हृदय की तरल रागात्मकता भी होती है। अस्तु, साहित्यिक निबन्ध के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) वैयक्तिक अनुभूतियों से समन्वित विचारों का प्रतिपादन, (२) पाठक के मस्तिष्क को ही नहीं, उसके हृदय को भी गुदगुदाने की क्षमता, (३) साहित्यिक गुणों से समन्वित शैली। कुछ लोगों का विचार है कि गम्भीर निबन्ध केवल मस्तिष्क को ही छूते है, हृदय को नहीं, किन्तु ऐसी बात नहीं। साहित्य की श्रेणी में आनेवाले निबन्ध चाहे कितने ही गम्भीर या गम्भीर विषय पर क्यों न हो, वे हमारे हृदय की भाव-वीचियों को अवश्य उद्वेलित करते हैं। वे औत्सुक्य, चिता, वितर्क, विबोध, हर्ष आदि संचारियों को उद्दीप्त करते हुए उस भाव-दशा का विकास करते हैं, जिसे रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने 'शांत-रस' कहा है। बौद्धिक विषयों की भावात्मक अनुभूति या पूर्ण तन्मयता का नाम ही शान्त-रस है, जो उत्कृष्ट साहित्यिक निबन्धों के द्वारा प्राप्य है।

प्रश्न है, क्या साहित्यिक निबन्धों का विषय भी साहित्यिक होना आवश्यक है ? इस उत्तर में हम कहेंगे कि यदि निबन्ध-लेखक विषय का प्रतिपादन साहित्यिक ढंग से करता है, तो साहित्येतर विषयों पर लिखे गए निबन्ध भी साहित्यिक बन सकते हैं, जबकि शुष्क वैज्ञानिक शैली में लिखे गए साहित्यिक विषयों के लेख भी साहित्यिक नहीं कहे जा सकते। स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखे गए 'शिव-शंभु के चिट्ठों' की मूल प्रेरणा राजनीतिक होते हुए भी वे विशुद्ध साहित्य के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं, जबकि हमारे कुछ विद्वानों द्वारा शुष्क शैली में लिखे गए अनेक जटिल साहित्यिक निबन्ध भी साहित्यिकता से शून्य हैं।

यद्यपि निबन्ध को किसी परिभाषा में बाँधना या उसके लिए कुछ नियमों का निर्धारित करना संभव नहीं, फिर भी विद्वानों ने उसके सामान्य लक्षण निश्चित करने का प्रयास किया है। डाक्टर गुलाबराय जी ने निबन्ध के ये पाँच लक्षण निश्चित किए है—(१) निबन्ध एक गद्य रचना के रूप में लिखा जाता है। (२) निबन्ध में लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की झलक होती है। (३) निबन्ध में अपूर्णता और स्वच्छन्दता के होते हुए भी वह स्वतः पूर्ण होता है। (४) निबन्ध में व्यक्ति के एक दृष्टिकोण का प्रतिपादन

होता है। (५) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। निबन्ध के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी निबन्धकार' में लिखा है कि निबन्ध का कोई निश्चित विषय नहीं होता। सभी स्थानों पर निबन्ध स्वतन्त्रता से विचरण कर सकता है। 'सबै भूमि गोपाल की जा में अटक कहा' वाली बात निबन्ध के विषय मे स्वतःसिद्ध है। निबन्ध में महत्व विषय का नहीं, उस आत्मा का है जो बोल रही है, उन प्राणों का है जो उसमें सक्रिय है। निबन्ध नमक-मिर्च पर भी लिखा जा सकता है और कृष्ण महाराज की कपड़े की कंगाली पर भी, जो फुटपाथों पर पड़ी अनेक द्रौपदियों को एक इच कपड़ा भी नहीं दे सकती। निबन्ध के स्वरूप की दूसरी विशेषता है—आकार-लघुता। निबन्ध सामान्यतः पन्द्रह-बीस पृष्ठों के आकार का होता है। अधिक बड़ा निबन्ध, निबन्ध न होकर प्रबन्ध हो जायगा। तीसरी विशेषता है—निबन्ध मन के स्वाधीन विचरण एवं चिन्तन पर आधारित होता है। इसी को दूसरे शब्दों मे लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना कह सकते हैं। चौथी विशेषता है—निबन्ध की शैली में संक्षिप्तता, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता का होना। वस्तुतः डॉ० गुलाबराय जी के निर्धारित लक्षणों व प्रो० नलिन द्वारा उल्लिखित विशेषताओं में अन्तर नही है। अतः निबन्ध की ये विशेषताएँ बहुमत से स्वीकृत मानी जा सकती है।

निबन्ध की विषय-वस्तु के वर्णन, विवेचन, प्रकटीकरण आदि के आधार पर उसके सामान्यतः चार भेद किए जाते है—(१) वर्णनात्मक, (२) विवरणात्मक, (३) विचारात्मक और (४) भावात्मक। वर्णनात्मक निबन्धों में प्रायः भूगोल, यात्रा, वातावरण, ऋतु, तीर्थ-दर्शनीय स्थान, मेले-तमाशे, पर्व-त्योहार, सभा-सम्मेलन आदि विषयों का वर्णन होता है जबकि विवरणात्मक में किसी वृत्तान्त या घटना का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। वर्णनात्मक निबन्धों मे दृश्यों का चित्रण अधिक होता है, जबकि विवरणात्मक मे घटनाओं का। वर्णनात्मक में स्थानगत वर्णन होता है, जबकि विवरणात्मक मे कालगत; दूसरे शब्दों में वर्णनात्मक निबन्ध में अधिकतर स्थिर क्रियाहीन पदार्थ का चित्र रहेगा, जबकि विवरणात्मक मे क्रियाशीलता का। अतः वर्णनात्मक और विवरणात्मक मे मोटा भेद घटनात्मकता या कथात्मकता का होता है। विचारात्मक निबन्धों मे किसी विचारधारा, सामाजिक, साहित्यिक या राजनीतिक समस्या का अथवा किसी नवीन तथ्य आदि का प्रतिपादन, विवेचन, विश्लेषण या स्पष्टीकरण होता है। भावात्मक निबन्धों में लेखक की शैली में भावुकता अधिक होती है। वैसे विचारात्मक एवं भावात्मक दोनों में ही विचार और भावना का अंश किसी न किसी रूप से अवश्य होता, है, किन्तु एक में बौद्धिकता अधिक होती है, जबकि दूसरे में उसकी हार्दिकता को प्रमुखता प्राप्त होती है। इन चारों प्रकार के ही निबन्धों में क्रमशः लेखक से सम्बन्धित किसी दृश्य, घटना, विचार या भावना का चित्रण होता है और यही विशेषता इन सबको एक ही शीर्षक के अन्तर्गत बँधे रहने के लिए विवश करती है।

निबन्ध में प्रयुक्त की जानेवाली शैली के भी अनेक भेद किए गए हैं, जैसे—

समास शैली, व्यास शैली, धारा-शैली, विक्षेप-शैली आदि। सामान्यतः वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निबन्धों में व्यास शैली का, विचारात्मक में समास शैली का तथा भावात्मक में धारा शैली, तरंग शैली एवं विक्षेप शैली का प्रयोग होता है। किन्तु यह नियम दृढ़ता से लागू नहीं होता।

हिन्दी में विकास

हिन्दी में निबन्ध का आविर्भाव आधुनिक युग में ही हुआ। इसके कारण स्पष्ट हैं। एक तो इससे पूर्व गद्य का ही विकास नहीं हुआ था। दूसरे, पूर्ववर्ती साहित्यकारों का लक्ष्य मुख्यतः अपनी भावानुभूतियों का ही प्रकाशन था, विचारों की अभिव्यंजना करना कम था। तीसरे, निबन्धों के प्रचार के साधनों—मुद्रण-यंत्र, समाचार-पत्र आदि का भी प्रचलन आधुनिक युग में हुआ और चौथे, मध्ययुग में उस सामाजिक और राजनीतिक चेतना का भी उन्मेष नहीं हुआ था, जिसने भारतेन्दु युग के निबन्धों में प्राण फूंके। भारतेन्दु युग में हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, ब्राह्मण, सार-सुधा-निधि, प्रदीप आदि पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ, जिनसे हिन्दी निबन्ध के विकास में पर्याप्त योग मिला। भारतेन्दु युग से लेकर अब तक के निबन्ध-साहित्य को प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने चार युगों में बाँटा है—भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग, (३) प्रसाद युग और (४) शुक्लोत्तर-युग। हमारे विचार से अन्तिम दो युगों का यह नामकरण ठीक नहीं है। प्रसाद जी ने कुछ निबन्ध अवश्य लिखे थे, किन्तु फिर भी निबन्धकार के रूप में उनका महत्त्व अधिक नहीं। वस्तुतः 'प्रसाद युग' को 'शुक्ल युग' एवं प्रगतिवाद-युग को 'शुक्लोत्तर-युग' कहना ही निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में अधिक उपयुक्त होगा।

१ भारतेन्दु युग (१९३०-६० वि०) के प्रमुख निबन्धकारों में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु हरिचन्द्र मात्र एक साहित्यकार नहीं थे, अपितु साहित्यकार के विराट् रूप थे। उन्होंने कविता, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि सभी रूपों का विकास ही नहीं किया, अपितु उनमे उन विशेषताओं और प्रवृत्तियों का समन्वय भी किया जो उस युग में सम्भव थीं। कविता और नाटक की भाँति उनके निबन्धों का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज, यात्रा, प्रकृति-वर्णन, आत्मचरित, व्यंग्य-विनोद आदि सभी विषयों पर इस महामानव ने कलम उठाई है। काश्मीर-कुसुम, उदय-पुरोदय, कालचक्र, बादशाह-दर्पण-आदि निबन्धों में उस युगावतार की सूक्ष्म ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय मिलता है, तो वैद्यनाथ धाम, हरिद्वार और सरयूपार की यात्रा सम्बन्धी लेखों में उनका भारतीय संस्कृति एवं भारत-भूमि के प्रति अनुराग छलक रहा है। आचार्य शुक्ल ने एक बार घोषित किया था कि भारतेन्दु में प्रकृति प्रेम नहीं है, किन्तु यदि वे इनके प्रकृति-सम्बन्धी निबन्धों को ध्यान में रखते तो उन्हें ऐसी बात कहने का साहस नहीं होता। पूरा निबन्ध नहीं, उसकी कुछ पंक्तियाँ मात्र इस भ्रम का निराकरण कर देंगी—"ठण्डी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी। दूर से

धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला। कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुई और कहीं चारों ओर से उन पर जलधारा-पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे।" यात्रा-सम्बन्धी निबन्धों में भी उनकी भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का स्रोत बीच-बीच में फूट पड़ा है—"गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत। अब तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म लें तब ही संसार में सुख मिले।"

भारतेन्दु जी ने अनेक निबन्धों में तत्कालीन धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओं पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है; 'लेवी प्राण लेवी', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'ज्ञाति विवेकिनी सभा', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्तोत्र', 'कंकड़ स्तोत्र' आदि निबन्ध इसी कोटि के हैं। 'कंकड़ स्तोत्र' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"कंकड़ को प्रणाम है। देव नहीं महादेव, क्योंकि काशी के कंकड़ शिव शंकर के समान हैं।....आप अंग्रेजी राज्य में भी गणेश-चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिरधारा से नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देते हो। अतएव, हे अंग्रेजी राज्य में नवाबी स्थापक! तुमको नमस्कार है।" यहाँ हिन्दुओं की मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना पर जो व्यंग्य किया गया है, वह मोठा होता हुआ भी कबीर की उक्तियों से अधिक प्रभावशाली है।

भारतेन्दु के निबन्धों में विषय के अनुरूप विभिन्न प्रकार की भाषा-शैलियों का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा में मार्मिक अभिव्यंजना, विदग्ध वाग्मिता, सजीव अनेकरूपता और मन-मोहक स्वच्छता मिलती है। उसमें कहीं स्वाभाविक अलंकार-योजना है तो कहीं गोष्ठी-वार्तालाप का ढंग अपनाया गया है। उनके आलोचनात्मक निबन्धों, 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ है, किन्तु फिर भी उसमें दुरूहता, दुर्बोधता, कृत्रिमता और समासात्मकता दृष्टिगोचर नहीं होती। अस्तु, विषय और शैली—दोनों की ही दृष्टि से भारतेन्दु का निबन्ध-साहित्य महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु युग के अन्य निबन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र एवं बालमुकुन्द गुप्त का बहुत ऊँचा स्थान है। भट्टजी 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे, और उनकी लेखनी से वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार के निबन्ध प्रसूत हुए हैं। कुछ निबन्धों के शीर्षक से ही उनके विषय-क्षेत्र की व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है—'मेला-ठेला', 'वकील', सहानुभूति', 'आशा', 'खटका' 'इंगलिश पढ़े तो बाबू होय!', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय मुछन्दर', 'आत्म-निर्भरता', 'माधुर्य', 'शब्द की आकर्षण शक्ति' आदि। भट्टजी के निबन्धों से विचारों की मौलिकता, विषय की व्यापकता, शैली की रोचकता आदि सभी गुण विद्यमान हैं।

'ब्राह्मण' के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र ने भी विभिन्न विषयों पर लेख लिखे। कभी 'भौं', 'दाँत', 'पेट', 'मुच्छ', 'नाक' आदि पर मिश्रजी की विनोदिनी

लेखनी चली, तो कभी उसने 'बुद्ध', 'प्रताप-चरित', 'दान', 'जुआ', 'अपव्यय' जैसे विषयों पर प्रकाश डाला। एक ओर उन्होंने 'नास्तिक', 'ईश्वर की मूर्ति', 'शिव मूर्त्ति' 'सोने का डंडा', 'मनोवेग' आदि विषयों पर लिखा, तो दूसरी ओर 'समझदार की मौत है', 'टेढ़ जान शंका सब काहू', 'घूरे के लत्ता बिनै', 'कनातन क डोल बाँधै', 'होली है अथवा होरी है' जैसी उक्तियों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। मिश्रजी के निबन्धों में मुहावरों का प्रयोग भी अत्यधिक मात्रा में हुआ है, कहीं-कहीं तो वे एक वाक्य में ही अनेक मुहावरों की झड़ी लगा देते हैं—"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है।"

एक विद्वान् ने लिखा है—"भाषा में स्खलन, शैली में घरूपन और ग्रामीणता, चंचलता और उछल-कूद मिश्रजी की विशेषता है। भाषा सम्बन्धी दोष जहाँ-तहाँ लापरवाही से बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं वाक्य का विलक्षण और दुर्बोध रूप भी मिलता है। उर्दू के एक-दो शब्द भी परदेशी की तरह डरे-डरे से दीख पड़ते हैं। 'तेग़-अदा', 'कमाने अब्र', 'निहायत' आदि 'भौं' में मिल जाएँगे। 'पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निन्दा की जाय ?' का अर्थ टेढ़ी खीर है। विराम चिन्ह तब प्रयुक्त ही अधिक नहीं होते थे। इन्होंने तो उनका जैसे बहिष्कार ही कर रखा हो। इनके अभाव में वाक्य कभी इतना लम्बा हो जाता है, कि समझने में उसे बार-बार पढ़ना पड़ता है।" (हिन्दी निबन्धकार पृ० ८७)

भारतेन्दु के मित्र चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' दो पत्रों—'आनन्द कादम्बिनी' (मासिक) और 'नागरी-नीरद' (साप्ताहिक)—के सम्पादक थे। इन पत्रों में उनके अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए, जैसे—'हिन्दी भाषा का विकास', 'परिपूर्ण प्रवास,' 'उत्साह-आलम्बन,' आदि। 'प्रेमघन' जी की भाषा में आलंकारिकता, कृत्रिमता और चमत्कारोत्पत्ति का प्रयास मिलता है। एक बार उन्होंने शुक्लजी की एक पंक्ति को सुधारकर यह रूप दिया—"दोनों दलों की दल-दली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।" दलपति का विचार दलदल में फँसा या नहीं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'प्रेमघन' जी की भाषा इस कृत्रिमता के दलदल में फँसी रही।

बालमुकुन्द गुप्त एवं राधाचरण गोस्वामी—भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग को मिलानेवाली दो कड़ियों के सदृश हैं। गुप्तजी ने 'बंगवासी', 'भारत मित्र' आदि का संपादन करते हुए अनेक निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों में विदेशी शासकों की नीति पर मीठा व्यंग्य किया गया। 'शिव-शम्भु' के उपनाम से उन्होंने अनेक निबन्ध लिखे जो 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' प्रसिद्ध है। इनमें लार्ड कर्जन को सम्बोधित करके भारतवासियों की राजनीतिक विवशता को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य बड़ा तीखा हो गया है। होली के अवसर पर लिखे गए चिट्ठे में वे लिखते हैं—"कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, धूप नहीं, चन्द्र है, चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिव-शम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक

सकता है, उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती।...माई लार्ड के मुख चन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं है।" इस प्रकार राधाचरण गोस्वामी के निबन्ध भी व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने अपने युग की सामाजिक कुरीतियों पर तीखा व्यंग्य किया है। "जब राधाचरण धार्मिक अन्धविश्वास पर चोट करते हैं, तो उनकी बोली में कबीर के प्राण बजत दीखते हैं। कबीर के व्यंग्य में कटु तीखापन है, गले से उतरते हुए लकीर-सी खिचती है; गोस्वामी जी का व्यंग्य शहद में डूबा, हँसी में लिपटा और कल्पना से रंगीन है।" 'यमपुर की यात्रा' लेख में वैतरणी पार करते समय लेखक को वहाँ के प्रधान ने रोक लिया, पूछा क्या तुमने गोदान किया है ? तब लेखक उत्तर देता है—"साहब प्रथम प्रश्न तो सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या ? यदि गौ की पूँछ पकड़कर पार उतर जाते हैं, तो क्या बैल से नहीं उतर सकते ? जब बैल से उतर सकते हैं; तो कुत्ते ने क्या चोरी की है ?" लेखक ने किसी साहब को कुत्ता दान में दिया था, इसी से वह 'वैतरणी-पार' का पास-पोर्ट बनवा लेना चाहता है।

वस्तुतः भारतेन्दु युग के सभी निबन्धकारों में वैयक्तिकता के साथ-साथ सामाजिकता का समन्वय मिलता है। उनके विषय क्षेत्र में व्यापकता और विविधता मिलती है। हास्य और व्यंग्य का पुट उन्होंने दिया है, किन्तु यह रहस्य और व्यंग्य सोद्देश्य है—उसका उद्देश्य किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता पर चोट करना है। गूढ़ से गूढ़ विषयों को भी इस युग के लेखकों ने सरल, सुबोध एवं मनोरंजक शैली में प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा-शैली मे व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छता या शुद्धता भले ही न हो, किन्तु पाठक के हृदय को गुदगुदाने, उसके मस्तिष्क को झंकृत करने व उसकी आत्मा को स्पर्श करने में वह पूर्णतः समर्थ है। उनके निबन्ध शुष्क वैज्ञानिक निबन्ध नहीं, अपितु वे आदर्श साहित्यिक निबन्ध है, जिनसे विचारों के साथ-साथ भावनाओं का भी उद्वेलन होता है; जिनसे केवल ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होती, रसानुभूति की प्राप्ति भी होती है।

द्विवेदी-युग—द्विवेदी युग का आरम्भ हम श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य-भार सँभालने के समय (सन् १९०३ ई० या १९६० वि०) से ही मान सकते हैं। 'सरस्वती' मे आते ही द्विवेदीजी ने सबसे पहला कार्य तत्कालीन लेखकों की भाषा को संस्कारित एवं परिमार्जित करने का किया। वे व्याकरण सम्बन्धी भूलों की आलोचना करते हुए विराम-चिन्हों के प्रयोग एवं उपयोग पर प्रकाश डालने लगे। वे भाषा के गठन और स्वरूप को समझाने का प्रयत्न करते थे। भाषा के सम्बन्ध में उनकी नीति थी कि हिन्दी को अन्य भाषाओं के शब्दों से सर्वथा अछूता न रखा जाय। किन्तु प्रयत्नपूर्वक तत्सम शब्दों का भी बहिष्कार न किया जाय। उनकी इस नीति का प्रभाव तत्कालीन सभी प्रमुख निबन्धकारों की भाषा-शैली पर पड़ा।

निबन्धकार द्विवेदी का आदर्श बेकन था। उन्होंने बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार-रत्नावली' के रूप में किया। बेकन की भाँति द्विवेदीजी भी निबन्धों में विचारों को प्रमुखता देते हैं। उनके निबन्ध—'कवि और कविता,' 'प्रतिभा', 'कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'क्रोध', 'लोभ' आदि—नये-नये विचारों से गुम्फित हैं। भारतेन्दु

युगीन निबन्धों की-सी वैयक्तिकता का प्रदर्शन, सजीवता, रोचकता एवं सहज उच्छृङ्खलता का द्विवेदीजी के निबन्धों में अभाव सा है। उनके निबन्धों में भाषा की शुद्धता, सार्थकता, एकरूपता, शब्द-प्रयोग-पटुता आदि गुण तो मिलते हैं, किन्तु पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता, विश्लेषण की गम्भीरता, चिंतन की मौलिकता उनमें बहुत कम है। फिर भी उनके निबन्धों में व्यास-शैली के कारण पर्याप्त सरलता आ गई है। तथा कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य व भावात्मकता का भी प्रस्फुटन हुआ है; जैसे—"फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पाटन और उन्नयन किसने किया है ? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया ? साहित्य ने ! साहित्य ने ! साहित्य ने !!!" आजकल के छायावादी 'कवि और कविता' लेख में भी उनकी शैली द्रष्टव्य है—"छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। वे बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों का या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छः पदे; कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरह पदे। किसी की चार सतरें गज-गज लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की ! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधंधा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवाह करनेवाले। इनका मूल-मन्त्र है—"हम चुनी दीग़रे नेस्त।"

(सम्भवतः उपर्युक्त पंक्तियों में थोड़े हलकेपन का आभास हो, किन्तु ऐसा सर्वत्र ही नहीं हुआ है।) विषय के अनुरूप उनकी शैली में गम्भीरता भी दृष्टिगोचर होगी। 'मेघदूत' निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ हमारे कथन की सार्थकता प्रमाणित करेंगी। "कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य-भवन के सदृश है, जिसमें पद्य-रूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है।" वस्तुतः द्विवेदीजी के प्रमुख संग्रह 'रसज्ञ-रंजन' में सचमुच रसज्ञ पाठकों के रंजन की पूर्ण क्षमता है।

द्विवेदी-युग के अन्य निबन्धकारों में माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह एवं गुलेरी का नाम उल्लेखनीय है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उन्होंने द्विवेदी जी का ही अनुकरण करते हुए विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं, किन्तु फिर भी इनमें कहीं-कहीं शैली की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। माधवप्रसादजी ने 'धृति', 'सत्य' जैसे विषयों पर गम्भीर शैली में प्रकाश डाला है। गोविन्दनारायण मिश्र की शैली में अलंकारों की छटा मिलती है। संस्कृत की शब्दा-वली के अतिशय प्रयोग के कारण उनके निबन्ध जटिल से हो गए हैं। उदाहरण के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा देखिए—"मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार सुचतुर-कवि-कोविद-राज-हिम-सिंहासनासिनी मंदहासिनी, त्रिलोक प्रकाशनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम, अनोखी, अतुलवाली, परम प्रभावशाली सुजन मन-मोहिनी नवरस भरी सरस सुखद-विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।" इस परिभाषा को पढ़कर साहित्य तो दूर रहा, स्वयं इस परिभाषा को समझना ही टेढ़ी खीर है।

बाबू श्यामसुन्दरदास उच्च कोटि के आलोचक होने के साथ-साथ सफल निबन्धकार भी थे। उन्होंने प्रायः आलोचनात्मक गम्भीर विषयों पर ही लेख लिखे—जैसे 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'समाज और साहित्य', 'हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा', 'कर्त्तव्य और सभ्यता' आदि। उनके निबन्धों में विचारों का संग्रह और समन्वय ही मिलता है, आत्मानुभूतियों का प्रकाशन या भावात्मकता के दर्शन उनमें नहीं होते। उनकी शैली प्रौढ़ होते हुए भी सरल थी, उसमें कहीं भी अस्पष्टता या जटिलता दृष्टिगोचर नही होती। किन्तु भारतेन्दु युग की-सी रोचकता या द्विवेदीजी की-सी सुबोधता का भी उनके निबन्धों में अभाव है। बाबूजी के समकालीन ही तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता पद्मसिंह शर्मा थे। शर्माजी के निबन्धों में के दो संग्रह—'पद्मपराग' और 'प्रबन्ध-मंजरी' प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में महापुरुषों के जीवन का चित्रण, समकालीन व्यक्तियों के संस्मरण या उनको श्रद्धांजलि, साहित्य-समीक्षा आदि विषयों को ग्रहण किया है। उनकी शैली में वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सरसता का पुट मिलता है। गणपति शर्मा को दी गई श्रद्धांजलि की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—हा! पंडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गये। हाय हाय! क्या हो गया। यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक कैसे टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया। यह किसके वियोग-बाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राणपखेरू के पंख जलाए डालती है। हा! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मंदिर सूना कर दिया।

अध्यापक पूर्णसिंह और पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपनी शैली की विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध है। अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों मे स्वाधीन-चिंतन, निर्भय-विचार-प्रकाशन, एवं प्रगतिशील तत्त्व मिलते है। उनकी शैली में अनूठी लाक्षणिकता और अपूर्व व्यंग्य मिलता है। "बादल गरज-गरजकर ऐसे ही चले जाते है, परन्तु बरसनेवाले बादल जरा-सी देर मे बारह इंच तक बरस जाते है।" या "पुस्तकों या अखबारों के पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते है।" "आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।", "पुस्तकों के लिखे नुस्खों से तो और भी बदहज़मी हो जाती है।" जैसे वाक्य उनकी शैली की रोचकता का नमूना प्रस्तुत करते है।

गुलेरी जी के निबन्ध संख्या में कम है, किन्तु गुणों की दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनमें गम्भीरता के साथ मनोविनोद, पाडित्य के साथ चुलबुलापन, प्राचीनता के साथ नवीनता, सांस्कृतिकता के साथ प्रगतिशीलता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली में सरलता, सरसता, व्यंग्यात्मकता, एवं रोचकता का गुण प्रभूत मात्रा मे विद्यमान है। 'कछुवा-धर्म' से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—"पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया मे रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिधु को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे ये चल दिये, पीछे वे दबाते आये....पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, मुञ्जवत् पहाड़ की सोमलता का चस्का पड़ा हुआ था, लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते हैं। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ

नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं।....मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़ियों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला मे सोम बेच दो। वह कहता, वाह! सोम राजा का दाम इससे कही बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कन्धे पर चढ़ी बाल-वधू के लिए कहा था कि 'या ही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि 'इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है।'(५) वस्तुतः गुलेरी जी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व की सजीवता से ओत-प्रोत हैं, उनकी शैली पर सर्वत्र उनका व्यक्तित्व अंकित है।

द्विवेदी-युग के उपर्युक्त निबन्धकारों के परिचय से स्पष्ट है कि इस युग के निबंध सामान्यतः विचार-प्रधान ही है। भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की भाँति इनमे तत्कालीन जीवन की अभिव्यक्ति एवं राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों का अंकन नहीं मिलता। हास्य और व्यंग्य के स्थान पर इनमें गम्भीरता अधिक है। अध्यापकजी एवं गुलेरीजी के निबन्धों को छोड़कर शेष में वैयक्तिकता का प्रस्फुटन नहीं मिलता। मौलिकता, नवीनता एवं ताज़गी भी इनमें नहीं है। वस्तुतः ये निबन्ध कम है, विचारों के संग्रह अधिक। व्याकरण की दृष्टि से अवश्य इन निबन्धों की भाषा शुद्ध एवं परिमार्जित हुई।

शुक्ल-युग—हिन्दी निबन्ध के विकास की गति में तीसरा मोड़ तब उपस्थित होता है, जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'चिंतामणि' द्वारा नये विचार, नयी अनुभूति और नवीन शैली पाठकों के सामने प्रस्तुत की। 'चिंतामणि' के निबन्धों का विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर—मनोविज्ञान एवं रसानुभूति—है, तथा उनका प्रतिपादन भी प्रौढ़तम शैली में हुआ। उनमें एक ओर चिंतन की मौलिकता, विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं शैली की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है, तो दूसरी ओर उनमें लेखक की वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का दर्शन भी स्थान-स्थान पर होगा। उनके निबन्धों में व्यक्ति एवं विषय का ऐसा सफल समन्वय हुआ कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हे व्यक्ति-प्रधान कहे, या विषय प्रधान? ईर्ष्या, श्रद्धा, लज्जा, क्रोध, लोभ आदि मनोवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने अत्यन्त पैनी दृष्टि से किया है। इन निबन्धों में एक ओर उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचय मिलता है, तो दूसरी ओर उनका समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। एक मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्री एवं साहित्यकार—तीनों के कार्य भार का निर्वाह अकेले शुक्लजी ने 'चिंतामणि' में सफलतापूर्वक किया है।

उनके साहित्यिक एवं आलोचनात्मक निबन्धों—'कविता क्या है?' 'साधारणीकरण' और 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' आदि—से उनकी अपूर्व प्रतिभा, उनके स्वतन्त्र चिंतन एवं मौलिक विचारों की धाक पाठक पर बैठ जाती है। उनके विचारों एवं निष्कर्षों से कोई चाहे सहमत हो या न हो, किन्तु उनकी मौलिकता सभी को स्वीकार करनी होगी। साधारणी-

करण की जिस समस्या को शताब्दियों पूर्व संस्कृत के आचार्यो ने सुलझाने का प्रयत्न किया था, उसे आचार्य शुक्ल ने नये ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः ऐसी 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' को लेकर अवतरित होनेवाले निबन्धकार व आलोचक शताब्दियों के पश्चात् एक-दो दिखाई पड़ते हैं।

निबन्धकार शुक्लजी की शैली मे भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु युग की सी मौलिकता उसमें है, किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर हैं; द्विवेदी-युग की सी विचारात्मकता उसमें है, किन्तु वैसी शुष्कता का उनमें अभाव है। विचारों की गम्भीर घाटियों के बीच-बीच में उतरी हास्य-व्यंग्य से ओत-प्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ-शीतल निर्झर के कोमल-मधुर कल-कल स्वर की तरह सुनाई पड़ती है। कही लज्जा और ग्लानि पर विचार करते-करते वे लिखने लगते हैं—"लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए।....आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई है।....राजधर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका-धर्म हो गए।....सबकी टकटकी टके की ओर लगी हुई है।" तो कहीं वे चाटुकार लोगों की खबर लेते हुए कह बैठते है—"इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते है।" वस्तुतः शुक्लजी के निबन्धों मे वे सभी गुण मिलते है, जो गम्भीर विषयों के निबन्धों के लिए अपेक्षित है। हाँ, उनके कुछ निबन्ध अति गम्भीरता, अति प्रौढता एवं अति सूक्ष्मता के कारण साधारण पाठक के लिए पहेलियों के तुल्य जटिल, दुरूह एवं शुष्क अवश्य बन गए हैं।

शुक्ल-युग के अन्य निबन्धकारों में डा० गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि उल्लेखनीय है। गुलाबरायजी के अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'फिर निराशा क्यों ?', 'मेरी असफलताएँ', 'मेरे निबन्ध' आदि लोक-प्रिय हैं। आपके निबन्धों में व्यक्तित्व की सरलता, अनुभूति का सम्मिश्रण, विचारों की स्पष्टता एवं शैली की सुबोधता मिलती है। 'मेरी असफलताएँ' मे आपने वैयक्तिक विषयों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके निबन्धों में व्यंग्य भी स्थान-स्थान पर मिलता है, किन्तु उसका लक्ष्य कोई और नहीं, वे स्वयं ही हैं। 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—'खैर, आजकल उस (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी पिला न सकने की विवशता की झूँझल के होते हुए भी उसके लिए भूसा लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहाँ भूसे का भाव! भूसा खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं।....लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है, जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में।" आचार्यजी ने अपने अनेक निबन्धों मे साहित्य और मनोविज्ञान की अनेक समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत किया है।

बख्शी पदुमलाल पुन्नालालजी ने अपने निबन्धों मे मौलिक विचार एवं नूतन शैली

का आदर्श उपस्थित किया है । उसके निबन्धों के विषय हैं—'उत्सव', 'रामलाल पंडित', 'नाम', 'समाज-सेवा', 'विज्ञान' आदि । उनकी शैली में कुछ ऐसी विशिष्टता परिलक्षित होती है, जो अन्यत्र सुलभ नहीं । राय कृष्णदास, वियोगी हरि एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्धों में विचारों की अपेक्षा निजी अनुभूतियों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति अधिक हुई है । वस्तुतः हिन्दी में भावात्मक निबन्धों या गद्य-काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं लेखकों को है । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्रायः सांस्कृतिक विषयों पर कलम उठाई है, तो दूसरी ओर रघुवीरसिंह ने इतिहास के धूमिल दृश्यों को नया रंग-रूप प्रदान किया है । इन सभी निबन्धकारों की शैली में निजी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं ।

इस प्रकार हम देखते है कि शुक्ल-युग मे निबन्धों के विषय-क्षेत्र में और अधिक गम्भीरता एवं सूक्ष्मता आई । इस युग के निबन्धों में मुख्यतः साहित्य, मनोविज्ञान, संस्कृति, इतिहास जैसे विषयों की गम्भीर समस्याओं पर नये-नये दृष्टिकोण से मौलिक विचार प्रस्तुत किए गए । साथ ही निजी अनुभूतियों एवं भावनाओं का प्रकाशन भी अनेक निबन्धकारों ने किया है । भाषा-शैली की दृष्टि से भी द्विवेदी-युग इस युग का निबन्ध-साहित्य बहुत अधिक विकसित एवं प्रौढ़ दिखाई पड़ता है ।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल परवर्ती निबन्धकारों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे बाजपेयी, वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र कुमार, डा० सत्येन्द्र, डा० विनयमोहन शर्मा, डा० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, इलाचन्द्र जोशी, चन्द्रबली पांडे, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामधारीसिंह 'दिनकर', शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर', डा० भगवतशरण उपाध्याय, डा० भगीरथ मिश्र, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', विश्वम्भर 'मानव', डा० रामरतन भटनागर आदि प्रमुख रूप में उल्लेखनीय हैं ।

शुक्लोत्तर निबन्धकारों में **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** का स्थान शीर्षस्थ है । उनके अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, यथा—'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार-प्रवाह', 'कुटज' आदि । आपके निबन्धों का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, उनमें भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति एवं परम्परागत ज्ञान-विज्ञान के साथ आधुनिक युग की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है । जहाँ उनके निबन्ध अध्ययन-क्षेत्र की व्यापकता एवं चिन्तन की गम्भीरता से युक्त हैं, वहाँ वे उनके व्यक्तित्व की सरलता, सहजता एवं सरसता से भी समन्वित हैं । वस्तुतः व्यक्ति और विषय का गूढ़ तादात्म्य उनमें परिलक्षित होता है । इसलिए उनके गम्भीर से गम्भीर निबन्ध भी पाठक को उबाते नहीं, अपितु वे उसका अनुरंजन करते हुए रसानुभूति प्रदान करते हैं । अवश्य ही उनके कुछ निबन्ध इसके अपवाद भी है, जिनमें लेखक का मन रमा नहीं है, पर उनके अधिकांश निबन्ध ललित या कलात्मक निबन्ध के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं ।

आचार्य द्विवेदी के निबन्धों की शैली लेखक के मनोभाव एवं विषय की प्रकृति के अनुकूल बदलती रहती है । कालिदास युगीन वातावरण का चित्रण करते समय जहाँ

उनकी शब्दावली सहज ही संस्कृत-गर्भित हो जाती है, वहाँ ग्रामीण जीवन के प्रसंगों में लोक-भाषा के चलताऊ शब्द भी यत्र-तत्र आ टपकते हैं। आधुनिक जीवन की विकृतियों एवं दूषित प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय वे प्रायः हास्य-व्यंग्यमयी शैली का प्रयोग करते हैं। यहाँ उनकी व्यंग्यमयी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—"आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आचोलना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित ! यह क्या कम साधना है !"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी मूलतः विचारक एवं आलोचक हैं, अतः उन्होंने मुख्यतः आलोचनात्मक निबन्ध ही लिखे हैं। उनके निबन्धों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न'। इन कृतियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से जहाँ आलोचना में स्थान दिया जाता है, वहाँ काव्य-रूप एवं शैली की दृष्टि से निबन्ध के अन्तर्गत भी लिया जा सकता है। इनके निबन्ध विचार-प्रधान वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। उनके विचार निजी चिंतन-मनन पर आधारित हैं, अतः इस दृष्टि से अवश्य उन पर व्यक्तित्व की छाप है, किन्तु उनकी प्रतिपादन-शैली विषय के साथ इस प्रकार बँधी हुई, विचारों से जकड़ी हुई है कि उसमें व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता का आभास प्रायः नहीं मिलता। जहाँ उनका विचारक अत्यन्त गम्भीर हो जाता है, वहाँ उनकी शैली भी गूढ़ एवं बोझिल हो जाती है। वस्तुतः इस दृष्टि से वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा में आते हैं। उनकी शैली की बौद्धिकता एवं तार्किकता उच्च स्तरीय पाठकों को बौद्धिक आनन्द प्रदान करती है।

भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर निबन्ध-रचयिताओं में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनके तत्सम्बन्धी अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'पृथ्वी-पुत्र', 'मातृ-भूमि', 'कला और संस्कृति' आदि उल्लेखनीय है। डा० अग्रवाल के निबन्धों में अध्ययन की गम्भीरता के साथ-साथ चिन्तन की मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। वे प्राचीन तत्त्वों एवं गुत्थियों को अपनी व्याख्याओं द्वारा नया रूप प्रदान करते हुए उन्हे आधुनिक पाठक के लिए बोध-गम्य बता देते हैं। उनकी शैली में सरलता और स्पष्टता मिलती है, जो उनके निबन्धों का अतिरिक्त गुण है।

आत्मानुभूतिपरक वैयक्तिक निबन्ध प्रस्तुत करने की दृष्टि से **पं० शांतिप्रिय द्विवेदी** का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इनके विभिन्न निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। यथा—'जीवन-यात्रा', 'साहित्यिकी', 'हमारे साहित्य-निर्माता', 'कवि और काव्य', 'संचारिणी', 'युग और साहित्य', 'सामयिकी' आदि। इन्होंने प्रायः कला एवं साहित्य सम्बन्धी विषयों पर ही स्वानुभूतिमूलक विचार प्रस्तुत किए हैं, किन्तु 'पथ चिन्ह', 'परिव्राजक की प्रज्ञा' आदि में वैयक्तिक प्रसंगों को भी लिया है। इनकी शैली अत्यन्त सरस एवं प्रभावोत्पादक है, जो कहीं-कहीं करुणोत्पादक भी बन गई है, यथा, वे अपनी बहिन से सम्बन्धित संस्मरण में उसका परिचय प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"छुटपन में ही वह विधवा हो गई थी। उस अबोध वय में उसने जाना ही नहीं कि

उसके भाग्य-क्षितिज में क्या पट-परिवर्तन हो गया। जन्मकाल से माँ का जो अंचल उसके मस्तक पर फैला हुआ था। सयानी होने पर उसने वही अंचल अपने मस्तक पर ज्यों का त्यों पाया, मानो शैशव ही उसके जीवन में अक्षुण्ण हो गया। अचानक एक दिन जब वह अंचल भी मस्तक पर से छाया की तरह तिरोहित हो गया, तब उसके जीवन में मध्यान्ह की प्रखर ज्वाला के सिवा और क्या शेष रह गया था।'

डा० नगेन्द्र ने साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्धों की अभिवृद्धि में असाधारण योग दिया है। उनके निबन्ध-संग्रहों में से 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विश्लेषण', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' आदि उल्लेखनीय है। इनके निबन्धों का मूल स्वर विषय-प्रधान है, किन्तु अनेक निबन्धों में व्यक्तित्व के दर्शन भी स्पष्ट रूप में होते है। फिर भी इनका प्रयास पाठक का ध्यान अपनी अपेक्षा विवेच्य विषय या मूल समस्या की ओर आकर्षित करने की ओर अधिक रहता है; एक कुशल व्याख्याता की भाँति वे किसी भी समस्या पर अपना समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व उसे पाठक के हृदय में उतार देते है। यही कारण है कि गूढ़ से गूढ़ विषय को भी पाठक रुचिपूर्वक ग्रहण करता चलता है। उनका साधारणीकरण सम्बन्धी निबन्ध इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ निबन्धों में डा० नगेन्द्र ने व्याख्यात्मक एवं विश्लेपणात्मक शैली के स्थान पर रूपकात्मक या अप्रस्तुतात्मक शैली के भी प्रयोग किए है, यथा—'वीणापाणि के कम्पाउण्ड में' या 'हिन्दी उपन्यास' में किया गया है। वस्तुतः विचारों की गम्भीरता, चिन्तन की मौलिकता एवं शैली की रोचकता—इन तीनों का समन्वय इनके निबन्धों में परिलक्षित होता है।

जैनेन्द्रकुमार मुख्यतः कथाकार है, किन्तु निबन्धों के क्षेत्र में भी उन्होंने योगदान किया है। उनके निबन्ध-संग्रहों में 'जड़ की बात', 'जैनेन्द्र के विचार', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'सोच-विचार', 'मन्थन' आदि उल्लेखनीय है। जैनेन्द्रजी ने प्रायः दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक आदि विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किए है। उनकी चिन्तन-प्रणाली स्पष्ट न होकर द्वन्द्वात्मक है। इसका प्रभाव उनकी शैली पर भी पड़ा है। उनके निबन्ध पाठक को एकाएक किसी सुस्पष्ट निर्णय तक नहीं पहुँचाते, अपितु उसे चक्करदार मार्ग से ले जाकर एक संदिग्ध स्थिति मे छोड़ देते है। वस्तुतः जैनेन्द्र पाठक पर अपना निर्णय नहीं थोपते, अपितु उसकी निर्णय-शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित एवं आन्दोलित कर देते हैं कि जिससे वह स्वयं ही उस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, जहाँ कि जैनेन्द्र उसे पहुँचाना चाहते है। उदाहरण के लिए इनकी शैली का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत है—'पर आँखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है, इंसान को छोड़ दिया जाता है। उनकी कीमत पैसे की नहीं है। मैं जानना चाहता हूँ कि यह अनर्थ कैसे होने में आया ? क्यों यह जरूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इंसान की तरफ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े ? क्यों यह जरूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तब तक उस ओर से अपने को [illegible]ना बनाए रखे ? अगर पैसे को धूल में से उठा कर जेब में रखना उस पर उपकार

रना नहीं है, तो रोगी को सड़क पर से उठाकर अस्पताल मे रखने में भी उपकार को कहाँ आवश्यकता आ जाती है !'

डा० नगेन्द्र ने साहित्य एवं कला सम्बन्धी विषयों पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए है जो 'कला, कल्पना और साहित्य', 'साहित्य की भाँकी' आदि में संगृहीत हैं। इनके निबन्धों में अध्ययन की गम्भीरता, ज्ञान-क्षेत्र की व्यापकता एवं चिन्तन की स्पष्टता लक्षित होती है। अपने तथ्य को ये तर्क एवं प्रमाण से भली-भाँति पुष्ट करके प्रस्तुत ते है, जिनसे वह पाठक की बुद्धि को सहज ही ग्राह्य हो जाता है। इनकी शैली में स्पष्टता एवं रोचकता के दर्शन होते है।

डा० विनयमोहन शर्मा के निबन्ध 'साहित्यावलोकन', 'दृष्टिकोण' आदि में संगृहीत उन्होंने मुख्यतः सौन्दर्य-शास्त्रीय एवं साहित्यिक विषयों को लिया है। इनके व्यक्तित्व सरलता एवं उदारता के अनुरूप ही इनके निबन्धों में भी विचारों की स्पष्टता व ी की ऋजुता मिलती है। किसी विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व प्रायः वे उसके म्बन्ध में पाठक की जिज्ञासा को इस प्रकार जागृत कर देते है कि जिससे वह इनके तिपाद्य को सुनने व समझने मे तत्कालोनतापूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। उदाहरणार्थ कलाकार और सौन्दर्य बोध' शीर्षक निबन्ध का यह अंश द्रष्टव्य है—सौन्दर्य क्या है, नका 'बोध' कैसे होता है, और कवि या कलाकार पर उसकी किस प्रकार प्रतिक्रिया ती है ? ये प्रश्न वर्षों से साहित्य और दर्शन मे विवाद बने हुए है।' इस प्रकार के नों से पाठक की उत्सुकता का बढ़ जाना स्वाभाविक है।

अत्यन्त तीखी, व्यंग्यपूर्ण एवं सशक्त शैली में निर्बाध रूप मे अपने विषय को त कर देने वाले निबन्धकारों में डा० **रामविलास शर्मा** का विशेष स्थान है। उन्होंने हित्य, कला, संस्कृति एवं राजनीति सम्बन्धी विषयों पर शताधिक निबन्ध प्रस्तुत किए , जो 'संस्कृति और साहित्य', 'प्रगति और परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' आदि संग्रहों मे संगृहीत है। डा० शर्मा का दृष्टिकोण मार्क्सवादी या प्रगतिवादी है, अतः उन्होंने अपने निबन्धों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन इसी दृष्टिकोण से किया है। उनके अतिरिक्त **प्रकाश चन्द्र गुप्त** एवं **शिवदानसिंह चौहान** ने भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से विभिन्न निबन्ध प्रस्तुत किए है। प्रकाशचन्द्र गुप्त के निबन्ध 'नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका', 'साहित्य-धारा' आदि में तथा शिवदानसिंह चौहान के निबन्ध 'साहित्यानुशीलन', 'आलोचना के मान' आदि मे संगृहीत हैं। इन दोनों की शैली में भी सरलता, स्पष्टता एवं रोचकता मिलती है।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए है। उनके निबन्धों में अध्ययन एवं चिन्तन की गम्भीरता परिलक्षित होती है। उनके निबन्ध-संग्रहों में 'भारत को संस्कृति का सामाजिक विश्लेषण', 'इतिहास के पृष्ठों पर', 'खून के धब्बे', सांस्कृतिक निबन्ध आदि उल्लेखनीय है। **डा० भगीरथ मिश्र, डा० रामरतन भटनागर, डा० रामधारी सिंह 'दिनकर'** प्रभृति ने साहित्य के विभिन्न पक्षों एवं विषयों को लेकर सुन्दर निबन्ध प्रस्तुत किए है। डा० भगीरथ मिश्र के निबन्ध 'कला और साहित्य' डॉ० [illegible]

और आलोचना' में तथा डा० 'दिनकर' के 'मिट्टी की ओर', 'अर्द्ध नारीश्वर, 'रेती के फूल' आदि में संगृहीत है।

संस्मरणात्मक निबन्धों के क्षेत्र में **महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, हरिवंशराय 'बच्चन'** और **देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चल-चित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'शृंखला की कड़ियाँ' आदि निबन्ध-संग्रह प्रस्तुत किए हैं। इनमें विषमता एवं दीन-हीन जनों की वेदना का चित्रण अनुभूति से ओत-प्रोत शब्दों में किया गया है। जहाँ इनका विषय उदात्त है, वहाँ इनकी शैली भी अत्यन्त सशक्त एवं प्रौढ़ है। उनमें दार्शनिक की अन्तर्दृष्टि, कवि की वाणी, चित्रकार की तूलिका एवं गद्यकार की लेखनी का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार बेनीपुरीजी ने भी अपने संस्मरणात्मक निबन्धों के रूप में समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित व्यक्तियों के चित्र सहृदयतापूर्ण शैली में अंकित किए हैं, जो 'माटी की मूरतें' व 'गेहूँ और गुलाब' में संगृहीत हैं। इनकी शैली कहीं-कहीं अत्यन्त काव्यात्मक हो उठती है; यथा—'कभी-कभी मालूम होता है, किसी अदृश्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्सना-कुमारियाँ चन्द्र-मंडल से एक-एक कर उतर रही हैं और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरंग-मालाओं के कम्पित अधरों को चूम-चूमकर अट्टहास कर उठती है।' 'बच्चन' ने 'क्या भूलूँ : क्या याद करूँ' में और मस्तजी ने 'झरोखे' में अपने जीवन के मर्मस्पर्शी संस्मरण अंकित किए हैं।

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने अनेक समीक्षात्मक एवं गवेषणात्मक निबन्ध लिखे थे जो 'एकता', 'विचार-विमर्श', आदि में संगृहीत है। इनके निबन्धों में गम्भीर अध्ययन एवं तर्कपूर्ण शैली का सामंजस्य परिलक्षित होता है। **नलिनविलोचन शर्मा, रांगेय राघव, डा० देवराज** प्रभृति ने विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। **इलाचन्द्र जोशी** के अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, यथा—'साहित्य-सर्जना', 'विवेचन', 'विश्लेषण', 'देखा-परखा', 'महापुरुषों की प्रेमकथाएं' आदि। जोशी जी ने साहित्य, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का विवेचन प्रभावोत्पादक शैली मे किया है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन **'अज्ञेय'** ने भी साहित्यिक विषयों पर निबन्ध प्रस्तुत किए है, जो उनके 'त्रिशंकु' में संगृहीत है। **यशपाल** ने कथा-साहित्य के अतिरिक्त निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि में भी असाधारण योग दिया है। 'देखा, सोचा, समझा', 'मार्क्सवाद', 'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष', 'गांधीवाद की शव-परीक्षा', 'राज्य की कथा' आदि संग्रहों में उनके विभिन्न प्रकार के निबन्ध संगृहीत है। उनकी शैली में सरलता और विचारोत्तेजकता मिलती है। कहीं-कहीं वे स्वयं व्यंग्य का भी प्रहार करते है, यथा—'कारतूसों की एक दूकान खोलो, जिसमें 'कलमाइड कारतूस' मुसलमानों के लिए और 'झटकाइड कारतूस' सिखों के लिए रहे। अच्छा मुनाफा रहेगा।'

हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्धों के क्षेत्र में **गोपालप्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे** एवं **बेढब बनारसी** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। व्यासजी के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्ध '[illegible] कछ झूठ', आदि में संगृहीत हैं। ये छोटी से छोटी बात को भी अत्यन्त

रोचक एवं साहित्यिक ढंग से प्रस्तुत कर देने की कला में सिद्ध-हस्त हैं। उदाहरण के लिए स्नान-घर में एक भैंस के घुस जाने की घटना को लेकर वे एक अनूठा निबन्ध रच देने के साथ-साथ यत्र-तत्र विभिन्न वर्गों के साहित्यकारों को भी भैंस के बहाने याद कर लेते हैं—'एक दिन बाबूजी की पत्नी गुसलखाने में स्नान कर रही थी, तो भैंस भी अपना अधिकार समझकर उसमें घुस पड़ी। सँकरा दरवाजा, छोटी जगह। भैंस घुस तो गई मगर अब निकले कैसे?....एकदम नई उलझन थी। प्रगतिशील भैंस के बढ़े हुए कदम प्रतिक्रियावादी होने को कतई तैयार न थे।'

प्रभाकर माचवे ने भी साधारण विषयों—'मुंह', 'गला', 'गाली', 'बिल्ली', 'मकान' आदि—को लेकर अत्यन्त रोचक निबन्धों की रचना की है, जो उनके 'खरगोश के सींग' में संगृहीत है। उनकी शैली सरल, मुहावरेदार एवं प्रवाहपूर्ण है। **देवेन्द्र सत्यार्थी ने** लोक-संस्कृति एवं लोक गीतों की पृष्ठभूमि को लेकर विभिन्न विषयों पर अनुभूतिपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, जो 'एक युग : एक प्रतीक', 'रेखाएँ बोल उठीं', 'क्या गोरी क्या सांवरी', 'कला के हस्ताक्षर' आदि में संग्रहीत है। सत्यार्थीजी की शैली में मन को आकर्षित करने की क्षमता मिलती है। **'जयनाथ नलिन'** के आलोचनात्मक निबन्ध 'कला और चिंतन' में संगृहीत हैं, जो उनके मौलिक चिंतन के द्योतक हैं।

हिन्दी में अन्तर्व्यू-शैली में निबन्ध प्रस्तुत करने की परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में **डा० पद्मसिंह शर्मा** 'कमलेश' का नाम उल्लेखनीय है। इनके निबन्ध 'मैं इनसे मिला' (दो भाग) में संगृहीत है। इन्होंने विभिन्न साहित्यकारों के इण्टरव्यू के आधार पर उनके व्यक्तित्व, दर्शन एवं साहित्य-सर्जन के विभिन्न पक्षों को कलात्मक शैली मे प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त भी डा० कमलेश ने हिन्दी को अनेक उच्चकोटि के निबन्ध प्रदान किए है, जो विचारों की स्पष्टता के साथ-साथ शैली की सरसता से भी युक्त है।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' एवं **रामनाथ सुमन** ने जीवन और समाज के लिए प्रेरणादायक निबन्ध रोचक एवं प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किये है। 'प्रभाकर' जी के निबन्ध-संग्रहों में 'जिन्दगी मुस्कराई', 'बाजे पायलिया के घुँघरू', 'दीपजले, शंख बजे', 'क्षण बोले, कण मुस्काये', आदि उल्लेखनीय है 'सुमन' जी के निबन्धों की संख्या शताधिक है, जो विभिन्न संग्रहों में संगृहीत है। इधर हिन्दी मे अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए है जिनमें **डा० विद्यानिवास मिश्र** के 'तुम चन्दन हम पानी' ठाकुरप्रसाद सिंह का 'पुराना घर : नये लोग', डा० शिवप्रसाद सिंह का 'शिखरों का सेतु', श्रीलाल शुक्ल का 'अंगद का पाँव' आदि निबंध-संग्रह उल्लेखनीय हैं। श्री **हरिशंकर परसाई** एवं **कुबेरनाथ राय** के भी अनेक ललित निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

अस्तु, उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी-निबन्ध-साहित्य ने थोड़े से समय में ही पर्याप्त उन्नति कर ली है। भारतेन्दु युग से लेकर अब तक निबन्ध-साहित्य में क्रमशः प्रौढ़ता आती रही, किन्तु फिर भी नवीनतम निबन्ध-साहित्य में कुछ दूषित प्रवृत्तियों का भी विकास हो रहा है। एक तो अपने ज्ञान की धाक जमाने के लिए कुछ निबन्धकार पाश्चात्य लेखकों से उधार लिए विचारों को बिना समझे ही उगलते चले जा रहे हैं, जिससे उनकी भाषा में न तो प्रवाह मिलता है और न ...

सरे, हमारे निबन्धों में वैयक्तिकता का तत्त्व न्यून होता जा रहा है। तीसरे, हमारा ष्टिकोण साहित्य की समस्याओं तक ही सीमित है, क्या हम राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं को अपने निबन्ध का विषय नहीं बना सकते; जैसा कि भारतेन्दु-युग में हुआ ा ? चौथे, हमारे निबन्धों में सहज प्रफुल्लता, ताज़गी, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता का ह्रास होता जा रहा है। आशा है, हिन्दी के लेखक इस ओर ध्यान देंगे।

:: उन्तालीस ::

हिन्दी एकांकी : स्वरूप और विकास

(क) एकांकी की व्याख्या—

१. 'एकांकी' का अर्थ ।
२. एकांकी का स्वरूप ।
३. एकांकी का नाटक से सम्बन्ध ।
४. एकांकी के भेद ।

(ख) एकांकी का विकास—

१. उद्भव ।
२. प्राचीन भारतीय साहित्य में एकांकी ।
३. हिन्दी में विकास : प्राचीन एकांकी—(अ) भारतेन्दु युग, (अ) द्विवेदी युग ।
४. हिन्दी में आधुनिक एकांकी का विकास—(अ) प्रसाद—'एक घूँट', (आ) रामकुमार वर्मा, (इ) लक्ष्मीनारायण मिश्र, (ई) उपेन्द्रनाथ अश्क, (उ) उदयशंकर भट्ट, (ऊ) भुवनेश्वर प्रसाद, (ए) सेठ गोविन्ददास, (ऐ) जगदीशचन्द्र माथुर, (ओ) गणेशप्रसाद द्विवेदी, (औ) अन्य एकांकीकार ।

'एकांकी शब्द का अर्थ है—एक अंकवाला । दृश्यकाव्य का वह विशेष भेद जिसमें केवल एक अंक होता है, 'एकांकी' कहलाता है । आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'वन ऐक्ट प्ले' के अर्थ में हुआ । हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने एकांकी की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है । **प्रो० सद्‌गुरुशरण अवस्थी** की मान्यता है कि एकांकी में एक सुनिश्चित-सुकल्पित लक्ष्य, एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या, वेग-सम्पन्न प्रवाह और निदर्शन में चातुरी आवश्यक है । वे एकांकियों में लम्बे-लम्बे कथोपकथनों, दृश्यों की अतिशयता, विषयान्तरता, वर्णन-बाहुल्य, चरित्र-विकास के लम्बे प्रयोगों और उलझी कल्पनाओं को पसन्द नहीं करते । सेठ गोविन्ददासजी का मत भी अवस्थीजी से मिलता-जुलता है । वे सर्वप्रथम किसी एक मूल विचार या समस्या को आवश्यक मानते हैं । इसके अनन्तर विचार के विकास के लिए संघर्ष की आवश्यकता बताई गई है तथा विचार और संघर्ष दोनों के लिए कथानक, पात्र, कथोपकथन आदि की आयोजना होती है । प्रसिद्ध एकांकीकार श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'एकांकी' की तीन आवश्यक बातें बताई हैं—(१) आकार तथा समय की लघुता (३५ मिनट से ४५ मिनट तक की अवधि), (२) अभिनय-शीलता और (३) रंग-संकेतों की स्पष्टता । वे एकांकी में संकलन-त्रय को भी बहुत महत्व देते हैं ।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने एकांकी के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है । डॉ० साहब के विवेचन को प्रो० रामचरण महेन्द्र ने अगांकित निष्कर्षों में प्रस्तुत किया है :—

१. एकांकी में मुख्यतः किसी एक ही घटना या जीवन की कोई एक प्रमुख संवेदना होनी चाहिए, उसका विकास कौतूहलवर्द्धक नाटकीय शैली में होना चाहिए तथा चरम सीमा पर पहुँचकर एकांकी का अन्त होना चाहिए।

२. एकांकी में अभिव्यंजित घटनाओं का चुनाव जीवन की दैनिक घटनाओं में से होना चाहिए, जिससे उसमें यथार्थता एवं मनोरंजन का समावेश हो सके।

३. दो विरोधी पात्रों या वर्गों के विरोधी भावों में संघर्ष दिखाया जाना चाहिए। संघर्ष ही एकांकी का प्राण है।

४. एकांकी के कथन में कौतूहल, जिज्ञासा, गति की तीव्रता एवं चरम-सीमा में परिणति होनी चाहिए।

५. यथार्थवाद को स्थान देते हुए आदर्शवाद की ओर संकेत किया जा सकता है।

६. एकांकी में स्वाभाविकता एवं जीवन से निकटता बनाए रखने के लिए संकलन-त्रय का पालन कठोरता से होना चाहिए। संकलन-त्रय से तात्पर्य है—समय की एकता और कार्य की एकता।

उपर्युक्त सभी विद्वानों के विचारों का गहरा मन्थन करते हुए डा० रामचरण महेन्द्र ने अन्त में एकांकी के आठ तत्व निर्धारित किए है—(१) कथावस्तु, (२) संघर्ष या द्वन्द्व, (३) संकलन-त्रय, (४) पात्र और चरित्र-चित्रण, (५) कथोपकथन, (६) अभिनयशीलता, (७) रंगमंच निर्देश और (८) प्रभाव-ऐक्य। हमारे विचार से इस संख्या में थोड़ी-बहुत घटा-बढ़ी की जा सकती है। अभिनय-शीलता और रंगमंच निर्देश दोनों का समावेश एक ही तत्त्व 'अभिनय' में किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रभाव-ऐक्य का समावेश भी संकलन-त्रय में हो जाता है—जब कार्य की एकता होगी तो प्रभाव-ऐक्य होना स्वाभाविक है। साहित्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है—भाव। साहित्य का चाहे कोई भी भेद हो, उसमें भाव तत्व का होना आवश्यक है। किन्तु डॉ० महेन्द्र ने पाश्चात्य विद्वानों की ही भाँति इस तत्व की ओर ध्यान नही दिया। संघर्ष या द्वन्द्व तथा संकलन-त्रय, पात्र और कथा-वस्तु के आवश्यक लक्षण है, अतः इन तत्वों की अलग स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुतः डॉ० महेन्द्र ने तत्वों और विशेषताओं को घुला-मिला दिया है। हमारे दृष्टिकोण से एकांकी के सात तत्व माने जा सकते है—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य (विचार) और भावना तथा एकांकी की विशेषताओं के अन्तर्गत संकलन-त्रय, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, रोचकता, गतिशीलता एवं अभिनयशीलता का उल्लेख होना चाहिए।

एकांकी का नाटक से सम्बन्ध

एकांकी और नाटक दोनों ही दृश्य-काव्य के अंग है, किन्तु फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। 'एकांकी' में एक अंग, एक घटना; एक कार्य और समस्या होती है, जबकि नाटक में कई अंकों, घटनाओं, कार्यों और समस्याओं का आयोजन हो सकता है। अतः स्थूल दृष्टि से एकांकी नाटक बहुत लघु और सीमित होता है, किन्तु फिर भी किसी छोटे नाटक को एकांकी या बड़े एकांकी को छोटा नाटक नहीं कह सकते। नाटक

से निकालकर अलग किए गए एक अंक को भी एकांकी नहीं कहा जा सकता। एकांकी अपने आपमें पूर्ण होता है तथा उसकी सत्ता, उसका व्यक्तित्व एवं उसकी चाल-ढाल नाटक से बहुत कुछ भिन्न होती है। एकांकीकार अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौड़ता है, जबकि नाटककार धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। एकांकी की शैली में संक्षिप्तता एवं गतिशीलता होती है।

डॉ० महेन्द्र ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"एकांकी का नाटक से वही सम्बन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से अथवा खंडकाव्य का महाकाव्य से। नाटक में जीवन का विस्तार, लम्बाई और परिधि का विस्तार है, उसका क्षेत्र जीवन की भाँति सुविस्तृत है। एकांकी का क्षेत्र सीमित है, परिधि संकुचित है और जीवन का एक पहलू ही चित्रित करने का अल्प कार्य है।....एकांकी में केवल एक ही घटना, एक ही महत्वपूर्ण पहलू या परिस्थिति रह सकती है। नाटक में कथानक के चारों भाग स्पष्ट रहते हैं। एकांकी प्रायः संघर्ष-स्थल से प्रारम्भ होता है और शीघ्र ही गति पकड़कर चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। नाटक की गति धीमी होती है, एकांकी में वेग-संपन्न प्रवाह का महत्व है।....एकांकी में संकलन-त्रय का होना महत्वपूर्ण है; यही उसे जीवन का यथार्थवादी चित्र बनाता है। बड़े नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है।" (हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास; पृ० ३७-३८)

क्या एकांकी को नाटक का लघु-संस्करण कह सकते हैं? इसका निषेधात्मक उत्तर देते हुए प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी लिखते हैं—"वह बलि को छलनेवाला बावन अंगुल का मनुष्य नहीं और न चक्र-सुदर्शन सहित विष्णु का हाथ है। वह न किसी का लघु संस्करण है और न किसी का खण्ड अवतार। वह अपनी निजी सत्ता रखनेवाला साहित्य का एक अंग है।" (नाटक और नाटक; पृ० १०) वस्तुतः जिस प्रकार मेंढक को न तो बैल का लघु संस्करण कह सकते हैं और न ही उसका एक अंग, उसी प्रकार एकांकी को नाटक का लघु-संस्करण या उसका कोई एक भाग नहीं कहा जा सकता।

एकांकी के भेद

मूल प्रवृत्तियों, विषयों एवं शैलियों के आधार पर एकांकी के विभिन्न भेद किए गए हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने मूल प्रवृत्तियों के आधार पर एक एकांकी के आठ भेद किए हैं—(१) आलोचक एकांकी, जो हमारी त्रुटियों की आलोचना करते हैं। (२) विवेकवान एकांकी, जिसमें वाद-विवाद रहता है। (३) भावुक एकांकी, जिसमें भावात्मकता आदि होती है। (४) समस्या एकांकी, जिसमें समस्या का चित्रण होता है। (५) अनुभूतिमय एकांकी। (६) व्याख्यामूलक एकांकी। (७) आदर्शमूलक एकांकी और (८) प्रगतिवादी एकांकी। हमारी दृष्टि में एकांकियों का यह वर्गीकरण ठीक प्रतीत नहीं होता। भावुक एकांकी और अनुभूतिमय एकांकी में, आलोचक एकांकी और व्याख्यामूलक एकांकी में, विवेकवान एकांकी और आदर्श एकांकी में कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर जब प्रगतिवादी एकांकी है, तो छायावादी, रहस्यवादी और प्रयोगवादी एकांकी भी हो सकते हैं।

विषयों के आधार पर एकांकी के पाँच भेद किए हैं—(१) सामाजिक, (२) पौराणिक, (३) ऐतिहासिक; (४) राजनीतिक और (५) साहित्यिक। किन्तु इनके अतिरिक्त भी एकांकी के विषय हो सकते है, जैसे, मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक, आत्माभिव्यंजनात्मक, काल्पनिक आदि। अतः विषयों की संख्या निश्चित करना संभव नहीं। डॉ० रामचरण महेन्द्र ने दूसरे दृष्टिकोण से नौ प्रकार के एकांकियों की गणना की है—(१) सुखान्त, (२) दुःखान्त, (३) प्रहसन, (४) फेंटेसी, (५) गीतिनाट्य या ऑपेरा, (६) झाँकी, (७) संवाद या संभाषण, (८) स्वोक्ति रूपक या मोनो-ड्रामा, (९) रेडियो-प्ले। ये भेद संभवतः पाश्चात्य आलोचकों के मतानुसार किए गए है। प्रत्येक नाटक या एकांकी या तो दुःखान्त होगा या सुखान्त या समन्वयात्मक (प्रसादान्त)। अतः 'अन्त' के आधार पर उसके तीन ही भेद किए जा सकते है। 'प्रहसन' से तात्पर्य हास्य-प्रधान एकाकी से है। फैटेसी में रोमांस और कल्पना की अधिकता होती है। गीति-नाट्य मे काव्यात्मकता अधिक होती है। झाँकी मे केवल एक छोटा-सा दृश्य प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'सम्भाषण' में केवल दो पात्रों की बात-चीत का आयोजन होता है। मोनो-ड्रामा या स्वोक्तिरूपक मे केवल एक पात्र स्वगत-कथन के रूप में किसी पूर्व घटना या आप-बीती को व्यक्त करता है। रेडियो-प्ले में ध्वनि के उतार-चढ़ाव आदि को प्रमुखता दी जाती है।

वस्तुतः समय के साथ-साथ एकांकी के स्वरूप, विषयों और शैलियों में जो विकास होगा, उसके अनुसार उसके भेदोपभेदों की संख्या मे भी विस्तार और परिवर्तन होता रहेगा, अतः किसी भी वर्गीकरण को स्थायी और अन्तिम नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में हम एकांकी के दो प्रमुख भेद कर सकते हैं—(१) प्राचीन एकांकी—प्राचीन संस्कृत में प्रचलित और (२) आधुनिक एकांकी—पाश्चात्य साहित्य में विकसित।

एकांकी का उद्भव

यद्यपि आधुनिक युग में एकाकी के जिस रूप और शैली का प्रचलन हो रहा है, उसका विकास पाश्चात्य देशों मे हुआ, किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारतीय साहित्य मे भी एकांकी या एकाकी से मिलते-जुलते रूपकों का प्रचार रहा है। नाटक के विभिन्न भेदों में व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी आदि में एक ही अंक होता है, अतः इन्हे प्राचीन ढंग के 'एकांकी' कह सकते है। इसी आधार पर डॉ० सरनामसिंह, प्रो० ललितप्रसाद और प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी ने एकांकी का उद्गम संस्कृत साहित्य से सिद्ध किया है, जब कि प्रो० अमरनाथ गुप्त, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ० एम० पी० खत्री ने इसे पाश्चात्य साहित्य की देन के रूप में स्वीकार किया है। यदि हम 'एकांकी के व्यापक रूप को ग्रहण करते हुए उसमें सभी प्रकार के—प्राचीन एवं नवीन—एकांकियों को लेते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि एकांकियों की दीर्घ परम्परा भारत में रही है, यह दूसरी बात है कि आधुनिक एकांकी का विकास उससे स्वतंत्र रूप में हुआ हो।

संस्कृत एवं प्राकृत में 'एकांकी' के अनेक उदाहरण मिलते हैं। श्री प्रहलादावन देव ने सन् ११६३ ई० में 'पार्थ पराक्रम' (व्यायोग) की रचना की थी। इसके अतिरिक्त सौगंधि हरण (विश्वनाथ); किरातार्जुनीय (वत्सराज), धनंजय-विजय (कंचन-पंडित), भीम विक्रम (मोक्षादित्य), निर्भय भीम (रामचन्द्र) आदि, सफल व्यायोग हैं। 'प्रहसन' की कोटि में आनेवाले एकांकियों में 'कन्दर्पकेलि', 'धूर्त्तचरित्र', 'लटक मेलक', 'लता काम लेखा', 'धूर्त्त समागम', 'धूर्त्त नाटिका', 'हास्य चूड़ामणि' आदि संस्कृत में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार 'भाण' (जिसमें केवल एक ही अंक और पात्र होता है) के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं—जैसे वामन भट्ट का 'शृङ्गार-भूषण', रामचन्द्र दीक्षित कृत 'शृङ्गार-तिलक', शंकर कृत 'श्रद्धातिलक', वत्सराज कृत 'कर्पूर चरित' आदि। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे अनेक विद्वानों ने इन एकांकियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। यह कहना कि पश्चिमी ढंग से एकांकी लिखने पर ही एकांकी कहला सकता है, वास्तव में हमारे दृष्टिकोण की एकांगिता है, अन्यथा हमारा 'भाण' जिसमें कि केवल एक ही पात्र होता है—एकांकी कला का अत्यन्त विकसित रूप है।

हिन्दी में एकांकी का विकास

हिन्दी में एकांकी लेखन का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है, किन्तु एकांकी के कुछ तत्व हमारे पूर्ववर्ती साहित्य में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यदि हम गद्य और पद्य के अन्तर को भूल जाँय तो तुलसी के 'रामचरितमानस', केशव की 'रामचन्द्रिका', नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' में से कुछ दृश्य ऐसे निकालकर अलग किए जा सकते हैं, जो एकांकी का रूप धारण करने में समर्थ हो सकें। तुलसी के 'परशुराम-लक्ष्मण संवाद', 'कैकेयी-मंथरा संवाद'; 'अंगद-रावण-संवाद' या केशव के 'रावण-बाणासुर संवाद', 'रावण-अंगद संवाद' अथवा नरोत्तम के 'सुदामा चरित्र' में 'पति-पत्नी' संवाद में स्वतन्त्र रूप में एकांकी की सी नाटकीयता, तीव्रता, मार्मिकता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है। सन् १८५० के अनन्तर गीति-नाट्यों में लिखे गए 'इन्दरसभा', 'बन्दर सभा', 'मुछन्दर सभा' आदि को भी डा० रामचरण महेन्द्र ने एकांकी का प्रारम्भिक रूप माना है।

हिन्दी में प्राचीन ढंग के गद्य-पद्य एकांकियों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ। उन्होंने प्राचीन संस्कृत-नाट्य-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते हुए नाटक व एकांकी के विभिन्न रूपों के विकास का प्रयत्न किया। उन्होंने 'धनंजय-विजय' (व्यायोग-अनूदित), 'प्रेम-योगिनी' (अपूर्ण मौलिक), 'पाखण्ड-विडम्बना' (अनूदित), अंधेर नगरी (प्रहसन), 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) आदि की रचना की, जिनमें प्राचीन ढंग के एकांकियों के लक्षणों का निर्वाह हुआ है। अपने इन एकांकियों में जहाँ उनका एक लक्ष्य कला का विकास करना है, वहाँ दूसरी ओर जनता का ध्यान तत्कालीन समस्याओं की ओर आकर्षित करना भी है। उनके प्रहसनों में विभिन्न रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, सामाजिक एवं राष्ट्रीय बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। विदेशी सरकार की खबर भी यत्र-तत्र ली गई। 'विषस्य विष-

मौषधम्' में वे लिखते हैं—"धन्य है ईश्वर ! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं ।"

हिन्दी एकांकी-साहित्य के पूर्ण अधिकारी विद्वान् डॉ० महेन्द्र भारतेन्दु के इन एकांकियों पर विचार करते हुए लिखते हैं—"किन्तु जिस बात से हम विशेष प्रभावित होते हैं, वह उनकी प्रतिभा है । उन पर नये ढंग के बँगला नाटकों तथा फारसी रंगमंच का भी प्रभाव था । फारसी रंगमंच की दोहा-शेर वाली पद्धति की छाप उनके एकां-कियों पर है । अंग्रेजी का प्रभाव बंग-साहित्य के माध्यम से उनकी एकाकी-कला पर पड़ा है ।"

भारतेन्दु के अतिरिक्त उनके युग में अन्य लेखकों ने शताधिक रूपकों व प्रहसनों आदि की रचना की, जिन्हें प्राचीन ढंग के एकांकी कह सकते हैं । इनमे से कुछ का नाम यहाँ उद्धृत किया जाता है—'तन मन धन गुसाई जी के अर्पण' (राधाचरण गोस्वामी), 'कलयुगी जनेऊ' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'शिक्षादान' (बालकृष्ण भट्ट), 'दु:खिनी बाला' (राधाकृष्ण दास), 'रेल का विकट खेल' (कार्तिकप्रसाद), 'वैदिकी मिथ्या मिथ्या न भवति' (जी० एल० उपाध्याय), 'हिन्दी उर्दू नाटक' (रत्नचन्द्र) 'चौपट-चपेट' (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि । इन एकांकियों में वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं, जो पीछे भारतेन्दु के एकांकियों में बताई गई हैं । वस्तुतः इन्हे इनके लेखकों ने 'नाटक' की संज्ञा दी है, जिससे इनकी गणना 'नाटक' के अन्तर्गत हो होती रही है । किन्तु इनके लक्षणों एवं शैली को देखते हुए इन्हें एकांकी के अन्तर्गत ही स्थान दिया जाना उचित है ।

द्विवेदी-युग में हिन्दी एकांकी के स्वरूप पर पाश्चात्य एकांकी का भी प्रभाव पड़ने लगा जिससे उनके बाह्य रूप में क्रमशः थोड़ा-थोड़ा अन्तर आने लगा; किन्तु उनकी मूल आत्मा भारतेन्दु-युग के अनुरूप ही रही । उनका प्रमुख उद्देश्य—समाज सुधार एवं राष्ट्रोन्नति ही रहा । इस युग के प्रमुख एकांकियों में मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा का 'शेरसिंह', सियाराम शरण का 'कृष्ण', ब्रजलाल शास्त्री के 'भारती' में प्रकाशित अनेक एकांकी—'नीला', 'दुर्गावती', 'पन्ना', 'तारा' आदि, रामसिंह वर्मा के दो प्रहसन—'रेशमी रूमाल' 'क्रिसमिस', सरयूप्रसाद मिश्र का 'भयंकर भूत', शिवरामदास गुप्त का 'नाक में दम', बदरीनाथ भट्ट का 'रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छना', रूपनारायण पांडेय का 'मूर्ख मंडली', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'चार बेचारे', श्री सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि उल्लेखनीय हैं । इस युग के एकांकियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) सामाजिक व्यंग्यात्मक, (२) राष्ट्रीय ऐतिहासिक, (३) धार्मिक पौराणिक और (४) अनुवादित ।

शिल्प की दृष्टि से भी द्विवेदी-युग के एकांकियों में पूर्व युग से विकास दृष्टि-गोचर होता है । भारतेन्दु-युग में कहीं-कहीं नांदी, प्रस्तावना, भरत वाक्य आदि की प्रवृत्ति दीख पड़ती थी, जो इस युग में आकर लुप्त हो गई । कथानक को तीव्रगति से चरम-सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न भी किया जाने लगा । पद्य का पूर्ण बहिष्कार होने लगा ।

फिर भी एकांकी के पाश्चात्य रूप का पूर्ण विकास इनमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

आधुनिक एकांकी

पाश्चात्य शैली में लिखे गए एकांकी—जिन्हें हम यहाँ 'आधुनिक एकांकी' कह सकते हैं—का विकास हिन्दी में लगभग सन् १६३० ई० के अनन्तर हुआ। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने संवत् १६८३ लगभग (१६३० ई०) में 'एक घूंट' की रचना की। विभिन्न विद्वानों ने 'एक घूंट' को आधुनिक ढंग का सर्वप्रथम हिन्दी एकांकी स्वीकार किया है। डॉ० हरदेव बाहरी का कथन है—"यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, राधारमण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्ण दास ने पिछली शताब्दी में ही ऐसे रूपक लिखे थे, जो आजकल के एकांकियों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु उन्हें आदर्श एकांकी नहीं कह सकते। हिन्दी एकांकी का प्रादुर्भाव जयशंकर 'प्रसाद' के 'एक घूंट' से होता है।" दूसरी ओर डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है—"सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ 'प्रसाद' के 'एक घूंट' से होता है। 'प्रसाद' पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टैकनीक का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है।" (आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १३१) इस मत का समर्थन प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी, डॉ० सत्येन्द्र, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभृति विद्वानों ने भी किया है, अतः इसे स्वीकार कर लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। डॉ० महेन्द्र ने प्रसाद के 'सज्जन' और 'करुणालय' को भी एकांकी के अन्तर्गत लिया है।

'प्रसाद' के 'एक घूंट' के अनन्तर अनेक लेखकों ने अनूदित एवं मौलिक एकांकी लिखे। श्री कामेश्वरनाथ भार्गव ने 'विशप्स केण्डिल स्टिक्स' का अनुवाद 'पुजारी' शीर्षक से प्रस्तुत किया। हेराल्ड ब्रिगहाउस के 'दि प्रिंस हू वाज पाइपर', जे० ए० फर्गूसन के "केम्पबेल आफ् किल्म्होर', ए० ए० मिलन के 'दि मैन इन दि बौउलर हैट' आदि के अनुवाद भी विभिन्न लेखकों द्वारा सन् १६३८-३६ के लगभग किए गए। सन् १६३८ मे 'हंस' का 'एकांकी' विशेषांक प्रकाशित हुआ, जिससे हिन्दी के लेखकों को एकांकी की कला के सम्बन्ध में अनेक नयी बातें ज्ञात हुई।

मौलिक एकांकियों की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय सर्वप्रथम डॉ० रामकुमार वर्मा को है। उनका 'बादल की मृत्यु' सन् १६३० में प्रकाशित हुआ, जिसे डॉ० सत्येन्द्र ने 'एक घूंट' के अनन्तर दूसरा स्थान दिया है। कला की दृष्टि से यद्यपि यह सफल एकांकी नहीं था, पर प्रयोग की दृष्टि से एकांकी के इतिहास में इसका स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें काल्पनिकता एवं काव्यात्मकता अधिक है, नाटकीयता कम। इसी से कुछ विद्वानों ने इसे 'अभिनयात्मक गद्यकाव्य' के नाम से पुकारा है। आगे चलकर वर्माजी के कई एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए, जिन्हे कालक्रमानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—'पृथ्वीराज की आँखें' (१६३७), 'रेशमी टाई' (१६४६), चारुमित्रा (१६४३), विभूति (१६४३), सप्तकिरण (१६४७), रूप-रंग (१६४८), कौमुदी-महोत्सव (१६४६), ध्रुव-तारिका (१६५०), ऋतुराज (१६५२), रजत-रश्मि (१६५२), दीपदान (१६५४), काम-कंदला (१६५५), बापू (१६५६), इन्द्र-धनुष (१६५७), रिमझिम

(१९५७) आदि। डा० वर्मा के एकांकियों को विषय की दृष्टि से सामाजिक एवं ऐतिहासिक वर्ग में रक्खा जा सकता है। उन्होंने जीवन की तात्कालिक यथार्थता के स्थान पर चिरन्तन सत्य का चित्रण किया है। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है, अतः उनकी रचनाओं में महत्वपूर्ण संदेश की अभिव्यक्ति हुई है। उनके कुछ एकांकियों मे भावात्मकता की भी प्रधानता है। वर्माजी की शैली में सरसता एवं प्रौढ़ता मिलती है।

वर्माजी के साथ-साथ ही एकांकी के क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाले लेखकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर, गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख है। मिश्रजी के एकांकी-संग्रह इस क्रम से प्रकाशित हुए हैं—अशोक वन, प्रलय के पंख पर, एक दिन, कावेरी में कमल, बलहीन, नारी का रंग, स्वर्ग में विप्लव, भगवान मनु तथा अन्य एकाकी आदि। इन्होंने अपने एकांकियों में पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण सूक्ष्म रूप में किया है। उनमे ज्ञान और मनोरंजन का समन्वय सुन्दर ढंग से हुआ है। अभिनयशीलता का भी उनमें पूर्ण निर्वाह है। डॉ० नगेन्द्र का मत है—'इसके अतिरिक्त विदेशी साहित्य का बुद्धिवाद, यथार्थवाद, चिरन्तन नारीत्व की समस्या, प्रकृति की ओर परिवर्तन का अनुरोध, जीवन के मौलिक सत्यों की निर्भ्रान्त स्वीकृति आदि संस्कृति संकुल प्रवृत्तियाँ उनके मन में काम कर रही है। इधर भारत की अपनी समस्याओं—यहाँ की आध्यात्मिकता का भी उन पर प्रभाव है।" (आधुनिक हिन्दी नाटक; पृ० ५६)।

सामाजिक समस्याओं के चित्रण में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। वे मध्यवर्ग के समाज की कमजोरियों, रूढ़ियों तथा जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं पर व्यंग्यात्मक शैली से प्रकाश डालते हैं। व्यंग्य की तीखी चोट करने में 'अश्क' की बराबरी हिन्दी का और कोई एकांकी लेखक नहीं कर सका। 'अधिकार का रक्षक' उनकी इस व्यंग्यात्मक शैली का स्थायी प्रमाण है। उन्होंने सर्वत्र पात्रानुकूल भाषा शैली का प्रयोग किया है, जिससे उनके एकांकियों में कहीं-कहीं खड़ी बोली के स्थान पर राजस्थानी, अवधी, बंगाली, पंजाबी आदि का भी प्रयोग मिलता है। मनोरंजन एवं अभिनेयता की दृष्टि से भी अनेक एकांकी पूर्णतः सफल हैं। उनके एकांकियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) **सामाजिक व्यंग्य**—पापी (१९३७), लक्ष्मी का स्वागत (१९३८), मोहब्बत (१९३८), क्रासवर्ड पहेली (१९३९), अधिकार का रक्षक (१९३९), आपस का समझौता (१९३९), स्वर्ग की झलक (१९३९), विवाह के दिन (१९३९), जोंक (१९३९) आदि। (२) **सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक एकांकी**—चरवाहे (१९४२), चिलमन (१९४२), खिड़की (१९४२) चुम्बक (१९४२), मैमूना (१९४२), देवताओं की छाया में (१९४२), चमत्कार (१९४३), सूखी डाली (१९४६), अंधी गली (१९५२) आदि। (३) **मनोवैज्ञानिक एकांकी प्रहसन**—आदि मार्ग (१९४७), अंजो दीदी, भँवर (१९४४), कैसा साब, कैसी आया, पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ (१९५१), बतसिया (१९५२), सयाना मालिक, जीवन-साथी (१९५२) आदि। वस्तुतः 'अश्क' का

एकांकी साहित्य परिमाण की दृष्टि से विशाल है, रूप और शैलियों की दृष्टि से विविधता-पूर्ण है और कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ है।

श्री उदयशङ्कर भट्ट ने 'एक ही कब्र में' (१९३३), 'दस हजार' (१९३८), 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतालिस', 'वर-निर्वाचन', 'सेठ लाभचन्द्र' आदि एकांकियों की रचना सन् १९४० से पूर्व की। इनमें विभिन्न सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। सन् १९४० और १९४२ के मध्य उन्होंने 'स्त्री का हृदय', 'नकली और असली', 'बड़े आदमी की मृत्यु', 'विष की पुड़िया', 'मुंशी अनोखेलाल' आदि एकांकियों की रचना की, जिनमें हास्य और व्यंग्य का भी विकास मिलता है। आगे चलकर उनके अनेक एकांकी प्रकाशित हुए जिनमें 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह', 'मनु और मानव', 'समस्या का अन्त', 'कुमार-संभव', 'गिरती दीवारें', 'पिशाचों का नाच', 'बीमार का इलाज', 'आत्म-प्रदान', 'जीवन', 'वापसी', 'मंदिर के द्वार पर', 'दो अतिथि', 'अघटित', 'अंधकार', 'नये मेहमान', 'नया नाटक', 'विस्फोट', 'धूम-शिखा' आदि उल्लेखनीय हैं। भट्टजी की कला का प्रौढ़तम रूप 'बाबूजी', 'यह स्वतन्त्रता का युग', 'मायोपिया', 'अपनी अपनी खाट पर', 'बार्गेन', 'ग्रहदशा' 'पर्दे के पीछे' आदि में मिलता है। पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने रेडियो के लिये भी एकांकी लिखे हैं, जैसे—'गांधी का रामराज्य', 'धर्म-परम्परा', 'एकला चलो रे', 'अमर अर्चना', 'मालती माधव', 'वन-महोत्सव', 'मदन-दहन' आदि।

'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा', आदि में भट्टजी ने काव्यात्मक शैली में भावनाओं के घात-प्रतिघात का चित्रण किया है। वस्तुतः भट्टजी के एकांकियों का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है; उनमें जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है। डॉ० नगेन्द्र ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—"भट्टजी के एकांकियों का संविधान रंगमंचीय है तथा उन्हें सरलता से अभिनीत किया जा सकता है····तात्पर्य यह है कि भट्टजी के एकांकी जहाँ ज्ञान-बहुल है, और मानव जीवन की पारदर्शिता को प्रकट करते हैं, वहाँ वे जीवन के बहु-व्यापी अंग-उपांगों का गहन विश्लेषण भी करते हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि, मानव के विकास में चेतना का अन्तर्दर्शी विवेचन, उनके इस साहित्य का रूप है। मालूम होता है, जैसे भट्टजी के द्वारा गीति, कविता, कथानक की प्रौढ़ता, समय की अन्तरंग दृष्टि, ऐतिहासिक ऊहापोह, जीवन-कल्याण की सभी भावनाओं का उनके नाटकों में प्रकटीकरण हुआ है।" (हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास; पृष्ठ १६३)

श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र पाश्चात्य एकांकियों एवं एकाकीकारों की शैली का हिन्दी में पूर्ण विकास करने की दृष्टि से बहुत विख्यात हैं। उनका प्रथम एकांकी 'श्यामा : एक वैवाहिक बिडम्बना' सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ था जिस पर बर्नार्ड शा के 'कैन्टिडा' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तत्पश्चात् 'पतिता' (१९३४), 'एक साम्यहीन साम्यवादी' (१९३४), 'प्रतिभा का विवाह' (१९३६), 'रहस्य रोमांच : लाटरी' (१९३५), 'मृत्यु' (१९३६), आदि प्रकाशित हुए जो पाश्चात्य प्रभाव से युक्त हैं। उनकी प्रौढ़ रचनाओं में 'सवा आठ बजे', 'आदमखोर' (१९३८), 'इंसपेक्टर जनरल' (१९४०), 'रोशनी और आग' (१९४१), 'फोटोग्राफर के सामने' (१९४५),

'ताँबे के कीड़े' (१९४६), 'इतिहास की केंचुल' (१९४८), 'आजादी की नींद' (१९४८), 'सींकों की गाड़ी' (१९५०) आदि उल्लेखनीय हैं। आपने ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर 'सिकन्दर' (१९५०), 'अकबर' (१९५०) और 'चंगेज खाँ' की भी रचना की है।

आपने सामाजिक रूढ़ियों, विवाह-वैषम्य, विभिन्न मनोवृत्तियों एवं मानसिक प्रवृत्तियों के चित्रण को ही अपनी कला का लक्ष्य बनाया है। उनके एकांकियों का मूल केन्द्र काम-चेतना तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का भावात्मक चित्रण है। "हिन्दू समाज के कठोर नियंत्रण, रूढ़ियों एवं पाखण्ड में आधुनिक शिक्षाप्राप्त युवक-युवतियों की वासना अनियंत्रित रूप से भड़ककर विकृत हो चुकी है, जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ रही है, वैसे-वैसे शिक्षित एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न मध्यवर्ग की सेक्स भावना-ग्रन्थियाँ जटिलतर होती जा रही हैं। इस प्रकार की क्रान्तिकारी भावनाओं से परिपूर्ण समस्याओं में भुवनेश्वर ऐसे उलझ गए हैं कि कहीं-कहीं यह भ्रम हो जाता है कि ये एकांकी भारत के लिए हैं या पश्चिमी प्रदेशों के विकसित समाज के लिए। उन्मुक्त प्रेम, वैवाहिक वैषम्य, बाहर से सुसंस्कृत किन्तु अन्दर से अनेक जटिलताओं के पुलिंदे पात्र प्रारम्भिक एकांकियों को कुछ कृत्रिम और अस्वाभाविक बनाते हैं।" फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकांकी के विविध तत्वों के विकास, उसकी शिल्प-विधि के प्रयोग एवं शैली की कलात्मकता की दृष्टि से उनके एकांकियों का बहुत महत्व है।

सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक एवं सामयिक आदि सभी विषयों पर कलम उठाई है। उनके नाटकों एवं एकांकियों की संख्या सौ से भी ऊपर है। आपके कुछ एकांकी ये हैं—(१) ऐतिहासिक—बुद्ध की एक शिष्या, बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन ? नानक की नमाज, तेगबहादुर की भविष्यवाणी, परमहंस का पत्नीप्रेम आदि। (२) सामाजिक समस्या प्रधान—स्पर्धा, मानव-मन, मैत्री, हंगर-स्ट्राइक, ईद और होली, जाति-उत्थान, वह मरा क्यों ? आदि। (३) राजनैतिक—सच्चा कांग्रेसी कौन ? (४) पौराणिक—कृषि-यज्ञ आदि। सेठजी का दृष्टिकोण आदर्शवादी एवं सुधारवादी है, अतः उनमें समस्याओं का चित्रण प्रचारात्मक ढंग से होता है। कला की सूक्ष्मता के स्थान पर उनमें विचारों की प्रौढ़ता अधिक है। कहीं-कहीं मनोरंजन की मात्रा उनमें न्यूनातिन्यून रह जाती है। उनकी शैली सरल एवं रोचक है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर का प्रथम एकांकी 'मेरी बाँसुरी' सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर आपके अनेक एकांकी प्रकाशित हुए—भोर का तारा (१९३७), कलिंग-विजय (१९३७), रीढ़ की हड्डी (१९३९), मकड़ी का जाला (१९४१), खंडहर (१९५३), खिड़की की राह (१९४९), घोंसले (१९५०), कबूतर-खाना (१९५१), भाषण (१९५२), ओ मेरे सपने (१९५३), शारदीय (१९५५), बंदी (१९५५) आदि। माथुरजी के प्रायः सभी एकांकी रंगमंच की दृष्टि से बहुत सफल हैं। आपने यथार्थवादी शैली में विभिन्न समस्याओं का न केवल चित्रण किया है, अपितु, उनका मौलिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। हास्य और व्यंग का पुट उनके एकांकियों में मिलता है। वस्तुतः

उनकी रचनाओं में विचार और अनुभूति, प्रचार और कला तथा ज्ञान और मनोरंजन दोनों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है।

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी अंग्रेजी-एकांकी साहित्य की ज्ञान-गरिमा को लेकर हिन्दी में अवतीर्ण हुए। भुवनेश्वरप्रसादजी पाश्चात्य प्रभाव को भली प्रकार पचा नहीं पाए थे, किन्तु द्विवेदीजी ऐसा कर पाए हैं। आपके प्रमुख एकांकी ये हैं—सोहाग-बिन्दी, वह फिर आयी थी, पर्दे का अपर पार्श्व, शर्माजी, दूसरा उपाय ही क्या है, सर्वस्व-समर्पण, कामरेड गोष्ठी, परीक्षा, रपट, रिहर्सल, धरती-माता आदि। आपने प्रायः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण किया है। यौन-आकर्षण, प्रेम-वैषम्य, अनमेल-विवाह आदि से उत्पन्न होनेवाली मानसिक जटिलताओं का सूक्ष्म विश्लेषण इनके साहित्य में मिलता है। एकांकी के शिल्प और कला का विकास भी उनकी रचनाओं में मिलता है।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी एकांकी का विकास बड़ी द्रुत गति से हुआ है। डॉ० जयनाथ 'नलिन', प्रभाकर माचवे, भगवतीचरण वर्मा, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी, सत्येन्द्र शरत, रेवतीशरण शर्मा, विमला लूथरा, चिरंजीत, देवराज दिनेश, राजीव सक्सेना प्रभृति ने शताधिक सफल एकांकियों की रचना की है। इनके कथानक में विविधता का पर्याप्त समावेश दृष्टिगत होता है। राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक, धार्मिक, पौराणिक, सांस्कृतिक सभी विषयों पर एकांकी लिखे गए हैं। समकालीन समस्याओं पर भी लेखकों ने एकांकियों द्वारा प्रकाश डाला है। टैकनीक की दृष्टि से भी वे रंगमंच के और अधिक निकट आ रहे हैं। अब प्रारम्भिक पूर्वकथा नहीं दी जाती, पात्र स्वयं अपना परिचय देते है, रंगमंच की सूचनाएँ पर्याप्त होती हैं, संगीत का बहुत कम प्रयोग होता है। हर प्रकार की अस्वाभाविकता से बचने और भाषा, संवाद आदि सभी क्षेत्रों में स्वाभाविकता की रक्षा के प्रयत्न में आज एकांकी विविधता, कलात्मकता और प्रौढ़ता सभी दृष्टियों से उन्नति करता है।

रेडियो नाटक को हम एकांकी का रूप मानते हैं। यद्यपि उनकी टेकनीक मंचीय एकांकी से भिन्न होती है, तथापि वह एकांकी का ही एक भेद है—१. जिससे वर्तमान सामाजिक विषमताओं से मुक्ति और नई ग्रामीण अर्थव्यवस्था के चित्र प्रस्तुत किए जाते है। २. समाजवादी यथार्थवाद जिसमें व्यक्ति और समाज की समस्याओं का यथार्थ चित्रण होता है। ३. मनोविश्लेषणात्मकता की जिसमें अवचेतन मन की उलझी संवेदनाओं और कुंठाओं के चित्र प्रस्तुत किए जाते है। ४. ऐतिहासिक—जिसमें अतीत की ऐतिहासिक, पौराणिक या धार्मिक परिस्थिति एवं वातावरण से सम्बन्धित कथावस्तु को लिया गया है। रेडियो प्रहसन और झलकियाँ जहाँ एक ओर हमारा मनोरंजन करती हैं वहाँ वे समाज के गले-सड़े अंगों पर व्यंग कर उनके प्रति हमारा आक्रोश और विक्षोभ भी जागृत करती हैं। सारांश यह है कि नवीन एकांकी केवल मनोरंजन की वस्तु ही नहीं है, वे गम्भीर सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का समाधान तथा नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करते हैं। हिन्दी एकांकियों ने अनेक,

अछूते विषयों, नई समस्याओं तथा नवीन दृष्टिकोण अभिव्यक्त कर हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का एकांकी-साहित्य आज पर्याप्त उन्नत दशा में है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अत्यन्त व्यापक, विचारों की दृष्टि से गम्भीर एवं शैली की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण है। इसके माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास-पुराण की नयी व्याख्या प्रस्तुत हुई है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक जीवन के प्रायः सभी पक्षों एवं उसकी समस्याओं का अंकन भी इनमें हुआ है। एकांकी के प्रायः सभी प्रचलित भेदोपभेदों, यथा—ध्वनि रूपक, संगीत रूपक, रेडियो प्रहसन या झलकी, मोनोलॉग या स्वगत-नाट्य, आदि का भी विकास इसमें दृष्टिगोचर होता है। अतः हिन्दी-एकांकी साहित्य की प्रगति को संतोषजनक कहा जा सकता है। इतना अवश्य है कि विद्वान् पाठकों एवं समीक्षकों द्वारा एकांकीकारों को अपेक्षित प्रोत्साहन प्रायः नहीं दिया गया है। आज जितनी चर्चा कहानी एवं कविता की की जाती है, उतनी एकांकियों की नहीं होती, जबकि अपनी उपलब्धियों की दृष्टि से यह इनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आशा है, आलोचकगण इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व पर ध्यान देंगे।

:: चालीस ::

हिन्दी आलोचना : स्वरूप और विकास

१. 'आलोचना' शब्द की व्याख्या।
२. आलोचना के प्रकार।
३. भारतीय साहित्य में आलोचना का विकास।
४. हिन्दी में समीक्षा का विकास—(क) भक्तिकाल और रीतिकाल, (ख) आधुनिक युग—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्लजी और उनके परवर्ती समीक्षक, अन्य प्रमुख समीक्षक।
५. उपसंहार।

'आलोचना' शब्द 'लोच्' धातु से बना है, 'लोच्' का अर्थ है—देखना अतः आलोचना का अर्थ है 'देखना'। किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "साहित्य-क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचन कहलाता है।—यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।" आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए डॉ० गुलाबरायजी लिखते हैं कि—"आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है।"

विभिन्न दृष्टिकोणों, प्रयोजनों एवं पद्धतियों की दृष्टि से आलोचना के मूलतः दो भेद किए जा सकते हैं—(२) साहित्यिक समीक्षा एवं (२) वैज्ञानिक समीक्षा। साहित्यिक समीक्षा में समीक्षक का लक्ष्य व्यक्तिगत (Subjective) दृष्टि से कृति के सम्बन्ध में निजी अनुभूतियों, धारणाओं एवं मूल्यों को कलात्मक शैली में प्रस्तुत करने का होता है, जबकि वैज्ञानिक समीक्षा में वस्तुगत (Objective) दृष्टि से कृति का प्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में सुनिश्चित एवं संतुलित निर्णय-देने का होता है। वैज्ञानिक समीक्षा में शैली या पद्धति भी भावात्मक न होकर विचारात्मक होती है। वस्तुतः साहित्यिक समीक्षा जहाँ कला या साहित्य की कोटि में आती है, वहाँ वैज्ञानिक समीक्षा विज्ञान या अनुसंधान की श्रेणी में रखी जा सकती है। इनमें से भी प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद होते हैं—ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक। ऐतिहासिक में जहाँ इतिहास के उद्भव एवं विकास की व्याख्या की जाती है, वहाँ सैद्धान्तिक में सिद्धान्तों एवं मूल्यों की स्थापना की जाती है। व्यावहारिक समीक्षा में पूर्व निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर कृति का विवेचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता

है। समीक्षक के द्वारा प्रयुक्त दृष्टिकोण के आधार पर इन सबके तीन-तीन उपभेद और किए जा सकते हैं—(१) शास्त्रीय (२) मनोविश्लेषणात्मक (३) सामाजवादी। इनमें क्रमशः परम्परागत साहित्य-शास्त्र, आधुनिक मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण, समाजवादी या प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अपनाया जाता है। इसी प्रकार समीक्षा के दो निम्नस्तरीय भेद और भी हैं—(१) भावाभिव्यंजक (२) पत्रकारक (पत्र-पत्रिकाओं में निकलने वाले रोचक परिचय)। वस्तुतः ये दोनों भेद शुद्ध समीक्षा के अन्तर्गत नहीं आते, अतः इन्हें समीक्षाभास ही मानना चाहिए। इस प्रकार समीक्षा के अनेक भेद प्रचलित हैं।

भारतीय साहित्य में आलोचना का विकास

भारतीय साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम सैद्धान्तिक आलोचना का विकास हुआ जिसे 'काव्य-शास्त्र' या 'अलंकार-शास्त्र' के नाम से पुकारा जाता रहा है। उपलब्ध ग्रंथों में प्राचीनतम रचना भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्य-शास्त्र' है जिसमें साहित्य के मानदण्ड के रूप में 'रस-सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की गई है। साहित्य का मूल तत्व भाव है; रस-सिद्धान्त भी भाव और भावनाओं के उद्वेलन की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करता हुआ साहित्य की विषय-वस्तु का वर्गीकरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है। काव्य में भाव तत्व को सर्वाधिक महत्व प्रदान करके रस-सिद्धान्त के आचार्यो ने एक उचित दिशा में काव्य-शास्त्र को आगे बढ़ाया। भरत के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने रस-सिद्धान्त के विभिन्न अस्पष्ट स्थलों की विस्तृत व्याख्या की, विशेषतः रस-निष्पत्ति की समस्या को लेकर भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने अपने-अपने स्वतंत्र मत की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर भामह, उद्भट, दण्डी आदि आचार्यों ने रस के स्थान पर काव्य की आत्मा के रूप में 'अलंकार' की प्रतिष्ठा की। अलंकार के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ बहुत व्यापक थीं, वे उसे 'सौन्दर्य' के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण करते थे। परवर्ती युग में वामन के द्वारा 'रीति-सम्प्रदाय' की, कुतक के द्वारा 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' की तथा आनन्द-वर्द्धनाचार्य द्वारा 'ध्वनि सम्प्रदाय' की प्रतिष्ठा हुई, जिन्होंने क्रमशः रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। क्षेमेन्द्र ने इन सभी के उचित प्रयोग को महत्वपूर्ण मानते हुए 'औचित्य सम्प्रदाय' की स्थापना की। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि व्याख्याताओं ने क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को अपनाते हुए अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सभी का विवेचन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-साहित्य में आलोचना का पर्याप्त विकास हुआ, किन्तु यह आलोचना सिद्धान्त-स्थापना तक ही सीमित है, उनका व्यवहार विशद रूप में उपलब्ध नहीं होता। जितना श्रम नए-नए सिद्धान्तों की स्थापना के लिए किया गया, उतना संभवतः उनके प्रयोग में नहीं किया गया। आधुनिक युग की भाँति हमें कहीं भी किसी पूरे ग्रन्थ या किसी कवि की आलोचना स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में नहीं मिलती। बात यह है कि हमारे यहाँ आलोचना की निर्णयात्मक पद्धति का प्रचलन रहा, विभिन्न विद्यालयों, गोष्ठियों एवं राज-दरबारों में केवल मौखिक रूप से इस बात की

चर्चा होती रही थी कि अमुक रचना में यह दोष है, अमुक में यह गुण है उनका लिखित विवेचन नहीं होता था। हाँ, कुछ काव्य-शास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों के 'काव्य-दोष' प्रकरण में अवश्य पूर्ववर्ती एवं समकालीन साहित्यकारों की खबर अप्रत्यक्ष रूप में ली है। आलोचना के कुछ अन्य रूपों, जैसे टीकाओं, व्याख्याओं आदि के लिखने का अवश्य संस्कृत में प्रचार रहा।

हिन्दी में समीक्षा का विकास

संस्कृत की काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुसार हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सैद्धान्तिक आलोचना का विकास हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्रारम्भिक सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ सिद्धांत-विवेचन के उद्देश्य से न लिखे जाकर भक्ति या शृङ्गार अथवा काव्य-रचना की प्रेरणा से रचित हुए। सूरदास की 'साहित्य-लहरी' एवं नन्ददास की 'रस-मंजरी' में नायिका-भेद का प्रतिपादन संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर ही हुआ है, किन्तु उनका लक्ष्य नायिका-भेद को समझाना न होकर अपने आराध्य कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में योग देना है। अकबर के कुछ दरबारी कवियों—करणेश, रहीम, गोपा, भूपति आदि द्वारा भी काव्य-विवेचन न होकर रसिकता का पोषण करना था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में केशवदास ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की रचना की, जिनका उद्देश्य काव्य शास्त्र के सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों का परिचय कराना था, इनकी रचना ही पातुर प्रवीण राय को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देने के निमित्त हुई थी। अतः केशवदास के विवेचन में भले ही प्रौढ़ता न मिलती हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा उन्होंने विशुद्ध आचार्यत्व की प्रेरणा से किया था। केशवदास की परम्परा का विकास परवर्ती युग के कवियों ने किया, जिन्हें हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता—अनेक कवियों ने काव्य-शास्त्र के सभी अंगों का प्रतिपादन किया, जिनमें आचार्यत्व की झलक मिलती है। (२) रस और नायिका-भेद सम्बन्धी ग्रन्थों के रचयिता—इस वर्ग के कवियों का लक्ष्य आचार्यत्व कम था, मनोरंजन के निमित्त काव्यशास्त्र की आड में कामुकता और रसिकता को प्रवाहित करना अधिक था। (३) अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता—कुछ कवियों ने केवल अलंकारों का प्रतिपादन किया है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियों के अलंकार-ज्ञान के निमित्त काव्यमय शैली में 'पाठ्य-पुस्तकों' का निर्माण करना था। उस युग में मुद्रण यंत्र का अभाव था, अतः किसी एक ही पुस्तक का सर्वत्र प्रचार नहीं हो पाता था, विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न ग्रन्थों की रचना होती थी। (४) कवियों नें केवल नख-शिख एवं षड्ऋतु-वर्णन को लेकर काव्य ग्रंथों की रचना की। इनमें भी विशुद्ध रसिकता का उद्रेक मिलता है।

इस प्रकार मध्यकाल में काव्य-शास्त्रीय एवं अलंकार-सम्बन्धी ग्रंथों में ही समीक्षा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु इनका महत्व अधिक नहीं है। एक तो इनका आधार संस्कृत काव्य-शास्त्र है, जिनका ब्रज-भाषा-पद्य में अनुवाद कर देना ही

इनका लक्ष्य रहा है। इनमें मौलिकता नहीं मिलती। दूसरे, इनमें विवेचन की प्रौढ़ता, गम्भीरता या स्पष्टता का अभाव है और तीसरे, इनमें गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं।

वस्तुतः मध्यकालीन ग्रंथों का इतना ही महत्व है कि इनके द्वारा हमारा साहित्य-शास्त्र संस्कृत काव्य-शास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित रह सका—संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा अशुद्ध, अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप में प्रचलित रह सकी। हाँ, इनकी एक देन और भी—इन ग्रन्थों में विभिन्न अंगों के सरस उदाहरण भी भारी संख्या में उपलब्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से ये संस्कृत काव्य-शास्त्र से भी आगे बढ़ जाते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समीक्षा का विकास

आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता एवं पोषक विराट् साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-साहित्य के सभी उपेक्षित अंगों का विकास किया था, अतः आलोचना-साहित्य भी उनके युग-परिवर्तनकारी करों के स्पर्श से वंचित कैसे रह सकता था। यदि संस्कृत के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' लिखा, तो आधुनिक हिन्दी के जनक बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' की रचना की। यह दुर्भाग्य की बात है कि डा० श्यामसुन्दरदासजी की यह धारणा बन गई थी कि 'नाटक' स्वयं भारतेन्दु द्वारा रचित नहीं है, जिसके कारण यह ग्रन्थ अभी तक उपेक्षित-सा रहा। डा० श्यामसुन्दरदास ने अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि ग्रन्थ की भाषा भारतेन्दु के अन्य ग्रन्थों से नहीं मिलती, किन्तु उनका यह तर्क समीचीन नहीं। विषय के अनुरूप लेखक की शैली में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना का है, अतः नाटक की भाषा-शैली से इसमें अन्तर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की 'भूमिका' और 'समर्पण' मे स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्पष्ट रूप में लिखा है—"आशा है सज्जनगण मात्र गुणग्रहण करके मेरा श्रम सफल करेंगे।" इस ग्रन्थ को भारतेन्दुजी ने अपने इष्टदेव को प्रेमपूर्वक समर्पित किया है—"नाथ! आज एक सप्ताह होता कि मेरे इस मनुष्यजीवन का अंतिम अंक हो चुकता.... नहीं तो यह ग्रंथ प्रकाश भी न होने पाता....जब प्रकाश होता है तो समर्पण भी होना आवश्यक है। अतएव अपनाए हुए की वस्तु समझकर अंगीकार कीजिए!" सब कुछ होने पर भी डा० श्यामसुन्दरदास ने इसे किसी अन्य का रचित घोषित क्यों किया, यह समझ में नहीं आता। एक बात अवश्य है कि स्वयं डा० श्यामसुन्दरदास ने भी नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'रूपक-रहस्य' लिखा था। हो सकता है 'रूपक-रहस्य' के महत्व को बनाये रखने के लिए ही उन्होंने यह रहस्य खड़ा किया हो।

भारतेन्दु के 'नाटक' का प्रकाशन सन् १८८३ ई० हुआ था। यह ग्रन्थ एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है, जिसमें प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र एवं आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी के नाटककारों के लिए सामान्य

नियम निर्धारित किए गए हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएँ प्रकट हुई हैं। एक ओर वे नाटक के भेदों का विवेचन करते हुए अपने युग के सभी नाटकों-कठपुतलियों के खेलों, बाजीगरों के तमाशों, पारसियों के नाटकों आदि-पर दृष्टि-पात करते हैं, तो दूसरी ओर वे अपने युग का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं—'नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें, यह आवश्यक नहीं किन्तु वर्तमान समय मे इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इसमें संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं बोध होता। नाटक की अर्थ-प्रकृतियों, संधियों आदि रूढ़ियों के सम्बन्ध में वे घोषणा करते हैं "संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटकों में इनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।" इस प्रकार की उक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि भारतेन्दुजी में केवल अनुवाद करने की ही क्षमता नहीं थी, वे प्राचीन नाट्य-शास्त्र को नया रूप देने में भी पूर्णतः समर्थ थे, भले ही 'रूपक-रहस्य' के लेखक महोदय को यह मौलिकता अरुचिकर प्रतीत हो।

इस ग्रन्थ में सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन के अनन्तर संस्कृत, हिन्दी और यूरोप के नाटक-साहित्य के विकास पर प्रकाश डाला गया है तथा अपने समकालीन नाटकों की यत्र-तत्र समीक्षा की गई है। उनकी समीक्षा के व्यावहारिक रूप में कहीं-कहीं तीखी व्यंग्यात्मकता के भी दर्शन होते हैं। जैसे वे पारसी नाटकों की आलोचना करते हुए लिखते हैं—"काशी मे पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमे धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक-कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डॉक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की होती है। बिना पूर्व-कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकान्तर स्थित आत्मा को नरक-कष्ट देना है।"

भारतेन्दु की 'नाटक' रचना के साथ-साथ ही चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'बंग-विजेता' पुस्तकों की समालोचना विस्तृत रूप में की तथा दूसरी ओर बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से 'संयोगिता-स्वयंवर' की आलाचना की। भारतेन्दु के द्वारा प्रवर्तित समालोचना के कार्य को आगे बढ़ाने का श्रेय इन्हीं दोनों लेखकों को है। 'संयोगिता-स्वयंवर' लाला श्रीनिवासदासजी द्वारा रचित ऐतिहासिक नाटक था। अतः कहना चाहिए कि सैद्धान्तिक समीक्षा की भाँति व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी प्राथ-मिकता नाटक को ही मिली। भट्टजी एवं प्रेमघनजी की आलोचनाओं में समीक्षा का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं उनमें तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता भी आ गई है—"नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है, यह दर्शाना चाहिए।" भट्टजी की शैली में भावात्मकता, आत्मानुभूति एवं लेखक को

सीधा सम्बोधित करने की प्रवृत्ति भी मिलती है—"लालाजी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे से पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे ? क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया !····कृपा करके विचारी निरपराधिनी कवित्व-शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजियेगा····लालाजी। कभी आपने इस बात पर भी ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमें होती है।....अहा, अहा, तनिक और ज्यादा धँस जाता तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पड़ता !" प्रेमघन जी की शैली में भट्ट की-सी सरसता एवं व्यंग्यात्मकता तो नहीं मिलती, किन्तु गम्भीरता उनमें अधिक है।

भारतेन्दु-युग में उपर्युक्त लेखकों द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं, जिससे हिन्दी में व्यावहारिक समीक्षा का विकास होने लगा। सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' के संपादक के रूप में महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में अवतरण हुआ। किन्तु उनके आगमन से पूर्व दो-तीन आलोचनात्मक छोटी पुस्तिकाएँ और भी प्रकाशित हो चुकी थीं—गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना, (१८९६), अंबिकादत्त व्यास की 'गद्य-काव्य मीमांसा' आदि। द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता', 'नैषध-चरित्र-चर्चा', 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' आदि ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने अपने ग्रन्थों मे प्राचीन एवं नवीन कवियों के गुण-दोषों का विवेचन व्यंग्यात्मक शैली में किया। वस्तुतः वे मूलतः एक शिक्षक, संशोधक और सुधारक थे। उन्होंने अपनी समीक्षाओं के द्वारा हिन्दी-काव्य को शृङ्गारिकता के दल-दल से निकालकर उसे देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित कर दिया। ब्रज-भाषा के स्थान पर शुद्ध खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी उन्हे ही है। द्विवेदीजी की शैली में सरलता, सरसता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है।

द्विवेदीजी के अनन्तर हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं (गणेशबिहारी मिश्र श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवबिहारी मिश्र) का प्रवेश हुआ, जिन्होंने 'हिन्दी नवरत्न', 'मिश्रबन्धु-विनोद' आदि की रचना की। 'हिन्दी-नवरत्न' मे कवियों का श्रेणी विभाग करते हुए देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध किया। उन्होंने बिहारी की कविता में अनेक दोष ढूँढ़ निकाले। बिहारी पर किए गए इस आक्रमण से प्रेरित होकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' लिखी, जिसमें चमत्कारपूर्ण ढंग से बिहारी की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार देव और बिहारी को लेकर एक विवाद चल पड़ा। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' मे दोनों कवियों की कविताओं की तुलना संयत तथा मार्मिक शैली में की। किन्तु कहीं-कही उन्होंने बिहारी पर भद्दे आक्षेप भी किए। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखी, जिसमे पुनः बिहारी को बड़ा सिद्ध किया गया।

इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का प्रचार हो रहा था, जिसके सामने न कोई विशेष आदर्श था और न ही कोई विशेष सिद्धान्त। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने-अपने ढंग से

जिसे चाहें बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न हो रहा था। किन्तु आचार्य शुक्ल साहित्य का एक सुनिश्चित मान-दण्ड एवं समीक्षा की एक विकसित पद्धति लेकर अवतरित हुए। उन्होंने स्थूल नैतिकता या भौतिक लाभ-हानि के प्रश्न को त्यागकर साहित्य की सूक्ष्म शक्ति—भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति को साहित्य की कसौटी के रूप मे अपनाया। उन्होंने शताब्दियों प्राचीन रस-सिद्धान्त को नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने काव्य में सौन्दर्य या रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया, किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे तत्वों का समन्वय किया, जिससे उनकी आलोचना सामाजिकता से दूर नहीं जा सकी। वे समाज-हितैषिता को साहित्य का साध्य तो नहीं मानते, किन्तु एक ऐसे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, जो साहित्य को व्यापकता प्रदान करता है। वस्तुतः उन्होंने 'कला कला लिए' और 'कला जीवन के लिए' दोनों में अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया।

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित ग्रन्थों में 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'चितामणि' आदि उल्लेखनीय हैं। आचार्य शुक्ल जी के आदर्श कवि तुलसीदासजी है। उन्होंने जितना अधिक महत्व इन्हे दिया तथा जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इनके काव्य का किया, उतना वे किसी अन्य कवि व उसकी रचनाओं का नहीं कर सके। शुक्ल जी की शैली में सूक्ष्मता, गम्भीरता और प्रौढ़ता के दर्शन होते है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रौढ़ रचनाओं के द्वारा हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में युग-परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

शुक्लजी के ही समकालीन आलोचकों में बाबू श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने एक वैज्ञानिक की भाँति पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्तों का निष्पक्ष दृष्टि से अनुशीलन करके उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया। हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रथम प्रौढ़ ग्रंथ 'साहित्यालोचक' बाबू श्याम-सुन्दरदास जी के द्वारा प्रस्तुत हुआ। यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिकता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु फिर भी इसका स्थायी महत्व है। बख्शीजी ने 'विश्व-साहित्य' की रचना की, जिसमें विश्व साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल-परवर्ती युग में हिन्दी-समीक्षा का विकास द्रुत गति से हुआ। इस युग के समीक्षात्मक विकास को विभिन्न वर्गों में विभाजित करते हुए इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है—

(क) **ऐतिहासिक समीक्षा**—इस वर्ग में मुख्यतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० भगीरथप्रसाद मिश्र प्रभृति आते हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' आदि ग्रन्थों द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास पर नूतन आलोक प्रसारित करते हुए अनेक नूतन स्थापनाएँ स्थापित कीं। विशेषतः संत-साहित्य एवं वैष्णव भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया। उनके अन्य समीक्षात्मक ग्रन्थ—'सूरसाहित्य', 'कबीर' आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं जो कि व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में आदिकाल एवं भक्तिकाल का विवेचन अत्यन्त विस्तार से किया है

तथा अनेक कवियों का मूल्यांकन साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। डा० भगीरथप्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' एवं 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' के द्वारा हिन्दी के इतिहास को स्पष्ट किया है। इनके अतिरिक्त डा० श्रीकृष्णलाल एवं डा० केसरी नारायण शुक्ल, ने भी आधुनिक काल का स्पष्टीकरण किया है।

(ख) **सैद्धान्तिक समीक्षा**—इस वर्ग में मुख्यतः डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, प्रभृति आते हैं। डा० गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि ग्रन्थों में भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों से साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया है। डा० नगेन्द्र इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के वास्तविक उत्तराधिकारी सिद्ध होते हैं; उन्होंने 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका', 'रस-सिद्धान्त', 'काव्य-बिम्ब', 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' जैसे ग्रन्थों के द्वारा भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को निकट लाने का प्रयास करते हुए हिन्दी समीक्षा को एक प्रौढ़ एवं सशक्त आधार प्रदान किया है। उन्होंने एक ओर तो संस्कृत की आचार्य परम्परा को तथा दूसरी ओर ग्रीक-चिन्तन-परंपरा को हिन्दी की धरती पर अवतरित करने में भगीरथ का प्रयास किया है, जिस पर हिन्दी समीक्षा गर्व कर सकती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' में तथा डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने 'भारतीय साहित्य', 'रस-विमर्श', आदि में भारतीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इस प्रसंग मे डा० रामलाल सिंह का 'समीक्षा-दर्शन', डा० सत्यदेव चौधरी का 'रीतिकालीन आचार्य', डा० कृष्ण देवझारी का 'रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा' डा० भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' भी उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा भारतीय सिद्धान्तों का पुर्नविवेचन नूतन दृष्टि से हुआ है।

(ग) **व्यावहारिक समीक्षा**—इस वर्ग में शुक्लोत्तर समीक्षकों में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शती', 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न', 'जयशंकर प्रसाद', 'सूरदास' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। वस्तुतः छायावादी रचनाओं का सर्वप्रथम सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य बाजपेयी को है। उपन्यासकार प्रेमचन्द की सीमाओं की ओर भी सर्व प्रथम संकेत करने का साहस आपने ही किया। स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रयोगवादियों के साथ संघर्ष करते हुए उन्हें नयी कविता की ओर अग्रसर करने का श्रेय भी इन्हें दिया जा सकता है। वस्तुतः वे अपने युग के सजग समीक्षक थे।

शुक्ल-परम्परा के अन्य समीक्षकों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० विनय मोहन शर्मा, डा० सत्येन्द्र, डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', डा० त्रिगुणायत का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अपनी प्रौढ़ समीक्षात्मक कृतियों द्वारा अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यकारों का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। डा० शम्भूनाथ

सिंह, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने भी इस क्षेत्र में योग दिया है।

मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से समीक्षा करनेवाले आलोचकों में डा० देवराज उपाध्याय का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने अपने 'हिन्दी-काव्य-साहित्य और मनोविज्ञान' में मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से कथा-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न पक्षों की आलोचना प्रस्तुत की है, जिनमें डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, डा० शिवदान सिंह चौहान का नाम उल्लेखनीय है।

(घ) **वैज्ञानिक समीक्षा**—हिन्दी समीक्षा की विगत दशाब्दी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि समीक्षा की वैज्ञानिक पद्धति की स्थापना है। इसमें समीक्षक भारतीय एवं पाश्चात्य प्राचीन एवं नवीन मानदंडों को संशोधित एवं समन्वित करता हुआ तटस्थ व संतुलित दृष्टि से विषय-वस्तु का विवेचन-विश्लेषण व मूल्यांकन करता है। साहित्य के विभिन्न तत्वों, उसकी प्रक्रियाओं व समस्याओं के स्पष्टीकरण के लिए इसमें सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण की भी सहायता ली जाती है। वस्तुतः इसमें साहित्य-सिद्धान्तों को व विभिन्न रचनाओं से सम्बन्धित निष्कर्षों को सार्वदेशिक या यूनिवर्सल रूप देने की चेष्टा की जाती है, इसलिए उसमें शैली की भावुकता एवं काल्पनिकता या रंगीनी की अपेक्षा निष्कर्षों की प्रामाणिकता पर अधिक बल दिया जाता है।

वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के उन्नायकों में **डा० माताप्रसाद गुप्त** का नाम सर्वोपरि है जिन्होंने एक ओर तो अपने 'तुलसीदास' में तुलसी-साहित्य का संतुलित विवेचन प्रस्तुत करके तथा दूसरी ओर 'वीसलदेव रास', 'पद्मावत', 'चाँदायन', 'मृगावती', 'कबीर-ग्रन्थावली' आदि का पाठ-शोधन करके वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया। तदनन्तर डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने 'अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय' के द्वारा वैज्ञानिक शोध-पद्धति को अग्रसर किया। इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक शोध-कर्त्ताओं ने विभिन्न साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विश्लेषण व मूल्यांकन में वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग किया है—इसमे डा० भगीरथ मिश्र, डा० कृष्णलाल, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय डा० सावित्री सिन्हा, डा० सरनाम सिंह, डा० सत्येन्द्र, डा० भोलानाथ तिवारी, डा० हीरालाल माहेश्वरी, डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दी में वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति को सम्यक् रूप में प्रतिष्ठित करने का एक विनम्र प्रयास प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के द्वारा भी हुआ है। उसने अपने 'साहित्य-विज्ञान' या 'साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन' तथा 'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन' में साहित्य-सिद्धान्तों को वैज्ञानिक रूप देने की तथा 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में साहित्येतिहास लेखन के विकासवादी सिद्धान्तों की स्थापना की चेष्टा की है। इसी प्रकार 'बिहारी-सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा' व 'महादेवी : नया मूल्यांकन' में विवेच्य वस्तु की तटस्थ एवं संतुलित दृष्टि से विवेचना का प्रयास किया गया है। ये प्रयास कहाँ

तक सफल हैं इसका निर्णय तो विद्वान् पाठक ही करेंगे, हमारा लक्ष्य तो यहाँ केवल सूचना देना मात्र है।

आधुनिक साहित्य और नयी कविता के आलोचकों में डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० नामवर सिंह, डा० जगदीश गुप्त, डा० श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रभृति के नाम महत्व-पूर्ण हैं। डा० मदान ने प्रेमचन्द से लेकर आज तक के कथा-साहित्य की विवेचना अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी अनेक नवीन प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया है। डा० नामवर सिंह ने अपनी नवीनतम कृति 'कविता के नये प्रतिमान' में समीक्षा के आधुनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार अन्य आलोचकों ने भी नये साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

इधर हिन्दी में पत्रकारिता के स्तर की एकांगी, व्यक्तिगत, रोचक किन्तु असंतु-लित समीक्षाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं, जो वस्तु की समीक्षा तो कम करती हैं, किन्तु चौंकाती अधिक हैं।

इस प्रकार हिन्दी समीक्षा का विकास विभिन्न क्षेत्रों में नये-नये रूपों में हो रहा है। 'साहित्य-संदेश', 'आलोचना', 'माध्यम', 'लहर', 'कल्पना', 'नयी-धारा' आदि पत्रि-काओं ने भी इसके विकास में पर्याप्त योग दिया है। वस्तुतः हिन्दी-समीक्षा आज प्रत्येक दृष्टि से प्रौढ़ है। फिर भी यह एक कटु सत्य है कि हिन्दी के आलोचक या तो प्राचीन संस्कृत काव्य-शास्त्र के तत्त्वों का उपयोग करते रहे हैं या पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों, मूल्यों एवं विचारों से प्रभावित रहे हैं। तथाकथित नये समीक्षक प्रायः पाश्चात्य समीक्षा की नूतन प्रवृत्तियों के ही अनुयायी दृष्टिगोचर होते हैं। प्रश्न है—हिन्दी का आलोचक कोई नया दृष्टिकोण, विचार या सिद्धान्त क्यों नहीं दे पाता ? उसकी दृष्टि एवं पद्धति दोनों ही उधार ली हुई क्यों है ? कदाचित् यह हमारी मानसिक गुलामी का परिचायक है। फिर भी नूतन सिद्धान्तों का सर्वथा अभाव भी नहीं है। आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र एवं मनोविज्ञान के आधार पर 'आकर्षण शक्ति सिद्धान्त' एवं 'साहित्य के विकासवादी सूत्रों' की स्थापना मौलिक रूप में हुई है, जो केवल हिन्दी की अपनी उपलब्धि है, यह दूसरी बात है कि आज भी हम अपनी मौलिक उपलब्धियों की अपेक्षा पश्चिम की अनुकृतियों का अधिक आदर करते हैं। आशा है कि भविष्य में यह स्थिति नहीं रहेगी।

हिन्दी साहित्य :
प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ

:: इकतालीस ::

रहस्यवाद और हिन्दी काव्य

१. 'रहस्य' का अर्थ।
२. रहस्यवाद की परिभाषाएँ।
३. रहस्यवाद के प्रमुख लक्षण।
४. रहस्यवाद के भेदोपभेद।
५. रहस्यवाद की विभिन्न अवस्थाएँ।
६. भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का विकास।
७. हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादी कवि—(क) कबीर, (ख) जायसी, (ग) प्रसाद, (घ) निराला, (ङ) पंत, (च) महादेवी।
८. रहस्यवाद की सामान्य प्रवृत्तियाँ।
९. उपसंहार।

'रहस्य' का अर्थ है—छिपी हुई बात, अतः रहस्यवाद का अर्थ हुआ, वह वाद (विचार-धारा) जिसका मूलाधार छिपा हुआ है, अज्ञात है। विश्व का सबसे बड़ा रहस्य वह परम तत्त्व या परमेश्वर है, जिसने इस विश्व का निर्माण किया, जो इसके पालन-पोषण एवं संहार में प्रवृत्त है तथा जिसे जानने, देखने व प्राप्त करने का प्रयत्न सहस्राब्दियों से असंख्य दार्शनिक, साधक, भक्त एवं महात्मा-गण करते आ रहे हैं, किन्तु फिर भी वह अज्ञेय है, अदृश्य है और अगम्य है। रहस्यवाद का सम्बन्ध विश्व की इसी रहस्यमयी शक्ति से है। जब मानव-आत्मा उस शक्ति तक पहुँचने का प्रयास करती हुई विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों प्राप्त करती है और उन्हें भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर देती है तो एक ऐसे भाव-समूह का संचयन हो जाता है, जिसे साहित्यिक शब्दावली में 'रहस्यवाद' कहते हैं। इस 'रहस्यवाद' को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाओं के प्रकाश की रंग-बिरंगी किरणें विकीर्ण की हैं, जिनसे रहस्यवाद चाहे द्योतित हो पाता हो या नहीं, किन्तु पाठकों की दृष्टि में चकाचौंध अवश्य उत्पन्न हो जाती है। यह दोष विद्वानों का नहीं, स्वयं रहस्यवाद का ही है, और तो और स्वयं रहस्यवादी भी इसे स्पष्ट करने में सफल नहीं हुए हैं। जिस कबीर ने अपनी वाणी के तीखे एवं नुकीले बाणों से काशी के पण्डितों को वाग्युद्ध में परास्त कर दिया था, वही जब रहस्य की व्याख्या में प्रवृत्त होता है तो एक भोले शिशु की भाँति तुतलाने लगता है, वह 'रहस्य-शक्ति' को—'कहिबे कूं शोभा नहीं, देख्या ही परमाण' कहकर, 'रहस्य-गाथा' को 'अकथ कहानी प्रेम की' बताकर और रहस्यानुभूति को 'गूंगे का गुड़' मानकर मौन हो जाता है।

आधुनिक युग के रहस्यवादी (या रहस्यवादी कहे जाने वाले) कवियों ने भी या तो रहस्यवाद की व्याख्या करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है और यदि उन्होंने ऐसा करने का प्रयत्न भी किया है, तो उनकी व्याख्या अपने-आपमें एक रहस्यवाद बन गई है। जहाँ प्रसाद ने "हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता!" (कामायनी) कहकर अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली, वहाँ महादेवी ने परिभाषा के नाम पर ऐसी कहानी छेड़ दी, जो केवल रहस्यवादियों की ही समझ में आ सकती है—"जब प्रकृति की अनेकरूपता, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया, जिसका एक छोर किसी असीम चेतन में और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।" यहाँ रहस्यवाद को 'दूसरा सोपान' बताया गया है, किन्तु हमारी समझ में तो यही नहीं आया कि इस चक्रव्यूह का प्रथम सोपान ही कहाँ से आरम्भ होता है।

कविता, नाटक, आलोचना, इतिहास आदि सभी में गति रखने वाले डा० रामकुमार वर्मा ने भी 'रहस्यवाद' के रहस्योद्घाटन का प्रयास करते हुए लिखा है—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।" वह 'अन्तर्निहित प्रवृत्ति' क्या है और वह 'दिव्य और अलौकिक शक्ति' से अपना सम्बन्ध क्यों जोड़ना चाहती है—इन प्रश्नों का उत्तर संभवतः इन पंक्तियों में न मिल सकेगा। हमारे और भी कई आलोचकों ने इसके स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखा है—"चिन्तन से क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।" श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'रहस्यवाद' को 'हृदय की दिव्य अनुभूति' बताकर इसे स्पष्ट किया है तो डॉ० त्रिगुणायत ने 'रहस्य अनुभूतियों' से रहस्यवाद की सृष्टि बताकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी रहस्यमयी वाणी का प्रयोग करते हुए लिखा है—"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा-विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होनेवाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है, जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बद्ध रखती है।"

रहस्यवाद की उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी वाद को समझने के लिए 'परि' को छोड़कर केवल 'भाषा' का ही

आश्रय ग्रहण करें तो अधिक अच्छा होगा। बिल्कुल साधारण भाषा में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में आत्मा और परमात्मा के प्रेम की व्यंजना को 'रहस्यवाद' कहते हैं।

रहस्यवाद के प्रमुख लक्षण

रहस्यवाद के तीन प्रमुख लक्षण ये हैं—(१) अद्वैतवादी विचारधारा की स्वीकृति—अर्थात् रहस्यवादी कवि चाहे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का माननेवाला क्यों न हो, किन्तु मूलतः उसे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि आत्मा और परमात्मा अद्वैत (एक) हैं। (२) परम सत्ता से रागात्मक सम्बन्ध की अनुभूति—प्रत्येक अद्वैतवादी दार्शनिक आत्मा और परमात्मा की एकता को स्वीकार तो करता है, किन्तु उसकी भावात्मक अनुभूति भी उसे हो, यह आवश्यक नहीं, जबकि रहस्यवादी के लिए इस ऐक्य सम्बन्ध की रागात्मक अनुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। (३) भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति—हमारे कितने ही साधकों ने अपने जीवन में अद्वैत-सम्बन्ध की अनुभूति प्राप्त की है, किन्तु उन सबको हम रहस्यवादी नहीं कह सकते। अनुभूतियों का प्रकाशन हँसकर, रोकर, नाचकर या गाकर—विविध प्रकार से किया जा सकता है, किन्तु रहस्यवाद के अन्तर्गत उन्हीं अनुभूतियों का समावेश किया जाता है जो भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती हैं।

किसी भी साहित्य को 'रहस्यवादी' घोषित करने के लिए उसमें उपर्युक्त तीनो लक्षणों का मिलना आवश्यक है, किन्तु कई बार देखा जाता है कि इनमें से किसी एक के अभाव में भी रहस्यवाद की कल्पना कर ली जाती है। जैसे, कबीर की निम्नांकित पंक्तियों को रहस्यवाद के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जाता है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जल ही समाना, यह तत्त कथौं ग्यानी॥

यहाँ अद्वैत का सिद्धान्त कोरा प्रतिपादन है—'यह तत्त कथौं ग्यानी' से स्पष्ट है कि यहाँ 'तत्त्व-कथन' या 'तत्त्व का विवेचन मात्र किया गया है'। अनुभूति की तरलता इन पंक्तियों में नहीं है, अतः इसमें अद्वैतवाद ही है, रहस्यवाद नहीं। अद्वैतवाद की ऐसी सोदाहरण व्याख्याएँ गद्य और पद्य के अनेक दार्शनिकों और भक्तों ने की हैं, किन्तु उन सबको हम रहस्यवादी नहीं कह सकते।

इसी प्रकार तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्त-कवियों में अलौकिक के प्रति प्रेम, काव्यमय व्यंजना—ये दो लक्षण तो मिलते हैं, किन्तु उनमें अद्वैत की मान्यता का अभाव होता है, अतः उन्हें भी रहस्यवादी नहीं कह सकते। कुछ लोग मीरा के मिलन को आत्मा और परमात्मा का मिलन समझकर उसे रहस्यवादी बता देते हैं, किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि सभी भक्त कवियों की भाँति मीरा अपने अलौकिक प्रभु से मिलना चाहती हैं, वे उसमें मिलकर अद्वैत हो जाना नहीं चाहतीं। भक्त कवि अपने आराध्य से केवल 'दर्शन' की याचना करता है—'दर्शन' के लिए 'द्रष्टा' और 'दृश्य'—दो की

उपस्थिति अनिवार्य है, अतः उनमें अद्वैत भावना के विकास की सम्भावना नहीं रहती।

रहस्यवाद के भेदोपभेद

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद के कई भेद किए हैं। पाश्चात्य विद्वान् स्पर्जन ने रहस्यवाद के चार भेद बताए हैं—(१) प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद, (२) दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद, (३) धर्म और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद और (४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद। इसी प्रकार रामचन्द्र शुक्ल ने भी दो प्रकार के रहस्यवाद का उल्लेख किया है—(१) साधनात्मक रहस्यवाद और (२) भावात्मक रहस्यवाद। कुछ अन्य आलोचकों ने एक 'साहित्यिक रहस्यवाद' की भी चर्चा की है। हमारी दृष्टि में उपर्युक्त सभी भेद अप्राकृतिक और अनावश्यक हैं। रहस्यवाद में अलौकिक प्रेम और अद्वैत दर्शन की सत्ता अनिवार्य रूप से रहती है, अतः प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद और दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद—दोनों को एक दूसरे से भिन्न बताना उचित नहीं। कोरे धर्म, दर्शन या कोरी उपासना या साधना से भी रहस्यवाद की सृष्टि नहीं हो सकती, इन सबमें रागात्मकता का पुट होने पर ही रहस्यवाद का विकास हो सकता है, अतः धार्मिक, दार्शनिक, उपासनात्मक या साधनात्मक भेद भी भावात्मक रहस्यवाद से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार रागात्मकता या प्रणय में ही भावात्मकता एवं साहित्यिकता का भी समावेश हो जाता है। अस्तु, उपर्युक्त भेद, भेद न होकर एक ही रहस्यवाद के विभिन्न अंग हैं, जो समन्वित रूप में साथ-साथ विद्यमान रहते हैं।

हाँ, रहस्यवादी कवियों के अवश्य हम दो भेद कर सकते हैं। एक तो वे जो अपने वास्तविक जीवन में पूर्णतः साधक या उपासक होते हैं, जो अपनी साधना के बल पर परम तत्व की अनुभूति प्राप्त करते हैं और उसे स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। दूसरे वे हैं जो प्रत्यक्ष जीवन में तो सांसारिकता में मग्न होते हैं, किन्तु विश्राम की कुछ घड़ियों में कल्पना या चिंतन के बल पर रहस्यवाद की सृष्टि कर लेते हैं। कुछ कवि अपने लौकिक प्रेम को भी अलौकिकता का आवरण डालकर व्यक्त करते हैं, अतः ये भी दूसरी कोटि में आते हैं। इन दोनों प्रकार के कवियों को क्रमशः यथार्थ रहस्यवादी और काल्पनिक रहस्यवादी कहा जा सकता है। प्राचीन संत कवि—कबीर, दादू आदि यथार्थ रहस्यवादी थे, जब कि प्रसाद, पंत, निराला आदि काल्पनिक रहस्यवादी। सच्चे रहस्यवादी जीवन के अन्त तक रहस्यवादी रहते हैं, किन्तु काल्पनिक रहस्यवादिता का रंग समय के साथ फीका पड़ जाता है।

रहस्यवाद की विभिन्न अवस्थाएं

कोई भी रहस्यवादी अपने लक्ष्य तक एकाएक नहीं पहुँच जाता। पहले उसे ईश्वर की सत्ता का विश्वास व आभास होता है, तदनन्तर वह उसकी ओर आकर्षित होता है। धीरे-धीरे यह आकर्षण विरह का रूप धारण कर लेता है और अंत में साधक को अद्वैत स्थिति—मिलन—का अनुभव प्राप्त होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते

हुए रहस्यवाद की मुख्यतः चार अवस्थाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। पहली अवस्था में साधक की परम सत्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वह प्रकृति और जगत् के रूप-सौन्दर्य एवं क्रिया-व्यापारों के मूल में छिपी हुई किसी अलौकिक शक्ति को जानने का प्रयत्न करने लगता है। दूसरी अवस्था में आत्म-चिंतन, दर्शन-शास्त्रों के अध्ययन या गुरु के उपदेश से उसका परम सत्ता तथा उससे आत्मा के अद्वैत सम्बन्ध में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर वह परमात्मा के प्रति गहरे आकर्षण, प्रेम व विरह का अनुभव करने लगता है, जिसे तीसरी अवस्था कह सकते हैं। चौथी अवस्था में रहस्यवादी परम-तत्व का साक्षात्कार अपने हृदय में करने लगता है। इस प्रकार ये चार अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं, किन्तु ध्यान रहे, अवस्थाओं के इस वर्गीकरण को सर्वथा अपरिवर्तनीय नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति के कारण इनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भी हो सकता है और यह भी सम्भव है कि वह एक अवस्था को पार किए बिना ही दूसरी अवस्था प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए, हम कबीर में प्रथम अवस्था—जिज्ञासा को स्थिति का आभास नहीं पाते; गुरु के उपदेश से उनकी साधना का आरम्भ ही दृढ़ आस्तिकता से होता है।

भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का विकास

यद्यपि रहस्यवाद का पूर्ण रूप बहुत बाद में विकसित हुआ है, किन्तु उसके कुछ तत्व हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ—ऋग्वेद में भी उपलब्ध हो जाते हैं। रहस्यवाद की मूल वृत्ति—जिज्ञासा का विकास प्राचीन वैदिक ऋचा में भी उसी प्रकार मिलता है, जैसा कि आज के युग में सम्भव है। सृष्टि की लीला से चमत्कृत होकर वह पूछ बैठता है—

"को अद्धावेद ! क इह प्रवोचत्; कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः ?
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा, को वेद यत आबभूव !
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सो अंग वेद व्यदि वा न वेद।

(ऋग्वेद १०।१२९।६-७)

अर्थात्—कौन ठीक-ठीक जानता है ? कौन यह सच-सच बता सकता है कि इस सृष्टि का उद्भव कहाँ हुआ, कैसे हुआ, और कब हुआ ! सृष्टि का निर्माण स्वतः ही हुआ या किसी ने किया ! यह सब कुछ वह अन्तरिक्षवासी ही जानता है या वह भी जानता है या नहीं—किसे पता !

यहाँ हमें प्रारम्भिक जिज्ञासा ही मिलती है, किन्तु आगे चलकर उपनिषद् ग्रंथों में हमें उस अद्वैत का प्रतिपादन मिलता है, जो रहस्यवाद का मूलाधार है। छांदोग्य उपनिषद् में आत्मा और परमात्मा की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है—"तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि" (वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है !) एक अन्य उपनिषद् में लिखा है—"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (वह अन्य है, मैं अन्य हूँ—जो यह जानता है वह कुछ नहीं जानता !) वस्तुतः उपनिषदों में अद्वैत ज्ञान का

पूर्ण विकास मिलता है, किन्तु उसकी वह काव्यमय अनुभूति नहीं मिलती, जिसे रहस्य-वाद कह सकते हैं।

परवर्ती धार्मिक साहित्य में क्रमशः बौद्धिकता के स्थान पर भावात्मकता का विकास हुआ जिसके फलस्वरूप ज्ञान का स्थान भक्ति ने ले लिया। भक्ति-सूत्र और पौराणिक ग्रंथों में अलौकिक सत्ता के प्रति प्रेम-भावना का तो विकास हुआ, किन्तु रहस्यवाद का मूलाधार—अद्वैत विचार ही लुप्त हो गया। भक्ति के लिए एक का महत् और दूसरे का लघु होना आवश्यक है अतः ऐसी स्थिति में उपनिषदों की अद्वैत मूलक चिन्तन धारा का प्रचार शिथिल हो जाना स्वाभाविक था। आठवीं-नवीं शती में शंकरा-चार्य ने पुनः अद्वैतवाद का उद्धार किया, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत, द्वैता-द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि का आविष्कार करके अद्वैतवाद का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। अतः शुद्ध भारतीय-परम्परा में पन्द्रहवीं शती तक अद्वैतवाद उस स्थिति तक नहीं पहुँच सका जिससे वह रहस्य का रूप धारण कर पाता। इस सम्बन्ध में प्रायः सिद्धों एवं नाथपंथियों का उल्लेख किया जाता है, किन्तु हमारी दृष्टि में दोनों ही रहस्य से शून्य हैं। सिद्धों की साधना-पद्धति में कुछ रहस्य अवश्य था; नारी या साधिका के स्थूल शरीर को ही वे अपनी साधना का सबसे बड़ा साधन समझते थे; उनमें अद्वैतावस्था भी मिलती है, किन्तु वह पुरुष और नारी की शारीरिक अद्वैतावस्था है, आत्मा और परमात्मा से उसका कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता; अतः उसे 'रहस्यवाद' नहीं 'भुक्तिवाद' करना चाहिए। नाथ-पंथियों में अवश्य आध्यात्मिक एकता का निदर्शन हुआ है, किन्तु उनकी इस एकता का साधन भावना न होकर योग-साधना है। भावात्मक अनुभूति के बिना किसी भी अद्वैत साधना को रहस्यवाद का नाम नहीं दिया जा सकता।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में भारतीय संतों द्वारा रहस्यवाद का प्रवर्त्तन मुख्यतः दो धार्मिक सम्प्रदायों के योग से हुआ—एक था नाथ-पन्थी सम्प्रदाय और दूसरा वैष्णव-भक्ति सम्प्रदाय। संत लोग एक तो नाथ-पंथियों के निर्गुण की उपासना स्वीकार करते थे, किन्तु हठ योग की साधना-पद्धति से बचना चाहते थे, दूसरी ओर वे भक्ति-आन्दोलन की भावात्मकता को ग्रहण करना चाहते थे, पर उसके सगुणवाद से दूर रहे। इस प्रकार नाथ-पन्थियों का निर्गुण वैष्णव-भक्ति के भक्तिभाव से मिश्रित होकर रहस्यवाद का आधार बन गया। नामदेव, कबीर, दादू आदि संतों में हमें यही रूप दृष्टिगोचर होता है। हमारे अनेक विद्वानों की मान्यता है कि संतों का रहस्यवाद सूफी मत का प्रभाव है, किन्तु इसका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। नामदेव और कबीर ने नाथ-पन्थ के प्रायः सभी पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण किया है, तथा वैष्णव-भक्ति आन्दोलन के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, किन्तु सूफी मत के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं मिलती। हाँ, कहीं-कहीं सूफी मत का खण्डन करने के लिए उसकी चर्चा अवश्य की है, जिसका कोई महत्व नहीं है। अपनी प्रणय-विह्वल अवस्था में कबीर सर्वत्र हरि, गोविंद राम आदि का ही उच्चारण करते हैं, यद्यपि वे उन्हें सगुण अर्थ में ग्रहण नहीं करते। इसके अतिरिक्त संतों की प्रणय भावना के स्वरूप में भी सूफियों की भावना से गहरा अन्तर है। सूफी परमात्मा को प्रेयसी के रूप में ग्रहण करते हैं, जबकि संत उसे पति के

रूप में स्वीकार करते हैं। सूफी मार्गानुयायियों की विरह-व्यंजना में मार-काट, हृदय के घाव, रक्त के आँसुओं आदि की चर्चा के कारण वीभत्सता मिलती है, जिसका भारतीय संतों में अभाव है। दार्शनिक दृष्टि से भी सूफी मत के मूल में सर्वात्मवाद है, जबकि संतों की भावना अद्वैतवाद पर आश्रित है। संतों ने सूफियों के शैतान को न लेकर वेदान्त के मायावाद को ग्रहण किया है। अतः जहाँ तक दार्शनिक मान्यताओं, प्रेमपद्धति, रूपकों एवं प्रतीकों का प्रयोग और भाषा एवं शब्दावली के क्षेत्र की बात है, संतों का रहस्यवाद सूफी मत से सम्बन्धित नहीं है। बाकी जहाँ तक कोरी कल्पना पर आधारित मान्यताओं की बात है, सूफी मत से प्रभावित होने की तो बात ही क्या, कबीर, दादू आदि को सूफी ही मान लिया जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादी कवि

वैसे तो हिन्दी साहित्य में विद्यापति, कबीर, जायसी, तुलसी, मीरा, मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि कवियों की कृतियों में किसी-न-किसी परिमाण में रहस्यवादी पंक्तियाँ ढूंढ़ निकाली गई हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि विद्यापति, तुलसी, मीरा, गुप्त को रहस्यवादी कहना अनुचित है। हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादियों में सामान्यतः कबीर, जायसी, प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की ही चर्चा की जाती है, अतः हम इन पर ही विचार करेंगे।

हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी कवि होने का गौरव महात्मा कबीर को प्राप्त है। यद्यपि उनकी काव्य-धारा पर 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी' का लेबिल लगाकर यह भ्रान्ति उत्पन्न कर दी गई है कि वे ज्ञानमार्गी थे, जबकि वास्तव में वे प्रेम-मार्ग के दृढ़ पथिक थे। प्रेम के समक्ष ज्ञान की हेयता का प्रतिपादन उन्होंने बारम्बार किया है—'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय!' प्रेम को जीवन में वे इतना अधिक महत्व प्रदान करते हैं कि उसकी तुलना में प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं—

सीस काटि पासंग दिया जीव सर भरि लीन्ह।
जाहि भावै सो आइल्यो, प्रेम हाट हम कीन्ह॥

किन्तु कबीर का यह प्रेम अलौकिक प्रेम था—आत्मा और परमात्मा का अद्वैत-मूलक प्रेम था, जिसे रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। इस प्रेम के दोनों पक्ष—विरह और मिलन—उनके काव्य में मिलते हैं। पहले विरह दशा की व्यंजना देखिए—

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥

× × ×

चोट सताणी विरह की, सब तन जर-जर होइ।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोइ॥

× × ×

आंखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि॥

आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे विरह तपाइ-तपाइ॥

इन पंक्तियों में वियोग-वेदना की तीव्रतम अवस्था का अनुभव झलकता है। कबीर जैसा अक्खड़ साधु भी प्रणय की तीखी चोट से घायल होकर किसी विरह-विधुरा बाला की भाँति दीन, असहाय और व्याकुल हो उठता है। उनकी आत्मा जल-वियुक्त मछली की भाँति तड़पने लगती है, किन्तु अन्त में उन मिलन की घड़ियों का भी प्रवेश होता है, जब कि किसी अज्ञात-यौवना मुग्धा की भाँति उनकी आत्मा सोचने लगती है—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं कैसा रहसी रंग॥

और अन्त में उन्हें परम सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है, उनकी आत्मा इस अवसर पर आह्लादित होकर नाच उठती है, झूम उठती है :—

दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आए हो राजा राम भरतार।

× × ×

बहुत दिनन थे मैं प्रीतम पाये। भाग बड़े घर बैठे आये।
मंगलचार माँहि मन राखौं। राम रसाइण रसना चाखौं॥

× × ×

कहैं कबीर मैं कछू न कीन्हां।
सखी सुहाग राम मोंहि दीन्हा॥

मिलन की इन मधुरतम घड़ियों का आख्यान उन्होंने शत-शत शब्दों में किया है, किन्तु फिर भी उन्हें विश्वास नहीं होता कि अपने हृदयस्थ उल्लास को व्यक्त करने में सफल हो सके हैं। रहस्यानुभूति के आस्वादन के सम्बन्ध में उन्हें अन्ततः यही स्वीकार करना पड़ता है कि वह बताने की या बता सकने की बात नहीं है। वह तो गूंगे के गुड़ का स्वाद है।

कुछ आलोचकों ने कबीर के रहस्यवादी रूप का मूल्यांकन करते हुए उसे यौगिक शब्दावली, खण्डन-मण्डन, जटिलता, दुरूहता आदि से ग्रसित बताया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर साहित्य में कुछ अंश ऐसे भी हैं, जिन पर ये आक्षेप लागू होते हैं, विशेषतः जहाँ उन्होंने अपने विचारों का प्रतिपादन किया है, वहाँ ऐसा हो गया है, किन्तु रहस्यानुभूति सम्बन्धी पंक्तियाँ इन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं। विरह-वेदना से त्रस्त कबीर खण्डन-मण्डन, नाथ-पंथ और योग इस सबको भूल गए हैं, मिलन की वेला में भी उनकी आत्मा केवल उस अलौकिक प्रियतम से ही बातचीत करने में लीन है। इस क्षेत्र में हमें किसी भी प्रकार की अस्पष्टता या जटिलता नहीं मिलती। किसी कवि का मूल्यांकन करते समय उसके अनुभूति-पक्ष को लेना चाहिए, न कि विचार-पक्ष को। वस्तुतः रहस्यवादी के रूप में कबीर की महानता असंदिग्ध है, अतुल्य है।

जायसी के 'पद्मावत' को आलोचकों ने सूफी रहस्यवाद से सम्बन्धित करते हुए

रत्नसेन को आत्मा का तथा पद्मावती को परमात्मा का प्रतीक बताया है—किन्तु यह ठीक नहीं। जायसी ने कुंजी स्वयं दी है, उसके अनुसार रत्नसेन 'मन' पद्मावती 'बुधि' और नागमती 'दुनिया, धन्धा' है—'तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चीन्हा।....नागमती दुनिया धन्धा।' यह भी आश्चर्य की बात है कि नागमती (जो कि दुनिया-धन्धा है) को उक्तियों में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति ढूंढी गई है। वस्तुतः पद्मावत पर सूफी मत को बलात् आरोपित किया गया है, जिसके फलस्वरूप इसके रूपक में अनेक असंगतियाँ दृष्टिगोचर होनी स्वाभाविक हैं। जब इन असंगतियों का निराकरण नहीं हो सका, तो अब यह कहा जाने लगा है कि 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला अंश ही प्रक्षिप्त है। वास्तव में रूपक में कोई असंगति नहीं, इसकी पूरी व्याख्या हम अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी) में कर चुके हैं। हम अपने अनुसंधान से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पद्मावत का सूफीमत से कोई सम्बन्ध नहीं है। जायसी ने अपने रूपक में मन (रत्नसेन) का पहले गुरु (तोता) की सहायता से बुद्धि या ज्ञान (पद्मिनी) को उपलब्ध करना, तथा फिर ज्ञान की सहायता से शैतान की माया के जाल (अलाउद्दीन का जाल) को काटकर मोक्ष प्राप्त करने (बन्धन-मोक्ष अध्याय) का प्रतिपादन किया है। इस रूपक में प्रेम का कोई उल्लेख नहीं है, यह विशुद्ध ज्ञान-साधना से सम्बन्ध रखता है। अतः हमारी दृष्टि में 'पद्मावतकार' को रहस्यवादी बताना भ्रान्ति मात्र है। नागमती की विरह-व्यंजना में जिस ढंग से रहस्यवाद सिद्ध किया जाता है, उस ढङ्ग से विद्यापति एवं सूर की गोपिकाओं, तथा देव, बिहारी, पद्माकर की नायिकाओं की उक्तियों में भी सिद्ध किया जा सकता है और उस स्थिति में इन सभी कवियों को रहस्यवादी स्वीकार करना होगा। अस्तु, इस संबंध में यहाँ अधिक चर्चा करना अनावश्यक है।

आधुनिक युगीन रहस्यवादी कवियों मे श्री जयशंकर प्रसाद सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। जैसा कि हमने 'छायावाद' लेख में बताया है—सभी छायावादी कवियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति गौण रूप में मिलती है। इनका रहस्यवाद वास्तविक न होकर काल्पनिक है अर्थात् इन्होंने अपनी लौकिक अनुभूतियों को अलौकिक रूप में व्यक्त किया है, जिस प्रकार कबीर ने अलौकिक प्रणय को लौकिक रूपकों में स्पष्ट किया था। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण यह है कि जिन रचनाओं—प्रेम-पथिक, आँसू आदि—में प्रसाद ने पहले लौकिक प्रेम की व्यंजना की थी उन्हें ही दूसरे संस्करण में अलौकिकता से आवृत कर दिया। खैर, विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रेम चाहे लौकिक हो या अलौकिक इसमें विशेष अन्तर नहीं है; कला के लिए दोनों का मूल्य समान है, यदि प्रभाव की दृष्टि से दोनों का स्तर समान हो ? अतः देखना यह है कि प्रसाद अपने इस अलौकिक प्रेम को (चाहे वह काल्पनिक ही हो) कितना अनुभूतिगम्य बना सके है, उसमें हृदय को स्पर्श करने की शक्ति कितनी है। कहना न होगा कि इस दृष्टि से प्रसाद अधिक सफल नहीं हैं। वे लौकिक और अलौकिक के बीच ही इस भाँति उलझे रहे कि वे किसी भी एक को चरमोत्कर्ष तक नहीं पहुँचा सके। 'प्रेम-पथिक', 'आँसू', 'झरना' और लहर' के गीतों की लौकिकता पर अलौकिकता का झीना आवरण पड़ा रहता है, दूसरी ओर अलौकिकता

भी अनुभूतियों के अभाव में भावात्मकता से युक्त नहीं हो पाई। प्रायः वे प्रभु के प्रति 'आत्म-निवेदन' करते ही दिखाई पड़ते हैं—

"हम हों सुमन की सेज पर या कंटकों की आड़ में।
पर प्राणधन ! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में॥"

एक सच्चे रहस्यवादी को ऐसी याचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अद्वैतवादी के लिए परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है, अतः हृदय की आड़ में छिपे रहने के लिए प्रार्थना करना अनावश्यक है। वह तो सदैव छिपा हुआ है ही—हमारे अनुराग में ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि उसे अनुभव कर सकें।

'लहर' में अवश्य कवि एक गीत में भक्ति-भावना से थोड़ा ऊपर उठ पाया है—

क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है, न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र !
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं !
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं !

× × ×

कुछ भी न दो अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो।

इन पंक्तियों में 'लौकिक प्रेम' का आभास ही अधिक मिलता है; रहस्यवाद के लिए आवश्यक अद्वैत स्थिति का अनुभव इनमें नहीं है। 'औरों के प्रति प्रेम' की चर्चा करने की रहस्यवादी को क्या आवश्यकता पड़ गई ?

'कामायनी' में भी रहस्यवाद, समरसतावाद, श्रद्धावाद, आनन्दवाद आदि-आदि अनेक वाद एकत्रित हो गए है, अतः पर्याप्त स्थान के अभाव में सबको संकुचित होकर बैठना पड़ा है। निम्नांकित पंक्तियों में आत्मा और परमात्मा की एकता देखी जा सकती है—

हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमीं हैं !
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है।

ध्यान रहे, यहाँ आत्माओं को परमात्मा का अवयव ही बताया गया है—यह धारणा अद्वैतवाद की अपेक्षा विशिष्टाद्वैतवाद के अंशांशी-भाव के अधिक निकट पड़ती है। अतः हमारी दृष्टि में प्रसाद के काव्य में आत्मा और परमात्मा की एकता पर आधारित रहस्यवाद कम है, लौकिक और अलौकिक प्रेम के मिश्रण की अस्पष्टता से उद्भूत रहस्यवाद अधिक है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने रहस्यवाद के क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व अद्वैतवादी दर्शन का गहरा मन्थन कर लिया था, अतः उसका प्रतिपादन इन्होंने अनेक स्थानों पर किया है—

"व्यष्टि और समष्टि में नहीं है भेद
भेद आ जाता भ्रम,
माया जिसे कहते हैं !
जिस प्रकाश के बल से

सौर ब्रह्माण्ड को उद्भासमान देखते हो,
उससे नहीं वंचित है एक भी मनुष्य भाई !"

यहाँ अद्वैत मत की व्याख्या की गई है, उसकी अनुभूति का यहाँ अभाव है, अतः यह रहस्यवाद की पूर्व अवस्था मात्र ही है। आगे चलकर उनमें रहस्य-भावना का विकास भी दृष्टिगोचर होता है। "तुम तुंग हिमालय शृङ्ग, मैं चंचल-गति सुरसरिता" कहकर वे अलौकिक के साथ अपना निकट सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। उनके मस्तिष्क की दार्शनिकता, हृदय की वेदना और जीवन की अस्त-व्यस्तता ने मिलकर निराला के रहस्य-वादी स्वरों को और भी अधिक तीव्रता प्रदान कर दी। उनके स्वरों की शुष्कता, कठोरता एवं जटिलता के बीच स्पष्ट कोमल मधुरता का उन्मेष हो उठा। नीचे की पंक्तियों मे उनका हृदयस्पर्शी उल्लास द्रष्टव्य है—

हमें जाना जग के उस पार जहाँ नयनों से नयन मिलें,
ज्योति के स्वरूप सहस्र खिलें सदा ही बहती नव रस धार !
वहीं जाना इस जग के पार !!

इसमें संदेह नहीं कि यहाँ कवि की रहस्य-पथ पर अग्रसर होने की लालसा भली भाँति व्यक्त हुई है। उनकी यह लालसा कहाँ तक पूरी हुई है। इसका कोई पता नहीं चलता। सुना है कि आगे चलकर उन्होंने अपना मार्ग बदल लिया, जिससे रहस्यवाद के स्थान पर किसी अन्य वाद में पहुँच गए।

प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त की रहस्यभावना उनके कोमल व्यक्तित्व की देन है। जन-सम्पर्क से दूर रहकर प्रकृति माँ की गोद में मुँह छुपानेवाली भोली बालिका का किसी काल्पनिक लोक की ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक था। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो अज्ञात लोक में बैठा हुआ कोई अपरिचित उसे आमन्त्रित कर रहा है—

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार विचरते हैं जब स्वप्न अजान !
न जाने नक्षत्रों से कौन ? निमन्त्रण देता मुझको मौन !!

कवि उस अज्ञात-लोक की तैयारी करने लगा, किन्तु 'पल्लव' की प्रकृति ने उसे जाने को आज्ञा नहीं दी और जब आगे उसे ऐसा करने का मौका मिला तो वह 'गुंजन' के मधुर स्वप्नों में लीन होकर किसी 'भावी पत्नी की प्रतीक्षा' में डूब गया; और जब उसकी चेतना पुनः लौटी तो उसे पता चला कि पिछले युग का—जिसमें कि वह अज्ञात लोक की बातें सोचा करता था—जब अन्त हो चुका है। अतः 'युग-वाणी' में प्रवाहित होता हुआ रहस्य-लोक के स्थान पर गाँव की दुनिया—'ग्राम्या—में पहुँच गया। पन्त के रहस्यवादी जीवन की यही है छोटी-सी गाथा, जो 'वीणा', 'पल्लव' और 'गुंजन' में बिखरी पड़ी है।

रहस्यवाद के पथ पर एकांत पथिक की भाँति निरन्तर अग्रसर होनेवाली कवयित्री हिन्दी को महादेवी के रूप में प्राप्त हुई है। यद्यपि उनका अधिकांश जीवन अध्यापन-कार्य में बीतता है, जिससे वे साहित्य-साधना के लिए रात-दिन के चौबीस

घंटो में से कुछ ही क्षण निकल पाती हैं, किन्तु फिर भी वे एक युग से एक ही क्षेत्र में अखंड साधना कर रही हैं—यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं। महादेवी में नारी-हृदय की सहज करुणा, उपनिषदों का अद्वैत-ज्ञान, एकाकी जीवन की अनुभूति और सांसारिक वेदनाओं का अनुभव आदि सभी कुछ है, अतः वे रहस्य-गीतियों की सृष्टि में सफल हो सकी हैं। उनकी रहस्यानुभूतियों का आरम्भ उस दिन से होता है जब—

इन ललचाई पलकों पर जब पहरा था व्रीडा का !
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का !!

× × ×

गई वह अधरों की मुस्कान मुझे मधुमय पीड़ा में बोर !
गए तब से कितने युग बीत, हुए कितने दीपक निर्वाण !!

अस्तु, यह इतिहास बहुत लम्बा है। इस लम्बी अवधि में उन्होंने कितनी बार दीपक जलाए, कितनी बार उनमें स्नेह उँडेला और फिर कितनी बार उन्हें बुझा देने के लिए विवश हुई है, इसे कोई नही जानता। बीच-बीच में कई ऐसे अवसर भी आए हैं जबकि उन्हें अनुभव हुआ कि उनका चिर-प्रतीक्षित बहुत समीप आ गया है, उसके दर्शन अब होनेवाले ही हैं, किन्तु दीपक के प्रकाश में वे साक्षात्कार करना पसंद नहीं करतीं। वैसे देखा जाय तो प्रथम बार भेंट में ऐसा संकोच होना प्रत्येक नारी के लिए स्वाभाविक भी है। अतः वे अपने दीपक को ही नहीं, सभी प्रकाश-पुज को बुझा देती हैं—

हे नभ की दीपावलियो ! तुम पल भर को बुझ जाना !
मेरे प्रियतम को भाता है, तम के परदे में आना !

स्वयं देवीजी को ही नहीं, उनके प्रियतम को भी अंधेरा पसंद है। आलोचकों ने इस अंधकार-स्नेही प्रियतम को पक्षी-विशेष की उपमा दी है—हमारी दृष्टि मे ऐसा करना उचित नहीं है।

महादेवीजी ने विरह का भी वर्णन किया है, किन्तु उसमें एक विचित्रता मिलती है। जहाँ कबीर विरह की चोट से घायल हो जाते हैं, वहाँ ये उसमें माधुर्य की अनुभूति प्राप्त करती हैं—

विरह का दुःख आज दीखा मिलन के मधु पल सरीखा !
दुःख सुख में कौन तीखा, मैं न जानो औ न सीखा !!

विरह और मिलन का भेद कवयित्री नहीं कर सकती, यह एक विचित्र बात है। जो कहता है कि मैं रात-दिन में कई अन्तर नहीं देखता—समझना चाहिए कि कुछ भी नहीं देखता। ठीक उसी प्रकार जिन्हे विरह और मिलन की अनुभूति में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, समझना चाहिए कि उन्हे किसी की भी अनुभूति नहीं है। अन्यथा कबीर ने कहा था—"मारणहारा जाँणि है, कै जिहि लागी सोइ" ठीक ही है। जिन्हें विरह की चोट लगी ही नहीं है, वह उसका अन्तर कैसे जान सकते हैं।

वस्तुतः महादेवीजी का रहस्यवाद मंद-मंद गति से आगे बढ़ रहा है; भले ही वे अधिक प्रगति न कर सकीं, किन्तु इससे हिंदी रहस्यवाद का क्षेत्र बिल्कुल सूना होने

से तो बचा हुआ ही है। उनके दीप का प्रकाश चाहे मंद ही हो, फिर भी वे अपनी साधना में लीन तो हैं—यह कम महत्व की बात नहीं है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हिंदी के रहस्यवादी काव्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं :—

(१) **अद्वैतवादी मान्यता**—यद्यपि रहस्यवाद से सम्बन्ध रखनेवाले कई दार्शनिक सम्प्रदाय हैं—जैसे सूफियों का सर्वात्मवाद, प्लेटो का प्रतिबिम्बवाद, अंग्रेजी के कवियों का प्रकृति-दर्शन आदि—किन्तु हिन्दी के रहस्यवादी मुख्यतः अद्वैत-दर्शन से ही सम्बन्धित हैं।

(२) **दाम्पत्य-प्रेम-पद्धति**—रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रेयसी-प्रियतम, सखी-सखा आदि विभिन्न रूपक अपनाए जाते हैं। हिन्दी में कबीर से लेकर महादेवी तक—प्रायः सभी ने अलौकिक प्रभु को पति रूप में स्वीकार करते हुए अपनी आत्मा को पत्नी रूप में प्रस्तुत किया है।

(३) **प्रेम में स्वच्छता एवं पवित्रता**—दाम्पत्य का रूपक अपनाते हुए भी हिन्दी कवियों ने उसमें स्थूल-मिलन के दृश्य या जुगुप्सोत्पादक क्रिया-कलापों, जैसे—रक्त के आँसू बहाना, हृदय के घाव का बहना आदि—का चित्रण नहीं किया। कबीर मिलन की घड़ियों का वर्णन करते है, किन्तु वे अश्लीलता एवं नग्नता में प्रवृत्त नहीं होते।

(४) **दैन्य एवं आत्म-समर्पण की भावना**—यद्यपि रहस्यवाद के क्षेत्र में आत्मा और परमात्मा की समानता में विश्वास किया जाता है, अतः भक्तों की भाँति रहस्य-वादी साधक में दीनता या लघुता का भाव उदित होना स्वाभाविक नहीं; किन्तु हिन्दी के रहस्यवादी कवियों मे यह प्रवृत्ति मिलती है। कबीर जैसा अक्खड़, शुष्क और कठोर साधक भी प्रभु के सम्मुख दीन-सा बन जाता है—

ना कुछ किया न कर सका, ना करणे जोग शरीर।
जो कुछ किया सो हरि किया है, ता तें भया कबीर॥

× × ×

कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां। सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा॥

यही नहीं, वे दीनता के प्रवाह में अपने आपको राम का कुत्ता तक कह बैठते हैं—

कबीर कुत्तिया राम का, मुतियाँ मेरा नाउं।
गलै राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाउँ॥

आधुनिक कवि प्रसाद भी प्रियतम से दैन्य-पूर्ण, शब्दों में याचना करते है—

करुणा-निधे, यह करुण क्रन्दन भी जरा सुन लीजिए।
कुछ भी दया हो चित्त में तो नाथ रक्षा कीजिए॥

× × ×

हम हैं तुम्हारे, इसलिए फिर भी दया के पात्र हैं॥

—कानन कुसुम

और रौद्र-रूप-धारी निराला भी प्रियतम के द्वार पर पहुँचकर किसी कोमल-किशोरी बाला के स्वर में बोलते हैं—

"बन्द तुम्हारा द्वार
मेरे सुहाग शृङ्गार,
द्वार यह खोलो
सुनो भी मेरी करुण-पुकार
जरा कुछ बोलो।"

प्रश्न है, हमारे कवियों में इस प्रवृत्ति का विकास क्यों मिलता है ? जो लोग हर बात को राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध करने के आदी हैं, वे चट उत्तर दे देंगे—भारत गुलाम था, गुलाम देश के कवियों में दीनता न आयेगी तो और क्या आयेगी। पर वास्तविकता यह नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं; एक तो वैष्णव भक्ति का प्रभाव और दूसरा भारतीय दाम्पत्य-भावना जिसमें पति को पूज्य माना जाता है। तीसरी बात और भी है—प्रेम के विकास से अहं का विगलन हो जाता है, अतः दैन्य का संचार होना स्वाभाविक है।

(५) **प्रतीकात्मकता**—रहस्यानुभूति को व्यक्त करने के लिए साधारण शब्दावली से काम नहीं चलता, अतः प्रायः सभी कवियों ने किसी-न-किसी मात्रा में प्रतीकों का प्रयोग किया है।

(६) **मुक्तक गीति-शैली**—रहस्यवाद में आत्म-निवेदन तथा व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रकाशन होता है, अतः इसके लिए प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक-गीति-शैली का ही प्रयोग उपयुक्त रहता है। कबीर, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी प्रभृति सभी कवियों ने इसी शैली को अपनाया है।

उपसंहार

अन्त में हम कहेंगे कि हिन्दी में रहस्यवाद की व्यंजना अत्यन्त व्यापक रूप में हुई है। यद्यपि आधुनिक कवियों को अनुभूति के अभाव में कबीर की-सी सफलता नहीं मिली, फिर भी प्रेम के स्वच्छ एवं पवित्र रूप के चित्रण की दृष्टि से वे बधाई के पात्र हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि साहित्य और समाज की दृष्टि से रहस्यवादी काव्य का क्या मूल्य है ? आधुनिक अति यथार्थवादी दृष्टिकोण से रहस्यवादी काव्य का विशेष महत्व नहीं है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। जिस अनुभूति ने कबीर जैसे शुष्क तार्किक को भावनाओं से विह्वल बना दिया, वह काव्य के क्षेत्र में उपेक्षणीय कैसे हो सकती है ? हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक रहस्यवादी रचना में अनुभूति की सच्चाई होनी आवश्यक है। कोरी कल्पना पर खड़े किए गये महल या छन्द-रूप में प्रस्तुत की गई अनुभूतियाँ हृदय को प्रभावित नहीं कर पातीं। अतः लौकिकता के भय से ही कृत्रिम अलौकिकता धारण करना उचित प्रतीत नहीं होता।

मानव जाति के छोटे-छोटे समूहों को रहस्यवादी साहित्य भले ही कोई बड़ा सन्देश न दे पाए, किन्तु जहाँ तक अखिल मानव-समाज का प्रश्न है, वह सभी आत्माओं को एक ही सत्ता से सम्बन्धित करके अखण्ड एकता का सन्देश तो देता ही है। विश्व-हित, विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-प्रेम का आदर्श जितनी सत्यता के साथ एक रहस्यवादी व्यक्त कर सकता है, उतना संभवतः कोई और नहीं। आज भले ही इसकी धारा मंद हो गई है, किन्तु यदि विश्वात्मा की सत्ता का विश्वास साहित्यकार में बना रहा तो अवश्य ही उसे रहस्य-लोक की शान्ति-प्रदायिनी छाया में विश्राम के कुछ क्षण ढूंढने होंगे।

:: बयालीस ::

छायावाद और हिन्दी-काव्य

१. छायावाद—नामकरण का रहस्य।
२. छायावाद की परिभाषा और स्वरूप।
३. बाह्य परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव।
४. छायावाद का प्रवर्तन।
५ छायावाद के कवि और उनका काव्य।
६. छायावाद की सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) भाव-गत, (ख) विचार-गत एवं (ग) शैली गत।
७. उपसंहार।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८ ई०) के आस-पास एक विशेष काव्य-धारा का प्रवर्त्तन हुआ, जिसे 'छायावाद' की संज्ञा दी गई है। यह नामकरण किस आधार पर तथा किसके द्वारा किया गया, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। जहाँ तक 'छाया' और 'वाद' का सम्बन्ध है, 'छायावाद' काव्य के स्वरूप या उसके लक्षणों से इनका कोई मेल नहीं है। आचार्य शुक्ल का विश्वास था कि बँगला में आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाओं को छायावाद कहा जाता था, अतः हिन्दी में भी इस प्रकार की कविताओं का नाम छायावाद चल पड़ा, किन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि बँगला में 'छायावाद' नाम कभी चला ही नहीं। हिन्दी की कुछ पत्र-पत्रिकाओं—'श्री शारदा' और 'सरस्वती'—में क्रमशः सन् १९२० और १९२१ में मुकुटधर पाण्डेय और श्री सुशीलकुमार द्वारा दो लेख 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे; अतः कहा जा सकता है कि इस नाम का प्रयोग सन् १९२० से या उससे पूर्व से होने लग गया था। सम्भव है कि श्री मुकुटधर पाण्डेय ने ही इसका सर्वप्रथम आविष्कार किया हो। यह भी ध्यान रहे कि पाण्डेय जी ने इसका प्रयोग व्यंग्यात्मक रूप में—छायावादी काव्य की अस्पष्टता (छाया) के लिए किया था, किन्तु आगे चलकर यही नाम स्वीकृत हो गया। स्वयं छायावादी कवियों ने इस विशेषण को बड़े प्रेम से स्वीकार किया है; एक ओर श्री जयशंकर प्रसाद लिखते हैं—'मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है।....छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से पानी की तरह आन्तर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया....कान्तिमय होती है।"

दूसरी ओर महादेवीजी भी प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाती हुई कहती हैं—"सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।" प्रसाद और महादेवी की इन उक्तियों में कोई तर्क नहीं हैं—प्रसाद जिन गुणों का आख्यान कर रहे हैं, उनके आधार पर तो इस कविता का नाम 'प्रकाश', 'चमक' या 'कान्ति' होना चाहिए था, या महादेवी द्वारा परिगणित विशेषता को लेकर इसे अनुभूति, भावुकता आदि किसी नाम से पुकारा जाना चाहिए था, किन्तु वास्तविकता यह है कि नामकरण के संबंध में पूर्वजों के आगे किसी का वश नहीं चलता। कविता की तो बात ही क्या, स्वयं कवियों को भी कुछ ऐसे नाम विरासत में मिले हैं कि उन्हें 'उपनाम' ढूँढ़ने को विवश होना पड़ा है। अतः छायावाद' नाम को लेकर अधिक ऊहापोह करना अनावश्यक है।

परिभाषाएँ और स्वरूप

छायावाद का नामकरण भले ही बिना सोचे-समझे कर दिया गया हो, किन्तु परिभाषाओं की दृष्टि से यह बडा सौभाग्यशाली है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से 'छायावाद' की इतनी अधिक और विचित्र परिभाषाएँ दी हैं कि उन्हे पढ़कर चाहे छायावाद समझ में आवे, या न आवे पाठक के मस्तिष्क पर अवश्य छायावाद छा जाता है। आचार्य शुक्ल ने छायावाद का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। 'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।" डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी शुक्लजी की ही भाँति छायावाद को रहस्यवाद का अभिन्न रूप स्वीकार करते हुए लिखा है—"परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।" श्रीरामकृष्ण शुक्ल एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छायावाद और रहस्यवाद को सर्वथा अभिन्न तो नहीं माना, किन्तु दोनों में चचेरे भाइयों का-सा सम्बन्ध अवश्य स्थापित कर दिया है। श्रीरामकृष्ण जी के शब्दों में—'छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है, रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का; ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्ति की ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।" अतः कहना चाहिए कि दोनों में लौकिक और अलौकिक, व्यक्त और अव्यक्त, स्पष्ट और अस्पष्ट, ज्ञात और अज्ञात तथा छाया और रहस्य का ही अंतर है। दूसरी ओर शान्तिप्रिय द्विवेदी भी मानते हैं—"छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है।" अतः दोनों में गहरा सम्बन्ध स्वतः ही सिद्ध हो गया।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने भाव-लोक की प्रगति के तीन चरण माने हैं, प्रथम वस्तु-

वाद, द्वितीय छायावाद और तृतीय रहस्यवाद, अतः उनके शब्दों में "यह (छायावाद) वस्तुवाद व रहस्यवाद के बीच कड़ी है।" डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद को एक ओर "स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह" माना है तो दूसरी ओर वे स्वीकार करते हैं—"छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।" डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी बहुत सोच-समझकर लिखते हैं—"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" डॉ० देवराज ने एक ही परिभाषा में बहुत कुछ कह देने की लालसा से व्यक्त किया है—"छायावाद गीति-काव्य है, प्रकृति-काव्य है, प्रेम-काव्य है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से 'छायावाद' के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं—(१) छायावाद और रहस्यवाद एक हैं। (२) छायावाद एक शैली-विशेष है। (३) छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है अर्थात् प्रकृति का मानवीकरण करता है। (४) छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है। (५) छायावाद एक भावात्मक दृष्टिकोण है। (६) छायावाद प्रकृति में आध्यात्मिक सौन्दर्य का दर्शन करता है। (७) छायावाद में प्रेम का चित्रण होता है। (८) छायावाद में प्रकृति का चित्रण होता है। (९) छायावाद में गीति-तत्त्व की प्रमुखता होती है। (१०) छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। इनमें से कोई भी तथ्य छायावाद के सर्वांगीण रूप का परिचय देने में असमर्थ है, किन्तु अन्ध-गज न्याय के अनुसार प्रत्येक तथ्य छायावाद के किसी एक अंग या उसकी किसी एक विशेषता का निदर्शन अवश्य करता है। अतः यदि इन सारी विशेषताओं को उचित क्रम से एक सूत्र में गूँथ लिया जाय तो सम्भवतः वह छायावाद का अधिक-से-अधिक परिचय देने में समर्थ हो सकेगा। अस्तु, हम कहेंगे "छायावाद हिन्दी कविता के एक विशेष युग में पूर्ववर्ती युग के विरोध में प्रस्फुटित एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण, एक विशेष दार्शनिक अनुभूति एवं एक विशेष शैली है, जिसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक का एवं अलौकिक प्रेम के व्याज से लौकिक अनुभूतियों का चित्रण होता है, जिसमें प्रकृति को मानवी रूप में प्रस्तुत किया जाता है और जिसमें गीति तत्त्वों की प्रमुखता होती है।"

बाह्य परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव

प्रत्येक युग के साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ता है—अतः किसी भी साहित्य के सम्यक् विश्लेषण के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन अपेक्षित है। छायावादी साहित्य पर भी उस युग की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। राजनीतिक दृष्टि से प्रथम महायुद्ध के अनन्तर भारतीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन ने एक नयी करवट ली। अब तक भारतीय नेता स्वतन्त्रता के लिए सहायता या विरोध के स्थूल

उपकरणों का प्रयोग करते आ रहे थे, किन्तु इस युग में गाँधीजी के नेतृत्व में सत्य, अहिंसा एवं असहयोग की सूक्ष्म शक्ति का प्रयोग होने लगा। यद्यपि प्रारम्भ में यह प्रयोग विशेष सफल नहीं रहा, किन्तु इससे भारतीय नेता हताश या निराश नहीं हुए थे। कुछ विद्वान् जो छायावाद की निराशा को सन् १९१९ के प्रथम अवज्ञा आन्दोलन की असफलता से सम्बन्धित करते हैं, यह भूल जाते हैं कि इस असफलता के अनन्तर भी भारतीयों के उत्साह, नीति एवं लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं आया था, गांधीजी का नेतृत्व यथावत् चल रहा था। यह ठीक है कि छायावादी कवि तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों के प्रति उदासीन से थे, किन्तु इस उदासीनता का कारण उनका 'वैयक्तिकता' में लीन हो जाना है, राजनीतिक निराशा नहीं। यह आश्चर्य की बात है कि जिस युग में जलियाँ-वाला बाग काण्ड, भगतसिंह को फाँसी, साइमन कमीशन-बहिष्कार, नमक-कानून-भंग जैसी घटनाएँ हुई, उसी युग में जीवित रहकर भी छायावादी कवि अपने देश की स्वतंत्रता के लिए एक पंक्ति भी नहीं लिख सका। इसका क्या कारण है? हमारे दृष्टिकोण से छायावादी कवियों की मूल प्रकृति करुणा और प्रेम से मेल खाती थी, जबकि राजनीतिक आन्दोलनों एवं स्वातंत्र्य-संग्रामों के लिए वीर एवं रौद्र के स्थायीभाव उत्साह एवं जुगुप्सा की आवश्यकता पड़ती थी। छायावादी करुणा और प्रेम में उत्साह एवं जुगुप्सा के विकास की कोई सम्भावना नहीं थी। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन कवियों का तत्कालीन राजनीति के प्रति उदासीन रहना स्वाभाविक था।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में इस युग में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गांधी, टैगोर तथा अरविन्द जैसे महान् व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ, जिनके प्रभाव से स्थूल एवं संकुचित हिन्दुत्व के स्थान पर व्यापक विश्व-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। ठाकुर रवीन्द्रनाथ राष्ट्र-प्रेमी होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत थे। वे मानवता के उपासक थे, तथा उन्होंने विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण का सन्देश दिया। यही बात हमें छायावादी कवियों के दृष्टिकोण में मिलती है। हमारे प्राचीन अद्वैतवाद व सर्वात्मवाद के दर्शन ने भी छायावाद को कम प्रभावित नहीं किया। कवयित्री महादेवी का तो यहाँ तक विश्वास है कि "छायावाद का कवि, धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।" (महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ६१)

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से हमारे नवयुवकों के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आया। जहाँ मध्यकाल का युवक विवाह की चर्चा सुनते ही किसी ऐसी सजी-सजाई ढँकी हुई दुलहिन की कल्पना करने लगता था, जो गुड़िया की भाँति रथ में बैठाकर लायी जाती थी, वहाँ छायावादी युग के सुशिक्षित युवाओं के हृदय में किसी ऐसी रंग-बिरंगी चहकती हुई जीवन-सहचरी

की कल्पना समाई रहती थी, जो जीवन के हर क्षेत्र में उनका साथ दे सके। और इतना ही नहीं, उनकी दृष्टि बिना माता-पिता की आज्ञा प्राप्त किए ही इस कल्पित सहचरी की खोज में प्रवृत्त भी हो जाती थी। किसी प्रकार वे कोई ऐसा आधार प्राप्त कर लेते थे, जिसके समीप बैठकर वे अपने स्वप्नों को साकार कर सकें, जिसे हृदय देकर वे अपनी प्रेम करने की चाह पूरी कर सकें। किंतु अपने इस मधुर सम्बन्ध को स्थायी दाम्पत्य में परिणत करने के लिए जब वे समाज से 'ग्रन्थि-बन्धन' की प्रार्थना करते तो उन्हे पता चलता कि उनके मार्ग में जाति-पाँति, कुल-गोत्र, मान-मर्यादा आदि की ऐसी चट्टानें डटी हुई हैं, जिन्हें तोड़कर आगे बढ़ना उनके बस की बात नहीं। फल यह होता था कि उनके प्रेम और विवाह के विदेशी स्वप्न स्वदेशी समाज की रूढ़ियों से टकराकर चकनाचूर हो जाते थे। चाहे 'प्रेम-पथिक' का नायक हो या 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास', 'आँसू' आदि का असफल प्रेमी हो, उसके स्वर में हमें सर्वत्र इसी निराशा की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। हो सकता है, यह निराशा, व्यथा या वेदना कवियों के वैयक्तिक जीवन से पूर्णतः सम्बद्ध न हो, किन्तु उसमें उस युग के सामान्य सुशिक्षित वर्ग के हृदय की विवश वेदना का विस्फोट अवश्य है। वस्तुतः छायावादी अतृप्ति, कुण्ठा एवं निराशा के मूल में समाज की यही परिस्थिति कार्य कर रही है, इसका सम्बन्ध तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं।

पाश्चात्य साहित्य ने भी हमारे छायावादी काव्य को कम प्रभावित नहीं किया। विशेषतः अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म का तो छायावाद के कवियों पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। रोमांटिसिज्म या स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तन अंग्रेजी में वर्ड्सवर्थ एवं कॉलरिज के काव्य-संग्रह 'लिरीकल बैलेड्स' (Lyrical Ballads) के प्रकाशन की तिथि सन् १७९८ से माना गया है। इसके प्रमुख कवि वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, काउपर आदि हैं, जिन्होंने प्राचीन काव्य-शास्त्र की पद्धतियों, समाज के रूढ़िवादी दृष्टिकोण एवं धर्म-वेत्ताओं की अति संकुचित मान्यताओं का विरोध करते हुए सरल-स्वाभाविक काव्य-पद्धति, स्वछन्द वैयक्तिक प्रेम-मूलक दृष्टिकोण एवं व्यापक मानववाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन सुन्दर, मधुर गीतियों में निःसंकोच रूप से किया। उन्होंने सौन्दर्य के स्थूल उपकरणों के स्थान पर उसके सूक्ष्म गुणों तथा प्रकृति के चेतन रूप को महत्व दिया है। किन्तु अतिवैयक्तिकता, स्वच्छन्दता एवं कोमल मधुर अनुभूतियों का परिणाम जीवन में सुखद नहीं होता; इस प्रकार के व्यक्ति अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र के साथ समझौता कर पाने में असमर्थ रहते हैं; उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, जिनका सामना न करने के कारण वे असफल, निराशावादी या रहस्यवादी हो जाते हैं। छायावादी कवियों की परिस्थितियाँ और उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ स्वच्छन्दतावादी कवियों से मिलता-जुलता है, अतः उनसे प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण करना स्वाभाविक था। यही कारण है कि अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद की प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, व्यापक मानववाद, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, रहस्यात्मकता का आभास, सौन्दर्य के सूक्ष्म गुणों की पूजा, प्रकृति में चेतना का आरोप, गीति शैली आदि—हिन्दी

के छायावाद में समान रूप से मिलती हैं। अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद से बँगला के कवि पहले ही प्रभावित हो चुके थे, अतः हिन्दी के कवियों को भी ऐसा करने में कोई विशेष संकोच नहीं हुआ।

अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद से हिन्दी के छायावाद की इस गहरी समानता को देखते हुए कुछ आलोचकों ने इसे रोमांटिसज्म का ही हिन्दी संस्करण सिद्ध किया था। इन आलोचकों में एक डॉ० नगेन्द्र भी थे, किन्तु आगे चलकर उन्होंने अपना मत बदल दिया। वे लिखते हैं—"दूसरी भ्रांति उन आलोचकों की फैलाई हुई है, जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हूं—केवल बाह्य समय के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं। इसमें संदेह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परंतु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चित ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।" (आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ; पृ० १४) यहाँ डाक्टर साहब ने दोनों में जो अन्तर स्पष्ट किया है, वह केवल देश काल, मूलाधार एवं गुणों की मात्रा का है, दोनों के परिणामों में या दोनों की प्रवृत्तियों में कोई भेद वे नहीं दिखा सके। साथ ही उन्होंने 'असफल सत्याग्रह' के प्रभाव को भी आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके है, चाहे हमारे सत्याग्रह प्रारम्भ में असफल होते रहे हों, किन्तु इससे भारतीय जनता में कोई स्थायी निराशा नहीं आ पाई, अन्यथा न तो साइमन कमीशन-बहिष्कार व नमक कानून-भंग जैसी घटनाएँ होती और न ही स्वातंत्र्य-आन्दोलन आगे बढ़ता। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि रोमांटिसिज्म इंगलैण्ड में पनपा और राज्य-क्रांति हुई फ्रांस में, अतः यदि फ्रांस की क्रांति इंगलैण्ड को प्रभावित कर सकती है, तो इंगलैण्ड का काव्य भारत को क्यों नहीं प्रभावित कर सकता? हमारी दृष्टि में छायावादी निराशा का सम्बन्ध तत्कालीन राजनीति से स्थापित करना वैसा ही है, जैसा कि प्रयोगवादी कवियों की वैयक्तिकता को पिछले चुनावों में जनसंघ की पराजय का प्रभाव बताना है।

यदि हम देश-काल की स्थूल सीमाओं को भूलकर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो रोमांटिसिज्म और छायावाद के मूलाधारों—दोनों को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में भी गहरा साम्य दृष्टिगोचर होगा। रोमांटिसिज्म के अभ्युत्थान से पूर्व अंग्रेजी कविता में भी अनैतिकता, सुधारवाद एवं शास्त्रीय रूढ़ियों का बोलबाला था, उसी प्रकार हिन्दी में भी द्विवेदी युग में यही परिस्थिति थी, जिसका विरोध छाया-

वादी कवियों ने किया। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने इंगलैण्ड के कवियों को वैयक्तिक स्वतंत्रता का संदेश दिया, तो दूसरी ओर 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' की घोषणा ने हमारे छायावादियों को गुलामी की भावना से मुक्त किया। रोमांटिक युग के युवकों की सौन्दर्य और प्रेम की उन्मुक्त लालसा पर धार्मिक संस्थाओं एवं सामाजिक मान्यताओं का अंकुश लगा हुआ था तो छायावादी युग के प्रेमियों पर हिन्दू समाज की रूढ़ियों का नियन्त्रण था। रोमांटिक कवि दैनिक जीवन की असंगतियों, विषमताओं एवं कटुता से त्राण प्रकृति एवं अध्यात्म में ढूंढ़ने को विवश हुए थे, तो हिन्दी कवियों को भी इनसे बढ़कर और कोई आश्रय प्राप्त नहीं था। अतः मूलाधार की दृष्टि से भी दोनों में गहरा साम्य है। हाँ, हम इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि दोनों सर्वथा एक नहीं है। इंगलैण्ड के एक जन्मजात क्रिश्चियन में और भारतीय ईसाई मे जितना अन्तर होता है, उससे कहीं अधिक अन्तर रोमांटिसिज्म और छायावाद में है।

छायावाद का प्रवर्त्तन

छायावाद के प्रवर्त्तन काल एवं प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है। आचार्य शुक्ल का मत है—"हिन्दी कविता की नई धारा (छायावाद) का प्रवर्त्तक इन्हीं को—विशेषतः मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को समझना चाहिये।" ऐसा शुक्लजी ने अभिव्यंजना की एक विशेष शैली को ही 'छायावाद' मानकर लिखा है। श्री इलाचन्द्र जोशी ने इस मत का खंडन करते हुए लिखा है—"छायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य एकदम भ्रामक, निर्मूल एवं मनगढ़न्त है।....प्रसादजी अविवादास्पद रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १६१३-१४ के आसपास 'इन्दु' में प्रतिमास उनकी जिस ढंग की कविताएँ निकलती थीं, (जो बाद में 'कानन-कुसुम' के नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुई) वे निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी काव्य-क्षेत्र में युग विवर्तन की सूचक थीं।" श्री विनयमोहन शर्मा एवं प्रभाकर माचवे ने छायावाद का प्रारम्भ तो सन् १६१३ ई० से ही माना है, किन्तु इनके प्रवर्त्तन का श्रेय वे माखनलाल चतुर्वेदी "एक भारतीय आत्मा' को देना चाहते हैं। उधर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है—'साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य शैली का वास्तविक अभ्युदय सन् १६२० के पश्चात् पंत की 'उच्छ्वास' नाम की काव्य-पुस्तिका के साथ माना जा सकता है।" हमारे दृष्टिकोण से मैथिलीशरण गुप्त, मकुटधर पांडेय और माखनलाल चतुर्वेदी में छायावाद की प्रवृत्ति गौण रूप से मिलती है, समग्र रूप से उन्हें छायावादी नहीं कहा जा सकता; ऐसी स्थिति में किसी अ-छायावादी को छायावाद का प्रवर्त्तक मानना अवास्तविक है। छायावाद का प्रवर्त्तक अवश्य ही कोई छायावादी ही होना चाहिये—चाहे वह प्रसाद हो या पंत। पन्तजी की अपेक्षा प्रसादजी काव्य क्षेत्र में पहले आये तथा 'झरना' की भूमिका में प्रकाशक की ओर से भी एक वक्तव्य है—"जिस शैली की कविता को हिन्दी साहित्य में

आज दिन 'छायावाद' नाम मिल रहा है, उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था। इस दृष्टि से यह संग्रह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"—अब तक किसी कवि ने प्रकाशक के वक्तव्य का खंडन नहीं किया है, अतः प्रसाद के 'झरना' (सन् १९१९) से ही छायावाद का प्रारम्भ मानना चाहिये, किन्तु यह ध्यान रहे, प्रसाद की कुछ कविताएँ इससे पूर्व भी पत्र-पत्रिकाओं में छप गई थीं, जिनमें छायावादी शैली का प्रारम्भिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा इन रचनाओं का प्रकाशन काल सन् १९०९ से १९१७ है, अतः छायावाद का उद्भवकाल और पीछे तक ले जाया जा सकता है। प्रसाद का 'कानन-कुसुम' पुस्तक के रूप में 'झरना' के पश्चात् प्रकाशित हुआ, जबकि उसमें संगृहीत रचनाएँ 'झरना' से पूर्व ही पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए छायावाद का आरम्भ प्रसाद की स्फुट कविताओं (पत्रिकाओं में प्रकाशित) से (लगभग सन् १९१५ ई० से) ही मानना उचित होगा।

छायावाद के प्रमुख कवि और उनका काव्य

छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भ सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा हैं। श्री जयशंकर प्रसाद प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविताएँ लिखते थे, किन्तु १९१३-१४ से वे खड़ी बोली में लिखने लग गये। उनके प्रमुख काव्य-ग्रंथ ये हैं—चित्राधार, प्रेम-पथिक, करुणालय, महाराणा का महत्व, कानन-कुसुम, झरना, आँसू, लहर, कामायनी। उनकी अन्तिम काव्य-रचना 'कामायनी' सन् १९३६ में रचित हुई थी। इन रचनाओं में से चित्राधार, करुणालय और महाराणा का महत्व को छोड़कर शेष सभी छायावाद की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है। वैसे गौणरूप से इनमें भी छायावाद की कुछ विशेषताएँ मिलती है। 'प्रेम-पथिक' एक लघु प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें एक असफल प्रेम की कहानी नायक के मुंह से कहलाई गई है! अनुभूतियों से परिपूर्ण होने के कारण यह रचना अत्यन्त मार्मिक बन गई है। जब नायिका का विवाह किसी अन्य से हो रहा था तो निराश प्रेमी के हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे :

> **किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तंत्री झनकार**
> **जो नौबतखाने में बजती थी, अपनी गहरी धुन में—**
> **रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है**
> **कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है!**

'कानन-कुसुम', 'झरना' और 'लहर' प्रसाद की स्फुट कविताओं के संग्रह हैं, जिनमें विषय की दृष्टि से चार प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—

(१) लौकिक प्रभु के प्रति आत्म-निवेदन, (२) लौकिक प्रेम की व्यंजना (३) प्रकृति एवं नारी सौंदर्य का चित्रण और (४) अतीत भारत की किसी घटना का वर्णन। 'आँसू' उनका 'विरह-गीत' है। आगे चलकर 'कामायनी' में इन सभी प्रवृत्तियों का विकास समुचित रूप में प्रबन्ध-शैली में हुआ है। मानव-हृदय की प्रवृत्तियों में सूक्ष्माति-

सूक्ष्म निरूपण, प्रकृति एवं नारी-सौन्दर्य के सजीव अंकन, प्रणय और विरह की मार्मिक व्यंजना, ज्ञान-कर्म और इच्छा के समन्वय के मंगलकारी संदेश और शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से 'कामायनी' अनुपम है। वस्तुतः मुक्तक-शैली को छोड़कर छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ 'कामायनी' में उपलब्ध होती हैं और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कामायनी की प्रबन्धात्मकता पर भी छायावाद की मुक्तकता पूरी तरह छाई हुई है। वस्तुतः प्रसाद छायावाद के प्रवर्त्तक के रूप में ही नहीं, उसके नेता और प्रौढ़तम कवि के रूप में भी सर्वश्रेष्ठ छायावादी कवि हैं।

छायावाद के क्षेत्र में पंत और निराला साथ-साथ ही आये। पन्तजी की रचनाओं का प्रकाशन-क्रम यह है—वीणा (१९१८), ग्रन्थि (१९२०), पल्लव (१९१८-२४), गुंजन (१९१९-३२), युगान्त (१९३४-३६), युग-वाणी (१९३६-३९), ग्राम्या (१९३९-४०), स्वर्ण किरण (१९४७), स्वर्ण-धूलि (१९४७), युगान्तर (१९४८), उत्तरा (१९४९), रजत-शिखर (१९५१), शिल्पी (१९५२), और अतिमा (१९५५)। पंत जी सन् १९३८ के लगभग छायावादी से प्रगतिवादी बन गये, अतः इस युग से पूर्व की रचनाओं में ही छायावादी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। वीणा, पल्लव और गुंजन में उनकी स्फुट कविताएं संगृहीत हैं। 'वीणा' में रहस्य की प्रवृत्ति अधिक है, 'पल्लव' में निराशा और प्रकृति-चित्रण की तथा 'गुंजन' में नारी-सौन्दर्य एवं मानववाद की। 'ग्रन्थि' एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है जिसमें असफल प्रेम की कहानी कही गई है। प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' की भाँति 'ग्रन्थि' की नायिका का विवाह भी किसी अन्य से हो जाता है। मार्मिकता की दृष्टि से यह रचना 'प्रेम-पथिक' से आगे बढ़ जाती है। 'युगान्त' में आकर पंत के छायावादी युग का अन्त हो जाता है। प्रकृति एवं नारी सौन्दर्य के चित्रण व शैली की कोमलता की दृष्टि से पंत का स्थान छायावादी कवियों में सबसे ऊँचा माना जा सकता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने कविताएँ लिखना सन् १९१५ से ही आरम्भ कर दिया था, किन्तु उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'परिमल' सन् १९२९ ई० मे प्रकाशित हुआ। उनके अन्य काव्य-ग्रन्थ 'अनामिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'वेला', 'नये पत्ते', 'अर्चना', 'आराधना' आदि हैं। निरालाजी भी 'तुलसीदास' काव्य के अनन्तर प्रगतिवाद से प्रभावित हो गये थे, अतः उनके परवर्ती ग्रन्थों में छायावाद लुप्त है। निराला जी की रचनाओं में वैसे तो छायावाद की सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु उसे अद्वैत दर्शन की सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान करके रहस्य-युक्त बनाने का श्रेय सर्वाधिक 'निराला' जी को है। निरालाजी की शैली में अस्पष्टता एवं कठोरता अन्य कवियों से अधिक है।

महादेवी छायावाद के क्षेत्र में सबसे पीछे आई, किन्तु उसका सबसे अधिक साथ भी वही दे रही हैं। उनकी कविताओं के संग्रह—'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य-गीत' और 'दीपशिखा' आदि शीर्षकों से प्रकाशित हुए हैं। उनके सभी संग्रहों की मूल प्रकृति प्रायः एक है—पंत और निराला की भाँति उनकी राह में नये-नये मोड़ या परिवर्तन नहीं आते। उनके काव्य में छायावादी शैली की सभी प्रमुख विशेषताएँ दृष्टि-

गोचर होती हैं, किन्तु विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से उनमें छायावाद से रहस्यवाद अधिक है। नारी होने के कारण वे प्रकृति के मानवी रूप से वैसा स्वच्छन्द-व्यवहार नहीं कर सकीं, जैसा निराला और पंत ने किया है। लौकिक प्रणय और स्थूल सौन्दर्य के चित्रण में भी उन्हें संकोच होना स्वाभाविक था, अतः छायावाद के विभिन्न विषयों में उनके पास अलौकिक प्रेम, विरह और रुदन ही शेष रह गया।

उपर्युक्त चार प्रमुख कवियों के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, मोहनलाल महतो आदि का भी छायावाद के साथ नाम लिया जाता है, किन्तु इनमें छायावाद की प्रवृत्तियाँ आंशिक रूप में ही मिलती हैं।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

छायावादी काव्य में मिलनेवाली प्रवृत्तियों हम मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(क) विषयगत, (ख) विचारगत और (ग) शैलीगत। इनमें से प्रत्येक का परिचय यहाँ अलग-अलग दिया जाता है।

(क) **विषयगत प्रवृत्तियाँ**—छायावादी कवियों ने मूलतः सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना की, जिसे हम तीन खण्डों में विभक्त कर सकते हैं—(१) नारी-सौदर्य और प्रेम का चित्रण, (२) प्रकृति-सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना और (२) अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद का निरूपण। नारी-सौन्दर्य और प्रेम—दोनों शृङ्गार रस के ही अंग हैं, अतः एक दूसरे के पूरक हैं। यदि शास्त्रीय शब्दावली में कहे तो प्रथम शृङ्गार रस का आलम्बन है तथा द्वितीय उसका स्थायी भाव। छायावादी कवियों ने नारी को उसके प्रेयसी रूप मे ग्रहण किया, जो हृदय और यौवन की सम्पूर्ण विभूतियों से परिपूर्ण है तथा जो धरती के यथार्थ सौन्दर्य एवं स्वर्ग की काल्पनिक सुपमा से सुसज्जित है। विवाह-बन्धन में न पड़ने के कारण एक ओर तो वह लाज, उमंग और उत्साह से भरपूर है, दूसरी ओर वह स्वकीया-परकीया के पचड़े से भी दूर है। प्रसाद, पंत और निराला के काव्य में इसी प्रेयमी के सौन्दर्य के शत-शत चित्र अंकित हैं। 'कामायनी' की श्रद्धा का सौन्दर्य-चित्रण द्रष्टव्य है—

> **नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।**
> **खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग॥**

छायावादी कवियों ने सौन्दर्य के स्थूल-चित्रण की अपेक्षा उसके सूक्ष्म प्रभाव का ही अंकन किया है। उसमें अश्लीलता, नग्नता एवं स्थूलता प्रायः न के बराबर है।

प्रेम के क्षेत्र मे छायावादी कवि किसी प्रकार की रूढ़ि, मर्यादा या नियमबद्धता को स्वीकार नहीं करते। 'निराला' ने 'प्रेयसी' मे प्रेम का आदर्श स्थापित करते हुए लिखा है—

> **दोनों हम भिन्न वर्ण, भिन्न जाति, भिन्न रूप,**
> **भिन्न धर्म भाव, पर केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।**

(अनामिका, ५८)

इनके प्रेम की दूसरी विशेषता है, वैयक्तिकता। हिन्दी के अनेक पूर्ववर्ती शृङ्गारी कवियों ने प्रेम का वर्णन किया, किन्तु स्वच्छन्द प्रेम-मार्गी कवियों को छोड़कर सबने किसी राधा, पद्मिनी, उर्मिला आदि को ही माध्यम बनाया, जबकि छायावादियों ने निजी प्रेमानुभूतियों की व्यंजना की। उनके प्रेम की तीसरी विशेषता सूक्ष्मता है। इन्होंने शृङ्गार के स्थूल क्रिया-व्यापारों की अपेक्षा उनकी सूक्ष्म भाव-दशाओं का उद्घाटन अधिक किया। चौथी विशेषता—इनकी प्रणय-गाथा का अन्त असफलता एवं निराशा में होता है। प्रेम निरूपण के क्षेत्र में इन्हें सबसे अधिक सफलता विरहानुभूतियों की ही व्यंजना में मिली है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं।
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं॥
सब अतीत में लीन हो चलीं आशा, मधु अभिलाषाएँ।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं॥

—प्रसाद

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर,
'विरह' अहह, कराहते इस शब्द को,
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोक से,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !!

—पन्त

एक बार यदि अजान के अन्तर से उठ आ जातीं तुम !
एक बार भी प्राणों की तम-छाया में आ कह जातीं तुम !
सत्य हृदय का अपना हाल !
कैसा था अतीत वह, अब बीत रहा है कैसा काल !
मैं न कभी कुछ कहता, बस तुम्हें देखता रहता !

—निराला

उपर्युक्त विरह-वर्णन वेदनानुभूतियों से ओत-प्रोत है। विरही हृदय की पीड़ा स्वतः ही मुखरित हो रही है; उनकी नाप-जोख करने के लिए शारीरिक दुर्बलता, क्षीणता या व्याधि का उल्लेख यहाँ नहीं ! प्रेमी और प्रेमिका—दोनों में से किसी के भी स्थूल अंगों या बाह्य चेष्टाओं का निरूपण किए बिना ही हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को साकार रूप में प्रस्तुत कर देना छायावादी कला का सबसे बड़ा जादू है।

प्रकृति के सौन्दर्य और उससे प्रेम का वर्णन भी छायावादी कवियों की शृङ्गारिकता का दूसरा रूप है। वे प्रकृति के रूप में भी नारी का रूप देखते हैं; उसकी छवि में किसी प्रेयसी के सौंदर्य-वैभव का साक्षात्कार करते हैं, उसकी चाल-ढाल में किसी नव-यौवना की चेष्टाओं का प्रतिबिम्ब पाते हैं, उसके पत्तों की मर्मर या फूलों की गुन-गुनाहट में उन्हें किसी बाला-किशोरी के मधुर-आलाप या अर्द्ध-स्फुट हास्य की प्रतिध्वनि

सुनाई पड़ती है ! ऐसी स्थिति में भला यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि वे नारी से नहीं—प्रकृति से प्रेम करते हैं ! हाँ, प्रकृति से प्रेम का नाटक अवश्य वे खेलते हैं और कभी उसे प्रसन्न करने के लिए नारी को ठुकराने का अभिनय भी करते हैं, किन्तु अन्त में उनकी कलई खुल जाती है। जिस प्रकार स्वर्ग के रंगमंच पर उर्वशी नाटक के नायक को अपने प्रेमी के नाम से सम्बोधित कर बैठती है या अपनी पत्नी के प्रति कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन करते समय मतिराम के मुँह से अचानक ही किसी और तिय का नाम निकल पड़ा था, वैसी ही भूल छायावादी कवियों से भी हो जाती है। जिस पंत ने कभी प्रकृति के माया-जाल को किसी बाला के बाल-जाल से बढ़कर बताया था, वही आगे चलकर 'भावी-पत्नी' के स्वप्नों में लीन हो गया। निराला की 'जूही की कली' को भले ही कुछ लोग प्रकृति-वर्णन का श्रेष्ठ उदाहरण मानें, किन्तु हमारी दृष्टि में तो वह पुरुष और नारी के संगम का ही चित्रण है; उसका भौंरा कोई और नहीं, वे कन्दर्प देव ही हैं, जो छायावादी कवियों के हृदय में सोए हुए थे और 'जूही की कली' किसी जीती-जागती रति देवी की प्रतिच्छाया मात्र है—

सोती थी
जाने कैसे प्रिय आगमन वह
नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी बल्लरी की जड़
जैसे हिंडोल !

—जूही की कली

इस दृश्य को 'प्रकृति-चित्रण' बताना अपनी आँखों को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रकृति का मानवीकरण—अपितु 'नारीकरण' करने में इन्होंने अपनी काव्य-कुशलता का अच्छा परिचय दिया है।

अब लीजिए, इनके प्रेम के तीसरे रूप—अलौकिक प्रेम को। पहले इन्होंने प्रकृति की ओट में शृङ्गार-क्रीड़ा की, जब इससे भी इनका काम नहीं चला तो वे अध्यात्म की चद्दर ओढ़कर रहस्यवादी बन गए और कबीर, दादू आदि की पंक्ति में आ बैठे। इनका यह रहस्यवाद कितना कृत्रिम एवं बलात् आरोपित है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 'प्रेम पथिक', 'आँसू' आदि—जिनमें प्रसाद ने पहले लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की थी, उनके नये-संस्कारों में दस-बीस पंक्तियाँ घटा बढ़ाकर उन्हें अलौकिक प्रेममय बना डाला। यदि इसी तरह किसी को रहस्यवादी बनाना हो तो फिर घनानन्द, बोधा, आलम आदि को भी रहस्यवादी, बनाया जा सकता है। रहस्यवादी कवि लौकिकता से अलौकिकता की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, किन्तु पन्त और निराला की जीवनी का क्रम उलटा है। 'वीणा' में पन्त रहस्यवादी थे, 'गुंजन' में 'पत्नी' या 'प्रेयसी' वादी और 'युगान्त' के बाद स्थूल भौतिकवादी बन गए। यही बात निराला में मिलती है। यह ठीक है कि इन्होंने अद्वैतवादी ग्रन्थों का अध्ययन करके उनसे 'ज्ञान-तत्व' भी बटोरा किन्तु उसे वे अपनी अनुभूति का विषय नहीं बना सके। ध्यान रहे, 'अद्वैतवाद' का कोरा ज्ञान रहस्यवाद नहीं है और न ही अद्वैतवाद को पद्यबद्ध कर देना रहस्यवाद

अपितु रहस्यवाद तो हृदय की एक ऐसी अनुभूति है, जिसको प्राप्त करने के अनन्तर भौतिक जगत् की कोई इच्छा, आकांक्षा या लालसा शेष नहीं रह जाती। सच्चा रहस्य-वादी कवि 'गुंजन' के कवि की भाँति घर बसाने के लिए भावी-पत्नी की प्रतीक्षा में नहीं बैठता, अपितु कबीर की भाँति आत्मा स्वयं ही किसी अलौकिक की दुलहनियाँ बनकर नाच उठती है, झूम उठती है !

शायद कहा जाय कि इनकी अलौकिक वासना का उन्नयन आगे चलकर आध्यात्मिक प्रेम से हो गया, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कामायनीकार प्रसाद तक में रहस्यवाद की कोई अनुभूति नहीं मिलती है। यही कारण है कि 'कामायनी' के अन्तिम सर्ग, जिसमें रहस्य-दर्शन का चित्रण है, शुष्क, नीरस, एवं अनुभूति-शून्य है। जीवन के अन्तिम दिनों में 'प्रसाद' से जब आत्म-कथा लिखने के लिए कहा गया था तो उन्होंने उत्तर में कहा था—

यह विडंबना ! अरी सरलते,
तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवंचना
औरों को दिखलाऊँ मैं।
× × ×
मिला कहाँ वह सुख जिसका
मैं स्वप्न देखकर जाग गया !
आलिंगन में आते-आते
मुस्काकर जो भाग गया !
× × ×
उसकी स्मृति पाथेय बनी है
थके पथिक की पंथा की।

—(लहर)

कोई भी रहस्यवादी कवि अपने 'दिव्य प्रेम' को अपनी भूल बनाकर या 'आराध्य की लीला' को 'प्रवंचना' कहकर अपमानित नहीं करता। रहस्यवादी के जीवन में पहले वियोग आता है और फिर संयोग—किन्तु यहाँ विपरीत बात है : रहस्य-पथ का पथिक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उसका उत्साह बढ़ता जाता है; वह अपने आपको 'थका हुआ पथिक' अनुभव नहीं करता। वस्तुतः इन कवियों के 'आलिंगन में आते-जाते मुस्कराकर भाग जानेवाला' कोई इस धरती का ही जीव है।

हाँ, रहस्य-साधना के क्षेत्र में महादेवी अवश्य दृढ़तापूर्वक मग्न हैं। रहस्यवाद के कई स्तर होते हैं—प्रथम अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण, द्वितीय उसके प्रति दृढ़ानुराग, तृतीय विरहानुभूति और चतुर्थ मिलन का आनन्द। उन्होंने अपने हृदय की बात पूर्णतः खोलकर नहीं सुनाई है, अतः उसके सम्बन्ध में कुछ कहना तो अपराध होगा, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि अभी वे रहस्यवाद के प्रथम स्तर से आगे नहीं बढ़ी हैं।

कबीर और दादू की-सी तीक्ष्ण विरहानुभूतियाँ उन्हें अभी तक प्राप्त नहीं हुई, इसीलिए वे विरह के एक क्षण के लिए तृषित हैं। प्रेम जितना गहरा होगा, विरह उतना ही अधिक वेदनापूर्ण और दुःसह्य प्रतीत होगा। महादेवी को तो अभी विरह और मिलन का ही अन्तर ज्ञात नहीं है—

विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा
दुःख सुख में कौन तीखा
मैं न जानी औ न सीखा ॥

(आधुनिक कवि, पृ० ६८)

ध्यान रहे, विरह की घड़ियों में कबीर जैसे अक्खड़ साधक का हृदय भी हाहाकार कर उठा था, उनके रोम-रोम से वेदना फूट पड़ी थी, जिसे सहन करने की अपेक्षा उन्होंने मृत्यु का आलिंगन कर लेना श्रेयस्कर समझा था—"या विरहिणि को मौत दे, या आपा दिखलाय। आठ पहर का दाझणाँ मो पै सह्या न जाय !!"—अत. आश्चर्य है कि महादेवी में ऐसी कठोरता कहाँ से आ गई कि विरह में वे तनिक भी दुःख अनुभव नहीं करतीं। महादेवी के श्रद्धालु भक्त कह सकते हैं कि भारतीय नारी पुरुष की अपेक्षा अधिक सहनशील होती है, महादेवी नारी हैं जबकि कबीर पुरुष थे—किन्तु उन्हें यह न भूल जाना चाहिए कि नारी एक कवयित्री पहले भी हो चुकी है, जो अलौकिक प्रेम में महादेवी से पीछे नहीं थी और जिसने कहा था—

हेरी मैं तो प्रेम दिवाँणी !
मेरो दरद न जाणै कोय !!
× × ×
घायल की गति घायल जाणै !
जे किण घायल होय !!

वस्तुतः मीरा का कहना ठीक था—जो घायल हो, वही घायल के दर्द को समझ सकता है, किन्तु केवल घायलपन का अभिनय करनेवाले पात्रों के लिए दर्द और दर्द का न होना—दोनों एक जैसे हैं।

(ख) **विचारगत प्रवृत्तियाँ**—छायावाद की विचारगत प्रवृत्तियाँ सामान्यतः ये हैं—(१) दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद व सर्वात्मवाद, (२) धर्म के क्षेत्र में रूढ़ियों एवं बाह्याचारों से मुक्त व्यापक मानव-हितवाद, (३) समाज के क्षेत्र में समन्वयवाद, (४) राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्व-शान्ति का समर्थन, (५) गार्हस्थ्य, पारिवारिक एवं दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र में हृदयवाद या प्रेमपूर्ण व्यवहार, (६) साहित्य के क्षेत्र में व्यापक कलावाद या सौन्दर्यवाद। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी कवियों ने प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श, व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टिकोण को अपनाया है। वे जीवन के स्थूल उपकरणों की अपेक्षा सूक्ष्म गुणों को अधिक महत्त्व देते हैं। प्रसाद की 'कामायनी', पंत

के 'गुंजन' और निराला के 'परिमल' के कुछ स्थलों में उनका विचार-पक्ष व्यक्त हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) अद्वैतवाद—

तुम तुंग हिमालय शृंग,
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मैं कान्त-कामिनी कविता॥

—निराला

(२) व्यापक मानवतावाद—

औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ।

—प्रसाद

(३) समन्वयवाद—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा पूरी क्यों हो मन की!
दोनों मिल एक न हो सके,
यही विडम्बना है जीवन की॥

—प्रसाद

(४) प्रेम और सहानुभूति का सन्देश—

तप रे मधुर मधुर मन!
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल!
× × ×
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन!

—पन्त

छायावादी कवियों ने विचारों की अभिव्यक्ति शुष्क ढंग से की है, उस अभिव्यक्ति के पीछे अनुभूति की गहरी तरलता नहीं मिलती, जिससे वे पाठक के हृदय को कम प्रभावित कर पाते हैं। कविता में विचार भावों में घुले-मिले हुए होने चाहिए, किंतु छायावादी कवियों में अलग-अलग बिखरे से पड़े हैं। कहीं-कहीं अतिविचारात्मकता के कारण छायावाद में शुष्कता, जटिलता एवं अस्पष्टता भी आ गई है।

(ग) शैलीगत प्रवृत्तियाँ—छायावादी शैली की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(१) मुक्तक गीति-शैली, (२) प्रतीकात्मकता, (३) प्राचीन एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग; जैसे मानवीकरण, विरोधाभास, विशेषण-विपर्यय आदि, (४) कोमल-कान्त, संस्कृतमय शब्दावली। गीति-शैली के सभी प्रमुख तत्त्व—वैयक्तिकता, भावात्मकता,

संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, कोमलता आदि—इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। प्रतीकों के द्वारा इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की मार्मिकता में अभिवृद्धि की है, जैसे—'यह पतझड़ मधुवन भी हो, शूलों का दर्शन भी हो, कलियों का चुम्बन भी हो।' यहाँ पतझड़; मधुवन, शूल, कलियाँ आदि जीवन के विभिन्न रूपों व अंगों के प्रतीक हैं। मूर्त्त का अमूर्त्त रूप में तथा अमूर्त्त को मूर्त्त रूप में चित्रित करने के लिए अनेक नवीन उपमानों का प्रयोग किया गया है। इनकी शैली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमान—	'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।'
अमूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमान—	कीर्ति किरन सी नाच रही है।'
विशेषण-विपर्यय—	तुम्हारी आँखों का बचपन, खेलता जब अल्हड़ खेल।
विरोधाभास—	'शीतल ज्वाला में जलता हूँ'
रूपकातिशयोक्ति—	बाँधा था विधु को किसने, इन काली जन्जीरों से।
कोमल-कान्त पदावली—	मृदु मन्द-मन्द मंथर-मंथर। लघु तरिणी हंसिनी सी सुन्दर तिर रही खोल पालों के पर।

वस्तुतः छायावादी कवियों के कारण हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। छायावादी शैली की चित्रात्मकता, लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता की प्रशंसा आचार्य शुक्ल जैसे विरोधी आलोचकों ने भी की है।

छायावादी काव्य में कुछ शैलीगत दोष भी मिलते हैं, जैसे अशुद्ध प्रयोग, अस्पष्टता, कल्पना की क्लिष्टता, उपमानों का अस्वाभाविक प्रयोग आदि। इससे रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है, तथा जन-साधारण इस काव्य के आस्वादन से वंचित रहता है।

उपसंहार

कहते है कि अब 'छायावाद का पतन' हो गया। बड़े-बड़े आलोचकों ने इसकी घोषणा गम्भीर पुस्तकें लिखकर की है। प्रसाद की मृत्यु के पश्चात् ऐसा कोई दृढ़ व्यक्ति छायावाद के पास नहीं रह गया, जो इसके नेतृत्व को सँभाल सकता। 'निराला' भी विदा हो गए और पंत ने धर्म-परिवर्तन—या कहिए 'वाद'-परिवर्तन—कर लिया। महादेवी जैसी अबला सिवा करुण-गीतियाँ लिखने के और कर ही क्या सकती थीं। वे भी औरों के स्वर में स्वर मिलाकर कहने लग गईं—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" दूसरी ओर पंतजी की मान्यता है—"छायावाद इसलिए अधिक

नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौंदर्य-बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था....।" आश्चर्य है कि छायावाद के व्यापक आदर्शवाद, मानवतावाद एवं कलावाद बीस वर्ष की छोटी-सी अवधि में ही पुराने और फीके पड़ गए। क्या आज मनुष्य स्थूल भौतिकता, वैज्ञानिकता और तार्किकता के तीक्ष्ण वाणों से विद्ध नहीं है? क्या प्रतिस्पर्धा, घृणा और हिंसा के बादल अब छिन्न-भिन्न हो गए हैं? विश्व-शान्ति का स्वप्न पूरा हो गया है? यदि नहीं, तो फिर कैसे कह सकते हैं कि छायावादी आदर्श भविष्य के लिए उपयोगी नहीं थे, नवीन नहीं थे।

हमारा तो यह विश्वास है कि सौन्दर्य और प्रेम की जिस अक्षय-निधि को लेकर छायावाद चला था, वह किसी एक युग, एक देश या एक वाद की सम्पत्ति नहीं है। कालिदास से लेकर शेक्सपीयर तक सभी महान् कलाकारों ने इसी अमर सम्पदा के संचयन में अपनी प्रतिभा का प्रतिफलन किया है। आज कालिदास या शेक्सपीयर नहीं हैं, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी यह दी हुई सम्पदा भी महत्त्वहीन हो गई। व्यापक मानवता का आदर्श किसी भी युग और किसी भी देश में फीका नहीं पड़ सकता। गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, कबीर, नानक, रवीन्द्र, भारतेन्दु और गांधी ने विश्व-प्रेम की जो ज्योति समय-समय पर जलाई है, उसका प्रकाश मानवता के किसी स्तर पर अमंद, अनावश्यक एवं अनुपयोगी नहीं हो सकता।

भले ही छायावादी इस धरती पर न रमे हों, किन्तु व्यापक आदर्शों एवं सूक्ष्म सौन्दर्य को लेकर चलनेवाला छायावाद अब भी अजर है, अमर है!! हाँ, कामायनीकार के शब्दों में हम आज के भूले-भटके छायावादियों से इतना अवश्य कहेंगे—

"हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते जिसको मर कर वीर।"

:: ४३ ::

प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य

१. प्रगति का अर्थ ।
२. प्रगतिशील और प्रगतिवादी का अन्तर ।
३. मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त (क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त, (ग) विश्व-सभ्यता के विकास की व्याख्या ।
४. प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ ।
५. भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता ।
६. हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य ।
७. न्यूनताएँ ।
८. उपसंहार ।

'प्रगति' शब्द का अर्थ है—चलना, आगे बढ़ना, अतः प्रगतिवाद का शाब्दिक अर्थ हुआ—वह वाद जो आगे बढ़ने में विश्वास रखता है। इस दृष्टि से इसका अर्थ बहुत व्यापक है, किन्तु आधुनिक हिन्दी में इसका प्रयोग एक विशेष विचार-धारा के लिए ही रूढ़ हो गया है। यह विशेष विचारधारा है—मार्क्सवादी या साम्यवादी दृष्टिकोण के अनुकूल साहित्यिक विचारधारा। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि साम्यवादी विचारों का प्रचार करनेवाला या साम्यवादी लक्ष्य की पूर्ति में योग देनेवाला साहित्य ही प्रगतिवादी साहित्य कहलाता है। ध्यान रहे, 'प्रगतिवाद' से एक मिलता-जुलता शब्द—'प्रगतिशील'—भी हिन्दी में प्रचलित है, किन्तु दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। जहाँ 'प्रगतिवाद' सर्वथा मार्क्सवाद से बँधा हुआ है, वहाँ 'प्रगतिशील' उससे स्वतंत्र है। समाज की प्रगति के कई मार्ग हो सकते हैं। प्रगतिवादी केवल साम्यवादी मार्ग को ही अपनाने के लिए विवश हैं, जब कि 'प्रगतिशील' किसी भी वाद-विशेष से आबद्ध नहीं होता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रगतिवादी विचाराधारा का मूलाधार मार्क्सवाद या साम्यवाद है, अतः इसका भी थोड़ा परिचय यहाँ दे देना आवश्यक है। इस वाद के प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) थे। मार्क्सवादी विचारधारा को मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—(१) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (२) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त और (३) मानव-सभ्यता के विकास की व्याख्या। इनमें से हम प्रत्येक को अलग-अलग ले सकते हैं—

(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद—प्रायः सभी धर्मों के आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति किसी अलौकिक या आध्यात्मिक सत्ता के द्वारा हुई, जिसे

ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है; किन्तु कार्ल मार्क्स की मान्यता के अनुसार संसार की 'उत्पत्ति' नहीं हुई, अपितु उसका धीरे-धीरे 'विकास' हुआ। मार्क्स से पूर्व डारविन विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्यक् रूप से कर चुके थे।

यह विकास किसके द्वारा हुआ? क्या किसी आध्यात्मिक शक्ति ने इस विकास में योग दिया? इसके उत्तर में मार्क्सवाद का उत्तर है—आध्यात्मिक शक्ति ने नहीं, अपितु भौतिक जगत् स्वयं ही इस विकास का कारण है। मार्क्सवाद आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक तथा मृत्यु के बाद के जीवन आदि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। मानव-हृदय या दूसरे प्राणियों में हम जिस चेतना का अनुभव करते हैं, वह हमारे स्थूल तत्त्वों पर ही आधारित है, उसका कोई अलौकिक या आध्यात्मिक रूप नहीं है।

भौतिक विकासवाद को परिचालित करनेवाली प्रवृत्ति का नाम—द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक का अर्थ है संघर्ष से ही विकास होता है। दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से तीसरी शक्ति या वस्तु विकसित होती है, आगे चलकर तीसरी को चौथी वस्तु से संघर्ष करना पड़ता है और उससे पाँचवीं का उद्भव या विकास होता है। इसी क्रम से भौतिक जगत् में नई वस्तुओं, नये-नये रूपों, नई-नई शक्तियों और सत्ताओं का विकास होता रहता है। ध्यान रहे, प्रत्येक नई विकसित वस्तु को मार्क्स ने प्रथम दो से अधिक उच्चतर, श्रेष्ठतर माना है। इस प्रकार 'द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद' का अर्थ हुआ, दो शक्तियों के पारस्परिक द्वंद्व से भौतिक जगत् का विकास होता है या यों कहिए कि दो भौतिक शक्तियों के द्वन्द्व से ही सृष्टि का विकास होता है।

(ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त—किसी भी वस्तु का मूल्य किस प्रकार बढ़ जाता है, इसकी व्याख्या करते हुए कार्ल मार्क्स ने उत्पत्ति के चार अंग निर्धारित किए—(१) मूल पदार्थ, (२) स्थूल-साधन, (३) श्रमिक का श्रम, और (४) मूल्य-वृद्धि। उदाहरण के लिए पाँच रुपए की कपास को जब कात-बुनकर कपड़े के थान में परिवर्तित कर लिया जाता है, तो उसी थान का मूल्य पच्चीस रुपये से भी अधिक हो जाता है। अस्तु, यहाँ बीस रुपये की मूल्य-वृद्धि हुई। यहाँ स्थूल-साधन अर्थात् कपड़े बुनने के यन्त्रादि की घिसाई की कीमत के लिए लगभग एक रुपया और कम कर दें तो वास्तविक लाभ १९ रुपया हुआ। यह सारा लाभ श्रमिक के श्रम पर निर्भर है। अतः श्रमिक को ही मिलना चाहिए किन्तु पूंजीवादी युग में मिल-मालिक ही इसका अधिकांश हड़प कर लेता है। इससे समाज में दो वर्गों का विकास हुआ—एक जो श्रमिक हैं, दूसरे श्रमिकों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं। मार्क्सवादी शब्दावली में किसान-मजदूर (श्रमिक) 'शोषित' हैं, और मालिक, जागीरदार, पूंजीपति आदि 'शोषक' हैं।

(ग) विश्व-सभ्यता के विकास की नई व्याख्या—विभिन्न देशों एवं जातियों के विकास का इतिहास लिखनेवाले लेखकों ने प्रायः मानव जाति को राष्ट्र, वर्ण या जाति के आधार पर वर्गीकृत किया है, किन्तु मार्क्स दुनिया के सब मनुष्यों की—चाहे वे किसी भी देश या जाति से सम्बन्धित हों—दो जातियाँ या वर्ग मानते हैं—(१) शोषक वर्ग और (२) शोषित वर्ग। मानव-सभ्यता का समस्त इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष की ही कहानी है। इस कहानी को भी चार युगों में बाँटा जा सकता है—पहला युग दास-

प्रथा का युग था, जबकि श्रमिक के व्यक्तित्व, उसके श्रम, उत्पत्ति के साधनों एवं उत्पादन—इन चारों पर मालिक (शोषक) का अधिकार था। आगे चलकर दूसरा युग सामन्ती प्रथा का आया, जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व को तो स्वतन्त्रता मिल गई, किन्तु शेष तीनों बातों पर सामन्त (शोषक) का ही अधिकार रहा है। जहाँ दास-प्रथा के युग में श्रमिक को वैयक्तिक मामलों में कोई स्वतन्त्रता नहीं थी, वहाँ सामन्तवादी युग में उसे यह प्राप्त हो गई, अतः नई व्यवस्था पहली व्यवस्था से अच्छी थी। तीसरा युग पूंजीवादी व्यवस्था का आया, जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व एवं उसके श्रम पर मजदूर का अधिकार हो गया, किन्तु शेष दो पर पूंजीपति का अधिकार रहा। अर्थात् सामन्तवादी युग की भांति पूंजीवादी युग में कोई किसी से बलात् श्रम नहीं करवा सकता। मजदूर अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे अपने श्रम को बेच सकता है। अतः दूसरी व्यवस्था से तीसरी व्यवस्था अच्छी है। किन्तु फिर भी मजदूरों को उत्पादन का पूरा लाभ तभी मिल सकता है, जबकि उत्पादन के साधनों पर उनका अधिकार हो। यह व्यवस्था एक ऐसे समाज में ही संभव है, जहाँ मजदूरों की ही सत्ता हो। अस्तु, कार्ल मार्क्स का लक्ष्य उस चौथी व्यवस्था—साम्यवादी व्यवस्था—को स्थापित करना था, जिसमें मजदूरों की प्रतिनिधि सरकार द्वारा उत्पादन के समस्त साधनों पर नियन्त्रण हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप फल मिले।

इस प्रकार मार्क्सवाद का लक्ष्य समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त वह हिंसात्मक क्रांति का भी समर्थन करता है। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य भी साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करना तथा शोषित वर्ग को क्रांति के लिए, शोषक वर्ग के विरुद्ध उत्तेजित करना है।

प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

अस्तु, दर्शन में जो द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद है, राजनीति में जो साम्यवाद है, वही साहित्य में प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी साहित्य का प्रचार सर्वप्रथम यूरोप के विभिन्न देशों में हुआ, तदनन्तर एशिया के कुछ भागों में। प्रगतिवाद का सम्बन्ध केवल हिन्दी से ही नहीं, विश्व की विभिन्न भाषाओं से है, अतः हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर विचार करने से पूर्व विभिन्न देशों के प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार कर लेना उचित होगा। प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

(क) धर्म, ईश्वर एवं परलोक का विरोध—समाज में वर्ग-चेतना उत्पन्न करने तथा शोषित वर्ग को संघर्ष के लिए तैयार करने के लिए सर्वप्रथम ईश्वर, धर्म, परलोक एवं भाग्य सम्बन्धी विचारों का उन्मूलन करना आवश्यक है। जब तक एक मजदूर ईश्वरवादी, धर्म-परायण, परलोक में विश्वास रखनेवाला तथा भाग्यवादी होगा, वह हिंसात्मक क्रांति के लिए तैयार नहीं होगा। शोषक वर्ग इन्हीं अध्यात्मवादी मान्यताओं के बल पर शोषित वर्ग पर अत्याचार करता है। अतः प्रगतिवादी कलाकार 'ईश्वर

असफल हो गया है', 'धर्म अफीम का नशा है' जैसी घोषणाएँ कला के माध्यम से घोषित करता है।

(ख) **पूंजीपति वर्ग के प्रति घृणा का प्रचार**—पूंजीपति वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए प्रगतिवादी कलाकार उसके घृणित रूप का चित्रण करता है। प्रायः सभी प्रगतिवादी रचनाओं में एक पूंजीपति को घोर 'स्वार्थी, कपटी, क्रूर एवं निर्दय' के रूप में चित्रित किया जाता है।

(ग) **शोषित वर्ग के जीवन की दीनता एवं कटुता का चित्रण**—पूँजीपतियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के साथ-साथ प्रगतिवादी साहित्यकार किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के निमित्त उनकी दयनीय दशा का चित्रण करता हुआ दोनों वर्गों के जीवन की विषमता का उद्घाटन करता है।

(घ) **नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण**—प्रगतिवादी कलाकार नारी के रूप-वैभव को कल्पना की आँखों से नहीं देखता, न तो वह उसके सौन्दर्य को स्वर्ग का जादू समझता है और न ही उसकी पूजा करना आवश्यक मानता है। वस्तुतः उसके लिए नारी केवल नारी है, जो पुरुष की ही भाँति स्थूल सृष्टि का एक अंग है। वह उसके सूक्ष्म गुणों की अपेक्षा उसके स्थूल शरीर को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। वह महलों में सुरक्षित राजकुमारियों की अपेक्षा खेत-खलिहानों में कार्य करनेवाली स्वस्थ कृषक-बालाओं एवं मजदूरनियों के चित्रण में अधिक प्रवृत्त होता है। यथार्थवाद के नाम पर कहीं-कहीं इन कवियों ने पुरुष और नारी सम्बन्धी गोपनीय व्यापारों को भी नग्न रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

(ङ) **सरल शैली**—प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य उच्च-वर्ग के सुशिक्षित पाठक नहीं हैं, अपितु वह जन-साधारण के लिए काव्य की रचना करता है, अतः उसमें जन-भाषा एवं सरल शैली का प्रयोग होना स्वाभाविक है। साहित्य की प्राचीन रूढ़ियों—छंद-अलंकारों आदि—का भी प्रगतिवाद में निर्वाह नहीं किया जाता।

भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता

'प्रगतिवादी' साहित्य के संकुचित रूप का आविर्भाव कार्ल मार्क्स के पश्चात् १९वीं-२०वीं शती में हुआ, किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इससे पूर्व साहित्य में प्रगतिशीलता के तत्त्व थे ही नहीं। अन्य देशों के साहित्य के बारे में तो हम अधिक नहीं जानते, किन्तु जहाँ तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है, हमें उसमें प्रगतिशीलता के पर्याप्त तत्त्व मिलते हैं। यदि प्रगतिशीलता का अर्थ समाज के निम्न, उपेक्षित वर्ग से सहानुभूति दिखाना है, तो सम्भवतः संस्कृत में 'मिट्टी की गाड़ी' का रचयिता नाटककार शूद्रक भारत का पहला प्रगतिशील साहित्यकार है। उसने अपने 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) में तत्कालीन आदर्शों के विरुद्ध उच्चकुलीन नायक-नायिका के स्थान पर 'चारुदत्त' नामक मध्यम वर्ग के व्यक्ति को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए दिखाया है कि राजाओं, न्यायाधीशों एवं अन्य उच्चवर्ग के लोगों की अपेक्षा मानवता

की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोग कहीं अधिक महान् हैं। क्या एक चोर जो किसी प्रकार धनी वर्ग का थोड़ा-सा पैसा चुरा लेने में समर्थ होता है, सचमुच घृणा का पात्र है ? क्या समाज की परिस्थितियाँ ही उसे चोरी करने के लिए बाध्य नही करती ? क्या अपने रुपए-पैसे के मद में विभोर रहने वाले धनिक-पुत्रों एवं सत्ता के गर्वोन्माद से ग्रस्त राज-श्यालक की अपेक्षा वह गरीब चारुदत्त अधिक महान् नहीं है, जो ऋण-भार से दबा हुआ होने पर भी अन्य लोगों की सहायता करता है ? आदि प्रश्नों का उत्तर शूद्रक ने प्रगतिशील दृष्टिकोण से दिया है। खेद है कि संस्कृत-नाटक-साहित्य में शूद्रक की परम्परा का विकास अधिक नहीं हो सका।

भारतीय साहित्य में यथार्थवादी या प्रगतिशील काव्य की सुदृढ़ परम्परा का प्रवर्त्तन हाल की 'गाथा-सप्तशती' से हुआ। इस ग्रन्थ में उच्च वर्ग के भोग-विलास के स्थान पर श्रमिक लोगों के जीवन की अनुभूतियों का प्रकाशन स्वाभाविक शैली में हुआ है। आगे चलकर 'अमरुक-शतक', भर्तृहरि के 'शृङ्गार-शतक', गोवर्द्धनाचार्य की 'आर्या-सप्तशती' में भी इसी परम्परा का विकास हुआ। अमरुक ने तो अपने शतक में एक ऐसे स्थूल भौतिकवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जो सम्भवतः आधुनिक आलोचक को आश्चर्यान्वित कर दे। अमरुक धरती के सौन्दर्य पर ऐसे मुग्ध है कि उन्होंने देवताओं को मूढ़ घोषित कर दिया। भला धरती पर सुन्दरियों के अधरामृत के होते हुए भी समुद्र-मंथन की क्या आवश्यकता थी ? अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य में भी प्रगतिशीलता दृष्टिगोचर होती है यद्यपि उसमें विलासिता का रंग अधिक है।

प्राचीन रूढ़ियों एवं उच्च वर्ग के विरोध की दृष्टि से हिन्दी का समस्त सन्त-साहित्य प्रगतिशीलता से ओत-प्रोत है। क्या भाव, क्या विचार एवं क्या भाषा—सभी दृष्टिकोणों से कबीर ने साहित्य में जो मौलिकता प्रस्तुत की है, वह प्रतिशीलता का ही दूसरा रूप है। संस्कृत के विद्वानों की नगरी में रहकर भी 'संसकिरत है कूप-जल, भाषा बहता नीर' की घोषणा करनेवाले कबीर की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। कुछ विद्वान् तुलसी को भी प्रगतिशील मानते हैं। किन्तु हमारे विचार से उनका दृष्टिकोण आदर्श-वादी अधिक था, यथार्थवादी कम; वे प्राचीनता के समर्थक अधिक थे, नवीनता के कम; के क्रान्ति की अपेक्षा समन्वय को, ऊँच-नीच की समानता की अपेक्षा विषमता को अधिक पसन्द करते थे, करुण-रस की दो-चार पंक्तियों के आधार पर ही उन्हे 'प्रगतिशील' सिद्ध करना कठिन है। तुलसी की महानता आदर्शवादो के रूप में ही अधिक है और यदि वे यथार्थवादी प्रगतिशील न भी सिद्ध होते हों, तो भी उनकी इस महानता में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा।

रीतिकालीन कवियों में बिहारी ने सर्वाधिक यथार्थवादिता का परिचय दिया है। उन्होंने घर-मन्दिरों, हाट, खेत-खलिहानों में मिलनेवाले कुत्सित रूपों का उद्घाटन निःसंकोच रूप में किया है। किन्तु केवल यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही इन्हें पूर्ण प्रगति-शील नहीं कहा जा सकता। सच्ची प्रगतिशीलता का पूर्ण विकास हिन्दी साहित्य में सर्व-प्रथम भारतेन्दु-युगीन साहित्य में ही उपलब्ध होता है। धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य एवं भाषा—सभी क्षेत्रों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व उनके अनुयायी पूरे प्रगतिशील थे।

उन्होंने सरलतम भाषा में प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का खण्डन व्यंग्यात्मक शैली में किया तथा साथ ही विदेशी साम्राज्य की दूषित प्रवृत्तियों पर भी तीखा प्रहार किया।

किसानों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने व सुधारात्मक प्रवृत्तियों की दृष्टि से द्विवेदी युगीन साहित्य में भी प्रगतिशीलता के कुछ तत्त्व स्वीकार किए जा सकते हैं। छायावादी युग में कविता वैयक्तिक प्रवृत्तियों से बहुत अधिक आच्छन्न हो गई, किन्तु इसी युग में उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी के द्वारा सच्ची प्रगतिशीलता का निरूपण हुआ। आगे चलकर तो प्रगतिवाद युग की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में ही प्रस्फुटित हो गया।

हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य

ऊपर हमने प्रगतिशील साहित्य पर संकेतात्मक ढंग से प्रकाश डाला है। विशुद्ध 'प्रगतिवादी चेतना' का प्रस्फुटन हिन्दी में सन् १९३६ ई० के लगभग हुआ। इसी वर्ष लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई, जिसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता मुंशी प्रेमचन्द ने की। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में प्रगतिवादी साहित्य की प्रवृत्तियों का विकास होने लगा। अनेक प्रमुख छायावादी कवि—पंत, निराला, नरेन्द्र आदि प्रगतिवादी बन गए। पन्तजी ने अपनी नवीन रचनाओं में धरती के निम्न एवं उपेक्षित वर्ग का चित्रण निरलंकृत शैली में किया। जो कवि छायावादी युग में कल्पना के पंखों पर सवार होकर आध्यात्मिक लोक में विचरण करते थे, वे ही अब दूसरों को अपनी दृष्टि धरती तक ही सीमित रखने की शिक्षा देने लगे—

ताक रहे गगन ?
मृत्यु नीलिमा गहन गगन ? निस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को, मानव-पुण्य प्रसू को !

दूसरी ओर 'निराला' ने जन-साधारण के दुःख-सुख का चित्रण अपनी रचनाओं में किया। उनकी 'भिखारी' कविता में इसी प्रवृत्ति का पता चलता है। फिर भी 'निराला' प्रगतिशील ही रहे, मार्क्सवाद के पिछलग्गू वे नहीं बने। 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, 'अंचल', नवीन, सुमन, गिरिजाकुमार माथुर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि कवियों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए काव्य-रचना की। विषमता का चित्रण करते हुए दिनकर ने सशक्त भाषा में लिखा—

श्वानों को मिलता दूध-दही, बच्चे भूखे तड़पाते हैं।
माँ की हड्डी से ठिठुर चिपक जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाए जाते हैं।
मिल-मालिक तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥

कुछ अन्य प्रगतिवादी कवियों की भी कुछ पंक्तियाँ नमूने के रूप में देखी जा सकती हैं :

बर्लिन अब नजदीक है
फासिस्तों की काल-रात्रि में घोर घटा घिर आई।
चली लाल सेना ज्यों सावन में चलती पुरवाई ॥

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

इन खलिहानों में गूंज रही, किन अपमानों की लाचारी।
हिलती हड्डी के ढाँचों ने, पिटती देखी घर की नारी ॥
युग-युग के अत्याचारों की, आकृतियां जीवन के तल में,
घिर-घिर कर पुंजीभूत हुई, ज्यों रजनी की छाया-छल में!

—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

दुनिया के मजदूर भाइयो, सुन लो एक हमारी बात।
सिर्फ एकता में ही बसता, इस दुनिया के सुख का राज ॥

—चन्द्रकिरण सौनरिक्सा

है जीने का अधिकार नहीं, हमको किस्मत की मर्जी पर।
जड़ रूढ़िवाद के शव को जो जीवित कहता है, आह आज!

—नरेन्द्र शर्मा

उपर्युक्त अंशों में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिपादन अधिक है, उसकी अनुभूति कम, जिससे इन रचनाओं में रागात्मकता नहीं आ सकी।

कथा साहित्य के क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा आदि लेखकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनके साहित्य में जहाँ यथार्थवादी ढंग से समाज की विभिन्न परिस्थितियों का अंकन हुआ है, वहाँ नग्न-अश्लीलता का भी चित्रण पर्याप्त मिलता है। सांकृत्यायनजी की 'वोल्गा से गंगा', यशपालजी की 'प्रतिष्ठा का बोझ' और 'धर्म-रक्षा', नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची' जैसी रचनाओं में जुगुप्सोत्पादक कामुकता की अभिव्यक्ति हुई है।

आलोचकों में भी एक वर्ग ऐसा है जिसे प्रगतिवादी कह सकते हैं। इनमें डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय आदि प्रमुख हैं। इन आलोचकों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रगतिवादी आलोचना अधिक विकसित नहीं हो सकी। साथ ही इनके दृष्टिकोण में एक गम्भीर आलोचक की सी सुदृढ़ता, परिपक्वता एवं उच्चता नहीं मिलती, फिर भी इनका अपना विशिष्ट स्थान है।

हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की न्यूनताएँ

हिन्दी में प्रगतिवाद का प्रचार जितनी शीघ्रता से हुआ, उतनी स्थिरता वह प्राप्त नहीं कर सका। लगभग बीस वर्ष की अवधि में भी वह ऐसी कोई विशिष्ट रचना नहीं दे सका, जिसे हम 'कामायनी' या 'गोदान' के स्तर पर रख सकें। कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना किसी भी क्षेत्र में उसकी कोई ऐसी देन नहीं है, जिसे हम

अविस्मरणीय कह सकें। इस असफलता के कई कारण हैं। एक तो प्रगतिवाद की मूल सैद्धान्तिक न्यूनता ही यह है कि आध्यात्मिकता का पूर्ण तिरस्कार करता है। भारत जैसे देश में आध्यात्मिकता का बहिष्कार एकाएक कर देना बहुत कठिन है। दूसरे, जैसा कि मार्क्स ने स्वयं कहा था, कोई भी व्यवस्था या पद्धति अन्तिम नहीं होती, एक के बाद एक अच्छी व्यवस्था या पद्धति का विकास होता रहता है, अतः यह बात साम्यवादी व्यवस्था पर भी लागू होती है। किसी युग में साम्यवादी व्यवस्था सबसे अच्छी मानी जा सकती थी, किन्तु अब वह अपूर्ण सिद्ध हो गई है। आज का मानव उससे भी कोई अच्छी व्यवस्था चाहता है, जिसमें एकांगी स्थूलता एवं भौतिकता न होकर उसमें सूक्ष्मता एवं आध्यात्मिकता का भी मिश्रण हो। पंतजी जैसे कवि मार्क्सवाद की इस एकांगिता से ही ऊबकर लौट आये। तीसरे, जो लक्ष्य मार्क्सवादी विचारों का है—समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना—उसी लक्ष्य की ओर कांग्रेस सरकार भी धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है; अतः ऐसी स्थिति में भारत में मार्क्सवाद का प्रभाव न्यून हो जाना स्वाभाविक था। चौथे, हमारे कवि व साहित्यकार प्रगतिवादी विचारधारा को पूरी तरह पचा नहीं पाए, वे उसे अपनी बुद्धि का ही विषय बना सके, हृदय की वस्तु नहीं बना पाये, फलतः उनकी रचनाओं में शुष्क विचार मिलते हैं, अनुभूति की तरलता का अभाव है। सच्ची बात तो यह है कि हमारे अधिकांश साहित्यकार जो प्रगतिवादी वर्ग के नेता माने जाते हैं, स्वयं किसी पूंजीपति से कम नहीं है। पहाड़ियों के वैभवपूर्ण वातावरण में बैठकर निश्चिन्तता से मजदूरों के दुःख-दर्द के गीत लिखे जा सकते हैं, किन्तु उनमें अनुभूति की सजीवता आ जाय, यह आवश्यक नहीं। फलतः प्रगतिवादी साहित्य हमारे हृदय को स्पर्श नहीं करता। पाँचवें, हिन्दी के अनेक प्रगतिवादी कथाकारों को कुछ ऐसा मति-भ्रम हो गया है कि वे नग्न-चित्रण को हो सच्चा मार्क्सवाद समझने लग गए, इससे उन लेखकों की प्रतिष्ठा को तो ठेस पहुँची ही, प्रगतिवाद को भी धक्का लगा। छठे, स्वयं प्रगतिवादी आलोचकों में परस्पर मतभेद बढ़ जाने से भी इस क्षेत्र के लेखकों को पर्याप्त उत्साह नहीं मिला। सातवें, शैली एवं भाषा की दृष्टि से प्रगतिवादी काव्य का स्तर बहुत नीचे गिर गया। इन सब कारणों से प्रगतिवाद हिन्दी में अधिक नहीं जम सका। वस्तुतः जैसी सच्ची लगन एवं सामर्थ्य किसी नयी प्रवृत्ति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अपेक्षित है, उसका प्रगतिवादियों में अभाव है।

उपसंहार

अस्तु, प्रगतिवाद हिन्दी में अधिक फल-फूल नहीं सका, किन्तु उसकी जड़ें अब भी हरी हैं। चाहे स्वयं प्रगतिवाद ने कोई विशेष महत्त्वपूर्ण रचना न दी हो, किन्तु इसके प्रभाव से प्रायः सभी वर्गों के साहित्यकारों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विकास हुआ है। नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचकों ने भी आलोचना के कई दृष्टिकोणों में समाजवादी दृष्टिकोण को भी स्थान देकर इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। भले ही हम मार्क्स की विचारधारा से शत-प्रतिशत न सहमत हों, किन्तु इतना तो सभी स्वीकार

करते हैं कि श्रमिक वर्ग को पूरा पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए, उनकी स्थिति में पूर्णतः सुधार होना ही चाहिए; चाहे मजदूरों की गरीबी अमीरों में न बाँटी जाय, किन्तु अमीरों की अमीरी तो मजदूरों में बाँटनी ही चाहिए। यदि इस परिस्थिति के निर्माण में, श्रमिक वर्ग के अभ्युत्थान में तथा समाज को सुखी बनाने में प्रगतिवादी साहित्य कुछ भी मदद दे सके, तो यह उसकी एक बड़ी भारी सेवा होगी। हाँ, इतना अवश्य है कि जब तक प्रगतिवादी साहित्य विचारों के शुष्क संकलन से बचकर भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं हो जाता, तब तक वह जन-समूह को प्रभावित करने के अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता।

: चौवालीस :

प्रयोगवाद और नयी कविता

१. नामकरण : पुनर्विचार
२. विकास-क्रम
३. पूर्व परम्परा और प्रेरणा-स्रोत
   (क) प्रतीकवाद, (ख) बिम्बवाद, (ग) दादावाद,
   (घ) अतियथार्थवाद, (ङ) अस्तित्ववाद, (च) फ्रायडवाद
४. विभिन्न संप्रदायों से गृहीत प्रभाव
५. सामान्य प्रवृत्तियाँ
६. उपलब्धियाँ और अभाव

सन् १९४३ ई० में अज्ञेय के नेतृत्व में हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक नये आन्दोलन का प्रवर्त्तन हुआ, जिसे अब तक विभिन्न संज्ञाएँ—'प्रयोगवाद', 'प्रपद्यवाद', 'नयी कविता' आदि—प्रदान की गई हैं। ये इसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं दिशाओं को सूचित करती हैं; यथा—प्रारम्भ में जबकि कवियों का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट नहीं था, नूतनता की खोज के लिए केवल प्रयोग की घोषणा की गयी थी तो इसे 'प्रयोगवाद' कहा गया। इसी आन्दोलन की एक शाखा ने स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा के नेतृत्व में प्रयोग को अपना साध्य स्वीकार करते हुए अपनी कविताओं के लिए 'प्रपद्यवाद' का प्रयोग किया। दूसरी ओर डॉ० जगदीश गुप्त एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसे अधिक व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हुए 'नयी कविता' नाम का प्रचार किया। संप्रति 'नयी कविता' नाम का ही अधिक प्रचलन है, किन्तु इसे भी एक अस्थायी नाम ही मानना चाहिए। जिस प्रकार नवविवाहिता को घर में कुछ समय तक 'नयी बहू' कहा जाता है, पर आगे चलकर वह नयी बहू भी किसी अन्य को 'नयी बहू' कहने लगती है, वैसी ही स्थिति 'नयी कविता' की है। पिछले युगों में खड़ीबोली की कविता तथा छायावादी कविता को भी क्रमशः 'नयी धारा' और 'नयी कविता' कहा जाता रहा है, अतः यह नाम किसी विशिष्टता का सूचक नहीं है।

हमारे विचार से इस काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियों—व्यक्तिवाद एवं यथार्थवाद—को ध्यान में रखते हुए इसे 'व्यक्तिपरक यथार्थवाद' की संज्ञा देना उचित होगा। पर उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से इसे और भी संक्षिप्त रूप देने के लिए 'अतियथार्थवाद' भी कहा जा सकता है। वस्तुतः पाश्चात्य साहित्य में भी इस प्रवृत्ति को इसी नाम से—Surrealism (अतियथार्थवाद)—पुकारा गया है, अतः इस दृष्टि से इसे 'अतियथार्थवाद' कहा जाय तो सार्थक सिद्ध होगा।

विकास-क्रम—इस अतियथार्थवादी आन्दोलन का प्रवर्त्तन सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा संपादित 'तार-सप्तक' (१९४३) के प्रकाशन के द्वारा हुआ। आगे चलकर 'अज्ञेय' ने क्रमशः 'दूसरा सप्तक' (१९५१) और 'तीसरा सप्तक' (१९५९) भी संपादित एवं प्रकाशित किया। इन तीनों सप्तकों में सात-सात कवियों की रचनाएँ संकलित हैं, जिनकी सूची इस प्रकार है—

(क) 'तार-सप्तक'—१. अज्ञेय, २. गजानन माधव 'मुक्तिबोध', ३. गिरिजा-कुमार माथुर, ४. प्रभाकर माचवे, ५. नेमिचन्द्र जैन, ६. भारत भूषण, ७. रामविलास शर्मा।

(ख) 'दूसरा सप्तक'—१. भवानीप्रसाद मिश्र, २. शकुन्तला माथुर, ३. हरिनारायण व्यास, ४. शमशेर बहादुर सिंह, ५. नरेशकुमार मेहता, ६. रघुवीर सहाय, ७. धर्मवीर भारती।

(ग) 'तीसरा सप्तक'—१. प्रयागनारायण त्रिपाठी, २. कीर्ति चौधरी, ३. मदन वात्स्यायन, ४. केदारनाथ सिंह, ५. कुँवरनारायण, ६. विजयदेव नारायण साही, ७. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

इस सप्तकों में केवल इन्हीं कवियों को क्यों स्थान दिया गया—इसका स्पष्टी-करण करते हुए 'अज्ञेय' ने मुख्यतः दो बातें कही हैं, एक तो उन्होंने ऐसे कवियों को लिया है, जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उनके अलग-अलग संग्रह निकाल सके। दूसरे 'उनके एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अभी राही हैं।' इनके अतिरिक्त एक तीसरी बात और भी थी, जिसका उल्लेख स्वयं 'अज्ञेय' ने नहीं किया। वह यह कि जिन कवियों ने अज्ञेय का पिछलगू बनना स्वीकार किया, वे ही इसमें स्थान पा सके। जिन्होंने बाद में नेतृत्व अस्वीकार कर दिया, उनका नाम आगे चलकर कवियों की सूची में से काट दिया गया। 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने इसी कोटि के कवियों की ओर संकेत करते हुए लिखा है—'कम से कम एक ने तो न केवल एलान करके कविता छोड़ दी,बल्कि क्रमशः कविता के ऐसे आलोचक हो गये कि उसे साहित्य क्षेत्र से ही खदेड़ देने पर तुल गये।' यह विचित्र बात है कि पहले 'तार-सप्तक' के चुने हुए सात कवियों में से अनेक 'दूसरे सप्तक' के प्रकाशन से पहले ही कवि से आलोचक बन गये! इससे एक ओर जहाँ सप्तक के कवियों के कविपन की अस्थिरता और क्षणभंगुरता सिद्ध होती है, वहीं सम्पादक की अदूरदर्शिता भी प्रमाणित होती है। वस्तुतः जिन व्यक्तियों को अज्ञेय ने ही 'कवि-रूप' में प्रतिष्ठित किया था, वे तभी तक इस पद पर रह सकते थे जब तक कि अज्ञेय के अनुयायी रहते। ज्योंही उन्होंने अज्ञेय का नेतृत्व अस्वीकार किया, अज्ञेय ने उन्हें 'अकवि' घोषित कर दिया। अतः हमारे विचार से अज्ञेय के उपर्युक्त एलान का वास्तविक अर्थ इस प्रकार लिया जाना चाहिए—'कम से कम एक ने एलान करके हमारा नेतृत्व छोड़ दिया है तथा हमारे ऐसे आलोचक हो गए हैं कि हमें साहित्य के क्षेत्र से खदेड़ देने पर ही तुल गए हैं।'

अज्ञेय के प्रयासों से प्रेरित होकर नलिनविलोचन शर्मा तथा जगदीश गुप्त भी

इस क्षेत्र में अवतरित हुए। नलिनविलोचन शर्मा ने अपने दो साथियों—केसरी कुमार और नरेश—को मिलाकर 'नकेनवाद' (तीनों व्यक्तियों के नाम के प्रथम अक्षरों के आधार पर) की स्थापना की, जिसे दूसरा नाम—'प्रपद्यवाद' भी दिया गया। प्रपद्यवाद के प्रतिनिधि के रूप में केसरीकुमार ने इसके विभिन्न सूत्रों की भी चर्चा की, जिसमें से कुछ ये हैं :

(१) प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।

(२) प्रपद्यवाद के लिए किसी शास्त्र के द्वारा निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।

(३) प्रपद्यवाद पूर्ववर्तियों की महान् परिपाटियों को निष्प्राण मानता है।

(४) प्रपद्यवाद प्रयोग को साधना ही नहीं, साध्य मानता है।

(५) प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित मानता है।

वस्तुतः नकेनवादियों का यह 'प्रपद्यवाद', अज्ञेय के 'प्रयोगवाद' की स्पर्द्धा में खड़ा किया गया आन्दोलन था, जो परम्परा का विरोध करने, नूतनता की दुहाई देने, तथा प्रयोग पर बल देने की दृष्टि से अज्ञेय से भी आगे था। इसने सिद्ध कर दिया कि असली प्रयोगवाद तो प्रपद्यवाद ही है, क्योंकि यह प्रयोग को ही साध्य मानता है, केवल साधन नहीं।

सन् १९५४ से डॉ० जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता' शीर्षक के अनेक अर्द्धवार्षिक संकलन प्रकाशित करवाए, जिनमें कई नये कवियों को प्रकाश में लाने के साथ-साथ नयी कविता के विभिन्न पक्षों पर भी विचार-पूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत की। इस प्रकार अब नयी कविता का नेतृत्व केवल अज्ञेय के हाथ में ही नहीं रह गया, और भी लोग उनकी प्रतिस्पर्द्धा में खड़े हो गए हैं। अज्ञेय ने अपने प्रतिस्पर्द्धियों को 'नकलची' घोषित करते हुए 'तीसरे सप्तक' की भूमिका में उनकी तीव्र भर्त्सना की है—"पर नकलची हर प्रवृत्ति के रहे है और जिनका भंडाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ, उन्हें पहचानने मे फिर समय की लम्बी दूरी अपेक्षित हुई है।....पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान् की उपेक्षा न हो, असली को नकली न माना जाय।" इसी प्रकार जो कवि सप्तकों का आश्रय लिये बिना या अज्ञेय की स्वीकृति पाये विना ही नये कवियों की पंक्ति में आ बैठे है, उनके सम्बन्ध में भी वे लिखते हैं—"नये कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय को वस्तु समझने की भूल की है और इस प्रकार स्वयं भी पथभ्रष्ट हुए हैं और पाठकों में नये कवियों के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।"

अस्तु, नयी कविता का अब तक का इतिहास देखने से कई बातें स्पष्ट होती हैं; यथा—(१) इस धारा का प्रवर्त्तन किसी गम्भीर लक्ष्य को सामने रखकर नहीं, अपितु नेतृत्व की भूख को शान्त करने के लिए हुआ था, तथा आगे चलकर इस नेतृत्व को लेकर ही इनमें पारस्परिक मतभेद होते रहे। (२) नयी कविता की प्रतिष्ठा पत्रकारिता के स्तर पर हुई है। इसके उन्नायकों ने जानबूझकर ऐसे वक्तव्य दिये जिनसे वे चर्चा (या कुचर्चा) के विषय बने। लोगों के द्वारा की गई चर्चा, निन्दा या भर्त्सना को ही

उन्होंने अपनी सफलता का आधार माना। उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' जहाँ 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में लिखते हैं—'आलोचकों द्वारा उसकी उतनी चर्चा हुई है कि उसे सप्तक के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा।'—वहाँ जगदीश गुप्त भी लिखते हैं—'नयी कविता' के प्रथम अंक की काफी गहरी प्रतिक्रिया हुई है।....और कुछ नहीं तो कम से कम इन सबके कारण 'नयी कविता' की बहुत सी प्रतियाँ बिक गईं।'

हमारे विचार से उत्तेजनात्मक बातें कहकर चर्चा का विषय बन जाना, गुट-बन्दियों के बल पर येन-केन-प्रकारेण अपनी रचनाओं को छपवाकर बेच डालना तथा पारस्परिक समझौते के आधार पर पारस्परिक मान्यता प्राप्त कर लेना; ये सब प्रयास संगठन-शक्ति एवं पत्रकारिता की कुशलता को तो प्रमाणित करते हैं किन्तु उन्हें साहित्यिक उपलब्धि के रूप में तो उसी अवस्था में स्वीकार किया जा सकता है जब कि वे पाठकों को साहित्यिक आस्वादन प्रदान कर सकें। अपनी रचनाओं की नीरसता को छिपाने के लिए पाठकों को अनुभूतिशून्य घोषित करते हुए उन्हे कविता पढ़ने के लिए अयोग्य घोषित कर देना, 'नाच न जाने, आँगन टेढ़ा' वाली कहावत को ही सार्थक करता है।

पूर्व-परम्परा और प्रेरणा-स्रोत—हिन्दी की यह काव्य-धारा यूरोप के अनेक आधुनिक काव्य सम्प्रदायों एवं काव्येतर सिद्धान्तों से प्रेरित एवं प्रभावित है, जिनमें प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद आदि का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(क) **प्रतीकवाद**—प्रतीकवाद की स्थापना फ्रान्स के कुछ तरुण लेखकों एवं कवियों द्वारा १८८५ ई० में 'फिगारो' (Figaro) पत्रिका के माध्यम से हुई। इसके उन्नायकों में बौदेलेअर (Baudelaire), आर्थर रिम्बो (Arthur Rimbau), वरलेन (Verlaine), मलार्मे (Mallarme), पाल वेलरी (Paul Valary), आदि प्रमुख थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में 'प्रतीकवाद' (Symbalism) किसी निश्चित अर्थ का सूचक नहीं था तथा इसके अलग-अलग कवियों में अलग-अलग प्रवृत्तियाँ लक्षित होती थीं। इसीलिए इसके एक नेता बेलरी (Valary) ने प्रतीकवादी आन्दोलन को 'Intention of several groups of poets' कवियों के विभिन्न वर्गों का विचार मात्र माना है तथा ब्रुक्स महोदय ने इसे 'a bundle of tendencies not all of them very closely related' (परस्पर असंबद्ध प्रवृत्तियों की गठरी) मात्र घोषित किया है। प्रतीकवादी आन्दोलन में भाग लेनेवाले प्रत्येक कवि का अपना-अपना मत था, फिर भी उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में एक संगठित प्रयास किया।

'प्रतीकवाद' की परिभाषा करते हुए शिप्ले महोदय ने लिखा है कि यह एक संदर्भ के यथार्थ को उसके अनुरूप दूसरे संदर्भ के यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है।

इसे यदि भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली के माध्यम से स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि यह अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत को व्यक्त करने पर बल देता है या अभिधा के स्थान पर व्यंजना शक्ति की प्रतिष्ठा को अपना लक्ष्य मानता है। इस दृष्टि से काव्य-शैली के क्षेत्र में प्रतीकवाद का लक्ष्य निश्चित ही प्रशंसनीय था, किन्तु इस लक्ष्य तक बहुत कम प्रतीकवादी कवि पहुँच पाए। प्रतीकों का वही प्रयोग कलात्मकता को जन्म दे सकता है, जो अर्थ की प्रेषणीयता में साधक सिद्ध होता है तथा उसे अधिक आकर्षण प्रदान करता है, अन्यथा बीजगणित और कविता में कोई अन्तर नहीं रहता। दूसरे, प्रतीक अन्ततः विषय-वस्तु की व्यंजना के माध्यम मात्र हैं, अतः उसकी विषय-वस्तु की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु यूरोप के प्रतीकवादियों ने अपनी वैयक्तिक कल्पनाओं एवं असामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का ऐसा अन्धाधुंध प्रयोग किया जिससे उनका काव्य अस्पष्टता एवं दुरूहता से ग्रसित हो गया। प्रतीकवाद का सिद्धान्त ठीक था, किन्तु उसका व्यवहार ठीक क्षेत्र मे और ठीक तौर पर नहीं किया गया। अधिकांश प्रतीकवादी आत्मोन्मुखी होकर कल्पना-लोक के निर्माण में लग गए। अपनी इसी आत्मोन्मुखता, पलायनवृत्ति, असामाजिकता, निराशावादिता, रुग्णता, अस्पष्टता एवं क्लिष्टता के कारण, दीर्घकाल तक प्रतीकवादियों को 'क्षयोन्मुखी' (Decadents) विशेष से विभूषित किया जाता रहा, किन्तु उन्होंने कुख्याति को ही अपनी उपलब्धि मानते हुए इतिहास में अपने लिए स्थान बना लिया।

(ख) **बिम्बवाद**—प्रतीकवादियों की ही भाँति अंग्रेजी के कुछ कवियों ने बिम्बवादी (Imagists) सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके उन्नायकों में टी० ई० ह्यूम (T. E. Hulme), एजरा पाउण्ड (Ezra Pound), रिचर्ड एलडिंग्टन (Richard Aldington), एफ० एस० फ्लिण्ट (F. S. Flint) आदि के नाम प्रमुख हैं। सन् १९०८ से 'पोयट्स क्लब' की स्थापना करते हुए बिम्बवाद के सिद्धान्तों की घोषणा की गई तदनन्तर १९१४ से लेकर १९३० तक विभिन्न काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। इनमें पहला संग्रह १९१४ में एजरा पाउण्ड के नेतृत्व में "Des Imagists' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। जिसमें फ्लिण्ट, एलडिंग्टन, लावेल, हिल्डा डूलिट, एच० एम० ह्यूफर, जेम्स ज्वॉयस, एजरा पाउण्ड, एलेन अपवर्ड, विलियम कार्ल्स विलियम्स आदि की रचनाएँ संगृहीत थीं। सन् १९१५ में एक अन्य संग्रह Some Imagists Poets (कुछ बिम्बवादी कवि) प्रकाशित हुआ जिसमें बिम्बवादियों ने अपने-अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए। इसी प्रकार आगे भी इनके विभिन्न संकलन प्रकाशित हुए। यद्यपि अपनी गुटबन्दी के बल पर यह सम्प्रदाय बीस-पच्चीस वर्ष तक चलता रहा, किन्तु जन-समाज के हृदय में प्रतिष्ठा पाने में उसे सफलता नहीं मिली। इतना ही नहीं, इसका प्रबल विरोध भी हुआ, जिसके अनेक कारण थे। एक तो इन कवियों ने सर्वथा नूतनता की खोज में पड़कर अपनी उक्तियों में कृत्रिम ढंग से काव्यात्मकता उत्पन्न करने का प्रयास किया। दूसरे, उन्होंने स्पष्ट निरीक्षण, यथावत् चित्रण और बिम्बों के यथार्थ-विधान पर इतना बल दिया कि उनकी कविताएँ सामान्य जीवन की निर्जीव अनुकृतियाँ बन गईं। तीसरे, उनके बिम्बों में संश्लिष्टता एवं सुसम्बद्धता का

अभाव था। चौथे, उनकी विषय-वस्तु भी इतनी सामान्य एवं दैनिक जीवन के स्तर की है, जिसमें आकर्षण की उद्दीप्ति बहुत कम हो पाती है। इसके अतिरिक्त भी बिम्बवाद के विरोध के कई और कारण थे, जैसा कि डाक्टर शिवकुमार मिश्र ने स्पष्ट किया है—'अपनी व्यक्तिगत तुष्टि की धुन में बिम्बवादी भूल-से गए कि उनकी कविता के पाठक हैं, और उनकी अपनी रुचियाँ हैं। यह एक सामाजिक दृष्टिकोण था और इसकी प्रतिक्रिया भी हुई है। विरोध का दूसरा कारण बिम्बवादियों का प्रतीकवादियों की भाँति समाज की बाह्य वास्तविकताओं से पूर्णतः कट जाना था। कविता की शैली-शिल्पगत प्रयोगों की धुन में बाह्य यथार्थ के प्रति इतनी निर्मम उदासीनता युग की जागरूक काव्य-चेतना द्वारा सह्य न हो सकी। समाज तथा जीवन के प्रति बिम्बवादियों के विचार भी बड़े ही निराशाजनक थे। ह्यूम के विचारों में तो स्पष्टतः प्रतिक्रियावाद की छाप थी। बिम्बवादियों द्वारा विषय-वस्तु की उपेक्षा ही विरोध का कारण बनी और इन सबने मिलकर इस आन्दोलन को अधिक काल तक जीवित न रहने दिया।'[1]

(ग) **दादा वाद** (Dada movement)—यह यूरोप का कला सम्बन्धी आन्दोलन था, जिसका प्रवर्त्तन सन् १९१६ ई० के आसपास जीन अर्प तथा अर्न्स्ट मार्क्स आदि चित्रकारों ने किया था। इसका संचालन और प्रचार मुख्यतः 'कबरे वोल्त्येर' 'दादा' आदि पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हुआ तथा समय-समय पर आयोजित चित्र प्रदर्शनियों के रूप में हुआ। कुछ जीवन से जले-कटे तरुण-तरुणियाँ एकत्र हुए जिनका कहना था कि जीवन ने उनके साथ दगा किया है, और उन्होंने इस संसार के अनैतिक स्वभाव के भंडाफोड़ का बीड़ा उठाया है। उन्होंने सारे परंपरागत तर्क, कला, संस्कृति आदि पर प्रहार किया। चित्र में आकस्मिक और अप्रत्याशित का आधार लेकर उन्होंने कला में एक नयी धारा प्रवाहित की। उनकी कला का साधारण रसवादी सौन्दर्य से कोई संबंध नहीं था। अन्य भी अनेक रूपों से उन्होंने परंपरागत संस्कृति का उपहास किया। जैसे 'लियोनार्दो द' विंची के प्रसिद्ध चित्र 'मोनालीजा' में मोनालीजा के मूँछें बनाकर फिर से चित्रित किया गया। दूशों का चित्र 'चश्मा' भी इसी प्रकार था, जो वास्तव में चश्मा या फव्वारा नहीं, मात्र मूत्रालय था और जिसे उसने १९१७ ई० में नियोजित न्यूयार्क की एक चित्र-प्रदर्शनी में प्रदर्शित किया था।'[2]

इस दादावाद ने फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैंड आदि यूरोपियन देशों तथा अमरीका के न केवल मूर्त्तिकारों एवं चित्रकारों को, अपितु साहित्यकारों को भी प्रभावित किया है। इसी की प्रेरणा से कविताओं में नग्न, अश्लील एवं भद्दे दृश्यों के अंकन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।

(घ) **अति यथार्थवाद** (Surrealism)—उपर्युक्त दादावाद का ही विकसित रूप 'अति यथार्थवाद' है। वस्तुतः दादावाद का मूल क्षेत्र चित्रकला का था, जबकि

---

१. नया हिन्दी काव्य : डा० शिवकुमार मिश्र, पृ० ४१८।

२. डा० भगवतशरण उपाध्याय : 'हिन्दी साहित्य-कोष', प्रथम खण्ड, पृ० ३३४।

इसने साहित्य को केन्द्र बनाया। इसका आरम्भ १९२० ई० के आस-पास से माना जा सकता है, जबकि आन्द्रे ब्रेटन (Andre Breton) नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने अपने मित्र फिलिप सोपोल्ट' (Phillipe Soupault) की सहायता से सम्मोहन अवस्था (Hypnosis) में सामूहिक रूप से काव्य-रचना के प्रयोग किए। इसके अनन्तर आन्द्रे ब्रेटन ने १९२४ में अपना प्रयोग-सम्बन्धी घोषणा-पत्र प्रकाशित करते हुए बताया कि किस प्रकार अचेतन की सहायता से काव्य-रचना के लिए प्रयोग किये जा सकते हैं।

अति यथार्थवाद के विकास-काल को सामान्यतः तीन खण्डों में बाँटा जाता है: (१) प्रारम्भ काल—१९२०-२४ ई०, जबकि विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक प्रयोग होते रहे। (२) मध्यकाल—१९२४ से १९३० तक; इस काल में अति यथार्थवादियों ने एक ओर तो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को स्वीकार किया तथा दूसरी ओर विशुद्ध स्वच्छन्द रूप से—अनियंत्रित रूप में—काव्य-रचना के प्रयोग करते रहे। (३) उत्तर काल—१९३० के बाद; धीरे-धीरे अतियथार्थवाद मार्क्सवाद से अलग हो गया और काव्य-प्रयोगों में विशुद्ध अचेतन के स्थान पर चेतन-स्तर की भी थोड़ी-बहुत सहायता ली जाने लगी। इस युग में काव्य-रचना के एक 'Paranoic Method' (बौद्धिक उन्माद की पद्धति) का भी आविष्कार किया गया, जिसके अनुसार काव्य-रचना के क्षणों में कवि अपने मन को इस प्रकार उन्मत्त बना देने का प्रयास करता है कि जिससे वह विषय-वस्तु को नये रूप में देख सके।

अस्तु, अति यथार्थवादियों ने जहाँ उन्मुक्त एवं विक्षिप्त रूप में काव्य-रचना के प्रयोग करके नयी रचना-पद्धति का आविष्कार किया, वहाँ उन्होंने विषय-वस्तु के क्षेत्र में भी क्रांति की। इन्होंने चेतन मन के स्थान पर अचेतन स्तर की सामग्री को प्रस्तुत करते हुए कुंठाओं, वासनाओं, भावनाओं, एवं असामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति निर्द्वन्द्व रूप में की। साथ ही इन्होंने फ्रायडवादी विचारों का अनुसरण करते हुए समाज एवं संस्कृति-विरोधी भावनाओं को भी व्यक्त किया। अंग्रेजी में इनकी कविताओं के संग्रह 'New verse' या 'नयी कविता' शीर्षक से प्रकाशित हुए।

अति यथार्थवादियों के मूल प्रयोजनों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—(क) वास्तविकता या यथार्थ के स्वीकृत मानदंडों एवं सीमाओं को अस्वीकारना। (ख) काव्य में अब तक अप्रयुक्त सामग्री को प्रयुक्त करना। (ग) चेतन और अचेतन स्तर के मानसिक संस्कारों से सम्बन्ध स्थापित करना। (घ) बिना किसी बाह्य प्रयास के उन्मुक्त रूप में सामग्री को प्रस्तुत करना। (ङ) जिस प्रकार अचेतन मन में सामग्री अव्यवस्थित एवं क्रम-शून्य रूप में स्थित है, उसी प्रकार काव्य-रचनाओं में भी अचेतन को वस्तु को प्रस्तुत करना, जिससे उसे अचेतन मन का सही प्रतिरूप कहा जा सके। (च) मन की कुंठाओं एवं वर्जनाओं को मुक्ति प्रदान करके अचेतन का विस्तार करना। इन लक्ष्यों को देखते हुए अति यथार्थवाद को फ्रायडवादी काव्य भी कहा जा सकता है।

(ङ) **अस्तित्ववादी दर्शन**—अस्तित्ववाद (Existentialism) यूरोप की सर्वाधिक व्यक्तिवादी, आत्मोन्मुखी, अराजकतावादी और सामाजिक दार्शनिक विचारधारा

है, जिसका विकास सोरेन किर्केगार्ड (Soren Kirkeguard 1813-1855), एफ० नीत्शे (F, Nietzsche : 1844-1900), मार्टिन हैंड्गर (Martin Heidgger : 1899) तथा जे० पी० सार्त्र (J. P. Sartre; 1905) जैसे स्वच्छन्द चिन्तकों द्वारा हुआ। यद्यपि इसकी भी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हैं, किन्तु सामान्यतः सभी अस्तित्ववादी तीन सामान्य मूल्यों (सत्यों) को स्वीकार करते हैं[1]—(१) दुःख और पीड़ा अस्तित्व की अनुभूति का अनिवार्य आधार है, अर्थात् दुःखी और पीड़ित हुए बिना हम अपने अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सकते। (२) दुःख और पीड़ा से मुक्ति पाने का सबसे बड़ा उपाय यही है कि हम उसे स्वीकार कर लें। (३) मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए कि जिसमें उसकी सारी शक्तियाँ लग जाएँ तथा वह अपनी संवेदनाओं को गंभीरतम रूप में संवेदित कर सके। इसके लिए उसे खतरनाक परिस्थितियों का सामना करना चाहिए।

अस्तित्ववाद के व्याख्याता सार्त्र ने अस्तित्व की अनुभूति को ही जीवन का चरम सत्य मानते हुए बताया है कि मनुष्य अपनी रुचि के चुनाव में, अपने निर्णयों में पूर्ण स्वतन्त्र है, अपने किसी भी कार्य के लिए वह अन्य सत्ता या सामाजिक संस्था के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

अस्तित्ववाद अतीत और भविष्य के स्थान पर केवल वर्तमान में विश्वास करता है। वह वर्तमान क्षण की अनुभूति को भविष्य की कल्पनाओं से अधिक महत्व देता है। वह परंपरागत चिंतन, सामाजिक मूल्यों, नैतिक विचारों को ही नहीं, वैज्ञानिक तर्क-प्रणाली को भी अस्वीकार्य मानता है।

अस्तु, अस्तित्ववादी साहित्यकारों के अनुसार पात्रों की महानता, उदात्तता आदि कोई महत्त्व नहीं रखती। स्वयं सार्त्र ने अपने कथा-साहित्य एवं नाटकों में मानव के अत्यधिक कुरूप, बीभत्स, भयानक, हीन एवं तुच्छ रूप का चित्रण किया है। उनके नायक प्रायः वर्बर कायर, नपुंसक एवं अधम श्रेणी के पात्र है। वस्तुतः वे साहित्य में महान मानव के स्थान पर लघु मानव को प्रतिष्ठा करना चाहते हैं।

कुरूप एवं अशोभनीय पक्षों का भी स्वागत किया जा सकता है, यदि उनके पीछे प्रेरणाएँ और प्रयोजन शुभ हों। किन्तु अस्तित्ववाद मनुष्य में केवल निराशा एवं आकांक्षा-शून्यता की भावना उत्पन्न करना चाहता है, जो मानव-हित की दृष्टि से घातक है। इसीलिए यह वाद बावजूद अपने प्रचार के लोकप्रिय नहीं हो सका।

(च) फ्रायडवादी मनोविश्लेषण—प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिग्मंड फ्रायड (१८५६-१९३९) के अनुसार कला-सर्जन के मूल में कलाकार की दमित वासनाओं एवं कुंठित काम प्रवृत्ति का योग रहता है। कलाकार अपनी कामवासना को समाज के भय से अथवा अन्य कारणों से सामान्य जीवन में व्यक्त नहीं कर पाता, वही वासना या तो यौन-विकृतियों तथा मानसिक रोगों के रूप में व्यक्त होती है, या स्वप्न और कला के माध्यम से। पर कला में दमित वासनाएं अपने प्रकृत रूप में व्यक्त न होकर उदात्त (Sublimated) रूप में ही व्यक्त होती है, अर्थात् कला के माध्यम से कलाकार अपनी

१. Existentialism : Robert G. Olson.

दमित वासनाओं एवं कुंठाओं का उदात्तीकरण करके एक प्रकार से उनकी विकृतियों से मुक्ति पाता है। ऐसी स्थिति में कला में यौन अंगों, वासनाओं एवं कुंठाओं का चित्रण होना स्वाभाविक माना गया है।

विभिन्न संप्रदायों से गृहीत प्रभाव—उपर्युक्त सम्प्रदायों से हिन्दी की नयी कविता ने अनेक प्रकार के प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में ग्रहण किए हैं। अप्रत्यक्ष से हमारा तात्पर्य यह है कि सभी नये कवियों ने इन सम्प्रदायों का अध्ययन स्वयं नहीं किया, अपितु कुछ पथ-प्रदर्शकों ने अंग्रेजी की कविताओं के माध्यम से ही ये प्रभाव जान या अनजान में ग्रहण किए हैं, अतः इस प्रकार के प्रभाव को अप्रत्यक्ष रूप में गृहीत मानना उचित होगा। नयी कविता के उन्नायकों ने पाश्चात्य काव्य-सम्प्रदायों की न केवल काव्यगत प्रवृत्तियों का अनुसरण किया गया है, अपितु उनकी संगठन-पद्धति, प्रचार-पद्धति एवं नारेबाजी आदि का भी अनुकरण किया है। अत. इन प्रभावों को हम यहाँ दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बाह्य प्रभाव और (२) आन्तरिक प्रभाव। इन दोनों का विश्लेषण अलग-अलग किया जाता है :

(क) बाह्य प्रभाव

(अ) जिस प्रकार प्रतीकवादियों तथा बिम्बवादियों ने समय-समय पर अपने गुट बनाकर योजना-बद्ध एवं संगठित रूप में अपने काव्य-सम्प्रदायों की स्थापना की, उसी प्रकार प्रयोगवाद एवं नकेनवाद की स्थापना की गई।

(आ) जिस प्रकार प्रतीकवाद में सम्मिलित होनेवाले कवियों ने अपने पारस्परिक मतभेद को स्वीकार करते हुए अपने गुट को 'Intention of several groups of poets' (विभिन्न वर्गों के कवियों का विचार) तथा 'a bundle of tendencies not all of them very closely related' (परस्पर असम्बद्ध प्रवृत्तियों की गठरी) घोषित किया, लगभग उन्हीं शब्दों में अज्ञेय ने अपने 'तार-सप्तक' की भूमिका में घोषित किया—"उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं—अभी राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"

(इ) जिस प्रकार बिम्बवादियों ने 'पोयट्स क्लब' की स्थापना के अनन्तर अनेक कवियों के सामूहिक काव्य-संग्रह तथा कवियों के वक्तव्य प्रकाशित किए, उसी प्रकार प्रयोगवाद एवं नयी कविता के सामूहिक काव्य-संग्रह कवियों एवं उनके परिचायकों के वक्तव्य के साथ प्रकाशित हो रहे हैं।

(ई) अति यथार्थवादियों ने अपने प्रयोगवादी संग्रहों को आगे चलकर 'न्यू वर्स' (नयी कविता) नाम दे दिया, लगभग वैसे ही हिन्दी के प्रयोगवादियों ने आगे चलकर 'नयी कविता' नाम स्वीकार कर लिया।

(उ) पाश्चात्य साहित्य के इन आन्दोलनों ने अपनी 'कुचर्चा' को ही अपनी 'ख्याति' मानते हुए ऐसे उत्तेजनात्मक वक्तव्य दिये, जिससे कि उनकी अधिक से अधिक प्रतिक्रिया हो, लगभग ऐसा ही लक्ष्य प्रयोगवाद ने भी रखा है।

(ख) आन्तरिक प्रभाव

(अ) प्रतीकवादियों की भाँति हिन्दी के नये कवियों ने परम्परागत भाषा को मृत एवं प्रभावशून्य घोषित करते हुए नये प्रतीकों का प्रयोग अस्पष्ट एवं असंबद्ध रूप में किया।

(आ) प्रतीकवादियों की वैयक्तिकता, असामाजिकता, निराशावादिता, रुग्णता, आदि की उन प्रवृत्तियों को, जिनके कारण वे 'क्षयोन्मुखी' (Decadents) कहलाए, हिन्दी के इन कवियों ने भी प्रश्रय दिया।

(इ) प्रतीकवादियों के द्वारा कृत्रिम रूप में प्रतीकों के प्रयोग के कारण उनके काव्य में अस्पष्टता, दुरूहता एवं क्लिष्टता मिलती है, जिसे उन्होंने दोष के स्थान पर गुण सिद्ध किया, यह बात हिन्दी के इन कवियों पर लागू होती है।

(ई) बिम्बवादियों ने जिस प्रकार नये विषयों, नई वस्तु, नये रूपों, नयी शैली और नयी भाषा को अपना लक्ष्य घोषित किया, वैसी ही घोषणा हिन्दी के नये कवियों ने की है।

(उ) बिम्बवादियों ने स्पष्ट निरीक्षण, यथावत् चित्रण एवं बिम्बों के यथार्थ विधान पर इतना बल दिया कि उनकी कृतियाँ सामान्य जीवन की निर्जीव अनुकृतियाँ बन गई। यह बात इन पर भी लागू होती है।

(ऊ) बिम्बवादियों ने विषय-वस्तु की प्रायः उपेक्षा की तथा दैनिक जीवन की अति साधारण बातों को कविता में स्थान दिया, इस प्रवृत्ति को हिन्दी कवियों ने भी अपनाया है।

(ए) दादावादियों ने परम्परागत संस्कृति एवं सभ्यता का जैसा विरोध किया वह हिन्दी के नये कवियों में भी मिलता है।

(ऐ) अति यथार्थवादी काव्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ हिन्दी के नये कवियों में ज्यों की त्यों मिलती है :

१. अचेतन की कुण्ठाओं को व्यक्त करने का लक्ष्य सामने रखकर काव्य सम्बन्धी प्रयोग करना।

२. फ्रायडवादी मनोविज्ञान को स्वीकार करते हुए कुण्ठाओं, वासनाओं, गुह्य भावनाओं को काव्य में व्यक्त करना।

३. वास्तविकता एवं यथार्थ के स्वीकृत आयामों को अस्वीकार करना।

४. अब तक अप्रयुक्त सामग्री को पहली बार काव्य में प्रयुक्त करने का दावा करना।

५. कला का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व (व्यक्तिगत कुण्ठाओं एवं दमित वासनाओं) से मुक्ति पाने का।

(ओ) अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के प्रभाव से हिन्दी कविता में क्षणवाद, निराशा-वाद, लघु मानव की प्रतिष्ठा, आकांक्षा-शून्यता आदि की प्रवृत्तियाँ आई हैं।

(औ) फ्रायडवाद की कतिपय प्रवृत्तियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके

अतिरिक्त 'फ्री एसोसियेशन' को पद्धति भी फ्रायडवाद की देन है। इस पद्धति के अनुसार मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति को सम्मोहित या अर्द्धनिद्रित अवस्था में लाकर उससे उन सभी विचारों को, उसी क्रम से, निर्बाध रूप में व्यक्त करने के लिए कहा जाता है, जिस क्रम से वे उनके मस्तिष्क में उठे हों। इस प्रकार रोगी की दमित वासनाओं एवं ग्रंथियों का पता लगाया जाता है। कवियों ने भी इस पद्धति का प्रयोग काव्य-रचना में किया है। यहाँ इस प्रकार की एक कविता का उदाहरण प्रस्तुत हैं :

'आह, सारी रात
चाय रख दो कागजों पर,
या निशा सर्वं भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी,
ई ईश्वर, उ उल्लू
चल हट बेटा।'

—राधाकान्त भारती

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि हिन्दी का यह नया वाद अपनी विभिन्न बाह्य एवं आन्तरिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से अंग्रेजी कविता के कतिपय आधुनिक संप्रदायों का अनुवर्ती मात्र है, किन्तु अपनी नूतनता एवं मौलिकता का दावा करने के कारण अधिकांश हिन्दी कवि इस तथ्य को स्वीकार करने में संकोच करते है। फिर भी कुछ कवियों ने अवश्य इसे स्वीकार करने का साहस किया है। यथा, शमशेर बहादुर सिंह (जो दूसरे सप्तक के कवियों में से हैं) ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—"उन दिनों शैली, रोजेटी और कुछ जार्जियन कवियों का मुझ पर बहुत असर था—मेटरलिंक की ट्रेजेडी की व्याख्या बहुत महत्वपूर्ण लगती थी कि 'होना ही' ट्रेजेडी है। मगर सिवा थोडी बहुत कविता के मैं और चीजें कम पढ़ता था। एक बार क्लास में इलियट और कमिंग्स की दो मशहूर कविताएँ पढ़कर सुनायी गई।....उन्होंने मुझे कविता में एक विस्तार, एक नयी युक्ति और जीवन के नाटक तत्व का आभास दिया। टेकनीक में एजरा पाउण्ड शायद मेरा सबसे बड़ा आदर्श बन गया।[1]" इसी प्रकार अपने एक अन्य लेख में भी इन्होंने हिन्दी के इस नये काव्य को पश्चिम के 'सिम्बॉलिज्म' (प्रतीकवाद) और 'फार्मेलिज़्म' (रूपवाद) का ही एक रूप मानते हुए लिखा है—'यह चीज यूरोप में १९वीं शताब्दी के अन्त में हुई, पहले विश्व-युद्ध के आस-पास परवान चढ़ी और अब अमरीका को छोड़कर अन्य जगहों में कमजोर पड़ गई है। उर्दू में भी यह चीज आई थी, मगर मजाज, साहिर, सरदार, मखदूम, कैफी और जोश की कविताओं ने उसे बिल्कुल दबा दिया। बस रुझान में 'सिम्बोलिज्म' और 'फार्मेलिज्म' (प्रतीकवाद और रूप प्रकारवाद) के नाना रूप और छायाएँ हैं। यूरोप में ये आन्दोलन लगभग अपना काम पूरा कर चुके, हिन्दी में इनका युग आना बाकी था, सो आया।'[2]

तीसरे 'सप्तक' के कवि केदारनाथ सिंह ने भी आधुनिक अँग्रेजी कविता के प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा है—'फिर धीरे-धीरे अँग्रेजी की आधुनिक कविता का

---

१. **'दूसरा सप्तक' पृ० ८३।**
२. **'नया हिन्दी काव्य' : डा० शिवकुमार मिश्र, पृ० २०४।**

सौन्दर्य भी मेरे निकट खुलने लगा और उसके माध्यम से कुछ अन्य भाषाओं की कविताओं से परिचय हुआ। आज वहाँ आकर मन टिक गया है, जहाँ से कालिदास, सूर, बोदलेयर, निराला, ऑडेन, डायलन टामस और जीवनानन्दास समान रूप से प्रिय लगते हैं।"[1]

अस्तु, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस कविता का मूल स्रोत आधुनिक अंग्रेजी कविता है, उसी के माध्यम से यूरोप के विभिन्न कला-सम्प्रदायों एवं काव्य-सम्प्रदायों, दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक विचारों का प्रभाव हिन्दी के नये कवियों तक पहुँचा है, यह दूसरी बात है कि सभी नये कवियों ने यह प्रभाव सीधे अंग्रेजी से ग्रहण न करके अपने पथ-प्रदर्शक हिन्दी कवियों के माध्यम से ग्रहण किया हो तथा उन्हे इस तथ्य का पता भी न हो।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

इस वाद से सम्बन्धित प्रमुख हिन्दी कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन मुख्यतः दो वर्गों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) बाह्य प्रवृत्तियाँ और (२) आन्तरिक प्रवृत्तियाँ। इन दोनों को यहाँ क्रमशः लिया जाता है :

(क) बाह्य प्रवृत्तियाँ

जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, नये कवियों ने अपनी चर्चा को ही अपना प्रचार, कुख्याति को ही अपनी प्रसिद्धि एवं स्वयं को अच्छे या बुरे रूप में स्थापित कर देना ही अपने कवि-कर्म का लक्ष्य माना है, अतः उन्होंने अपनी कविताओं के साथ प्रायः ऐसे ऊहात्मक वक्तव्य दिये हैं, जो पाठकों में गहरी प्रतिक्रिया या उत्तेजना पैदा कर सकें। उदाहरण के लिए यहाँ कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(अ) "मैं कविता क्यों लिखता हूँ—मैंने कविता क्यों लिखी ? कहूँ कि किसी लाचारी से ही लिखी।....मैं कविता न लिखता यदि हिन्दी के आज के प्रतिष्ठित कवियों में एक भी ऐसा होता जिसकी कविताओं में कवि का एक व्यापक-जीवन-दर्शन मिलता, (यदि) आज के गण्य-मान्य आलोचकों में एक भी आलोचक ऐसा होता, जिसने प्रयोगवादी या नयी कविता के बारे में एक भी समझदारी की बात कही होती (यदि) हिन्दी का एक भी जागरूक पाठक ऐसा होता जिसने हिन्दी की वर्तमान विभूतियों की नयी लिखी जानेवाली रचनाओं पर घोर असंतोष न प्रकट किया होता।" (तीसरा सप्तक' : पृष्ठ ३००)।

यह वक्तव्य सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का है। इसका यदि विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि कवि ने कविता की प्रेरणा से कविता नहीं लिखी, अपितु हिन्दी में एक भी दार्शनिक कवि, एक भी समझदार आलोचक और एक भी जागरूक पाठक न होने की विवशता के कारण लिखी। पर सवाल यह है कि जब आलोचक और पाठक

१. 'तीसरा सप्तक', पृ० १८६।

'वर्तमान विभूतियों' की पूर्व रचित कविताओं को ही नहीं समझ पा रहे हैं, तो आपके कविता लिखने मात्र से उनमें 'समझ' कहाँ से आ जाएगी ? उनका तर्क वैसा ही है, जैसा कि यह कहना कि मैं रोटी इसलिए बना रहा हूँ, क्योंकि कोई भी रोटी नहीं खाता, किसी की भी रोटी खाने की इच्छा नहीं है। फिर भी वह 'व्यापक दर्शन' कौन सा है, जिसका प्रचार अब तक एक भी हिन्दी कवि ने नहीं किया—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया, पर उनकी कविताओं से शायद इसका अनुमान लगाया जा सकता है। उपर्युक्त वक्तव्य के बाद प्रस्तुत की गई उनकी प्रतिनिधि कविताओं में से एक निम्नलिखित है :

मैं डरी-डरी सी, चले नहीं जाना बालम !
बेले को पहले ये कलियाँ खिल जाने दो,

× × ×

इस नीम की ओट से ऊपर उठने दो चंदा,
घर के आँगन में तनिक रोशनी आने दो,
कर लेने दो तुम मुझको बन्द कपाट जरा,
कमरे के दीपक को पहले सो जाने दो,
चले नहीं जाना बालम।

(तीसरा सप्तक; पृ० ३३९)

सक्सेना ने हिन्दी में जिस व्यापक दर्शन के अभाव की शिकायत की है, उसी की पूर्ति उन्होंने कदाचित् इस कविता में की है। पर उन्हें पता नहीं कि इस प्रकार का दर्शन उन्हे निम्न स्तर की सस्ती फिल्मों के गानों में तथा उनके आस-पास की गलियों में भी देखने को मिल सकता था। हाँ, 'प्रतिष्ठित कवियों' में से अवश्य किसी ने इस प्रकार के 'दर्शन' को प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की, अन्यथा वे 'प्रतिष्ठित' नहीं हो पाते।

(आ) "उषा देवता से लेकर गधे तक, नग्न यौन-भावना से लेकर सामाजिक क्रांति तक, देहाती अमराई से लेकर कल-पुर्जों तक, अवचेतन से लेकर स्थूल के अनुत्तेजित चित्रण तक इतना व्यापक विस्तार शायद पहले किसी 'वाद' की कविता का न हुआ।' (मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक; पृ० ११९)

कवि का यह वक्तव्य व्याकरण की अनेक भूलों से युक्त होता हुआ भी ('उषा' हिन्दी में देवता नहीं, 'देवी' होता है, 'न हुआ' के स्थान पर 'नहीं हुआ' होना चाहिए था) पर्याप्त रोचक है। हम मानते हैं कि अब तक किसी भी वाद की कविता ने गधे को देवताओं की परम्परा में स्थान नहीं दिया और न ही 'नग्न यौन भावना के चित्रण' में तथा 'अनुत्तेजित चित्रण' में वैसा विस्तार किया है, जैसा कि वात्स्यायन जी तथा उनके बन्धुओं ने किया है !

(ई) 'अपनी रचनाओं की व्याख्या आजकल प्रायः सभी लेखक करने लगे हैं। पहले युगों में ऐसी बात नहीं थी। इस दृष्टि से हमारे साहित्य ने बड़ी प्रगति की है। (कीर्ति चौधरी; 'तीसरा सप्तक' पृष्ठ ६५)

चौधरीजी को शायद मालूम नहीं कि पहले ऐसी अस्पष्ट रचनाएँ नहीं लिखी जाती थीं, जिनकी व्याख्या स्वयं लेखकों (कवियों) को करनी पड़े, अन्यथा इसे वे 'प्रगति' के स्थान पर 'दुर्गति' ही मानतीं।

खैर ! इस प्रकार के वक्तव्यों की बहुत बड़ी संख्या है, जो वक्ताओं के बौद्धिक एवं नैतिक स्तर के साथ-साथ उनके भाषा-ज्ञान के स्तर पर भी प्रकाश डालती है। जिस प्रकार कोई गंजा यह वक्तव्य दे कि दुनिया में उसकी तथा उसके जैसे कुछ व्यक्तियों की ही खोपड़ी सबसे अधिक सुन्दर है, क्योंकि उस पर कोई बाल नहीं है, उसी प्रकार के हास्यास्पद वक्तव्य देते हुए इन कवियों ने भी नये 'दर्शन', नये सौन्दर्य शास्त्र एवं नये काव्य की प्रतिष्ठा का दावा किया है। पर दुर्भाग्य यह है कि इनके समर्थक आलोचकों एवं मित्रों ने भी इन्हे इस हास्यास्पद स्थिति से अवगत कराने के स्थान पर दुनिया के शेष सब लोगों को नासमझ घोषित कर दिया है। अभी १९६३ में प्रकाशित एक वक्तव्य में प्रो० कुमार 'विमल' ने घोषित किया है कि 'हिन्दी के नब्बे प्रतिशत पाठकों' में नयी कविता में सौन्दर्य को समझने की बुद्धि नहीं है।[1] प्रश्न है, बाकी दस प्रतिशत कौन से कौन से लोग हैं—इसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया, पर समझना चाहिए कि इसमें स्वयं नये कवि एवं उनके नये आलोचक ही आते हैं। यदि दुनिया के पागलों से पूछा जाय, तो वे भी यही कहेंगे कि पागलखाने के बाहर रहनेवाले सब लोग मूर्ख हैं, क्योंकि वे उनके प्रलाप का अर्थ नहीं समझते। यदि बाकी सभी लोग मूर्ख है तो उन्हे वे अपने महान् काव्य को समझाने की इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? क्यों न ये समझदार आपस में एक दूसरे की रचनाएँ सुनकर, समझकर एवं प्रशंसा करके संतुष्ट हो लेते ?

(ख) आन्तरिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी की इन नयी कविताओं मे सामान्यतः निम्नांकित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :

(अ) घोर वैयक्तिकता—'नयी कविता' का प्रमुख लक्ष्य निजी मान्यताओं, विचारधाराओं एवं अनुभूति का प्रकाशन करना है। वैयक्तिकता की यह प्रवृत्ति रीतिकाल के स्वच्छन्द शृङ्गारी कवियों एवं आधुनिक युग के छायावादी कवियों में भी विकसित हुई थी, किन्तु उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यंजना इस प्रकार की जिससे वह प्रत्येक पाठक के हृदय को आन्दोलित कर सके; किन्तु इन कवियों में यह बात नहीं मिलती। कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए देखिए—

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जन्म हुआ,
बचपन बीता अति साधारण
साधारण खान-पान
साधारण वस्त्र-वास

× × ×

१. नयी कविता, नयी आलोचना और कला; पृ० १७।

तब मैं एकाग्र मन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला !

—भारत भूषण

यह रचना भारत-भूषणजी के द्वारा रचित है; इसमें 'आत्म-विज्ञापन' किया गया है; भावनाओं के स्थान पर कवि ने अपनी महानता का चित्रण किया है। 'साधारण खान-पान' होते हुए भी उसने परीक्षाओं में विलक्षण सफलता प्राप्त की—इसी तथ्य का निदर्शन है !! हमें कवि के साथ पूरी सहानुभूति है। साधारण खान-पान से ही कवि ने ऐसी सफलता प्राप्त कर ली, यदि उसे असाधारण खान-पान मिलता तो न जाने उसकी प्रतिभा का क्या हाल होता ! भारत-सरकार और जनता को चाहिए कि वह ऐसी महान् प्रतिभाओं के आत्म-विज्ञापन पर ध्यान दे।

(अ) दूषित वृत्तियों का नग्नरूप में चित्रण—जिन वृत्तियों का अश्लील, असामाजिक एवं अस्वस्थ कहकर समाज और साहित्य में दमन किया जाता रहा है, उन्हीं को उभार कर प्रस्तुत करने मे नये कवि गौरव का अनुभव करते हैं। अपनी अतृप्ति, कुण्ठाओं एवं दमित वासनाओं का प्रकाशन वे निःसंकोच रूप में करते हैं।

"मेरे मन की अँधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खाँस रही है !
× × ×
पास घर आये तो
दिन भर का थका जिया मचल-मचल जाये !"

—अनन्तकुमार 'पाषाण'

इसी प्रकार श्रीमती शकुन्तला माथुर ने 'सुहाग-वेला' में जो 'लपक-झपक' दिखाई है, वह भी द्रष्टव्य है—

"चली आई वेला सुहागिन पायल पहने...
बाणविद्ध हरिणी सो
बाँहों में लिपट जाने की
उलझने की, लिपट जाने की,
मोती की लड़ी समान...।"

यहाँ कवयित्री ने सुहागिन की अनुभूति की तुलना 'बाणविद्ध हरिणी' से की है, जो पाठक के मन में करुणा ही उत्पन्न कर सकती है, उल्लास नहीं, जबकि कवयित्री का लक्ष्य यहाँ सुहागिन के उल्लास को व्यक्त करना था।

(इ) निराशावादिता—नये कवि को न तो अतीत से ही प्रेरणा मिलती है और न ही वह भविष्य की आशा-आकांक्षाओं से उल्लसित है। उसकी दृष्टि केवल वर्तमान तक सीमित है, अतः ऐसी स्थिति में उसका क्षणवादी, निराशावादी और विनाशात्मक प्रवृत्तियों में लीन हो जाना स्वाभाविक है। उनकी स्थिति उस व्यक्ति की भाँति है जिसे

यह विश्वास हो कि अगले क्षण प्रलय होनेवाली है, अतः वे वर्तमान क्षण में ही सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं—

आओ हम उस अतीत को भूलें
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें !
छू लें इसी क्षण
क्योंकि कल के वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।

—मुद्राराक्षस

(ई) **बौद्धिकता एवं शुष्कता**—नये कवि अनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना कम करते हैं, अपने मस्तिष्क को कुरेद-कुरेदकर उसमें से कविता को बाहर खींच लाने का प्रयास अधिक करते हैं। वस्तुतः उसमें रागात्मकता की अपेक्षा विचारात्मकता अपितु अस्पष्ट विचारात्मकता अधिक होती है। नयी कविता के अनुयायियों का दावा है कि बौद्धिकता में भी एक रस होता है, बौद्धिक युग में बौद्धिकता की ही अधिक आवश्यकता है। बौद्धिकता से पाठक का हृदय आप्लावित नहीं हो सकता, इस तथ्य को ये कवि भी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही उनका कहना है कि कविता का उद्देश्य ही मस्तिष्क को कुरेदना है। निस्संदेह नयी कविता इस उद्देश्य की पूर्ति करने में पूर्णतः समर्थ है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

अंतरंग की इन घड़ियों पर छाया डाल दूँ !
अपने व्यक्तित्व को एक निश्चित साँचे में ढाल दूँ !
निजी जो कुछ है अस्वीकृत कर दूँ !
संबोधनों के सर्ग को उपसंहृत कर दूँ !
आत्मा को न मानूँ
तुम्हें न पहचानूँ
तुम्हारी त्वदीयता को स्थिर शून्य में उछाल दूँ
तभी
हाँ
शायद तभी...।

—राजेन्द्रकिशोर

ये पंक्तियाँ अपनी अस्पष्टता के कारण पाठक के मस्तिष्क को उलझाने में पूर्णतः समर्थ हैं, अतः इनकी उत्कृष्टता असंदिग्ध है।

(उ) **भदेस का चित्रण**—नये कवियों ने अपनी अस्वस्थ सौन्दर्य-चेतना एवं विकृत रुचि के कारण कुरूप, असुन्दर एवं भद्दे दृश्यों का भी चित्रण रुचिपूर्वक किया है; यथा—

'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्यधन गदहा।'

—अज्ञेय

लगता है, कहीं कोई ठौर नहीं...
आज का मनुष्य,
गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ—ऋषिपुत्र !

—राजेन्द्रकिशोर[1]

मुहब्बत एक गिरे हुए गर्भ के बच्चे सी होती है।
चाहत वह, मजबूरी हो सकती है,
जिसे मरीज खाँस कर थूक न सके।

—मुद्राराक्षस[2]

वस्तुतः यह प्रवृत्ति अंग्रेजी की आधुनिक कविताओं में भी मिलती है, जिसका अंधानुकरण करने का प्रयास किया गया है। बी० पी० बागची ने अंग्रेजी कविता की इस आधुनिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह इन कवियों पर भी लागू होता है—"The modern poets have taught us to seek beauty in places where we would not have expected it, even in things which we used to consider dirty and ugly[3] (आधुनिक कवियों ने हमें उन स्थानों में भी सौन्दर्य खोजने की शिक्षा दी है, जहाँ सामान्यतः सौन्दर्य की आशा नहीं की जाती; यहाँ तक कि गंदे और भद्दे समझे जाने वाले विषयों में भी)।

(ऊ) **साधारण विषयों का चयन**—नये कवि के पास कहने के लिए कोई बड़ी बात या कोई विशेष विषय नहीं है। अपने आस-पास की साधारण वस्तुओं—जैसे, चूड़ी का टुकड़ा, चाय की प्यालियाँ, बाटा का चप्पल, साइकिल, फ्रेंच लेदर, कुत्ता, वेटिंग-रूम, होटल, दाल, तेल, नोंन, लकड़ी आदि—को लेकर इधर-उधर की कुछ कह देता है, वही उनके लिए कविता बन जाती है—

बैठ कर ब्लेड से नाखून काटें,
बढ़ी हुई दाढ़ी में बालों के बीच की
खाली जगह छाटें,
सर खुजलायें, जम्हुआयें,
कभी धूप में आयें
कभी छाँह में जायें।

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

दिन मर गया है, मैं भी मर गया हूँ,
हींग और हल्दी से वासित मेरी बीबी मगर अभी जिंदा है !
और उसके पेट में कुछ और नयी जिन्दगी है,
मेरा कोट फटा है उसने ही सिया है।

—अनन्त कुमार 'पाषाण'[4]

यदि इस प्रकार की उक्तियों को 'कविता' का नाम दिया जा सकता है, तो निस्संदेह

१-३. नयी कविता और उसका मूल्यांकन : सुरेशचन्द्र सहल, पृ० १५८-१६०।
४. वही. पृ० १६१।

हर एक व्यक्ति को 'कवि' कहा जा सकता है। यदि किसी घर के कोने में या किसी गली के बीच कोई टेप-रिकार्डर लगा दिया जाय तो ऐसी हजारों कविताएँ रोज तैयार हो सकती हैं। बच्चों की रफ कापियों में, या हमारी रोजाना की डायरियों में भी ऐसी उक्तियाँ मिल जायेंगी। यही कारण है कि 'एक दिन यह भी रहस्य खुला कि नयी कविता की भरपूर निन्दा करनेवाली कई सदस्याओं ने स्वयं नयी कविता लिखकर कापियाँ भर डाली थीं।' (तीसरा सप्तक', पृ० ६४) हमारा विचार है कि ऐसी स्थिति में अब कविता का अकाल नहीं रहेगा तथा कवियों की संख्या उतनी ही बताई जा सकेगी, जितनी कि जन-संख्या है।

(ए) **व्यंग्य एवं कटूक्ति**—नये कवियों ने कहीं-कहीं आधुनिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यंग्य करने का प्रयास किया है, किन्तु व्यंग्य के लिए जिस मानसिक संतुलन की अपेक्षा है, उसका प्रायः नये कवियों में अभाव है, इससे उनकी उक्तियाँ सफल व्यंग्य बनने के स्थान पर प्रभाव-शून्य कटूक्तियाँ बन जाती हैं, यथा—

'साँप ! तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे,
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया,

× × ×

फिर कैसे सीखा डसना,
विष कहाँ पाया ?'

—अज्ञेय

यहाँ कवि मानकर चलता है कि आधुनिक सभ्यता साँप से भी अधिक विषैली है, साँप तो बेचारा निर्दोष प्राणी था—फिर उसने डसना कहाँ से सीख लिया ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह नगर में रहा हो ! पर कवि की इस भावना के साथ सामान्य पाठक का तादात्म्य स्थापित नहीं होता, अतः इसमें अपेक्षित व्यंग्यात्मकता का अभाव है।

(ऐ) **असम्बद्ध प्रलाप**—फ्रायडीय चिकित्सा प्रणाली में रोगी के द्वारा निद्रित या अनिद्रित अवस्था के कहे गए असम्बद्ध उद्गारों का अध्ययन करके उसकी कुंठाओं का पता लगाया जाता है तथा इस पद्धति को 'उन्मुक्त साहचर्य' (Free Association) की पद्धति कहते हैं। नयी कविता में इस पद्धति का उपयोग करते हुए असम्बद्ध प्रलाप प्रस्तुत किए हैं, यथा—

आह, सारी रात
चाय रख दो कागजों पर
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
ई, ईश्वर, उ, उल्लू
चल हट बेटा

—राधाकान्त भारती

ओ शैलीगत प्रवृत्तियाँ—नये कवियों ने नूतन प्रयोगों को अपना लक्ष्य मानते हुए अपनी कविता में नये बिम्बों, नये प्रतीकों, नये उपमानों, मुक्त छंदों और नयी

शब्दावली का प्रयोग किया है। परंपरागत प्रतीकों एवं उपमानों के स्थान पर उन्होंने आधुनिक युग के उपकरणों—विशेषतः वैज्ञानिक साधनों—की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. नये प्रतीक—'प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया।'

२. नये उपमान—**आपरेशन थियेटर** सी,

'जो हर काम करते हुए भी चुप है।'

या—'**बिजली के स्टोव** सी जो एकदम सुर्ख हो जाती है।'

३. नये बिम्ब—'कोठरी में दीप की लौ सेंकती ठंडा अंधेरा'

''बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।'

४. नये शब्द—(क) बोल-चाल के शब्द : मटियाली, फफूंद, ललोंई, दुधारू, भुनगे, अन्देशे, बिटिया, ठहराव आदि।

(ख) विदेशी शब्द : क्रुसेड, टाउन, क्यूब, आटोग्राफ, नार्सिसस, लाओकून, फीनिक्स, आदि।

(ग) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग—निर्व्याख्या, विश्ववत, अस्मिता, ईप्सा, क्लिन्न, समवाय, विकीरित, इयत्ता, विपर्यास, पारमिता आदि।

इन कवियों की शिल्पविधि और शैली में अनेक महत्त्वपूर्ण दोष हैं, जिनकी विस्तृत चर्चा डा० कैलाश वाजपेयी ने अपने शोध-प्रबंध में की है; यहाँ उनका संकेत मात्र किया जाता है—[1]

१. नवीनता के नाम पर अकाव्यात्मक तत्त्वों को स्थान देना।

२. नवीनता के अत्यधिक आग्रह के कारण बेढंगी उपमाओं, अनगढ़ शब्दों, असंबद्ध पदों और अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग करना; जैसे—

(क) मस्तक इतना खाली-खाली;
लगता जैसे हो कोई सड़ा हुआ नारियल।

—धर्मवीर भारती

(ख) एक दिन होगी प्रलय भी
मत रहेगी झोंपड़ी।

—भवानीप्रसाद मिश्र

(ग) तू उमड़ बढ़ वक्र में अपने गगन को घेरे।

—कुंवरनारायण

यहाँ तीनों उदाहरण क्रमशः बेढङ्गी उपमा एवं अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग को प्रस्तुत करते हैं।

३. विषय-वस्तु में श्रृंखला एवं रागात्मक-सामंजस्य का अभाव।

४. क्लिष्ट एवं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

---

१. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : डा० कैलाश वाजपेयी, पृ० ३०५, ३११।

५. अशोभन उत्प्रेक्षा का प्रयोग।
६. क्रिया-पदों और विशेषणों का मनमाना प्रयोग।
७. अश्लील एवं अरुचिकर दृश्यों का अंकन।
८. कविता के नाम पर कहीं-कहीं शब्दों की खिलवाड़ करना, यथा—

ए + क = क
एक + वियोग = कवि
एक + वियोग + तीन = कविता

वस्तुतः हमारे काव्य-शास्त्र में काव्यगत दोषों के जितने भेद बताये गये हैं, उन सभी के सुन्दर एवं उपयुक्त उदाहरण नयी कविता मे मिल जाते है, अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि एक ऐसा नया सौन्दर्य-शास्त्र तैयार किया जाय जिससे सभी दोषों को गुण सिद्ध किया जा सके; सौभाग्य से नये कवि, कवि होने के साथ-साथ व्याख्याता एवं आलोचक भी है तथा इस आवश्यकता की पूर्ति में भी पूरी शक्ति से लगे हुए है, अतः आशा की जा सकती है कि भविष्य मे ये दोष काव्य के गुण मान लिये जायेंगे।

उपलब्धियाँ और अभाव—अपने बीस-बाईस वर्ष के जीवन में इस अतियथार्थवादी हिन्दी कविता ने हमें क्या दिया है, यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो दो बातें स्पष्ट रूप से ही कही जा सकती है, एक तो इसने कविता और अकविता के अन्तर को इतना कम कर दिया है कि अब हर व्यक्ति कवि होने का गौरव प्राप्त कर सकता है। दूसरे, अब हिन्दी के साहित्यकार भी कह सकते हैं कि आधुनिकता मे वे यूरोप की किसी भी धारा से पीछे नहीं हैं, उनका भी दृष्टिकोण आधुनिकतम या नवीनतम है। पर इस कविता का दुर्भाग्य यही है कि अभी तक हिन्दी में ऐसे पाठक उत्पन्न नहीं हुए, जो कि इनका आस्वादन प्राप्त कर सकें। जैसा कि पीछे कहा गया है, एक नए आलोचक ने बताया है कि 'हिन्दी के नब्बे प्रतिशत पाठकों' में नयी कविता को समझने की दृष्टि एवं बुद्धि नहीं है। हिन्दी के पाठकों में एकाएक बुद्धि का यह अकाल कैसे आ गया, इसका स्पष्ट उत्तर तो आज तक किसी भी नये कवि या नये आलोचक ने नहीं दिया, पर सामान्यतः यह कह दिया जाता है कि नयी कविता के लिये 'आधुनिक बोध' (Modern Sensibility) चाहिए। यह आधुनिक बोध क्या है ? तथा नये कवियों को ही यह बोध कहाँ से प्राप्त हो गया तथा भारत की शेष जनता उस बोध से क्यों वंचित है—इसका रहस्य अभी तक उद्घाटित नहीं हुआ। सामान्यतः अंग्रेजी की आधुनिक कविता के अध्ययन, अस्तित्ववादी दर्शन, फ्रायडवादी मनोविज्ञान के प्रभाव से रुचि का—या काव्य-रुचि का—इतना विकृत हो जाना कि वह यौन वासनाओं के नग्न चित्रण, कुंठाओ की अभिव्यक्ति, निराशा एवं शून्यता की अनुभूति एवं अश्लील, अस्वस्थ एवं भोंड़े दृश्यों में ही रुचि लेने लग जाय, इसी को 'आधुनिक बोध' कहते है। 'बीरबल-विनोद' में एक किस्सा है कि एक बार बीरबल ने शर्त रखी थी कि जो अपनी नाक कटायेगा, उसे ही स्वर्ग दिखाई देगा; कुछ ऐसी ही शर्त नयी कविता के आस्वादन की है।

पर हमें यहाँ इस तथ्य को न भूलना चाहिए कि जिस 'आधुनिक बोध'—पर हम इतना गर्व कर रहे हैं, वह पश्चिम के एक वर्ग-विशेष की निराशावादिता एवं क्षयोन्मुखता की देन है। पश्चिम के समाज-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र के विद्वानों ने इसे एकस्वर से सभ्यता एवं संस्कृति की पतनोन्मुखता एवं ह्रासोन्मुखता का लक्षण माना है। नये काव्य में घोर व्यक्तिवाद, निराशावाद, भोगवाद-एवं उच्छृङ्खलतावाद की जैसी अभिव्यक्ति हुई है, वह न प्रतिभा के वैशिष्ट्य की सूचक है, न कला के सौन्दर्य की ओर न ही समाज-हित की। उसका कथ्य छिछला है और कथन-विधि अस्पष्ट, भोंडी एवं कला-शून्य है। इसलिए प्रसिद्ध जर्मन समाज-शास्त्री ओस्वाल्ड स्पैंग्लर ने अपनी विश्व-विख्यात कृति The Decline of West (पश्चिम का पतन) में आधुनिक कला की रुग्णावस्था एवं ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए आज की कलाबाजी को 'फरेब' और 'मक्कारी' तथा आज के कलाकारों का 'Industrious Cobblers' और 'Noisy fools' की संज्ञा दी है।[1] इसी प्रकार सी० डी० लेविस ने जो स्वयं अंग्रेजी के आधुनिक कवि एवं आलोचकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, उन तथ्यों का विवेचन एवं स्पष्टीकरण किया है जिनके कारण नये कवियों की कविताएँ सामाजिक के द्वारा आदृत नहीं हो सकीं। उनके विचार से अंग्रेजी की आधुनिक कविता में, विशेषतः बिम्बवादियों की कविता में ये दोष हैं[2] —(१) आधुनिक युग परिवर्तनशील है, अतः आधुनिक बिम्बों का प्रभाव भी क्षणभंगुर है। (२) नये बिम्ब एवं उपमान रागात्मक संपर्कों से शून्य होने के कारण काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में असफल सिद्ध होते हैं। (३) नया कवि परंपरागत शैलियों का एकाएक तिरस्कार करके एकमात्र बिम्ब-सिद्धान्त का ही अन्धानुयायी हो गया है। (४) जिन बिम्बों का नया कवि प्रयोग करता है, वे जनसामान्य की कल्पना से बहुत दूर के होते हैं। (५) नये कवियों के बिम्ब किसी एक अनुभूति एवं भावना में अनुस्यूत न होने के कारण कोई स्पष्ट, व्यवस्थित एवं सुसमन्वित प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। (६) नये कवियों ने विषय को सर्वथा गौण कर दिया है। इस प्रकार नयी कविता पाठकों के लिए अस्पष्ट, असंवेद्य एवं प्रभाव-शून्य हो गई है। अतः कवियों का अपनी त्रुटियों एवं अपूर्णता के लिए पाठक को दोष देना वैसा ही है, जैसा कि एक अकुशल कारीगर का अपने औजारों में मीनमेख निकालना।

यदि आधुनिक कवि ने उपर्युक्त दोषों को दूर नहीं किया तो वर्तमान समाज में उसकी क्या स्थिति हो जायगी, इसकी कल्पना करते हुए लेविस महोदय ने लिखा है—

Can he (modern poet) survive in the modern world, except as a kind of village idiot, tolerated but ignored talking to himself, hanging around the pub and the petrol pumps, his head whirled with broken images, mimicking the movements of a life in which he has no part ?"[3]

1. The Decline of West : Oswald Spengler, 1959, p. 299
2. The Poetic Image : C. D. Lewis, p. 105
3. The Poetic Image : C. D. Lewis, p. 110.

अर्थात् वह (नया कवि) आधुनिक दुनियाँ के केवल उस देहाती मूर्ख की भाँति ही जीवित रह सकता है, जिसे उपेक्षापूर्वक सहन कर लिया जाता है तथा जो स्वयं जीवन से दूर रहकर दूसरों की गतिविधियों की नकलें उतारता हुआ, अपने दिमाग में चक्कर काटते हुए टूटे-फूटे बिम्बों को लिये हुए, अपने-आपसे बातें करते हुए सराय और पेट्रोल-पंप के चारों ओर चक्कर काटता रहता है !

उपर्युक्त सभी बातें हिन्दी की नयी कविता एवं उनके रचयिताओं पर भी लागू होती हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, शिवदान-सिंह प्रभृति आलोचकों ने नयी कविता का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इसकी विभिन्न त्रुटियों एवं न्यूनताओं पर प्रकाश डाला है। आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट किया है कि इनमें अनेक रचनाएँ भौंडे व्यंग्य की सृष्टि करती हैं, उनमें अर्थ-परम्परा का निर्वाह नहीं होता, पूरी रचना पढ़ लेने पर भी भावान्विति का बोध नहीं होता तथा इसकी विषय-वस्तु भी सामाजिक, नैतिक एवं चारित्रिक दृष्टि से अच्छा प्रभाव उत्पन्न नहीं करती। साथ ही साथ इनमें जीवन के प्रति किसी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता का भी अभाव है। डा० नगेन्द्र ने नयी कविता की दुरूहता का विश्लेषण करते हुए इसके पाँच कारण बताये हैं—(१) भाव तत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के स्थान पर बुद्धिगत सम्बन्ध होना। (२) साधारणीकरण का त्याग। (३) उपचेतन मन के अनुभव-खण्डों का यथावत् चित्रण। (४) भाषा का एकान्त एवं अनर्गल प्रयोग। (५) नूतनता का सर्वग्राही मोह। नये कवि आलोचकों की आलोचनाओं से लाभ उठाने के स्थान पर किस प्रकार प्रत्यारोप करते हैं, इस प्रवृत्ति पर व्यंग्यात्मक शैली में विचार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—'किसी शास्त्रीय आलोचक की क्या मजाल कि प्रयोगवादी कविताओं की निष्पक्ष समीक्षा करके भी पूर्वाग्रही कहलाने से बच सके। जहाँ किसी आलोचक ने नयी कविता के सिलसिले में 'रस' की चर्चा की कि नये कवि दल-बल सहित अपने-अपने वक्तव्यों और परिभाषाओं का अस्त्र लेकर उसके सामने खड़े हो जाएँगे। तब आलोचक के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं। या तो वह शास्त्र और कविता दोनों को लेकर वहाँ से भाग खड़ा हो जहाँ रस-मर्मज्ञ पाठक एवं श्रोता हों, या नये कवियों के अर्थहीन वक्तव्यों पर मुग्ध होकर कहने लगे—'मनुष्य को बिम्बों के सहारे जीना चाहिये, प्रयोगवाद एक नया सौन्दर्य-शास्त्र लेकर आया है।' (समालोचक, अगस्त १९५९)।

इसी प्रकार शिवदानसिंह चौहान ने भी इन कवियों की विभिन्न प्रचारात्मक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निर्भीकतापूर्वक कहा है—'प्रयोगवादी कवि अभिजात वर्ग के उन अल्पसंख्यक पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करते हैं, जो एक ओर तो अपने उपजीवी और निठल्ले जीवन के कारण भावना से उच्छृंखल और दायित्वहीन हैं, दूसरी ओर वर्तमान पूँजीवादी समाज के अन्ततः ह्रास की आशंका से संत्रस्त और उद्भ्रान्त भी हैं। [illegible] कवियों के अहंकार को प्रोत्साहन देने और [illegible] पाठकों की सहज मानवीय भावनाओं और वस्तु-बोध को कुंठित करने के [illegible] आलोचकों, संपादकों और अध्यापकों का एक गिरोह पैदा होता जा रहा है, जो [illegible]कि-

वैचित्र्य, शब्दचयन, ध्वनि-चित्र के टेकनिकल स्तर तक ही प्रयोगवादी कविता के विवेचन को सीमित रखकर सामान्य पाठकों में एक विशेष प्रकार की हीन-भावना पैदा करने की उद्धत चेष्टा करते हैं। उनके तर्कों का सार यह है—'तुम्हें (साधारणतया प्रबुद्ध पाठकों को) ये प्रयोगवादी कविताएँ पसन्द नहीं हैं। तुम्हें ये दुरूह लगती है ? तुम इसे अनर्गल प्रलाप कहते हो ? तो तुम निश्चय ही रूढ़िपन्थी हो, समय से पिछड़े हुए हो, तुम्हारी रुचि का आधुनिक संस्कार नही हुआ, तुम मतवादी, पूर्वग्रहों से ग्रस्त हो !' (काव्य-धारा, पृ० १,५, २०६-७)

वस्तुतः इस प्रकार के तर्कों से अपने युग के पाठकों एवं आलोचकों का मुँह बंद किया जा सकता है, किन्तु उनकी मान्यता एवं प्रशंसा तो तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि मानवीय भावनाओं को आन्दोलित करनेवाली सच्ची कविताएँ लिखी जायँ। हमे यह समझ लेना चाहिये कि आधुनिकतम या नवीनतम का अर्थ सर्वोत्तम नही है, उदाहरण के लिए नवीन शोध से ऐसे रोगाणुओ एवं बीमारियों का भी पता चला है कि जिन्हे आधुनिकतम कहा जा सकता है, किन्तु केवल इसी विशेषता के कारण हम उन्हें अपनाने के लिए तैयार न होंगे। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता अपने क्रोड़ से नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ-साथ ऐसी प्रवृत्तियों को भी जन्म दे रही है, जो अस्वस्थ, अनैतिक एवं मानवघाती है। अतः पश्चिम को प्रत्येक आधुनिक प्रवृत्ति का अंधानुकरण करना केवल प्रतिभाशून्य नकलचियो एवं बौद्धिक गुलामों का ही काम है। समझदार व्यक्ति चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और नवीन की देन में से केवल उतना ही स्वीकार करता है, जितना कि उपयोगी स्वस्थ, शुभ और सुन्दर हो, शेष को वह ठुकरा देता है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी इसी दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

विभिन्न आलोचकों के प्रभाव से अब नये कवियों में से कुछ लोग अपनी न्यूनताओं एवं त्रुटियों को समझने लग गये हैं। श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी ने 'तीसरे सप्तक' में इसी स्थिति का परिचय देते हुए ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है—'मुझे लगता है कि नयी कविता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है, उसके अन्तर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज़ बकवास हैं। पंक्तियों को छोटी-बड़ी कर देना, शब्दों को तोड़-मरोड़ देना, कोलन, डैश, उक्ति—चिह्न और कोष्ठकों को निरर्थक ढंग से बैठा देना, मनमाने तौर पर लय को बदल देना, बिना आत्मसात् किये हुए नया उपमा, उत्प्रेक्षाओं या बिम्बों को परेशान पाठकों के सम्मुख ढकेल देना—ये तथा इसी प्रकार के अनेक दोष आज की अनेक कविताओं में दिखाई देते हैं।····नयी कविता में मुझे एक और भी भ्रांति दिखाई दे रही है। नये और यथार्थ के चित्रण के नाम पर इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखी जा रही है, (जो) न तो हमारे सम्मुख कोई प्रभावशाली बिम्ब ही उपस्थित करती हैं और न आज के जीवन-यथार्थ के प्रति कोई रागात्मक उत्तेजना ही उत्पन्न करती हैं।'

(तीसरा सप्तक, पृ० २४)

श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी 'तीसरे सप्तक' के शीर्षस्थ कवि हैं, अतः उनका यह

वक्तव्य पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यदि अन्य कवि भी आत्मनिरीक्षण की इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए अपनी त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करें,' वे 'नयी कविता' नहीं, केवल 'कविता' लिखने की चेष्टा करें तथा पश्चिम के अंधानुकरण के स्थान पर निजी अनुभूतियों पर विश्वास करें तो अवश्य ही तथाकथित 'नयी कविता' 'सच्ची कविता' का रूप प्राप्त कर सकती है, अन्यथा यहाँ भी कविता की स्थिति वही हो जायेगी, जो उसकी इंगलैंड और अमेरिका में हो रही है, समाज को उसके प्रति स्थायी अरुचि एवं वितृष्णा उत्पन्न हो जायगी।

इधर 'नयी कविता' के और भी कई विद्रूपों का आविर्भाव हुआ है—जिनमें अकविता, ठोस कविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सुवादी कविता, भूखी पढ़ी की कविता आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। विकासवाद के नियम के अनुसार जब कोई परम्परा अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचकर ह्रासोन्मुखी होने लगती है तो उसके आधारभूत तत्त्व क्षीण हो जाते हैं और उसका रूप अनेक कृत्रिम रूपों में विभक्त हो जाता है—यहाँ तक कि उसके मूल स्वरूप को पहचानना भी कठिन हो जाता है। प्रति दशाब्दी के बाद बदलनेवाले कविता के ये नये-नये रूप, उसके सहज स्वाभाविक तत्त्वों के स्थान पर विजातीय एवं विरोधी तत्त्वों की प्रतिष्ठा तथा उसकी आत्मघाती समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ क्या यह सूचित नहीं कर रही हैं कि कविता अपनी प्रौढ़ावस्था से आगे बढ़कर उस अवस्था के समीप पहुँच गई है, जिसे हम जीर्ण जरावस्था कहते हैं! ऐसी स्थिति में स्वस्थ, सबल एवं सुन्दर कविता की आशा करना दुराशा मात्र ही है।

: : पैंतालिस : :

यथार्थवाद और हिन्दी-काव्य

१. यथार्थ की व्याख्या।
२. दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति और साहित्य में यथार्थवाद।
३. आदर्श और यथार्थ का अन्तर।
४. यथार्थवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
५. भारतीय साहित्य में यथार्थवाद।
६. हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद—प्रारम्भिक युग—(क) अमीर खुसरो, (ख) विद्यापति, (ग) नरपति।
७. मध्यकालीन हिन्दी कवि।
८. आधुनिक युग।
९. उपसंहार।

'यथार्थवाद' का शाब्दिक अर्थ है—जो वस्तु जैसी हो, उसे उसी अर्थ में ग्रहण करना। दर्शन, मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र, कला एवं साहित्य के क्षेत्र में वह विशेष दृष्टिकोण, जो सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल को, काल्पनिक की अपेक्षा वास्तविक को, भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को, सुन्दर के स्थान पर कुरूप को, आदर्श के स्थान पर यथार्थ को ग्रहण करता है— यथार्थवादी दृष्टिकोण कहलाता है। दर्शन के क्षेत्र में जहाँ एक आदर्श-वादी किसी अप्रत्यक्ष सत्ता, अलौकिक शक्ति, सूक्ष्म जगत् और मरणोत्तर जीवन के अस्तित्व में विश्वास करता है, वहाँ यथार्थवादी स्थूल, भौतिक एवं प्रत्यक्ष जगत् में ही जीवन की इतिश्री मानता है, भारतीय और अभारतीय—सभी दार्शनिकों मे आदर्शवादी और यथार्थवादी—दोनों दृष्टिकोण मिलते हैं। जहाँ हमारे उपनिषद्कारों ने और पाश्चात्य विद्वान् प्लेटो ने स्थूल जगत् को मिथ्या बताते हुए सूक्ष्म आध्यात्मिक लोक को ही सत्य घोषित किया, वहाँ भारतीय जैन, सांख्य, योग, न्यायादि दर्शनों मे तथा पश्चिम के भौतिक विकासवाद में यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार भौतिकता को महत्त्व प्रदान किया गया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी प्रत्येक धर्म और दर्शन में आदर्श का थोड़ा-बहुत स्थान अवश्य होता है, किन्तु इसके विपरीत विज्ञान और मनोविज्ञान मे विशुद्ध यथार्थवादिता का बोलबाला होता है। राजनीति के क्षेत्र में आदर्श और यथार्थ दोनों को स्थान प्राप्त है। जहाँ गांधी जी का 'राम-राज्य' आदर्शवादिता का प्रतीक है, वहाँ मार्क्स की साम्यवादी व्यवस्था विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर चलती है। सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में दोनों वर्गों के विद्वान् मिलते हैं। आदर्शवादी चिन्तक सौन्दर्य को

विषयगत न मानकर विषयीगत मानते हैं। जबकि यथार्थवादी विषय-वस्तु की स्थूल विशेषताओं में सौन्दर्य के उपादानों की खोज करते हैं। आदर्शवादी आलोचकों ने सौन्दर्य पर सामाजिकता, नैतिकता एवं उपयोगिता का अंकुश लगाया था, यथार्थवादियों ने उसे वैयक्तिकता, उच्छृंखलता एवं कलात्मकता के उन्मुक्त प्रांगण में खेलने की पूरी छूट दी।

साहित्य के क्षेत्र में भी दोनों दृष्टिकोणों का विकास हुआ है। जहाँ आदर्शवादी आदर्श व्यक्तियों के आदर्श क्रिया-कलापों एवं उच्च भावनाओं का चित्रण आदर्श ढंगों से करता है, वहाँ यथार्थवादी मानव-जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का चित्रण सहज-स्वाभाविक माध्यम से प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हम दोनों में से किसे ग्रहण करें। आदर्शवादी साहित्य को अधिक सम्मानित करें या यथार्थवादी को? इसी प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि साहित्य की साहित्यिकता किस पर निर्भर है—आदर्श पर या यथार्थ पर? साहित्य के मूल तत्त्व चार माने गये हैं—भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली। इनमें से भाव और कल्पना का सम्बन्ध आदर्श से है, जब कि शेष दो का यथार्थ से। कोई भी साहित्यकार चाहे वह कितना ही यथार्थवादी क्यों न हो, बिना कल्पना के पंखों पर सवार हुए भाव-जगत् का भ्रमण नहीं कर सकता। अतः किसी-न-किसी स्तर पर यथार्थवादी साहित्यकार को भी आदर्शवादिता से सम्बन्धित तत्त्वों का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी ओर कोरे आदर्शों की सृष्टि करनेवाला साहित्य, जो मानव को देवता के रूप में उपस्थित करता है, धरती को स्वर्ग में परिणत कर देता है, वह अस्वाभाविकता और असाधारणता से इस प्रकार युक्त हो जाता है कि उसका साधारणीकरण होना ही असम्भव हो जाता है। अतः साहित्यकार का मार्ग आदर्श और यथार्थ की पटरियों को छूते हुए आगे बढ़ता है। जो इनमें से एक की उपेक्षा कर देता है, वह एकांगी हो जाता है। किसी एक को ही आधार मानकर रचित साहित्य भी 'साहित्य' तो कहलाता है, किन्तु उसकी स्थिति उस व्यक्ति की भाँति रहती है, जो एक पैर के अभाव में पंगु हो गया हो—जीवित वह रहता है, किन्तु उसकी गति में तीव्रता और संतुलन नहीं रहता।

काव्य में दोनों का उचित समन्वय हो—यह भी एक आदर्श है; यथार्थ यह है कि ऐसा हो नहीं पाता। कवि को निजी दृष्टिकोण और परिस्थितियों के प्रभाव से किसी एक की ओर झुक जाना पड़ता है। यद्यपि थोड़ी बहुत आदर्शवादिता और यथार्थवादिता प्रत्येक काव्य में उपलब्ध होगी, किन्तु उनमें प्रमुखता किसी एक की ही रहती है। अतः इसी आधार पर साहित्य को दो वर्गों—(१) आदर्शवादी और (२) यथार्थवादी—में विभाजित किया जा सकता है।

यथार्थवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

किसी भी रचना को 'आदर्शवादी' श्रेणी में रखा जाय या यथार्थवाद की कोटि में—इसका निर्णय करने के लिए उसकी मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करना आवश्यक है। हमारे दृष्टिकोण से एक यथार्थवादी रचना में अग्रांकित प्रवृत्तियाँ सामान्यतः होती हैं—

(क) यथार्थवादी कलाकार—'जीवन क्या है ?' का उत्तर देता है। 'वह क्या होना चाहिए ?' की समस्या में नही पड़ता।

(ख) यथार्थवादी रचना में अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का चित्रण अधिक होता है।

(ग) यथार्थवादी रचना में जीवन की असंगतियों, कटुताओं एवं विषमताओं का चित्रण होता है।

(घ) यथार्थवादी रचना में परिस्थितियों का मानव पर प्रभाव बताया जाता है, जबकि आदर्शवादी में मानव परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

(ङ) यथार्थवादी केवल समस्या प्रस्तुत करता है, उसका समाधान आदर्शवादी करता है।

(च) यथार्थवादी में वैयक्तिकता अधिक होती है, जबकि आदर्शवादी मे सामाजिकता।

(छ) यथार्थवादी शैली में स्वाभाविकता, तीव्रता, व्यंग्यात्मकता अधिक होती है, जबकि आदर्शवादी में काल्पनिकता, शिथिलता और कोमलता का वेग होता है।

(ज) यथार्थवादी साहित्य में रौद्र, बीभत्स एवं शृङ्गार की अभिव्यक्ति अधिक होती है, जबकि आदर्शवादी में करुण, वीर और शान्त को।

ये प्रवृत्तियाँ सामान्य रूप में ही बताई गई है, किन्तु अनेक स्थानो पर इनका अपवाद भी मिलता है। ऐसी स्थिति से प्रवृत्तियों की बहुलता के आधार पर दोनों का निर्णय करना उचित होगा।

भारतीय साहित्य में यथार्थवाद

प्राय: सर्वसाधारण की धारणा है कि प्राचीन भारतीय जीवन एवं साहित्य में आदर्शोन्मुखता की ही प्रधानता रही है, किन्तु वास्तविकता यह नही है। जहाँ रामायण युगीन समाज में हम आदर्श के लिए यथार्थ की बलि होती देखते है, वहाँ महाभारतीय जीवन में यथार्थ की पूर्ति के निमित्त आदर्शों का पतन दृष्टिगोचर होता है। समाज की मर्यादाएँ क्या हैं—आदर्श क्या है—इन प्रश्नों का उत्तर महाभारतीय नेताओं ने यथार्थवादी ढंग से दिया है। युधिष्ठिर ने एक स्थान पर स्वीकार किया है कि समाज की मर्यादाएँ एवं नियम देश-काल सापेक्ष है, अत: उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। महाभारत की अनेक घटनाओं में भी हम आदर्शवादिता के विरुद्ध कूटनीति व कपट-कौशल का प्रयोग देखते है। महाभारत-परवर्ती युग में भी इस यथार्थवादी दृष्टिकोण का पर्याप्त विकास हुआ था, जिसका प्रमाण कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' व वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में मिलता है। प्राचीन आदर्श के विपरीत कोटिल्य स्त्रियों के लिए आवश्यकतानुसार अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने व अन्य पुरुषों से विवाह करने की अनुमति देता है। कामसूत्रकार मनोरंजन के निमित्त परकीयाओं व वेश्याओं तक से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करने का समर्थन करता है। 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने नाटक की नायिकाओं को सूची में परकीया को भी स्थान दिया है। वस्तुत: ये उदाहरण

इस तथ्य के द्योतक है कि प्रथम-द्वितीय शती तक भारतीय समाज के दृष्टिकोण में पर्याप्त यथार्थवादिता आ गई थी जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ना आवश्यक था।

महाकवि कालिदास के दृष्टिकोण में हमें स्थान-स्थान पर यथार्थवादिता का परिचय मिलता है। 'मेघदूत' में वे एक ओर पत्नी-वियुक्त अपराधी के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते है तो दूसरी ओर वे मानव दुर्बलताओं को स्वीकार करते हुए पूछते हैं—"कौन है जो विवृत-जघनाओं के स्वाद से परिचित होकर उन्हें ठुकरा सके?" उन्होने 'कुमार-संभव' में शिव-पार्वती के प्रथम समागम का वर्णन यथार्थानुमोदित शैली में किया, यद्यपि इसके लिए उन्हें लोकापवाद का भी कम सामना नहीं करना पड़ा। आगे चलकर शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) में एक वेश्या-पुत्री को नायिका का पद देकर तथा चोर-जुआरियों के जीवन का चित्रण सहानुभूति से करके अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। संस्कृत के अन्य नाटकों में भी यथार्थवादिता का आग्रह इतना अधिक है कि उन्होंने निम्न-वर्ग के पात्रों के सम्भाषण मे प्राकृत भाषा तक का प्रयोग किया है।

साहित्य में संस्कृत के स्थान पर जब प्राकृत की प्रतिष्ठा हुई तो यथार्थवादी प्रवृत्ति का और भी अधिक विकास हुआ। हाल की 'गाथा-सप्तशती' विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण से रचित है। इसमें रचयिता ने स्वर्ग या मोक्ष प्रदान करने का आडम्बर न रचकर अपना उद्देश्य—पाठकों को काम-कला की व्यावहारिक शिक्षा देना—स्पष्ट रूप मे स्वीकार कर लिया है। इस ग्रन्थ मे देवताओं के स्थान पर जन-साधारण को, अलौकिक क्रिया-कलापों के स्थान पर दैनिक जीवन के क्रिया-कलापो को, नैतिकता से झुकी हुई आकांक्षाओं के स्थान पर मानव-हृदय की सहज-स्वाभाविक वृत्तियों के चित्रण को प्रमुखता प्राप्त हुई है। प्रेम की विभिन्न परिस्थितियों का निरूपण 'गाथा-सप्तशती' में अत्यन्त स्वाभाविक शैली में हुआ है। यहाँ प्रणयोद्भव के लिए कल्पना के बड़े-बड़े करतब नही दिखाए जाते और न ही मानवेतर प्राणियों को प्रेम-सन्देश पहुँचाने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन की आयोजना भी यहाँ नहीं होती। कोई अहीर कुल की बाला अपनी मौसी के यहाँ आई हुई है, वह गाँव के सब लोगों के मुँह से एक विशेष युवक की ही बार-बार चर्चा सुनकर उसकी ओर आकर्षित हो जाती है। प्रेम का अंकुर इसी आकर्षण में निहित है, कवि इसी तथ्य को व्यंजित करता है—

उसी की कथाएँ होती हैं, विकसती हैं, फिर उसी तक समाप्त होती हैं!
क्या मैं यह समझ लूँ, मौसी! कि वही एक युवक है इस गाँव में!!

(अनुवाद)

'गाथा-सप्तशती' का नायक व्यभिचारी है, अतः उसकी विवाहिता पत्नी का दुःखी रहना स्वाभाविक है। हाल ने इस उपेक्षित पत्नी की व्यथा का चित्रण मार्मिक शब्दों मे किया है—जब उसका पति उसी के सम्मुख अपनी किसी प्रेमिका के सौन्दर्य की प्रशंसा करता है तो वह उत्तर देती है—"सचमुच ही वह सुन्दर, रूप-गुण-शील है और यह भी मानती हूँ कि हम में कोई भी गुण नही, पर क्या जो उसके समान सुन्दर नहो, उसे मर ही जाना चाहिए।" वस्तुतः गाथा-सप्तशती इस प्रकार की यथार्थपूर्ण उक्तियों से भरी हुई है।

आगे चलकर 'अमरुक-शतक', 'शृङ्गार-शतक', 'गोवर्द्धन-सप्तशती', 'चौर-पंचाशिका' आदि मुक्तक रचनाओं ने गाथा-सप्तशती की यथार्थवादी परम्परा को आगे बढ़ाया। यही परम्परा अपभ्रंश मुक्तककारों में होती हुई हिन्दी के मुक्तक कवियों—देव बिहारी, पद्माकर आदि तक पहुँची, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। उपर्युक्त पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते है कि प्राचीन भारत के नाटक एवं मुक्तक साहित्य में यथार्थवादिता को पर्याप्त प्रश्रय मिला है।

हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद

हिंदी-काव्य के प्रारम्भिक काल से ही उसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण का स्फुरण मिलता है। अमीर खुसरो, विद्यापति, नरपति नाल्ह आदि कवि राज्याश्रित थे, जिनका उद्देश्य शिक्षा देना न होकर मनोरंजन करना था, अतः उनमें यथार्थवादी दृष्टिकोण का मिलना स्वाभाविक है। खुसरो की निम्नांकित पंक्तियों में यथार्थवादिता का ही रंग दृष्टिगोचर होता है—

गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

× × ×

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाम।
कैसे गर दीनी बकस मोरी माल॥

× × ×

सखि! पिया को जो मैं न देखूँ,
तो कैसे काटू अंधेरी रतियाँ।

यहाँ सौन्दर्य और यौवन की तरंगों का चित्रण उद्दाम रूप मे है, किसी प्रकार की आदर्शवादिता या नैतिकता का नियन्त्रण इन पर दृष्टिगोचर नहीं होता।

प्रणय के उन्मुक्त कवि विद्यापति से तो किसी आदर्श की आशा करना ही व्यर्थ है। सौन्दर्य की प्रथम झलक देखकर ही उनकी समस्त आदर्शवादिता मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है, और फिर जब हृदय में प्रेम का महोदधि उछलने लगता है तो समाज के सारे रीति-नियम उसमें डूब जाते है, उन्ही के शब्दों में—

मनमथि मदन महोदधि उछलल
बूड़ल कुल मरजादे!!

प्रेम और धर्म में से किसे स्वीकार करना चाहिए—एक आदर्शवादी इसके उत्तर में कहेगा कि धर्म की रक्षा के लिए प्रणय का गला घोंट देना उचित है, किन्तु यथार्थवादी कवि विद्यापति अपनी प्रणय-विह्वल नायिकाओं को सलाह देते हुए प्रेम को 'नीलमणि हार' तथा धर्म को कांच या शीशे के सदृश बताते हैं—

कुलबनि धरम कांच समतूल। मदन दलाल भेल अनुकूल॥
आनल बेचि नीलमनि हार। से तुह पहिरबि करि अभिसार॥

आदर्शवादियों के प्रेम का अन्त भी आदर्शमय होता है, या तो प्रेमी-प्रेमिका

अनेक कठिनाइयों के अनन्तर एक सूत्र मे बँधने मे सफल हो जाते है, या दोनों अपने स्वप्नों की पूर्ति के निमित्त प्राणों की बलि दे देते हैं; किन्तु विद्यापति के प्रणय-लोक मे यह कुछ नही होता। रस-लोलुप नायक-भ्रमर कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर विमुख हो जाता है और अर्द्ध-विकसित म्लान कलिका सी नायिका के पास केवल वेदना, निराशा, ग्लानि और अमर्ष से परिपूर्ण कुछ दाहक-स्मृतियाँ शेष रह जाती है। वह सोचती है :—

कुल-कामिनि छलौं, कुलटा भए गेलौं तिन कर बचन लोभाई।
अपने कर हम मूंड मुड़ाएल कानु से प्रेम बढ़ाई॥
चोर रमनि जनि मन मन रोअई अम्बर बदन छिपाई।
दीपक लो सलभ जनि धाएल से फल भुजइत चाई॥

अपने विगत प्रेम पर किया गया यह पश्चात्ताप कवि के यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

'बीसलदेव रासो' सामन्तवादी व्यवस्था में जकड़ी हुई पराधीन नारी की यथार्थ गाथा है। वह प्रेयसी या पत्नी न होकर अपने पति की दासी-मात्र है। यही कारण है कि बीसलदेव की इस गर्वोक्ति का—मेरे समान और राजा कौन है ? मेरे यहाँ नमक की झील है !"—सीधा और स्पष्ट उत्तर देने-मात्र के अपराध में उसकी रानी को बारह वर्ष वियोग का दण्ड भुगतना पड़ता है। नारी-जीवन के प्रति कवि की सहानुभूति रानी राजमती के शब्दों में व्यक्त हुई है—

त्रिय जनम कांई दियो हो महेस।
अवर जनम थारै घणां हो नरेस॥

मध्यकालीन भारत की नारी मनुष्य-जीवन की अपेक्षा वन की काली कोयल, जंगल की हरिणी या घर की गाय का जन्म प्राप्त करना अधिक श्रेयस्कर समझती है—पशु-पक्षियों का जीवन मानव के लिए स्पृहणीय बन गया है। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह तथ्य वास्तविकता पर आधारित है।

मध्यकालीन हिन्दी कवि

मध्यकालीन भक्त कवियों का दृष्टिकोण आदर्शवादी था, किन्तु उन्होने उसमें यथार्थ का भी कहीं-कहीं समन्वय किया है। विशेषत: सूरदास के काव्य में यथार्थ चित्रण सर्वाधिक मात्रा में हुआ है। उनके कृष्ण अवतार-पुरुष होते हुए भी साधारण बालक की भाँति माँ से चोटी बढ़ाने की बात पूछते हैं। गोपी-जीवन के विभिन्न दृश्यों मे तत्कालीन ग्रामीण जीवन की झाँकी मिलती है। इसी प्रकार गोपियों की विरहाग्नि की व्यंजना में भी सर्वथा यथार्थात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। उद्धव ज्ञान की जिस गठरी को लेकर गोकुल पहुँचे थे, वह आदर्शवादिता का ही दूसरा रूप था; उसे ठुकरा कर मानो सूर ने आदर्शवादिता को ठुकरा दिया हो। गोपियाँ यह नही कहती कि उद्धव के ज्ञान का आदर्श मिथ्या है, अपितु उनका निवेदन तो यह है कि वह उसके वश की बात नहीं है-—

मधुकर, मन नांहो वस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को आराधै ईस॥

गोपियों की इस विवशता में सूर का यथार्थवाद मुखरित है।

आगे चलकर रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों में तो यथार्थवाद अपनी चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है। वे सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध परकीया की गुप्त क्रीड़ाओं का चित्रण रुचिपूर्वक करते है, अभिसारिकाओं की छद्म-लीला के वर्णन में वे नीति और नियम को भुला बैठते है; और इतना ही नहीं, वे सिद्धान्त रूप में भी स्वीकार कर लेते है :—

कौन गनै, पुर बन नगर, कामिनि एकै रीत।
देखत हरै विवेक लो, चित्त हरै करि प्रीति ॥

—देव

इन शृङ्गारी कवियों में यथार्थवादिता का आग्रह सबसे अधिक बिहारी में मिलता है। एक ओर तो वे शृङ्गारिकता को ही जीवन का चरम लक्ष्य घोषित कर देते हैं–"तन्त्री नाद, कवित्त, रस, सरस राग, रति रंग",—दूसरी ओर आदर्शवादिता की डींग हाँकने वालों को वे ललकारते है—

इक भीजे, चहलैं परैं, बूड़ैं, बहैं हजार।
किते न औगुन जग करैं, बै नै चढ़ती बार ॥

प्रम के क्षेत्र मे नीति-नियम और मर्यादाओं का उल्लंघन हो जाता है, इस कटु यथार्थ को वे निःसंकोच रूप में स्वीकार कर लेते हैं—

क्यौं बसियै, क्यौं निबहियै, नीति-नेह-पुर नांहि।

× × ×

किसी सुन्दरी के सौन्दर्य को देखकर मन को वश में रखना चाहिए, उसे कुपथ पर नहीं जाने देना चाहिए—आदर्शवादियों की इस सीख से बिहारी भी परिचित हैं, किन्तु—

गनतु न मनु पथु-अपथु, लखि बिथुरे-सुथरे बार ॥

कदाचित् ऐसे कुपथ-गामियों को 'निर्लज्ज' घोषित किया जायगा, पर बिहारी पहले ही अपनी निर्लज्जता स्वीकार कर लेते हैं —

फिरि-फिरि चितु उतहीं रहतु, टूटी लाज की नाव ॥

सौन्दर्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भी बिहारी ने यथार्थवादी ढंग से दिया है—

समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥

यह तो सिद्धान्त की बात हुई। व्यावहारिक दृष्टि से भी बिहारी ने अपने युग के उन दृश्यों का अंकन किया है, जिन्हें एक आदर्शवादी सर्वथा उपेक्षित कर देता। देवर-भाभी के गुप्त सम्बन्ध, पड़ोसी एवं पड़ोसिनों की व्यभिचारिता, मन्दिरों के कथावाचकों एवं श्रद्धालु महिलाओं के दुराचार, ठगों, वैद्यों एवं ज्योतिषियों आदि का चित्रण बिहारी ने निःसंकोच रूप में किया है। वस्तुतः बिहारी को रीतिकाल का सबसे बड़ा यथार्थवादी कवि कहा जा सकता है।

आधुनिक युग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का दृष्टिकोण आदर्शोन्मुख यथार्थवादी था, अर्थात् उन्होंने यथार्थ का चित्रण तो किया है, किन्तु उसमें रस लेते हुए नही, अपितु उसे व्यंग्यात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। तत्कालीन भारत की दुर्दशा, विदेशी शासकों का शोषण, सरकारी कर्मचारियों के अनाचार, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों आदि का नग्न चित्रण भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों द्वारा भरपूर हुआ है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु की कुछ कह-मुकरनियाँ देखिये—

भीतर भीतर सब रस चूसै। हँसि-हँसि के तन-मन-धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि साजन, नहिं अंग्रेज॥

× × ×

इनकी उनको खिदमत करो, रुपया देते देते मरो।
तब आवे मोहि करन खराब, क्यों सखि साजन; नहीं खिताब॥

द्विवेदी युग और छायावाद युग में कवियों का दृष्टिकोण आदर्शात्मक ही रहा, यद्यपि दोनों की आदर्शवादिता में सूक्ष्म अन्तर था। द्विवेदी युग की आदर्शवादिता धर्म और संस्कृति के स्थूल रूप को ग्रहण करके आगे बढ़ी थी, जबकि छायावादी कवियों ने आध्यात्मिकता और दर्शन के सूक्ष्म तत्त्वों को अपनाया, किन्तु यथार्थवादिता का सर्वथा अभाव दोनों में ही नहीं है। जहाँ गुप्त जी की 'भारत-भारती' मे यथार्थ का चित्रण हुआ है, वहाँ छायावादियों के असफल प्रणय की परिणति में तत्कालीन समाज की वास्तविकता निहित है। आगे चलकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में तो यथार्थवाद को ही लक्ष्य मानकर चला गया है, अतः उनमें इसका चित्रण अत्यधिक मात्रा में मिलना स्वाभाविक है। प्रगतिवादियों ने जहाँ समाज की यथार्थ परिस्थितियों के अंकन का प्रयास किया है, वहाँ प्रयोगवादियों ने व्यक्ति की यथार्थ अनुभूतियों का। इसका विवेचन पीछे दो निबन्धों मे किया जा चुका है (देखिये—'प्रगतिवाद और हिन्दी-काव्य' तथा 'प्रयोगवाद और नई कविता' शीर्षक निबन्ध), अतः हम पुनरावृत्ति से बचने के लिए उनके सम्बन्ध में अधिक नही लिखेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी-कविता का कोई भी युग ऐसा नही है जिसमें यथार्थ को स्थान न मिला हो। वस्तुतः हिन्दी-काव्य में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का ही अधिक बोलबाला रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि परिस्थिति-भेद से इस यथार्थ के रूप विभिन्न रहे है। जहाँ रीतिकाल में दाम्पत्य-जीवन एवं समाज की शृंगारिक प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण रुचिपूर्वक हुआ, वहाँ भारतेन्दु युग मे समाज की व्यापक परिस्थितियों का अंकन व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से हुआ है। प्रगतिवाद इस दृष्टि से भारतेन्दु युग की यथार्थवादिता के निकट है, जबकि प्रयोगवादी रीतिकालीन वैयक्तिक शृंगारिकता से भी आगे बढ़े हुए हैं। अस्तु, यथार्थ यथार्थ ही है, उससे आदर्श की आशा रखना दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी।

: : छियालिस : :

प्रतीकवाद और हिन्दी-काव्य

१. प्रतीक का अर्थ ।

२. प्रतीकों का प्रयोजन ।

३. प्रतीक और अलंकार ।

४. प्रतीकवाद का आविर्भाव और विकास ।

५. प्रतीकवादी विचारधारा ।

६. पाश्चात्य प्रतीकवाद के गुण-दोष ।

७. भारतीय काव्य में प्रतीकात्मकता ।

८. आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रतीकवाद ।

९. उपसंहार ।

श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'प्रामाणिक हिन्दी (शब्द) कोष' में 'प्रतीक' शब्द के ये अर्थ दिये हैं—(१) चिह्न, लक्षण, निशान, (२) मुख, मुँह, (३) आकृति या रूप या मूरत, (४), किसी के स्थान पर या बदले में रखी हुई या काम आनेवाली वस्तु, (५) प्रतिमा, मूर्ति, (६) वह जो किसी समष्टि के प्रतिनिधि के रूप में और उसकी सब बातों का सूचक या प्रतिनिधि हो (सिम्बल Symbol)। अर्थों की यह विविधता ही 'प्रतीक' शब्द की व्यापकता सिद्ध करती है। हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग भी विभिन्न प्रकार से होता है। हमारे सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन में हमारे गौरव का सूचक कोई रंग, आकृति या चिह्न प्रतीक कहलाता है, जैसे किसी संस्था का व्यापारिक चिह्न, किसी समाज की कोई मुद्रा या किसी राष्ट्र की ध्वजा-पताका, कोई रंग या आकार। धार्मिक क्षेत्र में पत्थर या धातु-मूर्तियाँ किसी परम सत्ता के प्रतीक के रूप में पूजी जाती हैं। इसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में किसी भाव या विचार का प्रतिनिधित्व करनेवाले शब्द 'प्रतीक' कहलाते हैं वैसे तो हमारी भाषा का प्रत्येक शब्द ही सामान्यतः प्रतीक है। हम 'गाय' को 'गाय' क्यों कहते हैं? इसलिए कि इस ध्वनि को हमने पशु-विशेष का प्रतीक मान लिया है। दूसरी भाषाओं में 'गाय' को 'गाय' न कहकर और कुछ कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने किसी दूसरी ध्वनि को प्रतीक माना है। इस स्थिति में तो भाषा का प्रत्येक शब्द प्रतीक सिद्ध होता है, किन्तु प्रतीकवाद का सम्बन्ध इस रूप से नहीं है। वस्तुतः किसी भी शब्द के प्रचलित अभिधेय अर्थ को ग्रहण करते हुए भी जब उसके द्वारा किसी अन्य अर्थ की सूचना दी जाय तो उसे प्रतीक कहते हैं। यदि किसी मृत शरीर को देखकर कहा जाय कि "पंछी उड़ गया, खाली पिंजरा पड़ा है।" तो यहां पक्षी प्राणों का प्रतीक तथा पिंजरा शरीर का प्रतीक कहलाएगा।

प्रश्न है प्रतीकों का काव्य या साहित्य में प्रयोग क्यों किया जाता है? इसका उत्तर है कि काव्य में उन सभी साधनों का प्रयोग किया जाता है, जो हमारी भावनाओं को अधिक स्पष्टता से, अधिक प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में सहायक हो सकें। काव्य में विभिन्न अलंकारों का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जाता है—यह दूसरी बात है कि कुछ कवि चमत्कार-प्रदर्शन के लिए भी ऐसा करते हैं, किन्तु अलंकारों का मूल लक्ष्य तो भावाभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली बनाना ही है। इसी प्रकार प्रतीकात्मकता का भी उद्देश्य है। प्रतीकों के प्रयोग से मुख्यतः इन लक्ष्यों की पूर्ति होती है—(१) सूक्ष्म भाव, विचार या कल्पना को स्थूल रूप में प्रस्तुत करना। इससे अगोचर रूप में सहायता मिलती है। जैसे···'निराशा' को 'अंधकार' का प्रतीक बताना, या 'ज्ञान' को 'प्रकाश' का (२) अपरिचित वस्तु का परिचय किसी परिचित आधार पर देना। इससे पाठक सुगमतापूर्वक अपरिचित का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जैसे, तुलसीदासजी ज्ञान और भक्ति का भेद बताते हुए एक को 'दीपक' के रूप में और दूसरी को 'चिन्तामणि' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। (३) अप्रस्तुत का वर्णन करके पाठक के हृदय में प्रस्तुत के विषय में जिज्ञासा जागृत करना, जैसे कबीर का यह कथन—'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।'' (४) विषय-वस्तु की व्यंजना अभिधा में न करके ध्वनि या व्यंग्य रूप में करना; जैसे, बिहारी के इस दोहे—'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल' में कमल की कली अस्फुट-यौवना बाला का प्रतीक है। (५) एक ही शब्द, वाक्य, प्रसंग, कहानी या काव्य के द्वारा दो विषयों का प्रतिपादन एक साथ करना; जैसे पद्मावत और कामायनी में रत्नसेन-पद्मिनी या मनु-श्रद्धा के प्रतीकार्थों के द्वारा लौकिक और आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति एक साथ की गई है। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रतीकों का प्रयोग उस समय ही किया जाता है, जबकि व्यक्ति भावाभिव्यक्ति में सर्वथा असमर्थ हो जाता है या भाषा की अभिधा शक्ति कुंठित हो जाती है। हमारी दृष्टि में यह विचार ठीक नहीं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। जिस प्रकार अलंकारों के प्रयोग के बिना भाषा का काम चल सकता है, वैसे ही प्रतीकों के प्रयोग के बिना भी चल सकता है; किन्तु भावाभिव्यक्ति को और अधिक स्पष्ट, आकर्षक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए ही अलंकारों और प्रतीकों का प्रयोग होना चाहिए। ध्यान रहे, प्रतीकों का प्रयोग या अस्पष्ट रूप में प्रयोग भाषा को दुर्बोध्य एवं अभिव्यक्ति को अस्पष्ट भी बना देता है।

प्रतीक और अलंकार

यहाँ हमें प्रतीक के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए यह जान लेना चाहिए कि अलंकारों और प्रतीकों में क्या अन्तर है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, प्रतीकों के प्रयोग का लक्ष्य भी वही है, जो अलंकारों के प्रयोग का है। प्रतीक का स्वरूप भी इसका अन्योक्ति अलंकार से काफी मिलता-जुलता है। प्रतीक का प्रयोग मूल वस्तु, भाव या विचार के रूप-साम्य, गुण-साम्य या प्रभाव-साम्य के आधार पर किया जाता है,

यही बात निरंग रूपक, अन्योक्ति और समासोक्ति अलंकारों में मिलती है। उदाहरण के लिए यहाँ कुछ पंक्तियाँ देखिए....

(१) माली आवत देखि के कलियाँ करैं पुकारि।
फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बारि॥ —कबीर

(२) नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यों, आगे कौन हवाल॥ —बिहारी

(३) कहां छिपा ए चांद हमारा।
जेहि बिनु रैनि जगत अँधियारा॥ —जायसी

(४) कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिर पलुहै, जों पिय सींचे आइ॥ —जायसी

(५) सो दिल्ली अस निबहुर देसू।
केहि पूछहुँ को कहै सन्देसू॥ —जायसी

(६) उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरो संसारा॥ —जायसी

यहाँ पहले दोहे में 'माली' मृत्यु का प्रतीक है तथा दोनों में क्रिया-साम्य है। दूसरे दोहे में मधु, पराग एवं विकासहीन कलिका अविकसित-यौवन बाला का प्रतीक है, दोनों में गुण-साम्य है। तीसरे में चाँद भी प्रिय का प्रतीक है, तथा दोनों में प्रभाव-साम्य है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी कमल-बेलि, दिल्ली, बाण आदि क्रमशः नायिका, परलोक एवं वरुणियों की प्रतीक हैं। किन्तु .प्रतीक में और इन अलंकारों मे थोड़ा-सा अन्तर है। उपर्युक्त अलंकारों—अन्योक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति आदि - में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ चमत्कारपूर्ण हैं, जबकि प्रतीकात्मकता में कभी-कभी केवल अप्रस्तुत अर्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है। अतः भले ही प्रतीक को इनमें से किसी प्रचलित अलंकार का पूरा पर्यायवाची न मानें, किन्तु उसे एक स्वतन्त्र अलंकार - जिसमें उपमेय का वर्णन उपमान के द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि जिससे उपमेय का उल्लेख बिल्कुल नहीं हो—कहा जा सकता है। वस्तुतः संस्कृत-हिन्दी के निरंग रूपक, समासोक्ति आदि में जिसे उपमा कहते हैं। वही 'प्रतीक' का पर्यायवाची है, केवल उसके वर्णन की पद्धति में थोड़ा अन्तर होता है। अतः ऐसा कोई कारण नहीं कि जिससे प्रतीक एक प्रकार का अलंकार नहीं माना जाय।

प्रतीकवाद का आविर्भाव और विकास

जिस प्रकार भारत के कुछ काव्य-शास्त्रियों ने अलंकार, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि में से प्रत्येक को ही काव्यगत सौन्दर्य का मूलाधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया, वैसे ही यूरोप के कुछ विद्वानों ने प्रतीकों के प्रयोग को काव्य-सौन्दर्य का समस्त महत्त्व प्रदान करने का प्रयास किया। फ्रांस के एक प्रसिद्ध कवि जीन मोर आज ने अपनी पत्रिका 'फिगारो' के १८ सितम्बर, सन् १८८६ के अंक में सर्वप्रथम 'प्रतीकवाद' की घोषणा की। इसकी स्थापना तत्कालीन साहित्य में प्रचलित प्राकृतवाद (Naturalism)

के विरोध में हुई। प्राकृतवाद के अनुसार मानवीय मस्तिष्क की समस्त प्रतिक्रियाएँ इन्द्रिय-जन्य हैं। फलतः प्राकृतवाद में अध्यात्म के स्थान पर भौतिकता की, आदर्श के स्थान पर यथार्थ की, सौन्दर्य के स्थान पर कुरूपता की और अलंकारिता के स्थान पर स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा की गई। प्राकृतवाद का प्रमुख उन्नायक फ्रेंच उपन्यास-कार एमिली जोला (१८४०-१६०२) माना जाता है। प्राकृतवादी लेखक अपनी समस्त अनुभूतियों तथा मान्यताओं को बिना किसी बन्धन तथा सामाजिक नियमों को मानते हुए प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करने लगे। इस प्रकार प्राकृतवाद के विरोध में प्रतीकवादियों ने काव्य में आध्यात्मिकता, अलौकिकता, अलंकारिता एवं अस्पष्ट अभिव्यक्ति पर बल दिया।

कवि जीन मोरे की प्रतीकवाद-सम्बन्धी घोषणा के कुछ समय पश्चात् इसका प्रचार विभिन्न क्षेत्रों में हो गया। श्री अलबर्ट ओरिएट महोदय ने सन् १८६१ में एक लेख प्रकाशित करके प्रतीकवाद की व्याख्या अधिक स्पष्ट रूप में की। उन्होंने बताया कि प्रतीकवादी दृष्टिकोण में प्रत्येक कला-कृति में ये विशेषताएँ होनी चाहिए—(१) वह भावात्मक हो, क्योंकि कला का लक्ष्य भावों की व्यंजना करना है। (२) भावों को स्थूल रूप और आकार प्रदान करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग आवश्यक है। (३) वह संश्लेषणात्मक हो। (४) विषयी-परक हो अर्थात् उसमें कवि के व्यक्तित्व को प्रमुखता प्राप्त हो। (५) वह अलंकृत हो या उसमें अलंकारिता हो। काव्य के अतिरिक्त चित्रकला के क्षेत्र में भी प्रतीकवाद की प्रतिष्ठा हुई। प्रतीकवादी आन्दोलन के प्रसार में रहस्यवादी विचार-धारा ने भी पर्याप्त योग दिया। प्रतीकवादी आन्दोलन से यूरोप के अनेक प्रमुख कवि, लेखक एवं आलोचक प्रभावित हुए, जिनमें कीट्स, जेम्स ज्वायस, गर्ट्रून स्टीन, बेलेरी, रिल्के, ह्विटमैन, अलेक्जेण्डर, ब्लॉक, सैण्डबर्ग आदि का नाम लिया जाता है।

प्रतीकवादी विचारधारा

श्री राजनारायण बिसारिया ने अपने एक लेख—'प्रतीकवाद की स्थापना' (आलोचना, अंक ६) में प्रतीकवादी विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"कुछ प्रतीकवादियों के अनुसार ऐसे सभी भाव, जो कि हमारे हृदय में उठते हैं, प्रत्येक अनुभव जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के माध्यम से हमें मिलते हैं, और प्रत्येक क्षण, जो कि हमारी मनस्-चेतना को एक विशिष्ट तरंग में झंकृत कर जाते हैं, एक-दूसरे से सटे रहकर भी विलग, इतने अछूते, इतने गतिशील और इतने अग्राह्य होते हैं कि न तो हमारी अभिव्यक्ति उन्हें यथावत् पकड़ पाती है और न स्मरण-शक्ति ही उनके वास्तविक रूप को सहेजकर रख पाती है। प्रत्येक कलाकार अपने इन अनुभवों को अपने दृष्टिकोण की विशिष्टता से देखता और अपनी रुझान के अनुरूप अभिव्यक्ति में रंग-प्रकाश की नियोजना करता है।" उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रतीकवाद का

प्रयोजन हमारी अस्पष्ट एवं अनिर्दिष्ट भावनाओं एवं अनुभूतियों को निजी दृष्टिकोण से चित्रित करना है। एक कवि की अनुभूति में दूसरे कवि की अनुभूति से सूक्ष्म अन्तर रहता है अतः सभी कवि एक-जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते, अतः अपने-अपने दृष्टिकोण से नये-नये प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। प्रतीकवादी केवल विचारों या भावों की अभिव्यक्ति करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनियों, अनुभूतियों, सुगन्धियों आदि को व्यक्त करता है। उन्होंने अन्तर्मन की सूक्ष्म स्मृतियों, ध्वनियों-प्रतिध्वनियों और रहस्यपूर्ण संकेतों पर कविताएँ लिखीं।

प्रतीकवादी काव्य का विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण और उसकी शैली—प्रतीकात्मकता—की अस्वाभाविकता, कृत्रिमता एवं नवीनता के कारण उसमें अस्वाभाविकता और अस्पष्टता का आना स्वाभाविक था, किन्तु इस वाद के समर्थकों ने अस्पष्टता को काव्य का एक गुण माना है। इस सम्बन्ध में मलार्मे का कथन है "कविता का आनन्द तभी मिलता है जबकि हमें संतोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं, परन्तु स्पष्ट रूप में वर्णन कर देने से कविता का तीन-चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनस्-चेतना को वही प्रिय है, जो संकेत करता हो, सचेत करता हो!"

सम्भवतः प्रतीकवादी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यञ्जना के महत्त्व की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, किन्तु वे अपने लक्ष्य से भटक गए। लाक्षणिकता और व्यंग्यात्मकता के स्थान पर उन्होंने दुर्बोधता एवं अस्पष्टता को अपना लिया।

पाश्चात्य प्रतीकवाद के गुण-दोष

काव्य में प्रतीकों के महत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता—वे साहित्यकार जो कि प्रतीकवाद के अनुयायी नहीं थे, उन्होंने भी अपनी रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग किया है। सामान्य रूप से प्रतीकों का प्रयोग प्रायः सभी देशों के, सभी युगों के साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र हुआ है, किन्तु काव्य के अन्य गुणों की अपेक्षा प्रतीकात्मकता को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान करने का श्रेय पाश्चात्य प्रतीकवादियों को ही है। प्रतीकों के महत्त्व की तथा उनके प्रयोग की जैसी सूक्ष्म व्याख्या इस वाद के अनुयायियों द्वारा हुई है, वैसी अन्यत्र नहीं मिलती।

प्रतीकवाद के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क तो यह है कि इसने प्राकृतवादियों एवं यथार्थवादियों के आन्दोलन का दृढ़ता से सामना किया। जहाँ प्राकृतवादियों ने काव्य में से अलंकारिता का पूर्णतः निष्कासन कर दिया था, वहाँ इन्होंने अलंकारिता—प्रतीकात्मकता—को ही काव्य का सर्वोच्च गुण सिद्ध किया। दूसरे, प्रतीकवादियों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति को लक्ष्य बनाकर काव्य को गंभीर स्वरूप प्रदान किया। तीसरे, उन्होंने साहित्य में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की। चौथे, उन्होंने शैली और अभिव्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोगों के द्वारा कविता को रूढ़िग्रस्त भाषा से मुक्त किया। पाँचवें, उन्होंने काव्य और संगीत में सामंजस्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने

साहित्य को राजनीति के प्रभाव से बचाया। किन्तु प्रतीकवाद में दोष भी कम नहीं हैं। अन्ततः प्रतीकात्मकता एक अलंकार ही है, उसे आवश्यकता से अधिक महत्व देना अनुचित है। प्रतिकात्मकता अभिव्यक्ति का साधन-मात्र है, साध्य नहीं, किन्तु प्रतीकवादियों ने उसे साध्य ही मान लिया। स्पष्ट अभिव्यक्ति के नाम पर इन्होंने ऐसे प्रतीकों का समर्थन किया जो कि कविता और चित्र को अस्पष्ट एवं दुर्बोध बना देते हैं। कला के सहज-स्वाभाविक रूप के स्थान पर उसे कृत्रिम एवं जटिल रूप से आच्छादित कर कर दिया गया। प्रतीकात्मकता शैली है, उसे भाव-पक्ष से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए था। प्रतीकवादियों के प्रभाव से काव्य-कला की भाँति चित्रकला में भी अस्पष्टता एवं दुर्बोधता का प्रचार हुआ। अतः प्रतीकवाद की इस अतिवादिता का समर्थन किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता। काव्य में केवल प्रतीक ही नहीं, अन्य अलंकारों का प्रयोग भी एक सीमा तक एवं साधन रूप में ही होना चाहिए। सभी स्थानों पर प्रतीकों की भाषा में बोलना पशु-पक्षियों की वाणी में बातचीत करने के तुल्य है।

भारतीय काव्य में प्रतीकात्मकता

भारतीय काव्य में प्रतीकों का प्रयोग चिरकाल से होता रहा है; किन्तु पाश्चात्य प्रतीकवादियों की भाँति उसमें अस्वाभाविकता एवं अतिवादिता को स्थान नहीं दिया गया। वैदिक साहित्य में जीव और ब्रह्म की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से की गई है—'दो पक्षी मित्रता के साथ एक (जीव) वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं। उनमें से एक सुस्वादु पिप्पल का भक्षण करता है, जबकि दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण नहीं करता।' आगे चलकर संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने भी प्रतीकों का प्रयोग किया है। महाकवि कालिदास ने तरंगों से उद्वेलित सरिताओं को मद-विह्वल कामिनियों के प्रतीकार्थ में, पर्वतों को पृथ्वी-रूपी नारी के उन्नत स्तनों के रूप में, लता और विटप के मिलन को प्रेयसी-प्रिय के मिलन के सदृश चित्रित किया है। दूसरी ओर प्राकृत और अपभ्रंश के जैन एवं बौद्ध कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से ही उपदेश देने की शैली का आविष्कार किया। यही शैली सिद्ध और नाथपंथी कवियों में होती हुई हिन्दी के संत कवियों तक पहुँची। महात्मा कबीर ने यौगिक शब्दों एवं नाथ-पंथी साधना-पद्धतियों को सहज भक्ति-भावना के विभिन्न अंगों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है। कबीर की उलटबासियाँ और सूर के कूटपदों में प्रतीकात्मकता का ही विशेष ढंग से प्रयोग है। उधर प्रेमाख्यानक कवियों ने तो पूरे-के-पूरे काव्य प्रतीकों के आधार पर निर्मित किए। पद्मावत में रत्नसेन मन का, तोता गुरु का तथा पद्मिनी बुद्धि का प्रतीक है—इस बात का उल्लेख कवि ने स्पष्ट रूप में किया है। मध्यकालीन शृङ्गारी कवियों ने भी यत्र-तत्र अन्योक्ति के रूप में प्रतीकों की आयोजना की है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य और प्रतीकवाद

प्राचीन हिन्दी-काव्य में तो प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से ही हुआ है, किन्तु आधुनिक छायावदी और प्रयोगवादी काव्य में तो इनका प्रयोग इतना अधिक हुआ है

कि इन्हें 'प्रतीकवाद' तक की संज्ञा देने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ छायावादी कवियों की प्रतीक-योजना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

> झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
> पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ, घेरा डाला।
>
> —प्रसाद

> झर गई कली!
> निज वृन्त पर उसे खिलना था,
> नव-नव लहरों से, मिलना था,
> निज सुख-दुख सहज बदलना था,
> रे गेह छोड़ वह बह निकली!
>
> —पंत

> आग हूँ, जिससे ढुलकते बिन्दु हिम-जल के
> शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पांवड़े पल के।
> × × ×
> नील घन भी हूँ सुनहरी दामिनी भी हूँ।
>
> —महादेवी

उपर्युक्त अंशों में प्रतीकों का प्रयोग अतिशय मात्रा में हुआ है। वस्तुतः छायावादी काव्य में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रकृति के उपादानों को प्रतीक बनाकर की गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता प्रतीकात्मकता को ही मानते हुए लिखा था—"हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ है, वह इसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यत: अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" प्रतीकवाद की अन्य अनेक प्रवृत्तियाँ भी छायावादी काव्य में दृष्टिगोचर होती हैं। पाश्चात्य प्रतीकवादियों की भाँति छायावादी कवियों ने भी स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की यथार्थ के स्थान पर आदर्श की, लौकिक के स्थान पर अलौकिक की प्रत्यक्ष के स्थान पर अप्रत्यक्ष की प्रतिष्ठा की। प्रतीकवादियों की दोनों प्रमुख विशेषताएँ—रहस्यवृत्ति एवं अस्पष्टता—छायावादियों में मिलती हैं। दोनों ही छन्दों के स्थान पर लय और संगीत के सामंजस्य पर बल देते हैं; दोनों ही कला में सौन्दर्य को महत्त्व देते हैं और दोनों ही साहित्य को राजनीति से दूर रखते हैं। अत: यदि छायावादी काव्य को 'प्रतीकवादी' कह दिया जाय तो किसी सीमा तक अनुचित नहीं होगा। किन्तु स्वयं छायावादी कवियों ने प्रतीकात्मकता को ही काव्य का सर्वप्रमुख गुण घोषित करके प्रतीकवादियों में अपना नाम नहीं लिखवाया, अत: उन्हें प्रतीकवादी संज्ञा से विभूषित करना व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं रहेगा।

श्री शिवदानसिंह चौहान ने हिन्दी के प्रयोगवादियों को छद्मवेशी प्रतीकवादी बताया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों ने प्रतीकों के द्वारा

अपनी दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी उनमें पाश्चात्य प्रतीकवाद की मूल भावना नहीं मिलती। जैसा कि स्वयं अज्ञेय ने स्वीकार किया है—"आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।"—प्रयोगवादियों की कविता में यौन-प्रतीकों की प्रचुरता है। पाश्चात्य प्रतीकवादियों की सी रहस्यवृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, रोमांच, रोमांच का मोह और अलौकिक सौन्दर्य-सृष्टि का आग्रह इनमें नहीं मिलता। प्रतीकवादियों ने बुद्धि का तिरस्कार किया था, जब कि इन्होंने इलियट के प्रभाव से बौद्धिकता को काव्य का प्रमुख गुण स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रतीकात्मकता और प्रतीकवाद में जो अन्तर है, वही प्रयोगवाद और प्रतीकवाद में है। श्री राजनारायण के शब्दों में "प्रतीकवादी कवियों और अज्ञेय में यदि कोई सम्बन्ध है तो यह कि दोनों ने नये प्रतीकों की योजना पर बल दिया है, नये उपमान ढूंढ़ने की बात कही है। परन्तु फ्रेंच कवियों के प्रतीक-सम्बन्धी सिद्धान्त रहस्यों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से भरे थे, अज्ञेय में यह बात नहीं है।"

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी कविता में प्रतीकात्मकता की प्रवृत्ति और भी तेज से बढ़ रही है। विशेषतः नई कविता के क्षेत्र में अनेक व्यक्तियों ने फ्रायडियन प्रतीकों का प्रयोग बिना सोचे-समझे किया है, जिससे उसकी रचनाएँ अस्पष्ट, दुरूह एवं जटिल बन गई हैं। वस्तुतः इन कविताओं में प्रतोकात्मक शब्द उस बन्द ताले के समान है, जिसकी कुंजी कवि की जेब में रहती है—कवि महोदय जब कुंजी निकालकर दे देते हैं, तो ताला खुल जाता है, वरना अर्थ का इन्तजार कीजिए!

हमारे विचार से प्रतीकों का ऐसा प्रयोग, जहाँ वह प्रेषणीयता के साधक के स्थान पर बाधक बन जाता है, उचित नहीं कहा जा सकता। आशा है, हमारे कविगणी इस ओर ध्यान देंगे।

: : सत्तावन : :

अस्तित्ववाद और नयी कविता

१. प्रवर्त्तक ।

२. अस्तित्ववाद की आधारभूत धाराएँ ।

३. धर्म और अध्यात्म के प्रति दृष्टिकोण ।

४. ज्ञान-विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण ।

५. मानव-मूल्य एवं जीवन-दर्शन ।

६. हिन्दी की नयी कविता और अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ—(क) अनास्था (ख) अस्तित्व-बोध (ग) वैयक्यिकता (च) पीड़ा की स्वीकृति (ङ) भोग, प्यार, निराशा-मृत्यु ।

७. उपसंहार ।

प्रकृति का यह नियम है कि प्रत्येक सकारात्मक (Positive) वस्तु के साथ किसी न किसी नकारात्मक (Negative) वस्तु का द्वन्द्व चलता रहता है जिसके परिणामस्वरूप एक नयी वस्तु का आविर्भाव या विकास होता है, जो प्रथम दोनों की स्थानापन्न होती है । इस सिद्धांत को हीगल ने दर्शन की शब्दावली में प्रस्तुत करते हुए कहा था कि प्रत्येक बाद (thesis) के साथ किसी प्रतिवाद (Antithesis) का संघर्ष होता है जिससे एक नये समवाद (Synthesis) का विकास होता है जो कि प्रथम दोनों का समन्वित रूप होता है । 'अस्तित्ववाद' भी कदाचित् इसी प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम है । जब उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार के आविष्कारों एवं सिद्धान्तों के प्रचलन के कारण मानव-जीवन पर वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा, जिसके सम्मुख व्यक्ति की वैयक्तिकता एवं स्वतन्त्रता उपेक्षित होने लगी, तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक ऐसे वाद का विकास हुआ, जो कि व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्त्व देता हुआ वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का तीव्र विरोध करता है । यही वाद दर्शन एवं कला के क्षेत्र में 'अस्तित्ववाद' के नाम से से प्रसिद्ध है ।

प्रवर्त्तक

अस्तित्ववादी विचारों के मूल प्रवर्त्तक एक डेनिश विद्वान् सारन कीर्केगार्ड (१८१३-१८५५) थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना डेनिश भाषा में की थी । आगे चलकर प्रथम महायुद्ध के आसपास उनके ग्रन्थों का अनुवाद जर्मन भाषा में हुआ तथा इसी समय इसका प्रचलन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आरम्भ हुआ । विशेषत: जर्मनी एवं फ्रांस के

अनेक चिन्तकों एवं साहित्यकारों ने अस्तित्ववादी विचारों को अपनाते हुए उनकी अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्याएँ कीं इन विद्वानों में जर्मनी के फ्रेडरिख नीत्शे (१८४४-१९००), मार्टिन हेड्गर (१८८९—), कार्ल जेस्पर्स (१८८३—), तथा फ्रांस के गेब्रियल मार्सल (१८८९—), ज्याँ पॉल सार्त्र (१९०५—) व आलबेर कामू (१९१३-१९६०), विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों के भी आस्था की दृष्टि से दो वर्ग किए जा सकते हैं—एक आस्तिक विचारकों का वर्ग एवं दूसरा नास्तिकों का। प्रथम वर्ग में कीर्केगार्ड एवं मार्सल को तथा शेष सभी को द्वितीय वर्ग में स्थान दिया जा सकता है। वस्तुतः अस्तित्ववादी विचारकों में संप्रति सर्वाधिक महत्त्व जे० पी० सार्त्र का ही स्वीकार किया जाता है, तथा उन्हीं की व्याख्याओं को इस वाद की प्रामाणिक व्याख्या के रूप में ग्रहण किया जाता है, अतः हम भी यहाँ अस्तित्ववाद के विवेचन में इन्हीं के मतों को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ेंगे।

अस्तित्ववाद की आधारभूत धारणाएँ

अस्तित्ववादी विचारधारा का आधारभूत शब्द 'अस्तित्व' है, जो अंग्रेजी के '**Existence**' का पर्याय है। इस वाद के अनुयायी विचार या प्रत्यय की अपेक्षा व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक महत्त्व देते हैं—इसी से वे अस्तित्ववादी कहलाते हैं। परम्परागत विचारधारा के अनुसार सृष्टि में पहले विचार (Idea) का उदय हुआ, फिर उसके अनुसार वस्तु का आविर्भाव हुआ—प्लेटो इसी विचार-धारा को मानते थे। इसी से उन्हें विचारवादी या तत्त्ववादी (Idealist) कहा जाता है। मध्यकाल में भी तत्त्व या सार (Essence) को पदार्थ या व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया, जबकि अस्तित्ववादियों का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। संक्षेप में परम्परागत आदर्शवादियों के अनुसार विचार, तत्त्व, सार सिद्धान्त या सामान्य निष्कर्ष ही सर्वांगीण सत्य एवं शाश्वत सत्ता के प्रतिनिधि हैं, जबकि भौतिक पदार्थों एवं विशिष्ट प्राणियों की सत्ता (=अस्तित्व) क्षण-भंगुर होने के कारण मिथ्या है। अस्तित्ववादी इस धारणा का खण्डन करते हुए तर्क देते हैं कि जब वस्तु ही नहीं तो उसका विचार या सार कैसे संभव है? पहले वस्तु का अस्तित्व होगा तदनन्तर उसके सम्बन्ध में विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण होगा। वस्तुतः सारे विचार या सिद्धान्त व्यक्ति की चिन्तना के परिणाम हैं, क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ एवं प्राणी तो चिन्तन-मनन करते नहीं—अतः कहना चाहिए कि पहले चिन्तन करनेवाला मानव या व्यक्ति अस्तित्व में आया तथा उसके पश्चात् उसके द्वारा विभिन्न विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण हुआ। अतः व्यक्ति का अस्तित्व ही प्रमुख है जबकि विचार या सिद्धान्त गौण है।

व्यक्ति के अस्तित्व को ही प्रमुखता देने के अतिरिक्त अस्तित्ववादियों की 'अस्तित्व' के सम्बन्ध में कुछ धाराणाएँ और भी हैं। एक तो जैसा कि उपर्युक्त धारणा से सूचित होता है, उनको सामान्य विचारों, तत्त्वों, सिद्धान्तों या नियमों में कोई आस्था नहीं है। उनके विचार से प्रत्येक सिद्धान्त व्यक्ति की अपनी दृष्टि की उपज है, अतः

वह व्यक्ति-सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में किसी भी सिद्धान्त को सर्वांगीण, सार्वभौम या सार्वजनिक नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, उसके विचार से हर व्यक्ति को अपना सिद्धान्त स्वयं खोजना या बनाना चाहिए, दूसरों द्वारा प्रतिपादित या निर्मित सिद्धान्तों को स्वीकार करना उसके लिए आवश्यक नहीं। इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्ववादी के लिए सभी परम्परागत सामाजिक, नैतिक, शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो कि व्यक्ति के जीवन से सम्बद्ध हैं, अमान्य एवं अव्यावहारिक सिद्ध हो जाते हैं। दूसरे, वह व्यक्ति के अस्तित्व को भी स्वयं व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर मानता है। यह कहना कि व्यक्ति का अस्तित्व किसी बाह्य सत्ता एवं परिस्थितियों पर अथवा उसके पूर्व कर्म-फल पर आधारित है, उसकी दृष्टि में उचित नहीं। उसके विचार से प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। व्यक्ति अपने लिए जो चुनता है, वही उसे मिलता है या यों कहिये कि व्यक्ति जैसा अपने को बनाना चाहता है, वैसा ही वह बनता है। अतः कोई व्यक्ति क्या बनता है या क्या नहीं—यह उसी की अपनी पसन्द पर निर्भर है। यह कहना कि परिस्थितियों और भाग्य ने उसे बना दिया है, अस्तित्ववादी के अनुसार ठीक नहीं। परिस्थितियों के बन्धन को स्वीकार करना या न करना व्यक्ति की ही इच्छा पर निर्भर है—अतः परिस्थितियों के अनुसार ढल जाने के लिए स्वयं व्यक्ति ही उत्तरदायी है। एक व्यक्ति परिस्थितियों के आगे घुटने टेक देता है, इसका अर्थ यह है कि उसने परिस्थितियों की देन को स्वीकार कर लिया है या यों कहिए कि उसने परिस्थितियों के अनुसार ही अपने भाग्य का चुनाव किया, जबकि वह दूसरे प्रकार का चुनाव करने के लिए भी स्वतन्त्र था। अस्तु, प्रत्येक स्थिति में यह व्यक्ति का ही चुनाव है कि परिस्थितियों के अनुकूल बनता है या प्रतिकूल—इसके लिए किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह व्यक्ति के हाथ में है कि वह जो चाहे बन सके? क्या वह जैसा चुनता है, वैसा ही बन सकता है? क्या यह ठीक नहीं है कि एक व्यक्ति जो कि बहुत बड़ा अधिकारी बनना चाहता है, कहीं क्लर्क बनने को मजबूर होता है? इन प्रश्नों का अस्तित्ववादी के पास एक ही उत्तर है कि यदि तुम जो चाहो, वह नहीं बनते हो तो कुछ और बनना क्यों स्वीकार करते हो! हम अपने दुख, संकट या मृत्यु के भय के कारण ही तो अप्रिय या अवांछित को स्वीकार करने को विवश होते हैं। पर यदि हम दुःख एवं मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार कर लें तो यह भय कहाँ रह जाता है? दूसरे, शब्दों में हम जो चाहें, वह नहीं बन सकें तो बदले में प्रत्येक प्रकार का दुःख—यहाँ तक कि मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहें। यदि हम इतने साहसी हो सकते हैं तो फिर हमें कोई नहीं झुका सकता। सच पूछें तो अस्तित्ववादी के अनुसार व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध दुःख या त्रास की स्थिति में ही होता है, अतः उसे इस स्थिति का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिये। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कुचलकर तथा परिस्थितियों के सम्मुख नत-मस्तक होकर प्राप्त किये गये सुख की अपेक्षा उस दुःख—या मृत्यु का कारण भी श्रेयस्कर है, जो चयन की स्वतन्त्रता, या निजी इच्छाओं व वैयक्तिक स्वच्छन्दता की सुरक्षा करते हुए प्राप्त हो। वस्तुतः आत्म-स्वातन्त्र्य की रक्षा के हित प्राप्त दुःख, चाहे वह कितना ही दारुण

क्यों न हो, दासता एवं परतन्त्रता की छाया में प्राप्त सुख से हजार गुना अच्छा होता है—वह अस्तित्ववादियों का अटल विश्वास है।

इस प्रकार, अस्तित्ववादी के लिए अपना अस्तित्व, वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं निजी लक्ष्य या चुनाव् जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दुःख या वेदना का भोग भी रुचिकर है। इस वेदना के भोग के बिना न तो व्यक्ति को अपनी सत्ता का बोध होता है और न ही वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में सफल हो सकता है। सच्चा अस्तित्व उसी व्यक्ति का है, जो परिस्थितियों को कुचलता हुआ अपने द्वारा चुनी हुई दिशा में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है पर ऐसा वही कर सकता है, जो वेदना के भोग को स्वीकार करता है, अतः वेदना का भोग अस्तित्ववाद का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है, जिस पर अस्तित्व-बोध का प्रथम सिद्धान्त निर्भर है।

धर्म और अध्यात्म के प्रति दृष्टिकोण

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, अस्तित्ववादियों के दो वर्ग हैं—एक वर्ग आस्तिक होने के कारण ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है, जबकि दूसरा वर्ग नास्तिक है तथा वह ईश्वर, धर्म, अध्यात्म आदि का पूर्णतः विरोध करता है। वस्तुतः प्रमुखता दूसरे वर्ग की ही है। अधिकांश अस्तित्ववादियों के अनुसार ईश्वर व्यक्ति के मन की कल्पना मात्र है, जिस प्रकार उसने धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक सिद्धान्तों एवं विचारों की कल्पना अपनी निजी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार कर ली है, उसी प्रकार उनकी रक्षा के लिए ईश्वर, धर्म एवं अध्यात्म की सृष्टि कर डाली है। कुछ लोग नास्तिक होते हुए भी नैतिक एवं चारित्रिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, किन्तु अस्तित्ववादी इस स्थिति को भी पसन्द नहीं करते। वस्तुतः अस्तित्ववादियों का विरोध ईश्वर से कम एवं धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों एवं नियमों से अधिक है, क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता—स्वच्छन्दता को नियमित एवं नियंत्रित करते हैं। ईश्वर, परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, पूर्वजन्म, भाग्य, कर्म-फल आदि से सम्बन्धित विचार-तत्त्व इस बात के द्योतक हैं कि मनुष्य का भाग्य किसी अन्य वस्तु पर निर्भर है या यों कहिए कि व्यक्ति किसी पूर्व निर्धारित तत्त्व या व्यवस्था पर निर्भर है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने स्वतन्त्र चुनाव या स्वेच्छा के अनुसार आगे बढ़ने की छूट कहाँ रह जायगी? इसीलिए वे इन सभी आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्त्वों का विरोध करते हैं। दास्ताएव्स्की ने कहा था—"यदि ईश्वर के अस्तित्व को मिटा दें तो फिर सब कुछ (करना) संभव है।" इसी कथन का अनुमोदन करते हुए जे० पी० सार्त्र ने लिखा है—

"Indeed, everything is permissible if God does not exist and as a result man is forlorn, because neither within him nor without does he find anything to cling to. If existence really does precede essence there is no explaining things away by reference to a fixed and given human nature. In other words, there is no determinism, man is

free, man is freedom. On the other hand, if God does not exist, we find no values or commands to turn to which legitimize our conduct." (Existentialism and Human Emotions : Pages 22-23) अर्थात् "वस्तुतः यदि ईश्वर का अस्तित्व न हो (न माना जाय) तो सब कुछ सम्भव है, क्योंकि (उस स्थिति में) मनुष्य निराश्रित होकर किसी भी आन्तरिक या बाह्य वस्तु से नहीं बँध सकेगा। यदि 'अस्तित्व' सचमुच 'सार-तत्त्व' का पूर्ववर्ती है तो फिर किसी भी पूर्वप्रदत्त या निर्धारित मानव प्रकृति के आधार पर वस्तुओं की व्याख्या अपेक्षित नहीं। दूसरे शब्दों में मनुष्य के लिए कुछ भी पूर्वनिर्धारित नहीं है, वह स्वतन्त्र है, स्वतन्त्रता है। साथ ही, यदि ईश्वर का अस्तित्व न रहे तो ऐसा कोई मूल्य या आदेश भी न रहेगा जिसे मानना या जिसके अनुसार अपने चरित्र को अनुशासित करना आवश्यक हो।"

वस्तुतः अस्तित्ववादियों का झगड़ा ईश्वर से इतना नहीं है, जितना कि उन आस्थाओं, विश्वासों, धारणाओं एवं नीति-नियमों से है, जो ईश्वर के कारण बने हुए हैं। यदि ईश्वर मनुष्य के व्यक्तिगत मामले में हस्तक्षेप न करे तो उसे भी बने रहने की छूट देने के लिए अस्तित्ववादी तैयार हैं, इसीलिए सार्त्र ने एक स्थान पर लिखा है— "अस्तित्ववाद इतना नास्तिक नहीं है कि वह ईश्वर का विरोध करने में ही अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहे, अपितु वह तो इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता है कि अगर ईश्वर है भी तो उससे मनुष्य का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि अस्तित्ववादी उस ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, जो व्यक्ति की स्वच्छन्दता एवं आत्मनिर्भरता में बाधक बनता है। ईश्वर से सम्बन्धित अन्य पारलौकिक एवं आध्यात्मिक धारणाओं को भी अस्वीकार करने का मूल कारण यही है।

ज्ञान-विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण

ईश्वर, धर्म और अध्यात्म की ही भाँति ज्ञान-विज्ञान के प्रति भी अस्तित्ववादियों का दृष्टिकोण विरोधमूलक है। हेड्गर की मान्यता है कि प्राकृतिक जगत् के बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा व्यक्ति के आन्तरिक अनुभवों का अधिक महत्त्व है, अतः हमें प्रकृति के बौद्धिक या वैज्ञानिक अध्ययन से अपना ध्यान हटा लेना चाहिए। गैब्रियल मार्सल ने भी तथ्यों एवं विचारों के सामान्यीकरण एवं सिद्धान्त-स्थापन की प्रक्रिया का घोर विरोध किया है। उसके विचार से संसार में सारे झगड़ों की जड़ विभिन्न सिद्धान्त, मत, संप्रदाय एवं वाद ही है। यदि आज हम अपने शब्द-कोष में से 'प्रजातंत्रवाद', 'साम्यवाद', 'समाजवाद', 'पूँजीवाद' आदि शब्दों को निकाल दें, तो विश्व-युद्ध की आशंका कम हो सकती है। अतः उसके विचार से आज के मानव को वैज्ञानिक विवेचन एवं सैद्धान्तीकरण से बचना चाहिए।

वस्तुतः बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता से अस्तित्ववादियों के विरोध का मूल कारण यही नहीं है कि इससे संघर्ष, युद्ध एवं अशान्ति का जन्म होता है, अपितु यह है कि इस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की व्यक्ति के लिए कोई उपयोगिता या महत्ता नहीं है। संघर्षों

संकटों एवं युद्धों से अस्तित्ववादी घृणा नहीं करता, अपितु उन्हें पसन्द करता है, क्योंकि इन्हीं से तो संत्रास की वह स्थिति उत्पन्न होती है, जो कि व्यक्ति के अस्तित्व-बोध एवं उसकी सार्थकता-सिद्धि में सहायक सिद्ध होती है। अतः हमें इस भ्रम मे न पड़ना चाहिए कि अस्तित्ववादी संघर्षों या युद्धों के भय से विज्ञान का विरोध करता है। वास्तव में इस विरोध का मूल कारण यह है कि वह बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को व्यक्ति के लिए अनावश्यक समझता है। उसकी दृष्टि मे इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान आदि की जानकारी का कोई महत्त्व नही है, क्योंकि इनसे व्यक्ति के अस्तित्व-बोध में कोई सहायता नहीं मिलती। जानने की वस्तु व्यक्ति के लिए एक ही है—वह मानव-स्थिति (Human Condition) जिससे अस्तित्वबोध में सहायता मिले। पर इस स्थिति का ज्ञान, बुद्धि या तर्क द्वारा नही, अपितु घोर वेदना के द्वारा प्राप्त आन्तरिक सहजानुभूति से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में दर्शन और विज्ञान की प्रचलित अध्ययन-पद्धतियाँ अस्तित्ववादी की दृष्टि में बेकार है।

बौद्धिक विवेचन एवं वैज्ञानिक नियमों का विरोध एक अन्य दृष्टि से भी किया जाता है। बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता के क्षेत्र में सभी व्यक्तियों को समान रूप में ग्रहण करते हुए उनके बारे में सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किए जाते है, जो व्यक्ति की वैयक्तिकता के स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द निर्णय के विरुद्ध पड़ते हैं। अस्तित्ववादी प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करता है। अतः उस समूह के सामान्य निष्कर्षों को लागू करना अन्याय है। उदाहरण के लिए मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि एक प्रेमी निराश होकर हतोत्साह या पलायनवादी बन जाता है। इसका तात्पर्य हुआ कि सभी एक जैसा व्यवहार करते हैं। जबकि अस्तित्ववादी के अनुसार हर प्रेमी पर निराशा की प्रक्रिया अलग-अलग हो सकती है—होनो चाहिए। इस प्रकार किसी भी प्रकार का सामान्य नियम या निष्कर्ष वैज्ञानिकता का विरोधी सिद्ध होता है। दूसरी ओर अस्तित्ववादी विचार, प्रत्यय, पूर्वनिर्धारण, सामान्यीकरण, सिद्धान्त-स्थापन, नियम-निर्धारण, संविधान-निर्माण, अनुशासन आदि का जन्मजात शत्रु है, क्योंकि उसका पहला सूत्र ही अस्तित्व को सत्य एवं तत्त्व को मिथ्या मानता है।

अस्तु, श्री राबर्ट जी० आल्सन महोदय के शब्दों में कहा जा सकता है—

"In sum, the proper object of human concern for the existentialists is not God, abstract ideas, laws of nature, or empirical knowledge of human beings. What man should strive to know is the tshuman conditiou And by an understanding of the human condition the existentialit do not mean knowledge of human history, of man's natural and social environment or of the so-called laws of human behavior. An understanding of the human condition is rather a knowledge of certain general traits of human existence which remain the same in all ages; of man's contingency, particularity, and freedom; of man's fundamental aspiration;s and of the

basic ways in which the individual can relate to the world and to other human beings." (An Introduction to Existentialism : page 89) अर्थात् 'समग्र रूप में अस्तित्ववादी के लिए मानव-रुचि का उपयुक्त विषय ईश्वर, सूक्ष्म विचार, प्राकृतिक नियम या मनुष्य सम्बन्धी बौद्धिक ज्ञान नहीं है, अपितु उसकी दृष्टि में मनुष्य के जानने की वस्तु है—मानव-स्थिति ! मानव-स्थितियों के बोध से अस्तित्ववादी का आशय मानव-जाति के इतिहास, उसके भौतिक एवं सामाजिक वातावरण अथवा तथाकथित मानव-व्यवहार की पद्धतियों के ज्ञान से नहीं है, अपितु मानव-स्थिति के बोध से उसका अभिप्राय मानव के अस्तित्व सम्बन्धी उन सामान्य लक्षणों से है, जो सभी युगों में एक जैसे रहते हैं; या फिर उसकी उस अनिश्चितता, विशिष्टता व स्वतन्त्रता तथा उन मूलभूत आकांक्षाओं व सम्बन्धों के ज्ञान से है, जो व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों व दुनिया से जोड़ते हैं ।'

मानव-मूल्य एवं जीवन-दर्शन

परम्परागत विचारों के अनुसार सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य मूलतः सुख, वैभव एवं सम्मान प्राप्त करना होता है तथा साथ ही दूसरों को सुख पहुँचाना भी व्यक्ति के लिए आदर्श माना जाता है। मानव जाति के इतिहास में जिन महान् चिन्तकों, साधकों एवं समाज-सेवियों को प्रतिष्ठा प्राप्त है, उन सब ने किसी न किसी रूप में मानव को सुखी बनाने का प्रयास किया था। इसलिए कहा जा सकता है कि व्यक्ति एवं समाज को सुखी बनाना ही अब तक महान् पुरुषों का मूल लक्ष्य रहा है तथा किसी भी व्यक्ति के क्रिया-कलापों के मूल्यांकन का आधार भी एक सीमा तक यही रहा है कि उसने मानवता को सुखी एवं समृद्ध बनाने या ऊँचा उठाने में कितना योग दिया है। पर अस्तित्ववादी इन लक्ष्यों एवं मूल्यों को स्वीकार नहीं करता। उसके विचार में सुख की लालसा या धारणा ही मिथ्या है। मनुष्य चाहे कितनी ही उन्नति और सुधार क्यों न कर ले, वह कभी पूर्णतः सुखी नहीं हो सकता। व्यक्ति की कोई भी उपलब्धि, समाज का कोई भी सुधार, राजनीति का कोई भी तंत्र, नैतिकता का कोई भी आदर्श और विज्ञान का कोई भी आविष्कार मानवता को पूर्ण सुखी नहीं बना सकता, वस्तुतः पूर्णतः संतुष्ट और सुखी होना मानव की प्रकृति में ही नहीं है, अतः कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य है, तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता। या तो वह मनुष्यता को त्यागे या फिर सुखी होने की आशा को !

अस्तित्ववादी दूसरे विकल्प को स्वीकार करता है। इसीलिए उसकी दृष्टि में मानव-जीवन को सुखी बनाने के सभी वैयक्तिक एवं समाजिक प्रयास निरर्थक हैं। साथ ही इसी दृष्टि से व्यक्तियों या तथाकथित 'महापुरुषों' का मूल्यांकन करना भी व्यर्थ है ; सच पूछें तो उसकी दृष्टि में आज तक कोई भी मानव को सुखी बनाने में सफल सिद्ध नहीं हो सका ? ऐसी स्थिति में इस प्रकार के प्रयासों, कार्यों एवं उनके मूल्यांकन का क्या मूल्य है !

यहाँ कहा जा सकता है कि मानव-हितैषियों एवं समाज-सुधारकों को अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता भले ही न मिली हो, पर उसकी प्रेरणाओं, प्रयोजनों एवं प्रयासों की महानता के आधार पर तो उनका महत्त्व स्वीकार किया जाना चाहिए। पर अस्तित्ववाद इसे स्वीकार नहीं करता। उसके विचारानुसार एक तो प्रत्येक मानवतावादी समाज-सुधारक ने किसी न किसी सिद्धान्त, नियम या व्यवस्था का आविष्कार करके मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कम कर देने का अपराध किया है—अच्छा होता कि वे यह सब कुछ न करते। दूसरे, उनकी महानता को मानने का अर्थ है दूसरे व्यक्तियों की महत्ता को कम करना; व्यक्ति पर व्यक्ति की प्रभुता को स्वीकार करना—यह स्थिति भी अस्तित्ववादी के लिए असह्य है। अतः किसी भी दृष्टि से वह न तो अतीत के समाज-सुधारकों की देन को स्वीकारने के लिए प्रस्तुत है और न ही भविष्य में स्वयं को इस खोटे धन्धे में डालने को उत्सुक है!! यदि उसका वश चले तो वह इन सभी तथाकथित मानव-हितैषियों एवं समाज-सेवकों को धरती से परे धकेलकर इसे एक ऐसी साफ-सुथरी एवं स्वतंत्र भूमि का रूप दे दे, जिसमें हर व्यक्ति को अपनी मनचाही करने की पूरी छूट हो; हर कार्य के लिए स्वच्छन्दता हो और कहीं भी कोई भी किसी को टोकनेवाला न हो! हो सकता है इसका परिणाम अव्यवस्था, अशान्ति, संघर्ष एवं मृत्यु हो—पर इसकी क्या चिन्ता है! मृत्यु तो अन्ततः होनी ही है; क्यों न डर-डरकर अन्त में मरने के स्थान पर पूर्ण स्वतंत्रता एवं स्वच्छन्दता से जीते हुए साहसपूर्वक उसका वरण करें!! मृत्यु हमें आकर आक्रांत करे, इससे अच्छा यह है कि हम स्वयं जाकर मृत्यु का सामना करें!! उस स्थिति में हम यह दावा कर सकेंगे कि हम मृत्यु के द्वारा मारे नहीं गए, अपितु हमने स्वेच्छा से मृत्यु का वरण किया है! वस्तुतः इस प्रकार का मरना भी हमारी वैयक्तिक स्वच्छन्दता का प्रमाण होगा—और सच पूछें तो अस्तित्ववादी की दृष्टि में इस वैयक्तिक स्वच्छन्दता से बढ़कर जीवन का और कोई मूल्य नहीं है।

अस्तु, मानव जाति की सेवा, समाज-सुधार या राजनीतिक परिवर्तन से प्राप्त होनेवाले सुखों में अस्तित्ववादी का कोई विश्वास नहीं है। इसकी अपेक्षा वह दुख और अवसाद को जीवन के अनिवार्य एवं काम्य तत्त्वों के रूप में स्वीकार करता है। दुःख को विवशता के रूप में नहीं, अपितु एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार करना उसकी दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि दुख में ही व्यक्ति की अन्तश्चेतना का पूर्ण जागरण होता है, उसी में उसकी सारी शक्तियों का उद्‌बोधन, अभिव्यंजन एवं अभियोजन होता है तथा वही वो स्थिति है, जिसमें व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध होता है तथा यदि आप मेरा हाथ बिना मुझे पीड़ा पहुँचाए, उसे चेतना-शून्य करके काट देंगे तो मुझे क्या पता चलेगा कि मेरा हाथ कट रहा है, जब की दूसरी स्थिति में यह अनुभव होने पर कि मेरा हाथ कट रहा है, मुझे अपने अस्तित्व का बोध होगा। इतना ही नहीं, वेदना जितनी गहरी होगी, अपने अस्तित्व का बोध भी उतना ही गम्भीर होगा। अतः पीड़ा (anguish) इनके यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मूल्य या वांछनीय तत्त्व के रूप स्वीकृत है। इस पीड़ा के आधार पर ही इनका पीड़ा-दर्शन आधारित है जिसकी तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्वीकार की जाती हैं—(१) पीड़ा या संत्रास को मनुष्य के लिए अनिवार्य मानना चाहिए। (२) पीड़ा का

संत्रास के भय को हृदय से निकाल देना चाहिए—उससे पूर्ण मुक्ति पा लेनी चाहिए। (३) पीड़ा या संत्रास के प्रति अपनी चेतना को सदा जागरूक रखते हुए अपनी समग्र शक्तियों के उद्बोधन एवं उपयोग के द्वारा अपने अस्तित्व को सार्थक करना चाहिए। संक्षेप में पीड़ा ही अस्तित्व-बोध की साधिका है।

यदि स्थिति ऐसी ही है तो क्यों न अस्तित्ववादी सीधे यंत्रणा-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हो जाते ? यंत्रणा-प्राप्ति के लिए तो किसी बड़े साधन की आवश्यकता नहीं—एक छोटी सी आलपिन या वह भी न मिले तो सूखी घास का एक तिनका भी पर्याप्त है, फिर वे किस बात की प्रतीक्षा में हैं ? इसका उत्तर यह है कि पीड़ा उनका साध्य नहीं, साधन है। उनका साध्य तो कुछ और है, जिसे उनके चरम सत्य या सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वैसे विभिन्न अस्तित्ववादियों में इसके सम्बन्ध में किंचित् मतभेद भी है, पर सामान्यतः कहा जा सकता है कि चयन की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) अथवा व्यक्ति की पूर्ण स्वच्छन्दता ही उनका सबसे बड़ा मूल्य है। इसी को वे जीवन का सार या अस्तित्व का आधार मानते हैं। जिसे चयन की पूर्ण स्वच्छन्दता है—या यों कहिए कि जो स्वेच्छानुसार परम्पराओं, मर्यादाओं, परिस्थितियों एवं नियमों की सर्वथा उपेक्षा करता हुआ अपने जीवन का मार्ग स्वयं चुनता है तथा इस मार्ग को अपनाने के बदले में प्राप्त सभी प्रकार के कष्टों को सहर्ष भोगता है, वही सच्चा अस्तित्ववादी है। अपने या दूसरों के सुखों की चिन्ता करना व्यर्थ है।

चयन की स्वच्छन्दता प्रायः उन्मुक्त भोग एवं अनियमित क्रिया-कलापों में ही व्यक्त होती है, अतः कुछ विचारकों के अनुसार वैयक्तिक प्रेम एवं सृजनात्मक चेष्टा को भी अस्तित्ववादी मूल्यों के अन्तर्गत गिना जाना चाहिए, पर वस्तुतः ये दोनों प्रवृत्तियाँ चयन की स्वच्छन्दता के ही अन्तर्गत आ जाती हैं। वैयक्तिक प्रेम ही एकमात्र चयन की वस्तु है, या सभी के लिए सर्वोपरि तत्त्व है, ऐसा आग्रह अस्तित्ववादी नहीं करता। अतः सारांश में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चयन की स्वतंत्रता या वैयक्तिक स्वछन्दता ही अस्तित्ववाद का सर्वोपरि मूल्य या अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का मूलाधार है; अन्य सब धारणाएँ—अस्तित्व-बोध, नास्तिकता, असामाजिकता, विज्ञान-विरोधिता, पीड़ा की महत्ता आदि इसी की पूरक एवं साधिका मात्र हैं।

हिन्दी की नयी कविता और अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ

अस्तित्ववाद के प्रचारकों ने साहित्य के विभिन्न रूपों—मुख्यतः उपन्यास-कहानी आदि—के माध्यम से अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी के नये कवियों पर भी पड़ा। हिन्दी का साहित्यकार, भले ही राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गया हो, पर मानसिक दृष्टि से अभी पश्चिम का गुलाम ही है। उसके पास अपनी दृष्टि, अपने चिन्तन एवं अपने आदर्शों का अभाव है, पर फिर भी विश्व के बहुचर्चित साहित्यकारों की श्रेणी में अपने को प्रतिष्ठित देखने की आकांक्षा से भी वह पीड़ित है। वैयक्तिकता एवं आत्मीयता को छोड़कर दूसरों के अन्धानुकरण द्वारा अपने को प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति हीनता की ग्रन्थि की द्योतक है; यह प्रवृत्ति भले ही

उसे दूसरों की दृष्टि में ऊँचा न उठाए, किन्तु वह इसके द्वारा आत्म-तुष्टि तो प्राप्त करता ही है। अपने साहब के उतारे हुए सूट को पहनकर एक चपरासी भले ही दफ्तर में साहब का-सा सम्मान न पा सके, पर साहब की सी ऐक्टिंग करके घर में तो रोब जमा ही सकता है। यही स्थिति हिन्दी के कतिपय नये साहित्यकारों की है।

अस्तु, इसी अनुकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिन्दी की नयी कविता में भी अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों का प्रतिफलन दृष्टिगोचर होता है। यहाँ कतिपय प्रवृत्तियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) **अनास्था**—अस्तित्ववाद के अनुसार ईश्वर, धर्म, नैतिकता, सामाजिक मूल्यों आदि से सम्बन्धित सभी परम्परागत धारणाएँ अस्वीकार्य हैं, अतः वह अनास्था-मूलक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। हिन्दी के नये कवियों में से भी अनेक ने इसी अनास्थामूलक स्वर को अभिव्यक्ति दी है—

(क) **मेरे जन्म से पहले मर गई थी,**
देवताओं की बूढ़ी दुनिया !

—अशोक वाजपेयी

(ख) **जिनको तुम कहते हो प्रभु**
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया,
वंचक है।

—धर्मवीर भारती

इसी अनास्था के कारण ही भारतभूषण अग्रवाल को सभी परम्परागत पथ अंधकार की ओर ले जाने वाले दृष्टिगोचर होते हैं—

जितने भी पथ थे
सबकी परिणति होती है अंधियारे में।
प्राणों के पंथी
सहमे सिमटे बैठे हैं गलियारे में !

वस्तुतः इन कवियों ने अनास्था की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में की है, अतीत की परम्पराओं के प्रति विद्रोह एवं सामाजिक मर्यादाओं के प्रति वितृष्णा का भाव भी इसी अनास्था का सूचक है—

दीवार दरारें पड़ती जाती हैं इसमें
दीवार दरारें बढ़ती जाती हैं इसमें

× × ×

दीवार भला कब तक रह पायेगी रक्षित
यह पानी नभ से नहीं धरा से आता है !

—दुष्यन्तकुमार

यहाँ दीवार परम्परा का प्रतीक है, जिसे गिरा देने के लिए कवि उत्सुक है। अग्रांकित पंक्तियों में सामाजिक मर्यादाओं एवं नैतिक बन्धनों से अवरुद्ध जीवन के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए अनास्थामूलक दृष्टि का परिचय दिया गया है—

अवरुद्ध आज जीवन-प्रवाह
जड़ता की जंजीरों में जकड़ा भीत हृदय
हिमशीत मृत्यु के सुप्त स्पर्श से
आज बना निर्जीव ।

—भारतभूषण अग्रवाल

(२) **अस्तित्व-बोध**—अस्तित्ववादी के अनुसार व्यक्ति चयन की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) का वरण करके ही अपना अस्तित्व सिद्ध कर पाता है। दूसरे शब्दों में वह धर्म, समाज एवं परम्परा द्वारा अनुमोदित एवं आरोपित पथ को त्याग करके स्वेच्छा का जीवन अपनाता है—यही 'अस्तित्व-बोध' है ! अस्तित्व-बोध जीवन भर बनी रहनेवाली स्थिति नहीं है, अपितु वह तो क्षणविशेष पर ही आधारित है, क्योंकि अस्तित्ववादी के लिए स्वेच्छापूर्वक जिया हुआ या भोगा हुआ एक क्षण परतन्त्रता के सौ वर्षों से अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसी लिए गुरुवर अज्ञेय अपने शिष्यों के साथ ऋषि अगस्त्य का रूप धारण करते हुए क्षण-विशेष के समुद्र का आचमन करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

एक क्षण होने का
अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण !
होने के सत्य का
सत्य के साक्षात् का
साक्षात् के क्षण का
क्षण के अखण्ड पारावार का
आज हम आचमन करते हैं !

इसी क्षण-विशेष के अस्तित्व-बोध को सार्त्र आदि ने व्यक्ति का विस्तार या मनुष्य का मुक्ति-लाभ या मुक्ति-बोध कहा है। सार्त्र की इसी विचारगंगा को हिन्दी-पद्य की धरती पर अवतरित करते हुए अज्ञेयजी अपने भगीरथ-प्रयास का परिचय देते हैं—

केवल बना रहे विस्तार—हमारा बोध
मुक्ति का
सीमा-हीन खुलेपन का !

अज्ञेय की उपर्युक्त उक्तियों में सार्त्र, कामू आदि के शब्दों की अनुगूंज इतनी स्पष्ट है कि इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि अज्ञेय ने अस्तित्ववाद की शब्दावली को भलीभाँति रटकर के ही इन पंक्तियों का निर्माण किया था। फिर भी अपनी मौलिकता सिद्ध करने के लिए ये कवि अपने-आपको अस्तित्ववाद से प्रभावित न मानें तो इसे शुद्ध मिथ्यावाद ही कहना पड़ेगा।

(३) **वैयक्तिकता की स्थापना**—व्यक्ति-स्वच्छन्दता का प्रतिपादन होने के कारण अस्तित्ववादी स्वयं को समाज की विकासोन्मुख धारा के प्रवाह से अलग रखता यह सभ्यता एवं संस्कृति की गतिशील धारा के प्रवाह में योग देने की अपेक्षा उसके

मार्ग का बाधक द्वीप बनना अधिक अच्छा समझता है; इसीलिए अज्ञेय स्वयं को 'द्वीप' के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

किन्तु
हम हैं द्वीप
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा,
हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किंतु हम बहते नहीं हैं,
क्योंकि बहना रेत होना है।

—'नदी के द्वीप'

इसी प्रकार भारतभूषण अग्रवाल अपने व्यक्तित्व को मनचाहा रूप देने की घोषणा करते हुए उग्र व्यक्तिवाद की स्थापना करते हैं—

मैं नहीं हूँ कागज की लुग्दी
या कि निरा पिण्ड प्लास्टिक का
मिट्टी का लौंदा नहीं,
नहीं गले रांगे की धार हूँ,
जिसे तुम साँचे में ढाल दो
मनमाना रूप दो, मनमानी चाल दो!

(४) **पीड़ा की स्वीकृति**—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, अस्तित्व-वाद में व्यक्ति-स्वच्छन्दता का जितना महत्त्व है, उतना ही पीड़ा की स्वीकृति का है, क्योंकि स्वच्छन्दता के लिए—मनमानी करने के लिए उसका परिणाम भुगतना आवश्यक है। इसलिए व्यक्तिगत जीवन में भले ही हिन्दी के ये कवि पीड़ा न भोगकर ऊँचे-ऊँचे पदों, भारी वेतन एवं येन-केन-प्राप्त पुरस्कारों का उपयोग करें, किन्तु कविता में तो उन्होंने वेदना-वाद को स्वीकृति देकर अपनी सामयिकता एवं समकालीनता को प्रमाणित कर ही दिया है। एक-दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

वहन करो,
ओ मन! वहन करो पीड़ा!
यह अंकुर है उस विशाल वेदना की,
तुम में भी जन्मजात
आत्मज है स्वीकार करो
आँचल से 'ढंक' कर रक्षण दो!
वहन करो, वहन करो पीड़ा!
सृष्टि प्रिया पीड़ा है कल्पवृक्ष,
दान समक्ष,
शीश झुका स्वीकारो

ओ मन ! करपात्री स्वीकारो
मधुकरि स्वीकारो
वहन करो, वहन करो पीड़ा !

—नरेश मेहता

पीड़ा सम्बन्धी उपर्युक्त व्याख्यान में कई बातें परस्पर-विरुद्ध कही गयी है—(१) पीड़ा को इसलिए सहन करो क्योंकि वह जन्मजात है; जन्म से तुम्हारे साथ है ! (२) पीड़ा को इसलिए सहन करो कि तुम्हारी आत्मजा=बेटी है ! इसलिए उसकी माँ बनकर आँचल में ढककर उसे बचाओ !—हम 'माँ' इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि बेचारे पिता के पास तो 'आँचल' होगा नहीं ! (३) पीड़ा सारी सृष्टि की प्रिया है, यह कल्पवृक्ष है·—मनचाही मुरादें पूरी करने वाली है ! (४) वह भीख है—इसलिए उसे शीश झुकाकर स्वीकार करो !!

अवश्य ही यहाँ चारों बातों में परस्पर कोई तुक नहीं है ! भला जन्म के साथ अवतरित होनेवाली पीड़ा बेटी कैसे बन सकती है, और फिर बेटी से वह प्रिया कैसे बन गई ! और जो जन्म से साथ थी, आत्मजा थी, प्रिया थी, वह एकाएक भीख कैसे बन गई ? फिर भीख को शीश झुकाकर स्वीकारने की क्या आवश्यकता पड़ गई ?····भला भीख को भी कोई शीश झुकाता है ! ! हाँ, भीख देनेवाले को भले ही कोई झुकाए ! पर यहाँ पीड़ा भीख देने वाली बन गई है ?

शायद ये सारी बातें हिन्दी के साधारण पाठक की समझ में न आएँ ! पर इसमें बेचारे कवि का भी क्या दोष है ? उसके अस्तित्ववादी गुरुओं ने जो बातें अलग-अलग संदर्भों में कही थीं, उन्हीं सबको इकट्ठी करके पद्य का रूप दे दिया गया है । क्या यह कम उपलब्धि है कि कीर्केगार्ड, जैस्पर्स, हेड्गर एवं सार्त्र ने वेदना के सम्बन्ध में जो अलग-अलग मत दिये थे, वे सब मेहता जी की कृपा से हिन्दी के पाठक को एक ही जगह एकत्रित मिल गए !! हिन्दी के कवि की तर्कशून्यता की न सही, उसकी ईमानदारी की तो दाद दी ही जा सकती है ! किस ईमानदारी से उसने सारे अस्तित्ववाद का सार एक ही कविता में प्रस्तुत कर दिया है ।

कुछ अन्य कवियों ने भी सार्त्र के वेदना सम्बन्धी विचार को मूल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । यहाँ भारतभूषण अग्रवाल की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत है—

चुक गया जब नेह, बाती जर गई
मत करो चीत्कार
पगले !

× × ×

प्रज्ज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी
लौ उठा !

× × ×

मुक्ति का बस है यही पथ एक !

अवश्य ही यहाँ सार्त्र के ही उद्घोष को कि वेदना की पूर्ण स्वीकृति ही अस्तित्व-बोध या व्यक्ति की मुक्ति का एकमात्र उपाय है—ही प्रतिध्वनित किया गया, पर फिर भी वह पूर्वोक्त उद्धरण की भाँति तर्क-बुद्धि एवं अनुभूति से शून्य नहीं है। वस्तुतः कवि ने यहाँ जो कुछ कहा है, वह स्वानुभूति से परिपूर्ण है, जिससे प्रमाणित होता है उसने सार्त्र के शब्दों को केवल रटा नहीं है, उन्हें समझा भी है।

अन्त में वेदना के सम्बन्ध में दीक्षा-गुरु का प्रवचन भी सुनने योग्य है—

दुःख सबको माँजता है
और............
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें!

इस उक्ति को पढ़कर हमें सुकरात का एक कथन याद आ गया—उसने कहा था, जब ईश्वर धरती के प्राणियों को कुछ कहना चाहता है तो वह कवि के माध्यम से बोलता है। श्री अज्ञेय के बारे में भी हम कह सकते हैं कि कामू के प्रेत तथा सार्त्र की आत्मा को जब भारतीय पाठकों के लिए कुछ कहना होता है तो वे अज्ञेय जी के कल-कंठों का माध्यम अपनाते हैं। अतः उपर्युक्त पंक्तियों की प्रशंसा में हम सभी सार्त्र-भक्तों की ओर से उन्हें साधुवाद देते हुए कह सकते हैं—"धन्य है प्रभो! धन्य है!! यही महर्षि सार्त्र ने कहा था, यही आप कह रहे हैं!!! धन्य हैं आप, धन्य हैं हम!! और धन्य है भारत की यह राष्ट्रभाषा, जो गुरुवर सार्त्र के सद्वचनों से पवित्र हुई!!!"

(५) **भोग, प्यार, निराशा और मृत्यु**—ये सभी तत्त्व अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को सूचित करते हैं। व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता या स्वच्छन्दता का उपयोग प्रायः भोग और प्यार में करता है, उसका परिणाम निराशा और मृत्यु में होता है। यह ध्यान रहे कि इनका भोग और प्यार वस्तुतः शुद्ध शारीरिक विलास का द्योतक है, जो असंयमित एवं अनियंत्रित होने के कारण निराशा और मृत्यु में परिणत होकर ही समाप्त होता है। अतः इन सभी तत्त्वों की व्यंजना हिन्दी के नये कवियों में भी उपलब्ध होती है—

(क) उन्मुक्त भोग :

आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय,
जिसकी जिन्दगी का यही आशय
यही इतना भोग्य
कितना सुखी है वह
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य!

—कुँवरनारायण

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इनके जीवन के तीन महान् आयाम ये तीन

आशय ही हैं ! इनके जीवन का आशय ही तीन आयामों की पूर्ति तक सीमित है । सच-मुच ये भाग्यशाली हैं—जीवन के शेष सारे उत्तरदायित्वों और क्रिया-कलापों से मुक्ति पाकर केवल तीन सुखागारों में ही अपने जीवन को समेट लिया ! ! क्या आप नहीं मानते कि इनका भाग्य सचमुच ईर्ष्या के योग्य नहीं हैं ! और सच पूछें तो इन तीन आशयों में से भी मुख्य एक ही रह गया है—शेष दो तो वैसे ही हैं !

कुंवरनारायण के ही स्वर में स्वर मिलाती हुई कुमारी (?) शान्ता सिन्हा उन्मुक्त भोग का खुला निमंत्रण देती हुई दिखाई पड़ती हैं—

फैल रही है परिधि स्तनों की
हसरतें अब जवान हैं ।
आओ दोस्तो और साथियो
आओ मेरे झंडे के नीचे,
उँगलियों से कह दो
आज रियायत न करें तनिक भी
किन्तु पेश आयें
मुना सब बेरहमी से !

सिन्हाजी की इन उक्तियों के सम्बन्ध में क्या कहें ! अवश्य ही उनका निमंत्रण अनेक साथियों को आकर्षक एवं आल्हादक प्रतीत हुआ होगा, यह दूसरी बात है कि उसमें कौमार्य की शिष्टता, नारीत्व के संकोच एवं काव्यत्व की आभा का सर्वथा अभाव है ।

यही उन्मुक्त भोग आगे चलकर निराशा, आत्मग्लानि एवं जीवन की निरर्थकता के बोध में परिणत हो जाता है—

हम में से किसी के पास टार्च नहीं है
और अँधेरे में
हम सभी गिरफ्तार हो गये हैं ।

या—

लगता है सारा अस्तित्व किसी झूठ पर
टिका हुआ, जाता है आप ही बिखर-बिखर
केवल रव अर्थहीन—साँसों के क्षीण स्वर !

और अन्त में उदित होता है आत्म-लघुता का यह भाव—

हम सब के दामन पर दाग़ हैं !
हम सब की आत्मा में झूठ,
हम सब के माथे पर शर्म,
हम सब के हाथों में टूटी तलवारें !

—धर्मवीर भारती

ऐसी स्थिति में आत्म-तोष के लिए वे 'पराजय' को ही, जीत से बढ़कर और पलायन को ही संघर्ष से महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने लग जायँ तो क्या आश्चर्य । देखिए—

लड़ता ही क्या है चरित्र ? यश जय ही ?
धैर्य पराजय में यह भी गौरव है !

—अज्ञेय

सचमुच गौरव है ! अब अज्ञेय जी को चाहिए कि दुनिया का इतिहास नये सिरे से लिखें और उनमें हारे हुए व्यक्तियों व भगोड़े सैनिकों की गुण-गाथा का अंकन करें !. सचमुच यह अज्ञेय जी की सर्वथा नूतन उपलब्धि सिद्ध होगी !

उपसंहार

अंत में हम अस्तित्ववादी विचारकों एवं कवियों के सम्बन्ध में क्या लिखें। जैसा कि स्पैंगलर ने अपने ग्रन्थ The Decline of West (पश्चिम का पतन) में प्रतिपादित किया है—जब कोई सभ्यता अपने मरणोन्मुखी बिन्दु पर पहुँच जाती है तो उसमें इसी प्रकार की सर्वथा वैयक्तिक, आत्मघाती, उच्छृङ्खल एवं विलासिता की प्रवृत्तियाँ उन्मीलित होने लगती हैं। आसुरी सभ्यता, देव-सभ्यता, महाभारतीय आर्यों की सभ्यता, उत्तर-बौद्ध युग की भारतीय सभ्यता, हिन्दू-साम्राज्य के पतन से पूर्व की राजपूती सभ्यता, औरंगजेब परवर्ती मुगल सभ्यता—इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं। अस्तु, यदि हमने अपने को संयमित न किया तो वर्तमान सभ्यता का भी नाश संभव है। विनाश से बच भी सकते हैं, पर यदि समय की गति को समझें तो ही। जो अतीत और वर्तमान से सारे सम्बन्धों को तोड़कर वैयक्तिकता के उन्माद से ग्रस्त हैं, उन्हें भला कौन समझा-बुझा सकता है ! ऐसी स्थिति में श्रीमती विजय चौहान के शब्दों में ही उनकी स्थिति को समझा जा सकता है-—

हम हैं नये नकारे कवि
हम लघु मानव हैं !
हमारे पुरखे भीमकाय थे
लेकिन हम किसी को अपना पुरखा नहीं मानते !
हम ओडिपस हैं
पितृघाती हैं
हमारा कोई अतीत नहीं,
कोई भविष्य नहीं,
हम क्षणवादी हैं
हमारी आँखों में मायोपिया है !
मोतियाबिन्द है
लेकिन हम आपरेशन नहीं कराएँगे
दुनिया को हमारी नजर के दायरे में सिकुड़ना पड़ेगा !

उपर्युक्त पंक्तियाँ नये कवियों के जीवन-दर्शन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं तथा यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह जीवन-दर्शन अस्तित्ववादी धारणाओं

पर ही आधारित है ! अस्तित्ववादियों की सीमित वैयक्तिकता, उच्छृङ्खलता, स्वतन्त्रता, अतीत एवं भविष्य की अस्वीकृति एवं दृष्टि की संकीर्णता ने सचमुच आज के व्यक्ति को एक ऐसे बिन्दु पर खड़ा कर दिया है, जहाँ से वह न पीछे लौट सकता है और न ही आगे बढ़ सकता है। अतीत की सम्पदा को उसने ठुकरा दिया है और भविष्य की कल्पना को वह स्वीकार नहीं करता तथा वर्तमान उसका सिकुड़कर इतना छोटा हो गया है कि उसे 'क्षण' कहना पर्याप्त होगा। फिर भी दुर्भाग्य यह है कि वह अपनी सीमाओं को मानने को तैयार नहीं है, अपितु वह अपनी सीमित दृष्टि के अनुसार दुनिया को ही छोटी कर देना चाहता है। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ठीक भी है—यदि चक्षुविहीन व्यक्ति सारे संसार को प्रकाश-शून्य घोषित करते हुए सूर्य, चाँद और नक्षत्रों को व्यर्थ घोषित करे तो इसमें क्या आश्चर्य है !

: : अड़तालिस : :

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

१. प्रकृति और मानव का सम्बन्ध।
२. प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध।
३. प्रकृति-चित्रण के विभिन्न प्रकार।
४. भारतीय काव्य में प्रकृति-चित्रण।
५. हिन्दी-काव्य में प्रकृति—(क) आदिकाल, (ख) मध्यकाल, (ग) आधुनिक काल।
६. उपसंहार

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही पुराना है, जितना कि सृष्टि के उद्भव और विकास का इतिहास प्राचीन है। प्रकृति-माँ की गोद में ही प्रथम मानव-शिशु ने आँखें खोली थीं, उसी की क्रोड़ में खेलकर वह बड़ा हुआ और अन्त में उसी के आलिंगनपाश में आबद्ध होकर वह चिर-निद्रा में सोता रहा। प्रकृति के अद्भुत क्रिया-कलापों से उसकी हृदयस्थ भावनाओं—भय, विस्मय, प्रेम आदि—का स्फुरण हुआ; उसी की नियमितता को देखकर उसके मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की बुद्धि का विकास हुआ। दार्शनिक दृष्टि से भी प्रकृति और मानव का सम्बन्ध स्थायी है, चिरन्तन है। सत्-रूपी प्रकृति, चित्-रूपी जीव और आनन्द-रूपी परम-तत्त्व—तीनों ही मिलकर सच्चिदानन्द परमेश्वर की सत्ता का रूप धारण करते हैं। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, तीनों ही दृष्टियों से प्रकृति मानव का पोषण करती हुई उसे जीवन में आगे बढ़ाती है।

मानव और प्रकृति के इस अटूट सम्बन्ध की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य और कला में चिरकाल से होती रही है। साहित्य मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्ब में उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, प्रकृति मानव-हृदय और काव्य के बीच संयोजक का कार्य भी करती रही है। न जाने हमारे कितने ही कवियों को अब तक प्रकृति से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती रही है। आदिकवि ने प्रकृति के दो सजीव प्राणियों में से एक का वध देखकर इतने आँसू बहाए कि उनसे कितने ही भूर्जपत्र गीले हो गये और वे आज भी गीले हैं। आषाढ़ के प्रथम बादलों को देखकर कवि-कुल-शिरोमणि कालिदास तो इतने भावाभिभूत हो गये कि उनकी अनुभूतियाँ 'मेघदूत' का रूप धारण करके बरस पड़ीं। हमारे मध्यकालीन कवियों ने अपनी विरह-गाथा सुनाने के लिए प्रकृति की ओट बार-बार ली है। आधुनिक कवियों में भी अनेक को काव्य-रचना की प्रेरणा प्रकृति से मिली है। प्रकृति हमारे कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत ही नहीं, सौन्दर्य का अक्षय भंडार,

कल्पना का अद्‌भुत लोक, अनुभूति का अगाध सागर, विचारों की अटूट शृङ्खला भी रही है।

प्रकृति-चित्रण के प्रकार

काव्य में प्रकृति का प्रयोग कई प्रकार से किया जाता है। हिन्दी के एक विद्वान् ने इसके निम्नांकित ११ भेद गिनाये है–(१) आलम्बन रूप में, (२) मानवीकरण, (३) पृष्ठभूमि के रूप में, (४) उद्दीपन रूप में, (५) प्रतीकात्मक रूप में, (६) बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में, (७) उपदेशिका के रूप में, (८) अलंकार-दर्शन के रूप में, (९) दूतिका के रूप में, (१०) रहस्यात्मक रूप में, (११) मानवीकरण के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिगणन केवल संख्या विस्तार के निमित्त ही किया गया है। "पृष्ठभूमि के रूप में जिसके अन्तर्गत प्रकृति कहीं अनुकूल बनकर आती है और कहीं प्रतिकूल"—इसमें और 'उद्दीपन रूप में' कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार 'दूतिका' का रूप भी मानवीकरण में समाविष्ट हो जाता है। मानवीकरण को भी दो बार गिना दिया गया। वस्तुतः उपर्युक्त भेदों का समाहार निम्नांकित रूपों में ही हो जाता है :—

१. **आलम्बन रूप**—जहाँ कवि स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का चित्रण केवल प्रकृति-वर्णन के उद्देश्य से ही कर रहा हो, वह आलम्बन रूप कहलाता है।

२. **उद्दीपन रूप**—जहाँ कवि के मूल-भाव का आलम्बन तो कोई और होता है, किन्तु प्रकृति से वातावरण के द्वारा उस भाव को उत्तेजित करने मे सहायता ली जाती है, उसे उद्दीपन रूप कहते हैं। जैसे चाँदनी रात के प्रभाव से विरहिणियों की वियोग-वेदना का बढ़ जाना दिखाया जाता है।

३. **उपमान रूप**—मूल विषय को स्पष्ट करने के लिए कविगण प्रकृति के उपादानों से उनका सादृश्य या वैषम्य प्रदर्शित करते है; जैसे "उसका मुख चंद्र-सा है।" यहाँ चंद्र उपमान रूप में प्रयुक्त हुआ है। विभिन्न अलंकारों में इन उपमानों का प्रयोग कई प्रकार से होता है, अतः उनके अनुसार उपमान रूप के भी अनेक रूपभेद किए जा सकते हैं, जैसे—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति आदि।

४. **मानवीकरण रूप**—जहाँ प्रकृति को सजीव रूप में उपस्थित करते हुए उसे मानवी रूप प्रदान कर दिया जाता है, उसे ही मानवीकरण रूप कहते है; जैसे—चाँदनी को लक्ष्य करके कहना—"हे शुभ्र-वसना! तुम किसे देखकर मुस्करा रही हो?" वस्तुतः मानवीकरण रूपकातिशयोक्ति का ही एक भेद है।

५. **प्रतीक रूप में**—कवि अपने भावों को स्पष्ट रूप में न बताकर उन्हें प्रतीकों के माध्यम से व्यंजित करता है, जैसे—'निराशा' के लिए 'अन्धकार' का, दुःख के लिए 'रात्रि' का, सुख के लिए 'दिन' का प्रयोग।

६. **अन्योक्ति या व्यंग्योक्ति के रूप में**—कई बार कविता में किसी विचार को प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त न करके प्रकृति के क्रिया-कलापों के माध्यम से ध्वनित किया जाता है। जैसे—

अन्योक्ति—

माली आवत देखि कै कलियां करें पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये, कालि हमारी बार।

व्यंग्योक्ति—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बंध्यो, आगे कौनु हवाल॥

सामान्य रूप से उपर्युक्त छह भेद ही प्रचलित हैं, किन्तु वैसे हमारे काव्य-शास्त्र में जितने अर्थालंकार हैं, प्रायः सभी में प्रतीक का प्रयोग हो सकता है।

भारतीय काव्य में प्रकृति-चित्रण की परम्परा

विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य—ऋग्वेद—से ही हमें प्रकृति-चित्रण की सुदृढ़ परम्परा प्राप्त होती है। इस ग्रंथ में उषा, सूर्य, मरुत, इन्द्र आदि को अलौकिक शक्तियों के रूप में स्वीकार करते हुए, उनके मानवी क्रिया-कलापों का चित्रण किया गया है। उषा की कल्पना एक कुमारी बाला के रूप में करते हुए सूर्य को उसका प्रेमी बताया गया—'हे प्रकाशवती उषा ! तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अपने प्रियतय सूर्य के निकट जाती हो तथा उसके सम्मुख स्मित-वदना युवती की भाँति अपने वक्ष-प्रदेश को निरावृत करती हो। इसी प्रकार पुरूरवा को छोड़कर जाती हुई कान्तिमती उर्वशी के सौन्दर्य को भी मेघों को चीरकर जाती हुई बिजली के सदृश बताया गया है। मंडूक सूक्त में वर्षा के आगमन और मेंढकों पर उनके आह्लाद-कारी प्रभाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है—"जल की बूंदों से प्रसन्न होकर क्रीड़ा-मग्न मेंढक एक-दूसरे को बधाई-सी देते प्रतीत होते हैं। वर्षा हो जाने पर चित्त-कबरे रंग वाला मेंढक पीले मेंढक के साथ उछल-उछलकर उसके स्वर में स्वर मिलाता है।" (ऋग्वेद ७।१०३।४) "एक मेंढक दूसरे मेंढक की टर्राहट को इस प्रकार दोहराता है जैसे गुरु के शब्दों को शिष्य दोहराता है।" कहना न होगा कि इन पंक्तियों में वैदिक ऋषि के प्रकृति से निकट सम्बन्ध की व्यंजना सम्यक् रूप में हुई है।

आदिकवि—बाल्मीकि—प्रकृति के रोमांचकारी प्रभाव से पूर्णतः परिचित थे। मानवीय भावनाओं के उद्दीपन के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकृति का आश्रय ग्रहण कर लिया है। बालकाण्ड में कौशिक ऋषि के संयम को भंग करने की योजना बनाता हुआ इन्द्र रंभा से कहता है—

मा भैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम्।
कोकिल हृदयग्राही माधवे रुचिर द्रुमे।
अहं कन्दर्प सहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः।
त्वं हि रूपं। बहुगुणं कृत्वा परमं भास्वरम्।
तमृषि कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम्॥

अर्थात्, हे रम्भे ! डरो मत ! तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं होगा, मेरी आज्ञा मानो। वसन्त काल में किसी मनोहर वृक्ष पर सुन्दर कोकिल बनकर कामदेव के साथ मैं तुम्हारे निकट ही स्थित होऊँगा। तुम जरा अपने रूप को सजाकर तपस्वी के मन को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करना।

उद्दीपन के अतिरिक्त रूप-सौन्दर्य की साज-सज्जा (अलंकार) के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग वाल्मीकि रामायण में हुआ है। राजा कुशनाभ की युवती कन्याओं के सौन्दर्य को प्राकृतिक वैभव से सम्पन्न करते हुए लिखा गया है—"रूप-यौवन-सम्पन्न वे कन्याएँ अलंकृत होकर उपवन में गईं। वर्षा-काल की विद्युत् के समान वे प्रतीत होती थीं।....अपने अपूर्व रूप से सजी हुई वे सर्वाङ्ग सुन्दरियाँ वाटिका में आकर ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों मेघ से छिपी हुई तारिकाएँ हों।"

(बालकाण्ड, सर्ग ३२)

महाभारत में आकर प्रकृति की अनुपम सौन्दर्य-श्री में और भी अधिक अभि-वृद्धि हुई है। इसके शकुन्तलोपाख्यान में कण्व-ऋषि के आश्रम का एक संश्लिष्ट-चित्रण द्रष्टव्य है—"वह वन पुष्पों से युक्त और वृक्षों से सुशोभित था। उसमें अत्यन्त सुख-कारी हरी-हरी घास लहरा रही थी। अनेक सुन्दर पक्षियों के कलरव तथा कोयलों की कुक और झिल्ली की झंकार से वह गुंजरित हो रहा था।" (आदि पर्व—७०,४,५,६) इसी प्रकार उपमान रूप में वर्णन का एक उदाहरण देखिए—अदभुत् सौन्दर्य भार से लदी हुई बाला सुन्दरी तप्ता के रूप-वैभव की व्यंजना करते हुए महाभारतकार ने लिखा है—"वह या तो लक्ष्मी है अथवा सूर्य से झड़कर पड़ी हुई उसकी कान्ति है। अंगों की द्युति की दृष्टि से वह रवि की शिखा-तुल्य और निर्मल सौन्दर्य की दृष्टि से चन्द्ररेखा-तुल्य प्रतीत होती है। पर्वत-प्रदेश पर स्थित यह श्याम-वर्ण नेत्रोंवाली कन्या स्वर्ण की प्रतिमातुल्य प्रतीत होती है।" (आदि पर्व, अध्याय १७३)

परवर्ती संस्कृत-साहित्य में तो प्रकृति का चित्रण इतनी मात्रा में हुआ है कि हमें सर्वत्र प्रकृति-सौन्दर्य की ही माया का प्रसार दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति-चित्रण का कोई ऐसा रूप नहीं, जो संस्कृत के काव्य-भण्डार में उपलब्ध नहीं होता। प्रायः आधु-निक आलोचक मानवीकरण की शैली को पाश्चात्य साहित्य की देन बताते हैं, किन्तु कालिदास, दंडी और हर्ष की रचनाओं में प्रकृति के मानवी रूप के शत-शत उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। 'मेघदूत' में गंभीर नदी को किसी मद-विह्वला नारी के रूप से प्रस्तुत करते हुए उसकी काम-चेष्टाओं का निरूपण किया गया है, जो मानवीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'ऋतु-संहार' में शरद् का चित्रण एक नववधू के रूप में किया गया है—"काश के (श्वेत) वस्त्रों से सुसज्जित, परिपक्व धानों से लजित छरहरे शरीर वाली, खिले हुए कमल (सदृश) मुखवाली यह शरद् सुन्दरी, नूपुर ध्वनि के तुल्य मन्दोन्मत्त हंसों के कलरव का शब्द करती हुई किसी नव-वधू के समान आ रही है।" आगे चल-कर भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों ने प्रकृति का चित्रण इतने परिमाण में किया कि वह महाकाव्य के एक आवश्यक लक्षण के रूप में स्वीकार कर लिया गया। 'काद-

म्बरी' और 'दशकुमारचरित' जैसी गद्य रचनाएँ भी प्रकृति-सौन्दर्य से भरपूर हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश के जैन कवियों ने प्रकृति-वर्णन का चित्रण पर्याप्त मात्रा में किया है, किन्तु उनमें संस्कृत-कवियों की ही उक्तियों का पिष्टपेषण अधिक है, मौलिकता कम है। हाँ, अपभ्रंश के परवर्ती युग में अब्दुर्रहमान एवं बब्बर जैसे कवियों ने उद्दीपन रूप में प्रकृति के कई चित्र उपस्थित किए हैं। विभिन्न ऋतुओं में 'सन्देश-रासक' की विरहिणी नायिका की दशा अत्यन्त असह्य हो जाती है। पथिक को सन्देश देती हुई वह कहती है—"(वर्षा ऋतु में) अम्बर में चारों ओर काले बादल छाये हुए है। काली घटाओं की घरघराहट जोर से उठती है। नभ-मार्ग में विद्युत तड़कती है। मेंढकों की कठोर टर्राहट सहन नहीं हो पाती। धरती पर निरन्तर मूसलाधार वर्षा होती रहती है पथिक! बताओ, शिखर-स्थित कोयल के मीठे स्वर की चोट को कैसे सहन करूँ!!" दूसरी ओर महाकवि बब्बर की पति-वियुक्ता नायिका ग्रीष्म के दाह से क्षुब्ध होकर किसी के शीतल-स्पर्श की कामना व्यक्त करती है—

तरुण-तरणि तवइ धरणि, पवण वहइ खरा,
लग णहि जल वड मरुथल, जण-जियण-हरा।
दिसइ चलइ हिअअ दुलइ हम, इकलि वहू,
घर णहि अवि सुणहि पहिअ! मण इछइ कहू।

(हिन्दी काव्य-धारा : पृ० ३१८)

—युवा सूर्य धरती को तपा रहा है। तेज पवन चल रहा है। इस मरुस्थल में कहीं जल का पता नहीं है। लोगों का जीवन नष्ट हो रहा है। दिशाओं की वायु चल रही है। उनसे मेरा हृदय डुल रहा है। घर में पिया नहीं है और मैं अकेली वधू हूँ। हे पथिक! मन किसी को चाहता है!—

उपर्युक्त पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि वैदिक युग से लेकर अपभ्रंश युग तक के साहित्य में प्रकृति रानी की सत्ता अखंड रूप से बनी हुई है। वह नाना रूपों में अवतरित होकर मानवीय अनुभूतियों के साथ अभिनय करती रही है। कहीं वह सौन्दर्य की सहायिका और साधिका रूप में दृष्टिगोचर होती है तो कहीं स्वयं ही सौदर्य का आगार बन गई है। दार्शनिकों ने इस शत-शत रूपा प्रकृति को माया की संज्ञा देकर उचित ही किया।

हिन्दी काव्य में प्रकृति

हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य में प्रकृति का चित्रण प्रायः उद्दीपन और उपमान रूप में हुआ है। रासो ग्रन्थों के रचयिताओं ने जहाँ सौदर्य-निरूपण के लिए प्रकृति से उपमान ग्रहण किए हैं, वहाँ संयोग-वियोग की अनुभूतियों के उद्दीपन के रूप में विभिन्न ऋतुओं का वर्णन भी किया है। 'बीसलदेव रासो' की नायिका की विरहाग्नि भादों की झड़ियों से और भी प्रदीप्त हो उठती है—

भादवउ बरसई छइ मगहर गम्भीर। जल-थल महीयल सहू भर्या नीर।
जाणे सरवर उलटइ। एक अंधारी बीजली बाया।
सूनी सेज बिदेश पिआ। दोई दुख नाल्ह क्युं सइहणा जाई।

भला, एक दुःख हो तो सहन किया जा सकता है, किन्तु प्रकृति के मादक वैभव ने तो विरहणी बाला के शोक-संताप को द्विगुणित कर दिया है।

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने तो प्रकृति-सौन्दर्य को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। नारी के रूप-वैभव को प्रकृति के अंगराग से सुसज्जित करने की कला में जैसी दक्षता विद्यापति को प्राप्त है, वैसी संभवतः किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हुई। वे विभिन्न प्रकृति को विभिन्न अलंकारों के रूप में प्रयुक्त करते हैं—

पीन पयोधर दूबरि गता, मेरु उपजल कनक-लता

× × ×

सुन्दर वदन चारु अरु लोचन, काजर रंजति भेला !
कनक-कमल माझ काल भुजगिनी, श्री युत खंजन खेला !

इसी प्रकार प्रकृति-प्रयोग के अन्य प्रकार भी देखिए—

उद्दीपन रूप में—

फुटल कुसुम नव कुंज कुटीर बन, कोकिल पंचम गावे रे !
मलयानिल हिम सिखर सिधारल, पिया निज देश न आवे रे !

अन्योक्ति के रूप में—

कंटक माझ कुसुम परगास, भमर विकल नहीं आवए पास।
भमरा मेल घुरए सब राम, तोहे बिनु मालति नहिं बिसराम ॥

प्रतीक रूप में—

कौन कुबुधि लुटु मदन-भडार

× × ×

हाय-हाय सम्भु भगन भए गेल

× × ×

सांझ क बेरि उगल नव ससधर
भरम बिदित सविताहु !

इसके अतिरिक्त मानवीकरण का भी विद्यापति में अभाव नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

माइ हे सीत वसंत बिबाद, कओन बिचारब जय अवसाद !
दुहु दिसि मधथ दिवाकर भेल, दुजबर कोकिल साखी देल ! !

+ × ×

बादी तह प्रतिवादी भीत !
सिसिर विन्दु हो अन्तर सीत ! !

यहाँ वसन्त और शीत को क्रमशः वादी और प्रतिवादी के रूप में उपस्थित किया है तथा अन्त में वसन्त की जीत दिखाई गई है।

प्रकृति को माया समझने वाले संत और भक्त कवियों ने भी काव्य में उसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कबीर ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को माध्यम बनाया है—

जैसे जलहिं तरंग तरंगिनी ऐसे हम दिखलावहिंगे ।
कहै कबीर सुख सागर हंसहि हंस मिलावहिंगे ।।

संसार की नश्वरता का प्रतिपादन भी वे अन्योक्तियों के द्वारा करते हैं- -

माली आवत देखि कै कलियां करें पुकार ।
फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बार ।।

साधना-जन्य अनुभूतियों के प्रकाशन के लिए भी प्रकृति की लीला से बढ़कर और कोई रूपक कबीर को दृष्टिगोचर नहीं होता—

अंतर कँवल प्रकासिया, ब्रह्म बास तहां होइ ।
मन भँवरा तहाँ लुबुधिया, जाणैगा जन कोइ ।।

वस्तुतः प्रकृति के संयोग से कबीर ने शुष्क-से-शुष्क विचार को सरसता और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति की स्पष्टता प्रदान कर दी है ।'

महाकवि जायसी ने प्रकृति को उद्दीपन, उपमान, प्रतीक आदि रूपों में प्रयुक्त किया है । पावस ऋतु के मादक प्रभाव की व्यंजना द्रष्टव्य है—

"रितु पावस बरसै, पिउ पावा । सावन भादौं अधिक सोहावा ।।
कोकिल बैन, पति बग छूटी । धनि निसरी जेउं बीर बहूटी ।।
चमक्कै बिज्जु, बरिस जग सोना । दादुर मोर सबद सुठि लोना ।।
रंगराती, पिय सग निस जागै । गरजै चमकै चौंक कंठ लागै ।।
सीतल बूँद, ऊँच चौबारा । हरियर सब देखिय संसारा ।।
भर भादौं दूभर अति भारी । कैसे भरौं रैनि अँधियारी ।।
मंदिल सून प्रिय अनतै बसा । सेज नाग भै धै धै डसा ।।

इसी प्रकार रानी पद्मिनी के सौन्दर्य-चित्रण में प्रकृति के उपादानों का प्रयोग भरपूर किया गया है—

भँवर केस, वह मालति रानी । विसहर लुरहिं लेहिं अरधानो ।।
बेनि छोरि झारु जौं बारा । सरग पतार होइ अँधियारा ।।

प्रेम-निरूपण में भी जायसी ने प्रकृति के क्रिया-कलापों को सादृश्य-रूप में प्रस्तुत किया है—

फूल-फूल फिरि पूछौं, जौ पहुँचौं ओहि केत !
तन निछावर कै मिलौं, ज्यौं मधुकर जिव देत !!

× × ×

हौं रे पथिक पखेरू, जेहि बन मोर निबाहु !
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु !

कहना न होगा कि यहाँ प्रेमी के लिए 'मधुकर' और 'पक्षी' का रूपक भावनाओं के उत्कर्ष में गहरा योग देता है । भक्ति-काल के अन्य कवियों ने भी भावाभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के वैभव को साधन रूप में स्वीकार किया है । तुलसी ने इष्टदेव की साज-सज्जा में प्रचलित उपमानों की झड़ी बार-बार लगाई है तथा वियोगी राम पर वर्षा, शरद् आदि का प्रभाव भी यथास्थान अंकित किया है । कृष्ण-भक्त कवियों के आराध्य

देव की तो क्रीड़ा-स्थली ही प्रकृति की रंगभूमि थी, अतः उनके काव्य में इसकी छवि सर्वत्र दृष्टिगोचर हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यहाँ हम 'सूर-सागर' से कुछ पंक्तियाँ ही उद्धृत करके संतोष लेंगे—

केकी-कोक, कपोत और खग, करत कुलाहल भारी!
मानहुँ लै-लै नाउं परस्पर, देत दिवावत गारी!!
कुंज-कुंज प्रति कोकिल कूजति, अति रस विमल बढ़ी!
मनु कुल-बधु निलय भई गृह-गृह गावति अटनि चढ़ी!
प्रफुलित लता जहां जहँ देखत तहाँ-तहाँ अलि जात!
मानहुँ बिट सबहिनि अवलोकत, पारम गनिका गात!

यहाँ सामूहिक गाली-गलौज, युवतियों के निर्लज्ज आलाप और रसिकों की छेड़-छाड़ का आयोजन प्रकृति की ओट में किया गया है, कवि ने दृश्य को मादक बनाते हुए भी उसे अश्लीलता से बचा लिया है।

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण

रीतिकाल का प्रमुख विषय शृङ्गार-चित्रण होने के कारण इस युग में प्रकृति-चित्रण को और भी अधिक प्रश्रय मिलना स्वभाविक है। बिहारी, सेनापति, देव, पद्माकर आदि कवियों ने प्रकृति को अनेक प्रकार से चित्रित किया है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

लपटी पहुप पराग-पट सनी स्वेद मकरन्द।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायुगति मंद।
सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं ह्वै, वा जमना के तीर॥

—बिहारी

भौंरन को गुंजन बिहार बन कुंजन में, मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै 'पद्माकर' गुमान हूँ ते मान हूँ प्राण हू तं प्यारो मन-भावनो लगत है।
मोरन को सोर घन-घोर चहुँ ओरन, हिंडोरन को वृन्द छवि छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेह बरसावन में, सावन में झूलिबो सुहावनो लगत है।

—पद्माकर

इसी प्रकार 'ग्वाल' कवि का बसन्त वर्णन देखिए—

सरसी के खेत की बिछायत बनी, तामें खरी चांदनी बसन्ती रति कंत की।
सोने के पलंग पर वसन वसन्ती साज, सोन जूहि माला हालें हिया हुलसन्त की।

× × ×

राग मे बसन्त बाग-बाग को बसन्त फूलो, त्याग में बसन्त क्या बहार है बसन्त की।

ध्यान रहे, यहाँ प्रकृति-वर्णन—या कहिए, ऋतु-वर्णन किया गया है, किन्तु स्वाभाविकता का विशेष ध्यान नहीं रखा गया। सोचिए, सरसों के खेत में सोने का पलंग कहाँ से आवेगा?

आधुनिक युग

आधुनिक युगीन हिन्दी-काव्य में प्रकृति की छटा का चित्रण पर्याप्त सूक्ष्मता, सरसता एवं विशदता से हुआ है। विशेषतः छायावादी काव्य तो प्रकृति के वैभव से इतना अधिक रंजित है कि कुछ विद्वानों ने प्रकृति-वर्णन के विशेष प्रकार को ही छायावाद समझ लिया था। यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

स्वतंत्र रूप में—

उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।

—प्रसाद

मानवीकरण—

पगली, हाँ सम्हाल ले तेरा, छूट पड़ा कैसे अंचल।
देख बिखरती मणिराजी, अरी, उठा ओ बेसुध चंचल॥

—प्रसाद

× × ×

सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी॥

—प्रसाद

अरे, कौन तुम दमयंती सी हो तरु के नीचे सोई।
हाय! तुम्हें भी त्याग गया, क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई॥

—पंत

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह सध्या सुन्दरी परी सी,
धीरे, धीरे, धीरे॥

—निराला

प्रतीक रूप में—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ।
किसी फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ!!

—महादेवी वर्मा

उपमान रूप में—

नील परिधान बीच सुकुमार, खिल रहा मृदुल अधखिला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।

यहाँ हम और अधिक उदाहरण न देकर इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि

आधुनिक काव्य में प्रकृति और मानव दोनों एकाकार हो गए हैं। प्रकृति में मानव के तथा मानव में प्रकृति के रूप-वैभव का दर्शन सर्वत्र उपलब्ध होता है। प्रकृति आधुनिक कवियों का कथ्य है, कथन है और कथन का साधक है। ब्रह्म के विराट् रूप का प्रतिपादन करना हो, या जीवन-दर्शन सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समझाना हो अथवा अपने किसी गुप्त प्रेम के किसी गोपनीय तथ्य की व्यंजना करनी हो, हमारे काव्य-रचयिताओं ने प्रकृति को सहायता के लिए आमंत्रित किया है।

अस्तु, हिन्दी कवियों के प्रकृति-प्रेम का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा कि उन्होंने प्रकृति के वैभव के समक्ष युवती बालाओं के मन-मोहक सौन्दर्य तक को ठुकरा दिया—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया !
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ! !

—पंत

: : उनचास : :

हिन्दी-काव्य में नारी (नायिका) रूप

१. साहित्य और नारी।

२. नारी का आचार्यों द्वारा वर्गीकरण एवं विश्लेषण।

३. भारतीय समाज में नारी की स्थिति और उसका साहित्य पर प्रभाव।

४. 'राधा' के विभिन्न रूप—नारी रूप के प्रतीक : (क) विद्यापति की राधा, (ख) सूरदास की राधा, (ग) रीतिकालीन कवियों की राधा, (घ) द्विवेदी युगीन कवियों की राधा।

५. प्रेमाख्यानकों की नायिका।

६. रासो काव्यों की नायिका।

७. स्वच्छन्द-प्रेमी कवियों की नायिका।

८. उपसंहार।

यदि हम एक ऐसे विषय की खोज करें जिसका प्रयोग विश्व-काव्य में सर्वाधिक हुआ, तो वह विषय हमारे अनुमान से नारी-वर्णन ही सिद्ध होगा। विश्व-काव्य का सर्व प्रचलित रस—रसराज शृङ्गार है, तो नारी उसी रसराज के प्राणों की आधार है। नारी की विमोहिनी शक्ति युग-युग से काव्य-जगत पर एकछत्र शासन करती रही है और संभवतः भविष्य में भी करती रहेगी। वैदिक साहित्य में उसके रूप-वैभव के उन्मादक प्रभाव की अभिव्यक्ति उस उर्वशी के रूप में हुई है, जिसके वियोग में पुरूरवा ने अपने आपको हिंस्र भेड़ियों के सम्मुख डालकर आत्महत्या करने की सोची थी। रामायण में उसके सौन्दर्य की दीप्ति जनक-तनया के रूप में हुई है, जिसकी प्राप्ति के लिए दूर-दूर के नरेश धनुष-यज्ञ में उपस्थित हुए थे। महाभारत में उसने उस द्रौपदी का रूप धारण किया, जिसके एक कटु हास्य ने अठारह अक्षौहिणी योद्धाओं के नाश का बीज बो दिया। आगे चलकर संस्कृत नाटक-साहित्य में उसने वासवदत्ता, शकुन्तला, वसन्तसेना, मालती, रत्नावली, दमयन्ती आदि के विभिन्न रूपों में अपने सौन्दर्य के जादू एवं भाव-भंगिमाओं की शक्ति का परिचय दिया। गद्य-साहित्य में एक ओर संसार की समस्त साधना, पवित्रता एवं दिव्यता को लेकर महाश्वेता और कादम्बरी के रूप में अवतरित हुई, तो दूसरी ओर उसने 'दशकुमार चरित' की काम-मंजरी के रूप में विश्व की समस्त कुटिलता का भी प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया। साहित्य में नारी के इन अनन्त रूपों, उसके अद्भुत प्रभाव और उसकी अपार शक्ति को देखते हुए कामायनीकार के शब्दों में यही स्वीकार करना पड़ता है—

हे अनन्त ! रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता !

सम्भवतः नारी-रूप की इसी विचित्रता को देखकर हमारे काव्य-शास्त्रियों के हृदय में उसका विश्लेषण करने की भावना प्रस्फुटित हुई। भरत-मुनि ने सर्व-प्रथम उसे

नायिका-पद से विभूषित करते हुए गुण-शील के आधार पर उसके विभिन्न रूपों का आख्यान किया, जो परवर्ती युग में इतना लोकप्रिय विषय सिद्ध हुआ कि धनंजय, विश्वनाथ, भानुदत्त आदि ने अपने ग्रन्थों में सबसे अधिक विस्तार नायिका-भेद को ही दिया है, आगे चलकर हिन्दी के कवियों ने भी उसके 'नखशिख' एवं विभिन्न रूपों को लेकर स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना की। नायिका के इतने भेद किए गए कि उनकी संख्या दो हजार से भी ऊपर पहुँच गई, अतः नायिका-भेद निरूपण को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय आचार्य और कवि दोनों के लिए ही नारी-रूप की मीमांसा एक प्रिय विषय रहा है।

उपर्युक्त निष्कर्ष से एक भ्रान्ति पैदा हो जाने की सम्भावना है। इससे यह धारणा बनती है कि भारतीय साहित्य में नारी को बहुत अधिक सम्मान प्राप्त हुआ है, जिसका अर्थ है भारतीय समाज में नारी को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त होगा; क्योंकि साहित्य समाज का ही प्रतिविम्ब माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक युगीन भारतीय नारी को समाज और साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है, किन्तु परवर्ती युगों में स्थिति इसके ठीक विपरीत रही। वैदिक युग की सहचरी रामायण-युग में "छायेव अनुगता सदा" (छाया की भाँति अनुचरी) हो गई। पुरुषोत्तम राम ने उसकी स्थिति सुधारने के लिए एक-पत्नीव्रत का आदर्श स्थापित किया था, पर निरंकुश पुरुष वर्ग को वह स्वीकार्य नहीं हुआ। महाभारत-युग में आकर तो उसका मूल्य एक चल सम्पत्ति जितना ही रह गया; शल्य उसे बहिन के रूप में बेच सकता है; गांधार-नरेश द्रव्य के लोभ से उसे किसी चक्षुहीन की पत्नी बनने को विवश कर सकता है; पांडु जैसे पुरुषत्वहीन पति की आज्ञा से वह दुराचार करने को विवश हो सकती है; भीष्म उसका अपने भाइयों के लिए अपहरण कर सकता है; भाइयों की सहमति से वह पाँच पतियों की सह-भोग्या बन सकती है; आवश्यकता पड़ने पर उसे जुए के दाँव पर भी लगाया जा सकता है और जरासंघ जैसे शासक के संग्रहालय में वे चिड़ियों की भाँति रहकर अन्त में किसी अन्य विजेता की सम्पत्ति बन सकती हैं। वस्तुतः इस युग में भारतीय नारी के निजी व्यक्तित्व, निजी आदर्श और निजी लक्ष्य सदा के लिए पुरुष के चरणों पर कुंठित हो गए। आगे चलकर बाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दा आदि के प्रचलन ने तो उसे उस निर्जीव यन्त्र का रूप दे दिया, जो पुरुष के मनोरंजन एवं वंश-वृद्धि का साधन-मात्र है।

भारतीय साहित्य में भी नारी के सामान्य रूप का ही विवेचन, विश्लेषण एवं चित्रण अधिक हुआ है, उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता का विकास प्रायः नहीं मिलता। विशेषतः हिन्दी काव्य में तो हम उसे व्यक्ति की अपेक्षा जाति के रूप में ही अधिक पाते हैं। उसके अंग-प्रत्यंगों के स्थूल रूप की व्याख्या किसी मशीन के निर्जीव पुर्जों की भाँति ही बारम्बार हुई है, उसकी सूक्ष्म चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का अंकन प्रायः नहीं के बराबर है। अतः विभिन्न कवियों के नारी-रूपों में भेद करना कुछ कठिन है, किन्तु फिर भी निजी दृष्टिकोण एवं देश-काल के अनुसार उसमें परस्पर थोड़ा अन्तर अवश्य मिलता है।

वैसे हिन्दी में राधा, पद्मावती, राजमती, नागमती, उर्मिला, यशोधरा, अज्ञात-नामा 'प्रेयसी' आदि अनेक नायिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु उनमें सर्वाधिक चित्रण कृष्ण की बाल-सहेली वृषभानुजा राधा का ही हुआ है। अकेले 'राधा' नाम में विद्यापति से लेकर हरिऔध तक अनेक कवियों की अनेक नायिकाओं का समाहार हो जाता है। विद्यापति, सूर, नन्ददास, बिहारी, देव, पद्माकर, भारतेन्दु, हरिऔध आदि न जाने कितने कवियों ने उसका चित्रण किया है, फिर भी उसका रूप नवीन है, उसकी आभा अम्लान है और उसका अनुराग अखण्ड है। अतः हम सबसे पहले हिन्दी-काव्य की प्रतिनिधि नारी के रूप में राधा के ही विभिन्न रूपों का परिचय देना उचित समझते हैं।

विद्यापति की राधा

विद्यापति की राधा के प्रथम दर्शन काव्य-मंच पर हम उस समय प्राप्त करते हैं, जबकि वह वयःसंधि की अवस्था को पार कर रही थी। उसकी इस अवस्था का चित्रण कवि ने रुचिपूर्वक किया है—

खने-खन नयन कोर अनुसरई, खने-खन वसन धूलि तन भरई।
खने-खन दसन छटा छुट हास, खने-खन अधर आगे कर बास।।
चउँकि चले खने-खन चलु मन्द, मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।
हिरदय मुकुल हेरि-हेरि थोर, खने आंचल दए खने होए भोर।।

धीरे-धीरे वह उस यौवन में प्रवेश करती है जो सौन्दर्य, मद, अल्हड़ता एवं उच्छृङ्खलता से भरपूर है। प्रणय-भावनाओं का प्रवेश भी उसके जीवन में होता है, किन्तु शीतल मन्द समीर की भाँति चुपचाप नहीं, अपितु तूफान की तीव्रगति से अट्टहास करते हुए। उसके धार्मिक विश्वास, सामाजिक अंकुश एवं पारिवारिक नियंत्रण उस तूफान के प्रथम झोंकों में क्षत-विक्षत हो जाते हैं। संसार का कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं, जो इस प्रणय-विभोर नारी को अपने पथ से विचलित कर सके। अन्य नायिकाओं की भाँति वह अपने प्रणय को गुप्त रखना नहीं जानती; वह उसकी घोषणा स्पष्ट रूप में कर देती है—

सामर सुन्दर ए बाट आएल, ते मोरि लागलि आँखि

प्रियतम से संकेत-स्थल पर मिलने की प्रतिज्ञा को पूरी करने में वह किसी से भय नहीं खाती—

घर गुरुजन डर न मानब, वचन चूकब नाँहि।

किन्तु उसके साहस की विलक्षणता का परिचय तो तब मिलता है, जबकि जेठ के मध्याह्न में वह कड़कड़ाती हुई धूप, धधकती हुई जमीन और घृणा व ईर्ष्या से जलती समाज की आँखों की कोई परवाह न कर मनोरथ-पूर्ति के लिए आगे बढ़ ही जाती है—

तपन के ताप तपत भेल महीतल तातल बालू दहन समाना।
चढ़ल, मनोरथ भामिनी चलु पथ, ताप तपत नहीं जाना।।

अर्थात् सूर्य की तपन के ताप से महीतल तप्त हो रहा है, गरम बालू आग के समान जल रही है किन्तु नायिका अपने मनोरथ रूपी रथ पर चढ़कर चल पड़ी, जलन का उसे कोई पता नहीं। विद्यापति की राधा का दुर्भाग्य यह है कि उसका यह अपूर्व साहस भी प्रणय-स्वप्नों को चिरस्थायी बनाने में सफल नहीं हो सका। कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर भ्रमरराज किसी अन्य कलिका की ओर आकर्षित हो जाते हैं और अभागी नायिका के पास केवल निराशा, वेदना और ग्लानि की पूंजी शेष रह जाती है—

कुल कामिनी छलौं, कुलटाँ भए गेलौं, तिन कर वचन लोभाई !
अपने कर हम मूँड मूँडाएल, कामु से प्रेम बढ़ाई ! !

अर्थात्—"कुल-कामिनी थी, अब कुलटा हो गई हूँ। उसके वचनों से लुभाकर मैंने अपने हाथ से ही अपना सिर मूंड लिया ! हाय ! कन्हैया से प्रेम करके...." वस्तुतः विद्यापति की नायिका यहाँ एक उच्छृङ्खल प्रेमिका के रूप में चित्रित हुई है, जिसे नायक की वंचकता के कारण अन्त में निराश होना पड़ता है।

सूरदास की राधा

सूरदास की राधा काव्य-मंच पर यौवन की सौन्दर्य-श्री से लदकर एकाएक उपस्थित नहीं हो जाती, अपितु उसका सर्वाङ्गीण विकास धीरे-धीरे होता है। उसका प्रणय भी विद्युत की भाँति उदित होकर विलीन नहीं हो जाता, अपितु वह साहचर्य के योग से धीरे-धीरे विकसित होता है। उसके माता-पिता के लिए कृष्ण अपरिचित नहीं हैं, अतः उसका कृष्ण से मिलन अबाध गति से चलता रहता है। वस्तुतः इन परिस्थितियों में विकसित प्रेम में समुद्र की-सी गहराई तो होती है, किन्तु उसमें वे उत्ताल तरंगें नहीं होतीं, जो एक बार में ही हृदय को आत्म-समर्पण के लिए विवश कर दें, उसकी गति में वह अधीरता भी नहीं कि राह में आने वाली प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक बाधा को कुचलती हुई वह आगे बढ़ जाए। वियोग में भी राधा का हृदय दीपक की लौ की भाँति मंद-मंद गति से धधकता है; यही कारण है कि जहाँ विद्यापति की राधा प्रिय-मिलन के लिए स्वर्ग तक की दौड़ लगाने के लिए तैयार है, वहाँ सूरदास की राधा दो-चार कोस की दूरी को भी लाँघ पाने में असमर्थ है। किन्तु जहाँ विद्यापति की नायिका का हृदय बरसाती नाले की भाँति उफनकर शीघ्र ही सूख जाता है, वहाँ सूर की राधा का प्रणय उसके समस्त जीवन की गुप्त निधि बनकर हृदय की गहराई में बैठ जाता है।

रीतिबद्ध कवियों की नायिका

रीतिबद्ध शृंगार कवियों की नायिका का कोई एक रूप नहीं है। आवश्यकतानुसार वह प्रेयसी भी है और पत्नी भी है, स्वकीया भी और परकीया भी। वस्तुतः नारी के सभी रूपों और सभी अवस्थाओं में उसका चित्रण हुआ है। स्वकीया के रूप में उसे एक रसिक, रूप-लोभी, शठ नायक पति के रूप में प्राप्त होता है; यौवन एवं सौंदर्य के प्रथम प्रकाश में वह उसके रूप वैभव का माधुर्य लूटता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी

द्युति मंद पड़ती जाती है, नायक किसी और का बन जाता है। फलतः विवश पराधीन नारी को—पत्नी को—अपने हाथ की चार चूड़ियों (सौभाग्य-चिन्ह) पर ही संतोष करना पड़ता है।

दूसरे रूप में वह विवाहिता परकीया है—अतः उसे प्रेयसी न कहकर व्यभिचारिणी कहना उपयुक्त होगा। उसका व्यभिचार रूपी प्रेम भी स्थायी नहीं होता था, कुछ दिनों तक संकेत-स्थलों पर पहुँचने वाली परकीया को अंत में विप्रलब्धा—वंचिता—बनने को विवश होना पड़ता था। वस्तुतः पुरुष वर्ग की विलासिता के कारण पत्नी और प्रेयसी दोनों रूपों में उसकी स्थिति विषम थी। यह भी एक ध्यान देने की बात है कि रीति-कालीन काव्य में अविवाहिता प्रेयसियों के प्रेम के चित्रण का अभाव है—संभवतः इसका कारण बाल-विवाह का प्रचलन है।

द्विवेदीयुगीन राधा

द्विवेदीयुगीन राधा समाज-सेविका के सब गुणों से सम्पन्न होकर उपस्थित होती है। वह अपने व्यक्तिगत प्रेम की विश्व-हित के लिए बलि दे देती है, किन्तु अनुकूल वातावरण एवं घटनाओं के अभाव में; अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विकास असंगत है। द्विवेदी युग के कवियों ने गांधी-युग के आदर्शों को महाभारत युग की नारी पर थोपने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

प्रेमाख्यानकों की नायिका

राधा के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य जगत् की अन्य नायिकाओं में प्रेमाख्यानों की नायिकाओं—पद्मावती, मधुमालती, हंसावती, इन्द्रावती आदि—का महत्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक राधा की अपेक्षा प्रेमाख्यानों की प्रेयसियाँ अधिक सौभाग्यशालिनी हैं। वे पुरुष को अनायास ही—विवाह के केवल एक धागे की कीमत पर या दूतिकाओं द्वारा भेजे गए एक सन्देश के बल पर ही—प्राप्त नहीं हो जातीं, उनकी प्राप्ति के लिए नायक को प्राणों की बाजी भी लगानी पड़ती है, अतः इतने प्रयत्न से प्राप्त सुन्दरी को नायक एकाएक नहीं त्याग सकता। अस्तु, वे अपने जीवन के अन्त तक अपने प्रिय का सान्निध्य और प्रेम प्राप्त करती रहती हैं।

जहाँ अन्य भारतीय काव्यों में पुरुष को नारी से अधिक कामुक एवं विलासी प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ नायक से अधिक कामवती दृष्टिगोचर होती हैं। जायसी की पद्मावती के प्रेम के मूल में भावना की अपेक्षा वासना की प्रेरणा अधिक है।

सुनु हीरामन कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई॥
देस-देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आंख लगावहिं॥
जोबन मोर भयउ जल गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥

× × ×

जोबन अस मैमन्त न कोई। नवै हस्ति जो आंकुस होई॥

कँवल भँवर ओही बन पावै । को मिलाइ तन तपनि बुझावै ।।

'पद्मावती' के प्रेम में हृदय का आवेग कम है, यौवन का ज्वार अधिक; उसमें मन की प्यास की अपेक्षा शरीर की तपन बुझाने की लालसा ही अधिक व्यंजित हुई है ।

अस्तु, प्रारम्भ में ये नायिकाएँ कामोन्माद, रूप-गर्व एवं स्वार्थपरता से ग्रस्त दिखाई पड़ती हैं, किन्तु आगे चलकर नायक के त्याग एवं बलिदान से इनमें भी सच्चे प्रेम का विकास हो जाता है ।

'रासो' काव्य की राधा

पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो आदि काव्यों की नायिकाएँ सामन्तवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं । वे अपने यौवन एवं सौंदर्य की प्रसिद्धि के बल पर किसी नरेश या राजकुमार के लोभ की वस्तु बन जाती हैं । वे किसी प्रकार—युद्ध या बलात् अपहरण के द्वारा—उन्हें प्राप्त कर लेते हैं । रंगमहलों में पहुँचकर उनका जीवन सामन्त की इच्छाओं का अनुवर्ती बन जाता है । जब तक उनमें यौवन का आकर्षण रहता है, उनके जीवन में चाँदनी रातें रहती हैं, किन्तु नायक के दूसरा विवाह कर लेते ही या प्रौढ़ावस्था के साथ इनका भाग्य-दीपक बुझ जाता है ।

अपने रण-बाँकुरे पति के हृदय पर चिर अधिकार पाने की कल्पना तो ये कर ही नहीं सकतीं; अपने सौन्दर्य, यौवन, अनुनय-विनय तथा चाटुकारिता के बल पर रंगमहल की अनेक सपत्नियों के बीच-यदा-कदा-उसका रात्रि भर के लिए सहवास प्राप्त कर लेना ही इनके लिए बहुत है । हाँ, यदि अपनी अल्हड़ता के कारण वे कभी अपने शेखी बघारने वाले योद्धा पति के सम्मान में कोई चूक कर बैठती हैं, या उसकी किसी डींग का खंडन कर बैठती हैं, तो बीसलदेव की पत्नी राजमती की भाँति उन्हें इसका कड़ा दंड—दीर्घ वियोग—भी सहन करना पड़ता है ।

वस्तुत: जायसी के बादल के शब्दों में—इन सामंत पतियों के लिए नारी का मूल्य तलवार के एक वार से अधिक नहीं है ।

स्वच्छन्द प्रेमी कवियों की नायिका

मध्यकालीन स्वच्छन्द प्रेमी कवियों घनानन्द, बोधा आदि—आधुनिक युगीन छायावादी कवियों का नायिका के प्रति लगभग एक-सा ही दृष्टिकोण है; दोनों युगों के ही कवियों ने नायिका के व्यक्तित्व के सूक्ष्म गुणों को अधिक महत्व दिया है—

लाजनि लपेटी, चितवनि भेद भाय भरी,
लसति ललित लाल चख तिरछानि में ।
छवि को सदन गोरो वदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसुक्यानि में ।

× × ×

अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनों रूप अबै धर च्वै ।।

× × ×

: : इक्यावन : :

हिन्दी-साहित्य में हास्य रस

१. जीवन और साहित्य में हास्य का महत्व।

२. हास्य और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

३. हास्य रस की शास्त्रीय मीमांसा।

४. हास्य रस के भेद।

५. हास्य का रस-राजत्व।

६. भारतीय साहित्य में हास्य की परम्परा।

७. आरम्भिक एवं मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में हास्य-वर्णन।

८. आधुनिक हिन्दी काव्य में हास्य—(क) कविता में, (ख) नाटक-साहित्य में, (ग) कथा-साहित्य में, (ब) निबन्ध-साहित्य में।

९. उपसंहार।

जीवन और साहित्य में हास्य के उपयोग और महत्त्व को अनेक स्वदेशी और विदेशी लेखकों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। डॉ० गुलाबराय ने एक स्थान पर लिखा है—"जो मनुष्य अपने जीवन में कभी नहीं हँसा, उसके लिए रंभा-शुक-संवाद की शब्दावली में कहना पड़ेगा—'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्'। वह मनुष्य नहीं। पुच्छ-विषाण-हीन द्विपद पशु है, क्योंकि हँसना मनुष्य का विशेषाधिकार है। हिन्दी में हास्य रस पर शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत करनेवाले डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी ने हास्य की उपमा लवण से देते हुए लिखा है—"हँसना मनुष्य का स्वाभाविक लक्षण है। भोजन में विविध भाँति के व्यंजनों का समावेश होने पर भी यदि उसमें लवण का अभाव हो, तो सारा भोजन लावण्यहीन फीका बन जाता है; उसी प्रकार जीवन में समस्त वैभव के होते हुए भी यदि हँसी का अभाव हो तो जीवन भार-स्वरूप बन जाता है।" हमारे विचार से हास्य को लवण की भाँति बताकर उसके साथ पूरा न्याय नहीं किया गया। लवण से कई बार तिक्तता भी आ जाती है, जबकि हास्य तो मिश्री की भाँति माधुर्यपूर्ण स्वाद का दाता सिद्ध होता है।

हास्य के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व में अनेक उपयोगी गुणों का विकास होता है। सबसे पूर्व शरीर-विज्ञान की दृष्टि से सोचें तो यह स्वास्थ्य को सुधारने वाला सिद्ध होता है। श्री केलकर के शब्दों में "जिस समय मनुष्य नहीं हँसता, उस समय श्वासोच्छ्वास की क्रिया सीधी और शांत रीति से होती है और हँसने के समय उसमें एकदम व्यत्यय हो जाता है। परन्तु उस व्यत्यय का परिणाम श्वासोच्छ्वास की इन्द्रियों और शरीर के रक्त-प्रवाह पर अच्छा होता है।" डॉ० चतुर्वेदी ने स्पष्ट रूप में घोषित किया

है कि यदि संसार के लोगों को यह बात अच्छी तरह से मालूम हो जाय कि हास्य का हमारे स्वास्थ्य पर कितना अच्छा प्रभाव पड़ता है, तो फिर आधे से अधिक डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों आदि के लिए मक्खियाँ मारने के सिवा और कोई काम ही न रह जाय। हास्य वास्तव में प्रकृति की सबसे बड़ी पुष्टई है। हास्य से पढ़कर बल-वर्द्धक और उत्साह-वर्द्धक और कोई चीज हो ही नहीं सकती। हास्य से ही हमारे शरीर में नवीन जीवन और नवीन बल का संचार होता है और हमारे आरोग्य की वृद्धि होती है। (हिन्दी साहित्य में हास्य रस; पृ० १३) हास्य-प्रिय व्यक्तियों के स्वभाव में एक ओर कोमलता और सरलता आती है तो दूसरी ओर उनमें कष्ट-सहन की क्षमता का भी विकास होता है। कार्लाइल (Carlyle) ने एक स्थान पर लिखा है—"No man who has once wholly and heartily laughed can be alogether irreclaimably bad. In cheerful, there is no evil".
अर्थात् जिस व्यक्ति ने एक बार सच्चे हृदय से खुलकर हँस लिया, वह कदापि अत्यन्त बुरा नहीं हो सकता। प्रसन्न-चित्त व्यक्तियों के हृदय में कोई बुराई नहीं रह सकती।

समाज की बुराइयों एवं त्रुटियों के निराकरण में भी हास्य एक अत्यन्त उपयोगी तत्व सिद्ध होता है। जाने हम अपनी कितनी बुराइयों को समाज की हँसी से बचने के लिए छिपाते हैं। समाज की अनेक असंगतियों पर हास्य का भय अप्रत्यक्ष रूप से रोक लगाए रखता है। हिन्दी के प्रसिद्ध हास्य-लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने हास्य के इस महत्व पर हास्यमयी शैली में अपने हास्योत्पादक विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"यह वह अधिकार है, जो बड़े-बड़ों के मिजाज चुटकियों में ठीक कर देता है। यह वह कोड़ा है, जो मनुष्य को सीधी राह से बहकने नहीं देता। मनुष्य ही नही, धर्म और समाज का भी सुधारनेवाला है तो यही है....। स्पेन के सरवैण्टीज़ ने क्विकजोट की रचना करके यूरोप-भर के खुदाई फौजदारों की हस्ती मिटा दी। इंगलैण्ड के शेक्सपीयर ने अपने शाइलॉक द्वारा सूदखोरों की हुलिया बिगाड़ दी। फ्रांस के मौलियर ने अपने पैंके मरफूरिये नामक चरित्रों से तत्वज्ञानियों की खिल्ली उड़वाकर आरिस्टॉटिल से मत-भेद रखनेवालों को फाँसी के तख्ते पर से उतार लिया।" (हास्य रस, पृ० १२)

जिस हास्य रस का व्यक्ति के जीवन एवं समाज के विकास में इतना उपयोग है उसका महत्व साहित्य में भी न्यून किस प्रकार हो सकता है। क्या कला की दृष्टि से और क्या उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य में हास्य का महत्व अनुपमेय है? हास्य लेखकों की महत्ता पर विचार करते हुए पाश्चात्य लेखक थैकरे ने लिखा—"हास्य-प्रिय लेखक आपमें प्रीति, अनुकम्पा एवं कृपा के भावों को जागृत करके उनको उचित दिशा की ओर प्रवाहित करता है। असत्य, दंभ तथा कृत्रिमता के प्रति घृणा और कमजोर, दरिद्र, दलित और दुःखी पुरुषों के प्रति कोमल भावों को उदय करने में सहायक होता है। हास्य-प्रिय साहित्यकार निश्चित रूप से ही उदारशील होते हैं। वह तुरन्त ही सुख-दुःख से प्रवाहित हो जाते हैं वे अपने निकटवर्ती लोगों के स्वभाव को भली-भाँति समझने लगते हैं, एवं उनके हास्य, प्रेम, विनोद और अश्रुओं से सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं।" वस्तुतः हास्य व्यक्ति, जीवन और समाज में आनन्द का संचार

करने के साथ-साथ उसमें स्वस्थ, नैतिक एवं उपयोगी भावनाओं को भी विकसित करता है।

हास्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

हास्य की उत्पत्ति एवं उसके प्रेरक तत्त्वों पर हॉब्स, हरबर्ट स्पेन्सर, बर्गसाँ, मैक्डूगल, फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने सूक्ष्म रूप से विचार किया है। हॉब्स महोदय के विचारानुसार हँसी अपने गौरव की अनुभूति से उद्भूत प्रसन्नता का प्रकाशन है। जब हम दूसरों की मूर्खता को देखते हैं तो उससे हमारी अपनी महत्ता का बोध होता है—इसी से हमें हँसी आ जाती है। यह मत भ्रांतिमूलक है। कई बार मनुष्य स्वयं अपनी भूल पर हँस पड़ता है, अतः ऐसी स्थिति में हॉब्स (Hobbes) के मत को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? स्पेन्सर ने असंगति के निरीक्षण को हास्य का प्रेरक माना है। किन्तु सभी असंगतियाँ हास्य की सृष्टि में असमर्थ होती हैं, अतः इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। हैनरी बर्गसाँ ने हास्य के तीन कारण बताए हैं (१) हास्य के आलम्बन का समाज-प्रिय न होना, (२) आलम्बन की अचेतना या असावधानी और (३) आलम्बन की अस्वाभाविक क्रियाएँ। मैक्डूगल ने हँसी को अति दुःख से बचानेवाली एक स्वाभाविक वृत्ति बताया है। फ्रायड ने सभी वृत्तियों का मूल काम को बताया है, अतः हास्य को भी उन्होंने इसी से सम्बन्धित माना है। डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी ने उपर्युक्त मतों पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में हास्य के आलम्बन के इन पाँच रूपों का उल्लेख किया है—(१) शारीरिक गुण, (२) मानसिक गुण, (३) घटना, कार्य-कलाप, (४) रहन-सहन, (५) शब्दावली। डा० चतुर्वेदी का यह विश्लेषण अस्पष्ट-सा है। शारीरिक गुण, मानसिक गुण, घटना आदि तो सभी भावों—करुणा, प्रेम के प्रेरक तत्त्व होते हैं; फिर हास्य रस के आलम्बन में कौन-सी विशेषता होती है—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया। हमारे विचार से हास्य के आलम्बन में स्वाभाविकता, असंगति एवं विद्रूपता का एक ऐसा मधुर समन्वय होता है कि वह न तो इतना तीखा होता है कि उससे अनिष्ट की आशंका हो जाय और न ही इतना कोमल होता है कि वह करुणोत्पादक हो। उदाहरण के लिए यदि एक भिखारी ने अपनी देह को शीत से बचाने के लिए अस्त-व्यस्त कपड़े पहन रखे हों, तो उससे हास्य का उद्रेक न होकर करुणा की उत्पत्ति होगी, जबकि एक धनी पुरुष ने यदि कोट उलटा पहन रखा हो तो वह हास्योद्रेक का कारण हो सकता है। हास्य के स्वरूप की मीमांसा विभिन्न काव्य-शास्त्रियों ने भी की है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

हास्य रस की शास्त्रीय मीमांसा

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भरतमुनि ने चार रसों को प्रमुख माना है—शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स। उन्होंने इन रसों से ही क्रमशः चार अन्य रसों की उत्पत्ति मानी है—हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक। इस प्रकार भरतमुनि के विचारानुसार हास्य की उत्पत्ति शृङ्गार से हुई। आगे चलकर अग्निपुराण के रचयिता ने भी भरत

का ही समर्थन किया है, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने हास्य को एक स्वतन्त्र रस स्वीकार किया है, जो उचित है। विभिन्न आचार्यों ने हास्य के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) **भरतमुनि**—भरत के विचारानुसार दूसरों की चेष्टा के अनुकरण से 'हास' उत्पन्न होता है—"स्मितहासविहसितैरभिनेयः" (ना० शा० ७।१०)

(२) **अभिनव गुप्त**—अभिनव गुप्त ने हास्य के विभावों के मूल में अनौचित्य को कारण रूप में स्वीकार किया है—"अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ संभाव्यते।"

(३) **धनंजय**—धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में हास्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—"विकृताकृति वाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा। हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्य-स्त्रिप्रकृतिः स्मृतः॥"—चतुर्थ प्रकाश। ५७। अर्थात् स्वयं या दूसरे के आधार पर वाणी तथा वेष में विकार देखकर हास की उत्पत्ति होती है। हास इस स्थायी भाव का परिपोष हास्य रस कहलाता है। इस हास्य रस की तीन प्रकृतियाँ या तीन भेद होते हैं।

(४) **विश्वनाथ**—विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में हास्य के सम्बन्ध में लिखा है—"विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्। हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः।" अर्थात् विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि के नाट्यों से हास्य रस का आविर्भाव होता है। इसका स्थायी भाव हास है, वर्ण शुक्ल और अधिष्ठातृदेवता प्रमथ (शिवगण) हैं।

उपर्युक्त अंशों से स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों ने हास्य के मूल में मुख्यतः अनु-कृति एवं विकृति ही स्वीकार किया है।

हास्य रस के भेद

धनंजय ने हास्य की तीन प्रकृतियाँ—ज्येष्ठ, मध्यम और अधम—मानते हुए उसके छः भेद बताए हैं—(१) स्मित हास्य वह है जहाँ खाली नेत्र ही विकसित हों। (२) हसित वह है जहाँ दाँत कुछ दिखाई दें। (३) मधुर स्वर में हँसना विहसित कह-लाता है। (४) सिर को हिलाकर हँसना अपहसित कहलाता है। (५) आँखों में आँसू भर आवें, इस प्रकार हँसना अपहसित होता है और (६) अंगों को फेंककर हँसना अति-हसित कहलाता है। इनमें दो-दो प्रकार के हसित क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम प्रकृति के होते हैं। संस्कृत के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने इस विभाजन को स्वीकार किया है, किन्तु हिन्दी के आचार्य केशवदास ने अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए इन चार भेदों का उल्लेख किया है—(१) मंदहास, (२) कलहास, (३) अतिहास और (४) परिहास।

भारतीय आचार्यों ने हास्य रस के भेदोपभेदों का उल्लेख हास्य के आश्रय को ध्यान में रखकर किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने हास्य के प्रभाव की दृष्टि से ये पाँच भेद किए हैं—(१) स्मित (Humour), (२) वाग्-वैदग्ध (Wit), (३) व्यंग्य (Satire), (४) वक्रोक्ति (Irony) और (५) प्रहसन (Farce)। इन भेदोपभेदों के विस्तृत परिचय के लिए डॉ० चतुर्वेदी का शोध-प्रबन्ध—"हिन्दी साहित्य में हास्य रस" पठनीय है।

हास्य का रस-राजत्व

शृङ्गार के रस-राजत्व से आकर्षित होकर विभिन्न विद्वानों ने भी अपने-अपने प्रिय रसों को इस पद का अधिकारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हास्य रस के समर्थकों ने भी ऐंसा किया है, जिनमें दो नाम उल्लेखनीय है—(१) श्री केलकर, (२) श्री बरसानेलाल चतुर्वेदी। हमारी समझ में हास्य को रस-राज सिद्ध करने का प्रयास बाल-शिशु को सम्राट् पद पर प्रतिष्ठित करने के तुल्य है। शृङ्गार को रस-राज की पदवी मुख्यतः उसकी इस तीन विशेषताओं के कारण प्राप्त है—एक तो उसका आधार वह काम-प्रवृत्ति है, जिसका उन्मेष एवं विकास पशु-पक्षियों तक में भी पाया जाता है। दूसरे, शृङ्गार रस में सभी संचारी भावों का समन्वय प्रसंगानुकूल हो सकता है। तीसरे, शृङ्गार रस का प्रत्येक अवयव—आलम्बन की कोई चेष्टा, आश्रय की कोई उक्ति, संचारी भाव की एक लहर और भाव-दशा की कोई एक परिस्थिति भी पाठक के हृदय को आकर्षित एवं तन्मय करने में समर्थ है। ये विशेषताएँ हास्य रस में कहाँ ? हास्य का संचार केवल मनुष्यों तक सीमित है, इसे तो हास्य रस के समर्थकों ने भी स्वीकार किया है। डॉ० बरसानेलाल का यह तर्क "शृङ्गार रस का आनन्द लेनेवाली इन्द्रियाँ पशुओं में भी पाई जाती हैं, लेकिन हास्य का सम्बन्ध मन से तथा बुद्धि से है"—इसके क्षेत्र की संकुचितता ही सिद्ध करता है। हास्य के संचारी भावों की संख्या भी बहुत सीमित है तथा हास्य में केवल विषय-वस्तु या आलम्बन से सम्बन्धित बातें ही रस-संचार की क्षमता रखती हैं, शृङ्गार की भाँति आश्रय की नहीं। उदाहरण के लिए हास्य के आश्रय का निम्नांकित वर्णन भावोत्पादन की क्षमता से शून्य है—

**(१) विवशन ब्रज वनितान के सखि मोहन मृदुकाय।
चीर चोरि सुकदम्ब पै, कछुक रहे मुसिक्याय॥**

**(२) हँसने लगे तब हरि अहा, पूर्णेन्दु-सा मुख खिल गया।
हँसना उसी में भीम, अर्जुन, सात्यकि का मिल गया॥**

ध्यान रहे, ये उदाहरण डॉ० चतुर्वेदी द्वारा हास्य के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने के लिए दिए गए हैं, फिर भी इनमें रस का संचार नहीं मिलता।

वस्तुतः, भावनाओं की व्यापकता एवं गम्भीरता की दृष्टि से हास्य में वे विशेषताएँ नहीं मिलतीं कि जिससे उसे रस-राज की पदवी दी जा सके।

भारतीय साहित्य में हास्य की परम्परा

यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य में शृङ्गार, वीर एवं करुण की ही प्रमुखता है; किन्तु हास्य-रस का भी सर्वथा अभाव नहीं है। ऋग्वेद के जुआरियों सम्बन्धी अंश में तथा मंडूक सूक्त में किंचित् हास्य की आयोजना हुई है। वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में भी परिस्थिति-जन्य हास्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। आगे चलकर संस्कृत के नाटक-रचयिताओं ने तो हास्य की सर्जना के लिए एक विशेष पात्र—विदूषक—की ही कल्पना कर डाली। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अनेक स्थलों पर हास्य रस के सुन्दर

उदाहरण मिलते हैं। विशेषतः शर्विलक नामक ब्राह्मण-जातीय चोर के प्रसंग में उत्कृष्ट हास्य की आयोजना हुई है। नाटकों के अतिरिक्त गद्य-काव्यों, पंचतंत्र एवं हितोपदेश जैसी कथाओं एवं मुक्तक रचनाओं मे भी हास्य की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। यहाँ उदाहरण के लिए हास्यपूर्ण सुभाषित उद्धृत किए जाते हैं—

(क) सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते,
कन्या राशि-स्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः।

दामाद दसवाँ ग्रह है। वह सदा वक्र और क्रूर रहता है। सदा पूजा चाहता है और सदा कन्या राशि पर स्थित रहता है।

(ख) आकुंच्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मंत्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे।
तार स्वनं प्रततथूतमदात्प्रहारम्।
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा।

विष्णुशर्मा नामक किसा दुराचारी विद्वान् ब्राह्मण की दिल्लगी उड़ाता हुआ कोई कहता है—"देखिए, कैसे मजे की बात है, विष्णुशर्मा 'हाय-हाय' करके रोते हुए कहते थे कि मेरे जिस मस्तक पर मंत्रों से पवित्र किया हुआ जल छिड़का गया था, उसी संस्कृत मस्तक पर वेश्या ने अपने अपवित्र हाथों से तड़ातड़ चपत लगाए।"

(ग) लेखनीमित इतो विलोकयन् कुत्र कुत्र न जगाम पद्मभूः।
तां पुनः श्रवणसीमसंगतां प्राप्य नम्रवदनः स्मितं दधौ।

अर्थात् कलम तो कान पर रखी हुई थी और उसे इधर-उधर खूब ढूंढ़ा, अंत में वह कान पर ही मिली। यह देखकर उसे हँसी आई और उसने सिर नीचे कर लिया।

आरम्भिक एवं मध्यकालीन हिन्दी काव्य में हास्य

हिन्दी साहित्य के आदिकाल एवं मध्यकाल में सामान्यतः वीर, शृङ्गार एवं भक्ति की ही प्रधानता रही, किन्तु आंशिक रूप में यत्र-तत्र हास्य के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। महाकवि चंदबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो में अन्य भावों के साथ-साथ हास्य की भी व्यंजना हुई है। जब चंदबरदायी पृथ्वीराज के विरोधी जयचंद के दरबार में गये तो वहाँ जयचंद ने व्यंग्यपूर्वक कहा—

मुंह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सुहद्द।
वन उजार पशु तन चरन, क्यों दूबरो बरद्द॥

अर्थात् मुंह का दरिद्री और तुच्छ शरीर पानेवाला परन्तु जंगलराव की सीमा में रहनेवाला और वन उजाड़नेवाला पशु वरद्द क्यों दुबला हो गया है? चंद ने इसका उत्तर दिया—

चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मंड्यो, जास जानयौ सबर बर।
केइक तकि गहि पात, केइ गहि डारि मूर तरु।
केइक दंत तुच्छ त्रिन्न, गये दस दिसनि भाजि डर॥

भुग्र लोकत दिन ग्रचिरिज भयौ मान सवर बर मरद्दिया।
प्रथिराज पलन पद्धौ जु षर, सु यों दुब्बरौ बरद्दिया॥

"चौहान ने ग्रपने घोड़े पर चढ़कर चारों ग्रोर ग्रपनी दुहाई फेर दी, जिसे ग्रपने से श्रेष्ठ समझा ग्रौर बलवान् देखा, उसके साथ युद्ध किया। शत्रुग्रों में से किसी ने पत्ते पकड़ लिए, किसी ने डालें, जड़ें ग्रौर वृक्ष पकड़ लिये, किसी ने दाँतों में तिनके दबाकर ग्रपना दैन्य प्रदर्शित किया ग्रौर ग्रनेक मारे भय के दसों दिशाग्रों में भाग गये। भूलोक में उस दिन बड़ा ही ग्राश्चर्य माना गया, जबकि श्रेष्ठों ग्रौर सबलों का मान-मर्दन हुग्रा। इस प्रकार पृथ्वीराज के शत्रुग्रों ने खर (तृण ग्रादि) दाँतों तले दबाने के लिए खोद डाले ग्रौर बरद्दिया (बैल) दुबला हो गया।" इस उत्तर में वाग्वैदग्ध्य का ग्रच्छा नमूना मिलता है।

बीसलदेव रासो में भी व्यंग्य का एक तीखा उदाहरण उपलब्ध होता है। राजा बीसलदेव ग्रपनी साँभर झील पर गर्व करता हुग्रा कहता है—

गरब करि ऊभो छइ साँभर्यो राव। मो सरीखा नहीं अवर भुवाल॥
म्हां घरि सांभर उगहइ। चिहु दिस थाण जेसलमेर॥
लाख तुरी पाखर पड़इ। राजिकउ थानिक गढ़ ग्रजमेर॥

साँभर के राजा ने गर्वपूर्वक खड़े होकर कहा—'मेरे समान कोई ग्रौर भूपति नहीं। मेरे घर में साँभर (नमक) उत्पन्न होता है। चारों ग्रोर मेरे लाखों घोड़ों की पाखर पड़ती है—जैसलमेर तक। मेरी राजधानी ग्रजमेरगढ़ है।' इसके उत्तर में राजमती कहती है—

गरभि न बोलो हो सांभर्या राव। तो सरीखा घणा ग्रौर भुवाल॥
एक उड़ीसा को धणी। वचन हमारइ तुं मानु जु मनि॥
ज्यूं थारइ सांभर उगहइ। राजा उणि घरि उगहइ हीरा-खान॥

"हे साँभर-नरेश ! गर्व से मत बोलो। तेरे समान ग्रौर बहुत से राजा हैं। तुम चाहे मेरी बात मानो या न मानो—एक उड़ीसा-नरेश भी है। जिस प्रकार तेरे यहाँ नमक उत्पन्न होता है, वैसे ही उसके (उड़ीसा-नरेश के) यहाँ हीरों की खान है।" यह उत्तर किंचित् कटु हो जाने के कारण उच्च कोटि के हास्य का तो उदाहरण नहीं है, किन्तु घमंडी नरेश की उक्ति का मुँह-तोड़ उत्तर होने के कारण पाठकों के हृदय को थोड़ा गुदगुदाता ग्रवश्य है।

भक्तिकाल के विभिन्न कवियों ने विरोधी पक्ष का खंडन करते समय हास्य, उपहास, व्यंग्य एवं कटूक्तियों का प्रयोग किया है। महात्मा कबीर ने हिन्दुग्रों एवं मुसलमानों के बाह्याडम्बरों की ग्रालोचना व्यंग्यपूर्ण शैली में की है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

न जाने तेरा साहिब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहरा है।
चिउँटो के पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है॥

पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहेब लखता है॥
ऊँचा नीचा महल बनाया, गहिरी नेंव जमाता है।
चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है॥

× × ×

हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे को तैसा है॥

कहीं-कहीं कबीर का व्यंग्य कटुता की चरम सीमा तक पहुँच जाता है—

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
ताते या चाकी भली पीस खाय संसार॥

वस्तुतः कबीर के काव्य में व्यंग्य और कटु उक्तियों के अनेक प्रभावशाली उदाहरण विद्यमान हैं।

सगुण भक्त कवियों में महाकवि सूरदास ही ऐसे हैं, जिन्होंने हास्य और व्यंग्य का सफल प्रयोग किया है। बालकृष्ण के भोलेपन का चित्रण करते समय उन्होंने कई ऐसी उक्तियाँ कही हैं, जो अनायास ही हृदय में हास्य की हलकी लहर उद्वेलित कर देती हैं, जैसे—"मैया मेरी कबहुँ बढ़ेगी चोटी? किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।" या "मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो। मोसों कहत मोल को लीन्हों तोहि जसुमति कब जायो।....तू मोही को मारन सीखी दाऊ कबहुँ न खीझै। मोहन को मुख रिस समेत लखि, सुनि-सुनि जसुमति रीझै।" एक अन्य स्थल पर कृष्ण के वाग्-वैदग्ध्य का भी सुन्दर उदाहरण मिलता है, जब कृष्ण दही खाते हुए पकड़े जाते हैं तो वे उत्तर देते हैं—

मैं जान्यो ये घर अपनो है या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढन को कर नायो॥

कृष्ण और गोपियों की प्रारम्भिक छेड़छाड़ में भी सूर ने अनेक हास्यपूर्ण उक्तियों का प्रयोग किया है। एक स्थान पर कृष्ण का उपहास करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

तुम कमरी के ओढ़नहारे, पीताम्बर नहिं छाजत।
सूरदास कारे तनु ऊपर कारी कमरी भ्राजत॥

कभी-कभी वाद-विवाद अधिक बढ़ जाता है तो कृष्ण आक्षेप करते हैं—"सूर कहा ए हमको जानै छाछिहि बेचनहारी।" इसके उत्तर में चतुर गोपियाँ उनका सारा इतिहास खोल देती हैं—

यह जानति तुम नंद महर सुत।
धेनु दुहत तुमको हम देखति, जबहिं जात खरिकहि उत।
चोरी करत रहौ पुनि जानति घर-घर ढूंढत भाँडे॥

आगे चलकर भ्रमर-गीत-प्रसंगों (उद्धव-गोपी-संवाद) में भी सूर ने अनेक हास्य-व्यंग्यमय पदों की रचना की है। उद्धव के द्वारा दिये जानेवाले योग-साधना के संदेश को गोपियाँ घाटे का सौदा बताती हुई कहती हैं—

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो ऐसोई फिरि जैहै॥
जापै ले आए हो मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै॥
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै।
सूरदास प्रभु गुनहिं छाँड़िकै को निर्गुन निरबैहै॥

इसी प्रकार वे स्वयं उद्धव का उपहास करती हुई कहती हैं—

आए जोग सिखावन पाँडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँडे।

× × ×

कहो, मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँडे।
काफी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माडे॥

× × ×

जब उद्धव अपने निर्गुण की प्रशंसा करते हैं तो गोपियाँ अपनी व्यंग्योक्तियों के द्वारा उनका मुँह बन्द कर देती हैं—

निर्गुन कौन देस को बासी।
मधुकर कहु समझाय सौंह दे, बूझति साँच न हाँसी॥

× × ×

ऊधौ जाहु तुम्हें हम जाने।
श्याम तुम्हें ह्यां नाहिं पठाये, तुम हो बीच भुलाने॥

भक्तकवि तुलसीदास ने भी अपने 'रामचरित-मानस' और 'कवितावली' में अनेक स्थलों पर हास्य रस की योजना की है। मुख्यतः मानस में 'परशुराम-लक्ष्मण-सम्वाद' व 'अंगद-रावण-सम्वाद' में हास्य के विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं। परशुराम की दम्भपूर्ण उक्तियों के उत्तर में लक्ष्मण कहते हैं—

लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना।
का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नये के भोरे।
छुअत टूट रघुपतिहिं न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥

यहाँ 'जीर्ण धनुष' का उपहास करके परशुराम के क्रोध को और भी अधिक प्रज्ज्वलित कर दिया है, किन्तु पाठकों के लिए तो ये पंक्तियाँ हास्योत्पादक ही सिद्ध होती हैं। इसी प्रसंग में आगे चलकर वाग्-वैदग्ध्य एवं व्यंग्योक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता है—

लखन कहेउ मुनि सुजसु तुम्हारा। तुम्हहिं अछत को बरनै पारा॥
अपने मुंह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥

× × ×

कहेउ लखन मुनि सीलु तुम्हारा। को नहिं जान विदित संसारा॥
माता पितहिं उरिन भए नीके। गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के॥
सो जनु हमरेहि गाथे काढ़ा। दिन चलि गए ब्याज बड़ बाढ़ा॥

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंग्य का उत्कृष्ट उदाहरण विद्यमान है।

अकबर के दरबारी कवियों में महाकवि रहीम ने अनेक हास्यपूर्ण उक्तियों की रचना की है। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥

रीतिकाल के अनेक कवियों ने भी शृङ्गार के बीच-बीच में यत्र-तत्र हास्य-रस का निरूपण किया है। बिहारी के निम्नांकित दोहों में हास्य की अस्फुट व्यंजना हुई है—

बहु धन लै अहसानु कै, पारो देत सराहि।
वैद वधू हँसि भेद सौं, रही नाह मुंह चाहि॥
कन दैबो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप रहचटैं लगि लग्यौ माँगनु सबु जगु आनि॥

बिहारी के उपर्युक्त दोहों में हास्य के साथ-साथ शृङ्गारिकता और रसिकता की भी झलक विद्यमान है, अतः उनसे विशुद्ध हास्य की सृष्टि नहीं होती, किन्तु बिहारी की कुछ उक्तियों में व्यंग्य की तीक्ष्णता दृष्टिगोचर होती है—

चल्यौ जाइ ह्याँ को करै हाथिनु को व्योपार।
नहिं जानतु, इहि पुर बसै, धोबी ओड कुंभार॥

× × ×

वे न इहाँ नागर, बढ़ी जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गँवई-गाँव गुलाब॥

× × ×

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

बिहारी की व्यंग्योक्तियों की सफलता इसी से सिद्ध है कि उनकी तीक्ष्णता ने महाराजा जयसिंह के जीवन की गति को परिवर्तित कर दिया था।

रीतिकाल के कुछ अन्य कवियों ने भी हास्य-रसमय कुछ छन्द मुक्तक शैली में लिखे हैं, जिनमें अलीमुहीब खाँ 'प्रीतम', सूरन कवि, फेरन कवि, बेनी आदि उल्लेखनीय हैं। श्री प्रीतमजी ने 'खटमल बाइसी' में खटमलों को आलम्बन बनाकर काव्य-रचना की है।

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
सांपन पै गयो, ते पताल ठौरि पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत है सीस पर,
बैदन पै गयो, काहू दारू न बताई है॥
जब हहराय हम हरि के निकट गये,
हरि मोसों कहि तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ न उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर माँहि खटमल की दुहाई है॥

यहाँ हास्य की आलोचना विशुद्ध हास्य के उद्देश्य से की गई है। किसी व्यक्ति, पात्र या विचार-धारा पर व्यंग्य करने की प्रवृत्ति इन पंक्तियों में नहीं मिलती। एक ऐसा ही विशुद्ध हास्य का उदाहरण सूरन कवि की कविता में देखिए—

बाप विष चाखै भैया षट्मुख राखै देखि,
आसन में राखे बस बास जाको अचलै।
भूतन के छैया आस-पास के रखैया,
और काली के नथैया हू के ध्यान हू ते न चलै।
बैल बाघ बाहन बसन को गयन्द खालै,
भाँग को धतूरे को पसारि देत अंचलै।
घर को हवाल यह शंकर की बाल कहै,
लाज रहै कैसे, पूत मोदक को मचलै॥

यहाँ कवि ने देवताओं के घर की भी दरिद्रता का वर्णन नग्न रूप में करके अपनी अद्भुत प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। प्रगतिवादी आलोचकों को चाहिए कि ऐसे महाकवि को अपने सर्वोच्च कवियों की सूची में स्थान प्रदान करके प्रगतिवाद का उद्भव रीतिकाल से ही सिद्ध कर दें।

रीतिकाल के कुछ कवियों ने कंजूसों की दानशीलता का भी अपने काव्य में रोचक ढंग से वर्णन किया है। उस क्षेत्र में कविवर बेनी बन्दीजन विशेष रूप से उल्लेनीय हैं। उन्होंने हास्य-रस के अनेक 'भंडौवे' लिखे, जिनका संग्रह 'भंडौवा-संग्रह' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है। यहाँ एक छन्द देखिए—

चींटी की चलावे को ? मूसा के मुख आपु जाय,
स्वांस की पवन लागे कोसन भगत है॥
ऐनक लगाए मरु मरु के निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है॥
ऐसी आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगत है॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में भी हास्य रस का सर्वथा अभाव नहीं है। इतना अवश्य है कि इस युग में प्रायः सोद्देश्य हास्य की रचना बहुत कम मिलती है।

आधुनिक काल

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के प्रवर्त्तक श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं रसिक एवं छैल प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में हास्य और व्यंग्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया। प्रायः उन्होंने समाज-सुधार और देश के उत्थान के उद्देश्य से ही अपने युग के विभिन्न दूषित तत्त्वों का उपहास किया। लोगों में अंग्रेजों के प्रति उपेक्षा का भाव जागृत करने के लिए उन्होंने कह-मुकरनियाँ लिखीं, जिनमें अंग्रेज, अंग्रेजी, पुलिस आदि का उपहास किया गया है—

भीतर भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेज ।।
सब गुरुजन को बुरो बतावैं, अपनी खिचड़ी आप पकावैं।
भीतर तत्त्व न झूठी तेजो, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेजी ।।
रूप दिखावत सरबस लूटै, फंदे में जो पड़े नहिं छूटै।
कपट कटारी हिय में हुलिस, क्यों सखि सज्जन नहिं पुलिस ।।

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों ने भी पर्याप्त मात्रा में हास्य-व्यंग्य की सृष्टि की है। इनमें प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि लेखक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री मिश्रजी ने हिन्दुओं की अनेक दुर्बलताओं पर निर्मम प्रहार किया है। यहाँ उनका अशिक्षा पर तीखा व्यंग्य देखिए—

पोथी केहि के घर ते आवें, कबहूँ सपन्यो देखा नाहिं।
रिगविद, जुजविद, साम, अथरबन; सुनियत आल्ह खंड के माहिं ।।

× × ×

मरत मरत दयानन्द मरिगै, हिन्दू रहे आयु तरु सोय।
पूत बियाहैं पांच बरस को, गहने धरत फिरै घरबार ।।
रुपया फेरैं जल्लादन पर, घर भरि देय पतुरिया क्यार।
वेद मंगैवे के चन्दा की सुनते, नाम सूखि जिउ जाय ।।

श्री बालमुकुन्द गुप्त ने अपनी व्यंग्योक्तियों द्वारा विदेशी शासन की अच्छी खबर ली है। उनके समय में लार्ड कर्जन ने दिल्ली में बड़ा भारी दरबार किया था। उसमें देश के धन का अपव्यय होते देखकर गुप्तजी ने 'टेसू' लिखा—

अब के टेसू रंग रंगीले, अब के टेसू छैल छबीले।
होगा दिल्ली में दरबार, सुनकर चौंक पड़ा संसार ।।
शोर पड़ा दुनिया में भारी, दिल्ली में है बड़ी तयारी।
देश-देश के राजा आवैं, खेमे, डेरे साथ उठावें ।।
घर वर बेचो करो उधार, बढ़िया हो पोशाक तयार।
हाथी घोड़े भीड़ भड़ाका, देखें सब घर फूंक तमाशा ।।

इसी युग में एक अन्य व्यंग्य-लेखक पं० शिवनाथ शर्मा हुए। उन्होंने 'मिस्टर व्यास की कथा' 'तर्ज खुशामद या वशीकरण विधि' आदि कविताओं में विदेशी शासकों की 'जी-हुजूरी' करनेवालों की खिल्ली उड़ाई है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

देखते साहब को हो जावे खड़ा,
टोप जूता फेंक के होवे बड़ा।

× × ×

फिर कहे, आदाब करता है गुलाम।
चुप रहे गोया लगी मुँह में लगाम ॥
फिर अगर साहब कहे, सब चैन है ?
तो कहे; सब चैन है, सब चैन है ! !

आगे चलकर द्विवेदी-युग के कवियों ने भी किंचित् मात्रा में हास्य रस की रचनाएँ कीं। इनमें महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'कल्लू अल्हैत' के नाम से रचित 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' कविता उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त नाथूराम शर्मा 'शंकर', ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी कुछ हास्य-प्रधान कविताएँ लिखी थीं। हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से भारतेन्दु-युग की सी सफलता द्विवेदी-युग के कवियों को नहीं मिली।

छायावादी युग में प्रेम और विरह-वर्णन की ही प्रमुखता रही। सौन्दर्य के इन कोमल उपासकों के चेहरे पर निराशा, विषाद एवं अवसाद की ही झलक सर्वत्र व्याप्त रहती थी, अतः इनसे हँसने-मुस्कराने की आशा करना व्यर्थ है। फिर भी निराला का 'कुकुरमुत्ता' इसका अपवाद है। इसके व्यंग्य के सम्बन्ध में डा० चतुर्वेदी का मत है—"कुकुरमुत्ता एक दुधारी तलवार है। इसका व्यंग्य दो तरफ है। पहली ओर का संकेत ऊपर दिया जा चुका है। (जो धनी-मानी पूंजीपतियों की ओर है) दूसरी ओर साम्यवादी नवयुवकों के स्वभाव की अशिष्टता तथा अहंकार पर व्यंग्य किया गया है।"

छायावाद-परवर्ती कवियों में पं० हरिशंकर शर्मा अपने हास्य-व्यंग्य के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने अनेक हास्य-व्यंग्य की रचनाएँ लिखी है। उन्होंने आधुनिक नेताओं की वास्तविक तस्वीर खींचते हुए लिखा है—

मिली है जनता रूपी गाय, बड़ी भोली-भाली है हाय।
दुहा करता हूँ मैं दिन-रात, न कपिला कभी उठाती लात ॥

हास्य रस के दूसरे प्रसिद्ध कवि 'बेढब बनारसी' हैं। उन्होंने अपनी 'बेढब की बहक' की भूमिका में घोषित किया है—"जैसे कुछ लोग कला कला के लिए दुहाई देते हैं, मैं विनोद विनोद के लिए लिखता हूँ।" उन्होंने आधुनिक युवकों को अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाते हुए लिखा है—

नजाकत औरतों सी. बाल लम्बे, साफ मूंछें हैं।
नए फैशन के लोगों की अजब सूरत जनानी है ॥

इसी प्रकार आधुनिक साहित्यकारों के सम्बन्ध में 'बेढब' जी की उक्ति सुनिए—

पढ़ के दर्जा तीन तक वे बन गए साहित्यकार।
और मम्मट से वह अपने को समझते कम नहीं॥

कान्तानाथ पांडे 'चोंच' ने भी आधुनिक समाज की कुरीतियों पर अपनी कलम की नोक चलाई है। उनका एक दोहा देखिए—

चंदा और पद ग्रहण की, जब लग मन में खान।
पटवारी और पंत हैं दोनों एक समान॥

हिन्दी काव्य में 'पत्नीवाद' के प्रवर्त्तक श्री गोपालप्रसाद व्यास की रचनाओं में हास्य-व्यंग्य की सुन्दर छटा दर्शनीय है। उन्होंने 'अजी सुनो तो', 'मेरी पत्नी' आदि काव्य-संग्रह प्रकाशित करवाए हैं। वे अपने ही बारे में लिखते हैं—

आखिर हिन्दी का लेखक था, हो गई जरा सी वाह-वाह,
दो चार किताबें छपीं कि बस, गुब्बारे जैसा फूल गया॥

इधर 'रमई काका' ने अवधी भाषा में अनेक व्यंग्यपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त कुञ्जबिहारी पांडे, वंशीधर शुक्ल, श्रीनारायण चतुर्वेदी, दिनकर, बरसानेलाल चतुर्वेदी आदि कवियों ने भी हिन्दी के हास्य-व्यंग्यपूर्ण काव्य में अभिवृद्धि की है।

हिन्दी नाटक साहित्य में हास्य रस

हिन्दी में विशुद्ध गद्यमय नाटक की परम्परा का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। इस युग के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों ने प्रहसनों के द्वारा तत्कालीन समाज की बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया। बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'प्रेम-योगिनी' आदि नाटक लिखे, जो कि हास्य और व्यंग्य से ओत-प्रोत हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलि कौतुक रूपक', बालकृष्ण भट्ट ने 'जैसा का वैसा परिणाम', राधाचरण गोस्वामी ने 'भंग तरंग', 'तन मन धन श्री गुसाईजी के अर्पन' आदि प्रहसनों की रचना की। इन प्रहसनों में सर्वत्र सोद्देश्य हास्य-व्यंग्य की आयोजना की गई है।

द्विवेदी-युग के हास्य-व्यंग्यपूर्ण नाटक रचयिताओं में श्री बदरीनाथ भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'लबड़ धौं धौं', 'विवाह-विज्ञापन', 'मिस अमरीकन' आदि प्रहसनों की रचना की। उनके अतिरिक्त श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने 'उलटफेर', 'मरदानी औरत', 'साहित्य का सपूत', 'पत्र-पत्रिका-सम्मेलन' आदि प्रहसन लिखे। इनके सम्बन्ध में एक आलोचक की सम्मति है—"प्रायः अपनी रचनाओं में ऐसे चरित-नायक की कल्पना करते हैं, जो अक्ल के बोझ से हैरान है, पात्र कोई काम करेंगे तो ऊट-पटांग; हर जगह मार अथवा गाली खाएँगे।" दूसरी ओर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं—"हमारी समझ में श्रीवास्तवजी का हास्य उच्च कोटि का नहीं, जिसकी आशा इनसे की जाती है; इसे तो लट्ठमार मजाक कहना ज्यादा उचित होगा।" पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'उजबक', 'चार बेचारे' आदि नाटक लिखे।

द्विवेदी-युग के अनन्तर नाटक-रचयिताओं में हास्य रस की दृष्टि से पं० हरिशंकर शर्मा और श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शर्मा-जी ने 'बिरादरी विभ्राट', 'पाखंड प्रदर्शन', 'स्वर्ग की सीधी सड़क', 'बुढ़ऊ का ब्याह' आदि प्रहसन लिखे, जिनका नामकरण ही मूल प्रवृत्ति का द्योतक है। श्री अश्क जी ने 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' में स्वरचित सात प्रहसनों का संग्रह किया है। अश्क जी की रचनाओं में समाज की विभिन्न असंगतियों पर तीखा व्यंग्य मिलता है। वस्तुतः हास्य-व्यंग्यपूर्ण नाटक एकांकियों के रचयिताओं में अश्क जी का बहुत ऊँचा स्थान है। इनके अतिरिक्त देवराज 'दिनेश', ज्योतिप्रसाद 'निर्मल', रामसरन शर्मा आदि लेखकों ने भी सुन्दर हास्य-व्यंग्यपूर्ण एकांकी लिखे हैं।

कथा-साहित्य में हास्य-व्यंग्य

हिन्दी के कथा-साहित्य में हास्य-व्यंग्य का प्रयोग बहुत कम हुआ है। फिर भी श्री जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, बेढब बनारसी, कान्तानाथ पांडे 'चोंच', निराला, जयनाथ 'नलिन', यशपाल, अमृतलाल नागर, शरदचन्द्र जोशी, शारदाप्रसाद वर्मा 'भुशुंडि', सरयू पंडा गौड़ मिलिंद, राधाकृष्ण, बरसानेलाल चतुर्वेदी, द्वारकाप्रसाद आदि लेखकों ने अपनी कहानियों एवं उपन्यासों में हास्यरस की सृष्टि की है। इनमें से कुछ लेखकों की व्यंग्यमय शैली के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

"अए ऐसे अक्ल के अन्धे पंडितो, तुम अपने ही हाथ से अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारते हो और इसके साथ सिर्फ अपनी बेवकूफी की वजह से बेचारी निर्दोष संस्कृत की जड़ खोदते चले जाते हो।" —जी० पी० श्रीवास्तव

"सज्जनो। अंग्रेज अवतारी जीव हैं। हम पशु थे, उन्होंने हमें मनुष्य बनाया। हमें बड़ों के पैर छूने की गन्दी आदत थी, उन्होंने हमें 'गुड मार्निंग' करना सिखाया।"

—अन्नपूर्णानन्द वर्मा

"यह मजनू की तस्वीर है। पसली की हड्डियाँ ऐसी दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे एक्स-रे का चित्र।" गप हाँकने की हिन्दी कहानी-लेखकों की पैदाइशी आदत संख्या में कम न होगी। —बेढब बनारसी

हिन्दी निबन्ध साहित्य में हास्य-रस

भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी प्रमुख निबन्ध-लेखकों ने अपनी रचनाओं में हास्य-व्यंग्य का पुट दिया है। भारतेन्दु के निबन्धों में 'आप ही तो हैं', 'कंकड़-स्तोत्र', 'पाँचवें पैगम्बर', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' आदि व्यंग्यपूर्ण हैं। बालकृष्ण भट्ट ने अनेक हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्ध लिखे जिनमें ये उल्लेखनीय हैं—"पुरुष अहेर की स्त्रियाँ अहेर हैं", "ईश्वर क्या ही ठठोली है।" "नाक निगोड़ी भी बुरी बला है" आदि। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी तथा बालमुकुन्द गुप्त ने भी इस क्षेत्र में अच्छी सफलता प्राप्त की। गोस्वामीजी की 'यमलोक यात्रा' तथा गुप्तजी के 'शिव-शंभू के चिट्ठे' अपने ढंग की अपूर्व रचनाएँ हैं।

द्विवेदी-युग के निबन्ध-लेखकों में बाबू गुलाबराय, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय उल्लेखनोय हैं। आगे चलकर हरिशंकर शर्मा, रुद्रदत्त शर्मा, अन्नपूर्णानन्द 'वर्मा, 'चोंच', गोपालप्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे आदि ने हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में अनेक निबन्ध लिखे। इन सबकी रचनाओं का अलग-अलग परिचय देना यहाँ संभव नहीं। इनके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं रामविलास शर्मा के आलोचनात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं चुटीले व्यंग्य के दर्शन होते हैं। यहाँ हमारे कुछ प्रमुख निबन्ध-लेखकों की व्यंग्यपूर्ण शैली के दो-चार नमूने प्रस्तुत हैं—

"साहब, प्रथम प्रश्न सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या है? यदि गौ की पूँछ को पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते? जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की है? मुझे याद आया कि साहब मजिस्ट्रेट की मेम को एक कुत्ता मैंने दान दिया था, जब गौ यहाँ साक्षात् आ जाती है तो क्या प्रदत्त कुत्ता न आएगा?"

—राधाचरण गोस्वामी

"आप माई लार्ड। जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है?"

—बालमुकुन्द गुप्त

"सच पूछिए तो शुरू-शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हँसना-हँसाना तब शुरू हुआ होगा, जब उसने कुछ पूँजी इकट्टी कर ली होगी।"

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

उपसंहार

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि सामान्यतः हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग—कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि—में हास्य-व्यंग्य का विकास समुचित रूप में हुआ है। फिर भी जितना विकास नाटक और कविता के क्षेत्र में हुआ है, उतना अन्य क्षेत्रों में नहीं हुआ। अन्य रसों की तुलना में हिन्दी का हास्यरसात्मक साहित्य अब भी मात्रा एवं गुण की दृष्टि से बहुत हलका है। उच्च कोटि का हास्य हिन्दी में बहुत कम मिलता है। पिछले कुछ दशकों से तो कुछ लेखकों एवं कवियों को छोड़कर हमारे साहित्य मे हास्य की उपेक्षा-सी ही की जा रही है। हाँ, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी पत्र-पत्रिकाएँ अपने हास्य विशेषांकों द्वारा इस रस के रचयिताओं को थोड़ा प्रोत्साहन दे रही हैं, किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। आशा है, भविष्य में जीवन, समाज और साहित्य में इसके महत्त्व को समझते हुए हमारे साहित्यकार इस ओर भी आवश्यक ध्यान देंगे।

:: बावन ::

हिन्दी-काव्य में विरह-वर्णन

१. विरह का शास्त्रीय विवेचन।

२ पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में विरह परम्परा—वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, प्राकृत-काव्य, अपभ्रंश-काव्य।

३. हिन्दी-काव्य में विरह-वर्णन—विद्यापति, कबीर, जायसी, सूरदास, मीरा।

४. रीतिकालीन कवियों की विरह-व्यंजना—रीतिबद्ध कवि, रीतिमुक्त कवि।

५. आधुनिक युगीन कवियों का विरह-वर्णन—भारतेन्दु-युगीन, द्विवेदी-युगीन, छायावादी कवि, प्रगतिवादी कवि।

६. उपसंहार

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
निकलकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान ॥ —पंत

साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रस श्रृङ्गार है और इस श्रृङ्गार का भी परिष्कृत रूप विरह-वर्णन में मिलता है। श्रृङ्गार के संयोग पक्ष में तो बाह्य चेष्टाओं और काम-क्रीड़ाओं की ही अधिकता होती है, हृदय की सूक्ष्म भाव-वृत्तियों का प्रकाशन तथा अह, वासना और काम से मुक्त प्रेम के शुद्ध रूप का प्रकटीकरण वियोग पक्ष में ही होता है। हमारे आचार्यों ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए वियोग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है। सामान्यतः वियोग के चार रूप एवं दस काम-दशाएँ स्वीकार की जाती हैं। चार रूप ये हैं—(१) प्रथमानुराग, (२) मान, (३) प्रवास और (४) करुण। आधुनिक दृष्टिकोण से इन चार रूपों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—नायक और नायिका के प्रारम्भिक प्रेम को 'प्रथमानुराग' कहते हैं। इस स्थिति में नायक और नायिका एक-दूसरे से मिल नहीं पाते, अतः उनके विरह में प्रेम की इस नवीन अनुभूति का उल्लास एवं मिलन-सुख की मधुर कल्पनाएँ ही अधिक होती हैं। इसमें विरह-वेदना की वह गम्भीरता नहीं होती, जो कि अन्य कोटि के विरह में पाई जाती है। नायिका के रुष्ट हो जाने पर दोनों के मिलन-सुख में जो अन्तर आ जाता है, उसी को मान-विरह कहा गया है। व्यापक दृष्टि से कहा जा सकता है कि जब नायक या नायिका में से कोई एक रुष्ट होकर या अप्रसन्नता के कारण थोड़े समय के लिए विमुख हो जाता है, तो दूसरे को जिस वेदना की अनुभूति होती है, वही मान-जन्य विरह है। संस्कृत व हिन्दी के कुछ कवियों ने मान के अन्तर्गत केवल नायिका के ही रुष्ट होने का वर्णन किया है, नायक की अनुभूतियों की उन्होंने उपेक्षा की है, जो उचित नहीं। नायक या नायिका के दूर चले जाने पर जिस विरह की अनुभूति होती है, उसे 'प्रवास' की कोटि में रखा गया

है। नायक-नायिका में से किसी की मृत्यु हो जाने के कारण जिस शोक की अनुभूति होती है, उसे 'करुण' की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः इस प्रकार के शोक को या करुण भाव को शृङ्गार रस से भिन्न करुण रस में ही स्थान दिया जाना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारे आचार्यों ने विरह की काम-दशाएँ (प्रेम-दशाएँ) भी मानी हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) संज्वर, (९) जड़ता और (१०) मरण। हमारे विचार से इन दशाओं का सम्बन्ध क्रमशः चारों प्रकार के विरह से है। प्रथमानुराग में नायक-नायिका के हृदय में एक-दूसरे की प्राप्ति की इच्छा रहती है तथा वे एक-दूसरे का चिन्तन करते रहते हैं; इसी को अभिलाषा और चिन्ता कहा गया है; 'मान' का सम्बन्ध मुख्यतः स्मृति और गुण-कथन से है। यद्यपि नायक-नायिका में से कोई एक विमुख हो जाता है, किन्तु फिर भी दूसरा उसके गुणों की स्मृति के कारण बेसुध रहता है। 'प्रवास' की स्थिति में उद्वेग, प्रलाप, उन्माद आदि दशाओं का विकास होना स्वाभाविक है। शेष तीन दशाएँ—संज्वर, जड़ता और मरण—ऐसी भयंकर स्थिति में ही विकसित होती हैं, जबकि प्रेमी-प्रेमिका में से किसी एक का देहान्त हो गया हो या उनके पुनर्मिलन की कोई आशा न रही हो। वस्तुतः उच्च कोटि के विरह में इनमें से मरण को छोड़कर अन्य सभी दशाओं का विकास स्वाभाविक रूप से मिलता है।

पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में विरह-वर्णन

भारत की ही नहीं—विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना ऋग्वेद है। इसके दसवें मण्डल में ९५वें सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का संवाद वर्णित है, जो कि विरह-वेदना की उक्तियों से भरपूर है। राजा पुरूरवा की प्रेयसी उर्वशी किसी बात पर रुष्ट होकर उसे छोड़कर चली जाती है। पुरूरवा उसके विरह में पागलों की तरह उन्मत्त होकर उसे ढूंढ़ता हुआ मानसरोवर के तट पर पहुँचता है, जहाँ उर्वशी अपनी सखियों के साथ आमोद-प्रमोद में व्यस्त मिलती है। "हे निष्ठुर ! ठहर ! ठहर !" इन शब्दों से अपनी बात आरम्भ करता हुआ पुरूरवा अपने विरह-व्यथित हृदय की दशा अत्यन्त करुणोत्पादक शब्दों में वर्णन करता है—

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृष्णवावहै नु।
न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन् ॥

"अर्थात् हे निष्ठुर ! ठहर ! ठहर ! आ, हम अपनी परस्पर दृढ़ सम्बन्ध बनाए रखने की प्रतिज्ञा को पूरी करें। जिन बातों के विषय में हम कभी साथ बैठकर सोचा करते थे, उन्हें पूरी करें, अन्यथा हमारा जीवन सुखी नहीं रहेगा।"

जब उर्वशी पर पुरूरवा के इन शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो वह वि वेदनापूर्ण हृदय की अवस्था का चित्रण करता हुआ कहता है—"तेरे विरह में मेर युद्ध में भी नहीं लगता। मैं अब इतना असमर्थ हूँ कि विजय-प्राप्ति के लिए शत्रु बाण भी नहीं चला सकता। अब शत्रुओं से भूमि, धन आदि छीनकर उनका उप

नहीं कर पाता। मेरे उस सिंहनाद को, जिसे सुनकर शत्रु काँप जाते थे, अब कोई नहीं सुनता।"

पुरूरवा के इन शब्दों का भी निष्ठुर, अल्हड़, मद-विभोर सुन्दरी उर्वशी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह गर्व और तिरस्कार से ओत-प्रोत शब्दों में उत्तर देती हुई कहती है—"पुरूरवा! क्या रखा है तुम्हारी बातों में। जिस प्रकार सूर्य सदा उषा के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है, उसी प्रकार तुम भी सदा मेरे पीछे पड़े रहते हो, पर मैं वायु के समान हूँ, मुझे कौन वश में कर सकता है।"

अंत में पुरूरवा हताश होकर कहता है—

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभमासो अद्युः॥

अर्थात् "हे उर्वशी! तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रह सकूंगा। मैं किसी दूर देश में जाकर अपने शरीर को आवरण हीन करके हिंसक पशुओं के आगे लेट जाऊँगा। बलवान भेड़िए मेरे शरीर को चीरकर टुकड़े-टुकड़े कर देंगे।" आश्चर्य है कि प्रेमी की मृत्यु के इस करुण दृश्य की कल्पना से भी उस स्वर्गीय सुन्दरी का हृदय नहीं पसीजता। वस्तुतः यह प्रणय-संवाद मान-जन्य विरह का सुन्दर उदाहरण है। इसमें पुरूरवा की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में हुई है।

आगे चलकर रामायण और महाभारत के प्रासंगिक प्रेमाख्यान में विरह की व्यंजना अत्यन्त उत्कृष्ट शैली में हुई है। विशेषतः महाभारत के राजा संवरण एवं कुमारी तप्ता के प्रणयाख्यान और नल-दमयन्ती-प्रेमाख्यान में विरह की विभिन्न अवस्थाओं का निदर्शन अत्यन्त सुन्दर रूप में हुआ है। नल-दमयन्ती-आख्यान में विरह के चारों रूपों—पूर्वानुराग, संयोग, वियोग एवं पुनर्मिलन का चित्रण प्रभावोत्पादक शब्दों में मिलता है। आदि से लेकर अन्त तक यह आख्यान कामुकता की पंकिल भूमि से असंपृक्त रहता है, उसमें शारीरिक चंचलता के कहीं भी दर्शन नहीं होते। प्रेमी और प्रेमिका का हृदयस्थ प्रेम परिस्थितियों की कठोरता एवं दुर्भाग्य की आँच में तपकर, निखरकर अपने विशुद्धतम रूप को प्राप्त कर लेता है। आँसुओं से परिपूर्ण यह विरह-वर्णन पाठक के हृदय को करुणार्द्र कर देता है।

कालिदास के 'कुमार-सम्भव' में पूर्वानुराग का चित्रण सुन्दर रूप में हुआ है। उनका 'मेघदूत' तो वियोगी हृदय का ही संदेश है। आलोचकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है, किन्तु हमारी दृष्टि से इसमें कामुकता का मिश्रण अत्यधिक मात्रा में है। यक्ष के संदेश में प्रणय-वेदना के स्थान पर सम्भोग-आकांक्षा के ही दर्शन होते हैं। स्वयं कवि ने यह कहकर कि "ज्ञातस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः" अर्थात् नग्न-ना बालाओं के स्वाद से परिचित होकर कौन उन्हें छोड़ सकता है—अपनी काम-ता को स्वीकार कर लिया है।

संस्कृत के नाटक-साहित्य में विरह-वेदना का प्रकाशन अत्यन्त मनोरम ढंग से इस दृष्टि से संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक 'मालती-माधव' है। इसमें विरह की ाव-दशाओं का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया गया है। प्रेमी के दर्शनों के

लिए उत्कंठित, आतुर, विह्वल मालती की चंचल दशा, प्रेमी की अनुपस्थिति में उसकी बेसुध अवस्था, उसके वियोग में बिच्छू-दंश-सदृश निरन्तर बढ़ती हुई वेदना, धूमरहित अग्नि की भाँति हृदय का भीतर-ही-भीतर धधकना एवं विषम ज्वर की भाँति अंग-प्रत्यंग का पीड़ित होना अत्यन्त ही मार्मिक विधि से व्यंजित किया गया है।

यह विह्वल दशा सुकुमारी बालाओं की ही नहीं, सिंह का सामना कर सकने में समर्थ शूरवीर नायक माधव की भी हो जाती है। मालती की स्नेहसिक्त दृष्टि के प्रथम वार से ही आहत माधव अपनी दशा बताता हुआ कहता है—"वह लज्जा के कारण अपने नेत्रों को कुछ झुकाती थी, पर दूसरे ही क्षण मुझे देखने की इच्छा से उन्हें फिर घुमा लेती थी, उसके विकसित नेत्र स्नेहपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। उसकी पुतलियों से हृदय का आनन्द टपक रहा था। हाय! उस चितवन ने मेरे अभागे हृदय को चुरा लिया, तोड़ दिया, पी लिया और इतना ही नहीं—वह निकालकर अपने साथ भी ले गई।" वस्तुतः यहाँ पूर्वानुराग की व्यंजना अत्यन्त सरस मार्मिक शब्दों में हुई। भवभूति का 'उत्तर रामचरित' भी विरह-व्यंजना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत के गद्य-काव्य—वासवदत्ता, दशकुमार चरित, कादम्बरी आदि में प्रेम और विरह का भव्य स्वरूप उपलब्ध होता है। इनमें सर्वोत्कृष्ट 'कादम्बरी' है। इसमें दो प्रेम कथानकों को गूँथकर एक साथ उपस्थित किया गया है। पहले की नायिका है—महाश्वेता और दूसरे की कादम्बरी। दोनों के नायक क्रमशः पुंडरीक और चंद्रापीड हैं, जो पूर्वानुराग की असह्य वेदना से छटपटाकर प्राण त्याग देते हैं, किन्तु दोनों नायिकाएँ अपने अपूर्व धैर्य एवं तपस्या के बल पर उनके पुनर्जन्म की प्रतीक्षा करती हुई अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेती हैं। कादम्बरी के ये प्रेमाख्यान संस्कृत के समस्त प्रेमाख्यानों से विचित्र हैं। विरह-वेदना से प्राणान्त हो जाने की घटना भी संस्कृत-साहित्य में पहली बार यहीं मिलती है।

संस्कृत की विरह-वर्णन-परम्परा का विकास प्राकृत एवं अपभ्रंश के काव्यों में हुआ। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग' में विरह-वर्णन अनेक गाथाओं में हुआ है। विरहिणी की दुर्दशा का निरूपण करते हुए गाथा-सप्तशतीकार ने लिखा है—"क्षण में ताप, क्षण में पसीना, क्षण में ठिठुरन, क्षण में रोमांच! हाय यह प्रिय-विरह सन्निपात रोग की तरह दुसह्य है।" प्रिय-विरह-वेदना की अधिकता दिखाते हुए वज्जालग्ग के रचयिता ने लिखा है—"हे पथिक, इस तालाब का पानी मत पीओ, इसमें प्रोषित-भर्तृका वधू ने स्नान किया है, उसकी विरहाग्नि से इसका पानी तप गया है।" अपभ्रंश के मुक्तक-काव्यों में भी विरहानुभूति की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई। विशेषतः 'संदेश रासक' तो विशुद्ध विरह-सम्बन्धी काव्य है। इसमें नायिक किसी पथिक के हाथ अपने प्रवासी प्रिय को सन्देश भेजती है। उसका स- उपालम्भ, खेद, वेदना, अमर्ष आदि अनेक भावनाओं से युक्त है। कुछ पंक्तियाँ हैं—

संदेसड़उ सवित्थरउ पर मइ कहण न जाइ।
जो काणंगुलि मूंदडउ सो बाहडी समाइ॥

कहउ पहिय ! किरण कहउ कहिसु कि कहिय-यण।
जिण किय एह अवत्थ णेहरइ-रहिय-यण ॥
× × ×
जिणि हउ बिरहह कुहरि एव करि घल्लिया।
अत्थलोहि अकयत्थि इकल्लिय मिल्हिया ॥

अर्थात् मेरा संदेश विस्तृत है और कहने में आता नहीं। जो मुद्रिका कनिष्ठिका में पहनने की थी, वह बाँह में आने लगी है। × × × हे पथिक ! क्या कहूँ और क्या न कहूँ....भला ! जिस स्नेहहीन ने मेरी यह दशा कर दी उसे क्या कहा जाय ! × × उस अर्थलोभी, अकृतार्थ ने इस विरह कुहरे में मुझ अकेली को छोड़ दिया है।

आगे चलकर अपनी दुःखपूर्ण स्थिति का वर्णन करती हुई वह विरहिणी कहती है—

जइ अंबरु उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेहउ अंगु, होइ आभंगियइ।
अह हारिज्जइ दविणु, जिणिवि पुणु भिट्टियइ,
पिय विरतु हई चित्त, पहिया ! किम वट्टियइ ॥

अर्थात् यदि वस्त्र अपना रंग छोड़ दे तो पुनः रँगा जा सकता है। यदि शरीर चिकनाई-रहित हो जाय तो उसे पुनः चिकना किया जा सकता है। यदि धन हार जाय तो उसे पुनः जीतकर प्राप्त किया जा सकता है। पर हे पथिक ! जब प्रिय का चित्त विरक्त हो जाय तो उसे पुनः किस प्रकार लौटाया जाय !

इन उक्तियों की सरलता के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना व्यर्थ है। ये उक्तियाँ किसी भी सहृदय के हृदय को भाव-विभोर करने में समर्थ हैं।

हिन्दी-काव्य के प्रारम्भिक कवियों मे महाकवि विद्यापति अपने सौन्दर्य-प्रेम एवं विरह के गीतों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य में पूर्वानुराग एवं विरह की विभिन्न अनुभूतियों का चित्रण अत्यन्त मार्मिक रूप में हुआ है। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में नायकराज की क्या दशा हो गई है, यह द्रष्टव्य है—

पथ गति पेखल मो राधा !
तखनुक भाव परान पए पीड़लि,
रहल कुमुद निधि साधा ! !

अर्थात् मैंने राधा को राह के मध्य में देखा। उसी क्षण से मेरे प्राण ही घायल ए। उसी समय से उस कुमुद-निधि की साध बनी हुई है।

राधा के प्रेम में कृष्ण की विह्वलता का चित्रण भी देखिए—

आसाये मन्दिर निसि गमाबए, सूख न सूत संयान !
है। कुछ **जखन जतए जाहि निहारिए, ताहि ताहि तोहि भान ! !**

क की भाँति नायिका की विरह-व्यथा की व्यंजना भी विद्यापति ने की है।
णियों को अवस्था के अनुसार दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं—(१) नववयस्क

तरुणियाँ और (२) प्रौढ़ाएँ। प्रथम श्रेणी की वियोगिनियों में वासना-पूर्ति की लिप्सा अधिक है तथा उनमें प्रणय-जन्य वेदना का अभाव है। देखिए—

कत दिन पिय मोरु पूछब बात। कबहूँ पयोधर देइब हाथ॥
कत दिन लेइ बैठाइब कोर। कत दिन मनोरथ पूरब मोर॥

इसी प्रकार एक अन्य युवती को भी प्रियतम के प्रवास का उतना अधिक दुःख नहीं, जितना उसे अपने यौवन के व्यर्थ बीत जाने का है—

अंकुर तपन ताप जदि जारब, कि करब वारिद मेहे।
इह नव जीवन विरह गमाओब, कि करब से पिया गेहे॥

अर्थात् जब सूर्य के ताप से अंकुर जल जायगा तो फिर मेघ की वर्षा से क्या होगा! यदि इस नवयौवन को विरह में खो दिया तो फिर उस प्रिय के घर आने पर क्या होगा?

किन्तु दूसरी श्रेणी की प्रौढ़ा नायिकाएँ ऐसा नहीं सोचतीं। उनमें यौवन की चंचलता एवं वासना के वेग के स्थान पर प्रणय की गंभीरता मिलती है। अतः वे पति के स्थूल मिलन की अपेक्षा, उसके स्नेह की ही अधिक इच्छुक हैं—

सब कर पहु परदेश बसि सजनी, आएल सुमिरि सिनेह!
हमर एहन पति निरदय सजनि, नहिं मन बाढ़ए नेह!!

यहाँ नायिका को पति के न आने का उतना खेद नहीं है, जितना कि उसके प्रेम-शून्य हो जाने का है। आगे चलकर यही नायिका अपनी विरह-वेदना की अपेक्षा प्रिय के मंगल को अधिक महत्त्व देती है—

माधव हमरो रहल दुर देश, केओ न कहे सखि कुशल सनेस!
जुग-जुग जिवथु वसथु लख कोस, हमर अभाग, हुनक नहिं दोस!!

वस्तुतः यहाँ भावना का ऐसा उत्कर्ष दिखाई पड़ता है जिससे नायिका के अहं, स्वार्थ एवं काम का सर्वथा विगलन हो जाता है तथा उसका प्रणय विशुद्ध प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

कबीर की विरहानुभूतियाँ

काल-क्रमानुसार विद्यापति के अनन्तर हिन्दी के दूसरे महाकवि कबीर आते हैं। यद्यपि उनके प्रणय का आलम्बन अलौकिक है, किन्तु उन्होंने जिन अनुभूतियों की व्यंजना की है, वे स्वरूप एवं तीव्रता की दृष्टि से लौकिक विरह के तुल्य ही हैं। यही कारण कि साधारण पाठक भी उनकी काव्य-वस्तु से साधारणीकरण कर पाता है। अतः उनकी अनुभूतियों को विरह-वर्णन में स्थान दे सकते है।

कबीर की आत्मा परमात्मा के मिलन के लिए उत्सुक हो जाती है वही अवस्था हो जाती है, जो लौकिक क्षेत्र में प्रेमी की पूर्वानुराग में होती है

कब देखूं मेरे राम सनेही, जा बिनु दुःख पावे मेरी देही
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी, कबरे मिलहुगे अन्तरजामी!

आत्मा की यह मिलनाकांक्षा धीरे-धीरे बढ़ती हुई तीव्र वेदना का रूप धारण कर लेती है। वह अपने हृदय के वेग पर संयम रखने में असमर्थ हो जाती है और अपने प्रिय को पुकार-पुकारकर बुलाने लगती है—

बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिनु दुखिया देह रे।
× × ×
एकमेव ह्वै सेज न सोवे, तब लग कैसा नेह रे।
अन्न न भावै, नींद न आवे, ग्रिह वन धरे न धीर रे।
बाल्हा आव हमारे गेह रे……।

कबीर की विरह-व्यंजना में विभिन्न संचारी भावों का चित्रण भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हो गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

औत्सुक्य— बिरहिन ऊभी पंथ सिर, पंथी बूझै धाय।
एक सबद कह पीव का, कबरे मिलैंगे आइ॥

विवशता— आइ सकौं न तुज्झ पैं, सकूं न तुज्झ बुलाय।
जियरा योंही, लेहुगे, विरह तपाइ-तपाइ॥
कै विरहिणी कू मोच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा मो पैं सह्या न जाइ।

कबीर जैसा अक्खड़ भी विरह-वेदना से पीड़ित होकर दैन्य से ओत-प्रोत हो जाता है। वह जन-जन के सामने हाथ फैलाने लगता है—

है कोई ऐसा पर उपकारी, सूं कहैं सुनाय रे॥
ऐसे हाल कबीर भये हैं बिन देखे जिय जाय रे॥

वे दूसरों की स्थिति से अपनी तुलना करते हुए कहते हैं—

सुखिया सब संसार, खाय अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जगे अरु रोवै॥

कबीर के उद्‌गार बताते है कि विरह चाहे लौकिक हो या अलौकिक, उसकी वेदना असह्य होती है। आधुनिक युग की कुछ कवयित्रियाँ भले ही विरह से प्यार करने की बात कहें, किन्तु जिन्हें इनकी सच्ची अनुभूति है, वे तो इनके नाम से ही कांप उठते हैं।

गेरा का विरह-वर्णन

कबीर की ही भाँति प्रेम-दीवानी मीरा ने अपने हृदय के उद्‌गारों को मर्मस्पर्शी ों में व्यक्त किया है। अपने 'गिरधर गोपाल' के विरह में भावाभिभूत होकर उन्होंने ॰ गीतियों की रचना की है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

है। कुछ

हेरि मैं तो दरद दिवाणी होइ।
दरद न जाणै मेरो कोइ॥
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होइ।
जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होइ॥

सूली ऊपर सेज हमारी, सोवणा किस विध होइ।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होइ ।।

× × ×

रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आंच डुलावै।

× × ×

कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, वेदन कूण बुतावै।
बिरह नागण मोरी काया डसी है, लहर-लहर जिव जावै ।।

× × ×

मीरां कहै बीती सोइ जानै मरण जीवण उन हाथ !

मीरा की इन पंक्तियों में विरह-वेदना की ऐसी गंभीरता मिलती है, जो बरबस ही पाठक के हृदय को भावोद्वेलित करने मे समर्थ है। लौकिक प्रेम की वासना के कर्दम के अभाव में उनका वेदना-स्वरूप और भी अधिक दिव्य और पवित्र हो उठा है।

सूर का विरह-वर्णन

महाकवि सूरदास ने कृष्ण और गोपियों के माध्यम से विरहानुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त सरस रूप में की है। वियोग की आशंका-मात्र से प्रेम-विवश गोप-बाला राधा के हृदय की क्या दशा हो जाती है, इसका चित्रण देखिए—

सुने हैं श्याम मधुपुरी जात !
सकुचति कह न सकत काहू सौं गुप्त हृदय की बात !
शंकित बचन अनागत कोऊ कहि जु गई अधरात !!

× × ×

सूर श्याम संग तै बिछुरत हैं कब ऐहैं कुशलात !!

और जब विदाई की घड़ियाँ उपस्थित होती है, तो प्रेमिका का हृदय सौ-सौ धाराओं में बह निकलता है—

हौं साँवरे के संग जैहौं।
होनी होइ सु होई उभै लै यश, अपयश काहू न डरैहौं।
कहा रिसाइ करैंगो कोऊ जो रोकिहैं प्राण ताहि वैहौं ।।

× × ×

जब प्रियतम विदा हो जाते हैं, तो वियोगिनी बाला के हृदय में क्षोभ, प[illegible] ताप एवं निराशा की एक करुण झाँकी अवशिष्ट रह जाती है—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो !
भयो कठोर वज्र ते भारी, रहि कैं पापी कहा कियो !!
घोरि हलाहल सुन री सजनी, औसर तेहि न पियो !
मन सुधि गई संभारित पूरो दाँव अक्रूर बियो !!

कुछ न सुहाइ गई सुधि तब ते, भवन काज को नेम लियो !
निशि दिन रटत सूर के प्रभु बिनु मरिवो तऊ न जात जियो !!

सूरदास के विरह-वर्णन में प्रायः सभी सम्बन्धित संचारियों का चित्रण भी स्वाभाविक रूप में हुआ है ! एक ओर प्रिय की स्मृति—"इहि बिरियाँ बन ते ब्रज आवते"—से हृदय संवेदनशील हो उठता है तो दूसरी ओर मथुरा के द्रुमों को देखकर उनके सौभाग्य के प्रति सहज स्वाभाविक ईर्ष्या—"मथुरा के द्रुम देखियत न्यारे, वहाँ श्याम हमारे प्रीतम चितवन लोचनहारे"—उद्भूत हो जाती है, कभी बरसात में पपीहा की पिउ-पिउ सुनकर प्रेमिका का हृदय उद्वेग और अमर्ष से उद्वेलित हो उठता है—"हौं तो मोहन के विरह जरी रे, तू कत जारत रे पापी पपीहा पिउ पिउ अधराति पुकारत !" तो दूसरी ओर वह 'मति' का आश्रय लेकर अपने हृदय को समझाने का प्रयास करती है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं आपे प्राण दह्यो !!

वस्तुतः सूरदास जी का काव्य विरह-वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है । आचार्य शुक्ल का यह कहना कि इस क्षेत्र में इन्होंने कुछ भी शेष नहीं छोड़ा, बिलकुल सत्य है ।

जायसी का विरह-वर्णन

जायसी ने तो अपने काव्य में विरहानुभूतियों की व्यंजना एक ऐसी उत्कृष्ट अत्युक्तिपूर्ण काव्य-शैली में की है कि उसके विद्वानों को अलौकिकता का भ्रम हो गया । पूर्वानुराग और वियोग का चित्रण जायसी ने पूरे विस्तार से किया है । उन्होंने विरहानुभूतियों की व्यंजना के लिए मुख्यतः दो पात्रों को माध्यम बनाया है । पहला है रत्नसेन और दूसरी नागमती । यहाँ पहले रत्नसेन के पूर्वानुराग की दशा देखिए—

फूल फूल फिरि पूछौं, जो पहुँचौं आहि केत ।
तन निछावर के मिलौं, ज्यों मधुकर जिउ देत !

और फिर इसका विकास—

तजा राज राजा भा जागी । और किंगरी कर गहेउ वियोगी ।
तन विसंभर मन बाउर रटा । अरुझा प्रेम परी सिर जटा ।।

रत्नसेन की विरह-दशा का निरूपण करते हुए कवि ने विभिन्न अनुभावों और संचारी भावों का आयोजन भी सम्यक् रूप में किया है—

ठांवहि सोवहिं सब चेला । राजा जागै आपु अकेला ।।
जेहि के हिये प्रेम रंग जामा । का तेहि भूख नींद बिसरामा ।।

दूसरी ओर नागमती की विरह-व्यंजना भी कवि ने अत्यंत मार्मिक शब्दों में की है । कुछ पंक्तियाँ ही उद्धृत की जाती हैं—

पिउ सो कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग ! !
सो धनि विरह जरी मुई तेहिक धुआँ हम्ह लाग ! !

जायसी के विरह-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने नायक और नायिका दोनों में विरह का विकास समुचित रूप में दिखाया है, जिससे उसमें प्रेम की गम्भीरता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः उनका स्थान विरह-वर्णन करनेवाले कवियों में बहुत ऊँचा है।

रीतिकालीन कवियों का विरह-वर्णन

रीतिकालीन शृंगारी कवियों को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) रीतिबद्ध और (२) रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवियों में प्रेम की अपेक्षा रसिकता का आग्रह अधिक होने के कारण उनमें विरह का मार्मिक रूप बहुत कम मिलता है, किन्तु फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है; कुछ छंद देखिए—

(क) पूर्वानुराग—

मूर्ति जो मन-मोहन की, मन मोहिनी के मन ह्वै थिरकी सी।
'देव' गुपाल को बोल सुनै छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी॥

(ख) उपालंभ—

पगन में छाले परे, नाँघिबे को नाले परे,
तऊ लाले ! लाले परे राउरे दरस के !!

(ग) मिलनातुरता—

मेरे सुखदाई तेरे देव जु दिखाई नेकु,
ऐरे ब्रजभूप, तेरे रूप रस छाकी हौं !!

रीतिकाल में विरह-व्यंजना का सर्वोत्कृष्ट रूप घनानन्द, बोधा, आलम, रसखान आदि स्वतंत्र प्रेम-मार्गी कवियों के काव्य में उपलब्ध होता है। इनके विरह-वर्णन में जो वैयक्तिकता, अनुभूति, स्वाभाविकता एवं गंभीरता मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ हमारे कथन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए कुछ छन्द पर्याप्त होंगे—

कहिबे को बिथा सुनिबे को हँसी, को दया सुनि के उर आनतु है !
अरु पीर घटे तजि धीर सखी ! दुःख को नहीं का पै बखानतु है !!

—बोधा

घनआनन्द मीत सुजान बिना सब-सुख साज समाज टरे !
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि के बीच पहार परे !!

—घनानन्द

× × ×

उन्हीं बिन ज्यों जल मीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी असुवानी रहे।

—रसखान

वस्तुतः इन कवियों ने किसी अन्य पात्र से विरह-वेदना उधार लेकर काव्य-रचना नहीं की। यह तो उनकी अपनी अनुभूतियों की व्यंजना है, उनकी अपनी आत्मा की सच्ची पुकार है, अतः उसमें वेदना, टीस एवं व्याकुलता का सच्चा रूप मिलना स्वाभाविक है।

आधुनिक कवियों का विरह-वर्णन

विरह-वर्णन की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी कवि स्वतन्त्र प्रेम-मार्गी कवियों—घनानन्द, बोधा, आलम आदि की परम्परा में आते हैं। भाव, शैली एवं भाषा की दृष्टि से उनका विरह-वर्णन सर्वथा घनानन्द आदि के अनुरूप है।

द्विवेदी-युगीन कवियों ने अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण शृंगार रस को बहुत उपेक्षा की दृष्टि से देखा, किन्तु फिर भी प्रिय-प्रवास, यशोधरा, साकेत आदि में विरह की व्यंजना प्रचुर मात्रा में हुई है। 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण-विदाई की वेला के समय राधा के हृदय की आशंका का चित्र देखिए—

> **अयि सखि ! अवलोके खिन्नता तू कहेगी,**
> **प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं।**
> **पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है ?**
> **सब जगत् हमें है शून्य होता दिखाता ! !**

'साकेत' की रचना तो विरहिणी उर्मिला के आँसुओं से ही हुई है। स्वयं उर्मिला के ही शब्दों में—

> **मुझे फूल मत मारो !**
> **मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो !**

अति-इतिवृत्तात्मकता के कारण द्विवेदी-युग के विरह-वर्णन में मार्मिकता नहीं आ पाई। इस दृष्टि से छायावादी कवियों का वर्णन सूक्ष्म भावानुभूति से अनुप्राणित सिद्ध होता है। प्रसाद के 'आँसू', पंत की 'ग्रन्थि' और महादेवी की 'यामा' और 'दीप-शिखा' में विरहानुभूतियों की व्यंजना वैयक्तिक अनुभूति के रूप में हुई है। पंत के विरह-कातर हृदय की दशा इन शब्दों में देखिए—

> **कौन दोषी हैं, यही तो न्याय है, वह मधुप बिंधकर तड़पता है उधर !**
> **दग्ध चातक तरसता है–विश्व का नियम है यह, रो अभागे हृदय रो !!**
>
> × × ×
>
> **शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर, विरह ! अहह कराहते इस शब्द को।**
> **किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !!**

कामायनीकार ने भी विरह की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक शब्दों में की है। अपने अतीत की स्मृतियों से त्रस्त होकर काम-पुत्री श्रद्धा सोचती है—

> **विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं।**
> **वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं॥**
> **सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषाएँ !**
> **प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं !!**

इन शब्दों में विरह की जैसी गम्भीर वेदना झलकती है, वह बताने की बात नहीं।

कवयित्री महादेवी तो वेदना की ही मानों साक्षात् मूर्ति हैं। उनके काव्य की

प्रत्येक पंक्ति विरहानुभूतियों से उद्वेलित है। विरह की मधुर पीड़ा का संचार उनके जीवन में किस प्रकार हुआ, इसका स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया है—

इन ललचाई पलकों पर, पहरा था जब व्रीड़ा का !
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का ! !

किन्तु अन्त में उन्होंने अपनी वेदना पर ऐसी विजय प्राप्त कर ली है कि अब उन्हें विरह में मिलन की, दुःख में सुख की अनुभूति होने लगी है—

विरह का युग आज दीखा, मिलन के लघु पल सरीखा !
दुःख सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ' न सीखा ! !

प्रगतिवादी कवियों ने यत्र-तत्र विरह का वर्णन किया है, किन्तु उसमें अनुभूति की तरलता, वेदना की गम्भीरता और प्रेम की स्थिरता का अभाव है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

शीतल कर धरती की छाती। नदियाँ सागर में मिल जातीं।
नदियों में जल, जल में लहरें। गलबहियाँ डाले बल खातीं।
भरता जो बाँहों में अपनी। हुआ न तेरा ही कोई।

—नरेन्द्र

यहाँ किसी बाँहों में भरनेवाले का ही अभाव परिलक्षित होता है, किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति प्रणय का स्फुरण नहीं मिलता। इससे शरीर की भूख को शान्त करने की लालसा ही टपकती है, विरह-वेदना की सघनता नहीं।

फिर भी उपर्युक्त विवेचना से एक बात स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य के सभी युगों में विरह का निरूपण किसी-न-किसी रूप में अवश्य हुआ है। उसमें उर्दू फारसी की-सी अत्युक्ति और अस्वाभाविकता नहीं है, अपितु भावना का स्वच्छ, पवित्र रूप दृष्टिगोचर होता है। कोई भी व्यक्ति जो हिन्दी भाषा को समझने की क्षमता रखता है, इस काव्य को पढ़कर गद्गद और भाव-विभोर हो सकता है।

हिन्दी की विशिष्ट प्रतिभाएँ

:: तिरपन ::

चन्दवरदायी और उनका काव्य

१. चंद—व्यक्तित्व और चरित ।

२. काव्य—पृथ्वीराज-रासो—(क) सामान्य परिचय; (ख) विभिन्न संस्करण; (ग) प्रामाणिकता-सम्बन्धी विवाद—डा० बूलर की खोज, डा० ओझा के आक्षेप, श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मुनि जिनविजय, डा० दशरथ शर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० माताप्रसाद गुप्त, निष्कर्ष, (घ) काव्य-सौष्ठव—कथा विस्तार, वर्णनात्मकता, भाव-सौन्दर्य; (ङ) उपसंहार—भावपक्ष, कलापक्ष, संदेश, महत्ता ।

हिन्दी का सर्वाधिक विलक्षण कवि, जिसका अस्तित्व ही संदिग्ध है—महाकवि चन्दवरदायी है । उनके द्वारा रचित ग्रंथ 'पृथ्वीराज-रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर गहरा मतभेद मिलता है । कुछ उसे प्रामाणिक मानते हैं, कुछ अर्द्ध-प्रामाणिक और कुछ सर्वथा अप्रामाणिक । ऐसी स्थिति में उसके रचयिता का अस्तित्व भी धूमिल हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । परम्परा के अनुसार वे हिन्दू-कुल के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के सखा, मन्त्री, सेनापति एवं राजकवि थे । उनके सम्बन्ध में इतिहास मौन हैं, किन्तु उनके ग्रंथ में आये हुए विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका जन्म पृथ्वीराज के साथ ही संवत् ११५१ में लाहौर में हुआ । वे बाल्यकाल से ही सम्राट् के साथ रहने लगे और उनके साथ ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की । षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि में वे पूर्णतया दीक्षित थे । सभा, युद्ध, आखेट, विवाह, यात्रादि में वे सदैव सम्राट् के साथ रहा करते थे । जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को क़ैद करके गजनी ले गया तब चन्द भी वहाँ पहुँचे । अब तक के रासो का लेखन वे स्वयं कर रहे थे, किन्तु गजनी जाने से पूर्व उन्होंने यह कार्य अपने पुत्र (जल्हन) को सौंप दिया । जल्हन ने उनके अधूरे ग्रन्थ को पूरा किया—

"पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज ।"

गजनी पहुँचकर चन्द ने अपने सम्राट् को मुक्त करवाने की योजना बनाई । एक दिन शहाबुद्दीन की सभा में उन्होंने पृथ्वीराज के लक्ष्य-वेध की प्रशंसा इस ढंग से की कि गोरी के हृदय में पृथ्वीराज के बाण चलाने की कुशलता देखने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई । अस्तु, चन्द के परामर्श के अनुसार इसका आयोजन किया गया । पृथ्वीराज ने चन्द के संकेत पर बाण चलाकर गोरी का वध कर दिया, तदनन्तर चन्द और पृथ्वीराज ने भी आत्मोत्सर्ग कर दिया । संक्षेप में चन्द के जीवन-चरित की यही रूप-

रेखा है जो रासो के आधार पर तैयार की जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें अनेक असंगतियाँ हैं, अतः इसे चन्द का वास्तविक परिचय नहीं कहा जा सकता।

पृथ्वीराज रासो : विभिन्न संस्करण

चन्द की कीर्ति का अक्षय आधार 'पृथ्वीराज रासो' है। इसके कई संस्करण मिलते हैं, जिन्हें मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) बृहत् रूपान्तर, (२) मध्यम रूपान्तर, (३) लघु रूपान्तर और (४) लघुतम रूपान्तर। प्रत्येक रूपान्तर का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है—

(क) **बृहत् रूपान्तर**—इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं तथा इसी के आधार पर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण तैयार किया गया था। इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७५० के पश्चात् की हैं। वैसे नागरी-प्रचारिणी सभावाले संस्करण का आधार सं० १६४२ की प्रति को बताया जाता है। इसमें ६९ समय (या सर्ग) हैं तथा १६३०६ छन्द हैं।

(ख) **मध्यम रूपान्तर**—इसकी कुछ प्रतियाँ अबोहर के साहित्य-सदन, बीकानेर के जैन-ज्ञानभंडार और श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना था। इसकी छंद-संख्या सात हजार है तथा इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७०० के पश्चात् की हैं।

(ग) **लघु रूपान्तर**—इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में सुरक्षित हैं। यह १९ सर्गों में विभाजित है तथा छन्द-संख्या ३५०० है। इनमें से कुछ प्रतियों के अन्त में निम्नांकित पंक्तियाँ हैं, जिनसे पता चलता है कि इस संस्करण का संकलन किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा हुआ था—

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज सुजसु कवि चन्द कृत चन्द्रसिंह उद्धरिय इमि॥

* यह संस्करण डॉ० वी० पी० शर्मा द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो गया है।

(घ) **लघुतम रूपान्तर**—यह संस्करण श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा ढूंढ़ा गया था। इसमें अध्यायों का विभाजन नहीं है तथा छन्द संख्या १३०० है। डॉ० दशरथ शर्मा ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

रासो की प्रामाणिकता

प्रारम्भ में रासो को प्रामाणिक माना जाता था। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक समझकर ही इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था। फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु इसी बीच सन् १८७५ ई० में डॉ० बूलर को काश्मीर में एक संस्कृत में रचित ग्रन्थ—"पृथ्वीराज विजय महाकाव्य" उपलब्ध हुआ। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ में वर्णित घटनाएँ शुद्ध हैं,

जबकि रासो का वर्णन इसके विपरीत है। ऐसी स्थिति में डॉ० बूलर को रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह हुआ और उसने उसका प्रकाशन स्थगित करवा दिया। डॉ० बूलर के संदेहपूर्ण दृष्टिकोण से भारत के कुछ अन्य विद्वानों को भी प्रेरणा मिली, जिनमें पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उल्लेखनीय हैं। ओझाजी ने रासो पर ऐतिहासिकता की दृष्टि से अनेक आक्षेप प्रस्तुत किए, जिनमें कुछ ये हैं—

१. रासो में चौहानों की उत्पत्ति, उनके कुल एवं वंश-परम्परा का वर्णन अशुद्ध रूप में किया गया है।

२. पृथ्वीराज के विभिन्न सम्बन्धियों का वर्णन इतिहास-विरुद्ध है।

३. रासो में गुजरात के राजा भीम के हाथों पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के वध की बात कही गई है, जबकि इतिहास के अनुसार भीमदेव अभी बालक ही था।

४. रासो में पृथ्वीराज के ग्यारह वर्ष से लेकर छत्तीस वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है, जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गई थी तथा उन्होंने इतने विवाह नहीं किए।

५. रासो में दिये गए सभी सम्वत् अशुद्ध हैं।

६. रासो के अनुसार पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य अपने नाना अनंगपाल के द्वारा प्राप्त हुआ, जबकि इतिहास की मान्यता के अनुसार बीसलदेव ने बहुत पूर्व ही दिल्ली को अपने राज्य में मिला लिया था।

७. रासो में दी हुई संयोगिता-स्वयंवर की कथा भी अनैतिहासिक है।

८. शहाबुद्दीन का मृत्यु सम्बन्धी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गौरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से नहीं गक्खरों के द्वारा हुई थी।

हिन्दी के अनेक विद्वानों ने ओझा जी के आक्षेपों का निराकरण करते हुए रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनमें श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मुनि जिनविजय और डा० दशरथ शर्मा उल्लेखनीय हैं। श्री पंड्याजी ने सन्-संवतों सम्बन्धी आक्षेप का निराकरण करते हुए 'अनंद' संवत् की कल्पना की। उनकी धारणा थी कि रासो में विक्रम संवत् के स्थान पर अनंद संवत् दिए गए है, जो लगभग ९० वर्ष पीछे हैं। मुनि जिन विजय जी ने 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' की वि० सं० १५२८ की प्रति में से एक प्रबन्ध ढूँढ़ा है, जो रासो का सारांश कहा जा सकता है। इस प्रबन्ध की घटनाएँ रासो के इतिवृत्त से बहुत मिलती-जुलती है। इस प्रबन्ध में चार छन्द भी उद्धृत किए गए हैं जो किंचित् परिवर्तित रूप में रासो के विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध हैं। मुनि जिन विजय ने इस प्रबन्ध की मूल रचना-तिथि सं० १२९० निश्चित की है तथा इसे रासो के आधार पर रचित माना है। ऐसी स्थिति में रासो का रचनाकाल तेरहवीं शती से पूर्व ही होना चाहिए।

रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्तुत्य प्रयत्न डा० दशरथ शर्मा ने किया है। आपने प्रमाणित किया है कि लघुतम संस्करण ही मूल रासो है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के आक्षेप बृहत् संस्करण पर ही लागू होते हैं; लघुतम संस्करण में उन अनैतिहासिक बातों का अभाव है, जो वृहत् संस्करण में मिलती हैं।

हीं, संयोगिता-स्वयंवर, अनंगपाल द्वारा पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य दिये जाने एवं गोरी-वधवाली घटनाएँ लघु संस्करण में भी मिलती हैं; किन्तु आपने इनको ऐतिहासिक सिद्ध किया है। 'सुर्जन-चरित' एवं 'पृथ्वीराज-विजय' में भी क्रमशः कांतिमती और तिलोत्तमा नामक राजकुमारियों का वर्णन मिलता है, जो संयोगिता सम्बन्धी विवरण से साम्य रखता है। अतः डा० शर्मा का सुझाव है—"जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सब युक्तियाँ हेत्वाभास-मात्र हैं; उस कांतिमती—संयोगिता को हम पृथ्वीराज की प्रेयसी रानी ही मानें तो कोई दोष क्या है ?" गोरी-वधवाली घटना का समर्थन भी 'सुर्जन-चरित' ग्रंथ से होता है। साथ ही शर्मा जी ने यह सिद्ध किया है कि मूल रासो अपभ्रंश में लिखा गया था। उन्होंने लघुतम संस्करण के कुछ अंशों को थोड़े-से परिवर्तन द्वारा विशुद्ध अपभ्रंश में परिवर्तित करके दिखाया है।

डा० शर्मा के अनुसन्धान के अनन्तर रासो की प्रामाणिकता का विवाद बहुत कुछ मंद पड़ गया था, किन्तु कुछ वर्ष पहले डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पुनः इस प्रश्न को उठाया है। आपका विचार है कि रासो की रचना शुक-शुकी संवाद के रूप में हुई थी, अतः जिन सर्गों का आरंभ शुक-शुकी संवाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इस आधार पर आपने निम्नांकित सर्गों को प्रामाणिक मानने का सुझाव दिया है—(१) आरंभिक अंश, (२) इंछिनी का विवाह, (३) शशिव्रता का गांधर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (४) संयोगिता का विवाह, (६) कैमास-वध, (७) गोरी वध-सम्बन्धी इतिवृत्त। डा० माताप्रसाद गुप्त ने द्विवेदी के मत की आलोचना करते हुए इसे स्वीकार्य नहीं माना है। उनका तर्क है कि प्रक्षेपकारी ने भी शुक-शुकी संवाद से प्रक्षिप्त सर्गों की रचना न की होगी, इसका क्या प्रमाण है ? जिन सर्गों को द्विवेदी जी ने प्रामाणिक माना है उनमें भी संभव है प्रक्षिप्त अंश हों।

इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। हमारे दृष्टिकोण से रासो सर्वथा अप्रामाणिक नहीं है। उसका मूल रूप अभी प्राप्य नहीं है तथा वर्तमान संस्करण बहुत कुछ विकृत रूप में मिलते हैं। जैसा कि डा० शर्मा ने सिद्ध किया है, लघुतम संस्करण ही मूल रासो के बहुत कुछ समीप है। हमारे कविगण जान-बूझकर चरित-नायक के गौरव की गाथा के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन करते रहे हैं, अतः चन्द का भी ऐसा कर देना कोई आश्चर्य की बात नहीं। साथ ही यह भी मानना होगा कि बारहवीं शती तक हिन्दी का विकास इतना अधिक नहीं हुआ था कि वह साहित्य में प्रयुक्त होती, अतः रासो का मूलतः अपभ्रंश में रचा जाना ही अधिक संभव है।

रासो का काव्य सौन्दर्य

रासो की ऐतिहासिकता को लेकर जितना विचार-विमर्श हुआ है, उतना उसकी काव्यात्मकता के सम्बन्ध में नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में केवल एकमात्र ठोस प्रयत्न डा० विपिनबिहारी द्विवेदी ने किया है। उन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध "चन्दवरदायी और उनका

काव्य" की भूमिका में लिखा है—"भले ही कुछ अंशों में अथवा सम्पूर्ण रूप में रासो जाली सिद्ध हो, परन्तु प्रकाशित रूप में यह जैसा जो कुछ है, हमारे सामने है, उसकी साहित्यिकता की परख अक्षुण्ण रहेगी।" डा० द्विवेदी के दृष्टिकोण से हम भी सहमत हैं—रासो का सम्यक् काव्यात्मक मूल्यांकन होना ही चाहिए। हम यहाँ कतिपय शीर्षकों में उसकी काव्यात्मकता पर विचार कर सकते हैं।

(क) **कथा विस्तार**—यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि को त्याग कर काव्यत्व की दृष्टि से रासो के इतिवृत्त की समीक्षा करें, तो हमें कवि की अपूर्व कल्पना-शक्ति की महत्ता स्वीकार करनी होगी। जिन प्रसंगों की उद्भावना को लेकर इतिहासकार रासो पर छींटाकशी करते है, वस्तुतः वे ही कवि की काव्य-कुशलता के परिचायक हैं। पृथ्वीराज और जयचन्द के विरोध का कारण संयुक्ता का अपहरण चाहे न हो, किन्तु कवि ने रसराज की अभिव्यक्ति के लिए इस बहाने सुन्दर प्रसंग ढूंढ निकाला है। युद्धों के कारण के रूप मे किसी प्रेम-प्रसंग की कल्पना करके उन्हे विशुद्ध द्वेष की अभिव्यक्ति होने से बचा लिया गया है। पृथ्वीराज का बार-बार गोरी को क्षमा कर देना भले ही ऐतिहासिक तथ्य न हो, किन्तु इससे नायक के चरित की उदारता का प्रभाव पाठकों के हृदय पर पूर्णतः अंकित हो जाता है। जब गोरी इस क्षमादान का बदला पृथ्वीराज को लौह-शृङ्खलाओं में जकड़कर चुकाता है, तो पाठक की आत्मा तिलमिला उठती है और उसकी सारी सहानुभूति विजेता गोरी के साथ न रहकर पराजित पृथ्वीराज के साथ हो जाती है। इसी प्रकार पृथ्वीराज का शब्दबेधी बाण द्वारा गोरी का वध करके आत्मोत्सर्ग कर देना नायक के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है, जो भारतीय महाकाव्य-परम्परा के लिए आवश्यक है।

(ख) **वर्णनात्मकता**—रासो के रचयिता ने नगर, उपवन, वन, सरोवर, दुर्ग, सेना, युद्ध आदि के वर्णन में कवि-हृदय का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए एक युद्ध-क्षेत्र का एक प्रत्यक्ष चित्र देखिए—

'न को हार नह जित्त, रहे रहहि सूर वर।
धर उप्पर भर परत, अति जुद्ध महा भर॥
कहौं कमध, कहौं मथ्थ, कहौं कर चरन अन्तररि।
कहौं कंध वह तेग, कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर॥

यहाँ केवल स्थिर दृश्य का अंकन हुआ है, किन्तु रासो में गतिशील चित्रों का भी अभाव नहीं है—

मचै कूह कूहं बहे सार-सारं। चमक्कं चमक्कं करारं सुधारं।
भभक्कं, भभक्कं बहै रत्तधारं सनक्कं सनक्कं बहै बान भारं।
हबक्कं हबक्कं बहे सेल मेलं। हलक्कं हलक्कं मची ठेल मेलं॥

यहाँ युद्ध का दृष्टिगोचर रूप ही नहीं, उसका श्रुतिगोचर रूप भी स्पष्ट हो गया है।

बज्जिय घोर निसांन रांन चौहान चहूं दिसि।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि।

(ग) **भाव व्यंजना**—रासो में मुख्यतः वीर एवं शृङ्गार रस की व्यंजना प्रसंगानुसार हुई है। वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की अभिव्यक्ति ओजपूर्ण शैली में की गई है—

उठ्ठिराज पृथ्वीराज बाग लग्ग मनो वीर नट।
कढ़त तेग मनोवेग लगत बीज भट्ट घट्ट॥

इसी प्रकार शृङ्गार रस के आलम्बन—पद्मावती के सौंदर्य-चित्रण में—माधुर्य-पूर्ण शैली का प्रयोग हुआ है—

मनहुँ कला ससभान कला सोलह सों बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।
विगसि कमल स्रिग भ्रमर बेनु खंजर स्रिग लुट्टिय।
हीर-कीर अरु बिम्ब, मोती नख-सिख अहि घुट्टिय।
छप्पति गयंद हरि हंसि गति, बिह बनास संचै संचिय।
पद्मिनिय रूप पदमावतिय, मनहुँ काम-कामिनी रचिय॥

यहाँ कवि नायिका को चन्द्र की सोलह कलाओं से सुसज्जित करके ही संतुष्ट नहीं हो गया है, अपितु बाल्यावस्था में चन्द्रमा द्वारा इसी चन्द्रमुखी के समीप बैठकर रसपान करने की कल्पना ने उसके महत्त्व को और भी बढ़ा दिया है, नायिका के विभिन्न अंगों के संगठन के लिए विधि को न केवल विभिन्न उपादानों को एकत्रित करना पड़ा, अपितु उसे एक खास साँचे का भी प्रयोग करना पड़ा।

महाकवि चन्द ने नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त शृङ्गार रस के अन्य अंगों—वयः संधि, यौवनागम, अनुराग, प्रथम मिलन, संयोगकालीन लज्जा आदि का भी वर्णन पूर्ण तल्लीनता से किया है। संयोगकालीन चेष्टाओं के निरूपण में उन्होंने जैसी सफलता प्राप्त की है, वैसी ही उन्होंने वियोगानुभूतियों की अभिव्यक्ति में की है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बढ़ि वियोग बहु बाल, चंदविय पूरन मानं।
बढ़ि वियोग बहु बाल, बृद्ध जोवन सनमानं।
बढ़ि वियोग बहु बाल, दीन पावस रिति बढ्ढै!
बढ़ि वियोग बहु बाल, लज्जिकुल वधु दिन चढ्ढै!!

यहाँ 'बढ़ वियोग बहु बाल' की आवृत्ति इस ढंग से की गई है कि उससे वियोगानुभूतियों की क्रमिक वृद्धि का बोध स्वतः ही हो जाता है। अन्तिम पंक्ति में वियोग की वृद्धि की तुलना दिन चढ़ने पर कुल-वधू की लज्जा से की गई है—एक सूक्ष्म भाव की तुलना अन्य सूक्ष्म भाव से करके कवि ने अपनी पैनी दृष्टि का परिचय दिया है। इसी प्रकार सभी सुख-साधनों के विद्यमान होते हुए भी वियोग में उनका स्वाद किस प्रकार परिवर्तित हो जाता है, इसका अनुभव कवि चन्द की नायिका के मुँह से सुनिए—

वेई आवास जुग्गनि पुरह, वेई सहचरि मंडलिय।
संजोग ग्यंपति कंत बिन, मुहि न कछु लग्गत रलिय।

"वे ही महल हैं, वे ही योगिनीपुर हैं, वे ही सहचरियों के झुंड हैं, किन्तु एक प्रिय पति के संयोग के अभाव में मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

वीर और शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों की भी व्यंजना रासो में प्रसंगानुसार हुई है। विशेषतः हास्य, भयानक और रौद्र का चित्रण तो स्थान-स्थान पर हुआ। यहाँ व्यंग्यात्मकता एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक बार जयचंद ने व्यंग्यपूर्वक महाकवि चन्दवरदायी से प्रश्न किया—

"मुंह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सुहद्द।
बन उजार पशु तन चरन, क्यों दूबरो बरद्द।"

"मुंह का दरिद्री, तुच्छ शरीर पानेवाला और जंगलराव की हद्द में रहनेवाला पशु वरद्द (श्लेष : बैल या वरदायी) दुबला क्यों हो गया ?"

इसका उत्तर चंदवरदायी ने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से देते हुए कहा—

"चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीत परद्धर।
तास जुद्ध मंड्यो, जास जान्यो सबर बर॥
केइक तकि गहि पात, केई गहि डारि मूर तरु।
केइक दंत तुछ त्रिन्न, गए दस दिसनि भजि डरु।
भुअ लोकत दिन अचिरिज भयो, मान सबर बर मरद्दिया।
पृथिराज खलन खद्धौ जु धर, सु यों दुब्बरो बरद्दिया।"

इस छन्द का तात्पर्य यह है कि महाराजा पृथ्वीराज के भय से उनके शत्रुओं ने इतने तृण मुंह में लिये कि जिससे बेचारे 'वरद्द' के खाने के लिए कुछ नहीं बचा। ऐसी स्थिति में उसका दुबला हो जाना स्वाभाविक है। कहना न होगा कि कवि ने इस मनोरंजक प्रसंग की उद्भावना करके हास्य का निरूपण सफलतापूर्वक कर दिया है। वस्तुतः रासोकार में सर्वत्र एक महाकवि की-सी प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक प्रौढ़ रचना है। कला-पक्ष की दृष्टि से भी उसमें अलंकारों का प्रयोग, भावानुरूप भाषा, छन्दों की विविधता आदि विशेषताएँ मिलती हैं। भाषा की एकरूपता का अभाव उसमें अवश्य है, किन्तु यह दोष इतना बड़ा नहीं कि वह उसके महत्त्व को न्यून कर दे।

कुछ अभाव अवश्य रासो में खटकनेवाले हैं। एक तो कवि ने वीर रस के मूल भाव को व्यक्तिगत राग-द्वेष पर ही आधारित किया है, अतः उसमें महाकाव्य की-सी व्यापकता नहीं आ पाई। उस समय राष्ट्र को जातीय संगठन और एकता की बड़ी आवश्यकता थी, कवि का काम होता है कि वह अपने युग के वातावरण से ऊपर उठकर भविष्य के लिए कोई सन्देश दे, किन्तु रासोकार ऐसा नहीं कर पाया।

इसी प्रकार शृङ्गार रस में भी प्रेम भाव की गम्भीरता नहीं आ पाई। नित्य नये विवाह रचानेवाले सामन्तों से इसकी आशा भी नहीं की जा सकती। कवि ने भी

सामंतवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए नारी को भोग की वस्तु मात्र ही माना है; वह उसके हृदय के सूक्ष्म सौंदर्य के दर्शन नहीं कर सका। अस्तु, इन सब दोषों के होते हुए भी "पृथ्वीराज रासो एक महाकाव्य है। उसकी महत्ता उसके आकार-प्रकार की विशालता में नहीं, अपितु इस बात में है कि एक तो वह उस युग की रचना है, जबकि हिन्दी अपनी जननी अपभ्रंश को क्रोड़ से बाहर निकलने की अभ्यस्त नहीं हुई थी, दूसरे इसमें वीर-रस का चित्रण उन हाथों से किया गया है, जो तलवार चलाने में उतने ही निपुण थे, जितने कि कलम चलाने में। कलम और तलवार—दोनों के धनी लेखक साहित्य में कभी-कभी अवतीर्ण होते हैं, अतः महाकवि चंद और उनकी रचना का महत्त्व अक्षुण्ण है।

:: चौवन ::

कबीर : चिन्तन और कला

१. विषय-प्रवेश।
२. कबीर का व्यक्तित्व—एक विश्लेषण।
३. परिस्थितियाँ और प्रेरणा-स्रोत—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक।
४. कबीर साहित्य पर बाह्य प्रभाव—अपभ्रंश का सिद्ध साहित्य, नाथ पंथ और योग मार्ग, वैष्णव-भक्ति आन्दोलन, महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय, इस्लाम का प्रभाव, सूफी मत का प्रभाव।
५. कबीर की विचार-धारा—सैद्धान्तिक पक्ष—ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, प्रेम-सम्बन्धी विचार, व्यावहारिक-पक्ष—खंडनात्मक और विधेयात्मक विचार।
६. कबीर काव्य का भाव-पक्ष।
७. कबीर-काव्य का शैली-पक्ष।
८. उपसंहार।

यदि हम एक ऐसा कवि ढूंढ़ने लगें, जिसकी प्रतिभा, बुद्धि और काव्य-शक्ति में अनेक विरोधी तत्वों का आश्चर्यजनक समन्वय हो—जिसने समाज के निम्नतम वर्ग में जन्म लेकर भी उच्चतम वर्ग को अपनी प्रतिभा के बल पर परास्त कर दिया हो, जिसने सर्वथा अशिक्षित होते हुए भी अपने युग के समस्त शिक्षित विद्वानों के मस्तिष्क को अपने तर्क से प्रभावित कर दिया हो और जिसने 'कागद' और 'मसि' न छूकर भी अपनी काव्य-रचनाओं द्वारा कोटि-कोटि जनता के हृदय में अजस्र भावधाराओं को प्रवाहित कर दिया हो—तो हमारा साक्षात्कार महाकवि, महासुधारक और महान् नेता महात्मा कबीर से होगा। कबीर क्या थे ? उनका महत्त्व कितना है ? उनके काव्य में भावनाओं का अगाध स्रोत किस रूप में प्रवाहित हो रहा है ? इन सब प्रश्नों का सम्यक् उत्तर देना किसी भी आलोचक के वश की बात नहीं। कबीर के शब्दों में उसे यही कहना पड़ता है—"कहिबे कूं शोभा नहीं, देख्यां ही उनमान।" डॉ० रामकुमार वर्मा जो कि स्वयं भी एक कवि हैं, उनकी महानता के प्रभाव से अभिभूत होकर लिखते हैं—"ऐसी स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाला कलाकार किसी साहित्य-क्षेत्र में नहीं पाया गया। वह किन-किन स्थलों में विहार करता है, कहाँ-कहाँ सोचने के लिए जाता है, किस प्रशान्त वन-भूमि के वातावरण मे गाता है, ये सब स्वतन्त्रता के साधन उसी को ज्ञात थे, किसी अन्य को नहीं। उसकी शैली भी इतना अपनापन लिये हुए है कि कोई उसकी नकल भी नहीं कर सकता। अपना विचित्र शब्द-जाल, अपना स्वतन्त्र भावोन्माद, अपना निर्भय आलाप, अपने भावपूर्ण पर बेढंगे चित्र, ये सभी उसके व्यक्तित्व से ओत-प्रोत थे। कला के क्षेत्र का सब कुछ उसी का था।"

कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने उनकी तुलना महात्मा गांधी से की है। कबीर और महात्मा गांधी दोनों ही अपने-अपने युग के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध हुए हैं। दोनों ने ही प्राचीन धर्म और दर्शन को अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ग्रहण किया है। दोनों ने ही विभिन्न धर्मों का सम्मान करते हुए उनका समन्वय करने का प्रयत्न किया है। दोनों ने ही जीवन के विविध क्षेत्रों—धर्म, समाज और नीति—में अपने युग का नेतृत्व किया है। दोनों ही साधना के क्षेत्र में कठोर और दृढ़ रहे हैं, तो दूसरी ओर उनका हृदय कोमलता से भी युक्त रहा है। फिर भी दोनों में गहरा अंतर भी मिलता है। कबीर सब कुछ होते हुए भी राजनीति से दूर रहे और महात्मा गांधी जीवन के सभी क्षेत्रों को छूते हुए भी काव्य-कला से अपना निकट सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। कबीर का युग ही ऐसा था कि जन-साधारण राजनीति में भाग नहीं ले सकता था; किन्तु यदि गांधी के पास कवि-हृदय होता तो वे काव्य-रचना में प्रवृत्त हो सकते थे—और यह प्रवृत्ति युग के प्रतिकूल नहीं होती। अस्तु, महात्मा कबीर और महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के अन्तर को स्पष्ट करनेवाला सबसे बड़ा तथ्य कबीर का कवि रूप है।

परिस्थितियाँ और प्रेरणा-स्रोत

कबीर का आविर्भाव एक ऐसे युग में हुआ, जबकि सारा राष्ट्र राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से पतनोन्मुख हो रहा था। "उस समय सारा उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन् १३९८ में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की नीवें हिला दी थीं और समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पंक के जल की भाँति मलिन हो गई थीं। जो राजवंश दिल्ली में उठे, वे वर्षाकाल के बादलों की भाँति उठे, घुमड़े, गरजे और पानी-पानी होकर भूमि पर गिर पड़े। उनके कुछ काल तक घुमड़ने और गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हुईं और उनके रूपों में परिवर्तन हुए। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में तुगलक, सैयद और लोदी राजवंशों ने उत्तरी भारत पर शासन किया। मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५ ई०) से लेकर इब्राहीम लोदी (१५२६ ई०) तक सोलह शासक दिल्ली के तख्त पर बैठे और उन्होंने अपने राज्यकाल में शासन-व्यवस्था के बदले अधिकतर आक्रमण और युद्ध ही किए।" डॉ० रामकुमार वर्मा इस सम्बन्ध में और विचार करते हुए लिखते हैं—"इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी। जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड़ लेता, वही उसे भाग्याकाश की ऊँचाई तक खींच ले जाता। राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही। कूटनीति, हिंसा, छल, त्रिशूल की भाँति फेंके जाते थे और देश के वक्षःस्थल में चुभकर उसे नहला देते थे। श्मशान में घूमते हुए प्रेतों की भाँति दिल्ल के शासक शवों पर बैठकर आनन्द से खिलखिला उठते थे। जब शासकों की सेवा में रहनेवाले हिजड़े और गुलाम भी सिंहासन पर अधिकार कर प्रजा के भाग्य का निर्णय करते थे, तो उनके प्रति जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा और स्वामिभक्ति हो

सकती थी ? इस भाँति शासक वर्ग जनता की सहानुभूति खो चुका था, जनता भी 'कोउ नृप होइ' की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन थी।" (हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, पृ० १६६)

राजनीति की भाँति धर्म को अवस्था विकृत हो रही थी। मुस्लिम आक्रमण-कारियों की गदा ने हमारे आराध्य देवताओं की मूर्तियों को चकनाचूर करके हमारी परम्परागत धारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया था। भारत के प्रायः सभी पूर्ववर्ती धर्म-संप्रदाय इस समय अपनी आभा खो बैठे थे। क्या वैदिक, क्या बौद्ध और क्या नाथ-पंथी योगी—सभी धर्म-सम्प्रदाय अपनी विकृतावस्था को पहुँच चुके थे। हाँ, केवल दक्षिण से भक्ति का एक नया स्रोत महाराष्ट्र में होता हुआ अवश्य हिन्दी प्रदेश की ओर प्रवाहित हो रहा था, जिसमें नवीन आध्यात्मिक चेतना का प्रकाश दिखाई पड़ रहा था। कबीर का ध्यान भी इसी ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने उसमें अपना तेज मिलाकर उसे और भो अधिक उज्ज्वल रूप प्रदान कर दिया।

समाज की दशा राजनीति और धर्म से प्रभावित होती है। जबकि इस युग में ये दोनों विकृत हो रहे थे, तो समाज की दशा अविकृत कैसे रह सकती थी ? शैव, सिद्ध एवं नाथ-पंथियों ने परम्परागत वर्ण-व्यवस्था के प्रति तो सन्देह उत्पन्न कर दिया था, किन्तु उसके स्थान पर कोई सुव्यवस्थित रूप उसे वे नहीं प्रदान कर पाये थे। जनता के मानसिक और नैतिक स्तर का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था। इसके दो कारण थे—एक तो सारा परम्परागत ज्ञान संस्कृत में संचित था, जबकि जनता में अपभ्रंश का प्रच-लन हो रहा था। दूसरे, हिन्दू सम्राटों के पतन के कारण हमारे विभिन्न शिक्षा-केन्द्र नष्ट हो रहे थे। इसके अतिरिक्त मुसलमान शासकों के दरबार में संस्कृत के विद्वानों को कोई सम्मान प्राप्त नहीं था, ऐसी स्थिति में हमारी ज्ञान परम्परा का ह्रास हो जाना स्वाभाविक था।

तत्कालीन युग में नारी की अवस्था तो और भी शोचनीय हो गई थी। बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा एवं अशिक्षा के कारण भारतीय नारी व्यक्तित्व-शून्य हो गई थी। एक ओर बाल-विधवाओं की संख्या में वृद्धि हो रही थी, तो दूसरी ओर समाज की कामुक प्रवृत्तियों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। स्वयं कबीर का जन्म इसी प्रकार की स्थिति का परिचय देता है। उस युग का समाज किस प्रकार की कुप्रथाओं एवं दूषित रूढ़ियों का दास हो चुका था, इसका परिचय कबीर-काव्य की अनेक पंक्तियों से प्राप्त होता है, देखिए—

कोई लरिका बेचई, लरिकी बेचै कोइ।
साझा करै कबीर सिउ, हरि संग बनजि करेइ॥

राजनीति, धर्म और समाज की इन विकृत परिस्थितियों ने कबीर को विद्रोह के लिए प्रेरित किया। यही कारण है कि उन्होंने अपने युग की प्रायः सभी परम्परागत राजनीति, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों को संदेह की दृष्टि से देखते हुए उनकी तीव्र

आलोचना की। केवल वैष्णव-भक्ति आन्दोलन की नवीन लहर को छोड़कर कबीर ने किसी भी प्राचीन मतवाद का पूरा समर्थन नहीं किया।

कबीर साहित्य पर बाह्य प्रभाव

कबीर साहित्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न स्रोतों की चर्चा विद्वानों द्वारा की गई है, इनमें कुछ प्रमुख स्रोत ये हैं—

(क) **अपभ्रंश का सिद्ध-साहित्य**—सिद्ध-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ कबीर-साहित्य में उपलब्ध होती हैं, जैसे परम्परागत वर्ण-व्यवस्था का विरोध, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की बाह्य पद्धतियों का खंडन, स्वानुभूति की वैयक्तिक शैली में व्यंजना, रूपक, उलटबासियों और प्रतीकों का प्रयोग, मुक्तक पद शैली एवं सामान्य लोक-भाषा को अपनाना आदि।

(ख) **नाथ-पंथ का प्रभाव**—तत्कालीन समाज पर नाथ-पन्थी योगियों की आश्चर्यजनक पद्धतियों एवं चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का भारी प्रभाव था। कबीर ने इनकी जटिल एवं चमत्कारिक पद्धतियों के स्थान पर जनता में सहज भक्ति योग की प्रतिष्ठा करने के लिए इनके अनेक योग-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी षट्-चक्र आदि की नये ढंग से व्यवस्था की। कुछ विद्वान् इन शब्दों के प्रयोग के कारण कबीर को नाथ-पंथ एवं योग मार्ग का समर्थक समझ लेते हैं, जबकि वे वास्तव मे ऐसा इनके प्रभाव को न्यून करने के लिए ही करते हैं।

(ग) **वैष्णव भक्ति-आन्दोलन**—कबीर के आविर्भाव-काल तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द आदि आचार्यों के द्वारा वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का प्रवर्त्तन हो चुका था। स्वयं कबीर भी गुरु रामानन्द के ही शिष्य थे। यद्यपि-तात्त्विक दृष्टि से कबीर-मत और वैष्णव भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु फिर भी इन्होंने वैष्णव भक्ति के अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया है। एक तो ईश्वर के पर्यायवाची नाम के रूप में—राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों का प्रयोग उन्होंने सर्वथा वैष्णव भक्तों के अनुरूप किया है। ध्यान रहे, अल्लाह, खुदा आदि शब्दों का प्रयोग भी कभी-कभी करते हैं, किन्तु ऐसा वे उपदेश देते समय या खण्डन-मण्डन के समय में ही करते हैं, प्रेमानुभूति की तन्मयता के क्षणों में तो उनकी वाणी राम, हरि, गोविन्द का ही स्मरण करती है, अर्थात् उनकी अन्तरात्मा की गहराई में तो वैष्णव भक्तों के ही आराध्य का नाम छिपा हुआ है; शुष्क मत-प्रतिपादन के समय भले ही वे इस्लाम के शब्दों का प्रयोग कर लें। दूसरे, उनके प्रेम का स्वरूप वैष्णव भक्ति-भावना मे गहरा साम्य रखता है। कुछ लोग इसे सूफी मत की देन बताते हैं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। प्रेम का आधार समानता की भावना होती है, जबकि भक्ति मे प्रेम के साथ श्रद्धा का भी मिश्रण होता है। कबीर ने अद्वैतवाद को स्वीकार करते हुए भी अपनी आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा किंचित् हीन स्वीकार किया है, जैसे—

> **जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।**
> **धनि मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ॥**

× × ×

कबीर कुत्ता राम का मुतिया मेरा नांउ।
गले राम की जेवड़ीं, जित खेंचे तित जांउ ।।

कबीर ने अपने युग के प्रायः सभी प्रचलित धर्मों का खण्डन किसी-न-किसी रूप में किया है, किन्तु यही एक ऐसा मत है जिसके प्रति उन्होंने अगाध श्रद्धा दिखाई है—

मेरे संगो दोई जणां, एक वैष्णों एक राम।
वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावैं नाम ।।

× × ×

वैश्नों की छपरी भली, ना साखत का बड़ गांव।

× × ×

साखत बांभण मत मिलै, वैसनों मिले चांडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानों मिले गोपाल ।।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि कबीर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन से अत्यधिक प्रभावित थे।

(घ) **महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय**—दसवीं शताब्दी के अनन्तर महाराष्ट्र प्रदेश में नाथ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त महानुभाव सम्प्रदाय और वारकरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ, जिनका प्रभाव कबीर पर भी परिलक्षित होता है। इन सम्प्रदायों से सम्बन्धित सन्त-परम्परा में आगे चलकर नामदेव का आविर्भाव हुआ। उनका जीवन-काल (१२७०-१३५० ई०) कबीर से पूर्ववर्ती रहा है। नामदेव की अनेक प्रवृत्तियों का विकास कबीर में दृष्टिगोचर होता है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने दोनां साहित्यों की विस्तृत रूप में तुलना करते हुए अनेक समानताओं पर प्रकाश डाला है। अद्वैत का समर्थन, गुरु-महत्ता, मूर्ति-पूजा पर व्यंग्य, जाति-पाँति भेद का विरोध, नाथ-पंथियों की शब्दावली का प्रयोग आदि अनेक प्रवृत्तियाँ कबीर-साहित्य में नामदेव के अनुरूप ही मिलती हैं।

(ङ) **इस्लाम का प्रभाव**—कुछ विद्वान् कबीर की अनेक प्रवृत्तियों—निर्गुणोपासना, वर्ण-व्यवस्था व मूर्ति-पूजा का विरोध आदि--को इस्लाम का प्रभाव बताते हैं, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में इस्लाम के प्रचार से पूर्व ही विकसित हो चुकी थीं। पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पन्थी योगियों ने हिन्दू धर्म की अनेक रीतियों का खण्डन उत्साहपूर्वक किया था। भले ही कबीर ने हिन्दू धर्म की बाह्य पद्धतियों का खंडन करते समय इस्लाम के अनुयायियों का-सा उत्साह दिखाया हो, किन्तु फिर भी ये इस्लाम से बहुत दूर रहे। एक तो उन्होंने नमाज, रोजा आदि की व्यर्थता सिद्ध की, दूसरे उन्होंने साधना के क्षेत्र में इस्लाम के तत्त्व की उपेक्षा की। कबीर-साहित्य के खण्डनात्मक पक्ष में ही इस्लाम का अस्तित्व है, उसका मंडनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्त्वों से सुसज्जित है। ईश्वर का गुण-गान करते समय वे राम, गोविन्द, हरि का नाम लेते हैं—अल्लाह या खुदा का नहीं। संसार की असारता घोषित करते हुए वे अद्वैतवाद और माया की बात करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाली बहिश्त

और आखरी इन्साफ की नहीं, और विधि-निषेधों की चर्चा में वे हिन्दू शास्त्रों का आधार ग्रहण करते हैं—कुरान का नहीं। केवल हिन्दू धर्म की कुछ रूढ़ियों का खण्डन करने के कारण ही कबीर को इस्लाम से प्रभावित नहीं माना जा सकता।

(च) **सूफी मत का प्रभाव**—इस्लाम की ही भाँति हमारे विद्वानों ने कबीर पर सूफी प्रभाव की भी कल्पना की है। उनका कहना है कि कबीर ने अपनी साधना-पद्धति में सूफियों के प्रेम-तत्त्व को स्थान दिया। किन्तु इस मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ध्यान रहे, उसी में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने भी प्रेम-तत्त्व को अत्यधिक महत्व दिया था। जहाँ कबीर ने वैष्णव मत के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, वहाँ उन्होंने सूफी दरवेशों और शेखों का उपहास किया है—

है कोई दिल दरवेश तेरा,
नासूत, मलकूत, जबरूत को छोड़ि के
जाइ लाहूत पर करै डेरा॥

—कबीर का रहस्यवाद, पृ० १५६

× × ×

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबे जाइ।
जिनका दिल स्याबित नहीं तिनकौ कहाँ खुदाई॥

सूफियों का प्रेम समानता की भावना पर आधारित है, किन्तु कबीर के भगवत् प्रेम में श्रद्धा का भी मिश्रण मिलता है। वे अपनी आत्मा को मैली और प्रियतम को पवित्र मानते हैं। दूसरे, सूफी मतानुयायी परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में करते हैं, जबकि इन्होंने अपने आराध्य को पति के रूप में स्वीकार किया है। तीसरे, कबीर ने अपनी साधना-पद्धति के प्रतिपादन में सूफी शब्दावली का प्रयोग कहीं भी नहीं किया। अतः कोई भी ऐसा साक्ष्य नहीं मिलता, जिससे कि कबीर के प्रेम-तत्त्व को सूफियों से गृहीत माना जा सके, जबकि इसके विपरीत वैष्णव भक्ति-मार्ग की अनेक विशेषताएँ उनके प्रेम-तत्त्व में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की विचार-धारा, साधना-पद्धति एवं साहित्य-शैली के निर्माण में सिद्धों, नाथ-पंथी योगियों, महाराष्ट्रीय सन्तों एवं वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव ने पर्याप्त योग दिया। उन पर इस्लाम और सूफीमत के प्रभाव को अब तक अत्यधिक महत्व दिया जाता रहा है, जो अनुचित है।

कबीर की विचार-धारा

कबीर की विचार-धारा का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है—(१) सैद्धान्तिक पक्ष और (२) व्यवहारिक पक्ष। सैद्धान्तिक दृष्टि से कबीर को हम किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं कर सकते। उन्होंने रामानन्द से राम-भक्ति का मन्त्र प्राप्त किया था, किन्तु फिर भी उनके राम 'दुष्ट-दलन रघुनाथ' नहीं थे। राम से उनका अभिप्राय कुछ और ही था।—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।" उन्होंने राम को निर्गुण रूप में ग्रहण करते हुए उपदेश दिया—'निरगुण राम

निरगुण राम जपहु रे भाई।" उनकी राम-भावना भारतीय ब्रह्म-भावना से सर्वथा मिलती है। वे मुसलमानों के एकेश्वरवाद या खुदावाद के समर्थक नहीं थे। उनका निर्गुण सम्बन्धी दृष्टिकोण इस्लाम के अनुकूल नहीं है। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार करते हुए डा० श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं—"स्थूल दृष्टि से मूर्ति-द्रोही एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजक बहुदेववाद में बहुत बड़ा अन्तर है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनमें उतना अन्तर नहीं दीख पड़ेगा जितना एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद में है, वरन् सारतः वे दोनों एक ही हैं, क्योंकि बहुत-से देवी-देवताओं को अलग-अलग मानना और सब गुरु गोवर्धनदास एक ईश्वर को मानना एक ही बात है। परन्तु ब्रह्मवाद का मूलाधार ही भिन्न है। उसमें लेश-मात्र भी भौतिकवाद नहीं है। एकेश्वरवाद भौतिकवाद है, वह जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत् तीनों की भिन्न सत्ता मानता है, जबकि ब्रह्मवाद शुद्ध आत्मतत्त्व अर्थात् चैतन्य के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नहीं मानता। उसके अनुसार आत्मा भी परमात्मा ही है और जड़ जगत् भी ब्रह्म है। कबीर में भौतिक या बाह्यार्थवाद कहीं मिलता ही नहीं और आत्मवाद को उन्होंने स्थान-स्थान पर अच्छी झलक दिखाई है।"

जीव, जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में कबीर की विचार-धारा अद्वैतमूलक ही है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, उनके अतिरिक्त संसार में और कुछ नही है। जो कुछ है, ब्रह्म ही है—ब्रह्म ही से सारे संसार की उत्पत्ति होती है और अन्त में वह उसी में लीन हो जाता है—

पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाई॥

सृष्टि और ब्रह्म का सम्बन्ध दिखाने के लिए अद्वैतवादी दो उदाहरण दिया करते हैं। जिस प्रकार एक छोटे से बीज में वट का बृहदाकार वृक्ष अंतर्हित रहता है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म में अंतर्हित रहती है तथा जिस प्रकार दूध में घी व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस संसार में सर्वत्र व्याप्त है—

खालिक खलक, खलक में खालिक सब जग रह्यो समाई।

जब ब्रह्म अपनी लीला का विस्तार करता है, तो इस नाम-रूपात्मक जगत् क सृष्टि होती है, जिसे वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं ही समेट लेता है—

सबमें आप आप सबहिन में, आप आप सूं खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँड़े, रूप धरे धरि मेलै॥

वेदान्त में जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद का भी प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और नाना रूपात्मक दृश्य जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। कबीर कहते हैं—

खंडित मूल बिनास कहो, किम बिगतह कीजै।
ज्यूं जल में प्रतिब्यंब, त्यूं सकल रामहिं जाणिजै॥

कबीर ने वेदान्त से कनक-कुंडल न्याय, जल-तरंग न्याय आदि के आधार पर भी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है—

जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माँहि समावहिंगे ॥

× × ×

जैसे जलहिं तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहिं हंस मिलावहिंगे ॥

× × ×

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी ॥

संसार के मिथ्यात्व एवं माया-जन्य भ्रम का आख्यान भी कबीर ने अद्वैतवादी विचार-धारा के अनुसार ही किया है। माया की निंदा उन्होंने बारम्बार की है—

जग हटावड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।
रामचरन नीकां गही, जिन जाई जनम ठगाइ ॥

× × ×

कबीर माया पांपणीं, हरि सूं करै हराम।
मुखि कडियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की दार्शनिक मान्यताएँ अद्वैतवाद के अनुकूल हैं, किन्तु फिर भी हम उन्हे पूर्णतः अद्वैतवादी नहीं कह सकते। अद्वैतवाद ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति पर बल देता है; किन्तु कबीरदास ने इनके स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा को। तत्कालीन वैष्णव आचार्यो ने अद्वैत-विरोधी आधारों पर भक्ति की प्रतिष्ठा की थी, जबकि कबीर ने अद्वैत और भक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। वे ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की महत्ता स्पष्ट रूप म स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में—'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय। ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।' वे अपनी साधना-पद्धति में प्रेम को सर्वोपरि स्थान देते हैं। प्रेम के महत्त्व की व्याख्या उन्होंने अनेक दोहों मे की है—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लोहार की, सांस लेत बिन प्रान ॥
जहाँ प्रेम तहँ नेमि नहिं, तहाँ न बुधि व्योहार।
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिनै तिथि बार ॥

यह तो हुई कबीर-मत के सैद्धान्तिक पक्ष की बात। अब हम उसके व्यावहारिक पक्ष को लेते हैं। कबीरदास के युगधर्म के व्यावहारिक रूप को लेकर ही अनेक दुराचार एवं अत्याचार हो रहे थे। सभी धर्म-सम्प्रदायों की मूल विचार-धारा सामान्यतः एक है। सभी धर्म ईश्वर में विश्वास, प्रभु के गुणगान, सत्य, दया, परोपकार आदि का समर्थन करते हैं। किन्तु धर्म के बाह्य रूप को, पूजा के विधि-विधानों को लेकर ही विभिन्न-सम्प्रदायों के लोग परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। जब मूल भावना को भूलकर उसके

बाह्य रूप को ही सारा महत्त्व दिया जाने लगता है, तो धर्म का नाश होने लगता है कबीर के युग में ऐसा ही होने लगा था। अतः उन्होंने एक तो धर्म के सच्चे रूप को प्रकट करने के लिए और दूसरे विभिन्न धर्मो के पारस्परिक मतभेद को दूर करने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के विधि-विधानों, कर्म-कांड एवं अन्ध विश्वास की कटु आलोचना की। उनकी इस आलोचना का सारांश निम्नांकित पद में उपलब्ध होगा—

साधो देखो जग बौराना।
साँचि कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना॥
हिन्दु कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं, मरम कोई नहिं जाना॥
बहुत मिले मोहि नेमा धर्मी, प्रात करैं असनाना।
आतम छोड़ि पखानैं पूजै, तिनका थोथा ज्ञाना॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ व्रत भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे, छाप तिलक अनुमाना॥
साखी शब्दै गावत फूले, आतम खबर न जाना॥
घर घर मंत्र जो देत फिरत हैं, माया के अभिमाना।
गुरुवा सहित सिस्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना॥
× × ×
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी।
वह कर जिबह वो झटका मारैं, आग दोउ घर लागी॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्मों की बुराइयों का खंडन निष्पक्ष रूप मे किया है। जहाँ उन्होंने हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा, तीर्थ, व्रत, उपवास, छुआछूत का तीव्र विरोध किया है, वहाँ उन्होंने मुसलमानों की नमाज, जीव-हत्या आदि की भर्त्सना की है।

विभिन्न धर्मों की रूढ़ियों का खंडन करते समय कबीर की वाणी का स्वर अत्यन्त तीखा हो गया है—

जौ तू बाँभन बाँभनी जाया, तो आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया।
जौ तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतर खतना क्यों न कराया॥

कबीर ने जहाँ खंडन किया है, वहाँ धर्म के सत् स्वरूप का मंडन भी किया है मुख्यतः उन्होंने गुरु-भक्ति, ईश्वर-स्मरण, संसार से विरक्ति, कथनानुसार करणी, सुसंगति, प्रेम-महिमा, संयम और सदाचार का प्रतिपादन विधेयात्मक रूप मे किया है। यहाँ कुछ पक्तियाँ देखिए—

(क) गुरु-भक्ति—

सतगुरु सवाँ न को सगा, सोधी सइँ न दाति।
हरिजी सवाँ न नो हितू, हरिजन सइँ न जाति।

सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावण हार।

(ख) ईश्वर-स्मरण—

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिन्द के गाइ।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाइ।
कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधै संधि मिलाइ।

(ग) संसार की असारता—

झूंठे सुख को सुख कहैं, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।

(घ) सुसंगति का परिणाम—

कबिरा संगत साध की, ज्यों गंधी की बास।
जो कछु गंधी दे नहीं, तौ भी बास सुबास॥
मथुरा भावे द्वारिका, भावे जा जगन्नाथ।
साध संगति हरिभजन बिनु, कछू न आवे हाथ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने धर्म के पवित्र रूप की ही प्रतिष्ठा का प्रयत्न अपने साहित्य के द्वारा किया।

कबीर-काव्य का भाव-पक्ष

कबीर ने प्रायः जिन विचारों का प्रतिपादन किया है, वे उनकी व्यक्तिगत अनुभूति से समन्वित हैं, अतः उनका प्रतिपादन भावना से युक्त है। दूसरे, उन्होंने अपने वैयक्तिक ईश्वर-प्रेम का निरूपण भी अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उनके इस ईश्वर-प्रेम या रहस्यवाद को किस रस के अन्तर्गत स्थान दें? कबीर ने इसमें पत्नी और पति के रूपक का प्रयोग किया है, अतः काव्यानुभूति की दृष्टि से उनके प्रणय काव्य को उच्चकोटि के शृङ्गार में स्थान दिया जा सकता है।

कबीर साधना के क्षेत्र में बाला-प्रेयसी का-सा रूप धारण कर लेते हैं। अपने प्रियतम के विरह में उनका हृदय वेदना से ओत-प्रोत हो जाता है। अपनी इस विरह-वेदना की व्यंजना उन्होंने शत-शत दोहों में की है। ये दोहे अनुभूति से ओत-प्रोत हैं। उनके हृदय की आकुलता का वर्णन देखिए—

आइ न सकौ तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे बिरह तपाइ तपाइ॥

× × ×

चोट सताणी विरह की, सब तन जरजर होइ।
मारण हारा जाणि है कै जिहि लागी सोइ॥

प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते कबीर की विरहिणी आत्मा शोक-विह्वल हो उठती है। वह उनकी प्रतीक्षा में पथ के किनारे जाकर खड़ी हो जाती है। आने-जाने

वाले प्रत्येक पथिक से वह अपने प्रियतम के सम्बन्ध में केवल एक बात पूछती है—केवल एक—"वे कब मिलेंगे ?" किन्तु कोई उत्तर नहीं देता। भला विरहिणी अपने मन को किस प्रकार शान्त रखे। उसका हृदय सदैव प्रियतम-दर्शन के लिए तरसता रहता है और मन को जरा भी चैन नहीं मिलता। उनका पथ देखते-देखते आँखों में झाँई पड़ गई और उनका नाम रटते-रटते जिह्वा में छाले पड़ गए। विरह में रोते-रोते आँखें कसैली हो गई हैं, किन्तु लोग समझते हैं कि दुखती हैं। उन्हें क्या पता कि वह अपने प्रियतम के लिए रात-रात भर रोती रहती है। प्रतीक्षा करते-करते दिन बीत जाता है, रात भी बीत जाती है, किन्तु विरहिणी को उसका प्रियतम नहीं मिलता। उसका हृदय तड़पता ही रह जाता है। विरहिणी सोचती है—इस प्रकार रात-दिन जलते रहने से तो मौत ही अच्छी है, इन्हीं भावों की व्यंजना निम्नांकित दोहे में देखिए—

बिरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥
बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन को, मन नाहीं विश्राम ॥
अंखड़ियां झाइं पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ॥
अंखड़ियां प्रेम कसाइयां, लोग जांणै दुखड़ियां।
सांई अपणैं कारणें, रोइ-रोइ रतड़ियां ॥

× × ×

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।
बिरहणि पिव पावे नहीं, जियरा तलपै माइ ॥
कै बिरहणि कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां मो पै सह्या न जाइ ॥

विरह की इस गहरी-वेदना को कौन समझ सकता है। प्रेम-दिवानी मीरा के शब्दों में "घायल की पीड़ा घायल जाणैं जे कोई घायल होय।" कबीर की आत्मा भी कुछ ऐसा ही अनुभव करती है—

चोट सतांणी बिरह की, सब तन जरजर होइ।
मारण हारा जांणि है, कै जिहि लागी सोइ ॥

× × ×

हिरवा भीतरि दौं बलै धूंवां प्रकट न होइ।
जाकै लागी सो लखे, कै जिहि लाई सोइ ॥

भले ही कबीर की इस विरह-व्यंजना में जायसी की-सी अतिशयोक्तियाँ न हों, किन्तु मार्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से यह हिन्दी काव्य के किसी भी लौकिक विरह-वर्णन से कम अनुभूतिपूर्ण नहीं है।

विरह की दीर्घ साधना के अनन्तर कबीर के जीवन में अन्त में मिलन की घड़ियों का भी आगमन होता है। वे अपना सारा पौरुष, सारा गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूल

कर किसी नवीन किशोरी बाला के हृदय की भाँति कोमलता से गद्गद, लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय की धड़कन द्रुततर हो जाती है और घूँघट का पट कुछ आगे खिसका आता है। एक ओर सास का भय, देवरानी की लज्जा और ननदों का उपहास, दूसरी ओर किसी अपरिचित से प्रथम मिलन की अज्ञात आशंकाएँ—इन सबसे उस मुग्धा की जो दशा हो जाती है, वह अवर्णनीय है—

पिया मोरा जागे मैं कैसे सोऊँ री।
पांच सखी मेरे संग की सहेली, उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री!!
सास सयानी ननद द्योरानी, उन डर डरी पिय सार न जानी री!!
द्वादस ऊपर सेज बिछानो, चढ़ न सकी लजि लजानी री!!

यदि वह अपरिचित सो रहा, तो उसके पार्श्व में जाकर चुपचाप लेट जाना कुछ और बात है, पर उसके जागते समय जाना कुछ और है। इस दूसरी परिस्थिति में नवीना का कार्य बहुत ही दुष्कर होता है। यद्यपि वह आगे बढ़ती है, किन्तु उसका हृदय शंकाकुल हो उठता है—

मन परतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणों उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग॥

और अन्त में मधुर-मिलन के वे क्षण भी आते हैं, जबकि उसकी सारी शंका, सारी लज्जा और सारे तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में बह जाते हैं। यद्यपि वह मुग्धा नायिका की भाँति प्रारम्भ में थोड़ा निषेध करती है—

धीरे पाँव धरो पलंगा पर, जागत ननद जिठानी।

किन्तु दूसरे ही क्षण—

जोग जुगत री रंग महल में, प्रिय पाये अनमोल रे।
कहत कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥

× × ×

कहे कबीर सुनो भई साधो, लोकलाज बिलछानी।

यद्यपि कबीर की इन अलौकिक अनुभूतियों को शृङ्गार रस की संज्ञा देना उसका खुले शब्दों में अपमान करना है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि कबीर ने साधक कबीर की अनुभूतियों का इतना अधिक साधारणीकरण कर दिया है कि उनकी असाधारणता रसानुभूति में बाधक सिद्ध नहीं होती। यदि हम एक ऐसा शृङ्गार-काव्य पढ़ें, जो सौंदर्य के स्थूल अवयवों एवं मिलन के नग्न दृश्यों से शून्य हो तथा जिसमें कामुकता और अहं और स्वार्थ का सर्वथा विगलन हो गया हो, तो उसकी अनुभूति लगभग वैसी ही होगी, जो कबीर के काव्य से होती है। काव्यानुभूति के क्षेत्र में, जबकि असामान्य सामान्य में, अलौकिक लौकिक में, बीभत्स सौंदर्य में, शोक आनन्द में परिणत हो सकता है, तो अलौकिक प्रेम का परिष्कृत शृङ्गार में परिवर्तित हो जाना भी स्वाभाविक है, अन्यथा रहस्यवादी साहित्य काव्य न कहलाकर धार्मिक दार्शनिक ग्रन्थों की कोटि में रखा जायगा। कहना न होगा कि इस दृष्टि से कबीर का काव्य बहुत कुछ सफल सिद्ध होता है।

कबीर-काव्य का शैली-पक्ष

यद्यपि कबीर ने प्रयत्नपूर्वक अपनी शैली को चमत्कारपूर्ण प्रायः नहीं बनाया है, किन्तु फिर भी अनुभूति के वेग के कारण उनकी शैली में स्वाभाविक रूप से ही प्रभावोत्पादन की क्षमता आ गई है। जहाँ उन्होंने अपने हृदय के प्रणय-रस से ओत-प्रोत काव्य लिखा है, उसका तो कहना ही क्या; संसार की क्षणभंगुरता, लोभ, सत्य और सदाचार के शुष्क विचारों का प्रतिपादन उन्होंने इस ढंग से किया है कि वह पाठक के हृदय को आकर्षित कर लेता है। वे केवल मस्तिष्क को प्रभावित करनेवाला उपदेश नहीं देते, अपितु उसे एक ऐसा रूप प्रदान कर देते हैं, जो हमारे कल्पना-चक्षुओं का विषय बन सके। वे सीधी-सी बात को भी इस प्रकार कहते हैं कि वह प्रभावोत्पादक बन जाती है। जैसे, संसार की नश्वरता का प्रतिपादन देखिए—

झूँठे सुख को सुख कहैं, मानत है मन-मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥

यहाँ अन्तिम पंक्ति में व्यंजना का वैभव दृष्टिगोचर होता है। 'लोभ मत करो', इस शुष्क तथ्य को कबीर इस प्रकार वर्णित करते हैं—

माखी गुड़ में गड़ि रही, पंख रही लपटाइ।
ताली पीटै सिर धुनै, मीठै बोइ माइ॥

यहाँ अभिधा में यह नहीं कहा गया कि लोभ बुरा है, अपितु इस सत्य की व्यंजना एक ऐसे दृश्य की आयोजना करके की गई है, जो अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावशाली है।

कबीर के काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। वे शुष्क तथ्यों को उपमानों में लपेटकर प्रस्तुत करते हैं, जिससे उनके आकर्षण में अपार वृद्धि हो जाती है। उन्होंने एक ही तथ्य की व्यंजना के लिए अनेक प्रभावोत्पादक उपमाओं का प्रयोग किया है; जैसे—

१. धन जोबन का गरबु न कीजै, कागद जिउ गलि जाहिगा।
२. पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जाति।
३. ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर फूल।

इन सब पंक्तियों में संसार की नश्वरता का प्रतिपादन विभिन्न उपमानों के माध्यम से किया गया है। उपमा के अतिरिक्त रूपक और अन्योक्ति का प्रयोग भी कबीर ने अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। देखिए—

रूपक— **यह तन कांचा कुंभ है, लिये फिरै था साथ।**
टपका लागा फूटिया, कछु नहिं आया हाथ॥

अन्योक्ति— **मैं भंवरा तोहिं बरजिया, बन-बन बास न लेय॥**
अटकैगा कहूँ बेल से, तड़पि तड़पि जिय देय॥
माली आवत देखि के कलियाँ करैं पुकारि।
फूले फूले चुनि लिये कालिह हमारी बारि॥

यहाँ हमने कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में कबीर-काव्य में सभी अलंकारों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं। सभी अलंकारों का मिल जाना महत्त्व की बात नहीं है, अपितु महत्त्व की बात यह है कि सभी अलंकार स्वतः ही अत्यंत प्रभावोत्पादक रूप में आये हैं।

कबीर की भाषा-शैली में व्यंजना की प्रौढ़ शक्ति एवं काव्य-गुणों का अक्षय कोष विद्यमान है। यद्यपि उनके विभिन्न शिष्यों के प्रान्त-भेद के कारण उनकी वाणी के विभिन्न रूप मिलते हैं, जिनमें भाषा की एकरूपता नहीं मिलती, किन्तु यह कबीर का दोष नहीं है। मूलतः उनकी भाषा में भावों को व्यक्त करने की असाधारण शक्ति है। काव्य-शास्त्र और व्याकरण का अभ्यास किए बिना ही उन्होंने भाषा पर अद्भुत अधिकार प्राप्त कर लिया था। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उनकी भाषा के गुणों पर मुग्ध होकर लिखते हैं—"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।" आगे चलकर डॉ० द्विवेदी लिखते हैं—"फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पण्डित और काजी, अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐंसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़कर चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता।"

उपसंहार

वस्तुतः कबीर अपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनके काव्य में भाव और विचार, तथ्य और कल्पना, भाषा और अलंकार का आश्चर्यजनक रूप में समन्वय हुआ है। उनके महत्व के सम्मुख हिन्दी के बहुत कम कवि ठहर सकते हैं। तुलसीदास महान् कहे जाते हैं, किन्तु उनके पास शिक्षा, ज्ञान और संस्कारों की ऐसी थाती थी, किसके बल पर आगे बढ़ना अधिक कठिन नहीं था—पर समाज की एक निम्नतम श्रेणी में जन्म लेकर अक्षर-ज्ञान से सर्वथा शून्य होते हुए भी कबीर भाव, विचार और साधना के जिस ऊँचे स्तर तक पहुँचे, वह अद्भुत है! कृष्ण के परम्परागत रूप को लेकर नवीन भाव-लहरियों को संचारित कर देना 'सूरसागर' के रचयिता की महान् देन है, किन्तु कबीर की सी तेजस्विता उसमें कहाँ? हिन्दी के शेष कवियों में तो और है ही कौन, जिसकी तुलना कबीर से की जा सके? प्रेम-मार्ग के पथिक जायसी दूसरों की ही राम-कहानी सुनाने में लगे रहे, स्वानुभूतियों की वह मार्मिक व्यंजना, जो कबीर में मिलती है, उनमें नहीं मिलती। हाँ, आधुनिक युग के कवियों में प्रसाद अवश्य ऐसे हैं; जिनका स्मरण यहाँ किया जा सकता है। कबीर की तुलना प्रसाद से इसलिए भी उपयुक्त है कि दोनों अपने युग में सबसे बड़े रहस्यवादी कवि माने जाते हैं; किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। कबीर ने अपनी दिव्य अनुभूतियों को सांसारिक शब्दावली में व्यक्त किया

था, जबकि प्रसाद ने लौकिक प्रेम को अलौकिकता का आवरण प्रदान किया। कबीर जिस महान् सत्ता के साक्षात्कार से इसी जीवन में तेजोमय हो चुके थे और जिसके प्रकाश के कारण उनके शब्दों में अपूर्व शक्ति आ गई थी, उसका प्रसाद कदाचित् आभास-मात्र ही प्राप्त कर सके।

सुकरात ने एक बार कहा था कि जब परमेश्वर को धरती के जीवों से वार्तालाप करना होता है, तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से बोलता है। वह अपना दिव्य संदेश कवि के दिव्य शब्दों में देता है। सुकरात का यह कथन विश्व के कुछ ही कवियों पर लागू होता है—इन कुछ कवियों में कबीर का स्थान सबसे ऊँचा है।

:: पचपन ::

जायसी की प्रेम-व्यंजना

१. भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानों की परम्परा।
२. क्या हिन्दी प्रेमाख्यानों में प्रेम की व्यंजना अलौकिक रूप में है ? इस सम्बन्ध में पाँच युक्तियाँ और उन पर विचार—(क) उद्देश्य—सूफी मत-प्रचार, (ख) रूपक में आध्यात्मिकता, (ग) आध्यात्मिक सिद्धान्त, (घ) नायिका का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य, (ङ) प्रेम और विरह का व्यापक वर्णन।
३. जायसी का पद्मावत—(क) नारी-सौन्दर्य का वर्णन, (ख) उद्दीपन (प्रकृति) का चित्रण, (ग) प्रेमाश्रय की अनुभूतियाँ, (घ) संचारी भाव, (ङ) अनुभावों की योजना, (च) पद्मिनी की प्रेमानुभूतियाँ, (छ) संयोगानुभूतियाँ।
४. स्थायीभाव या प्रेम का उत्कर्ष।
५. उपसंहार।

भारतीय साहित्य में लगभग पाँचवीं शताब्दी से एक ऐसी काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तन हुआ, जिसमें साहस और प्रेम का चित्रण अद्भुत रूप में मिलता है। प्रारम्भ में इसका विकास गद्य-काव्य शैली में हुआ, किन्तु आगे चलकर प्राकृत अपभ्रंश में गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग होने लगा। इस काव्य-परम्परा की आरम्भिक कृतियाँ—वासवदत्ता (सुबन्धु), कादम्बरी (बाण), और दशकुमार चरित (दंडी) हैं। इस काव्य-परम्परा का प्रचार पाश्चात्य देशों में भी पर्याप्त हुआ तथा इसके प्रभाव से वहाँ उस साहित्य का विकास हुआ जिसे "रोमांस" कहा जाता है। रोमांस की दो प्रमुख विशेषताएँ साहस और प्रेम का मिश्रण मानी जाती हैं, जो कि उपर्युक्त भारतीय प्रेमाख्यानों में भी मिलती हैं। संस्कृत में इस काव्य-शैली को 'कथा-काव्य' कहा गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस 'कथा-काव्य' शैली ने प्राकृत और अपभ्रंश मे गद्य के स्थान पर पद्य का रूप ग्रहण किया है। इन भाषाओं के जैन कवियों ने इनमें एक विशेषता का और समन्वय किया—यह विशेषता है : निज धर्म के सिद्धान्तों का समन्वय। किन्तु फिर भी इनकी मूल-प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं पड़ा। प्राकृत-अपभ्रंश की तरंगवती, समरादित्य-कथा, भुवन-सुन्दरी, मलय-सुन्दरी, सुर-सुन्दरी, नागकुमार चरित, यशोधर चरित, करकंड चरित, पद्मश्री चरित आदि में प्रेम का वही रूप उपलब्ध होता है, जो कि संस्कृत के वासवदत्ता, कादम्बरी एवं दशकुमार-चरितादि में मिलता है।

आगे चलकर यही काव्य-परम्परा हिन्दी में विकसित हुई जिसे 'सूफी प्रेमाख्यान' या 'निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा' कहा जाता है। महाकवि जायसी भी इसी काव्य-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। हमारे विद्वानों का विश्वास है कि जायसी तथा अन्य प्रेमाख्यान-रचयिता कवियों ने अपने काव्य में अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद की व्यंजना की है।

इस मत के समर्थन में ये युक्तियाँ दी गई हैं—(१) इन कवियों ने सूफी-मत के प्रचार के लिए अपने काव्यों की रचना की। (२) इन काव्यों में आत्मा और परमात्मा के प्रेम का रूपक बाँधा गया है। (३) इनमें स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक सिद्धान्तों एवं साधना पद्धतियों का निरूपण किया गया है। (४) इन काव्यों में नायिका (जो कि परमात्मा की प्रतीक है) के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य का इतने व्यापक रूप में चित्रण किया गया है कि जिससे किसी 'अनन्त सौदर्य-सत्ता' के स्वरूप का आभास होने लगता है। (५) इनमें प्रेम और विरह का ऐसा वर्णन किया गया है कि जिसमें आध्यात्मिकता का दर्शन होने लगता है। अस्तु, जायसी की प्रेम-व्यंजना का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इन युक्तियों पर विचार कर लेना उचित होगा।

१. **सूफी मत के प्रचार की युक्ति**—यद्यपि हमारे विद्वानों ने इन कवियों की काव्य-रचना का उद्देश्य सूफी-मत का प्रचार बताया है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस परम्परा में अधिकांश कवि ऐसे आते हैं जिनका सूफी मत से कोई सम्बन्ध नहीं था। ईश्वरदास, पुष्कर, सूरदास 'लखनवी', मेघराज साहा, दुःखहरण दास, हेम रत्नसूरि, नन्ददास, काशीराम, हरसेवक मिश्र आदि कवियों ने भी प्रेमाख्यान लिखे हैं, जो कि हिन्दू थे, अतः इनके द्वारा सूफी मत के प्रचार की बात ही नहीं उठती। यदि मुसलमान कवियों का उद्देश्य धर्म-प्रचार होता, तो हिन्दी कवि इनका अनुकरण करना तो दूर रहा, इन रचनाओं का डटकर विरोध करते। इसके अतिरिक्त मुसलमान कवियों ने अपनी रचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप में घोषित किया है। जायसी ने लिखा है—मैंने यह सोचकर काव्य लिखा है कि संसार में मेरा कोई स्मारक-चिह्न रह जाय। जो लोग इस कहानी को पढ़ेंगे, वे मुझे भी याद करेंगे—

औ मैं जानि कवित अस कीन्हा।
मकु यह रहे जगत महँ चीन्हा॥

× × ×

जो यह पढ़े कहानी, हम्ह सँवरै दुई बोल।

उसमान ने तो अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए ही चित्रावली की रचना की थी, इसीलिए वे अन्य कवियों को चैलेंज देते हैं कि जिसमें उनसे अधिक बुद्धि हो, वे उनसे अच्छी कहानी लिखकर दिखावें—

जाकी बुद्धि होइ अधिकाई,
आन कथा एक कहै बनाई॥

साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि मेरी कहानी को बच्चे सुनेंगे तो प्रसन्न होंगे, तरुण सुनेंगे तो उनके मन में काम बढ़ेगा, भोगी के भोग-विलास में वृद्धि होगी—

बालक सुनत कान रस लावा।
तरुनन्ह के मन काम बढ़ावा॥

× × ×

भोगी कहँ सुख भोग बढ़ावा।

इसी प्रकार आलम और नूरमोहम्मद ने भी अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य

कामी, रसिक और प्रेमी लोगों की तृप्ति करना बताया है। यूसुफ-जुलेखाँ के रचयिता निसार ने काव्य-रचना का उद्देश्य पुत्र के देहान्त-शोक को भुलाना, प्रेमियों के प्रेम को बढ़ाना और अपना स्मृति-चिह्न छोड़ जाना स्वीकार किया है। अतः इन काव्यों का उद्देश्य धर्मप्रचार बताना उचित नहीं।

२. **रूपक में आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना**—दूसरी युक्ति यह दी गई है कि इन प्रेमाख्यानों में आत्मा और परमात्मा के प्रेम का रूपक बाँधा गया है। किन्तु हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। उदाहरण के लिए 'पद्मावत' के रूपक पर विचार किया जा सकता है। 'पद्मावत' के अन्त में कवि जायसी ने घोषित किया।

"मैं एहिं अरथ पंडितन्ह बूझा, कहा कि हम किछु और न सूझा।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं, ते सब मानुष के घट माँहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चीन्हा।
गुरु सुआ जेह पंथ दिखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ धंधा, बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू, माया अलाउद्दीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु, बूझि लेई जौ बुझै पारहु।"

इस रूपक में रतनसेन को मन का तथा पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है, किन्तु हमारे आलोचकों ने इन्हें क्रमशः आत्मा और परमात्मा के प्रतीक मानकर व्याख्या करने का प्रयत्न किया, जिससे उन्हें सफलता न मिलना स्वाभाविक ही था। जब उन्हें सफलता न मिली तो यह कहना आरम्भ किया गया कि यह रूपक ही प्रक्षिप्त है। वस्तुतः इस रूपक को सही अर्थ में ग्रहण करने का पूरा प्रयत्न ही नहीं किया गया। इस रूपक की पूरी व्याख्या हमने अपने शोध प्रबन्ध में की है, जिससे स्पष्ट है कि रहस्यवाद या अलौकिक प्रेम से इस रूपक का कोई सम्बन्ध नहीं है।

३. **आध्यात्मिक सिद्धान्त**—जिस प्रकार इन कवियों ने पाठक की जानकारी बढ़ाने के लिए सैकड़ों प्रकार के पकवानों और व्यंजनों की, भिन्न-भिन्न जाति के घोड़ों की, वाटिका के अनेक पौधों की, युद्ध के विभिन्न शस्त्रास्त्रों की, शतरंज-चौपड़ की सूक्ष्म चालों की लम्बी सूचियाँ अपने काव्य में प्रस्तुत की हैं, इसी प्रकार उन्होंने दार्शनिक तत्त्वों का बोध कराने के लिए स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण भी किया है। इसके पीछे इन कवियों का कोई धर्म-प्रचार का उद्देश्य नहीं था; यदि ऐसा होता तो वे हिन्दू-दर्शन और नाथ-पंथी योगियों की पद्धति का प्रतिपादन नहीं करते। न ही ऐसा समझना चाहिए कि इन काव्यों के सभी रचयिता कोई पहुँचे हुए संत, फकीर या धर्मोपदेशक थे। इन कवियों का व्यक्तित्व हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास जैसा दिखाई पड़ता है, जिन्होंने अपने काव्य के वैभव की वृद्धि के लिए अपनी साहित्यिक रचनाओं को भी 'ज्ञान-कोष' का रूप देने का प्रयत्न किया है।

४. **नायिका का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य**—इन काव्यों को सूफी रहस्यवाद से सम्बन्धित मानने वालों की चौथी युक्ति यह है कि इनमें नायिका के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को इतना व्यापक रूप प्रदान किया गया है कि उसमें किसी विराट् सत्ता के रूप का

आभास होने लगता है। किन्तु यह युक्ति भी हमें उचित प्रतीत नहीं होती। जहाँ तक नायिकाओं के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, उन्हें हम दोषों—गर्व, ईर्ष्या, द्वेष आदि से पूर्णतः समन्वित पाते हैं। यही नहीं, उनका प्रेम भी पूर्णतः कामुकता से ग्रसित है। जायसी की 'पद्मिनी' युवावस्था को प्राप्त होते ही शुक से कहती है—

सुन हीरामन कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई।
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥

रत्नसेन के सिंहलगढ़ में पहुँचने के अनन्तर भी पद्मावती को एक कामवासना एवं भोग-लिप्सा से विह्वल युवती के रूप में देखते हैं—

कँवल भँवर ओही बन पावै, को मिलाइ तन-तपनि बुझावै।

× × ×

जोबन गरुअ-अपेल पहारू, सहि न जाइ जोबन का भारू।
जोबन अस मैमन्त न कोइ, नवैं हति जो आँकुस होइ।
जोबन भर भादौं जस गंगा, लहरें देइ, समाइ न अंगा।

यहाँ 'तन-तपनि', 'यौवन भार' एवं कामोन्माद का जैसा वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि पद्मिनी का प्रेम सर्वथा लौकिक स्तर का है, उसमें आध्यात्मिकता या अलौकिकता ढूँढ़ने का प्रयत्न अनावश्यक है।

जो विद्वान् इन काव्यों में नायिका के अतिशयोक्तिपूर्ण सौन्दर्य-वर्णन में विराट् सत्ता के रूप का दर्शन करते हैं, वे यह न भूलें कि इन कवियों ने केवल नायिका के ही सौंदर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं किया है, वे अन्य नायिकाओं के प्रसंग में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए पद्मावत में दिल्ली-सुलतान शेरशाह चित्तौड़ के योद्धा बादल की नववधू, सिंहल की वेश्याओं और मदमाती नव सुन्दरियों के रूप में चित्रित निर्जीव तोपों के 'सौन्दर्य' में भी कवि ने वही चमत्कार दिखाया है, जो नायिका पद्मिनी के सौन्दर्य में मिलता है।

५. प्रेम और विरह का व्यापक वर्णन—जैसा कि पीछे कहा गया है, इन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों की परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रेम और विरह का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में किया है। संस्कृत-कवि बाणभट्ट ने भी अपने प्रेमाख्यान—कादम्बरी—में विरह का इतना व्यापक चित्रण किया है कि उससे नायक की मृत्यु तक हो जाती है। अतः इस अत्युक्ति को ही अलौकिकता समझ लेना अनुचित है।

उपर्युक्त युक्तियों पर विचार करने के अनन्तर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन काव्यों में सूफी रहस्यवाद की अभिव्यंजना मानना एक भ्रम-मात्र है। यद्यपि हमारे कुछ विद्वानों तथा शोधकर्त्ताओं ने इन रचनाओं को सूफी रहस्यवाद से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। डॉ० विमलकुमार जैन एक ओर इन आख्यानों को 'सूफी' विशेषण से विभूषित करते हैं तथा दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं—"इसकी (पद्मावत) कथा में जो नख-शिख, प्रेमावेश तथा ऐसी ही

अन्य बातों का वर्णन है, उससे आध्यात्मिक पक्ष को कुछ धक्का-सा लगता प्रतीत होता है।" "हिन्दी साहित्य में इन कवियों के काव्यों में हमें जो कुछ भी सूफी मत मिलता है, उसके पर्यालोचन से यह परिणाम निकलता है कि वह मध्यपूर्व के प्रदेशों में सिद्धांतीभूत सूफी मत से बहुत कुछ विभिन्नता रखता है।" (सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० १३८-१३९)

अस्तु, हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि इन प्रेमाख्यानों में जिस प्रेम का निरूपण हुआ है, वह सर्वथा लौकिक ही है। उसे 'सूफी रहस्यवाद' समझना एक बड़ी भारी भ्रान्ति है। जायसी की प्रेम-व्यंजना को हम लौकिक रूप में ही ग्रहण करते हुए विचार करेंगे।

जायसी का 'पद्मावत'

हिन्दी प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा की सर्वश्रेष्ठ रचना जायसी-कृत 'पद्मावत' मानी जाती है। इसका नायक रत्नसेन है, जो कि हीरामन तोते के मुंह से पद्मिनी के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उसके प्रेम में विह्वल हो जाता है। वह अपने घर, परिवार और देश को छोड़कर उसकी प्राप्ति के लिए निकल जाता है तथा अनेक कठिनाइयों के पश्चात् उसकी प्राप्ति में सफल हो पाता है। विवाह के अनन्तर भी पद्मिनी और रत्नसेन को कई कष्टों का सामना करना पड़ता है। अन्त में दिल्ली सुलतान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ रत्नसेन वीरगति को प्राप्त हो जाता है और पद्मिनी सती हो जाती है। इस काव्य में शृङ्गार रस के सभी अवयवों एवं अनेक दशाओं का मार्मिक वर्णन उपलब्ध होता है।

नारी (आलम्बन) सौन्दर्य का वर्णन—नारी सौन्दर्य के चित्रण में जायसी ने परम्पपरागत नख-शिख-वर्णन की शैली का प्रयोग किया है। उन्होंने नारी रूप के सामूहिक प्रभाव की व्यंजना की अपेक्षा उसके अंग-प्रत्यंग का अलग-अलग वर्णन किया है। वे अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति के बल पर प्रत्येक अवयव की बाह्य एवं आन्तरिक विशेषताओं का उद्‌घाटन कुशलतापूर्वक कर देते हैं; यथा केशों का एक वर्णन देखिए—

> **भँवर केस, वह मालति रानी। विसहर लुरहिं लेहिं अरघानी॥**
> **बैनी छोरि झारु जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥**
>
> × × ×
>
> **बेधे जानु मलयगिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहूँ पासा॥**
> **घुंघरवारि अलकैं बिखभरी। सिकरी प्रेम चरहिं गिय परी॥**

यहाँ केशों की श्याम-वर्णता, वक्रता, सुगन्धि एवं मनमोहकता आदि सभी गुणों की व्यंजना भ्रमर, विषधर, अन्धकार, मलयगिरि और शृङ्खला आदि उपमानों की सहायता से कर दी गई।

वस्तु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण के अतिरिक्त जायसी के सौन्दर्य-वर्णन में कुछ प्रवृत्तियाँ और मिलती हैं। एक तो उन्हें वर्णन-विस्तार से इतना अधिक प्रेम है कि उनका नख-शिख-

वर्णन एक पूरे सर्ग का रूप ले लेता है। दूसरे, वे अत्युक्तियों एवं अतिशयोक्तियों का इतना अधिक प्रयोग करते हैं कि उनके वर्णनों में अस्वाभाविकता आ जाती है। इसी अस्वाभाविकता से अलौकिकता का भी भ्रम हो जाता है। तीसरे, वे सौन्दर्य-वर्णन के लिए कथावस्तु के प्रवाह और प्रसंग के औचित्य का भी ध्यान नहीं रखते। चाहे राजकुमारी पद्मिनी हो, सिंहल द्वीप की वेश्याएँ हों या युद्ध में प्रयाण करते हुए बादल की नववधू हो—जहाँ भी उन्हें अवसर मिला, लम्बे-लम्बे वर्णन प्रस्तुत कर दिये। सुन्दरियों के रूप के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए भी वे द्रष्टा के आहत हो जाने, मूर्च्छित हो जाने या प्राण त्याग देने की कल्पना बारम्बार करते हैं। फिर भी सौन्दर्य की व्यंजना उनके काव्य में वर्णन के रूप में ही अधिक होती है, चित्रण के रूप में कम। एक-एक अंग का अलग-अलग बिखरा हुआ सौन्दर्य किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं करता, उनकी अत्युक्तियाँ आश्चर्यजनक होते हुए भी पाठकों के हृदय को तरंगित करने में असमर्थ हैं और उनका विस्तृत वर्णन उबा देने वाला सिद्ध होता है। नारी की सूक्ष्म चेष्टाओं एवं मधुर भाव-भंगिमाओं का चित्रण भी उनके काव्य में बहुत कम हुआ है।

उद्दीपन (प्रकृति) का वर्णन—शृङ्गारोद्दीपन के लिए भी जायसी ने ऋतु-वर्णन एवं बारहमासा-कथन की परम्परागत शैलियों का व्यवहार किया है, फिर भी उनकी कुछ निजी विशिष्टताएँ हैं। संयोग में समय शीघ्र बीत जाता है, किन्तु विरह के क्षण लम्बे होते हैं, अतः जायसी ने दोनों के लिए क्रमशः ऋतु-वर्णन और बारहमासा-वर्णन का आयोजन करके सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है। यद्यपि वर्णन-विस्तार एवं अत्युक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्तियाँ इस क्षेत्र में भी कवि का साथ नहीं छोड़तीं, किन्तु फिर भी यहाँ अनुभूतियों के योग से चित्रण पर्याप्त मार्मिक बन गए है, चाहे वे वर्षा ऋतु का वर्णन कर रहे हों या शरद् का, प्रत्येक अवस्था में वे बाह्य प्रकृति के साथ मानवात्मा का सम्बन्ध स्थापित करते हुए मानवी क्रिया-कलापों से परिपूर्ण, स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक दृश्यों का अंकन करते हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ पंक्तियाँ देखिए—

रितु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादों अधिक सुहावा॥
कोकिल बैन, पाँत बग छूटी। गनि निसरि जेउँ बीरबहूटी॥
चमके बिज्जु बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रंगराती पिय संग निसि जागे। गरजे चमकि चौंकि गर लागे॥
सीतल बुन्द ऊँच चोपारा। हरियर सब देखिअ संसारा॥

यहाँ कवि ने पहले पावस की स्थूल विशेषताओं—बाह्य दृश्यों एवं पक्षियों के परिवर्तन का वर्णन कर दिया है। उनके अनन्तर वह पाठक को संयोगियों की सुखानुभूति का आस्वादन कराने के लिए उस रंग-महल में ले जाता है, जहाँ कोई नव-वयस्का अपने प्रियतम के पार्श्व में लेटी हुई बार-बार विद्युत्-गर्जना से चौंककर प्रियतम के गले से जुड़ जाती है। कहना न होगा कि युवती बाला की यह भय-मिश्रित चेष्टा भी रसिक पति के लिए आमोद की कितनी सामग्री अनायास ही प्रस्तुत कर देती है।

संयोगकालीन दृश्यों के चित्रण में कवि के प्रत्येक शब्द से उल्लास की अभिव्यक्ति

होती थी, वहाँ उपर्युक्त वर्णन में वातावरण को कठोरता को ऐसे शब्दों में उपस्थित किया गया है कि पाठक का हृदय अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाता है। वस्तुतः जायसी का प्रकृति-वर्णन कल्पना और अनुभूति के सुन्दर सामंजस्य से पूर्ण है और वह स्थायीभाव की व्यंजना के अनुरूप पृष्ठभूमि तैयार करने में पूर्णतः समर्थ है।

प्रेमाश्रय का चित्रण—पद्मावत में प्रणय-भावना का आश्रय प्रारम्भ में केवल नायक ही रहता है, जो अपने प्रयत्नों से नायिका के हृदय को भी जीत लेने में सफलता प्राप्त कर लेता है। यद्यपि तोते के मुख से नख-शिख-वर्णन सुनकर रत्नसेन का सौन्दर्यानुभूति से मूर्च्छित हो जाना कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है, किन्तु इसके अनन्तर प्रेमानुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है। ज्योंही नायक की सौन्दर्यानुभूति प्रणय-भावना में परिणत होती है, वह अपनी आकांक्षाओं को इन शब्दों में व्यक्त करता है—

फूल फूल फिरि पूँछों, जो पहुँचों आहिं केत।
तन निछावर के मिलों, ज्यों मधुकर जिउ देत॥

प्रेमी की इन उक्तियों में निश्चय की दृढ़ता का बोध होता है, पर यह दृढ़ता सुनिश्चित विचार-जनित नहीं है, अपितु साधना की गंभीरता से प्रेरित है।

संचारी भाव—भावनाओं के एक लक्ष्य की ओर केन्द्रित होते ही अन्य विषयों से उनका सम्बन्ध स्वभावतः ही शिथिल हो जाता है। यही कारण है कि शृङ्गार रस के क्षेत्र में रति और निर्वेद जैसे दो विरोधी संचारी भावों की स्थिति एक साथ संभव होती है। रत्नसेन के हृदय में भी प्रणय की गम्भीरता के साथ ही वैराग्य की सृष्टि हो जाती है और वह अपना सब कुछ त्यागकर घर से निकल जाता है।

तजा राज राजा भा जोगी। ओ किंगरी कर गहेउ वियोगी।
तन विसंभर मन बाउर रटा। अरुझा प्रेम परी सिर जटा॥

रत्नसेन का यह निर्वेद संयोग होने तक बराबर प्रणय भावना के साथ चलता रहता है। इसके अतिरिक्त संचारी भावों की भी योजना कवि ने अवसरानुकूल सफलता पूर्वक की है। ज्योतिषियों के इस कथन पर कि एक दिन ठहरकर अच्छे मूहूर्त में जाओ, राजा का उत्तर औत्सुक्य भाव की व्यंजना करता है—

प्रेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखे जब होइ सरेखा॥

× × ×

हौं रे पथिक पखेरू जेहि बन मोर निबाहू।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहू।

अनुभावों की योजना—प्रेमी की मानसिक दशा की निवृत्ति के लिए कवि ने अनुभावों की योजना की है। यहाँ कायिक एवं मानसिक अनुभावों का समन्वित चित्रण देखिए—

ठाँवहि सोवहि सब चेला, राजा जागै आपु अकेला।
जेहि के हिए प्रेम रंग जामा, का तेहि भूख नींद बिसरामा॥

फिर भी जायसी ने हृदयस्थ भावों की व्यंजना के लिए बाह्य अनुभावों का आश्रय

बहुत कम लिया है। इसका कारण प्रेम के वियोग-पक्ष की प्रधानता है, क्योंकि स्थूल शारीरिक चेष्टाओं की आयोजना संयोग-पक्ष में ही अधिक उपयुक्त होती है। हाँ, कवि ने वाचिक अनुभावों (उक्तियों) द्वारा प्रणयावस्था का बोध कराने का प्रयत्न बार-बार किया है, जिसमें वे सफल हुए हैं। कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हौं पद्मावति कर भिखमंगा, दिष्टि न आव समुद औ गंगा।

× × ×

राजे कहा, दरस जो पावौं, परबत कहा गगन कहँ धावौं।
जेहि परबत पर दरसन लहना, सिर सों चढ़ौं पाय का कहना॥

× × ×

जटा छोरि के बार बोहारौं, जेहि पंथ हौहि सोस तहँ बारौं।

रत्नसेन की ये उक्तियाँ साहस, उत्साह और त्याग के अपूर्व भावों से मिश्रित हैं। इनमें उसके प्रेम की गम्भीरता का पता चलता है।

पद्मिनी की प्रेमानुभूतियाँ—पद्मिनी में हम प्रेमानुभूतियों का विकास क्रमिक रूप में पाते हैं। प्रारम्भ में वह काम-वेदना से पीड़ित है—

सुनु हीरामन कहौं बुझाई, दिन-दिन मदन आई सतावै।

× × ×

जोबन मोर भयउ जस गंगा, देह-देह हम्ह लाग अनंगा॥

आगे चलकर रत्नसेन के दर्शन के अनन्तर उसकी यह काम-वासना प्रेम में परिणत हो जाती है और जब वह सुनती है कि उसका प्रियतम उसी के लिए सूली पर चढ़ रहा है तो उसके हृदय का अणु-अणु पिघलकर मानवता के रूप में बहने लगता है। उसका सन्देश है—

जनि जानहु हौ तुम्ह सों दूरी,
नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी।

× × ×

जौं रे जियहिं मिलि गर रहहिं, मरहिं तो एकै दोउ।
तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होउ सो होउ॥

उपर्युक्त शब्दों में हम प्रणय-भावना के उस उत्कृष्ट रूप का दर्शन करते हैं, जहाँ प्रेमाश्रयी अपने प्रिय के हित के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

संयोगानुभूतियाँ—जायसी ने नायक-नायिका की संयोगानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रथम समागम, हास-परिहास, शतरंज-चौपड़ के मनोरंजन, सुरत एवं सुरतान्त आदि का विस्तृत वर्णन किया है। विवाह के अनन्तर प्रथम रात्रि में प्रियतम के पास जाती हुई पद्मावती की हृदय-दशा का परिचय उसके इन शब्दों में मिलता है—

अनचिन्ह पिउ काँपे न माहाँ, का मैं कहब गहब जब बाँहाँ।

जब रत्नसेन अपने प्रेमपूर्ण शब्दों से उसका भय और संकोच दूर कर देता है तो वह भी अपना कृत्रिम भोलापन प्रदर्शित करती हुई अपनी हास-परिहासमयी उक्तियों से छेड़-छाड़ करने लगती हैं—

अपने मुंह न बढ़ाई छाजा, जोगी कतहुँ न होहि नहिं राजा।
× + ×
जोगी भँवर न थिर ये दोउ, केहि आपन भए कहे सो कोऊ ॥

संयोग पक्ष के अन्य अंगों व क्रिया-कलापों के वर्णन में भी जायसी ने असंयम से काम लिया है। उसके फलस्वरूप उनके संयोग-वर्णन अत्यन्त स्थूल, शिथिल एवं अश्लील हो गए हैं।

स्थायीभाव का उत्कर्ष

पद्मावत में प्रेम-भावना के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें नायक और नायिका में प्रेम का विकास एक साथ नहीं होता। दोनों की प्रेम प्रवृत्ति एवं गति में भी पर्याप्त भेद है। रत्नसेन प्रेम के आदर्श स्वरूप को उपस्थित करता है, जबकि पद्मावती ने यथार्थ एवं व्यावहारिक रूप का लोभ-मात्र सिद्ध किया है। आदर्श प्रेम का कोई निर्दिष्ट कारण नहीं होता, संभवतः इसलिए कवि ने ऐसा दिखाया है। आदर्श प्रेम आरम्भ से अन्त तक एकरस रहता है तथा उसमें साहस और त्याग का पूर्ण समन्वय होता है, ये दोनों विशेषताएँ हम रत्नसेन के प्रेम में पाते हैं।

दूसरी ओर पद्मावती की प्रणय-भावना में हम क्रमिक विकास पाते हैं। परिस्थितियों के अनुसार उसका प्रेम, कामुकता और रसिकता की सीमा को पार करके अपने विशुद्ध एवं गम्भीर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, जो मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से बहुत संगत है। अपने विकास की चरमावस्था में आदर्श प्रेम और यथार्थ प्रेम दोनों एक स्तर पर पहुँच जाते हैं। पद्मावती की प्रणय-भावना अन्त में साहस, त्यागादि के सभी गुणों से समन्वित हो जाती है, जो रत्नसेन में हम प्रारम्भ से ही पाते हैं। अस्तु, कवि ने इसमें नायक और नायिका दोनों के प्रेम को चरमावस्था तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की है।

रत्नसेन और पद्मावती के प्रणय-सम्बन्ध के कारण नागमती का कष्ट-भोग और विवाह के अनन्तर दोनों सपत्नियों की ईर्ष्या, कलह आदि देखकर कदाचित् कुछ लोग उनके प्रेम को अश्रद्धा की दृष्टि से देखें, अतः इस दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। कवि ने आरम्भ में नागमती को रूप-गर्विता एवं तोते की हत्या में प्रयत्नशील दिखाकर पाठक की सहानुभूति के मार्ग में अवरोधक लगा दिया है। अतः उसके प्रति राजा का निष्ठुर व्यवहार उचित प्रतीत होता है। नागमती का दारुण विरह अवश्य हृदयद्रावक है, किन्तु रत्नसेन उसका संदेश प्राप्त होते ही लौट जाता है। सपत्नियों की प्रारम्भिक गृह-कलह भी स्वाभाविक है, जो आगे परिस्थितियों की कठिनता से शान्त हो जाती है। अतः नागमती सम्बन्धी प्रकरण रस-निष्पत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता।

वस्तुतः इस काव्य में प्रेम को आदर्श और यथार्थ—दोनों गुणों से समन्वित करते हुए उसे पूर्ण उत्कर्ष तक पहुँचा दिया गया है। भारत की अन्य काव्य-परम्पराओं में यह दोष रहा है कि चाहे लोकापवाद के भय से शकुन्तला को ठुकरा देनेवाला दुष्यन्त हो,

भावी आशंकाओं से दमयन्ती को त्याग देनेवाला नल हो, धोबी की उक्ति पर पत्नी को निर्वासित कर देनेवाला राम हो या मथुरा के राज्य-कार्य में व्यस्त होकर बाल-सहचरी राधा को भूल जानेवाला कृष्ण हो—अधिकांश प्रेमियों ने जीवन की परिस्थितियों के आगे प्रेम का बलिदान कर दिया है। यह ठीक है कि लोक-धर्म की प्रेरणा से ही कुछ प्रेमियों क ऐसा करना पड़ा होगा, पर क्या अपनी प्रेयसियों का त्याग और निर्वासन करनेवाले प्रेमी दुष्यन्त या राम अपना राज्य-भार अपने छोटे भाइयों या किसी अन्य योग्य व्यक्ति को सौंपकर स्वयं भी अपनी प्राण-प्रियाओं का साथ नहीं दे सकते थे ? यदि कृष्ण मथुरा या द्वारिका में सोलह हजार रानियों में गोकुल की एक राधा को स्थान दे देते तो उन्हें कौन रोक सकता था ? लोक-धर्म और प्रेम में सच्चा प्रेमी किस मार्ग को अपनाता है, इसका उदाहरण आधुनिक युग में भी अष्टम एडवर्ड ब्रिटिश साम्राज्य को ठुकराकर दे चुके हैं। वस्तुतः जब से भारतीय समाज में नारी के व्यक्तिगत मूल्य का ह्रास हुआ है, पुरुष उसके लिए इतना बड़ा त्याग करना अनावश्यक समझता है। बिना साहस और त्याग के प्रेम पूर्ण गम्भीरता को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।

वस्तुतः प्रेम का यह आदर्श भारतीय साहित्य में मुख्यतः इन प्रेमाख्यानों में पूर्ण शब्दों में व्यंजित करने की दृष्टि से जायसी हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट कवि सिद्ध होते हैं।

:: छप्पन ::

सूरदास की भक्ति-भावना

१. मूलभूत समस्याएँ—(क) सूरदास भक्त अधिक थे या कवि, (ख) भक्ति-भावना का कवित्व से सम्बन्ध, (ग) साहित्यिक दृष्टि से भक्ति का महत्व, (घ) भक्त-कवि की काव्य-प्रेरणा का स्रोत ।

२. भक्ति के भेदोपभेद और सूरदास ।

३. सूरदास के भक्ति-भाव की गंभीरता ।

४. सूरदास की भक्ति-भावना का उनके साहित्य पर प्रभाव ।

५. कुछ आक्षेप ।

६. उपसंहार ।

जब एक साहित्य का विद्यार्थी सूरदास की भक्ति-भावना की चर्चा करता है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सूरदास भक्त अधिक थे या कवि अधिक ? दूसरा प्रश्न जो इसी से सम्बन्धित है, यह है कि किसी के कवित्व का भक्ति-पक्ष से क्या संबंध है ? कदाचित् इन्हीं प्रश्नों से जुड़ा हुआ एक तीसरा प्रश्न भी है—साहित्यिक दृष्टि से किसी के भक्त होने का क्या महत्व है या यों कहिए कि भक्ति-भावना का काव्य में क्या मूल्य है ? और सम्भवतः यह सारी चर्चा अधूरी रह जायगी, यदि इस बात का समाधान और न कर लिया जाय कि कोई भक्त-कवि काव्य-रचना में क्यों प्रवृत्त होता है ?

जहाँ तक काव्य-रचना का सम्बन्ध है—कविता के क्षेत्र में—सूर भक्त की अपेक्षा कवि ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं । उदाहरण के लिए तुलसी या कबीर के काव्य से सूर के काव्य का अन्तर देखा जा सकता है । तुलसी को प्रत्येक समय इस बात का ध्यान रहता है कि वे अपने आराध्य-देव का गुण-गान कर रहे हैं, अतः प्रत्येक स्थिति में वे उनके महत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने की चिन्ता में रत रहते हैं । कहीं जब राम कोई ऐसा कार्य कर बैठते हैं, जो संभवतः बहुत उच्च कोटि का नहीं हो—या जिससे जन-साधारण की उनके प्रति श्रद्धा-भावना में कुछ बाधा उपस्थित होने की सम्भावना हो, वहाँ तुलसी सफाई देने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु सूर में ऐसी बात नहीं है । इसी प्रकार तुलसी उन प्रसंगों की भी उपेक्षा कर देते हैं, जो भक्ति के प्रतिकूल पड़ते हैं, यथा, राम सीता विवाह के अनन्तर उनके प्रथम मिलन की चर्चा से बचने के लिए तुलसी नववधू को सास के साथ सुला देते हैं । पता नहीं, अयोध्या में नववधू को सास के साथ ही सुलाने का प्रचलन है, या वह तुलसी की कल्पना-शक्ति का आविष्कार है, फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कभी-न-कभी तो राम-सीता के जीवन में यह प्रसंग आया ही होगा, किन्तु तुलसी की सारी रामायण में इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती ।

जनक-वाटिका में उन्होंने राम-सीता से प्रथम दर्शन-जन्य प्रेम (Love at first sight) का निरूपण किया, किन्तु फिर भी उन्होंने उसका समाधान यह कहकर कर दिया है कि पूर्व जन्म के सम्बन्ध के कारण ही ऐसा हुआ। इसके विपरीत सूरदास निःसंकोच राधा-कृष्ण के प्रेम का विकास दिखाते हैं, यद्यपि वह सामाजिक आदर्शों या नैतिकता की दृष्टि से राम-सीता के प्रणय की अपेक्षा बहुत हीन कोटि का था। कुछ विद्वान इस अन्तर का कारण दोनों के भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को बताते हैं। उनके विचार से एक की भक्ति वैधी थी, दूसरे की रागानुगा। परन्तु रागानुगा भक्ति भी अन्ततः भक्ति (श्रद्धा + प्रेम) ही होती है, उसका यह तो तात्पर्य नहीं है कि अपने आराध्य को अनैतिकता या उच्छृङ्खलता से ग्रस्त बना दिया जाय। फिर राधा-कृष्ण की लीला के कुछ आध्यात्मिक अर्थ भी प्रचलित थे, जिनके आधार पर सूर अपने आराध्य के चरित्र के महत्व को बनाए रख सकते थे—किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वस्तुतः जहाँ तुलसी ने भक्ति-भाव के लिए काव्यगत स्वाभाविकता का हनन स्थान-स्थान पर किया है, वहाँ सूरदास ने सहज भावाभिव्यक्ति के लिए भक्ति की सीमाओं का भी उल्लंघन निःसंकोच कर दिया।

विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से किसी कवि का महत्व इस बात में नहीं है कि वह कितना भक्त था या है, अपितु इस बात में है कि वह अपनी अभिव्यक्ति को कितनी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत कर सका है। हो सकता है, भक्त के रूप में महात्मा गाँधी मैथिलीशरण गुप्त से अधिक महान् हों—किन्तु साहित्य में तो गुप्तजी का ही स्थान ऊँचा माना जाएगा। साहित्य में दूसरी भावनाओं की भाँति ही भक्ति भी एक भावना है, अतः चाहे भक्ति हो या रति—हम तो उससे एक ही आशा रखते हैं कि वह अनुभूति की तरलता से इस प्रकार युक्त हो कि उससे पाठक का हृदय रसासिक्त हो सके। किसी कवि-हृदय से वंचित भक्त की शुष्क उक्तियों की अपेक्षा काव्य में किसी सहृदय कवि की मार्मिक पंक्तियों का अधिक महत्व है, वे चाहे रति भाव से ही समन्वित क्यों न हों।

कोई भक्त काव्य-रचना में क्यों प्रवृत्त होता है? इसके अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि कोई भी व्यक्ति कोरा भक्त होने के नाते ही काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु साथ में वह कवि भी होता है; अतः उसके हृदय का कवि उसके मन के भक्त को व्यक्त कर देता है। जिस प्रकार प्रत्येक भक्त कवि नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक कवि भी भक्त नहीं होता। कवि क्या लिखता है? जो उसके हृदय में में है, अतः भक्त अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उसी प्रकार काव्य-रचना में प्रवृत्त हो जाता है, जिस प्रकार अन्य कवि होते हैं; किन्तु यह बात सभी भक्त-कवियों पर लागू नहीं होती। कुछ भक्त-कवि ऐसे भी हैं, जिनका उद्देश्य ही निज पंथ का प्रचार करना होता है, किन्तु उन्हें काव्य-रचना में सफलता तभी मिलती है, जब कि उनमें कवित्व की भी क्षमता हो। सूरदास इन दोनों से ही भिन्न थे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि सूर का अधिकांश काव्य-पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा के अनन्तर लिखा गया। इस दीक्षा से पूर्व लिखे गए काव्य में और परवर्ती काव्य में विषय-वस्तु एवं भाव-क्षेत्र

की दृष्टि से गहरा अन्तर है। अतः यह तो मानना ही होगा कि उन्हें मूल प्रेरणा पुष्टि-सम्प्रदाय से मिली, किन्तु उनका लक्ष्य सम्प्रदाय का प्रचार करना कभी नहीं बना, अब तक उनका कवित्व कोई विषय ढूंढ़ रहा था, पुष्टि-सम्प्रदाय ने उन्हें विषय प्रदान कर दिया। जिस प्रकार एक शिल्पी में भव्य महल के निर्माण की क्षमता तो होती है, किन्तु ईंट-पत्थर और चूने-गारे के अभाव में वह ऐसा नहीं कर पाता, यह सामग्री उपलब्ध होने पर वह एक सुन्दर भवन खड़ा कर देता है; ठीक वैसे ही सूरदास को वल्लभाचार्य से 'कृष्णलीला' की सामग्री प्राप्त हुई जिसके बल पर उन्होंने भावनाओं का सागर लहरा दिया। शिल्पो भी दो प्रकार के होते हैं—एक जो भवन बनानेवाले मालिक का ध्यान रखते हुए काम में लगे रहते है, किन्तु दूसरे अपनी कला में ही इतने मग्न हो जाते हैं कि उन्हे इस बात का ध्यान भी नहो रहता कि वे किसके लिए, क्यों और कितने वेतन पर भवन-निर्माण कर रहे है ? सूरदास दूसरी कोटि के काव्य-शिल्पी थे। वे मत, सम्प्रदाय, एवं दर्शन-शास्त्र आदि को काव्य-क्षेत्र मे भुला बैठे, यहाँ तक कि गुरु की प्रशंसा का एक पद भी उन्होंने अपने साथियों के स्मरण कराने पर ही लिखा।

भक्ति के भेदोपभेद और सूरदास

हमारे मध्यकालीन विद्वानों एवं आचार्यों ने भक्ति के मुख्यतः दो भेद किए हैं—(१) रागानुगा और (२) वैधी। रागानुगा मे प्रेम-भाव की प्रधानता मानी गई है, जबकि वैधी में कर्म-काण्ड की। रागानुगा के भी पाँच भेद माने गए है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इन भेदों के अनुसार कोई भी भक्त अपने आपको भगवान् का दास मानता है, कोई उसे अपना पुत्र मानता है और कोई उसे 'सखा' या 'प्रेयसी' अथवा पति मानकर उपासना करता है; अतः प्रश्न यह है कि सूरदास की भक्ति-भावना को किस भेद के अंतर्गत रखें। उनके काव्य मे दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य आदि सभी भावों की अभिव्यक्ति हुई है, अतः इस आधार पर क्या उन्हे सभी भेदों के अंतर्गत रखा जाय ?

इस समस्या का समाधान हम अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा और महाकवि बिहारी) में भक्ति और शृङ्गार के सम्बन्ध पर विचार करते हुए कर चुके हैं। यहाँ संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि उपर्युक्त भेदोपभेद अप्राकृतिक, अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक हैं। भक्ति के लिए सभी विद्वानों ने श्रद्धा और प्रेम का सम्मिश्रण आवश्यक माना है, इनमें से किसी एक तत्व के भी अभाव में 'भक्ति' का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता। सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव में श्रद्धा तत्व का अभाव रहता है, तथा दास्य और शान्त में प्रेम तत्व का, अतः ये सभी भक्ति के मूल स्वरूप को तिरोहित कर देते हैं। 'वात्सल्य' भाव का तो अर्थ और असंगत रूप में किया गया है। जिस प्रकार दास्य भाव का अर्थ अपने आपको भागवान् का दास मानना है, उसी प्रकार 'वात्सल्य' का अर्थ अपने आपको ईश्वर का शिशु मानना होना चाहिए, किन्तु हमारे यहाँ इस क्रम को उलट दिया गया है। क्या एक ही आलम्बन के प्रति

वात्सल्य भाव (शिशुवत स्नेह) और श्रद्धा भाव दोनों समान रूप से स्थित रहना मनोविज्ञान की दृष्टि से संभव है ? क्या जिसे हम अपना शिशु मानते हैं, उसकी पूजा भी कर सकते हैं ? वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से वात्सल्य और भक्ति दो विरोधी भाव हैं, यही कारण है कि पुष्टि-सम्प्रदाय में वात्सल्य भाव की भक्ति अधिक समय तक नहीं चल सकी। यह एक तथ्य है कि 'भक्ति' शब्द के स्थान पर 'वात्सल्य', 'माधुर्य', 'सख्य' आदि किसी को भी नहीं रखा जा सका, न ही इन्हें इसके विशेषण रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। बाकी जो विद्वान् गोस्वामी द्वारा प्रतिपादित उस 'उज्ज्वल रस' को भी (जिसमें आलिंगन, चुम्बन, नख-क्षत, शारीरिक मिलन, आदि का विधान है) आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत देखते हैं, उनकी दिव्य-दृष्टि के लिए तो कुछ भी अस्वाभाविक, असंगत या अश्लील नहीं है।

अस्तु, हमारी दृष्टि में सूरदास केवल भक्त हैं। वे प्रसंगानुसार विभिन्न भावों का चित्रण करते हैं, किन्तु उनकी भक्ति भावना का रूप सर्वत्र अक्षुण्ण रहता है। उदाहरण के लिए वे 'बाल-वर्णन' के अन्त में "सूरदास-प्रभु-रसिक-शिरोमणि" कहकर यह स्वीकार कर लेते हैं कि उनका सम्बन्ध भक्त और प्रभु का ही है। इस वर्णन के आधार पर ही यदि उनकी भक्ति को वात्सल्य-भाव की बताया जाय, तो फिर तुलसी को भी वात्सल्य-भाव का भक्त कह सकते हैं, क्योंकि उन्होंने भी राम के प्रति दशरथ का अगाध वात्सल्य भाव दिखाया है, जैसा कि सूर ने नन्द-यशोदा का कृष्ण के प्रति प्रदर्शित किया है, अपितु उससे भी अधिक। यह आश्चर्य की बात है कि वल्लभाचार्यजी से भेंट होने से पूर्व उनकी भक्ति दास्य भाव की थी, दूसरे ही दिन वात्सल्य भाव में परिणत हो गई और 'सूर-सागर' के मध्य में पहुँचते-पहुँचते वह 'सख्य-भाव' में बदल गई और अंत में उसने माधुर्य का रूप धारण कर लिया। यदि विषय-वस्तु के आधार पर ही भक्ति के रूप निश्चित किए जाएँ तो फिर मैथिलीशरण गुप्त को 'श्रेष्ठ भाव' का भक्त कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने उर्मिला के माध्यम से राम को श्रेष्ठ (पति के बड़े भाई) के रूप में अपनाया है।

सूरदास के भक्ति भाव की गम्भीरता

भक्ति-भाव की व्यंजना मुख्यतः दो रूपों में होती है—एक तो प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन के रूप में और दूसरे आराध्य के गुण-गान के रूप में। वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ग्रहण कर लेने के पूर्व उन्होंने प्रथम रूप मे भक्ति-भावना की व्यंजना की है—

प्रभु हौं सब पतितन को टीको।
और पतित सब द्यौस चारि कै हौं तो जनमत ही को।

× × ×

नाथ जू अब कै मोहि उबारो।
पतित में विख्यात पतित हौं पावन नाम तिहारो ! !

× × ×

सूर की बिरियाँ निठुर भये प्रभु मो तैं कछु न सर्‌यो ! !

यहाँ कवि ने आत्म-दैन्यता प्रदर्शित की है, जो भक्ति के अनुकूल है। किन्तु आगे चलकर वे प्रभु के लीला-गान में प्रवृत्त हो गए, यह भी भक्ति के अनुकूल है। दो समान रेखाओं में से एक को बड़ी सिद्ध करने का एक तरीका तो यह है कि दूसरी को थोड़ी छोटी कर दीजिए और दूसरा तरीका है प्रथम को बड़ी बना दीजिए। सूरदास ने अपने से प्रभु को बड़ा सिद्ध करने के लिए पुष्टि मार्ग से पूर्व पहला तरीका अपनाया तथा उसके अनन्तर दूसरा। किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही था।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब सूरदास राधा-कृष्ण के प्रेम का निरूपण कर रहे हों तो उसे शृङ्गार रस में लें या भक्ति भाव में ? वह भक्ति की व्यंजना है या रति की ? इसके उत्तर में हम एक छोटा-सा उदाहरण देते हैं। किसी घर का एक पुराना स्वामिभक्त नौकर अपने युवा मालिक के विवाह के अवसर पर मकान की सजावट व अन्य काम-धन्धों में उत्साह एवं उल्लासपूर्वक लगा हुआ है, अतः इसे क्या कहेंगे ? क्या विवाह की तैयारी को नौकर की रति-भावना से सम्बन्धित मानें या उसकी भक्ति-भावना से ? हमारी दृष्टि में दूसरा उत्तर ही अधिक समीचीन है। ठीक ऐसे ही सूरदास अपने आराध्य जीवन के सभी अवसरों का चित्रण तल्लीनतापूर्वक करते हैं। अतः जहाँ तक कवि का सम्बन्ध है, 'सूर-सागर' कवि की भक्ति-भावना की ही अभिव्यक्ति है, यद्यपि पाठक के दृष्टिकोण से उसमें विभिन्न भावों की सामग्री मिलती है।

सूरदास की भक्ति-भावना का उनके साहित्य पर प्रभाव

जैसा कि अभी स्पष्ट किया गया है, सूरदास के काव्य का प्रेरक-भाव भक्ति ही है; अतः इसमें कृष्ण के जीवन का चित्रण निःसंकोच रूप में हुआ है। यदि सूरदास किसी साधारण व्यक्ति के चरित्र का वर्णन करते, तो सम्भव है कि उन अश्लील प्रसंगों को छोड़ जाते, जिनकी चर्चा उन्होंने सूर-सागर में की है, किन्तु अलौकिक प्रभु की सभी लौकिक क्रीड़ाओं को उन्होंने पूज्य दृष्टि से देखते हुए चित्रित किया है। यहाँ तक कि रति, विपरीत रति तक का संश्लिष्ट चित्रण भी 'सूर-सागर' में मिलता है। इस अश्लीलता को उत्तेजित करनेवाले कुछ तत्व भी श्रीनाथजी के मन्दिर में विद्यमान थे, जिनकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी।

कृष्ण के बाल-वर्णन में कई अस्वाभाविक एवं अलौकिक प्रसंगों का भी वर्णन हुआ है, जो उनकी भक्ति-भावना के ही परिणाम हैं; फिर भी यही अलौकिकता तुलसी के राम की अपेक्षा बहुत कम स्थानों पर है। प्रायः सभी भक्तों ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है, अतः गोपियों के द्वारा भ्रमर गीत में सूरदास ने भी ऐसा किया है। किन्तु सूरदास ने यहाँ दर्शन की तार्किकता की अपेक्षा भावना की स्वाभाविकता का ही अधिक प्रयोग किया है।

अस्तु, सब कुछ मिलाकर कह सकते हैं कि सूर-काव्य पर उनके भक्ति-भाव का प्रभाव है तो सही, किन्तु बहुत कम है; उन्हें काव्य में प्रवृत्त करनेवाली भक्ति है, किन्तु प्रवृत्त हो जाने के अनन्तर वे भक्ति को कभी-कभी ही याद करते हैं; काव्यत्व उनका साधन से साध्य बन जाता है।

कुछ आक्षेप

सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति की तुलना करते हु
सूर ने तुलसी की भाँति अपनी भक्ति में रूप, शील और गुण तीन
नहीं किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आक्षेप ठीक भी है,
सूरदास के भक्ति-भाव की न्यूनता नहीं, अपितु कृष्ण के परम्परागत रूप
हाँ, यदि सूरदास चाहते तो अपने आराध्य के रूप का संस्कार कर सकते
सच्चा भक्त ऐसा करना पसन्द नहीं करेगा। भक्त के लिए आराध्य के दोष भी गु
जाते हैं, अतः दोषों के परिष्कार का वह प्रयत्न नहीं करता। जो व्यक्ति अपने आरा
के दोषों को सहन नहीं कर सकता, समझना चाहिए, वह उसका भक्त नहीं, अपितु कोरा श्रद्धालु है। जवाहरलाल नेहरू के श्रद्धालु तो असंख्य हैं; किन्तु उनके सच्चे भक्त वे हैं, जो उनकी क्रोधपूर्ण मुद्रा को भी पार करते हैं। गांधीजी अर्द्धनग्नावस्था में घूमते-फिरते थे, जो किसी विदेशी की दृष्टि में असभ्यता का चिह्न था, किन्तु अपने देश के भक्तों की दृष्टि में वह भी उनकी महानता का प्रतीक माना जाता था। अस्तु, कृष्ण-चरित्र के दोषों का परिष्कार न करना सूरदास की अतिशय भक्ति को सूचित करता है।

उपसंहार

अन्त में हम कह सकते हैं कि सूरदास की भक्ति-भावना का स्रोत काव्य-धारा के प्रवाह में इस प्रकार घुल-मिल गया कि उसे अलग करके देखना संभव नहीं। उसमें अलौकिकता और लौकिकता, रागात्मकता और बौद्धिकता, वात्सल्य और माधुर्य सब मिलाकर एकाकार हो गए हैं। राधा-जैसी विरह-विधुरा बाला और कृष्ण जैसे चंचल-किशोर युवक के निर्माण में भक्ति की प्रेरणा अधिक है या कवित्व की, इसका अंतिम उत्तर दे देना कम-से-कम हमारे तो वश की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों की मान्यताओं व आलोचकों के निष्कर्ष पर भी पूरा विश्वास नहीं होता।

ऐसी स्थिति में केवल एक ही बात सूझती है कि हम भी कवीन्द्र रवीन्द्र के स्वर में स्वर मिलाकर उस महान् कवि की अनुपम सृष्टि का रहस्य स्वयं उसी से पूछें—

> **"सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि !**
> **कोथा तुमि पेथे छिले एइ प्रेमच्छवि !**
> **कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान !**
> **विरह तापित ? हेरो काहार नयान !**
> **राधिकार अश्रु आँखि पड़े छिलो मने ?"**

अर्थात् "हे वैष्णव कवि ! सच बताओ, तुमने यह प्रेम छवि कहाँ से प्राप्त की ? यह विरह-तप्त गान तुमने कहाँ से सीखा ? किसकी आँखें देखकर तुम्हें राधिका की आँसू भरी आँखें याद आ गईं ?"

:: सत्तावन ::

तुलसी की समन्वय-साधना

१. सृष्टि के विकास का रहस्य—'समन्वय'।

२. कला और साहित्य का मूल 'समन्वय'।

३. तुलसीदास का युग और उनकी परिस्थितियाँ।

४. तुलसी के समन्वयवाद का मूलाधार।

५. तुलसी का समन्वयवाद—

(क) काव्य-योजना में समन्वय :

(ख) काव्य की विषय-वस्तु में समन्वय : (अ) विचारगत समन्वय—राजनीति, धर्म, दर्शन, समाज, परिवार, (आ) भागवत समन्वय—विभिन्न भावनाएँ और रस, (इ) शैलीगत समन्वय—काव्य-रूप, छन्द, भाषा, अलंकारादि।

६. उपसंहार।

सृष्टि के विकास का रहस्य क्या है? प्रसिद्ध चिन्तक कार्ल-मार्क्स ने इसके उत्तर में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन करते हुए द्वन्द्व या संघर्ष को ही विकास का मूल कारण घोषित किया था, किन्तु हमारी दृष्टि में सृष्टि के उद्भव एवं विकास का मूल 'संघर्ष' नहीं 'समन्वय' है। भारतीय दर्शन के अनुसार जब परम तत्त्व 'सत्' प्रकृतिरूपी माया के रजोगुण से समन्वित हुआ तो भौतिक जगत् का आविर्भाव हुआ। प्रकृति और जगत् के विकास की सभी क्रिया-प्रक्रियाओं में समन्वय की सत्ता देखी जा सकती है। समुद्र की उत्ताल तरंगों के साथ जब सूर्य के प्रकाश का समन्वय होता है, तो शत-शत मेघ-खंडों का आविर्भाव होता है; जब बादलों की वाष्पता में वायुमंडल की आर्द्रता का संयोग होता है, तो बूंदों के रूप में प्रवाहित होनेवाले जल-स्रोत का निर्माण होता है और धरती की शुष्कता में मेघ की तरलता का समन्वय होता है, तो हरे-भरे पौधों का जन्म होता है। संसार के प्रायः समस्त प्राणियों के उद्भव का मूल प्रायः दो तत्त्वों का समन्वय ही है। सम्भवतः स्थूल दृष्टि से देखने पर पुरुष और प्रकृति के योग की क्रिया संघर्ष के तुल्य ही प्रतीत हो—जैसा कि मार्क्स को प्रतीत हुआ—किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि जब तक दोनों के क्षरित अंशों का उचित समन्वय नहीं हो जाता, तब तक यह संघर्ष किसी नव-निर्माण में असफल रहता है। संघर्ष का मूल द्वेष है, जबकि समन्वय राग पर आधारित है। सृष्टि के जीवों का उद्भव, पालन एवं उनकी रक्षा उनके जन्मदाताओं की रागात्मक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप होती हैं, न कि द्वेष-मूलक चेष्टाओं से।

स्थूल सृष्टि की ही भाँति कला और साहित्य का भी मूल समन्वय है। जब शिल्पकार बिखरे हुए पत्थरों को सुसमन्वित रूप में जोड़ देता है, तो भव्य भवन तैयार हो जाता है; मूर्तिकार और चित्रकार की लकीरों और रेखाओं का वह रूप, जब वास्तविक और अवास्तविक में समन्वय स्थापित कर देता है तो वह मूर्ति या चित्र की संज्ञा से अभिहित हो जाता है। जब दो पंक्तियों में मात्रा, अक्षर, लय एवं तुक की दृष्टि से परस्पर समन्वय स्थापित हो जाता है तो वे कविता के स्थूल रूप को ग्रहण कर लेती हैं और जब उसमें भाव, बुद्धि और कल्पना से समन्वित अर्थ गुम्फित हो जाता है तो वही रचना सरस काव्य में परिवर्तित हो जाती है।

कलाओं का मूल समन्वय में है, अतः कलाकार की दृष्टि में भी समन्वयात्मकता का गुण होना आवश्यक है। जिस कलाकार या साहित्यकार में समन्वय की शक्ति जितनी अधिक होगी, वह उतना ही अधिक अपनी रचना को गौरव प्रदान करने में सफल सिद्ध होगा। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर अब तक के सभी महान् कवियों एवं साहित्यकारों में समन्वय की परिणति किसी न किसी रूप में अवश्य दृष्टिगोचर होगी। उनके समन्वय के क्षेत्र एवं उसकी प्रक्रिया में भेद हो सकता है, किन्तु उनका लक्ष्य प्रायः समन्वय की साधना ही रहा है। देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार जीवन, समाज और समाज के कुछ तत्त्व अनुचित रूप से प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं और कुछ सर्वथा उपेक्षित होने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप विशृङ्खलता का आविर्भाव हो जाता है। एक सफल चिकित्सक, समाज-सुधारक, राजनीतिक नेता, धर्मोपदेशक एवं साहित्यकार अपने-अपने क्षेत्र में और अपने-अपने ढंग से इस विशृङ्खलता का उपचार करके पुनः सामंजस्य स्थापना का प्रयत्न करता है; किन्तु ध्यान रहे, सभी सामंजस्यवादी सदैव किसी एक ही तत्त्व या किसी एक विचारधारा के समर्थक या पोषक नहीं रहते, युग की माँग के अनुसार वे कभी एक का और कभी दूसरे का समर्थन करते रहते हैं। यही कारण है कि हम एक युग के समन्वयवादी को जिस तत्त्व या विचार का समर्थक पाते हैं, दूसरे युग में उसी का खंडन दूसरे समन्वयवादी को करते देखते हैं। कबीर ने अति भावुकता का खंडन बौद्धिकता की स्थापना के लिए किया था, तो तुलसी ने ज्ञान-मार्गियों की बढ़ी हुई तार्किकता के निराकरण के लिए भावना का समर्थन किया। त्रेतायुग के नेता राम ने जहाँ कर्म के आगे भावना की उपेक्षा की थी, वहाँ द्वापर के श्रीकृष्ण ने भावना की पवित्रता को कर्म की अपवित्रता से निर्लिप्त घोषित किया। गौतम बुद्ध एव महात्मा गांधी दोनों के अहिंसक होते हुए भी एक ने भावना-प्रधान युग के लिए नास्तिकवाद का प्रवर्त्तन किया, जबकि दूसरे ने बौद्धिक युग की आवश्यकतानुसार आस्तिकतावादी दृष्टिकोण को अपनाया।

तुलसीदास ने जिस युग में जन्म धारण किया, वह अनेक विशृङ्खलताओं का युग था। राजनीतिक दृष्टि से विदेशी जाति ने भारतीय जनता को पूर्णतः अपने शासन के पंजे में जकड़ लिया था; धर्म की दृष्टि से परंपरागत हिन्दू-धर्म इस्लाम के झंडे के आगे नत-मस्तक-सा हो रहा था; समाज के आदर्श मुल्ला-मौलवियों एवं पण्डितों की परस्पर विरोधी उक्तियों के कारण लुप्तप्राय होते जा रहे थे; पारिवारिक सम्बन्ध एवं

दाम्पत्य जीवन की मधुरता भी नैतिकता एवं त्याग के अभाव में दिन-प्रति-दिन क्षीण एवं शुष्क होती जा रही थी। साहित्य के क्षेत्र में कबीर जैसा प्रतिभाशाली तो कभी-कभी ही अवतरित होता था, किन्तु उनके अनुकरण में कोई भी अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित दो-चार पंक्तियाँ जोड़कर अपने आपको कवि घोषित कर देता था। नई संस्कृति के वैभव ने हमारे प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों को निस्तेज तो कर दिया, किन्तु वह हमारे हृदय की गहराई में प्रविष्ट नहीं हो सकी। जीवन की यह कितनी बड़ी विषमता थी कि हम अपने हृदय के राजा राम को भूल कर किसी शाहंशाह के गौरव की बात करते थे, जिन मूर्तियों को श्रद्धा से सिर झुकाते थे, उन्हीं को सन्त-फकीरों के मुँह से 'घर की चक्की' से भी घटिया सुनते थे; जिन्हें 'म्लेच्छ' समझकर छूना भी पाप समझते थे, उन्हीं से राजा-महाराजाओं की कन्याओं का विवाह होते देखते थे और जिस देववाणी के पढ़े-लिखे को विद्वान समझते थे, उसके स्थान पर फारसी के ज्ञाताओं को सम्मानित होते देखते थे। अस्तु, राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, हम मानसिक एवं नैतिक दृष्टि से भी इतने निर्बल एवं अशक्त हो गए थे कि किसी कट्टर मुस्लिम शासक के एक और प्रबल आघात से हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म एवं हिन्दू संस्कृति सदैव के लिए इस्लाम में विलीन हो जाती। किन्तु हम देखते हैं कि लगभग एक-डेढ़ शताब्दी पश्चात् ही हिन्दू जाति इतनी सशक्त हो गयी थी कि उसने 'चक्रवर्ती सम्राट्' औरंगजेब के दाँत खट्टे कर दिये—कहीं सिक्खों के रूप में, कहीं जाटों के रूप में, कहीं सतनामियों के रूप मे और कहीं मरहठों के रूप में हिन्दू जाति की शक्ति का विस्फोट होने लगा। इस अल्पकाल में ही यह शक्ति कहाँ से आ गई? क्या इस युग मे हिन्दुओं को कोई ऐसी खुराक या औषधि प्राप्त हुई थी, जिससे उनमें नई शक्ति और नए साहस का संचार हुआ? हाँ, अवश्य ही ऐसा हुआ—अपने धर्म के प्रति श्रद्धा, अपनी संस्कृति के प्रति आस्था और अपने आदर्शों के प्रति विश्वास ने ही हमें वह शक्ति प्रदान की, जिसके बल पर न केवल हमारा अस्तित्व बना रहा, अपितु प्रबल विरोधी शक्ति का भी सामना हम कर सके।

"अपने आदर्शों के प्रति आस्था रखो, अपना आत्म-विश्वास मत खोओ" यह कहना आसान है, किन्तु किसी हारी हुई जाति और पराधीन देश के प्राणों में इस मंत्र को फूंकना बहुत कठिन है—दुष्कर है। किन्तु सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दू जाति को कुछ ऐसे लोक-नायक, लोक-नेता प्राप्त हुए, जिन्होंने यह कार्य ऐसी लाघवता से संपादित कर दिया कि स्वदेशी एवं विदेशी शक्तियों को वर्षों बाद पता चला कि कहीं कुछ हो गया है। इन लोक-नायक महापुरुषों और महात्माओं में तुलसी भी एक थे।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आदर्शों की स्थापना के लिए तुलसी को विभिन्न विरोधी रूपों में समन्वय स्थापित करना पड़ा। उसके लिए उन्होंने एक ओर प्राचीन को अपनाया और दूसरी ओर उन्हें उसका संस्कार नये ढङ्ग से करना पड़ा। राम-चरित—राम का आदर्श—प्राचीन का प्रतीक है तो उसे जिस देवत्व से अभिभूषित किया गया, वह नवीनता की देन है। तुलसी ने एक सुदृढ़ आधार ग्रहण किया, जो जीवन के विविध रूपों में सामंजस्य स्थापित कर सकने की सामग्री प्रदान कर सके। भारतीय संस्कृति

के समस्त इतिहास में पुरुषोत्तम राम का चरित ही ऐसा है, जिसे इस देश के सभी प्रमुख धर्मों एवं आचार्यों ने महत्व प्रदान किया है। उसके प्रति प्राचीन हिन्दू धर्म की आस्था तो चिरकाल से ही रही है; बौद्धों, जैनियों, योगियों, वैष्णवों और सन्तों की भी श्रद्धा किसी-न-किसी मात्रा में सदा रही है। यही कारण है कि संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, बँगला, मराठी, कन्नड़ आदि प्रमुख भाषाओं में राम के आदर्श चरित का आख्यान श्रद्धा-पूर्वक हुआ है। कहा जा सकता है कि यदि इस समन्वयवाद का श्रेय राम के चरित को है तो फिर तुलसी की क्या विशेषता रही ? किन्तु ऐसी बात नहीं है। वन में शताधिक जड़ी-बूटियों के विद्यमान रहते हुए भी हम उनका उपयोग नहीं कर सकते, किन्तु एक चतुर वैद्य उनके रहस्य को जानकर उन्हीं जड़ी-बूटियों से सहस्रों रोगियों का उपचार कर देता है। क्या उस चिकित्सक का महत्त्व इसीलिए गौण हो जायगा कि उसने अपनी शक्ति के बल पर नहीं, अपितु औषधियों के बल पर उपचार किया ? चिकित्सक की सफलता इसी में है कि उसने सही वक्त पर, रोगी को सही औषधि दी ! राम का चरित्र सदैव सबके लिए खुला था, किन्तु एक तुलसी का ही ध्यान उधर आकृष्ट क्यों हुआ, वे ही उसका रहस्य क्यों समझ सके, अन्य क्यों नहीं ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर मे तुलसी की महानता छिपी हुई है। साथ में यह भी ध्यान रहे कि उसने रामचरित के पौधे को ज्यों-का-त्यों काम में नहीं ले लिया, अपितु उसे अनेक द्रव्यों से समन्वित करके एक ऐसा रसायन तैयार किया, जो सभी प्रकार की आधि-व्याधियों के लिए 'राम-बाण' बन गया।

सबसे पूर्व हम उनके काव्य-प्रयोजन या काव्य-रचना के उद्देश्य को ही लेते हैं। उस समय दो प्रकार के कवि थे—एक तो वे जो अपने आश्रयदाताओं की ही प्रसन्नता के लिए काव्य-रचना करते थे, दूसरे वे जो स्वान्तःसुखाय काव्य-रचना करते थे। प्रथम वर्ग के कवियों की रचना में वैयक्तिकता का सर्वथा लोप होता था, तो दूसरे वर्ग की रचना में सामाजिकता का। अन्य युगों और अन्य देशों में भी ऐसी स्थिति रही है, जब कला या तो कोरी वैयक्तिकता से ग्रसित हो गई है, या कोरी सामाजिकता के कारण शुष्क-सी हो गई है। 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए ?' ये दो विरोधी वाद पाश्चात्य साहित्य में दीर्घकाल तक प्रचलित रहे हैं। इस दृष्टि से तुलसी का काव्य दोनों के बीच उचित समन्वय स्थापित करता है। वे 'स्वान्तःसुखाय' काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु फिर भी वे वैयक्तिकता से ग्रसित नहीं होते। वे 'प्राकृत-जन' का गुण-गान करना हेय समझते हैं, किन्तु फिर भी उनकी रचना जनता की प्राकृत वृत्तियों का परिष्कार करने में समर्थ है।

काव्य की विषय-वस्तु में भी उनका यही समन्वयवादी दृष्टिकोण है। प्रायः साहित्य में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक जीवन की किसी एक समस्या को लेकर काव्य का स्थूल आधार तैयार किया जाता है—किन्तु तुलसी के मानस में इन सभी विषयों का समन्वय इस प्रकार हुआ है कि हम उन्हें एक-दूसरे से विच्छिन्न नहीं

कर सकते। राजनीतिक दृष्टि से एक ओर उन्होंने अपने युग की विषम परिस्थितियों की आलोचना की है—

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥

तो दूसरी ओर उन्होंने शासक एवं अधिकारियों के कर्तव्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

× × ×

तुलसी प्रजा सुभाग तें, भूप भानु सो होय।

× × ×

मुखिया मुख सों चाहिए, खान-पान को एक।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥

क्या यह आदर्श यथार्थ में परिणत हो सकता है? क्यों नहीं, 'राम-राज्य' इस प्रश्न का उत्तर है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना।

वस्तुतः आदर्श राम-राज्य की इसी सुन्दर कल्पना ने आधुनिक युगीन नेता महात्मा गांधी को मोहित कर लिया था। भले ही हम आज 'प्रजातन्त्रवाद' की रट लगाएँ, किन्तु वह 'राम-राज्य' की समता करने में असमर्थ है।

समाज के क्षेत्र में तुलसी ने सर्वप्रथम तो दाम्पत्य-सम्बन्ध की स्थिरता एवं विपत्रत पर बल दिया। जहाँ वे नारी को उपदेश देते हैं कि वृद्ध, रोगवश, जड़, धन-हीन, अंध व,धिर, क्रोधी एवं दीन पति का भी अपमान मत करो, वहाँ वे पुरुष के लिए एकपत्नीव्रत का आदर्श भी उपस्थित करते हैं। एक ओर पति पत्नी में अनुरक्त हो और दूसरी ओर पत्नी मन-कर्म-वचन से पति के लिए हितकारिणी हो—इससे बढ़कर दाम्पत्य जीवन का आदर्श क्या होगा। देखिए—

"एकनारि व्रत रत सब भारी, ते मन-वच-क्रम पति हितकारी।"

जो विद्वान् तुलसी पर नारी-वर्ग के प्रति कठोरता का आक्षेप लगाते हैं, वे इन पंक्तियों को न भूलें—

कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाँही॥

इससे स्पष्ट है कि वे नारी की अति उच्छृङ्खलता के विरोधी थे, अन्यथा सामान्य नारी की पराधीनता के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति थी—तथा वे नारी और पुरुष दोनों के चरित्र का उत्थान चाहते हुए दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य स्थापित करने के पक्षपाती थे।

उस युग में ऐसे भी दम्पति थे, जो अपने सुख-भोग में मग्न होकर परिवार के कर्तव्यों की उपेक्षा करते थे। नव-यौवना पत्नी के रूप-वैभव के आकर्षण में पड़कर अनेक

युवक अपने माता-पिता की सेवा से विरत हो रहे थे। तुलसी ने ऐसे व्यक्तियों को लक्ष्य करके व्यंग्य किया है—

सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं, अबला नव दीख नहीं जब लौं।
ससुरारि पियारि लगी जब तें, रिपु कुटुम्ब भये तब तें॥

× × ×

नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।

साथ ही वे उपदेश देते हैं—

अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन॥

युवक-वर्ग की अति विलासिता के कारण पारिवारिक स्थिति विषम हो रही थी, तो दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था भंग होने के कारण दिन-प्रति-दिन सामाजिक संगठन में शिथिलता आती जा रही थी—

बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो।

× × ×

बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमसे कछु घाटि।

× × ×

ज्ञानपनो को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।

तुलसी ने केवल खंडन का ही मार्ग नहीं अपनाया, अपितु वे साथ-साथ आदर्शों की स्थापना के द्वारा मंडन भी करते चलते हैं। राम-चरित्र के द्वारा उन्होंने पति-पत्नी-सम्बन्ध में मधुरता, भाई-भाई से स्नेह, पुत्र के आज्ञा-पालन, विमाताओं के प्रति आदर-भाव आदि के उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करके तत्कालीन जनता का मार्ग-प्रदर्शन किया है। ध्यान रहे, सीता-वनवास की घटना, जो राम के दाम्पत्य-जीवन पर कलंक के समान थी, का वर्णन तुलसी ने नहीं किया है।

अपने युग की विभिन्न दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचार-धाराओं में भी मानस के रचयिता ने सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। मध्य-युग के दो बड़े दार्शनिक वादों—अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद में तुलसी ने इतने सुन्दर ढङ्ग से सामंजस्य स्थापित किया है कि मानस में दोनों ही अविरोधी भाव से विद्यमान हैं। यही कारण है कि दोनों वादों के ही अनुयायी मानस में अपने-अपने मतलब की सामग्री प्राप्त कर लेते हैं। यदि महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा मानस में अद्वैतवाद का निरूपण इतनी गम्भीरता से पाते हैं कि उनके मत से 'दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं' तो दूसरी ओर विशिष्टाद्वैतवाद को लेकर चलने वाले भक्ति-पथ के अनुयायी भी उनसे सन्तुष्ट हैं। अद्वैत को माननेवाले ज्ञान-मार्ग का समर्थन करते हैं तथा विशिष्टाद्वैतवादी भक्ति का। तुलसी ने दोनों के समन्वय का ही समर्थन किया है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेवा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।

किन्तु एकांगी ज्ञान के विरोध में वे स्पष्ट कहते हैं :—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं।
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

अन्ततः तुलसी का झुकाव भक्ति की ओर अधिक है, किन्तु वे भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन ज्ञान-मार्गियों को अप्रसन्न करके नहीं करते; अपितु उनके मार्ग को तलवार की धार पर चलने के समान बताकर उनके महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हैं; केवल जन-साधारण की सरलता एवं सुविधा के नाम पर वे भक्ति का समर्थन करते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥

× × ×

रामभगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर॥

इसी प्रकार विभिन्न देवताओं की उपासना को लेकर भी हिन्दू धर्म के अनुयायी परस्पर विरोध में संलग्न थे। कोई शिव को सबसे बड़ा देव सिद्ध करता था, कोई शक्ति को और कोई विष्णु को। तुलसी ने अपनी 'विनय-पत्रिका' में सभी प्रमुख देवों की स्तुति करके अपने व्यापक समन्वयवाद का परिचय दिया है। दूसरी ओर वे शैवों और वैष्णवों के पारस्परिक विरोध की भर्त्सना राम के मुँह से करवाते हैं—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥

उस युग में नित्य नये-नये पंथों के उद्भव के कारण भी हिन्दू धर्म का विघटन हो रहा था। एक समन्वयवादी कवि इसे कैसे सहन कर सकता था, अतः उन्होंने इस प्रवृत्ति का विरोध स्पष्ट रूप मे किया है—

"दंभिन निज मत कलपि करि, प्रकट किये बहु पंथ।"

जिस प्रकार उनकी कविता का विचार-पक्ष राजनीति, समाज, धर्म, और दर्शन की विभिन्न विरोधी विचार-धाराओं को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है, वैसे ही उनके भाव-पक्ष में सभी भावनाओं एवं रसों का समन्वय सुन्दर रूप में हुआ है। पुष्प-वाटिका-प्रसंग में श्रृङ्गार की जैसी मनोहर अभिव्यक्ति उन्होंने की है, वह क्षण-भर के लिए उनके भक्त होने में सन्देह उत्पन्न कर देती है। प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का जैसा सजीव चित्रण तुलसी द्वारा हुआ है, वह कम-से-कम हिन्दी-काव्य के लिए तो अपूर्व है। जनकतनया के सौन्दर्य एवं उसकी चेष्टाओं के निरूपण में उन्होंने जैसी सूक्ष्मता दिखाई है, वह किसी श्रृङ्गारी कवि के भी वश की बात नहीं है—

कंकन किंकिनि नूपुर ध्वनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं। मनसा विस्व विजय करि लीन्हीं॥

× × ×

जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहुँ प्रकट देखाई॥
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबि गृहँ दीप सिखा जनु बरई॥

'सुन्दरता को भी सुन्दर करनेवाली' इस राजकुमारी के सौन्दर्य को देखकर भला कौन मुग्ध नहीं होगा। अब उसके अनुराग की प्रारम्भिक चेष्टाओं को देखिए—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किशोर मनु चीता।
जहँ विलोक मृग-सावक-नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥

× × ×

अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

जो कवि शृङ्गारिकता का ऐसा सरस वर्णन कर सकता है, वही रौद्र, वीर एवं भयानक की सृष्टि में भी पूर्ण सफल हुआ है। उदाहरण के लिए वीर-रस का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

तीखे तुरंग कुरंग सुरंगनि साजि चढ़े छँटि छैल छबीले।
भारि गुमान जिन्हें मन में कबहूँ न भये रन में तन ढीले॥
तुलसी गज से लखि केहरि लौं, झपटे पटके सब सूर सजीले।
भूमि परे भट घूमि कराहत, हाँकि हने हनुमान हठीले॥

वस्तुतः तुलसी ने सभी रसों की आयोजना सफलतापूर्वक करके अपनी अपार समन्वय शक्ति का परिचय दिया है।

काव्य-रूपों एवं शैली की दृष्टि से भी तुलसी का साहित्य अपने युग की सभी प्रचलित काव्य-पद्धतियों से समन्वित है। महाकाव्य, मुक्तक, गीति—तीनों रूपों का प्रयोग उन्होंने सफलतापूर्वक किया है। उस युग में पाँच काव्य-शैलियाँ प्रयुक्त होती थीं—(१) वीर-गाथा काल की छप्पय पद्धति (२) कृष्ण-भक्त कवियों की गीति पद्धति, (३) चारणों वं भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति, (४) दोहा-पद्धति और (५) प्रेमाख्यानों की दोहा-चौपाई पद्धति। तुलसी के काव्य में इन सभी पद्धतियों का प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है। इसी प्रकार उनकी शैली में स्वाभाविकता और अलंकृति का सुन्दर समन्वय मिलता है। उस युग में ब्रज और अवधी का साहित्य में प्रयोग होता था; तुलसी ने दोनों का ही प्रयोग पूर्ण अधिकार के साथ किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी में समन्वय की अपूर्व क्षमता थी। क्या विचार, क्या भाव और क्या शैली—साहित्य के सभी पक्षों में उनकी अनूठी समन्वयवादिता दृष्टि-गोचर होती है। भारतीय धर्म-साधना ने वैदिक युग से लेकर उनके युग तक जो कुछ प्राप्त किया था, उसका सार रूप उनके काव्य में एकत्र है। भारतीय संस्कृति, भारतीय समाज और भारतीय साहित्य का चरम विकसित रूप यदि किसी एक ही रचना में देखना हो तो उसका सबसे सुन्दर साधन तुलसी का 'राम-चरित-मानस' है, इसमें कोई सन्देह नहीं। तुलसी की इस महान् देन को देखते हुए किसी कवि ने ठीक लिखा है—

'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।'

:: अट्ठावन ::

मीराँबाई का काव्य : नव मूल्यांकन

१. मीराँ के ग्रन्थ ।
२ 'पदावली' की पृष्ठभूमि ।
३. 'पदावली' का बौद्धिक पक्ष ।
४. 'पदावली' का भाव-पक्ष ।
  (क) माधुर्य भाव ।
  (ख) रूपासक्तिजन्य भाव ।
  (ग) माधुर्य भाव की प्रगाढ़ता ।
५. काव्य-रूप एवं शैली पक्ष ।
६. उपसंहार ।

यद्यपि हिन्दी की सर्वोच्च महिला कवयित्री—मीराँबाई—के नाम से सम्बद्ध अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक रचना 'मीराँबाई की पदावली' ही है।[१] इस 'पदावली' का भी कोई एक प्रामाणिक रूप या संस्करण नहीं मिलता—विभिन्न संकलन-कर्त्ताओं एवं संपादकों ने अपने-अपने ढंग से 'पदावली' का पाठ निर्धारित किया है। इतना ही नहीं, 'पदावली' के विभिन्न संस्करणों के पदों की संख्या एवं नाम में भी परस्पर गहरा अंतर मिलता है। इसका कारण कदाचित् यह है कि स्वयं मीराँ ने अपने विभिन्न पदों को संगृहीत करके कोई संज्ञा प्रदान नहीं की, अपितु परवर्ती संकलन-कर्त्ताओं ने ही अपने-अपने संकलनों को विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान की हैं। यही कारण है कि मीराँ की पदावली के अनेक संग्रह अलग-अलग नामों से प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ ये हैं[२]—(१) 'मीराँबाई के भजन'—पं० ईश्वरीप्रसाद रामचन्द्र द्वारा संकलित, सन् १८९८ ई०। (२) मीराँबाई की शब्दावली'—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित। (३) 'मीराँबाई की पदावली'—सं० परशुराम चतुर्वेदी। (४) 'मीराँ-माधुरी'—ब्रजरत्नदास। (५) 'मीराँ और उनकी प्रेमवाणी'—ज्ञानचन्द्र जैन। (६) 'मीराँ की प्रेमवाणी'—रामलोचन शर्मा 'कंटक'। (७) 'मीराँ-मंदाकिनी'—नरोत्तमदास स्वामी। (८) 'मीराँ-दर्शन'—मुरलीधर श्रीवास्तव। (९) 'मीराँ-पदावली'

---

१. मीराँ की अन्य उपलब्ध रचनाएं—(१) गीत-गोविंद की टीका (२) नरसी रो मायेरो (३) सत्यभामाजी नों रूसणो (४) राग सोरठ (५) राग गोविंद आदि।

२. 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—डा० हीरालाल माहेश्वरी, पृ० ३२६।

—विष्णुकुमारी 'मंजु'। (१०) 'मीराँ-बृहत् पद-संग्रह'—पद्मावती 'शबनम' (११) 'मीरा-सुधा-सिंधु'—स्वामी आनन्द स्वरूप। इनमें से अनेक संग्रह एक-दूसरे पर आधारित है तथा कुछ की भाषा बहुत ही भ्रष्ट है। विशेषतः राजस्थानी भाषा से अनभिज्ञ सम्पादकों ने संपादन एवं शोधन के नाम पर मीराँ के पदों को अशुद्ध एवं विकृत रूप प्रदान कर दिया है। अतः मीराँबाई के काव्य का अध्ययन करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। हमारे देखने में अब तक जो संस्करण आये है, उनमें श्री परशुराम चतुर्वेदी एवं प्रो० नरोत्तमदास स्वामी के द्वारा संपादित ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होते है। प्रस्तुत लेख भी मुख्यतः परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'मीराँ की पदावली' पर आधारित है।

'पदावली' की सामान्य पृष्ठभूमि—किसी भी रचना के सर्जनात्मक पक्ष का अध्ययन करने के लिए विकासवादी दृष्टिकोण[1] के अनुसार मुख्यतः इन तीन बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है—(१) पूर्व-परम्परा (२) तत्कालीन वातावरण एवं (३) रचयिता का व्यक्तित्व। यहाँ 'पदावली' के सर्जन-पक्ष की व्याख्या के लिए भी इन तीनों पर क्रमशः विचार करते हुए सर्वप्रथम उसकी पूर्ववर्ती परम्परा पर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि मीराँ के जीवन-काल के सम्बन्ध मे मतैक्य का अभाव है, फिर भी सामान्यतः संवतः १५५५ से १६०३ वि० का समय इसके लिए स्वीकार किया जाता है[2]; इस दृष्टि से वे कबीर-रैदास की परवर्ती एवं सूर-तुलसी की पूर्ववर्ती सिद्ध होती हैं। पदों या गीतों की परम्परा का सूत्रपात हिन्दी मे चौदहवी शताब्दी ईस्वी से भी पूर्व हो चुका था। इस परंपरा का मूल स्रोत अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में ढूंढा जा सकता है। उन्होंने कदाचित् लोक-गीतों के आधार पर इसे प्रतिष्ठित करते हुए स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। तदनन्तर नाथ-पन्थी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त नामदेव (१२७०-१३५० ई०) ने मराठी के साथ-साथ हिन्दी मे भी पदों की रचना की तथा आगे चलकर हिन्दी के विभिन्न सन्त कवियों ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए इस परंपरा को विकसित किया। कबीर ने अन्य शैलियों के साथ-साथ पद-शैली मे भी काव्य-रचना की। मीराँ के धर्म-गुरु रैदास भी कबीर के समकालीन माने जाते है तथा उन्होंने भी पद-शैली में काव्य-रचना की थी। स्वयं मीराँ ने अपने गुरु रूप में रैदास का नाम बार-बार अमित श्रद्धापूर्वक लिया है—अतः कहा जा सकता है कि पद-शैली प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मीराँ को अपने गुरु रैदास से मिली थी। मीराँ के पदों की न केवल शैली, अपितु विषय-वस्तु एवं भाव-व्यंजना भी सन्तों के प्रभाव से युक्त है, अतः 'मीराँ की पदावली' को सन्तों की पद-परम्परा का ही नव विकसित रूप मानना उचित होगा। 'नव विकसित'—विशेषण का प्रयोग हम जान-बूझकर कर रहे है; वह इस बात का सूचक है कि मीराँ ने परवर्ती संतों का अंधानुकरण नहीं किया, अपितु विचार, भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से पूर्व-परम्परा को नया मोड़ भी दिया है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जायगा, मीराँ सन्तों

---

१. द्रष्टव्य—'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'।

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० माहेश्वरी।

की शिष्या होती हुई भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार सगुण के भक्तों के अधिक समीप पड़ती हैं तथा उनका भाव-पक्ष संतों के भाव-पक्ष की अपेक्षा अधिक अनुभूतिपूर्ण एवं गम्भीर है। उनकी शैली में भी अपेक्षाकृत अधिक कोमलता, सरलता एवं तरलता दृष्टिगोचर होती है। अतः कहा जा सकता है कि मीराँ ने पद-शैली के रूप में पूर्व-परम्परा से जो-कुछ ग्रहण किया, उसे नयी वस्तु, नयी अनुभूति एवं शैली के नूतन तत्त्वों द्वारा और अधिक सम्पन्न एवं परिष्कृत किया है। दूसरे शब्दों में, 'मीराँ की पदावली' अपनी पूर्व-परम्परा के नूतन विकास की सूचक है; यह मीराँ के कवि-व्यक्तित्व की सशक्तता एवं सबलता का प्रमाण है।

तत्कालीन वातावरण की दृष्टि से 'मीराँ की पदावली' पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि मीराँ उस युग की भूमिका पर प्रतिष्ठित है, जबकि भक्ति-आन्दोलन अपने उत्थान की ओर अग्रसर था। यह वही समय था, जबकि नामदेव, कबीर एवं रैदास जैसे संत धर्म की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सांप्रदायिक भेद-भावों, वर्ण और जाति के स्तरों की भिन्नता एवं बाह्याचारों व कृत्रिम विधि-विधानों की निरर्थकता घोषित कर चुके थे, किन्तु अभी तक सूर-तुलसी की सगुण-लीलाओं के गुण-गान का माधुर्य प्रवाहित नहीं हुआ था। मीराँ इन दोनों स्थितियों के मध्य में स्थित हैं—न केवल काल की दृष्टि से, अपितु अपनी बौद्धिकता, भावना एवं क्रिया-कलापों की दृष्टि से भी। जिसे हम 'युग-बोध' कहते हैं, वह प्रायः अतीत से कटा हुआ एवं भविष्य से सटा हुआ होता है—उसमें अतीत और भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का बोध ही अधिक रहता है, किन्तु ऐसा युग-बोध व्यक्ति के दृष्टिकोण को सीमित एवं संकीर्ण बना देता है। वह अतीत से ग्रहण नहीं कर पाता, भविष्य को कुछ दे नहीं पाता। ऐसे 'युग-बोध' की दुहाई देकर हम भले ही अपनी सीमाओं की संकीर्णता एवं अभावों की दुर्बलता को छिपा लें, किन्तु सच्ची प्रतिभा एवं व्यापक दृष्टि का प्रमाण तो उसी बोध में माना जा सकता है, जो अतीत की उपलब्धियों, वर्तमान की गति-विधियों एवं भविष्य की सम्भावनाओं पर आधारित हो। इस प्रकार के व्यापक बोध का प्रमाण मीराँ की काव्य-दृष्टि में उपलब्ध होता है। मध्यकालीन उच्च सामन्तवर्ग में पोषित राजकुमारी होती हुई भी उन्होंने चर्मकार रैदास की शिष्या बनने में कोई संकोच नहीं किया—महलों और राज-भवनों की सुदृढ़ दीवारें भी उन्हें सन्तों की कुटिया में जाने से नहीं रोक सकीं—यह तथ्य उनके व्यक्तित्व को सबलता का द्योतक है। राज-भवनों की अट्टालिकाओं में रहनेवाली राजकुमारी का शूद्रजातीय संतों के साथ निस्संकोच रूप में मिलना-जुलना सांस्कृतिक परिस्थितियों के एक नूतन विकास एवं नूतन संगम का सूचक है। दूसरी ओर संतों के निर्गुण की शुष्कता के साथ भक्तों के सगुण की मधुरता का मेल, खंडन-मंडन की तार्किकता के स्थान पर हृदय के माधुर्य की प्रतिष्ठा एवं दुरूह प्रतीकों एवं अस्पष्ट शब्दावली के स्थान पर सहज स्वाभाविक शैली का प्रयोग—इस बात का सूचक है कि मीराँ ने अपने काव्य में पूर्ववर्ती संतों की उपलब्धियों एवं परवर्ती भक्तों की संभावनाओं के सामंजस्य को प्रस्तुत किया है। उनका 'युग-बोध' 'सीमित युग-बोध' न होकर अतीत और भविष्य से संपुष्ट है। वस्तुतः साहित्यकार की विकसित चेतना ही ऐसा व्यापक बोध प्रस्तुत कर सकती है।

जहाँ तक मीराँ के व्यक्तित्व की बात है—उनमें हम अद्भुत साहस, अद्भुत धैर्य्य एवं अद्भुत सहजता पाते हैं। वे अपने लक्ष्य के प्रति इतनी अधिक आस्थावान एवं दृढ़ हैं कि विष-पान तक की स्थिति उन्हें विचलित नहीं कर पाती। पारिवारिक विरोध, सामाजिक भर्त्सना एवं लोक-निन्दा भी उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को तनिक भी नहीं छू पाती। यही कारण है कि वे अपनी आत्मा की आवाज़ को, अपने हृदय के क्रन्दन को, अपने मन के उल्लास को, अपनी भावनाओं के आवेग को और अपनी अनुभूतियों के प्रवाह को निर्बाध रूप में व्यक्त कर पायीं। नारी का नारीत्व उन्हें कृत्रिमता के आवरण को धारण करने के लिए विवश नही कर पाता, उच्च कुल की कुलीनता उन्हें गांभीर्य एवं ऐश्वर्य के अनावश्यक भार को ढोने के लिए मजबूर नहीं कर पाती। वे एक ऐसी नारी का आदर्श प्रस्तुत करती है, जो पारिवारिक रूढ़ियां एवं सामाजिक सीमाओं का उच्छेदन करते समय एक अद्भुत शक्तिशालिनी विद्रोहिणी का रूप धारण कर लेती हैं, जबकि अपने साँवरिया की आराधना के समय, उसके सम्मुख आत्म-निवेदन करते समय प्रेम से विभोर, लाज से गद्गद, कोमलता से ओत-प्रोत एवं दैन्यता से द्रवित हो उठती हैं। वे एक ओर समाज को चुनौती देती हुई कहती हैं—

पग घुंघरू बाँध मीराँ नाची रे
मीराँ नाचीं !

या—

माई री मैं तो लीयो गोविन्दो मोल।
कोई कहे छाने कोई कहे चौड़े, लियो री बजंता ढोल।

तो दूसरी ओर वे यह भी स्पष्ट रूप में घोषित करती हैं—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई !

अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मीराँ के व्यक्तित्व की सबलता, शक्तिमत्ता एवं स्पष्टवादिता ने उनकी वाणी को पर्याप्त शक्ति एवं सहजता प्रदान की है—इसी के बल पर वे अपनी अनुभूतियों को यथार्थ रूप में व्यक्त कर सकी है तथा यही यथार्थता उनकी अभिव्यक्ति का चरम सौन्दर्य है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मीराँ का काव्य परंपरा से पुष्ट होते हुए भी उसकी रूढ़ियों से जकड़ा हुआ नहीं है; युगीन वातावरण पर आधारित होते हुए भी उसकी सीमाओं से आबद्ध नहीं है तथा उनका व्यक्तित्व राज-भवनों में पला हुआ होते हुए भी उसकी औपचारिकताओं एवं कृत्रिमताओं से मुक्त है। वस्तुतः मीराँ की काव्यानुभूति परंपरा, युग एवं व्यक्तित्व के सुन्दर सम्मिश्रण का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह परम्परा का एक नया मोड़, युग का एक व्यापक बोध एवं व्यक्तित्व की एक नूतन सहजता का आदर्श प्रस्तुत करता है, जो समग्र रूप में कवि-प्रतिभा की विकासोन्मुखता का परिचायक है।

'पदावली' का बौद्धिक पक्ष—'पदावली' के बौद्धिक पक्ष पर विचार करने के लिए हमें सर्वप्रथम यह देखना होगा कि मीराँ किस धर्म-सम्प्रदाय व दार्शनिक मत की अनुयायी थीं। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। उनके गीतों में विभिन्न

धर्म-सम्प्रदायों एवं दर्शनों का प्रभाव मिश्रित रूप में दृष्टिगोचर होता है, अतः उन्हें किसी एक सम्प्रदाय से सम्बद्ध करना उचित प्रतीत नहीं होता। उनके माता-पिता सगुण के उपासक थे तथा इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि मीराँ बाल्यकाल में ही कृष्ण की मूर्ति की पूजा करने लग गई थीं—इससे वे सगुण की आराधिका सिद्ध होती हैं। उनके पदों में भी प्रायः कृष्ण के प्रति ही आत्म-निवेदन किया गया है, इससे भी वे कृष्ण-भक्तों की परम्परा में आती हैं। किन्तु कृष्ण-भक्त मान लेने पर भी एक प्रश्न यह उठता है कि वे कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध किस सम्प्रदाय की अनुयायिनी थी? कुछ विद्वान् उन्हें वल्लभ-सम्प्रदाय से संबद्ध करना चाहते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। अवश्य ही वल्लभ-सम्प्रदाय से मीराँ का थोड़ा सम्पर्क रहा था, किन्तु उन्होंने इसकी दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। वार्ता के अनुसार वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि गोविन्द दुबे मीराँ के यहाँ गये थे, किन्तु वे मीरां से अप्रसन्न होकर लौट आये थे तथा मीराँ की दी हुई भेंट को अस्वीकार करते हुए कहा था—'तू तो श्री आचार्य महाप्रभून की नहीं होत ताते भेंट हाथ से छूवोंगो नहीं।' एक अन्य उल्लेख के अनुसार मीराँ स्वय भी वृन्दावन आई थीं, किन्तु वे यहाँ नहीं ठहरीं! इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने मीराँ को अपने मत की दीक्षा देने का प्रयास किया था, किन्तु इसमे उन्हें सफलता नहीं मिली।

श्री वियोगी हरि के मतानुसार मीराँ ने चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि श्री जीव-गोस्वामी से दीक्षा ली थी। मीराँ की भक्ति-भावना में प्राप्त माधुर्य-भाव चैतन्य-मत की विचारधारा के अनुकूल ही है, फिर भी इस बात का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता कि मीराँ ने चैतन्य-सम्प्रदाय की दीक्षा ली ही थी।

स्वयं मीराँ की पदावली में गुरु के रूप में संत रैदास का स्मरण बार-बार श्रद्धा-पूर्वक किया गया है, तथा—

> **गुर मिलिया रैदास जी, दीन्हीं ग्यान की गुटकी।**
> **चोट लगी निज नाम हरि की, म्हाँरे हिवड़े खटको॥**[1]

दूसरी ओर सन्त रैदास की उपलब्ध जीवनियों में भी उनकी शिष्याओं में 'चित्तौड़ की झाली रानी' का उल्लेख मिलता है—यद्यपि यह 'झाली रानी स्वयं मीराँ का विशेषण नहीं माना जाता—पर संभव है कि यह मीराँ की माता, चाची, या किसी ऐसी निकटस्थ सम्बन्धिनी का सूचक हो, जिसके माध्यम से मीराँ का भी रैदासजी से संपर्क हो गया हो। अतः यह सम्भव है कि मीराँ को आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि गुरु रैदास से ही हुई हो। मीराँ के काव्य पर संत-मत के प्रभाव को सूचित करने वाले और भी कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। एक तो उन्होंने अनेक पदों में अपने गुरु को 'जोगी' रूप में सम्बोधित करते हुए उसके प्रति गहरी आसक्ति व्यक्त की है; यथा—'जोगिया जी आवो ने या देस', 'म्हारा सतगुरु बेगा आज्यो जी', 'अरज करै मीराँ दासी जी, गुरुपद-रज की मैं प्यासी जी', 'सतगुरु म्हाँरी प्रीत निभाज्यो जी' आदि। इन पदों

१—**'मीराँ की पदावली' (परशुराम चतुर्वेदी)—पदसंख्या** २४, २६, १६६।

में कहीं-कहीं गुरु को ही आराध्यदेव या परमात्मा के समरूप मान लिया गया है। गुरुदेव के लिए जोगी (योगी) विशेषण का प्रयोग किसी नाथ-पंथी योगी की ओर भी संकेत करता है, किन्तु इसके आधार पर यह कहना कठिन है कि उनका नाथ-पंथियों से सम्बन्ध रहा है। नाग-पंथ के अनेक यौगिक शब्द—त्रिकुटी, शून्य, सुरत, सुषुम्ना, घट आदि—भी उनके पदों में आये हैं, किन्तु उनका अर्थ योग-परक न लेते हुए प्रेम-परक किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ-पंथ का यह प्रभाव मीरां पर संत-मत के माध्यम से ही पड़ा है। संतों ने भी नाथ पंथियों की यौगिक शब्दावली का प्रयोग नूतन अर्थ में किया है, उन्होंने हठयोग के स्थान पर प्रेम के सहज योग की प्रतिष्ठा की है। यही बात मीरां में मिलती है। दूसरे अनेक स्थलों पर मीरां ने ईश्वर के निर्गुण निराकार एवं निरंजन रूप को मान्यता देते हुए आत्मा और परमात्मा की एकता का प्रतिपादन किया है। एक ओर वे कहती हैं—'जाको नाम निरंजण कहिए ताको ध्यान धरूँगी' तो दूसरी ओर वे स्वयं को आराध्य से अभिन्न भी मानती हैं—'तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा।' गुरु के द्वारा प्राप्त ज्ञान की चर्चा करती हुई वे सर्वत्र आत्मा के दर्शन की बात कहती हैं—

> सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम की किंवारो हो।
> सब घट दीसै आत्मा, सबही सूं न्यारी हो॥
> दीपक जोऊँ ग्यान का, चढ़ूं अगम अटारी हो।
> मीरां दासी राम की इमरत बलिहारी हो॥

मीरां की साधना एवं उपासना पद्धति में भी संतों की परम्परा के अनुरूप प्रणय और विरह की मात्रा पर्याप्त है—अतः यह कहा जा सकता है कि मीरां पर संत मत की मान्यताओं का प्रभाव कम नहीं है। यह प्रभाव उन पर सन्त रैदास के माध्यम से ही पड़ा हो तो भी आश्चर्य नहीं। यदि स्वयं रैदास का जीवन काल मीरां से थोड़ा पीछे पड़ता हो तो किसी रैदासी संत (अर्थात् रैदासजी की शिष्य परंपरा का कोई संत) से मीरां का सम्बन्ध माना जा सकता है।

मीरां पर सन्त मत का प्रभाव स्वीकार करते हुए भी हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विचार के क्षेत्र में मीरां कट्टर नहीं थीं—वस्तुतः उनकी विचारधारा भाव धारा से भिन्न नहीं थी। वे निर्गुण की महत्ता स्वीकार करती हुई भी अपने बचपन के आराध्य कृष्ण को नहीं भूल पाईं—उन पर बाल्यकालीन संस्कार इतने गहरे थे कि वे अपना प्रणय-निवेदन मोरमुकुटधारी गिरिधर को ही करती हैं—निराकार ब्रह्म को नहीं। उनमें सगुण की आस्था और निर्गुण का ज्ञान—दोनों मिश्रित हो गये हैं। सच पूछा जाय तो उनका निर्गुण ब्रह्म सगुण कृष्ण से भिन्न नहीं हैं! उनकी भावानुभूति की प्रबल धारा में सगुण एवं निर्गुण का भेद तिरोहित हो जाता हैं, अतः दर्शन और तर्क की कसौटियां उनके लिए व्यर्थ है।

'पदावली' का भाव पक्ष—'पदावली में मुख्यतः कृष्ण के प्रति प्रणय निवेदन किया गया है, जिसे लौकिक दृष्टि से शृङ्गार रस में स्थान दिया जा सकता था, किन्तु मीरां का आलम्बन अलौकिक है—अतः यह प्रश्न उठता है कि उसे भक्ति भाव में स्थान

दिया जाए या रहस्यवाद के अन्तर्गत ! 'भक्ति' मूलतः श्रद्धा और प्रेम से समन्वित होती है, उसमें आलम्बन को उच्च एवं महान् तथा स्वयं को दीन व हीन माना जाता है, जबकि मीरां में समता पर आधारित प्रणय की अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से मीरां सगुण भक्तों की अपेक्षा निर्गुण-संतों के अधिक समीप पड़ती हैं। संतों के दिव्य-प्रेम को 'रहस्य-वाद' की संज्ञा दी जाती है तथा अनेक आलोचकों ने मीरां को भी रहस्यवादिनी बताया है, किन्तु हमें इसमें एक आपत्ति है—मीरां का आराध्य सगुण कृष्ण है, जबकि रहस्य-वाद निर्गुण की मान्यता पर आधारित होता है। अतः मीरां न तो पूर्णतः भक्तों की श्रेणी में आती हैं और न ही संतों की श्रेणी में—उनकी भावना भक्ति और रहस्यवाद के बीच में पड़ती है। रूपगोस्वामी ने भक्ति के विभिन्न भेदोपभेद करते हुए भक्ति के एक ऐसे भेद की भी प्रतिष्ठा की है, जिसमें आराध्य के प्रति विशुद्ध प्रणय की भावना रहती है, इसे माधुर्यभाव की भक्ति कहा गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति का यह भेद भक्ति के मूल क्षेत्र की सीमाओं से दूर पड़ता है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसे स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु इसे हम माधुर्यभाव की भक्ति न कहकर माधुर्य भाव की उपासना कहना पसन्द करेंगे तथा इसे भक्ति का भेद न मानकर, उससे पृथक् उपासना-पद्धति के रूप में स्वीकार करेंगे। भावना के आधार पर उपासनाओं के निम्नां-कित तीन भेद माने जा सकते हैं—

निर्गुण + प्रणय = रहस्यवाद
सगुण + श्रद्धा + प्रणय = भक्ति-भाव
सगुण + प्रणय = माधुर्य-भाव

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार मीरां की भावना को माधुर्य भाव की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः व्यावहारिक क्षेत्र में पहले से ही मीरां की अनुभूतियों को 'माधुर्य भाव' के नाम से स्मरण करने की परम्परा चली आ रही है, अतः इस दृष्टि से भी यह उचित है।

माधुर्यभाव—मीरां अपने आराध्य देव को अपने प्रेमी ही नहीं, अपितु पति के रूप में स्मरण करती हैं—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
× × ×
मैं तो गिरधर घर जाऊं
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं॥

यहाँ गिरिधर गोपाल के प्रति मीरां ने पूर्ण अनन्यता का भाव व्यक्त किया है—लौकिक दृष्टि से उनके पति कोई और भी थे, किन्तु मीरां उसका स्पष्ट निषेध करती हैं। लौकिक सम्बन्ध एवं लौकिक पति मिथ्या है—उसके वास्तविक पति—सांचो प्रीतम—तो गिरिधर ही हैं। इसीलिए वे निःसंकोच उन्हें बार-बार 'पिया' या पति के रूप में सम्बोधित करती हैं—

पिया बिन रह्योइ न जाइ।

× × ×

पिया बिन मेरी सेज अलूनी, जागत रैण बहावे।

× × ×

होली पिया बिन लागै खारी।

यद्यपि यहाँ प्रयुक्त 'पिया' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से केवल प्रिय का सूचक है, किन्तु राजस्थानी भाषा में वह पति के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतः मीरां का कृष्ण से प्रेयसी-प्रियतम का नहीं, अपितु पत्नी-पति का सम्बन्ध मानना चाहिए।

पति-पत्नी का सम्बन्ध कुछ औपचारिकताओं की अपेक्षा रखता है, किन्तु मीरां के सामने यह समस्या नहीं है। उनके विश्वास के अनुसार वे जन्म-जन्म से कृष्ण की ही प्रेयसी व पत्नी रहती हैं, अतः इस जन्म में भी वे उसी सम्बन्ध का पालन करती हैं—

मेरी उणको प्रीत पुराणी, उण बिनि पल न रहाऊँ!

× × ×

पूरब जनम की प्रीत पुराणी सो क्यूं छोड़ी जाय!

× × ×

पूरब जनम की प्रीत हमारी अब नहिं जात निवारो!

इसी प्रकार एक अन्य पद में वे अपने आराध्य को 'पूर्व जन्म का साथी' मानती हुई अपने सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर तक चलनेवाला मानती हैं। संभवतः मीरां की उपासना का लक्ष्य न तो स्वर्ग है और न ही मुक्ति। वे केवल अपने प्रियतम का सान्निध्य एवं तादात्म्य ही जन्म-जन्मान्तरों तक चाहती हैं।

रूपासक्ति-जन्य माधुर्य भाव—श्रद्धा या भक्ति का उन्मेष गुणों के चिन्तन के आधार पर होता है, जबकि प्रणय की उत्पत्ति मुख्यतः सौन्दर्याकर्षण या रूपासक्ति के कारण होती है। अन्य कारणों से भी प्रणय उत्पन्न हो सकता है, किन्तु रूप का प्रभाव उसमें गौण नहीं रहता। प्रणय का प्रथम अंकुर तो रूपजन्य प्रभाव से ही प्रस्फुटित होता है, प्रिय के अन्य गुण उस अंकुर को पल्लवित एवं पुष्पित करने में योग भले ही देते हों। मीरां का माधुर्य-भाव भी आराध्य के सौन्दर्याकर्षण पर आधारित है। स्वयं कवयित्री के शब्दों में—

या मोहन के मैं रूप लुभानी,
सुन्दर वदन कमल दल लोचन, बांकी चितवन मंद मुसकानी।

× × ×

जब से मोहिं नंदनंदन दृष्टि पड्यो भाई।
तब से परलोक लोक कछू न सोहाई।

× × ×

आली रे मेरे नैणां बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूं अपने भवन खड़ी।।

कैसे प्राण पिया बिनि राखूं जीवन मूर जड़ी।
मीरां गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी ।।

कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का आख्यान करते समय मीरां ने न केवल उनके नख-शिख की विशिष्टता का संकेत किया है, अपितु उनको शृङ्गार-चेष्टाओं (हाव-भाव)—यथा, बाँकी चितवन, मंद मुस्कुराहट आदि—का भी निरूपण पूर्ण सरसता से किया है, जो मीरां की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का परिचायक है। शृङ्गारी-साहित्य में नारी के नख-शिख की व्यंजना तो प्रायः मिलती है, किन्तु पुरुष प्रायः उपेक्षित रहा है। पुरुष के सौन्दर्य की अनुभूति के लिए नारी की आँखें अपेक्षित होती हैं—मीरां के पास ये थीं, इसीलिए वे अपने पदों में स्थान-स्थान पर कृष्ण के सौन्दर्य का निरूपण अत्यन्त शिष्ट एवं शालीन किन्तु अनुभूतिपूर्ण शब्दों में कर सकीं।

मीरां का माधुर्य भाव प्रथम-दृष्टिजन्य प्रणय (love at first sight) के अनुरूप है; इसीलिए वे कहती हैं—'जब से मुझे नद-नन्दन दिखाई पडता है तब से लोक-परलोक में कुछ भी नहीं सुहाता !' लौकिक प्रणय की भाँति ही वे अपने माधुर्य भाव को लोभी नेत्रों की विवशता के रूप में स्वीकार करती है। उनकी रूपासक्ति ज्यों-ज्यों तीव्र एवं गंभीर होती जाती है, त्यों-त्यों उनकी प्रणय-वेदना भी बढ़ती जाती है, पर फिर भी वे जिस पथ पर आगे बढ़ गई है उससे लौट नहीं पातीं। परिवार और समाज उन्हे इसके लिए लांछित करता है—उन्हे कलकित और कुलटा घोषित करता है, तथा वे स्वयं भी चाहती हैं कि दुनियाँ उन्हे ऐसा न कहे, परन्तु इससे क्या होता है। वे अपने वश में नहीं हैं, उनके प्राण अपने हाथ में नहीं हैं, क्योंकि वे तो पहले ही गिरिधर के हाथ बिक चुकी है—उनके शब्दों में—

मैं ठाढ़ी ग्रिह आपणे री मोहन निकसे आइ।
वदन चंद परकासत हेली, मंद मंद मुसकाइ ।।
लोक कुटंबी गरजि बरजहीं, बतियां कहत बनाइ।
चंचल निपट अटक नहिं मानत, परहथ गये बिकाइ ।।

जो किसी दूसरे के हाथ बिक चुके हैं, उनके लिए कुटुम्ब, परिवार, समाज और लोक के ये सारे विधि-निषेध व्यर्थ हो जाते है। लोग अच्छा बताएँ या बुरा—यह महत्व-शून्य हो जाता है :

भलो कहो कोई बुरी कहो मैं सब लई सीसि चढ़ाइ।
मीरां कहे प्रभु गिरिधर के बिनि, पल भर रह्यो न जाई।

मीरां यहाँ लोक-मत का तिरस्कार नहीं करतीं, उसकी उपेक्षा भी नहीं करतीं, अपितु सब कुछ शिरोधार्य कर लेती हैं। फिर भी वह लोक-मत के अनुसार चल नहीं पातीं—इसलिए कि चलना उनके वश की बात नहीं है ! भला जिस प्रभु के बिना एक क्षण भर भी नहीं रहा जाता उसे वह सदा के लिए कैसे भुला सकती हैं ! वस्तुतः मीरां की इन उक्तियों में व्यक्तिगत दंभ या अहंकार अथवा साधना का गर्व नहीं है, अपितु प्रणय की गंभीरतम अनुभूतियों से उद्वेलित सहृदयता, विनम्रता एवं विवशता दृष्टिगोचर होती है।

माधुर्य भाव की प्रगाढ़ता—मीरां के इस माधुर्य भाव की प्रगाढ़ता का परिचय उनकी विभिन्न भावानुभूतियों या संचारी भावों में मिलता है। वे अपनी प्रणय-वेदना को शत-शत पदों में व्यक्त करती हैं, जिनसे उनकी अनुभूति की तीव्रता एवं गंभीरता का पता चलता है, यथा—

> **रमैया बिन नींद न आवे**
> **नींद न आवे विरह सतावे, प्रेम की आंच डुलावे।**
> × × ×
> **होली पिया बिन लागै खारी**
> **सूनो गाँव देस सब सूना, सूनी सेज अटारी।**
> × × ×

यहाँ नींद न आना एवं सर्वत्र शून्यता की प्रतीति होना—ऐसे अनुभव हैं जो प्रणयानुभूतियों की गंभीरता के द्योतक हैं। यह गंभीरता और भी गंभीर हो उठती है जबकि पपीहा का मीठा स्वर भी उसके हृदय के घाव पर नमक का काम करता हुआ प्रतीत होता है; लगता है 'पपीहा' 'पिव ! पिव !!' कहकर विरहिणी को प्रिय की याद दिलाता हुआ उसके दग्ध हृदय पर नमक छिड़क रहा है—

> **रे पपइया प्यारे कब को वैर चितारयौ।**
> **मैं सूती छी अपने भवन में पिय-पिय करत पुकारयौ।**
> **दाझ्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़ै करवत सारयौ॥**

विरह-वेदना की चरम स्थिति तो वह है जब स्वयं विरहिणी अनुभव करने लगती है कि वह असह्य व्यथा के कारण पागल हो गई है—

> **हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ,**
> **दरद न जाणै मेरो कोइ।**
> **घायल की गति घाइल जाणै**
> **कि जिण लाई होइ॥**

प्रायः प्रणय-वेदना के पीड़ितों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वे अपनी पीड़ा को बाँट नहीं पाते ! उनकी पीड़ा को समझने एवं बँटानेवाले लोग इस धरती पर उत्पन्न नहीं होते ! इसीलिए मीरां ने कहा है कि घायल की दशा को घायल ही समझ सकता है, कोई अन्य नहीं ! यही बात प्रेम-मार्ग के अन्य पथिकों ने भी कही है—

> **कहिबे को बिथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनि के उर आनतु है।**
> **अरु पीर घटे तजि धीर सखि ! दुःख को नहीं का पै बखानतु है॥**
> **कवि 'बोधा' कहे में सवाद कहा, को हमारी कही पुनि मानतु है।**
> **हमें पूरी लगी के अधूरी लगी, यह जीव हमारोई जानतु है॥**
>
> —बोधा

> **का कहिए, किहि सौं कहिए, तन छीजत है पै नहि छीजतु है !**
>
> —ठाकुर

मारग प्रेम को को समुझै हरिचन्द यथारथ होत यथा है।
लाभ कछू न पुकारन में बदनाम ही होन की सारी कथा है॥
जानत है जिय मेरो भली विधि और उपाय सबै बिरथा है।
बावरे हैं बृज के सगरे, मोहिं नाहक पूछत कौन बिथा है॥

—भारतेन्दु

प्रणय-वेदना की अभिव्यक्ति कई बार प्रिय के प्रति आत्म-निवेदन एवं उपालंभों के रूप में भी की जाती है। मीरां भी इस पद्धति का अनुसरण करती हुई कहती है—

देखो सइयां हरि मन काठ कियो।
आवन कह गयो अजूं न आयो, करि करि वचन गयो।
खान-पान सुध-बुध सब बिसरी, कैसे करि मैं जियो॥
बचन तुम्हार तुमहीं बिसरै, मन मेरो हर लियो।
'मीरां' कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिनि फाटत हियो॥

उपर्युक्त उक्तियों में व्यंग्य की तीक्ष्णता नहीं है, अपितु अपनी वेदना की अभिव्यंजना सहज स्वाभाविक रूप में है। 'तुम बिन फाटत हियो!' में यह वेदना साकार हो उठती हैं।

मीरां ने विभिन्न पर्वों, त्यौहारों, ऋतुओं, पत्रिकाओं, संदेश आदि विभिन्न अवसरों व माध्यमों के आश्रय से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। उन सबको प्रस्तुत करना यहां संभव नहीं, अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी अनुभूतियां सर्वत्र सहज स्वाभाविक एवं मार्मिक रूप में व्यक्त हुई हैं। उनके माधुर्य भाव के संबंध में निष्कर्ष रूप में पांच बातें कही जा सकती हैं—(१) उनका यह संबंध जन्म-जन्मान्तरों के प्रणय की—पिछले जन्म की प्रीति के विश्वास पर आधारित है। (२) उनका लक्ष्य मिलन है; स्वर्ग और मोक्ष नहीं। (३) उसमें आराध्य को पति रूप में ग्रहण करते हुए स्वकीया भाव को स्थान दिया गया है। (४) उसकी उत्पत्ति सौन्दर्याकर्षण व रूपासक्ति-जन्य है। (५) उसमें स्थूल शारीरिकता व संभोग का अभाव है, विरहानुभूति की ही प्रमुखता है।

काव्य-रूप एवं शैली-पक्ष—काव्य-रूप की दृष्टि से 'मीरां' की 'पदावली' गीति-काव्य के अन्तर्गत आती है। जब हृदय में भावों का ज्वार उमड़ता है, तो उसकी अभिव्यक्ति गीति रूप में होती है। काव्य के अन्य रूपों—प्रबन्ध और मुक्तक में भी भावात्मकता रहती है, किन्तु उनमें वस्तु, पात्र, विचार आदि तत्त्वों का भी समावेश रहता है, इससे उनमें भावात्मकता का तीव्र आवेग नहीं रहता, जो गीति-काव्य में सम्भव है। मीरां के पास आत्मानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं था—न वे कोई कहानी कहना चाहती थीं, और न ही किसी की महिमा का गान करना उनका लक्ष्य था। किसी मत, सिद्धान्त या संदेश का निरूपण करना भी उनका लक्ष्य नहीं था। वे चाहती थीं केवल अपने घायल हृदय की पीड़ा को व्यक्त करना या अपने सांवलिया से प्रेम, मनुहार, रोष, उपालंभ भरे दो-चार शब्द कहना। इसके लिए सर्वोत्कृष्ट माध्यम गीति का ही हो सकता था, जिसे

अपनाकर मीराँ ने अपनी सहजता का परिचय दिया। वस्तुतः मीराँ ने गीति का माध्यम अपनाया नहीं, अपितु कहना चाहिए कि उनकी विरह वेदना स्वतः ही गीतों के रूप में फूट पड़ी। आधुनिक कवि पंत का यह कथन—'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।'—मीराँ पर भली भाँति चरितार्थ होता है। उनके गीत उनकी 'आह' से ही प्रस्फुटित प्रतीत होते हैं।

गीति काव्य के लिए अपेक्षित तत्त्वों में भावानुभूति, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता एवं शैली की कोमलता की गणना की जाती है। मीराँ के पदों में ये सभी तत्त्व सहज स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, भावानुभूति तो उनके गीतों की प्रमुख विशेषता है। भावों में भी प्रेम और प्रेम में भी विरह सर्वाधिक कोमल एवं मधुर माना गया है—मीराँ के काव्य में इसी की प्रमुखता है। मीराँ अपनी विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए न तो जायसी की भाँति नागमती का माध्यम अपनाती हैं और न ही सूरदास की भाँति गोपियों का आश्रय ग्रहण करती हैं—अपितु वे स्वयं ही प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन के रूप में अपनी अनुभूति को व्यक्त करती हैं, अतः उनकी अभिव्यक्ति में वैयक्तिकता भी सर्वत्र विद्यमान है। उनके गीत संगीत की राग-रागिनियों में बँधे हुए हैं तथा उनमें संक्षिप्तता एवं कोमलता भी यथोचित रूप में दृष्टिगोचर होती है, अतः कहा जा सकता है कि मीराँ के काव्य में गीति-काव्य के सभी तत्त्वों का समन्वय सुन्दर रूप में हुआ है। उन्हें गीति-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। कुछ गीतों में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण उनका भाव-पक्ष दब गया है, किन्तु उन्हें अपवाद-रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

शैली के प्रतिमान के रूप में परम्परा से अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनमें अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, प्रतीक, बिम्ब आदि उल्लेखनीय हैं। ये सिद्धान्त मूलतः काव्य-शैली के विशिष्ट तत्व को ध्यान में रखकर स्थापित किए गये थे, किन्तु परवर्ती-युग में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रत्येक सिद्धान्त ने अनेक भेदोपभेदों के रूप में अपने क्षेत्र का इतना अधिक विस्तार किया कि जिससे अन्य सिद्धान्तों के क्षेत्रों का समावेश उसकी अपनी परिधि में हो जाता है। उदाहरण के लिए जिसे अलंकार सिद्धान्त में अन्योक्ति कहा गया है, वही वक्रोक्ति में प्रकरण-वक्रता या ध्वनि-सिद्धान्त में ध्वनि के रूप में प्रतिष्ठित है। अस्तु, इन सिद्धान्तों का क्षेत्र एक-दूसरे से घुल-मिल गया है, उनकी सीमाएँ अस्पष्ट हो गई हैं तथा उनका रूप विकृत हो गया है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमने अपने 'प्रबन्ध-साहित्य-विज्ञान' में इनके आधारभूत तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से पाँच वर्गों में विभक्त किया है—(१) संयोजनात्मक, (२) विश्लेषणात्मक, (३) विस्थापनात्मक, (४) विनिमयात्मक और (५) समान्वयात्मक। वस्तुतः इन पाँचों वर्गों में शैली के सभी परंपरागत एवं आधुनिक तत्त्वों का समावेश निर्दोष रूप में हो जाता है, अतः मीराँ के शैली-पक्ष पर विचार करते समय भी शैली के इन नूतन मानदंडों को ग्रहण करें तो अनुचित न होगा।

(क) संयोजनात्मक रूप-विधान—तथ्य और कल्पना के मेल को ही संयोजनात्मक

रूप-विधान कहा गया है, जिसे परंपरागत काव्य-शास्त्र में सादृश्यमूलक अलंकारों व वाक्य-वक्रता के रूप में उल्लिखित किया जाता है। इस संयोजन की भी मुख्यतः तीन स्थितियाँ होती हैं—तुलनात्मक संयोजन, आरोपण-मूलक संयोजन और तादात्म्य-मूलक संयोजन। मीरां के काव्य में इन सभी के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

(अ) **तुलनात्मक संयोजन :**

'पाना ज्यूं पीली पड़ी रे लोग कहैं पिंड रोग।'
'घायल ज्यू घूमूं सदा री, म्हाँरी बिथा न बूझै कोइ।'

× × ×

जल बिन कँवल चन्द बिन रजनी,
ऐसे तुम बिन देख्यां बिन सजनी।

× × ×

'सूनी सेज जहर ज्यूं लागे'

(आ) **आरोपण मूलक संयोजन :**

'मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई'

(इ) **तादात्म्य-मूलक संयोजन :**

'विरह-व्यथा लागो उर-अन्तर सो तुम बुझावो हो।'
'अँसुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई।'
'बिरहिणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवे।'

उपर्युक्त उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि मीरां ने अपनी अनुभूति-प्रेरित कल्पना-शक्ति के बल पर प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का मेल (संयोजन) अत्यन्त सुन्दर रूप में किया है।

(ख) **विश्लेषणात्मक रूप-विधान**—विश्लेषणात्मक रूप-विधान में संयोजनात्मक रूप-विधान की भाँति मूल विषय के साथ ब्राह्य तत्वों का मेल नहीं होता, अपितु मूल विषय के ही विभिन्न अंगों को ही प्रत्यक्ष या बिम्ब रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है जिससे उसमें आकर्षण की उद्दीप्ति हो जाती है। मीरां के काव्य में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

'मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहैं।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहैं॥
कुंडलि की अलक झलक, कपोलन पर छाई।

\+ + +

कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टौना।

\+ + +

सुन्दर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विसेखा

यहाँ नख-शिख के विभिन्न अवयवों का चित्रण विश्लेषणात्मक शैली में किया गया है जिससे पाठक को विषय की अनुभूति प्रत्यक्ष—बिम्ब-रूप में प्राप्त हो जाती है।

(ग) **विस्थापनात्मक रूप-विधान**—इसमें प्रस्तुत या कथ्य विषय के स्थान पर अप्रस्तुत या अन्य विषय की स्थापना की जाती है। इसी पद्धति को परम्परागत काव्य-शास्त्र में प्रकरण-वक्रता, ध्वनि, प्रतीक आदि की संज्ञाएँ दी गई हैं। मीराँ ने इस शैली का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया है, फिर भी इसके कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं, जैसे—

उमग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसै, दामिणि छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा-नवा धरियां, इन्द्र मिलन के काज।

यहाँ प्रकृति के मिलन के माध्यम से कवयित्री ने निजी आध्यात्मिक मिलन को संकेतित किया है, जो विस्थापनात्मक रूप-विधान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(६) **विनिमयात्मक रूप-विधान**—लाक्षणिक प्रयोगों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत विषय के विभिन्न गुणों में परस्पर विनिमय हो जाता है—इसी को विनिमयात्मक रूप-विधान कहते हैं। परम्परागत वक्रोक्ति एवं विरोधमूलक अलंकार मूलतः इसी क्षेत्र में आते हैं। मीराँ की भावाभिव्यक्ति सरल एवं स्पष्ट है, अतः उसमें वक्रता का आविर्भाव अपेक्षाकृत कम है, पर कहीं-कहीं अतिशय भावात्मकता में वक्रतापूर्ण प्रयोग भी किए गये हैं। यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'विरहिणी बैठी रागमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहिणी हम ऐसी देखी, अँसुवन की माला पोवै।।'

\+ + +

आंगलियारो मूंदड़ो, म्हारे आवण लागो बांहि।

\+ + +

हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ, दरद न जाणैं मेरो कोइ।

इन प्रयोगों के पीछे अनुभूति की सच्ची प्रेरणा होने के कारण ये हमारे हृदय को छूते हैं, प्रभावित करते हैं तथा रसानुभूति से आप्लावित करते हैं।

(ङ) **समन्वयात्मक रूप-विधान**—विभिन्न अवयवों की बाह्य एकरूपता के द्वारा समन्वयात्मक रूप-विधान का आयोजन किया जाता है, जिसे परम्परागत शैली में अनुप्रास यमक, आवृत्ति आदि की संज्ञाएँ दी गई हैं। मीराँ के काव्य से इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ, सरब सुधारण काज।

× × ×

'कोई कहियो रे प्रभु आवन की, आवन की मन भावन की।

× × ×

'घन की धुनि सुनि मोर मगन भया'

× × ×

कोई कहे छाने, कोई कहूँ चौड़े, लियो री बजंता ढोल।
कोई कहै मुंहधो, कोई कहै सुंहधो, लियो री तराजू तोल।।

यहाँ क्रमशः व्यंजनों, शब्दों एवं वाक्यांशों की आवृत्ति के द्वारा भावाभिव्यक्ति को आकर्षक रूप दिया गया है, जो कवयित्री की अभिव्यंजना-शक्ति को सूचित करता है।

शैली के उपर्युक्त भेदोपभेदों के साथ-साथ छंद-वैविध्य की दृष्टि से भी मीराँ का काव्य संपन्न है। जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीराँ की पदावली' की भूमिका में स्पष्ट किया है, मीराँ ने सार, सरसी, विष्णुपद, दोहा, शोभन, ताटंक, कुण्डल, चान्द्रायण आदि छंदों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा मुख्यतः राजस्थानी है, किन्तु उनके कतिपय पद गुजराती एवं ब्रजभाषा में भी मिलते हैं। राजस्थानी से अनभिज्ञ संपादकों ने मीराँ की भाषा को तोड़-मरोड़ दिया है, पर इसके लिए मीराँ को दोष नहीं दिया जा सकता।

उपसंहार—इस प्रकार 'मीराँ की पदावली' के विभिन्न पक्षों पर विचार कर लेने के अनन्तर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतीय-गीति-परम्परा में 'मीराँ की पदावली' एक विशिष्ट स्थिति की सूचक है—वह विशिष्ट स्थिति है, जबकि एक नारी-हृदय से प्रणय-वेदना के दिव्य उद्गार सहज स्वाभाविक रूप में फूट पड़े। पुरुष के ओजस्वी स्वर भी गीति के क्षेत्र में आकर कोमल-कान्त पदावली मे परिणत हो जाते हैं, फिर नारी के विरह-व्यथित करुण स्वरों की कोमलता का तो कहना ही क्या! हिन्दी की काव्य-परम्परा में मीराँ के स्वरों का उद्घोष एक सर्वथा नूतन घटना का द्योतक है, जबकि एक विद्रोहिणी नारी कुल, परिवार, समाज और देश की कृत्रिम दीवारों और मिथ्या-विश्वासों के बंधनों को तोड़ती हुई अपने पवित्र लक्ष्य एवं दिव्य प्रेम की घोषणा डंके की चोट पुकार-पुकारकर करती है! भक्ति-काव्य के क्षेत्र में मीराँ सगुण और निर्गुण, भक्ति और रहस्यवाद, श्रद्धा और प्रेम के अन्तर की खाइयों को पाटती हुई माधुर्य भाव के उज्ज्वल मधुर क्षेत्र का अनुसंधान करती हैं। वे संतों और भक्तों की साधना का सर्वस्व ग्रहण करती हुई भी किसी भी सम्प्रदाय की सीमाओं में बँधना अस्वीकार कर देती हैं। उन्हे न राणा के द्वारा भेजे गए विष के प्यालों की परवाह है, न पुष्टि-सम्प्रदाय के अर्थ-संग्राहक द्वारा ठुकराई गई भेंट की चिंता और न ही वे समाज की फब्तियों और निन्दकों की उक्तियों से त्रस्त होती हैं। वे तो केवल अपने साँवरिया के ध्यान में, उसके सम्मुख नृत्य करने में और उसे अपने हृदय की रागिनी सुनाने में लीन है; तन्मय है। वे कविता नहीं लिखतीं, पद नहीं जोड़तीं और छन्दों को नहीं गिनतीं यह सब-कुछ तो स्वतः ही हो जाता है! जिस प्रकार वायु के अथाह कम्पनों से वन-वीथिका के वंश-समूह स्वतः ही निनादित हो उठते हैं, कुछ उसी प्रकार प्रणयानुभूतियों से द्रवित, विरहानुभूतियों से उच्छ्वसित एवं आनन्दानुभूतियों से तरंगित होकर उनके स्वर विभिन्न राग-रागिनियों में फूट पड़े हैं, जिन्हें हम लोग कविता, पद या गीति की संज्ञा देते हैं। अस्तु, मीराँ की इन सहज स्वाभाविक दिव्य अनुभूतियों के साथ किसी से क्या तुलना!

:: उनसठ ::

मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी

१. मुक्तक-काव्य की प्राचीनता।
२. मुक्तक काव्य का विकास—वैदिक साहित्य, संस्कृत और अपभ्रंश।
३. हिन्दी में मुक्तक परम्परा : (क) मुक्तकों के दो रूप, (ख) दोहा शैली का विकास।
४. बिहारी मुक्तककार के रूप में।
५. मुक्तक काव्य की सात विशेषताएँ और बिहारी
६. उपसंहार।

(यद्यपि सृष्टि के आदिकाव्य के विषय में आज हम कुछ नहीं जानते, किन्तु अनुमान किया जा सकता है कि काव्य-रचना का आदिस्वरूप मुक्तक ही रहा होगा; प्रबन्ध शैली का विकास तो उसके अनन्तर न जाने कितने युगों के पश्चात् धीरे-धीरे हुआ होगा। प्रायः असभ्य, अशिक्षित एवं अर्द्ध-विकसित लोग छोटी-छोटी तुकबन्दियों के द्वारा ही अपनी सृजनात्मक वृत्तियों को तुष्ट करते हैं। यही कारण है कि जन-साधारण के द्वारा रचित लोकभाषाओं के साहित्य में मुक्तक की ही प्रधानता मिलती है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुक्तक-काव्य प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा प्राचीन, अधिक स्वाभाविक एवं अधिक लोकप्रिय रहा है। इतना अवश्य है कि मुक्तकों का प्रचलन मौखिक रूप में ही अधिक रहने के कारण उसका अधिकांश नष्ट भी होता रहा है।)

विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना 'ऋग्वेद' भी मुक्तक रूप में रचित है। यद्यपि सारा ऋग्वेद विभिन्न मंडलों एवं सूक्तों में संकलित है, किन्तु एक सूक्त का दूसरे सूक्त से कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक सूक्त में अनेक ऋचाएँ हैं, जो प्रायः मुक्तक रूप में ही हैं। विषय की दृष्टि से ऋग्वेद के मुक्तक साहित्य को हम मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) स्तुति-काव्य ऋग्वेद की अधिकांश ऋचाओं में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की स्तुतियाँ की गई हैं—जैसे "हे प्रकाशमान अग्नि! देवों को हव्य प्रदान करनेवाले यजमानों को प्रभूत धन-दान करो।" (१) दार्शनिक तथ्य-निरूपणात्मक काव्य—ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में दार्शनिक तथ्यों के निरूपण का भी प्रयास किया गया है, जैसे—"दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) मित्रता के साथ एक वृक्ष या शरीर में रहते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) सुस्वादु पिप्पल का भक्षण करता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण नहीं करता, केवल द्रष्टा है।" (३) उपदेश मूलक सूक्तियाँ—ऋग्वेद की उपदेशमूलक सूक्तियों का सुन्दर उदाहरण 'दान-

स्तुति', 'दक्षिणा' सूक्त आदि में मिलता है—"जो लोग दक्षिणा देते हैं, वे स्वर्ग में उच्च आसन पाते हैं। अश्वदाता सूर्य के साथ एकत्र होते हैं। ...सभी दीर्घायु होते हैं।" इसी प्रकार नीति का उपदेश देते हुए कहा गया है—"जब अपना साथी पास आता है तो मित्र होकर भी जो व्यक्ति उसे अन्न-दान नहीं करता, वह मित्र कहलाने योग्य नहीं है। उसके पास से चला जाना ही उचित है।" (४) भावपूर्ण उक्तियाँ—ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में मानवीय भावनाओं की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी मिलती है। एक स्त्री अपनी सपत्नी के प्रति द्वेष प्रकट करती हुई कहती है—"मैं सपत्नी तक का नाम नहीं लेती। सपत्नी सबके लिए अप्रिय है। मैं उससे बहुत दूर रहना चाहती हूँ।"

ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेद-वेदांगों में गद्य का प्रयोग अधिक हुआ है, फिर भी उनमें यत्र-तत्र सुन्दर मुक्तक उपलब्ध होते हैं, जो विषय और शैली की दृष्टि से ऋग्वेद की ही परम्परा में आते हैं।

वैदिक साहित्य की मुक्तक-परम्परा को प्राकृत के कवियों ने आगे बढ़ाया, जबकि संस्कृत के काव्य-रचयिता इसे प्रारम्भ में उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे। पालि की थेरी गाथाओं में धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर रचित अनेक मुक्तक मिलते हैं। जैन कवियों द्वारा अर्द्ध-मागधी में उपदेश एवं नीति-प्रधान सुन्दर मुक्तकों की रचना हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—"स्वार्थ-रहित देनेवाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित जीवन-निर्वाह करने वाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देनेवाला और स्वार्थ-रहित जीनेवाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।" एक अन्य मुक्तक में कहा गया है—"जैसे बिडाल के निवास-स्थान के समीप चूहों का रहना प्रशस्त नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के मध्य ब्रह्मचारियों का रहना क्षम्य नहीं है।"

प्राकृत के मुक्तक-काव्य का सर्वाधिक वैभव स्वतन्त्र दृष्टि से काव्य-रचना करने वाले गाथा-सप्तशतीकार-जैसे कवियों की रचना मे मिलता है। गाथा सप्तशतीकार के उल्लेख से सिद्ध है कि उनका लक्ष्य काम-शास्त्र की शिक्षा देना था, अतः उनके काव्य में शृङ्गार रस की प्रधानता होना स्वाभाविक था। मुक्तकों की संख्या के आधार पर नामकरण करने की प्रवृत्ति भी सबसे पूर्व गाथा सप्तशती में ही मिलती है। आगे चलकर प्राकृत एवं संस्कृत के अनेक कवियों ने हाल का अनुकरण करते हुए शृङ्गारी मुक्तकों की रचना की। प्राकृत की 'वज्जालग्गा' तथा संस्कृत का 'अमरु शतक', 'शृङ्गार-शतक' (भर्तृहरि), 'चौर-पंचाशिका' (विल्हण), 'आर्या सप्तशती' आदि उत्कृष्ट कोटि के मुक्तक काव्य हैं।

अब तक मुक्तकों में मुख्यतः शृङ्गार, नीति और दर्शन का ही प्रतिपादन होता था, किन्तु अपभ्रंश में वीर रसात्मक मुक्तकों का भी विकास हुआ। 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंतु' जैसे असंख्य दोहे अपभ्रंश में लिखे गये। किन्तु साथ ही शृङ्गार, नीति और उपदेश-सम्बन्धी दोहे भी अपभ्रंश में कम नहीं लिखे गए। यहाँ हेमचन्द्राचार्य की 'प्राकृत-व्याकरण' से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पहिश्रा दिट्ठी गोरटी, दिट्ठी मग्ग निअंत।
अंसुसासेहि कंचुश्रा तितुव्वाण करंत॥

"हे पथिक ! गोरी देखी ! हाँ देखी—मार्ग को देखती हुई आँसुओं तथा साँसों से कंचुकी को गीली सूखी करती हुई।"

बाह विछोडवि जाति तुहुं हउ तेवंइ को दोसु।
हिअय ठिठउजइ नीसरहि लाणउ मंजु सरोसु॥

"हे मुंज ! बाँह छुड़ाकर जा सकते हो ! ऐसा ही हो तो इसमें क्या दोष ! हृदय में से यदि निकलकर जाओ तो तुम्हे सरोष जानूं।"

अगहि अंगु न मिलिउ, हलि अहरे अरु न पत्तु।
पिउ जोअन्ति हे मुह कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु॥

"न अंगों से अंग मिले और न अधरों से अधर ! प्रिय का मुख-कमल देखते-देखते ही उस नायिका का सुरत समाप्त हो गया।" कहना न होगा कि उपर्युक्त दोहों में शृङ्गार के वियोग और संयोग दोनों पक्षों का निरूपण मार्मिक रूप में हुआ है।

हिन्दी में मुक्तक काव्य का विकास

हिन्दी-काव्य में मुक्तक के सभी पूर्व प्रचलित रूपों का विकास सम्यक् रूप में हुआ। जहाँ कबीर, नानक, मलूकदास आदि सन्त कवियों ने तथा सूर, तुलसी, आदि भक्त कवियों ने भक्ति-भाव एवं दर्शन-सम्बन्धी मुक्तकों की रचना की, वहाँ मध्यकालीन रीति-बद्ध कवियों ने शृङ्गार रस से ओत-प्रोत मुक्तक लिखे। रहीम, वृन्द, दीनदयाल, गिरधरदास आदि कवियों ने विशुद्ध नीति-परक मुक्तक लिखे। उधर राजस्थानी कवियों—पृथ्वीराज, दुरसा, बाँकीदास आदि ने वीर रस के दोहे लिखे। महाकवि बिहारी का सम्बन्ध शृङ्गार रस-सम्बन्धी मुक्तकों से ही अधिक है, अतः यहाँ इन्हीं पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उचित होगा।

हिन्दी के शृङ्गार रस सम्बन्धी मुक्तकों को भी शैली की दृष्टि से मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) बड़े छन्दों—कवित्त-सवैया आदि—में लिखित और (२) दोहे में रचित। बिहारी ने अपने काव्य के लिए दोहा-शैली को ही अपनाया।

दोहा-शैली का विकास

जैसा ऊपर कहा गया है, बिहारी ने अपने काव्य में केवल "दोहा" छन्द का ही प्रयोग किया, अतः इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा। यह आश्चर्य की बात है कि बिहारी के विभिन्न आलोचकों ने बिहारी की चर्चा करते समय 'दोहे' की व्याख्या भी की है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति अभी अस्पष्ट है। श्री विश्वनाथ मिश्र ने 'दोधक', 'दो पथ', 'दो गाथा', 'दो सर', 'दोहरा' आदि शब्दों में दोहे की व्युत्पत्ति का रहस्य खोजने का प्रयास किया है, किन्तु वे किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये। हमारे

विचार से दोहा शब्द की व्युत्पत्ति 'द्विपद' से मानी जा सकती है। जैन कवि पुष्पदन्त ने अपनी कृष्ण-लीला में दो पंक्तियों वाले छन्द विशेष के लिए "दुवई" नाम का प्रयोग किया है, जिसे राहुलजी ने "द्विपदी" का तद्भव माना है। "द्विपदी" से "दुवई" की भाँति ही "द्विपद" से "दुवअ" की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है। दुवअ से क्रमशः दूआ, दूवा, दुहा व दोहा का विकास हुआ। दोहा छन्द का प्रयोग सर्वाधिक अपभ्रंश के सिद्ध कवियों ने किया है। संस्कृत और प्राकृत में दोहे के प्रयोग का कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता। अतः सम्भव है कि दोहे का आविष्कार सर्वप्रथम लोक-काव्य के रचयिताओं के द्वारा ही हुआ हो। लोक-काव्यों में छन्दों का नामकरण प्रायः पदों की संख्या के आधार पर ही होता है। इसका प्रमाण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' में देखा जा सकता है। वहाँ मालविका लोक-भाषा का एक गीत गाती हैं, जिसे चतुष्पदी कहा गया है। अतः बहुत कुछ सम्भव है कि दोहे का नामकरण भी उसके पदों की संख्या के आधार पर ही—द्विपद—हुआ हो।

हिन्दी काव्य में दोहे का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय अमीर खुसरो को दिया जा सकता है, किन्तु भाषा की दृष्टि से उनके काव्य की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। अमीर खुसरो के दोहों को अप्रामाणिक मानने की स्थिति में 'ढोला मारू रा दूहा' के रचयिता राजस्थानी कवि कल्लोल ही हिन्दी में दोहा-शैली का प्रयोग करनेवाले सर्वप्रथम कवि कहे जा सकते हैं। कबीर की साखियाँ स्थूल रूप से दोहों के बहुत समीप हैं, यद्यपि उनमें मात्राओं की संख्या में बहुत गड़बड़ मिलती है, जिसका कारण उनका मौखिक रूप में रचित होना ही हो सकता है। कबीर के अनन्तर दादू, सुन्दरदास आदि सन्तों ने दोहों में आध्यात्मिक प्रेम एवं धार्मिक उपदेशों का वर्णन किया है।

बिहारी से पूर्व हिन्दी में अनेक कवि दोहों में शृंगार रस की अभिव्यक्ति कर चुके थे, जिनमें ये उल्लेखनीय हैं—(१) कृपाराम—हितरंगिणी, सं० १५९३; (२) मनोहर—स्फुट दोहे, सं० १६२० वि०, (३) रहीम—सतसई, सं० १६६०; (४) मुबारक—अलक-शतक, तिलशतक, सं० १६६०; (४) रसखान—प्रेमवाटिका, सं० १६७१; (६) रस-निधि—रतनहजारा, सं० १६६०-१७१७। इन कवियों ने दोहे में उत्कृष्ट भावों की व्यंजना करके इसकी लोकप्रियता में अभिवृद्धि की।

मुक्तककार के रूप में बिहारी की प्रशंसा विभिन्न आलोचकों ने की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यहाँ तक लिख दिया है—"मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी में अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।" हमारे विचार से बिहारी की कविता में गुणों के साथ-साथ अनेक दोष भी विद्यमान हैं, अतः उनका महत्त्व निर्धारित करने से पूर्व उनके दोनों पक्षों पर सम्यक् रूप से विचार कर लेना आवश्यक है।

हमारे विचार से किसी भी मुक्तक रचना का मूल्यांकन करते समय मुख्यतः सात बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(१) कवि ने ऐसे विषयों, प्रसंगों एवं भावनाओं का चुनाव किया हो, जो रस-निष्पत्ति की क्षमता रखते हों।

(२) कवि के शैली में ऐसी सजीवता एवं मार्मिकता हो कि वह छोटी-से-छोटी बात को भी मार्मिक बना सके।

(३) मुक्तककार में कल्पना की समाहार-शक्ति होनी चाहिए।

(४) भाषा-शैली में समास का गुण होना चाहिए।

(५) कवि को व्यंग्य-प्रयोग में दक्षता प्राप्त होनी चाहिए।

(६) भाषा में कोमलता, सरसता और प्रवाह का गुण होना चाहिए।

(७) शब्द-योजना में नाद-सौन्दर्य भी हो तो अच्छा है।

'बिहारी-सतसई' में उपर्युक्त विशेषताओं में से अनेक मिलती हैं। उन्होंने मुख्यतः नायक-नायिका के प्रेम एवं शृङ्गार रस की व्यंजना को अपना लक्ष्य बनाया। मुक्तक में रस के सभी अवयवों की नियोजना एक साथ नहीं हो पाती, अतः उसमें ऐसे ही रसों की व्यंजना हो सकती है, जो सभी अवयवों की अपेक्षा नहीं रखते। शृंगार रस में वह गुण विद्यमान है। प्रेम के क्षेत्र में आलम्बन के सौन्दर्य की एक झलक, उसकी एक चेष्टा या आश्रय की कोई मनोदशा, उसकी एक उक्ति—इनमें से किसी एक के चित्रण से ही पाठक के हृदय को झंकृत किया जा सकता है; अतः शृंगार रस को प्रमुखता प्रदान करके बिहारी ने उचित ही किया। किन्तु साथ ही अनेक विषयों का समन्वय करने की लालसा ने उसके काव्य को अनेक विरोधी भावों से ग्रसित कर दिया। एक दोहे में वे रमणी की मधुर छवि का आस्वादन करते दिखाई देते हैं, तो वे दूसरे में 'तिय-छबि' की घोर भर्त्सना में लीन हो जाते हैं। एक ओर विपरीत रति का चित्रण है, दूसरी ओर अद्वैत का प्रतिपादन। कहीं हास्य की हल्की मुस्कान है तो कहीं नीति के कठोर तथ्यों की गंभीरता। यही कारण है कि बिहारी के काव्य की मूल भाव-धारा अबाध रूप से आगे नहीं बढ़ पाती, वह अनेक स्थानों पर विच्छिन्न होकर सूखती हुई-सी इधर-उधर बँटकर लुप्त हो जाती है।

छोटी-से-छोटी बात को भी मार्मिक बना देने की कला में बिहारी सिद्ध-हस्त हैं। नायिका की साधारण-सी चेष्टा—हाव—को भी बिहारी ने अत्यन्त चित्ताकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है—

भौंह उँचै, आँचरु उलटि, मौरि-मौरि मुंह मोरि।
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सों जोरि॥

इसी प्रकार नायिका की चितवन का चित्रण देखिए—

अनियारे दीरघ दृगन, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू जिहि बस होत सुजान॥

यहाँ चितवन की किसी विशेषता के बारे में कुछ न कहकर भी उसे रहस्यमय ढङ्ग से अद्भुत आकर्षक रूप प्रदान कर दिया गया है।

कल्पना की समाहार-शक्ति के भी अनेक प्रमाण बिहारी में मिलते हैं; देखिए—

अहें बहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तूं लेहि उतारि।
नीकै हैं छीकै छुये, ऐसे ही रहि नारि॥

यहाँ केवल कुछ सकेतों द्वारा ही पूरे दृश्य का अंकन कर दिया गया है। कवि ने पूरी बात न कहकर केवल कुछ ऐसे ही कथ्यों की ओर संकेत किया है, जिससे पाठक पूरे प्रसंग की कल्पना कर सके। एक उदाहरण देखिए—

परतिय दोषु पुराण सुन, लखि मुलुकि सुखुदानि।
कसु करि राखि मिश्र हू, मुंहे आई मुसकानि॥

यहाँ भी कवि ने दो पंक्तियों में ही एक पूरी कहानी कह डाली है। कथावाचक महोदय और उक्त 'सुखुदानि' का कोई परिचय दिये बिना ही तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की कोई चर्चा किए बिना ही कवि ने इस विशेष परिस्थिति का चित्रण इस ढङ्ग से किया है कि जिससे पाठक पूरे प्रसंग की कल्पना कर सके!

भाषा की समास-शक्ति का गुण भी बिहारी-सतसई में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। वे कम-से-कम शब्दों में एक दीर्घ इतिवृत्त, विस्तृत प्रसंग एवं सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं; देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करे भौहनु हँसै, देन कहै नट जाइ॥
चित पितु मारक जोगु गुनि, भयौ भयें सुत सोगु।
फिर हुलस्यौ जिय जोइसी समुझै जारज जोगु॥
दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठि दुर्जन हिये, दई नई यह रीति॥

व्यंजना का वैभव भी बिहारी सतसई में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। उनकी व्यंग्योक्तियों में प्रभावित करने की असाधारण शक्ति विद्यमान है। जयसिंह जैसे शूरवीर शासक के हृदय को भी उन्होंने अपने व्यंग्य के निम्नांकित तीरों से बेधने में सफलता प्राप्त की थी—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

× × ×

स्वारथ, सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहंगु विचारि।
बाज पराये पानि पर, तू पच्छीनु न मारि॥

भाषा में कोमलता, सरलता और नाद सौन्दर्य का गुण भी बिहारी सतसई के कतिपय दोहों में परिलक्षित होता है—

तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग॥

× × ×

लाल तिहारे विरह की अगिनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हूँ, झर हूँ मिटे न झार॥

× × ×

रस सिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु नैन॥

इस प्रकार बिहारी-सतसई में मुक्तक काव्य के प्रायः सभी गुण ढूंढ़े जा सकते हैं, किन्तु साथ ही उसमें अनेक दोष भी विद्यमान हैं। जैसा पहले संकेत किया गया है—एक तो इसमें बेमेल विषयों को एक साथ रख दिया गया है। "करी बिहारी सतसई भरी अनेक संवाद" वाली उक्ति से सिद्ध होता है कि अपनी सतसई को अनेक स्वादों से युक्त करने की लालसा से प्रेरित होकर कवि ने उसमें अनेक विरोधी भावों को प्रस्तुत कर दिया है। दूसरे, कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति कई स्थलों पर गुण की अपेक्षा दुर्गुण अधिक बन गई है—इनके कारण उनके अनेक दोहों के प्रसंग व अर्थ की जानकारी के लिए क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। इसी दुर्बोधता के कारण सतसई के आस्वादन के लिए मस्तिष्क को अच्छा व्यायाम करना पड़ता है। व्यंजना के फेर में पड़कर बिहारी ने कई दोहों को अस्वाभाविकता की अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया। उनकी भाषा में भी सर्वत्र स्वाभाविक प्रवाह नहीं मिलता। आचार्य शुक्ल ने भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—"बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है, उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष में समझना चाहिए....। पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता।....मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का-सा गूंजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता है।" आश्चर्य है कि अपने इस निष्कर्ष के बावजूद भी आचार्य शुक्ल ने बिहारी की कविता को मुक्तक काव्य के सर्व-गुणों से सम्पन्न बताया है। हमारी दृष्टि में मार्मिकता के अभाव में—चाहे वह मुक्तक हो या प्रबन्ध—सच्चे काव्य के गौरव से विभूषित नहीं हो सकता। यदि निष्पक्ष रूप से विचार करें, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि घनानन्द की-सी प्रणय-विह्वलता, देव की-सी भावानुभूति और पद्माकर का-सा युक्ति-माधुर्य बिहारी में नहीं मिलता। हाँ, भाषाभ्यास, विद्वत्ता और पुराने कवियों की उक्तियों का अनुवाद करने की कला की दृष्टि से अवश्य बिहारी एक सफल मुक्तककार हैं। ध्यान रहे, "नहिं पराग नहिं मधुर मधु" जैसे अनेक दोहे बिहारी की 'मजमून छीनने या चुराने' की ही कला के द्योतक हैं, मौलिकता की दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं है। फिर भी सभी गुण-दोष का संग्रह एक ही पुस्तक में ढूंढ़ने वाले विद्वानों के लिए 'बिहारी सतसई' अत्यन्त उपयोगी रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

●

:: साठ ::

भारतेन्दु की काव्य-साधना

१. युग और परिस्थितियाँ।
२. भारतेन्दु का व्यक्तित्व और जीवन।
३. भारतेन्दु के काव्य-ग्रन्थ।
४. उनके काव्य की प्रवृत्तियाँ—(क) भक्ति भावना, (ख) सौन्दर्य और प्रेम, (ग) देश-प्रेम, (घ) हास्य, (ङ) शैली एवं भाषा।
५. उपसंहार।

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोइ कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइये।
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्है दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह "ग्रीषमें प्यारे हिमन्त" बनाइये॥

—भारतेन्दु ग्रन्थावली, दू० खंड, पृ० ८६६

जिस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अवतार धारण किया, वह हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए कितना प्रतिकूल था, इसका आभास उपर्युक्त छन्द से मिलता है। यद्यपि अंग्रेजों का शासन काल भारत में बहुत पूर्व फैल चुका था, किन्तु फिर भी भारतीय जनता को आशा थी कि फिरंगी यहाँ अधिक देर नहीं टिकेंगे। पर १८५७ ई० की क्रान्ति की विफलता ने तो इस आशा को भी निराशा में परिणत कर दिया था। इस क्रान्ति से लेकर सन् १८८५ ई० (इंडियन नेशनल कांग्रेस का स्थापना-काल) तक का समय राजनीतिक दृष्टि से भारतीय जनता के लिए घोर निराशा और गहरी सुषुप्ति का युग था, जिसमें किसी भी प्रकार की चेतना के दर्शन नहीं होते। ऐसी प्रगाढ़ निद्रा में संभव था कि भारतीय जनता नैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी सदा के लिए लुट जाती, उसके आदर्शों का पतन हो जाता और वह प्राणविहीन होकर अपना अस्तित्व मिटा देती, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसका क्या कारण है?

बात यह है कि इसी युग में दो ऐसी महान् आत्माओं का अवतरण हुआ, जिन्होंने सोती हुई भारतीय जनता के चारों ओर घूमकर पहरा दिया। एक ने उसकी नैतिक सामाजिक धरोहर की रक्षा की, तो दूसरे ने उसके सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गौरव को बचाया। एक ने उसे तर्क के ऐसे तीखे शस्त्र दिए जिनकी सहायता से वह अपने धर्म के विरोधियों से युद्ध कर सकी, तो दूसरे ने उसे वह शक्ति और उत्साह प्रदान किया जिसके बल पर वह आगे बढ़ सकी। एक ने आत्मगौरव को जागृत किया, दूसरे ने उसका ध्यान अपनी हीन अवस्था की ओर आकर्षित किया। एक ने उसके मस्तिष्क को समृद्ध बनाया

तो दूसरे ने उसके हृदय को सशक्त किया। एक ने समाज को नया जीवन प्रदान किया तो दूसरे ने राष्ट्रीय भावों को आन्दोलित किया। कहने की आवश्यकता नहीं—इनमें एक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे तो दूसरे भारत के इन्दु हरिश्चन्द्र।

भारतेन्दु का व्यक्तित्व और जीवन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के एक धनाढ्य परिवार में भाद्रपद शुक्ल ५ संवत् १९०७ तदनुसार २ सितम्बर सन् १८५० को और उनका देहावसान ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ में हुआ। उनके पिता बाबू गोपालराम गिरधर भक्त और साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे। उन्होंने 'नहुष-वध' नाटक और कुछ कविताएँ लिखी थीं। हरिश्चन्द्रजी को घर पर ही विभिन्न भाषाओं की शिक्षा प्राप्त हुई थी। ग्यारह वर्ष की आयु से ही वे कविताएँ लिखने लग गये थे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गये थे। उसी यात्रा में उनका परिचय बँगला साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों से हुआ। वहाँ से लौटकर उन्होंने नाटक व कविताएँ लिखने के साथ-साथ 'कवि-वचन-सुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया। आगे चलकर उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का प्रकाशन भी किया। उनकी समस्त रचनाओं की संख्या १७५ के लगभग है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अत्यन्त सरल, विनोदी, स्वाभिमानी एवं उदार स्वभाव के थे। अपनी अति उदारता के कारण ही वे अपने पूर्वजों की सम्पत्ति लुटाकर दरिद्र हो गये। जीवन के अंतिम दिनों तक वे साहित्यकारों, कवियों व दीन-दुखियों की सहायता करते रहे। उनके व्यक्तित्व में ऐसी प्रभावशाली शक्ति थी कि वे अपने संपर्क में आनेवाले लोगों को मुग्ध कर लेते थे। जहाँ साहित्य के क्षेत्र में कवि, नाटककार, इतिहासकार, समालोचक, पत्र-सम्पादक आदि थे तो समाज एवं राजनीति के क्षेत्र में वे एक राष्ट्र-नेता और सच्चे पथ-प्रदर्शक थे। विभिन्न अवसरों पर उन्होंने जनता के रोष एवं विरोध की अभिव्यक्ति करके विदेशी सरकार से भी विद्रोह किया था। जब राजा शिवप्रसाद को उनकी चाटुकारिता के बदले में सरकार के द्वारा 'सितारे-हिन्द' की पदवी दी गई तो जनता ने भी अपने प्रिय नेता और साथी को 'भारतेन्दु' विशेषण से विभूषित किया। भारत की जनता उन्हें कितना चाहती थी और वे स्वदेश को कितना चाहते थे, इसका परिचय उसी महाकवि की इन पंक्तियों से मिलेगा—

कहेंगे नैन नीर भरि-भरि, पाछे, प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी।

अपनी प्रिय जनता के लिए भारतेन्दु जहाँ लखपति से कंगाल हो गये थे, वहाँ उन्होंने अपने नाम को भी घिसकर 'हरिश्चन्द्र' से 'हरिचन्द' बना डाला था। वस्तुतः अपने जीवन-काल में ही जैसी लोकप्रियता भारतेन्दु को प्राप्त हुई थी, वैसी सम्भवतः हमारी जानकारी में किसी अन्य हिन्दी कवि को अभी तक प्राप्त नहीं हुई।

भारतेन्दु के काव्य-ग्रन्थ

भारतेन्दु के समस्त काव्य-ग्रन्थों का संकलन काशी नागरी प्रचारिणी सभा,

काशी द्वारा 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' दूसरा खण्ड में हुआ है। उनके काव्य-ग्रन्थों की संख्या ७० है; उन सबका यहाँ परिचय देना तो सम्भव नहीं, अतः हम केवल नामावली प्रस्तुत करके ही संतोष कर लेते हैं—(१) भक्त-सर्वस्व (२) प्रेम-मालिका (३) कार्तिक स्नान (४) वैशाख-माहात्म्य (५) प्रेम-सरोवर (६) प्रेमाश्रुवर्षण (७) जैन कुतूहल (८) प्रेम-माधुरी (९) प्रेम-तरंग (१०) उत्तरार्ध भक्तमाल (११) प्रेम प्रलाप (१२) गीत गोविन्दानन्द (१३) सतसई शृङ्गार (१४) होली (१५) मधु-मुकुल (१६) राग-संग्रह (१७) वर्षा-विनोद (१८) विनय-प्रेम-पचासा (१९) फूलों का गुच्छा (२०) प्रेम-फुलवारी (२१) कृष्ण चरित्र (२२) श्री अलवरत वर्णन (२३) श्री राजकुमार सुस्वागत-पत्र (२४) सुमनोञ्जलिः (२५) प्रिंस आव् वेल्स के पीड़ित होने पर कविता (२६) श्री जीवन जी महाराज (२७) चतुरंग (२८) देवी छद्म-लीला (२९) प्रातः-स्मरण मंगल पाठ (३०) दैन्य-प्रलाप (३१) उरेहना (३२) तन्मय-लीला (३३) दान-लीला (३४) रानी छद्म-लीला (३५) संस्कृत-लावनी (३६) वसन्त होली (३७) स्फुट समस्याएँ (३८) मुँह-दिखावनी (३९) उर्दू का स्यापा (४०) प्रबोधिनी (४१) प्रातः समीरन (४२) बकरी-विलाप (४३) स्वरूप-चिन्तन (४४) श्री राजकुमार-शुभागमन वर्णन (४५) भारत-भिक्षा (४६) श्री पचमी (४७) श्री सर्वोत्तम स्तोत्र (४८) निवेदन-पंचक (४९) मानसोपायन (५०) प्रातःस्मरण स्तोत्र (५१) हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान (५२) अपवर्गदाष्टक (५३) मनोमुकुल-माला (५४) वेणु-गीति (५५) श्रीनाथ-स्तुति (५६) मूक प्रश्न (५७) अपवर्ग पंचक (५८) पुरुषोत्तम-पंचक (५९) भारत-वीरत्व (६०) श्री सीता-वल्लभ स्तोत्र (६१) श्री राम-लीला (६२) भीष्म स्तवराज (६३) मान-लीला फूल-बुझौवल (६४) बन्दर-सभा (६५) विजय-बल्लरी (६६) विजयिनी-विजय-वैजयन्ती (६७) नये जमाने की मुकरी (६८) जातीय संगीत (६९) रिपनाष्टक (७०) स्फुट कविताएँ।

उपर्युक्त ग्रन्थ-सूची के देखने-मात्र से स्पष्ट होगा कि भारतेन्दु के काव्य का क्षेत्र कितना व्यापक है। उनके काव्य में मुख्यतः निम्नांकित प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—(१) भक्ति-भावना एवं धार्मिक उपदेश, (२) सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना, (३) देश-प्रेम की व्यंजना और (४) हास्य और व्यंग्य। इन प्रवृत्तियों पर थोड़ा प्रकाश यहाँ डाला जाता है।

(१) **भक्ति-भावना**—भारतेन्दु के पिता भक्त थे और अपना समय हरिकीर्तन में बिताते थे, अतः भक्ति के संस्कार भारतेन्दु को पैतृक-दाय के रूप में प्राप्त हुए थे। उनके 'भक्त-सर्वस्व', 'कार्तिक-स्नान', 'वैशाख माहात्म्य', 'उत्तरार्ध-भक्त-माल' आदि ग्रन्थ विशुद्ध भक्ति-भाव से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने अपने आपको राधाकृष्ण का अनन्य उपासक घोषित किया है—

पूजि के कालिहि सत्रु हतौ कोऊ, लच्छमी पूजि महा धन पाओ।
सेई सरस्वती पंडित होऊ, गनेसहि पूजि के विघ्न नसाओ॥
त्यों 'हरिचन्द' जू ध्याइ शिवै कोऊ, चार पदारथ हाथ ही लाओ।
मेरे तो राधिका-नायक ही गति, लोक दोऊ रहि कै नसि जाओ॥

कार्तिक-स्नान

भक्ति-मार्ग का सच्चा पथिक ज्ञान और कर्मकाण्ड को अवहेलना करता है। यही कारण है, भारतेन्दु ने भी संध्या-पूजा, स्नानादि से 'क्षमा' माँगी है—

संध्या जु आपु रहो घर नीको, नहान तुम्हैं है प्रणाम हमारी।
देवता पित्र छमो मिलि मोहि, अराधना होइ सकै न तुम्हारी॥
बेद पुरान सिधारो तहाँ, 'हरिचन्द' जहाँ तुम्हरी पतियारी।
मेरे तो साधन एक ही हैं, जग नन्दलला वृषभानु-दुलारी॥

अपने आराध्य-देव की विभिन्न लीलाओं का चित्रण उन्होंने प्रीतिपूर्वक किया है। देवी छद्म-लीला, तन्मय लीला आदि में कृष्ण के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत किया गया है। राधा-कृष्ण की छवि को उन्होंने एक भक्त की दृष्टि से देखा है—

नैन भरि देखि लेहु यह जोरी।
मनमोहन सुन्दर नट-नागर श्री वृषभानु-किशोरी।
कहा कहूँ छबि कहि नहिं आवै वै साँवर यह गोरी।
ये नीलाम्बर सारी पहिने उनको पीत पिछौरी।
एक रूप, एक बेस, एक वय, बरनि सकै कवि को री।
'हरिचंद' दोऊ कुंजन ठाढ़े, हँसत करत चित-चोरी॥

× × ×

नैन भरि देखो गोकुल-चंद।
संग सोहत वृष-भानु-नंदिनी प्रमुदित आनन्द-कंद।
'हरिचंद' मन लुब्ध मधुप तहँ पीवत रस मकरंद।

उनकी भक्ति-भावना में तन्मयता की चरम स्थिति का भी बोध होता है—

सब वृज बरजो, परिजन खीझो, हमरे तो हरि प्रान।
'हरिचंद' हम मगन प्रेम-रस सूझत नाहिन आन॥

भक्ति-भावना को आचार्यों ने दास्य, शान्त, माधुर्य, सख्य, वात्सल्य आदि भेदोप-भेदों में विभाजित किया है, किन्तु भारतेन्दु की भक्ति-भावना को हम इनमें से किसी वर्ग में भी सीमित नहीं रख सकते। जहाँ उन्होंने राधा-कृष्ण की लीलाओं के आख्यान में माधुर्य भाव का विकास किया है, वहाँ वे व्यक्तिगत आत्मनिवेदन में अत्यन्त दैन्यता का प्रदर्शन करते हैं—

उधारो दीन-बन्धु महराज!
जैसे हैं तैसे तुमरे ही, नाहि और सों काज।
जो बालक कपूत घर जनमत करत अनेक बिगार।
तौ माता कहा वाहि न पूछत भोजन समय पुकार।

मध्यकालीन भक्तों की भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी अपने उद्धार के लिए विभिन्न युक्तियों से काम लेते हैं। कभी वे अपने आराध्य से अनुरोधपूर्वक निवेदन करते हैं तो कभी सूरदास की भाँति उन्हें उबारने का 'चैलेंज' देकर उकसाते हैं—

आजु हम देखत हैं को हारत !
हम अघ करन कि तुम मोंहि तारत, को निज बान बिसारत।

× × ×

कहौ तुम व्यापक हौ कि नाँही !
जौ तुम व्यापक हौ तौं अघ करि क्यों हम नरकहि जाहीं।

साथ ही वे अपने पापों का लेखा भी बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं—

बही में ठाम न नेकु रही !
भरि गई लिखत-लिखत अघ मेरे बाकी तबहु रही।
चित्रगुप्त हारे अति थकि के बेसुध गिरे मही।

वस्तुतः भारतेन्दु के काव्य में भक्ति की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास उपलब्ध होता है। यदि उनके शेष काव्य को छोड़कर केवल भक्ति सम्बन्धी ही रचनाओं का अध्ययन किया जाए तो वे सचमुच एक उच्च कोटि के भक्त-कवि दिखाई पड़ेंगे

(२) **शृङ्गार भावना**—भारतेन्दु की अनेक रचनाओं—प्रेम-सरोवर, प्रेमाश्रु, प्रेम-तरंग, प्रेम-माधुरी आदि—में विशुद्ध शृङ्गार-भावना की अभिव्यक्ति हुई है। सबसे पूर्व उनका प्रेम-सम्बन्धी आदर्श एवं उसकी महत्त्व-सम्बन्धी विचार-धारा द्रष्टव्य है—

जिहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन-करन प्रेम बरन यह दोय॥

× × ×

एकंगी बिनु कारने इक रस सदा समान।
पियहि गनै सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान।

प्रेम के इसी उच्च आदर्श को लेकर भारतेन्दु शृङ्गार-वर्णन में प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने प्रेमालम्बन—नायिका सौन्दर्य—का आख्यान किया है, किन्तु उसमें स्थूल शारीरिकता एवं अश्लीलता को प्रायः स्थान नहीं दिया गया है। एक वयःसन्धि की अवस्था को प्राप्त बाला की सूक्ष्म चेष्टाओं का निरूपण देखिए—

सिसुताई अजौं न गई तन तें, तऊ जोबन जोति बटोरैं लगी।
सुनि के चरचा 'हरिचंद' की कान कछूक दै भौंह मरोरैं लगी।
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूंघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अँगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरैं लगी॥

यहाँ नव बाला के शैशव एवं यौवन के समागम का चित्रण अत्यन्त श्लीलतापूर्वक हुआ है। कविवर बिहारी की भाँति उन्होंने उरोजों की पीनता एवं कटि की क्षीणता का उल्लेख नहीं किया है और न ही उसके अंग-प्रत्यंगों की नाप-जोख की है। फिर भी इस चित्र में ऐसी मोहकता आ गई है कि वह अनायास ही पाठक के हृदय को आकर्षित कर लेता है।

भारतेन्दु की प्रेम-धारा घनानन्द-बोधादि के स्वतन्त्र मार्ग पर प्रवाहित होती है। इस प्रकार के प्रेम में पद-पद पर पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है, किन्तु इससे उसकी गति अवरुद्ध नहीं होती, अपितु संघर्षों की आग में पड़कर ही सच्चा प्रेम निखरता है; अधिक गंभीर होता है। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था भारतेन्दु की नायिका को भी अपनी सखियों का निषेध, कौटुम्बिक जनों का विरोध और समाज के लोगों का उपहास सहन करना पड़ता है, किन्तु उसके प्रेम में कोई न्यूनता नहीं आती। एक ओर वह सखियों से अपनी विवशता प्रकट करती है—

"सजनी मन पास नहीं हमरे,
तुम कौन को का समुझावती हो!"

तो दूसरी ओर वह अपने विरोधियों को स्पष्ट उत्तर दे देती है—

इन नैनन में वह साँवरी मूरति, देखति आनि अरी सो अरी।
अब तो है निबाहिबो याको भलो, 'हरिचंद' जू प्रीत करी सो करी।
उन खंजन के मद गंजन सों, अँखियाँ ये हमारी लरी सो लरी।
अब लोग चवाव करो तो करो, हम प्रेम के फंद परी सी परी!

भारतेन्दु के प्रेम-वर्णन में यद्यपि कहीं-कहीं संयोग की घड़ियों का भी प्रवेश हुआ किन्तु अधिकता उसमें विरह-वर्णन की है। उन्होंने वियोग की विभिन्न अनुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त स्वाभाविक शब्दों में की है। प्रियतम के एक ही गाँव में रहते हुए भी प्रेयसी के दर्शनों की लालसा उसे सदा उत्कंठित बनाए रखती है—

एक ही गाँव में बास सदा घर पास इहो नहिं जानति हैं।
पुनि पाँचवें सातवें आवत-जात की आस न चित्त में आनति हैं।
हम कौन उपाय करैं इनको 'हरिचंद' महा हठ ठानति हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानति हैं॥

एक अन्य बाला अपने प्रियतम के दर्शन की लालसा से प्रेरित होकर किसी अपरिचित के द्वारा संदेश भेजती है—

मैं वृषभानुपुरा की निवासिनि मेरी रहै वृज-बीथिन भाँवरी।
एक संदेसो कहौं तुम सों पै सुनो जौ करो कछु ताको उपाव री।
जो 'हरिचंद' जू कुंजन में मिलि जाही करी लखि कै तुम बावरी।
बूझी है जोने दया करिकै कहिये परसों कब होयगी रावरी॥

इस सन्देश में दैन्य, संकोच, उत्सुकता, उपालंभ, क्षोभ आदि अनेक संचारियों का समन्वय स्वाभाविक रूप में हुआ है। एक ओर तो संदेश-वाहक के प्रति अनुनय है व दूसरी ओर प्रिय को उपेक्षा का रोष भी हृदय में खटकता-सा प्रतीत होता है।

कहीं-कहीं विरह-वेदना-विस्तार व्याधि के रूप में होता हुआ 'मरण-दशा' के समीप पहुँच गया है—

व्याकुल हौं तड़पौं बिनु पीतम कोऊ तो नेकु दया उर लाओ।
प्यासी जहौं सब रूप-सुधा बिनु पाहिप पी को पपोहे पिआओ॥

जीअ में हौंस कहूं रहि जाय न हा 'हरिचंद' कोऊ उठि धाम्रो ।
आवै न आ‌ै पियारो अरे कोऊ हाल तौ जाइ कै मेरो सुनाम्रो ।।

यहाँ आशा की सघनता है, अतः उसमें चंचलता की मात्रा अधिक है; किन्तु जीवन की अन्तिम घड़ियों में, जबकि घोर निराशा के कारण हृदय की व्यथा अन्तर की गहराई में छिप जाती है और जब प्रिय-दर्शन की समस्त लालसाएँ सिमटकर प्राणों के भीतर केन्द्रित हो जाती हैं, तो इस चंचलता के स्थान पर गम्भीरता आ जाती है। निम्नांकित पंक्तियों में इसी मनोदशा का उद्‌घाटन हुआ है—

आजु लौं जो न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं ।
मेरो उराहनो है कुछ नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं ।।
जो 'हरिचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं ।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं ।।

इन शब्दों में प्रिय की उपेक्षा का गहरा क्षोभ विद्यमान है, किन्तु इससे प्रणय में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आ पाई है। प्रिय के कारण उसे गहरे संताप का अनुभव करना पड़ा है, किन्तु वह इसका दोष अपने ही भाग्य को देती है। प्रियतम के दिए हुए दारुण दुःख को वह गरल की भाँति चुपचाप पी जाती है। फिर भी उसे किसी प्रकार का 'उराहना' या कोई भी शिकायत नहीं है। वस्तुतः यह प्रेम की वह चरम अवस्था है, जबकि अहं और स्वार्थ का पूर्णतः विगलन हो जाता है और प्रत्येक स्थिति में, आलम्बन के हर सम्भव व्यवहार से, प्रणयानुभूति में कोई अन्तर उपस्थित नहीं होता। संभवतः इसी विशुद्ध गम्भीर प्रेम के लिए कहा है—

एकंगी बिनु कारने इक रस सदा समान !
पिवहि गनै सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान ! !

स्वतन्त्र प्रेम-मार्ग के पथिकों को असह्य कष्टों एवं संघर्षों का सामना करना पड़ता है, किन्तु उनका इससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उनके इस दुःख को संसार दुःख नहीं मानता। उन्हें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता, जो उनकी गूढ़ व्यथा को समझ सके। बोधा के शब्दों में, सारे संसार में उनके लिए—"कहिबे को बिथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर आनति है।" भारतेन्दु की नायिका को भी इसी कठोर परिस्थिति का सामना करना पड़ता है—

मारग प्रेम को को समुझै 'हरिचंद' यथारथ होत यथा है !
लाभ कछु न पुकारन में बदनाम ही होन की सारी कथा है !
जानत है जिय मेरो भली विधि और उपाय सबै बिरथा है !
बावरे हैं बृज के सगरे मोंहि नाहक पूछत कौन बिथा है !

भारतेन्दु की इन प्रेमानुभूतियों की स्वाभाविकता, सरसता एवं गम्भीरता के सम्बन्ध में अधिक कहना व्यर्थ है। सम्भवतः हिन्दी-कवियों में घनानन्द को छोड़कर अन्य किसी के काव्य में ऐसी मार्मिक उक्तियाँ उपलब्ध नहीं होंगी। घनानन्द की भाषा में लाक्षणिकता के कारण दुरूहता आ गई है, किन्तु भारतेन्दु में सर्वत्र सरल भाषा का

प्रयोग मिलता है; अतः रसानुभूति की दृष्टि से भारतेन्दु के सवैयों में घनानन्द के कवित्तों से भी अधिक प्रभावोत्पादन की शक्ति है ।

देश-प्रेम—भारतेन्दु भक्त थे, शृङ्गारी थे, किन्तु इन सबसे अधिक वे देश-सेवक थे। जब इस क्षेत्र में वे प्रवेश करते हैं तो उनकी भक्ति-भावना और शृङ्गारिकता पीछे रह जाती है। राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी जब उन्होंने देखा कि सनातनियों के विद्वेष के कारण जैन भाई रुष्ट हो रहे हैं तो उन्होंने "जैन कुतूहल" लिखकर जैन तीर्थंकरों की स्तुति की है। जिस कवि ने घोषित किया था—"मेरे तो साधन एक ही हैं, जग नन्द-लला वृषभानु-दुलारी"—उसी ने राष्ट्रीय एकता के निमित्त अर्हन्त, ऋषभ एवं पार्श्वनाथ की स्तुति के प्रेम-पूर्ण गीत लिखे—

पियारे दूजो को अरहन्त !
पूजा जोग मानि कै जग में जाको पूजैं संत ! !
× × ×
जय जय जयति ऋषभ भगवान ।
× × ×
तुमहि तो पार्श्वनाथ हो प्यारे ।

इसी प्रकार जब महात्मा दयानन्द विभिन्न धर्मों का खण्डन करते हुए वैदिक धर्म के प्रचार में व्यस्त थे तो भारतेन्दु ने नम्रतापूर्वक उनका विरोध किया। यह विरोध इसलिए नहीं कि वे सनातनी थे, अपितु इसलिए कि इससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँच रहा था। भारत में रहनेवाले सभी धर्मों के अनुयायी अन्ततः भारतीय ही हैं, अतः किस धर्म का खण्डन किया जाय—

खंडन जग में काको कीजै !
सब मत तो अपने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै ! !
तासो बाहर होइ कोऊ जब तब कछु भेद बतावै ! !
× × ×
अपुने ही पै क्रोधि बावरे अपुनो काटैं अंग !
'हरीचंद' ऐसे मतवारेन कों कहा कीजै संग ! !

"अपुनो" काटैं अंग" में कैसी दूरदर्शिता छिपी हुई है। भारतेन्दु ने कांग्रेस की स्थापना से भी वर्षों पूर्व यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि हमने दूसरे धर्मों के खंडन का मार्ग अपनाया तो यह अपना ही अंग काटने के समान सिद्ध होगा यद्यपि उस युग में पाकिस्तान की कोई कल्पना ही नहीं थी, किन्तु भारतेन्दु इस दुष्परिणाम को भाँप चुके थे। जो विद्वान् भारतेन्दु की राष्ट्रीयता को हिन्दू राष्ट्रीयता तक ही सीमित मानते हैं, व उनकी इस व्यापक धर्म-निरपेक्षता को देखें।

भारतेन्दु ने सब धर्मों की भाँति राष्ट्र की सब भाषाओं से प्यार किया था। उन्होंने पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू आदि का न केवल अध्ययन किया था, अपितु उसमें सरस काव्य की रचना भी की थी। आज जबकि हम भाषा-

सम्बन्धी छोटी-बातों को लेकर झगड़ रहे हैं, भारतेन्दु के इस व्यापक दृष्टिकोण से लाभ उठा सकते हैं। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

बँगला— निभृत निशीथे सई ओ बाँशी बाजिल,
पूरित करिया बन भेदिया गगन घन।
+ + +
'हरिश्चन्द्र' श्याम-बाँशी-स्वर कामदेव फाँसी,
कुलबधु सुनियाई आर्य-पथ त्याजिला—भा० ग्रं० २।२१८

पंजाबी— बेवरदी बे लड़िबे लगी तैंड़े नाल।
बे परवाही वारी जो तू मेरा साहबा असी इत्थों बिरह-बिहाल।
चाहने वाले दी फिकर न बुझ नूं गल्लों दा ज्वाब न स्वाल।
'हरीचंद' ततवीर ना सुझदी आशक बैतुल-माल।

राजस्थानी— बिहारी जो काँई छे तम्हारो यहाँ काज।
तुम सौतिन रे मद रा मात्या, रंग रँगीला साज।
रन बसे जहाँ वहीं सिधारो म्हाने तौ लागू छै घणी लाज।
'हरिचंद' थार चरनन लागूं छिमा करो महाराज॥

भारतेन्दु के देश-प्रेम का दूसरा रूप विदेशी शासकों के विरोध के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। एक ओर उन्होंने स्वदेशवासियों को जगाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर वे अंग्रेज शासकों की कुटिल नीति की भर्त्सना स्थान-स्थान पर करते हैं। उन्होंने लार्ड रिपन जैसे भारत के सच्चे हितैषी की स्तुति में "रिपनाष्टक" लिखा था, किन्तु इसी से हिन्दी के कुछ आलोचक उन्हें 'राजभक्त' समझने की भूल कर बैठे हैं। अंग्रेजों की अफगान-विजय पर वे कविता लिखते हैं—केवल शीर्षक को ही देखने से—यह कविता राज-भक्ति की द्योतक प्रतीत होती है किन्तु इसके भीतर विद्रोह की आग भरी हुई है—

आर्य्य गगन को का मिल्यो, जो अति प्रफुलित गात।
सबै कहत जै आजु क्यों, यह नहिं जान्यौं जात॥
+ + +
काबुल सों इनको कहा, हिये हरख को आस।
ये तो निज धन-नास सों, रन सों और उदास॥

अंग्रेजों की अफगानिस्तान विजय पर सारे देश में दीवाली मनाई गई थी, किन्तु भारतेन्दु इसका विरोध करते हुए पूछते हैं—आर्यों को इससे क्या मिला? वे क्यों खुशी मनाते हैं?....इस युद्ध से भारत को क्षति ही हुई है।

वे अंग्रेज शासकों की कूट-नीति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—

स्ट्रैची डिजरैली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो, काबुल युद्ध अकाल

और

सुजन मिलै अंग्रेज को, होय रूस की रोक।
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक॥

भारत राज मँझार जो कहुँ काबुल मिलि जाई।
जज्ज कलक्टर होइ है हिन्दू नहिं तित धाइ ॥

अन्त में वे अंग्रेजों की नीति का रहस्योद्घाटन करते हुए निर्भीकतापूर्वक घोषित करते हैं—

सत्रु सत्रु लड़वाइ दूर रहि लखिय तमाशा।
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिलि दीजे आसा ॥

वस्तुतः भारतेन्दु ने यहाँ जिस साहस का परिचय दिया है, वह उस युग के लिए आश्चर्य की बात कही जा सकती है। विदेशी शासकों की ऐसी स्पष्ट आलोचना मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि भी, जिन्होंने कि राष्ट्रीय आन्दोलन को अपनी आँखों से देखा था, नहीं कर सके, जबकि उन्हें 'राष्ट्रकवि' की संज्ञा दी जाती है।

भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना का प्रकाशन उनके नाटकों में भी गंभीर रूप में हुआ है, जिसकी चर्चा अलग निबन्ध में की जाएगी।

(४) **हास्य और व्यंग्य**—भारतेन्दु-काव्य में हास्य-व्यंग्य की अभिव्यक्ति भी हुई, किन्तु उनका हास्य प्रायः सोद्देश्य है। 'उर्दू का स्यापा' में उनका हिन्दी-प्रेम छिपा है—

हैं हैं उर्दू हाय हाय ! कहाँ सिधारी हाय हाय !
\+ \+ \+
अरब-जुबानी हाय हाय। शोखबयानी हाय हाय ! !

तत्कालीन 'इन्दर सभा' जैसे निम्नस्तरीय नाटकों का उपहास करते हुए उन्होंने 'बन्दर सभा' की रचना की। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सभा में दोस्तो बन्दर की आमद आमद है,
गधे औ फूलों के अफसर की आमद आमद है।
मरे जो घोड़े तो गदहा या बादशाह बना,
उसी मसीह के पैकर की आमद आमद है।
\+ \+ \+
पाजी हूँ मैं कौम का बन्दर मेरा नाम।
बिन फूजूल कूदे फिरे मुझे नहीं आराम ॥

उपर्युक्त अंशों में सामान्य हास्य की मात्रा ही अधिक है, उसमें व्यंग्य बहुत कम है, किन्तु 'नये जमाने की मुकरी' में उन्होंने 'अंग्रेज', 'पुलिस', 'खिताब' आदि पर तीखे व्यंग्य किए हैं—

भीतर-भीतर सब रस चूसे, हँसि के तन मन धन मूसे ॥
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन, नहिं अँगरेज।
\+ \+ \+
कपट कटारी जिय में हूलिस, क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि पुलिस।
\+ \+ \+

इनकी उनको खिदमत करो, रुपया देते-देते मरो !
तब आवै मोहिं करन खराब, क्यों सखि सज्जन, नहीं खिताब ! !

भारतेन्दु के हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास उनके नाटकों—'पाखंड विडम्बनम्', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अन्धेर नगरी.....' आदि में हुआ है, जिसकी चर्चा अन्यत्र की जायगी।

(५) **शैली व भाषा**—भारतेन्दु ने मुख्यतः मुक्तक एवं गीति-शैली का प्रयोग किया है। उनके मुक्तकों में भावात्मकता एवं मार्मिकता विद्यमान है। प्रायः इन्होंने कवित्त, सवैये एवं दोहों को अपनाया है। उनके गीतों में गीतिकाव्य के सभी गुण—भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता एवं कोमलता—मिलते हैं; देखिए—

सखी ए नैना बहुत बुरे।
तब सो भए पराए हरि सों जब सों जाई जुरे।
मोहन के रस-बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे॥
मेरी सीख प्रीत सब छाँड़ो ऐसे ये निगुरे।
जग खोइयौ बरज्यौ पै ए नहिं हठ सों तनिक मुरे॥
'हरीचन्द' देखत कमलन से विष के बुते छुरे॥

ध्यान रहे, रस गीत का राग सारंग है जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने कर दिया।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने कुछ छोटे-छोटे प्रबन्ध-गीति भी लिखे हैं, जैसे 'देवी छद्मलीला', 'तन्मयलीला', 'रानी छद्मलीला' आदि।

भारतेन्दु ने यद्यपि खड़ीबोली, उर्दू, बँगला, गुजराती आदि अनेक भाषाओं में काव्य-रचना की है, किन्तु मुख्यतः उन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। उनकी भाषा में सरलता, सरसता एवं प्रवाह का गुण विद्यमान है। साथ ही उन्होंने भावानुकूल ओज एवं माधुर्य का समावेश भी किया है; जैसे—

उठहु वीर तरवार खींचि मारहु घन समर।
लोह लेखनी लिखहु आर्य बल जवन-हृदय पर॥
मारू बाजे बजें कहीं धौंसा घहराहीं।
उड़हि पताका सत्रु-हृदय लखि लखि थहराहीं॥

यहाँ वीर रस के अनुकूल ओजपूर्ण शब्दों का समावेश है। उनकी शैली का माधुर्य पीछे शृङ्गार-सम्बन्धी कवित्त-सवैयों में देखा जा सकता है।

उपसंहार

भारतेन्दु-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस महाकवि ने भक्ति, शृङ्गार, राष्ट्र-प्रेम, हास्य-व्यंग्य आदि विभिन्न भावनाओं का चित्रण सफलता-पूर्वक किया है। वस्तुतः उनका काव्य किसी-न-किसी रूप में वीरगाथा-काल, भक्ति-काल, रीति काल और आधुनिक काल—चारों कालों के साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे

पद्माकर और द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भाँति झूमते हुए नई भक्त-माल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवोन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है ''''''प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।''

वस्तुतः भारतेन्दु की समता हिन्दी का कोई कवि नहीं कर सकता। अपने साँवरे के गुणों का गान करनेवाले सूरदास में भावुकता तो थी, किन्तु उनकी दृष्टि एक ही क्षेत्र तक सीमित रही। महाकवि तुलसीदास का काव्य क्षेत्र तो व्यापक था, किन्तु उनका आविर्भाव ही उस युग में हुआ था, जब कि आधुनिक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ था। रीतिकालीन कवि भो कोरी शृङ्गारिकता तक हो सीमित थे। एक सच्चा भक्त, एक सच्चा रसिक और सच्चा राष्ट्र-भक्त तथा प्राचीन और नवीन—दोनों युगों का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं, तो वह हमारी दृष्टि में एकमात्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हैं।

:: इकसठ ::

भारतेन्दु की नाट्य-कला

१. भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक।
२. नाटककार भारतेन्दु के चार क्षेत्र—(क) मौलिक नाटक—'वैदिकी हिंसा न भवति', 'प्रेम जोगिनी', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', 'अन्धेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'नीलदेवी', 'सती प्रताप' आदि। (ख) अनुवादित नाटक, (ग) अभिनव कला, (घ) नाट्य-साहित्य के सिद्धान्तों की विवेचना।
३. उपसंहार।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में कुछ नाटक लिखे गए थे, किन्तु उनमें नाटकीय तत्वों का अभाव था। स्वयं भारतेन्दु ने अपनी प्रथम नाट्य-रचना 'विद्यासुन्दर' की भूमिका में लिखा है—"विशुद्ध हिन्दी भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। निवाज का 'शकुन्तला' या ब्रजवासीदास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक नहीं, काव्य है। इससे हिन्दी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुराजसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' और मेरे पिता का 'नहुष' नाटक यही दो प्राचीन ग्रन्थ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं, यों नाम को तो देव माया प्रपञ्च, समय-सार इत्यादि कई भाषा ग्रन्थों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है।" यद्यपि अब इनके अतिरिक्त और भी नाटक मिले हैं, जिनकी रचना मिथिला में हुई थी, किन्तु यह सब पद्य-प्रधान हैं तथा इनमें नाट्य कला का पूर्ण रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही हिन्दी का प्रथम आधुनिक नाटककार मानना उचित है।

उपर्युक्त स्थिति से कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है—यह हुआ भी है—कि भारतेन्दु का नाटक-साहित्य हिन्दी का प्रारम्भिक नाटक-साहित्य होने के कारण उसमें नाट्य-कला का अविकसित रूप ही मिलता होगा किन्तु ऐसी बात नहीं है। भारतेन्दु ने संस्कृत, प्राकृत, बँगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं के नाटकों का समुचित अध्ययन करके उनसे लाभ उठाया है। उन्होंने केवल नाटकों की रचना ही नहीं, अपितु नाट्य-कला के सभी अंगों का विकास भी किया।

नाट्य-कला के क्षेत्र में भारतेन्दु के चार रूप दृष्टिगोचर होते हैं—(१) मौलिक नाटकों के रचयिता, (२) विभिन्न भाषाओं के नाट्य-साहित्य के अनुवादक, (३) अभिनेता तथा निर्देशक और (४) नाट्य-कला सम्बन्धी सिद्धान्तों के विवेचक एवं समकालीन नाटकों के आलोचक। इनमें से प्रत्येक रूप का परिचय यहाँ अलग-अलग दिया जाता है।

(१) **मौलिक नाटक**—भारतेन्दु के द्वारा रचित नौ मौलिक नाटक उपलब्ध होते हैं, जिनमें विभिन्न रसों की आयोजना हुई है। इन नाटकों की सूची इस प्रकार है—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम-जोगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, भारत जननी, नीलदेवी, अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा और सती प्रताप।

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" एक छोटा-सा प्रहसन है। इसमें धर्म के नाम पर होनेवाले दुराचारों—मद्यपान, मांस-भक्षण, पर-नारी-समागम आदि का उपहास किया गया है तथा अन्त में यम के द्वारा ऐसे दुराचारियों को घोर दण्ड दिलवाया गया है। इसमें पुरोहितों की असद्वृत्तियों पर व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डाला गया है। अपने दुराचारों को शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर उचित सिद्ध करनेवाले पंडितों का चित्रण यथार्थ रूप में हुआ है। चित्रगुप्त और यमराज की बातचीत में अंग्रेजी सरकार पर भी छींटाकशी की गई है। जब यमराज पूछते हैं—"धर्म और प्रतिष्ठा से क्या सम्बन्ध है?" तो चित्रगुप्त उत्तर देते हैं—"महाराज सरकार अंग्रेज के राज्य में जो लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार आफ इंडिया' की पदवी मिलती है।" इस प्रकार भारतेन्दु की लेखनी से छोटे-छोटे पंडितों से लेकर बड़े-बड़े साम्राज्यों के अधिष्ठाता तक कोई भी नहीं बच सका।

'प्रेम-जोगिनी' चार अंकों की नाटिका है। इसका पहला संस्करण "काशी के छाया-चित्र या दो भले-बुरे फोटोग्राफ" के नाम से 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' में छपा था। यह हिन्दी का प्रथम यथार्थवादी नाटक है, जिसमें तत्कालीन काशी की सामाजिक स्थिति का चित्रण लेखक ने नग्न रूप में किया है। नाटक के आरम्भ के सूत्रधार के वाक्यों से ही लेखक की उत्कृष्ट राष्ट्रभक्ति का परिचय मिलता है........"क्या इस कमल-वन-रूप भारत भूमि को दुष्ट गजों ने उसकी (ईश्वर की) इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया? क्या जब कादिर, चंगेज़खाँ जैसे निर्दयों ने लाखों निर्दोषी जीव मार डाले तब वह सोता था?........छिः! ऐसे निर्दय को भी लोग दया-समुद्र किस मुँह से पुकारते हैं?"

ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक लेखक ने घोर निराशा के क्षणों में लिखा होगा, क्योंकि इसमें लेखक ने अपनी दुःखपूर्ण स्थिति पर करुण शब्दों में प्रकाश डाला है। परिपार्श्वक के मुँह से इन नाटक के सम्बन्ध में कहलवाया गया है—"वह उनके और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्त्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और यह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिल के बना है।" काशी की यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण करते हुए तत्कालीन जन-समाज की दूषित प्रवृत्तियों एवं मनोवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। कविता के सम्बन्ध में अर्द्ध-शिक्षित वर्ग की क्या धारणा थी तथा कवि भारतेन्दु का उनके समाज में कैसा मान था, इसका उत्तर छक्कु की इस उक्ति में द्रष्टव्य है—"अरे कवित्त तो इनके बापौ बनावत रहे। कवित्त बनावै से का होयै और कवित्त बनावना कुछ अपने लोगों का थोरै हय, ई भाँटन का काम है।" काशी के मन्दिरों और उनके पंडे-पुजारियों की खुशहाली की चर्चा करते हुए बनितोदास अपने मित्र से कहते हैं—"भाई मन्दिर में रहै से स्वर्ग में

रहे खाए के अच्छा, पहिरै के परसादी, से महाराज कब्बों गाड़ा तो पहिरवै न करिये, मलमल नागपुरी ढांके पहिरियँ····ऊपर से ऊ बात का सुख अलगै है।" इस रचना में भारतेन्दुजी के सर्वत्र पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग किया है, यहाँ तक कि कुछ पात्र मरहठी भाषा में भी बातचीत करते हैं।

"विषस्य विषमौषधम्" एक भाण है। इसमें एक ही पात्र—भंडाचार्य—है जो महाराज मल्हारराव के अंग्रेजों द्वारा पदच्युत कर दिये जाने पर अपने विचारों को भावात्मक शैली में व्यक्त करता है। बीच-बीच में वह आसमान की ओर इस प्रकार देखता जाता है, मानो वह स्वर्गलोक के किसी पात्र से बातचीत कर रहा हो। एक विद्वान् आलोचक ने इस नाटक पर यह दोष लगाया है कि एक देशी नरेश के पदच्युत होने पर भारतेन्दु का हर्ष प्रकट करना राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल है। किन्तु वास्तव में इसमें हर्ष प्रकट नहीं किया गया है, अपितु देशी नरेशों की दुर्दशा पर क्षोभ व्यक्त हुआ है। जो विद्वान् इसे राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल समझते हैं, वे भंडाचार्य के इन उद्‌गारों को ध्यान से पढ़ें—"धन्य है ईश्वर ! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।"

"चन्द्रावली' नाटिका प्रणय और विरह के उद्‌गारों से परिपूर्ण है। चन्द्रावली और ललिता की बात-चीत से प्रणय की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। कामिनी के संवाद जहाँ वासनापूर्ण प्रेम का रूप व्यक्त करते हैं, वहाँ चन्द्रावली के प्रत्येक शब्द से स्वच्छ, मधुर प्रणय की बूंदें टपकती-सी प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार माधुरी के वचनों से भी मानो रस-माधुर्य की वर्षा-सी होती है—हिंडोरा नहीं झूलता। हृदय में प्रीतम को झुलाने के मनोरथ और नैनों में पिया की मूर्ति भी झूल रही है।" चन्द्रावली के स्वकथन में हृदय की भावाकुल दशा का चित्रण काव्यात्मक शैली में हुआ है—"नाथ ! जहाँ इतने गुण सीखे, वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा। हाय मँझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो। हाय ! तड़पें हम और तुम तमाशा देखो।.... झूठे ! झूठे !! झूठे !!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक ! क्यों इतनी टोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया !!"

ललिता और जोगिन के वेश में कृष्ण का संवाद गद्य और पद्य दोनों के वैभव से युक्त है—

> **कहाँ तुम्हारो देस है ? प्रेम नगर पिय गाँव !**
> **कहा गुरू कहि बोलहीं ! प्रेमी मेरो नाँव !**
> **जोग लियो केहि कारने ? अपने पिय के काज !!**
> **मंत्र कौन ? पिय नाम इक !**
> **कहा तज्यो ? जग लाज !**
> **आसन कित ? जित ही रमे !**
> **पंथ कौन ? अनुराग ?**

वस्तुतः यह नाटिका आदि से अन्त तक प्रणयोच्छ्वासों एवं भाव-माधुर्य से ओत-प्रोत है। कविता और नाटक दोनों का आनन्द इसमें एक साथ उपलब्ध होता है, किन्तु

इसी कारण से इसमें कुछ दोष भी विद्यमान हैं। कथानक की शिथिलता लम्बे-लम्बे संवाद, कवित्त, सवैयों और पदों का अतिशय प्रयोग इसकी नाटकीयता में बाधक सिद्ध होता है।

'भारत दुर्दशा' को स्वयं लेखक ने 'नाट्य-रासक' या 'लास्य-रूपक' की संज्ञा दी है। इसमें भारत दुर्दैव के द्वारा भारत की धन-सम्पत्ति को लूटने तथा उसे नष्ट कर देने का चित्रण करते हुए उसे दूर भगाने के प्रयत्न पर प्रकाश डाला गया है। भारत दुर्दैव की वेश-भूषा और उनके क्रिया-कलापों का जैसा चित्रण इस नाटक में किया गया है इससे स्पष्ट है कि वह अंग्रेज शासकों का प्रतीक है। वह स्पष्ट कहता है—"हा हा ! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। ह हा ! ह हा ! ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों का दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि उनको डिसलॉयल्टी मे पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो, उसको उतना, बड़ा मडल और खिताब दो।" अंग्रेजों की शासन-नीति की आलोचना और भी कटु शब्दों में करते हुए 'डिसलॉयल्टी' कहती है—"हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि वचन-सुधा नामक पत्र मे गवनमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए ?....इंगलिश पॉलिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।"

तत्कालीन शिक्षित जनता एवं समाज सुधारकों के मनोभावों पर भी इसमें तीखा व्यंग्य किया गया है। सात सभ्य जिनमें एक बंगाली, एक महाराष्ट्रीय, एक एडीटर, एक कवि और दो देशी महाशय थे, भारत-दुर्दैव (अर्थात् अंग्रेज) को भगाने के उपायों पर विचार करते है। इस सभा के वक्ताओं द्वारा विभिन्न प्रान्तों के लोगों की मनोवृत्ति का परिचय मिलता है—

बंगाली—"....गवर्नमेंट तो केवल गोल-माल से भय खाता ! और कोई तरह नहीं शोनता !....किन्तु हियाँ, हम देखते हैं कि कोई कुछ नहीं बोलता।" जहाँ बंगाली महोदय गम्भीरतापूर्वक इस समस्या पर विचार करते हैं, वहाँ देशी को इसी बात की चिन्ता है—"क्यों भाई साहब ! इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे ?" किन्तु इस सभा से एक बात स्पष्ट है कि तत्कालीन राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं (?) पर सरकार का आतंक पूरी तरह छाया हुआ था। १८५७ की असफलता का प्रभाव अभी तक अवशेष था।

वस्तुतः इस रचना में भारतेन्दुजी ने विदेशी शासन के दुष्परिणाम को स्पष्ट करते हुए स्वदेश-वासियों को चेतावनी दी है। नाटक का अन्त जान-बूझकर दुःखमय रखा गया है, जिससे कि यह भारतवासियों के हृदय को झकझोर सके।

'भारत-जननी' भी भारत-दुर्दशा की भाँति देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत है। इसमें स्वयं भारत-माता रुदन करती हुई करुण स्वर में कहती है—"हाय क्या हुआ ?....वत्स ! कब तक इस प्रकार से तुम निद्रित रहोगे, अब सोने का समय नहीं, एक बेर आँखें खोल भली-भाँति पृथ्वी की दशा को तो देखो।" इस नाटक का अन्त आशापूर्ण शब्दों के साथ हुआ है।

'नीलदेवी' की रचना भारतीय ललनाओं में स्वाभिमान और वीरता के भाव जागृत करने के उद्देश्य से की गई थी। इसमें भी एक पागल के मुंह से कहलवाया गया है—"मार मार मार—काट-काट-काट—दुष्ट म्लेच्छ—हमारा देश—हम राजा हम रानी ! ! हम मंत्री ! !....!"

'अंधेर नगरी चौपट राजा' एक विशुद्ध प्रहसन है, किन्तु इसमें भी लेखक ने कुछ स्थान राजनीति के लिए निकाल लिया है। चने व चूर्ण बेचने वालों की कुछ पंक्तियाँ—

चना हाकिम सब जो खाते ! सब पर दूना टिकस लगाते !!

× × ×

हिंदू चूरन इसका नाम ! बिलायत पूरन इसका काम ! !
चूरन जब से हिन्द में आया ! इसका धन बल सभी घटाया ! !

× × ×

चूरन साहेब लोग जो खाता ! सारा हिन्द हजम कर जाता ! !

'सती प्रताप' एक पौराणिक नाटक है, जिसमें सावित्री-सत्यवान् के प्रसिद्ध आख्यान का चित्रण किया गया है। इसमें भी कविताओं की प्रमुखता है।

इस प्रकार भारतेन्दु के मौलिक नाटकों पर दृष्टिपात कर लेने पर स्पष्ट है कि उनके नाटकों में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति ही मुख्य है। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने सुधार लाने का प्रयत्न किया है। दाम्पत्य-जीवन की पवित्रता का संदेश 'सती प्रताप' में, सामाजिक जीवन की शुद्धता का 'प्रेम जोगिनी' में धार्मिक जीवन को निर्मलता का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में और राजनीतिक जीवन में क्रांति का संदेश 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत जननी' में दिया गया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक रचना में नाटक के नये-नये भेदों का प्रयोग किया गया है, जिससे कि सभी भेदों के उदाहरण प्रस्तुत हो सके हैं। यही कारण है कि उन्होंने नाटक, नाटिका, प्रहसन, भाण, नाट्य-रूपक आदि की रचना की।

(२) **अनुवादित नाटक**—भारतेन्दु के आठ अनुवादित नाटक उपलब्ध हैं—(१) विद्यासुन्दर (बँगला से), (२) पाखंड विडम्बन (संस्कृत से), (३) धनंजय विजय (संस्कृत से), (४) मुद्राराक्षस (संस्कृत से), (५) सत्य हरिश्चन्द्र (बँगला से), (६) कर्पूर-मंजरी (प्राकृत से), (७) रत्नावली (संस्कृत से) और (८) दुर्लभ-बंधु (अंग्रेजी "मर्चेन्ट आफ बेनिस" का अनुवाद)। इन नाटकों का अनुवाद हिन्दी जगत् को संस्कृत, प्राकृत, बँगला व अंग्रेजी के प्रौढ़ नाटक-साहित्य का परिचय देने के उद्देश्य से किया गया है। इससे उनके दृष्टिकोण की व्यापकता का पता चलता है।

अनुवादों के सम्बन्ध में भारतेन्दु का कहना था—"बिना पूर्व कवि के हृदय से हृदय मिलाये अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नहीं, कवि की लोकांतर-स्थित आत्मा को नरक-कष्ट देना है।" इस नीति का पालन उन्होंने अपनी अनुवादित रचनाओं में सफलतापूर्वक किया है। उदाहरण के लिए 'मुद्राराक्षस' देखा जा सकता है। इसमें उन्होंने मूल नाटक के गद्यांशों का अनुवाद गद्य में और पद्यांशों का पद्यों में किया है। यह अनुवाद इतना सफल हुआ है कि पढ़ते समय इसमें मूल का-सा आनन्द उपलब्ध होता है।

'दुर्लभ-बन्धु' में उन्होंने पात्रों के नामादि में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है, जैसे 'एन्टोनियो' के स्थान पर 'अनन्त', पोरशिया के स्थान पर 'पुरश्री' आदि। ऐसा उन्होंने भारतीय पाठकों की रसानुभूति के निमित्त ही किया है। अंग्रेजी भाषा के नाटक का भी अनुवाद उन्होंने आश्चर्यजनक मुहावरेदार शैली में किया है। एक अंश देखिए—'मरकहा बैल! रात-दिन फूं-फूं किया करता है, मानों उसकी चितवन कहे देती है कि या तो ब्याह करो या साफ जवाब दो।....हँसी मानो जुए में हार आया है। अभी जब हट्टा-कट्टा साँड़ बना है तब तो यह रोनी सूरत है तो बुढ़ापे में तो बात पूछते रो देगा। सिवाय हर भजन के और किसी काम का न रहेगा। मेरा ब्याह चाहे एक मुर्दे से हो, पर इन भद्दे जानवरों से नहीं। भगवान् इन दोनों से बचावे।" यह अनुवाद भले ही यथा-शब्द न हो, किन्तु इसकी भाषा में प्रभाव और प्रवाह मूल से भी अधिक है, इसमें कोई संदेह नहीं।

(३) **अभिनय**—भारतेन्दु नाटकों की केवल रचना करके ही नहीं रह गए, उन्होंने उनके अभिनय का भी समुचित प्रबन्ध किया। उन्होंने काशी में कुछ साहित्यिक नाटक मंडलियाँ स्थापित कीं, जिनके द्वारा अनेक नाटक खेले गए! वे स्वयं एक कुशल अभिनेता थे और उन्होंने अनेक नाटकों मे निर्देशन और अभिनय का कार्य सफलतापूर्वक किया। उनके 'नाटक' ग्रंथ का अभिनय-सम्बन्धी विवेचन तथा विभिन्न नाटकों में दिये गए अभिनय-सम्बन्धी संकेतों मे सिद्ध होता है कि वे अभिनय-कला में कितने दक्ष थे।

(४) **आलोचना**—भारतेन्दु ने नाटक साहित्य की रचना, अनुवाद और अभिनय के अतिरिक्त उसकी आलोचना का भी विकास किया। उनका 'नाटक' ग्रन्थ नाट्य-रचना सम्बन्धी सिद्धान्तों का एक प्रौढ़ ग्रंथ है। खेद है कि डॉ० श्यामसुन्दरदास ने केवल इसकी भाषा के आधार पर यह भ्रम फैला दिया कि 'नाटक' भारतेन्दु द्वारा रचित नहीं है। इस ग्रंथ की शैली में नाटकों की भाषा-शैली से कोई इतना गहरा अन्तर नहीं मिलता जिससे कि इसे भारतेन्दु-रचित न माना जाय। वैसे विवेचनात्मक ग्रंथ होने के कारण अन्तर आ जाना तो स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की भूमिका में भी भारतेन्दु ने स्पष्ट रूप से इसे स्वरचित बताया है। इतना ही नहीं, उन्होंने इस ग्रन्थ को अपने आराध्य देव को प्रेमपूर्वक समर्पित किया है। यदि वह किसी अन्य का रचित होता तो वे कभी ऐसा नहीं करते। अतः इस पर संदेह करना अनावश्यक और अनुचित है।

'नाटक' से पूर्वी और पाश्चात्य नाट्य-कला के ज्ञान का परिचय मिलता है। यद्यपि इसमें मुख्यतः संस्कृत के नाट्य-शास्त्र को ही आधार माना गया है, किन्तु उन्होंने आधुनिक युग के अनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्देशित नियमों में संशोधन भी किया है। वे प्राचीन और नवीन के सामंजस्य का समर्थन करते हुए एक ओर 'आशी', 'पंच-संधि', 'प्रकरी' आदि को यत्नपूर्वक रखने का विरोध करते हैं तो दूसरी ओर वे यथार्थ चित्रण का सुझाव देते हैं। नाटकों में सामयिक समस्याओं के चित्रण की आवश्यकता बताते हुए वे लिखते हैं—"समाज-संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना

मुख्य कर्त्तव्य-कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य विषय-संशोधन आदि।"

यह ग्रन्थ नाट्य-सिद्धान्तों का संग्रह-मात्र नहीं है। नाट्य-कला-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों को लेकर लेखक ने उनकी सोदाहरण व्याख्या की है। संवादों की आयोजना पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं—"ग्रंथकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत रचना करें कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की वाक्पटुता और पंडित का मौनी-भाव विडम्बना मात्र है।" आगे वह हृदयस्थ भावों की व्यंजना का एक उदाहरण 'शाकुन्तलम्' से देकर स्पष्ट करते हैं—"......इसके बदले कालिदास यदि कण्व ऋषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके ऋषि-जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती अथवा कण्व का शकुन्तला के जाने पर शोक ही न वर्णन करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता। इसी हेतु कवि कुल-मुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने ऋषि-जनोचित भाव मे ही कण्व का शोक वर्णन किया है।"

इसी ग्रन्थ में उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य नाटक-साहित्य के इतिहास पर भी प्रकाश डाला है। भारतीय नाटकों में उन्होंने संस्कृत और प्राकृत के ५६ नाटकों का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने युग में रचित हिन्दी नाटकों की भी तालिका प्रस्तुत की है। 'यूरोप में नाटकों का प्रचार' शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने यूनान के प्राचीनतम नाटकों से लेकर इङ्गलैण्ड के अठारहवीं शती तक के नाटक-साहित्य का संक्षेप में विवेचन किया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ नाटक साहित्य के सैद्धान्तिक एवम् ऐतिहासिक दोनों प्रकार के विवेचन की दृष्टि से भारतेन्दु के व्यापक ज्ञान का परिचायक है।

इसी ग्रन्थ के बीच-बीच में उन्होंने समकालीन नाटकों की आलोचना की है। तत्कालीन व्यावसायिक नाटकों की अधोगति पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है—"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर, मटक-मटक कर नाचने और "पतरी कमर बल खाय" यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।" अस्तु, इस ग्रन्थ के आधार पर भारतेन्दु की नाट्य कला का आचार्य भी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। यह आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी आलोचना के विकास में भारतेन्दु के इस ग्रन्थ की प्रायः चर्चा नहीं की जाती।

उपसंहार

भारतेन्दु की नाट्य-कला के विभिन्न स्वरूपों का एक संक्षिप्त-सा परिचय यहाँ दे दिया गया है—यद्यपि छोटे-से निबन्ध में उनकी कला का समुचित मूल्यांकन सम्भव

नहीं, किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि नाटक कला के
अनिवार्य है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, संसार के इतिहास में किस.
कार का नाम नहीं मिलता, जिसने अकेले ने नाटक की इतनी शैलियों, इतने
इतने रसों का प्रयोग किया हो, जिसने इतने बहुविध मौलिक नाटक लिखे हों। ि
पाँच भाषाओं के नाटकों का इतना सफल अनुवाद किया हो, जिसने अभिनय और निर्देशन दोनों में सफलता प्राप्त की हो, जिसने नाट्य-कला के सिद्धान्तों का विवेचन किया हो और जिसने पूर्व और पश्चिम के नाट्य-साहित्य का इतिहास भी लिखा हो। नाट्य-कला का कोई भी अंग ऐसा नहीं है, जो भारतेन्दु के बहुमुखी व्यक्तित्व के स्पर्श से वंचित रहा हो। उनके नाटक मनोरंजन से यदि भरपूर हैं, रस के माधुर्य से ओत-प्रोत हैं तो साथ ही परिवार, समाज और राष्ट्र को नव-जीवन प्रदान करनेवाली अमृतदायिनी शक्ति भी उनमें विद्यमान है। कला और विचार, सौन्दर्य और उपदेश, भाव और भाषा— इन सबका सुन्दर समन्वय उनके नाटकों में मिलता है। इन सारी विशेषताओं से युक्त, इन सारे रूपों से सुसज्जित लेखक, अनुवादक, अभिनेता, निर्देशक और आलोचक नाटककार भारतेन्दु की तुलना संभवतः विश्व के किसी भी नाटककार से नहीं हो सकती! कालिदास में भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति तो थी, किन्तु समाज की समस्याओं का चित्रण उनमें कहाँ? शेक्सपीयर में मार्मिकता एवं जीवन की अनेक-रूपता तो है, अभिनय की कला भी उनके पास है, किन्तु भारतेन्दु के शेष रूप उनमें कहाँ? इब्सन, शा आदि में समस्याओं का चित्रण एवं व्यंग्यात्मकता है, किन्तु भारतेन्दु की-सी काव्यात्मकता का उनमें अभाव है।

अस्तु, नाट्य-कला के क्षेत्र में 'भारतेन्दु' भारतेन्दु ही नहीं, पूर्णेन्दु हैं। उनमें कुछ दोष-धब्बे भी हैं, किन्तु वे उनकी सुधा-प्रवाहिनी रश्मियों के तेज-पुंज के समक्ष नगण्य हैं, उपेक्षणीय हैं।

:: बासठ ::

प्रेमचंद और उनका उपन्यास-साहित्य

१. भूमिका।
२. व्यक्तित्व और जीवन।
३. औपन्यासिक रचनाएँ—(क) वरदान, (ख) प्रतिज्ञा, (ग) सेवा-सदन, (घ) प्रेमाश्रम, (ङ) रंगभूमि, (च) काया-कल्प, (छ) गबन, (ज) निर्मला, (झ) कर्मभूमि, (ञ) गोदान।
४. प्रेमचन्दजी की महानता।
५. रवीन्द्र और शरत् से तुलना।
६. उपसंहार।

(एक बार डा० धीरेन्द्र वर्मा ने प्रेमचंदजी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था—"प्रेमचंदजी हिन्दी के प्रथम सर्वोत्कृष्ट मौलिक लेखक थे। उन्होंने हिन्दी पाठकों की अभिरुचि को चंद्रकांता के गर्त से निकालकर सुदृढ़ साहित्यिक नींव पर स्थिर किया। बंकिम बाबू तथा अंग्रेजी उपन्यासों की माँग को तो उन्होंने बिलकुल ही रोक दिया। हिन्दी-साहित्य के उस विशेष क्षेत्र में कादम्बरी या हितोपदेश के अनुवादों का लोकप्रिय होना तो संभव न था। इसके अतिरिक्त प्रेमचंदजी ने समाज के असाधारण वर्गों की ओर से दृष्टि हटाकर मध्यम तथा निम्न श्रेणी के लोगों की नित्य-प्रति की समस्याओं की ओर हिन्दी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। किसान, मजदूर, क्लर्क, दुकानदार, जमींदार, साहूकार, अफसर और पूंजीपतियों से संघर्ष का जैसे जीवित रूप में प्रेमचन्दजी ने चित्रण किया है, वैसा उससे पहले हिन्दी-साहित्य में कभी नहीं हुआ था।" (हंस : प्रेमचन्द स्मृति अंक, पृष्ठ ८००)

उपर्युक्त उद्धरण से प्रेमचंदजी की महानता का पता स्पष्ट रूप से चलता है। प्रेमचंदजी के हिन्दी-उपन्यास जगत् में अवतीर्ण होने से पूर्व तीन प्रकार की रचनाएँ हो रही थीं—(१) तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यास, (२) कामुकतापूर्ण सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास और (३) जासूसी और साहसपूर्ण उपन्यास। इन तीनों वर्गों का नेतृत्व क्रमशः देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी—ये तीनों लेखक कर रहे थे। इनके अतिरिक्त बँगला, मराठी और अंग्रेजी के उपन्यासों के अनुवादकों का भी हिन्दी में बोलबाला था। तत्कालीन उपन्यासों की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए सुयोग्य समालोचक डा० इंद्रनाथ मदान ने एक स्थान पर लिखा है। "हिन्दी की जनता घटनाओं की भूल-भुलैयों से भरे तिलस्मी, ऐयारी अथवा जासूसी उपन्यास पढ़ती थी और उसमें अद्भुत रस प्राप्त करती थी। यह न होता था तो वह

रीतिकालीन शृङ्गारिकता से युक्त सामाजिक उपन्यास पढ़ती थी और अपनी सस्ती भावुकता के लिए वहाँ भोजन प्राप्त करती थी। जनता का जो अंग अद्भुत और शृङ्गार के इन उपन्यासों को पसन्द नहीं करता था और जिसमें नैतिकता के प्रति आग्रह था, वह अपने लिए बँगला, मराठी और अंग्रेजी के अनुवादों को ही वरदान समझता था। इस प्रकार हिन्दी पाठक के पास उपन्यास के नाम पर ठोस जीवन के धरातल पर आधारित अपनी कोई वस्तु नहीं थी। केवल नैतिकता की दृष्टि से भी तत्कालीन उपन्यासों का स्तर बहुत नीचा था।" उनमें जिन घटनाओं का वर्णन होता था, वे अलौकिक व अस्वाभाविक होती थीं। पात्र भी किसी काल्पनिक जगत् के होते थे, जिनमें न तो मानवीय रूप की सहज स्वाभाविक रूप-रेखाएँ ही दृष्टिगोचर होती थीं और न ही उनमें उस व्यक्तित्व का विचार हो पाता था जिससे वे सजीव दिखाई पड़ें। कथोपकथन रटे-रटाए व्याख्यानों-जैसा या विद्वानों के शास्त्रार्थ-जैसा होता था, जिसमें संभाषण की-सी स्वाभाविकता का पता पाना कठिन था। देश और काल की परिस्थितियों के चित्रण की बात ही क्या ? औरंगजेब को अपने ड्राइवर के साथ मोटर पर घूमते हुए दिखा देना उस युग के उपन्यासकार के लिए कोई अनोखी बात नहीं थी। रही उद्देश्य की बात—उद्देश्य तो प्रायः सबका एक था; जनता का मनोरंजन करना। वे उपन्यास समय काटने के एक हीन कोटि के साधन-मात्र थे, उनमें कलात्मकता एवं सामाजिकता का अभाव था। वस्तुतः प्रेमचन्द के पदार्पण से पूर्व हिन्दी-उपन्यास एक अविकसित कलिका की भाँति अस्फुट एवं चेतनाहीन-सा था, किन्तु दिवाकर की प्रथम रश्मियों की भाँति प्रेमचन्द की पावन-कला का पुनीत स्पर्श पाकर वह जाग पड़ा, खिल उठा और मुस्कराने लगा।

व्यक्तित्व और जीवन

साहित्य की मूल आत्मा को पहचानने के लिए उसके रचयिता के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन भी अपेक्षित है। मुन्शी प्रेमचन्दजी का जन्म सन् १८८० में लमही नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता डाकखाने में नौकरी करते थे तथा उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। आठ वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्हें मातृ-वियोग सहन करना पड़ा। तदनन्तर उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया—फलतः प्रेमचन्दजी सौतेली माँ के व्यवहार की कटुता का अनुभव भी प्राप्त कर सके।

इनके परिवार में उर्दू पढ़ने की प्रथा थी। अतः आरम्भ में इन्हें भी उर्दू की शिक्षा दी गई। आगे चलकर उन्होंने हाईस्कूल तक की शिक्षा प्राप्त की। इसी बीच उनका विवाह हो गया था। विवाह के कुछ दिनों पश्चात् ही उनके पिता का देहान्त हो गया, अतः उन्हें अध्ययन-काल में पर्याप्त आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कालेज में भी वे प्रविष्ट हुए थे, किन्तु इण्टर की परीक्षा में असफल हो जाने के कारण तथा आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य होकर उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और एक पाठशाला में [illegible] करने लग गए। आगे चलकर स्वाध्याय से उन्होंने बी० ए० तक की परीक्षाएँ [illegible]र्ण कीं और डिप्टी इन्स्पेक्टर के पद पर पहुँच गए।

प्रेमचन्दजी को उपन्यास पढ़ने का शौक बाल्यावस्था से ही था। उन्होंने 'मेरी पहली रचना' शीर्षक लेख में अपने अध्ययन की चर्चा करते हुए लिखा है—"दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टॉक समाप्त हो गया तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े और तिलस्मी ग्रन्थों के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे। एक-एक भाग बड़े सुन्दर रायल आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पच्चीस भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।" अध्ययन की इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि प्रेमचन्दजी ने छोटी आयु में ही लेखनी ग्रहण कर ली। सन् १६०१ में अर्थात् बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपना पहला उपन्यास लिखना आरम्भ कर दिया था। सन् १६०२ में उनका पहला तथा १६०४ में दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ। दूसरी ओर उनकी कुछ कहानियाँ 'जमाना' (उर्दू) में निकलीं। उनकी पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' १६०६ में छपा, जिसमें स्वराज्य की प्रेरणा होने के कारण सरकार ने जब्त कर लिया। आगे चल कर वे हिन्दी में लिखने लग गए।

सरकारी सर्विस में रहते हुए वे स्वतन्त्रतापूर्वक लिख न सकते थे, अतः उन्होंने डिप्टी-इन्स्पेक्टर के पद से त्याग-पत्र देकर चर्खों की दूकान खोल ली। जब इससे काम नहीं चला तो वे एक प्राइवेट स्कूल में हैडमास्टर बन गए। किन्तु परिस्थितियोंवश वहाँ से भी त्याग-पत्र दे दिया और पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन करने लग गए। जीवन के अन्तिम दिनों में वे फिल्म-जगत् में भी गये थे, किन्तु वहाँ के दूषित वातावरण के कारण ठहर नहीं सके।

वस्तुतः प्रेमचन्दजी की जीवन-गाथा गरीबी, संघर्ष और त्याग से भरपूर है। घोर आर्थिक संकटों का सामना करते हुए भी उन्होंने बड़े-से-बड़े आर्थिक लोभ को ठुकरा दिया। एक बार अलवर के राजा साहब ने उन्हें चार सौ रुपये मासिक पर आमन्त्रित किया था, किन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ध्यान रखते हुए उन्होंने उस आमन्त्रण को ठुकरा दिया। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उनका विद्रोह कितना तीव्र था—यह इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने अपना दूसरा विवाह एक विधवा के साथ किया। प्रेमचन्द के समर्थक आलोचक डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है—"प्रेमचन्द इतना सादा जीवन बिताते थे कि कल्पना नहीं कर सकता। वे देहाती किसान के प्रतिरूप थे, जिनमें अहंकार नाम-मात्र को भी नहीं था। जीवन की सभी कटुताएँ सहते हुए भी वे प्रसन्न-चित्त होकर आगे बढ़ते थे, परन्तु देश की दशा से वे सदैव दुखी हुआ करते थे और उसकी मुक्ति का उपाय सोचते-सोचते खो-से जाते थे। वे देश-भक्त थे। समाज-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष के समर्थक न थे। वे सच्चे अर्थों में हिन्दुस्तानी थे....उनका बाहर-भीतर एक-सा था, कथनी-करनी में भेद करना वे न जानते थे, साहित्य और जीवन दोनों उनके लिए एक-दूसरे के पर्यायवाची थे। इसीलिए यह कहना कि प्रेमचन्द मनुष्य के रूप में साहित्यकार से भी अधिक महान् थे, सोलह आने ठीक है।"

प्रेमचन्द इतने बड़े लेखक होते हुए भी दरिद्रता में जन्मे, दरिद्रता में पले।

दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गए। "उन्होंने अपने को सदा मजदूर समझा। बीमारी की हालत में भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी, वे अपने कमजोर शरीर को लिखने के लिए मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते "मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किए बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं।"—(डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)। अस्तु, प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रेमचन्द महान् थे। उन्होंने जीवन में वह साधना की थी, जिसने उनके साहित्य को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया।

औपन्यासिक रचनाएँ

प्रेमचन्द का साहित्य जहाँ गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट है, वहाँ परिमाण की दृष्टि से भी भारी है। उनके उपन्यासों की तालिका इस प्रकार है—वरदान (१६०२), प्रतिज्ञा (मूल १६०६), सेवासदन (१६१६), प्रेमाश्रम (१६२२), रंगभूमि (१६२५), गबन (१६३१), कर्मभूमि (१६२२), निर्मला (१६२३), काया-कल्प (१६२८), गोदान (१६३६), मंगलसूत्र (अपूर्ण)। इनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है—

(१) **वरदान**—'वरदान' में प्रेम और विवाह की समस्या का चित्रण हुआ है—वृजरानी और प्रताप बचपन से ही साथ-साथ रहे थे, तथा दोनों के विवाह की भी चर्चा होने लग गई थी, किन्तु किसी कारण वृजरानी का विवाह एक डिप्टी के पुत्र कमलाचरण से हो गया। कमलाचरण एक उच्छृङ्खल स्वभाव का युवक था। यद्यपि प्रारम्भ में पति-पत्नी की नहीं बनी, किन्तु वृजरानी के प्रयत्न से कमलाचरण में परिवर्तन आने लगा। अचानक कमलाचरण का देहान्त हो जाता है। प्रताप वृजरानी के विवाह के अनन्तर ही साधु हो गया था। अन्त में सभी प्रमुख पात्र त्याग और संयम का पथ अपनाते हुए देश-सेवा में लग जाते हैं।

उपन्यास-कला की दृष्टि से वरदान कोई प्रौढ़ रचना नहीं है। इसकी कथा-वस्तु शिथिल है। प्रताप इसका प्रमुख पात्र है और कथानक की प्रगति में योग देता
उसके चरित्र में भी वह महानता नहीं आ पाई, जो उसके लिए अपेक्षित
यह उपन्यास एक प्रेम-कहानी-मात्र है जिसका पर्यवसान देश-प्रेम में हुआ

(२) **प्रतिज्ञा**—प्रोफेसर दीनानाथ और अमृतराय वकील-
थे। प्रो० दीनानाथ अभी अविवाहित थे, जबकि अमृतराय
दूसरा विवाह उनकी कुमारी साली प्रेमा से होने की संभा
दूसरे को चाहते थे तथा प्रेमा के पिता बद्रीप्रसाद का ऐसा ह
बीच एक घटना घटित हुई। एक समाज-सुधारक नेता के
अमृतराय ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे किसी विधवा से विवाह
प्रेमा से विवाह करना अस्वीकार कर दिया। फलतः
से हो गया।

अमृतराय ने अपना जीवन समाज-से
निताश्रम स्थापित कर दिया। प्रेमा इनके
म्मुख भी अमृतराय की प्रशंसा किया करत

करने लगे। वे स्पष्ट रूप में उनके विरोधी हो गए। किन्तु अन्त में उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर ली और वे अमृतराय को वनिताश्रम के संचालन में यथा-शक्ति सहयोग देने लगे। इसमें एक प्रासंगिक कहानी एक पूर्णा नामक विधवा की भी चलती है, जिसके द्वारा वैधव्य-जीवन की कटुता पर प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः यह एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से लिखित रचना है। अमृतराय का चरित्र अन्त तक आदर्श रहता है। सारा उपन्यास विधवाओं की समस्या पर आधारित है। विधवा-समस्या का हल वनिताश्रम के रूप में दिया है।

(३) **सेवा-सदन**—'सेवा-सदन' की नायिका सुमन है, जो दारोगा कृष्णचन्द्र की कन्या थी। दारोगा कृष्णचन्द्र पहले रिश्वत नहीं लेते थे, किन्तु सुमन के विवाह के लिए उन्होंने ऐसा भी किया, किन्तु वे इस कला में प्रवीण न होने के कारण पकड़े गये और अन्त में उन्हे पाँच वर्ष के कारावास का दण्ड प्राप्त हुआ। कृष्णचन्द्र की पत्नी अपनी लड़कियों—सुमन और शान्ता—को साथ लेकर अपने भाई उमानाथ के यहाँ चली गई। दहेज के अभाव में सुमन का विवाह एक अधेड़ अवस्था के व्यक्ति—गजाधर से कर दिया गया। दोनों में अनबन रहती थी। सुमन के घर के सामने ही भोली-नामक वेश्या रहती थी। घर, समाज, मन्दिर एवं विभिन्न उत्सवों पर भोली के आदर-सम्मान को देखकर सुमन बहुत प्रभावित हुई। दूसरी ओर पद-पद पर पति के द्वारा अपमानित होकर वह यह सोचने को विवश हुई कि समाज में पत्नी का अधिक महत्त्व है या वेश्या का। एक बार सुमन गजाधर के मित्र पद्मसिंह के यहाँ किसी उत्सव में गई हुई थी, वहाँ से उसे घर लौटने में रात को बहुत देर हो गई। इस पर गजाधर ने उसे घर से निकाल दिया। वह पद्मसिंह के घर चली गई, किन्तु वे भी उसे अधिक दिन तक नहीं रख सके। अन्त में उसे भोली के यहाँ आश्रय प्राप्त हुआ और उसने वेश्या-जीवन की दीक्षा प्राप्त की।

आगे चलकर सुमन ने वेश्या-वृत्ति छोड़कर विधवा आश्रम में आश्रय प्राप्त किया, कि... पहले की वेश्या होने के कारण उसे वहाँ से निकाल दिया गया। वह अपनी छोटी ...न के पास रहकर पवित्रतापूर्वक जीवन बिताने लगी, किन्तु शान्ता के परि... उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। अन्त में उसने एक रात्रि शान्ता का ...र स्वामी गजानन्द की कुटिया में आश्रय लिया। ये स्वामी गजानन्द ... थे। दोनों ने मिलकर सेवा-सदन की स्थापना की!

...त में वेश्या-समस्या का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया ... बनने को क्यों विवश होती है? और फिर वह वेश्या-जीवन ... इन प्रश्नों का उत्तर 'सेवा-सदन' में मिलेगा। प्रेमचन्द जी ने ...का उत्तरदायित्व समाज पर डाला है। समाज मे नारी की ... के रूप में अधिक है। पत्नी के रूप में सुमन को जहाँ ... वहाँ वेश्या भोली को बड़े-बड़े वकील, प्रोफेसर, सर... भी लोग सम्मानपूर्वक घर बुलाते हैं। सुमन की ...एवं ऐश्वर्यपूर्ण है। अतः ऐसी स्थिति मे पति... वृत्ति अपना लेना स्वाभाविक है।

दूसरा प्रश्न है—वेश्याओं के सुधार का। इसमें भी हमारा समाज बाधक है। जब सुमन जैसी वेश्याएँ अपनी भूल को सुधारना चाहती हैं तो अपने कुल, परिवार एवं समाज से उन्हे कोई सहयोग नहीं मिलता। वेश्यावृत्ति छोड़ देने पर भी समाज में सुमन के लिए कोई स्थान नहीं है—यहाँ तक कि विधवाश्रम से भी उसे निकाल दिया जाता है। प्रेमचन्दजी ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए इस स्थिति की नारियों के लिए अलग सेवा सदन या सेवाश्रम स्थापित करने का सुझाव दिया है; किन्तु वह सुझाव बहुत उपयोगी नहीं है। पहले तो इतने अधिक सेवा-सदन स्थापित करने ही कठिन हैं, जिनमे सभी वेश्याओं को स्थान दिया जा सके। दूसरे, सेवा-सदन की समस्याएँ समाज से अलग ही रहेंगी। वे समाज में घुल-मिलकर उसका अंग नहीं बन सकेंगी। ऐसी स्थिति में 'सेवा-सदन' ही 'वेश्यालय' बन जाएँ तो क्या आश्चर्य है ? वस्तुतः जब तक हमारे समाज की स्थिति और उसका दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं हो जाता, तब तक इस समस्या का कोई व्यक्तिगत या सामाजिक हल प्रस्तुत करना कठिन है।

(४) **प्रेमाश्रम**—'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार के सम्बन्धों का चित्रण करते हुए एक जमींदार परिवार की कहानी प्रस्तुत की गई है। इसका प्रमुख पात्र ज्ञानशंकर है, जिसकी जमींदारी में लखनपुर गाँव है। वह अपने चाचा प्रभाशंकर के ही साथ रहता है, क्योंकि अभी उनमें बँटवारा नहीं हुआ था। ज्ञानशंकर के बड़े भाई प्रेमशंकर उच्च-शिक्षा के लिए अमेरिका चले गये थे। ज्ञानशंकर अत्यन्त स्वार्थी, कूटनीतिज्ञ एवं क्रूर व्यक्ति है। वह एक ओर अपने चाचा प्रभाशंकर और अपने बड़े भाई प्रेमशंकर की जमींदारी का हिस्सा हड़प लेना चाहता है, तो दूसरी ओर अपने किसानों से अन्यायपूर्वक अधिक-से-अधिक रकम प्राप्त कर लेना चाहता है। इतना ही नहीं, वह अपने ससुराल की जायदाद व सम्पत्ति के लिए भी प्रयत्न करता है वह अपनी विधवा साली गायत्री को प्रेम के डोरे डालकर अपने चंगुल में फँसा लेता है और उसकी जमींदारी को हस्तगत कर लेने का प्रयास करता है। इस प्रकार सारा उपन्यास ज्ञानशंकर के ही क्रिया-कलापों पर आश्रित है।

प्रभाशंकर पुरानी पीढ़ी के जमींदार के प्रतिनिधि हैं, जो किसानों के साथ सहानुभूति एवं भाईचारे का व्यवहार करते हैं, जबकि ज्ञानशंकर नई पीढ़ी के अत्याचारी जमींदारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रेमशंकर अपना सर्वस्व त्याग करके किसानों की सेवा के लिए 'प्रेमाश्रम' स्थापित करते हैं। ज्ञानशंकर का पुत्र मायाशंकर प्रेमचन्दजी के स्वप्नों का जमींदार है, जो कि अपने सारे अधिकार किसानों की सेवा में समर्पित कर देता है। इस प्रकार जमींदार कैसा था ? कैसा है ? और कैसा होना चाहिए ? इन तीनों प्रश्नों के उत्तर क्रमशः प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर और मायाशंकर के रूप में प्राप्त होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जमींदारों के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इस उपन्यास में हुआ है, वैसा किसी अन्य रचना में मिलना सम्भव नहीं।

(५) **रंगभूमि**—'रंगभूमि' लगभग एक हजार पृष्ठों का बृहत्काय उपन्यास है। इसमें घटनाओं की ऐसी बहुलता, कथानक की ऐसी विशदता और पात्रों की ऐसी प्रचु-

रता मिलती है कि पाठक स्तब्ध रह जाता है। 'गोदान' लिखने से पूर्व प्रेमचन्दजी ने इसे अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना था। इसमें कथा-वस्तु का केन्द्र मुख्यतः एक ईसाई कुटुम्ब है। इस कुटुम्ब के प्रधान हैं—मि० जान-सेवक जो कि पांडेपुर गाँव में एक सिगरेट का कारखाना स्थापित करना चाहते हैं। इस कारखाने के लिए वे सूरदास की जमीन प्राप्त करना चाहते हैं; किन्तु सूरदास उसे किसी भी मूल्य पर नहीं देना चाहता। सूरदास भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करता था। किन्तु साथ ही वह गाँव का सबसे अधिक परोपकारी, उदार एवं उच्च चरित्र का व्यक्ति था। वह अपनी जमीन गाँव की सेवा के लिए दान करना चाहता था। मि० जान-सेवक बड़े-बड़े अधिकारियों की सहायता से सूरदास की जमीन पर अधिकार प्राप्त कर लेने का प्रयत्न करते हैं। सूरदास अपने अधिकारों के लिए सत्याग्रह और संघर्ष करता हुआ आत्म-बलिदान कर देता है।

दूसरी कथा मि० जान-सेवक की लड़की कुमारी सोफिया से सम्बन्ध रखती है। वह नये विचारों की स्वाभिमानिनी लड़की है। एक बार वह कुँवर विनयसिंह को आग से बचाती हुई घायल हो जाती है। इस घटना के पश्चात् विनयसिंह और सोफिया परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। उनकी यह प्रेम-कहानी जीवन की अनेक परिस्थितियों को पार करती हुई आगे बढ़ती है। सोफिया के माता-पिता उनका विवाह मजिस्ट्रेट क्लार्क से करना चाहते हैं। किन्तु सोफिया जीवन-भर विनयसिंह की सहायता करती रहती है और अन्त में विनयसिंह के आत्म-बलिदान के अनन्तर आत्म-हत्या कर लेती है।

वस्तुतः इस उपन्यास का लक्ष्य त्याग, प्रेम और बलिदान के आदर्श को प्रस्फुटित करना है। सूरदास तत्कालीन लोक-नेता महात्मा गांधी की ही प्रतिमूर्ति है, जो कि अपने अधिकारों के लिए बड़ी-से-बड़ी शक्ति से भी संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत है। त्याग और बलिदान ही उसके सबसे बड़े शस्त्र हैं। मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ भी वह शासक वर्ग से कहता है—"....तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीवनेवालों का धर्म नहीं? तुम्हारा धर्म तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मैदान से तो नहीं भागे, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी; अवश्य होगी।" प्रेमचन्दजी की यह भविष्यवाणी २५ वर्ष पश्चात् ही सत्य प्रमाणित हो गई।

सोफिया और विनय का प्रेम कुटुम्ब के लोगों, समाज के नियमों एवं धर्म के आदर्शों से समर्थित न होता हुआ भी सच्चा है, पवित्र है और महान् है। दोनों के प्रणय की गम्भीरता एवं पवित्रता के प्रमाण में उनके ये शब्द देखे जा सकते हैं—"तुम मेरे लिए आदर्श हो। तुम्हारे प्रेम का आनन्द मैं कल्पना के द्वारा ही ले सकता हूँ। डरता हूँ कि तुम्हारी दृष्टि में गिर न जाऊँ। अपने को कहाँ तक गुप्त रखूंगा? तुम्हें पाकर मेरा जीवन नीरस हो जायगा, मेरे लिए उद्योग और उपासना की कोई वस्तु न रह जायगी।" (विनय) दूसरी ओर सोफिया का विश्वास है—"प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना से ही उसका पोषण होता है, भावना ही से जीवित रहता है और भावना से ही लुप्त हो

जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। तुम मेरे हो, यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सहिष्णु रखने के लिए काफी है।"

(६) **कायाकल्प**—'कायाकल्प' में सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलते रहनेवाले प्रेम की एक अद्भुत कहानी का वर्णन किया गया है चक्रधर नामक एक युवक एम० ए० करने के अनन्तर जगदीशपुर के दीवान ठाकुर हरि-सेवक सिंह की पुत्री मनोरमा के शिक्षक नियुक्त हो जाते हैं। मनोरमा चक्रधर से प्रेम करने लगती है। उधर चक्रधर किसी कार्य से आगरा जाते हैं, जहाँ अहिल्या नामक युवती उनकी ओर आकर्षित होती है। उनका अभिभावक यशोदा-नन्दन चक्रधर का विवाह अहिल्या से निश्चित कर लेता है। आगे चलकर दोनों का विवाह हो जाता है। और उनके एक पुत्र होता है जिसका नाम शंखधर रखा गया। मनोरमा की बीमारी का तार पाकर चक्रधर अपने पुत्र व पत्नी के सहित उसके पास पहुँचते हैं। चक्रधर के आने से मनोरमा स्वस्थ होने लगती है।

चक्रधर की पत्नी अहिल्या वस्तुतः जगदीशपुर के राजा की ही लड़की थी, जो बचपन में खो गई थी, इस तथ्य का प्रमाण मिलने पर अहिल्या को राज्य का भाग प्राप्त हो गया। किन्तु राज्य-प्राप्ति के अनन्तर अहिल्या अपने पति और पुत्र की उपेक्षा करने लगी। अन्त में अहिल्या की मृत्यु हो जाती है।

दूसरी कहानी जगदीशपुर की महारानी देवप्रिया से सम्बन्ध रखती है। उसका विवाह महेन्द्रसिंह से हुआ था, किन्तु विवाह की प्रथम रात्रि में ही उनका देहान्त हो जाता है। अगले जन्म में वे ही विक्रमसिंह के रूप में अवतरित हुए और महारानी देवप्रिया से मिले, किन्तु उनका पुनः देहावसान हो गया। इसके अनन्तर वे शंखधर के रूप में अवतरित हुए और चिर-संगिनी देवप्रिया से मिले। इस प्रकार यह उपन्यास अनेक अलौकिक और अस्वाभाविक घटनाओं से परिपूर्ण है। इसमें आंशिक रूप से हिन्दू-मुस्लिम दंगों की समस्या का चित्रण हुआ है। यदि लेखक को पुनर्जन्म की गुत्थी सुलझाने का शौक न होता तो यह उपन्यास भाव, भाषा एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सफल रचना सिद्ध हो सकता था, किन्तु आध्यात्मिक चमत्कारों ने इसके वैभव को श्रीहीन कर दिया है।

(७) **गबन**—इसमें एक मध्यवर्गीय परिवार की परिस्थितियों का चित्रण यथार्थ-वादी शैली में हुआ है। रामनाथ एक म्युनिसिपल आफिस का कर्मचारी है। उसका विवाह जालपा से हुआ था। अपनी पत्नी की आभूषण-प्रियता को तुष्ट करने के लिए रामनाथ सरकारी रकम गबन करके उसे चंद्रहार बनवा देता है। आगे चलकर गिरफ्तारी के भय से वह कलकत्ता भाग जाता है, किन्तु किसी अन्य कारण से वहाँ गिरफ्तार हो जाता है। अन्त में जालपा की सहायता से वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इसमें स्त्रियों के आभूषण-प्रेम एवं मध्यवर्गीय पुरुषों के मिथ्या आत्म-प्रदर्शन का दुष्परिणाम दिखाया गया है। डॉ० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"समाज के सच झूठ के मान, उसके दिखावे की भावना, उसकी न्याय-भावना का खोखलापन, उसके प्रेम और ईश्वर-विश्वास की खिल्ली जैसी इस उपन्यास में मिलेगी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।"

(८) **निर्मला**—इस छोटे से उपन्यास में दहेज प्रथा एवं अनमेल विवाह की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। निर्मला की विधवा माँ दहेज देने में असमर्थ होने के कारण उसका विवाह अधेड़ अवस्था के एक विधुर तोताराम से कर देती है। तोताराम की पहली पत्नी से तीन संतानें थीं तथा उनका सबसे बड़ा लड़का निर्मला की आयु का था। अतः तोताराम अपने इस बड़े पुत्र और निर्मला के सम्बन्ध को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। इस सन्देहशीलता के परिणाम से अन्त में सारा घर चौपट हो जाता है। निर्मला की मृत्यु के साथ-साथ उपन्यास की समाप्ति हो जाती है।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। आदि से अन्त तक वह यथार्थवादी ही रहता है। यहाँ से उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन परिलक्षित होता है।

(९) **कर्मभूमि**—इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार, किसानों के उत्थान आदि की प्रेरणा दी गई है। इसका नायक अमरकान्त है, जो कि विवाहित होते हुए भी एक मुस्लिम कन्या सकीना से प्रेम करता है। आगे चलकर वह देश-सेवा के कार्य में लग जाता है और सकीना को भी इसकी प्रेरणा देता है। पीड़ितों, दलितों एवं अछूतों के हित के लिए वह कई यातनाएँ भुगतता है। वह एक बार किसानों के आन्दोलन का नेतृत्व करता है। फलस्वरूप जेल चला जाता है। अमरकान्त के प्रभाव से उसका मित्र सलीम, जो कि आई० सी० एस० होकर उस जिले का अधिकारी बन चुका था, सरकारी सर्विस छोड़कर किसानों की सेवा में लग गया। अन्त में किसानों का आन्दोलन सफल हो गया। गवर्नर ने पाँच व्यक्तियों की कमेटी नियुक्त कर दी, जिसमें अमरकान्त और सलीम भी सम्मिलित थे। इस कमेटी को किसानों की माँगों के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार दे दिया गया। वस्तुतः इस उपन्यास में तत्कालीन आन्दोलन की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप में अंकित हुई है।

(१०) **गोदान**—प्रेमचन्दजी का अन्तिम उपन्यास 'गोदान' है, जो उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसका नायक होरी है, जो कि भारतीय किसानों का प्रतिनिधि है। उसका पुत्र गोबर भारतीय मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता है। होरी जीवन के आरम्भ से लेकर अपनी अन्तिम श्वास तक भरपूर मेहनत करता है, किन्तु फिर भी वह अपने बच्चों को पेट-भर रोटी नहीं खिला सकता। जमींदार, महाजन, पटवारी, पुजारी, पुरोहित, पुलिसवाले आदि-आदि किस प्रकार किसानों के पसीने की कमाई को हड़प कर जाते हैं, इसका सजीव चित्रण होरी की जीवन-गाथा में हुआ है। उसके जीवन की एक छोटी-सी आकांक्षा है—अपने द्वार पर गौ बाँधना। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह छल और बल दोनों का प्रयोग करता है, किन्तु वह उसे कभी पूरी नहीं कर पाता। मृत्यु के अनन्तर भी यही आकांक्षा 'गोदान'—ब्राह्मण को गोदान—के रूप में उपस्थित होती है। अभागे होरी को वैतरणी पार करने के लिए सवा रुपये की कृत्रिम गौ प्राप्त होती है।

'गोदान' में शोषित वर्ग के जीवन की समस्याओं का चित्रण मार्मिक रूप में किया गया है, किन्तु पूर्ववर्ती उपन्यासों की भाँति इसमें लेखक ने कोई समाधान प्रस्तुत

करने का प्रयत्न नहीं किया है। इसका नायक भी आदर्श महामानव न होकर एक साधारण किसान है, जिसके व्यक्तित्व और चरित्र में अनेक दुर्बलताएँ विद्यमान हैं। अस्तु, गोदान में प्रो० मेहता के चरित्र को छोड़कर शेष पात्रों के चित्रण में प्रायः यथार्थ-वादी दृष्टिकोण को ही प्रमुखता मिली है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का दूसरा परिणाम यह है कि उपन्यास की परिणति दुखपूर्ण स्थिति में हुई है। जहाँ पूर्ववर्ती उपन्यासों में जन-आन्दोलनों की अन्त में सफलता दिखाई गई है, वहाँ 'गोदान' के मजदूरों की (खन्ना के मिल में काम करनेवाले) पूँजीपति के विरुद्ध संघर्ष में पराजय होती है। अस्तु, 'गोदान' का लेखक 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' के स्थान पर शुद्ध यथार्थवादी रह गया है—हाँ, नग्न यथार्थवादिता से वह अवश्य दूर है।

'गोदान' समाजवादी रचना है या गांधीवादी ? इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। 'गोदान' के समस्त पात्र दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—शोषक एवं शोषित। प्रायः सभी शोषित वर्ग के पात्रों के प्रति लेखक की सहानुभूति है। उसने श्रमिक वर्ग के अधिकारों की वकालत स्थान-स्थान पर की है। किसान-मजदूरों की मेहनत पर पलनेवाले जमीदारों, सूदखोर, महाजनों, पण्डे व पुजारियों तथा मिल-मालिकों के जीवन की आलोचना प्रेमचन्दजी ने इस रचना में उसी कटुता से की है, जिस कटुता से कोई साम्यवादी या समाजवादी लेखक कर सकता है। गांधीवाद साधनों—सत्याग्रह एव जन-आंदोलनों की सफलता में भी उन्हें अब विश्वास नहीं रहा है, अतः ऐसी स्थिति में इसे 'समाजवादी' रचना मान लेना सम्भव है। किन्तु गांधीवाद के कुछ चिन्ह अब भी अवशिष्ट हैं। मि० मेहता की उदारता और उनके प्रभाव से मिस मालती का हृदय-परिवर्तन गांधीवादिता का ही प्रमाण है।

यद्यपि 'गोदान' में कुछ दोष ढूंढे जा सकते हैं, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह एक उत्कृष्ट रचना है। यदि उसे अपने युग का सर्वोत्कृष्ट हिन्दी उपन्यास भी कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

[वस्तुतः प्रेमचन्दजी का उपन्यास-साहित्य अपने युग की परिस्थितियों एवं उसकी समस्याओं का सच्चा दर्पण है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते है तो प्रेमचन्दजी से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बैङ्कों तक, गाँव से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेंड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किए बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वार-वनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल-हृदय बैङ्करों को, साहस-परायणा चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है, वह गलत नहीं है।" (हिन्दी-साहित्य : पृ० ४३५)

कुछ आलोचक प्रेमचन्दजी की तुलना बँगला के रवीन्द्र और शरत् से करते हुए उन्हें कुछ हीन सिद्ध करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भावों की मार्मिकता एवं कला की सूक्ष्मता की दृष्टि से प्रेमचन्द इनसे जरा पीछे हैं, किन्तु भारतीयता का जैसा व्यापक स्वरूप, अपने राष्ट्र की समस्याओं का जैसा गम्भीर चित्रण व अपने युग का जैसा सच्चा इतिहास प्रेमचन्द में मिलता है, वह रवि और शरत् में ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। जहाँ बंगाली लेखकों की दृष्टि बंगाली समाज तक ही सीमित रही है, वहाँ प्रेमचन्द ने भारत की कोटि-कोटि जनता को एकता का सन्देश दिया है। "वस्तुतः बंग-साहित्य और प्रेमचन्द-साहित्य में वही अन्तर है, जो सूर-साहित्य और तुलसी-साहित्य में है। एक में जीवन के कुछ चुने हुए सरस पक्षों का ही दिग्दर्शन है और दूसरे में सम्पूर्ण जीवन का।"

: तिरसठ :

परम्परा और युग-धर्म के संयोजक : मैथिलीशरण गुप्त

१. विकासवाद के नियम में परम्परा और युग-धर्म का स्थान।
२. आधुनिक युग की समस्या।
३. वैष्णव-परम्परा से सम्बन्धित काव्य।
४. अन्य परम्पराएँ।
५. सांस्कृतिक परम्पराओं के पुनराख्याता।
६. मूल्यांकन।

विकासवाद के नियमों के अनुसार किसी भी समाज, राष्ट्र या भौतिक सत्ता का विकास परम्परा और युग-धर्म के पारस्परिक संयोजन एवं संश्लेषण से होता है; जिस प्रकार एक वृक्ष के आविर्भाव एवं विकास के लिए परम्परा रूपी बीज एवं युग-धर्म की जलवायु अपेक्षित है, वैसे ही समाज और राष्ट्र के विकास के लिए इन दोनों—परम्परा और युग-धर्म—का समन्वय अपेक्षित है। जब-जब हमारी परम्पराएँ युग-धर्म के अनुकूल होती हैं तो वे सहज गति से विकासोन्मुख रहती हैं तथा उनके साथ-साथ समाज का भी विकास होता रहता है, किन्तु जब इन दोनों में समय के प्रभाव से प्रतिकूलता आ जाती है तो समाज के विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे समय में कोई महान् पुरुष अवतरित होता है, जो परम्परा को नया रूप प्रदान करके उन्हें युग-धर्म के अनुकूल बनाता है। महापुरुष, महान् चिन्तक और महाकवि परम्परा और युग-धर्म के बीच की खाई को पाटते हुए अपने युग, समाज और राष्ट्र को कोई नई गति प्रदान करते हैं—इसी लिए उन्हें युगावतार कहा जाता है। हमारे विचार से आधुनिक भारत में धर्म के क्षेत्र में विवेकानन्द, दयानन्द और अरविन्द ने, राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी ने तथा साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु, रवीन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त ने परम्पराओं और युग-धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए युगावतार का कार्य किया। यहाँ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर विशेष रूप से विचार करते हुए उपर्युक्त मान्यता को संतुष्ट एवं स्पष्ट किया जाता है।[१]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त (१८८७-१९६४ ई०) के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ ये हैं—'रंग में भंग' (१९०९), 'जयद्रथ वध' (१९१०), 'भारत-भारती' (१९१२), 'किसान' (१९१७), 'शकुन्तला' (१९२३), 'पंचवटी' (१९२५), 'अनघ' (१९२५), 'हिन्दू' (१९२७), 'त्रिपथगा' (१९२८), 'शक्ति' (१९२८), 'गुरुकुल' (१९२९), 'विकट भट' (१९२९), 'साकेत' (१९३२), 'यशोधरा' (१९३३), 'द्वापर' (१९३६), 'सिद्धराज'

विवेच्य विषय पर आने से पूर्व हमें दो बातें भली भाँति स्पष्ट कर लेनी चाहिए —(१) मैथिलीशरण गुप्त के समय हमारी परम्पराओं का स्वरूप और उनकी स्थिति क्या थी, (२) उस समय की परिस्थितियाँ (युग-धर्म) क्या थीं। यदि आधुनिक युग से तनिक पीछे हटते हुए हम मध्यकालीन भारत की स्थिति पर परम्पराओं की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि वह युग भावात्मकता का युग था। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से भारत के राजनीतिक पतन के साथ-साथ मानसिक पतन भी आरम्भ हो गया था और पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय समाज-शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, तर्क-बुद्धि एवं बौद्धिकता से प्रायः शून्य हो गया था और उसका स्थान भावात्मकता ने ग्रहण कर लिया था। ऐसी स्थिति में हमारे सन्तों ने अपनी तर्क-पूर्ण विचारधारा द्वारा भारत की बौद्धिक चेतना को जगाने का प्रयास किया, किन्तु इसमें उन्हें स्थायी सफलता नहीं मिल सकी। इसके विपरीत भक्तकवियों ने युग-मानस के अनुकूल धर्म, दर्शन और सदाचार को एक ऐसा रूप प्रदान किया, जिसे भावात्मक कहा जा सकता है। जिसे 'भक्ति-आन्दोलन' कहा जाता है, वह बौद्धिकता के स्थान पर भावात्मकता की प्रतिष्ठा का आन्दोलन था। इस आन्दोलन के द्वारा इतिहास, पुराण, दर्शन, धर्म, नीति, सदाचार आदि सभी को भावात्मकता के रंग में रँग दिया गया। आधुनिक दृष्टि से इस भावात्मकता को प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता, किन्तु उस युग की परिस्थितियों को देखते हुए इसी की आवश्यकता थी। कारण यह है कि एक तो उस युग में बौद्धिकता ग्राह्य नहीं थी और दूसरे बौद्धिकता में विधर्मी शासकों के अत्याचारों को सहने, उनसे संघर्ष करने एवं आत्म-त्याग, बलिदान करने की वैसी क्षमता नहीं होती, जैसी कि भावात्मकता में होती है। अस्तु, यहाँ अधिक विस्तार में न पड़कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मध्यकाल में भक्तकवियों ने हमारी समस्त परम्पराओं को युग की आवश्यकताओं के अनुरूप भावात्मक रूप प्रदान करके अपने युग और समाज को नई शक्ति और नई गति प्रदान की—भारतीय समाज और संस्कृति को यह उनकी सबसे बड़ी देन मानी जा सकती है।

आधुनिक युग की आवश्यकताएँ मध्य-युग के विपरीत थीं। यह युग भावात्मकता का नहीं—बौद्धिकता का है। अतः अब आवश्यकता इस बात की थी कि जिन परम्पराओं को पहले भावात्मक रूप प्रदान किया गया, अब उन्हें, बौद्धिक रूप दिया जाए, अन्यथा उनका लोप हो जाना संभव था। संभवतः कुछ लोग, जो नूतनता के अन्ध-भक्त हैं, परम्पराओं को नया रूप देने की अपेक्षा नई प्रवृत्तियों को अपनाना अधिक उचित समझें, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा सोचना ठीक नहीं। किसी भी समाज और राष्ट्र के लिए परम्पराओं से विच्छिन्न होना वैसा ही है, जैसा कि वृक्ष का जड़ से कटकर अलग हो जाना है। केवल फूल और फल की आकांक्षा रखनेवाला परम्परा रूपी जड़ को अनावश्यक घोषित करता हुआ उसे काट फेंक देने की बात सोच सकता है, किन्तु

(१९३६), 'नहुष' (१९४०), 'कुणाल गीत' (१९४२), 'काबा और कर्बला' (१९४२), 'पृथिवी पुत्र' (१९५०), 'प्रदक्षिणा' (१९५०), 'जय भारत' (१९५२), विष्णुप्रिया' (१९५७)।

ऐसा करना दुस्साहस ही सिद्ध होगा। हमारा समस्त भौतिक जीवन जिस प्रकार सूक्ष्म मन के क्रिया-व्यापारों से चालित होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म मन के भी अनेक स्तर हैं, जिन्हें स्थूल रूप से चेतन और अचेतन कहा जा सकता है। हमारा सीधा सम्बन्ध चेतन मन से है, किन्तु चेतन मन की सारी शक्ति अचेतन मन में निहित है। वस्तुतः अचेतन चेतन से हजारों गुना शक्तिशाली है। जहाँ चेतन मन के पास केवल नव अर्जित ज्ञान है, वहाँ अचेतन के पास अतीत की परम्पराओं के वे संस्कार सुरक्षित हैं, जिनके अर्जन में मनुष्य को करोड़ों वर्ष की यात्रा करनी पड़ी। हमारा कोई भी नया ज्ञान या विचार तब तक प्रवृत्ति और भावना का रूप धारण नहीं कर पाता, जब तक कि वह अचेतन की परम्पराओं से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेता। अतः व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को गति प्रदान करने के लिए परम्पराओं की थाती को सँभाले रखना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा हमारी स्थिति वैसी ही हो जाएगी जैसी कि कोई व्यक्ति एक नई चमकती हुई चवन्नी के लिए—अपने पूर्वजों की समस्त स्वर्ण-मुद्राओं को आज के युग में अप्रचलित मानकर—सौंप दे।

अस्तु, आधुनिक युग की समस्या का समाधान परम्पराओं से मुक्ति पाने में नहीं अपितु उन्हें युग-धर्म के अनुरूप नया रूप प्रदान करने में निहित था। जिन परम्पराओं पर मध्यकाल में भावुकता का मुलम्मा चढ़ चुका था, उसे उतारकर अब बौद्धिकता का रंग प्रदान करना वांछनीय था, पुराने सत्य को अब नई भाषा में प्रस्तुत करना था। इस लक्ष्य की आंशिक पूर्ति विभिन्न क्षेत्रों में विवेकानन्द से गांधी तक विभिन्न महापुरुषों द्वारा हो चुकी थी। उनके द्वारा सत्य का अनुवाद नई भाषा में हो चुका था, किन्तु वह भाषा दर्शन की थी, उसकी शैली गद्य की थी, अतः लोक-हृदय में उसकी प्रतिष्ठा भली-भाँति नहीं हो पाई थी। विचारक, दार्शनिक और राष्ट्र-नेता की वाणी को जब तक काव्य का आवरण प्राप्त नहीं होता, तब तक वह हमारे चारों ओर गूँजती हुई भी हृदय की गहराई तक नहीं पहुँच पाती। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरणों में यह कार्य हिन्दी में मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त द्वारा सम्पन्न हुआ, इसीलिए उन्हें 'राष्ट्रकवि' के पद से भूषित किया जाता है।

आज के बौद्धिक वातावरण में हम धार्मिकता को अपना आदर्श बताने में, रामायण-महाभारत को अपनी आस्था का आधार मानने में और इतिहास-पुराण के आत्मबलिदानी पात्रों को अपना प्रेरणा-स्रोत स्वीकार करने में भले ही संकोच करें, किन्तु भारत की बहुसंख्यक जनता के हृदय में आज भी रामायण-महाभारत की कथा और राम-कृष्ण का चरित जिस गहराई से अंकित है, उस गहराई से कोई और कथा और पात्र नहीं है। पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा बहु-प्रशंसित अशोक, चाणक्य, अकबर आदि की महानता को हमारी बुद्धि स्वीकार करती है, किन्तु हमारे हृदय की प्रवृत्ति एवं भावना का उच्चावेग उस ओर नहीं है। हमारे लोक-हृदय की तन्त्री को झंकृत कर देने की जो क्षमता राम-कृष्ण की लीलाओं में है, वह किसी अन्य गाथा में नहीं है। इसलिए भारत का प्रत्येक महाकवि भले ही वह संस्कृत का वाल्मीकि हो, अपभ्रंश का स्वयंभू या हिन्दी का तुलसीदास हो, जब अपना सन्देश जन-हृदय की गहराई तक पहुँ-

चाना चाहता है, तो वह राम-कृष्ण की ही गाथा का आश्रय लेता है। यही बात मैथिलीशरण गुप्त पर भी लागू होती है। वे चाहते तो शायद नई कथाओं और नए पात्रों की अवतारणा कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनके काव्य-ग्रन्थ (कुछ अपवादों को छोड़कर) रामायण-महाभारत पर ही आधारित हैं। उन्होंने राम, भरत, लक्ष्मण, कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु, द्रौपदी, शकुन्तला, सीता आदि उन्हीं पात्रों की कहानी को पुनः कहा है, जिनकी कथा पहले कई बार कही जा चुकी थी। अवश्य ही इस दृष्टि से उन पर मौलिकता के अभाव का आक्षेप लगाया जा सकता है, उन पर ही नहीं—यह आक्षेप सूर-तुलसी पर भी लगाया जा सकता है, किन्तु हम जानते हैं, इन कवियों का लक्ष्य मौलिकता नहीं, कुछ और था, और उस लक्ष्य की पूर्ति इन पुराने कथानकों द्वारा ही संभव थी, अतः इस आक्षेप का कोई महत्व नहीं है। एक चिकित्सक अर्द्ध-मृत शिशु के बदले नए शिशु की व्यवस्था कर सकता है, किन्तु उसकी सफलता इसमें नहीं समझी जाती, उसकी सफलता मरणोन्मुख शिशु को ही नया जीवन प्रदान करने में है। सूर, तुलसी, गुप्त भी अपने युग के सफल चिकित्सक थे, उन्होंने सर्वथा नूतन की प्रतिष्ठा करने के स्थान पर परम्परागत तत्वों को ही नया जीवन प्रदान करने मे अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया और यही श्रेयस्कर भी था।

अस्तु, मैथिलीशरण गुप्त ने सबसे पहला कार्य उन समस्त ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रों को नया रूप देने का किया, जो कि भारत की गौरवपूर्ण परम्पराओं के प्रतिनिधि थे तथा जिनका भारतीय लोक-मानस में गहरा स्थान था। गुप्तजी के काव्य में किन-किन धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व विद्यमान है, इसे स्पष्ट करने के लिए उनके ग्रन्थों की एक वर्गीकृत तालिका यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत की जाती है—

१. वैष्णव परम्परा से सम्बन्धित काव्य—

(क) रामायण पर आधारित—साकेत, पंचवटी, प्रदक्षिणा।

(ख) महाभारत पर आश्रित—जयद्रथ-वध, शकुन्तला, सैरन्ध्री, तिलोत्तमा, वन-वैभव, वक-संहार, हिडिम्बा, जयभारत, युद्ध आदि।

(ग) भागवत पुराण तथा अन्य पुराणों पर आश्रित—चन्द्रहास, द्वापर, नहुष, पृथिवीपुत्र।

(घ) मध्यकालीन राजपूत-संस्कृति से सम्बन्धित—रंग में भंग, विकटभट, सिद्धराज।

(ङ) मध्यकालीन भक्त-चरित्र—विष्णुप्रिया।

२. बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित—यशोधरा।

३. शाक्त परम्परा से सम्बन्धित—शक्ति।

४. सिक्ख परम्परा से सम्बन्धित—गुरुकुल।

५. मुस्लिम परम्परा से सम्बन्धित—काबा और कर्बला।

६. आधुनिक व्यक्तियों एवं समस्याओं से सम्बन्धित मौलिक (कल्पनाश्रित)

काव्य—भारत-भारती, किसान, अनघ, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, मंगलघट, अर्जन-विसर्जन अजित, अंजलि और अर्घ्य, राजा-प्रजा आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरण विश्लेषण से अनेक तथ्य भलीभाँति स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि गुप्तजी के काव्य में भारत की प्रायः सभी प्रमुख धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व विद्यमान है। अवश्य ही इनमें वैष्णव-हिन्दू परम्परा को, और उसमें भी महाभारत को प्रमुखता प्राप्त है, किन्तु बौद्ध, शाक्त, सिक्ख, मुस्लिम आदि परम्पराओं को भी प्रतिनिधित्व देकर भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं का अद्यतन विकास प्रस्तुत कर दिया गया है। वैष्णव परम्पराओं के अन्तर्गत भी भारतीय इतिहास के प्रायः सभी प्रमुख अध्यायों का दिग्दर्शन करवाया गया है। गुप्तजी स्वयं वैष्णव परम्परा के अनुयायी थे, किन्तु इतर परम्पराओं को भी उन्होंने पूर्ण सहृदयता से स्थान प्रदान करते हुए उसी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय दिया है, जो मध्यकाल में तुलसीदास में दृष्टिगोचर होती है। पर तुलसीदास का प्रयास केवल हिन्दू-संस्कृति के ही विभिन्न पक्षों के समन्वय तक सीमित था; जबकि गुप्तजी हिन्दू-विरोधी संस्कृतियों को भी अपनी सहानुभूति प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से मैथिली-शरण गुप्त का दृष्टिकोण तुलसीदास की अपेक्षा अधिक व्यापक सिद्ध होता है, किन्तु इस व्यापकता का श्रेय आंशिक रूप में उस युग-धर्म को है, जिसमें गुप्तजी ने साँस ली। दूसरे, गम्भीरता की दृष्टि से तुलसीदास मैथिलीशरण की अपेक्षा बहुत आगे हैं। तुलसीदास का प्रत्येक शब्द उनकी आत्मानुभूति से ओत-प्रोत है। जहाँ उनकी आत्मा साथ नहीं देती, वहाँ वे इसे निःसंकोच रूप में प्रकट भी कर देते है, यथा, निर्गुणवादी सन्तों के लिए वे एक स्थान पर अशिष्ट शब्दावली तक का प्रयोग करते हुए लिख देते हैं—'तुलसी अलखहिं का लखै, राम नामु जपु नीच'। इसके विपरीत मैथिलीशरण गुप्त सबके साथ निर्वाह कर लेते हैं। इस निर्वाह करने में उन्हे कहीं-कहीं अपनी आत्मा की आवाज को भी दबाना पड़ा होगा—ऐसा कहना अनुचित नहीं है।

सांस्कृतिक परम्पराओं के पुनराख्याता के रूप में यहाँ तुलसीदास और मैथिली-शरण गुप्त की तुलना करते समय हमें एक बात और न भूल जानी चाहिए। तुलसीदास ने अपने पुनराख्यान में जिस दृष्टि का परिचय दिया, वह उनकी अपनी थी, उन्होंने विभिन्न स्रोतों से सामग्री ग्रहण करते हुए भी अन्त में जो समन्वित रूप उसे प्रदान किया है, वह उनका निजी है, मौलिक है। मध्यकाल में तुलसी के अतिरिक्त और भी कई महान् चिन्तक, संत, भक्त आदि हुए, पर फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदास का समन्वयवादी दृष्टिकोण इनमें से किसी से ज्यों का त्यों उधार लिया हुआ था : जबकि इसके विपरीत मैथिलीशरण गुप्त के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में गुप्तजी ने जिस समन्वयवादिता का परिचय दिया, वह बहुत कुछ युग-नेता महात्मा गांधी से प्रभावित या अनुकृत थी। राम-रहीम की एकता का जो सन्देश गांधी द्वारा अन्य क्षेत्रों में गुञ्जित हुआ, उसी की प्रतिध्वनि गुप्तजी के काव्य में मिलती है। अस्तु, तुलसी के संदेश में जहाँ उनके अपने चिन्तन-मनन की ध्वनि है, वहाँ गुप्तजी में प्रतिध्वनि है—इसी अन्तर के कारण गुप्तजी में अपने व्याख्यान के प्रति वैसी निष्ठा

और गम्भीरता नहीं मिलती, जो तुलसी में है। वस्तुतः तुलसीदास अपने-आपमें लोक-नायक थे, जबकि मैथिलीशरण गुप्त किसी लोकनायक के सच्चे अनुयायी। दोनों की स्थिति का यही अन्तर दोनों की व्याख्याओं में प्रतिध्वनित होता है।

गुप्तजी के सामने एक समस्या और थी, जो तुलसी के सामने प्रायः नहीं थी, वह यह कि गुप्तजी के समय पूर्व-परम्पराओं और युग-धर्म में बहुत बड़ा विरोध उपस्थित हो गया था—दोनों के बीच की खाई बहुत अधिक चौड़ी हो गई थी, जबकि तुलसी के सामने ऐसा नहीं था। तुलसी का कार्य एक ही दिशा की ओर प्रवहमान विभिन्न परम्पराओं में संगति बिठाते हुए उन्हें भावात्मक रूप प्रदान करने का था, जबकि गुप्तजी का लक्ष्य परस्पर विरोधी परम्पराओं में समन्वय स्थापित करने के साथ-साथ उन्हें नई दिशा—भावात्मकता से बौद्धिकता की दिशा—में अग्रसर करने का था, अतः निःसन्देह गुप्तजी का कार्य अधिक कठिन था। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही गुप्तजी की कठिनाइयों और उनकी उपलब्धियों के महत्त्व को समझा जा सकता है।

उपर्युक्त दृष्टि से मूल्यांकन करने के लिए गुप्तजी के द्वारा गृहीत प्रत्येक परम्परा पर अलग-अलग विचार करना ठीक होगा। सर्वप्रथम वैष्णव-परम्परा को लीजिए। इसमें उन्होंने मुख्यतः रामायण, महाभारत, पुराणादि को आधार बनाया, पर यह आधार ही बीसवीं शताब्दी के लिए सन्देहास्पद हो गया था। पौराणिक इतिवृत्त, दैवी आख्यान, अलौकिक कार्य-व्यापार, अवतारवाद आदि पर इस युग के बौद्धिकतापरक आन्दोलनों द्वारा प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा चुका था। पर फिर भी भारतीय हृदय से रामायण, महाभारत एवं पुराण निष्कासित नहीं हुए थे, पर जो हमारे हृदय में था, उसी पर हमारा मस्तिष्क अविश्वास करने लगा था। गुप्तजी ने अपने काव्यों में इस समस्यामूलक स्थिति का समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने पौराणिक आख्यानों के अति-प्राकृत एवं अलौकिक तत्त्वों की तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्हें एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो आज के पाठक को स्वीकार्य हो सके। परम्परागत अवतारों और दैवी पात्रों को भी उन्होंने मानवीय औदात्य के गुणों से विभूषित किया जिससे वे हमारे कौतूहल-आश्चर्य के आलम्बन न रहकर श्रद्धा के पात्र बन सकें। इसी प्रकार उनके क्रिया-कलापों और विचारों की भी उन्होंने ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की, जो आधुनिक युग के नैतिक मूल्यों के अनुरूप सिद्ध हो। मध्यकालीन इतिहास के राजपूत वीरों के शौर्य्य का चित्रण करते समय भी उन्होंने उसे आत्म-गौरव, स्वाभिमान, आत्म-त्याग और बलिदान की भावनाओं से मण्डित किया, अन्य कतिपय इतिहासकारों की भाँति उन्होंने उसे केवल मिथ्याभिमान, दुराग्रह एवं हठवादिता के परिणाम के रूप में ग्रहण नहीं किया। राजपूतों के आत्म-सम्मान की संकीर्ण भावना को गुप्तजी ने व्यापक रूप में प्रस्तुत किया। अस्तु; रामायण, महाभारत, पुराण, इतिहास आदि के पात्रों को गुप्तजी ने एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो परम्परा से बहुत भिन्न न होते हुए भी युग-धर्म के अनुकूल सिद्ध होता है।

बौद्ध, शाक्त, सिक्ख, मुस्लिम आदि परम्पराओं के चित्रण में भी गुप्तजी ने व्यापक मानवता एवं चारित्रिक औदात्य को ही अपना दृष्टि-केन्द्र रखा है। किसी भी धर्म

से सम्बन्धित चाहे कोई भी अवतार, पैगम्बर, गुरु या नेता हो, वह श्रद्धेय एवं पूज्य है, यदि उसने लोकहित के लिए कोई कार्य किया है या मानवता का कोई ऊँचा आदर्श उसने प्रस्तुत किया है। साम्प्रदायिकता की संकीर्णता या वर्ग-भेद के क्षुद्र भाव गुप्तजी के मार्ग में बाधक नहीं बनते। बुद्धि अतिशयोक्तियों एवं अलौकिकताओं से प्रभावित नहीं होती—वह गुणों की शुद्ध परख, नापतौल एवं महत्त्व के वास्तविक बोध से आह्लादित होती है। आज के बौद्धिक युग को प्रभावित, प्रेरित एवं तरंगित करने के लिए भी इन्हीं गुणों की अपेक्षा है। मैथिलीशरण गुप्त ने इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति की सभी गौरवपूर्ण परम्पराओं का पुनराख्यान नई भाषा और नयी शैली में किया—उन्होंने अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता की, अत्युक्ति के स्थान पर स्वाभाविकता की, दिव्यता के स्थान पर मानवीयता की, चमत्कार के स्थान पर औदात्य की प्रतिष्ठा करते हुए परम्परा और युग-धर्म के बीच समन्वय स्थापित किया। युग-धर्म के समन्वय के अभाव में परम्पराएँ जड़ हो गई होतीं तो परम्पराओं के अभाव में युग-धर्म खोखला रहता—गुप्तजी ने दोनों के बीच संगति बिठाकर जो महान् कार्य किया है, उसका महत्त्व हम भविष्य में ही समझ सकेंगे। आज हमारी स्थिति उस कटी हुई पतंग की भाँति है, जो युग-धर्म की हवा में बहुत ऊँचाई पर उड़ती हुई परम्परा की डोरी से मुक्त हो जाने के आनन्द से विह्वल है, पर आनेवाला कल अवश्य यही हमें इस तथ्य का बोध कराएगा कि परम्पराओं से विच्छिन्न होकर प्राप्त की गई यह ऊँचाई, मुक्ति और प्रगति स्थायी नहीं है। हमारा विश्वास है कि आनेवाले कल की यह स्थिति ही मैथिलीशरण गुप्त की महान् सांस्कृतिक देन के महत्त्व का सम्यक् बोध करा पाएगी।

:: चौंसठ ::

प्रसाद की काव्य-साधना

१. भूमिका (पूर्ववर्ती अवस्था)।

२. प्रसाद की काव्य-कला का क्रमिक विकास—(क) चित्राधार, (ख) प्रेम-पथिक, (ग) महाराणा का महत्त्व, (घ) कानन-कुसुम, (ङ) झरना, (च) आँसू, (छ) लहर, (ज) कामायनी।

३. प्रसाद-काव्य की प्रवृत्तियाँ।

४. प्रसाद का महत्त्व।

इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
श्रान्त-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर,
जिसके आगे राह नहीं॥

उपर्युक्त पंक्तियों में महाकवि की उस पवित्र भावना की व्यंजना हुई है, जो व्यक्ति को सदैव आगे बढ़ने की ओर प्रेरित करती है। अपनी काव्य-साधना के पथ पर वे स्वयं तो निरंतर गतिशील रहे ही, अपने युग के अन्य प्रतिभाशाली युवकों को भी उन्होंने गति प्रदान की। प्रसाद जिस राह पर अग्रसर हुए, वह एक ऐसी राह थी, जिसे उस युग के पथ-प्रदर्शकों ने त्याज्य एवं निषिद्ध घोषित कर दिया था और इसी कारण वह प्रायः अवरुद्ध हो चुकी थी, अतः महाकवि प्रसाद को अपनी काव्य-यात्रा के साथ-साथ उसका मार्ग भी स्वयं ही तैयार करना पड़ा।

प्रसाद का पथ सौन्दर्य और प्रेम का पथ था। सौन्दर्याकर्षण और प्रेम—दो ऐसे मदविह्वल गजराज हैं, जो स्वतन्त्र होने पर समाज की चारदीवारियों को तोड़कर उसकी मर्यादा के स्तम्भों को ध्वस्त कर देते हैं, अतः समाज के कर्णधार नैतिकता का अंकुश लगाकर इन्हें बराबर सुनियंत्रित रखने का प्रयत्न करते रहे हैं। साहित्य-उपवन में भी उन्मत्त प्रेम और नैतिकता की तीक्ष्ण धारा के बीच बराबर संघर्ष होता रहा है। किसी युग में प्रेम नैतिकता के बन्धन को तोड़कर आगे बढ़ जाता है, तो किसी युग में नैतिकता प्रेम को अपने सुदृढ़ बन्धन में बाँधकर रखने में सफल हुई है, किन्तु अन्तिम पराजय अभी तक किसी ने स्वीकार नहीं की। जहाँ वैदिक युग की उर्वशी प्रेम के समक्ष सामाजिक मर्यादाओं को ठुकरा देती है, वहाँ रामायण का नायक अपने प्रणय-लोक की अधिष्ठात्री को भी नैतिकता के रंचमात्र आक्षेप से निर्वासित कर देता है। किन्तु नैतिकता का यह

प्रभाव चिर-स्थायी नहीं रह सका; महाभारत-युग में वह पुनः महत्त्वाकांक्षी नरेशों के प्रणय-स्वप्नों से टकराकर क्षत-विक्षत हो गई।

जिस अनार्या शूर्पनखा को ठुकराकर राम ने महायुद्ध स्वीकार किया था, उसी के वंश की हिडिम्बा पर मुग्ध होकर आर्य भीम ने प्राचीन मर्यादाओं का अतिक्रमण कर दिया। सत्यवती, कुन्ती, द्रौपदी आदि के जीवन की अनेक घटनाओं में भी सामाजिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक प्रेम का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। हिन्दी-काव्य के भी विभिन्न युगों में प्रेम और नैतिकता का उत्थान-पतन दृष्टिगोचर होता है। जहाँ भक्तिकाल का कवि नैतिकता से अनुप्राणित होकर नारी की छाया से भी दूर भागने का आदेश देता है, वहाँ रीति-काल का कवि प्रणय की उपेक्षा करनेवालों को पशु-तुल्य घोषित करता है। आगे चलकर आधुनिक युग के आरंभ में पुनः नैतिकता ने प्रेमियों पर विजय प्राप्त कर ली थी—प्रसाद का आगमन भी ऐसे ही समय में हुआ।

अस्तु; साहित्य की समस्त प्रवृत्तियाँ मुख्यतः दो प्रकार की विचारधाराओं से सम्बन्धित हैं; एक है वैयक्तिकता को महत्त्व देनेवाली और दूसरी सामाजिकता को प्रमुख समझनेवाली। जब साहित्य में वैयक्तिकता का उत्थान होता है, तो आत्मानुभूति भावात्मकता, सौन्दर्याकर्षण, प्रणयोन्माद, नवीन प्रयोगों, स्वतन्त्र शैलियों और मुक्तक रूप का विकास होता है और जब सामाजिकता का उत्थान होता है, तो बाह्य विषयों का चित्रण, इतिवृत्तात्मकता, नैतिकता एवं मर्यादा का प्रतिपादन, प्राचीन नियमों का प्रयोग और प्रबन्ध शैली का प्रचलन होता है। यद्यपि सामाजिक दृष्टि से वैयक्तिकता का उत्थान हित-कर नहीं होता, किन्तु साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य के नवीन स्रोतों का विकास प्रायः इसी से होता है। जब सामाजिकता काव्य पर इस प्रकार छा जाती है कि उससे वैयक्तिकता का सर्वथा ह्रास हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में वह काव्य काव्य न रहकर नीति-शास्त्र या उपदेशों का संग्रह-मात्र बन जाता है। द्विवेदी-युग में काव्य इसी स्थिति को पहुँचने लगा था। यदि प्रसाद-जैसे व्यक्तित्व ने सुदृढ़तापूर्वक इस अति-सामाजिकता से संघर्ष करके उसे परास्त न किया होता, तो संभव है कि हिन्दी-कविता अब तक कोरे 'समाज-शास्त्र' का रूप धारण कर लेती।

प्रसाद सौन्दर्य और प्रेम के कवि थे, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सर्वथा समाज-विरोधी थे। वे साहित्य-क्षेत्र में वैयक्तिकता के संरक्षक उसी सीमा तक थे, जहाँ तक काव्य-सौन्दर्य के लिए उसकी रक्षा अपेक्षित थी, अन्यथा वे सामाजिकता के भी समर्थक थे। यही नहीं, उनके काव्य में वैयक्तिकता के साथ-साथ गौण रूप में सामाजिकता की प्रवृत्ति भी बराबर विकसित होती चली है। जहाँ उनके भावनापूर्ण गीत वैयक्तिकता से सम्बन्धित हैं, वहाँ 'अयोध्या-उद्धार', 'वन-मिलन', 'प्रेम-राज्य', 'महाराणा का महत्त्व' आदि इतिवृत्तात्मक कविताएँ उनकी सामाजिकता की सूचक हैं। उनकी अंतिम श्रेष्ठ रचना 'कामायनी' में तो उनकी इन दोनों प्रवृत्तियों में एक उचित समन्वय स्थापित हो गया है। बात यह है कि 'कामायनी के रचना-काल तक द्विवेदी-युगीन सामाजिकता छायावादी वैयक्तिकता के आगे नत-मस्तक हो चुकी थी, अतः प्रसाद ने दोनों का समझौता करवा देना ही उचित समझा।

काव्य कला का क्रमिक विकास

कहा जाता है कि 'कवि का जन्म होता है—निर्माण नहीं'। बाह्य परिस्थितियाँ कवि की काव्य-धारा के दिशा-परिवर्तन में तो सहायक हो सकती है, किन्तु काव्य रचना के लिए आवश्यक प्रतिभा एवं भावुकता उसमें जन्मजात होती है। प्रसाद भी जन्म-जात-कवि थे। जीवन के प्रथम प्रभात में ही—अन्न-प्राशन संस्कार बेला में, अनेक रंग-बिरंगी वस्तुओं में से केवल एक सादी लेखनी को उठाकर ही उन्होंने अपने भावी रूप का स्पष्ट संकेत कर दिया था। नौ वर्ष की अवस्था मे ही उन्होंने 'कलाधर' उप-नाम से अत्यन्त सरस और मनोहर छंद की रचना की। सत्रह वर्ष की आयु में उनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। थोड़े ही दिनों पश्चात् 'कलाधर' की ज्योति 'इंदु' की किरणों के माध्यम से चारों ओर छिटकने लगी। 'इंदु' में प्रकाशित रचनाएँ आगे चलकर 'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' के रूप में प्रकट हुईं। उनकी समस्त काव्य रचनाओं का काल-क्रमानुसार विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

१. चित्राधार (रचना काल सन् १९०६-९), २. प्रेम पथिक (सर्वप्रथम ब्रज भाषा में सन् १९०५ में तथा खड़ीबोली में सन् १९१३ में), ३. करुणालय (१९१३), ४. महाराणा का महत्त्व (१९१४), ५. कानन कुसुम (१९१२ व १९१६), ६. झरना (१९२०), ७. आँसू (१९२५), ८. लहर (१९३१-३२), ९. कामायनी (१९३६)। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(१) **चित्राधार**—इसमें प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाएँ, जो कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं, संकलित की गई हैं। इसके प्रथम संस्करण में ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली की कविताएँ भी थीं, किन्तु दूसरे संस्करण में केवल ब्रजभाषा की ही कविताएँ रखी गईं। विषय वस्तु की दृष्टि से चित्राधार में ये चार प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषयों का इतिवृत्तात्मक शैली में वर्णन, (२) प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से चित्रण, (३) प्रेमानुभूतियों की व्यंजना और (४) भक्ति-भावना की अभिव्यंजना। प्रथम वर्ग में 'अयोध्या का उद्धार', 'वन मिलन' और 'प्रेम राज्य' शीर्षक कविताएँ आती हैं, जो कि प्रसाद की ऐतिहासिक बुद्धि, पौराणिक रुचि एवं मौलिक कल्पना की द्योतक हैं। प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं में मानवीकरण की प्रवृत्ति अपने मूल रूप में प्रकट है; देखिए—

भरि अंक अहो तुम भेंटति को,
तरु के हिय दाह समेटति को,
× × ×
तुम देखति हो केहि आस भरी ?
नहिं बोलत हो तरु पास खरी ?

यहाँ आलिंगनबद्ध तरु और लता का चित्रण प्रणयी-युग्म के रूप में हुआ है। 'कल्पना सुख,' 'विदाई', 'नीरव प्रेम', 'विसर्जन' आदि कविताओं में प्रसाद की प्रणय-

भावना का स्फुरण मिलता है। उनका प्रेम कभी विश्व-प्रेम और कभी भक्ति-भावना का रूप धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

(२) **प्रेम-पथिक**—यह काव्य पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था, किन्तु आगे चलकर इसे खड़ी बोली में परिवर्तित कर दिया गया। यह एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है जो कि प्रणय-भावनाओं से ओत-प्रोत है। इसकी कथा-वस्तु श्रीधर पाठक द्वारा अनुवादित 'एकान्तवासी योगी' से मिलती-जुलती है। दोनों में ही प्रेमी-प्रेमिका में से एक आश्रयदाता है और दूसरा पथिक। दोनों में ही पथिक अपने निराश-प्रेम की कहानी सुनाता है और अन्त में श्रोता कोई और नहीं, वही व्यक्ति सिद्ध होता है, जिसके लिए पथिक दुखी है।

इस काव्य का एक-एक शब्द अनुभूति से अनुप्राणित है, मानो यह लिखा नहीं गया—कवि के हृदय से स्वतः ही उच्छ्वसित हुआ है। कथा के आरम्भ में ही कवि का हृदय भावोच्छ्वास से उद्वेलित हो उठा है—

शुभे! अतीत कथाएँ यद्यपि कष्ट हृदय को देती हैं।
तो भी वज्रहृदय कर अपना, उसको तुम्हें सुनाता हूँ!!

जब कवि की प्रेयसी का विवाह किसी अन्य से हो रहा था तो उसके हृदय की अवस्था अत्यन्त शोकपूर्ण हो गई—इसका मार्मिक रूप में निरूपण देखिए—

"किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तन्त्री-झनकार।
जो नौबतखाने में बजती थी अपनी गहरी धुन में॥
रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है।
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है॥

और अन्त में—

भग्न हृदय उस गृह से बिछुड़ा जैसे टूटा फल तरु से।

कवि ने प्रेमानुभूतियों की व्यंजना के अनन्तर इस काव्य को दार्शनिकता से वेष्टित करने का प्रयत्न किया है। वह वैयक्तिक प्रेम से विश्व-प्रेम की ओर अग्रसर होने का संदेश देता है—

प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो।
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे॥

(३) **महाराणा का महत्त्व**—इस छोटे-से ऐतिहासिक खण्डकाव्य में महाराणा प्रताप की उदारता का चित्रण किया गया है। एक बार उनकी सेना के लोग एक मुस्लिम रमणी को बन्दी बना लेते हैं। यद्यपि वह रमणी उसी अब्दुर्रहीम खानखाना की पत्नी थी, जो उन पर आक्रमण करने आया था, पर वे उसे सम्मानपूर्वक लौटा देते हैं। इस प्रबन्ध की शैली में ओज गुण का विकास मिलता है; देखिए—

घोर अँधेरे में उठती जब लहर हो, तुमुल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा!
भीमकाय जल-राशि क्षुब्ध हो सामने, कर्णधार रक्षित दृढ़ हृदय सु-नाव को।
छोड़, कूदना तिनके का अवलम्ब ले, घोर सिन्धु में, क्या बुधजन का काम है।

(४) **कानन कुसुम**—'कानन-कुसुम' में सन् १६०६ से १६१७ तक की स्फुट

कविताएँ संकलित हैं। इसकी अधिकांश कविताओं का विषय परम-तत्त्व है, कहीं कवि अपने आराध्य की प्रार्थना में लीन है, तो कहीं वह उसके 'करुणाकुंज' के वैभव का वर्णन कर रहा है। इनकी 'ग्रीष्म का मध्याह्न', 'नव वसन्त', 'रजनी-गंधा', 'सरोज' आदि कविताओं में प्रकृति का चित्रण भी सुन्दर रूप में हुआ है। मानवीकरण के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'चित्रकूट', 'श्रीकृष्ण जयन्ती', 'कुरुक्षेत्र', 'वीर-बालक' आदि में ऐसे ऐतिहासिक एवं पौराणिक विषयों का निरूपण हुआ है, जिनसे राष्ट्र के गौरव में अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार इसमें प्रसाद-काव्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास दृष्टिगोचर होता है।

(५) **झरना**—'झरना' के गीतों में प्रसाद की भावनाएँ विभिन्न रूपों में बिखरी हुई हैं। एक ओर इसमें प्रकृति की मंजुल मनोहर मूर्ति का चित्रण सजीव रूप में हुआ है, तो दूसरी ओर वह प्रणय की कोमलतम अभिव्यक्ति से भी परिपूर्ण है। साथ ही रहस्यात्मकता का समावेश भी इसमें खुलकर हुआ है। कवि की विभिन्न उक्तियों में अनुभूति की तरलता विद्यमान है—

> **हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा,**
> **अहो प्राण प्यारे, तो कठोरता न कीजिए।**
> **क्रोध से, विषाद से, दया या पूर्व प्रीति से,**
> **किसी भी बहाने से तो याद कीजिए॥**

इन पंक्तियों में अभिव्यक्ति की तरलता है, पर सर्वत्र ही ऐसा नही हुआ है। उदाहरण के लिए 'किरण' में प्रौढ़ छायावादी शैली के कारण थोड़ी जटिलता आ गई है—

> **सुदिन-मणि वलय विभूषित उषा**
> **सुन्दरी के कर का संकेत।**
> **कर रही हो तुम किसको मधुर,**
> **किसे दिखलाती प्रेम निकेत॥**

इस काव्य को प्रथम छायावादी कृति के रूप में स्वीकार किया गया है।

(६) **आँसू**—'आँसू' एक विरही हृदय के सहज-स्वाभाविक उच्छ्वास के रूप में प्रस्तुत है। कथानक की रूप-रेखाएँ उसमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होतीं, किन्तु फिर भी अतीत की स्मृतियों की अभिव्यंजना इसमें योजना-बद्ध ढंग से हुई है। आरम्भ में कवि पाठक को सम्बोधित करके—"अवकाश भला है किनको सुनने को करुण कथाएँ"—अपनी करुण गाथा सुनाने के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करता है, तदनन्तर वह प्रथम दर्शन से लेकर वियोग तक की अनुभूतियों की व्यंजना स्पष्ट रूप से कर देता है। प्रेम की विभिन्न भाव-दशाओं का चित्रण इसमें मार्मिक शब्दों में हुआ है, किन्तु वेदना की एक हल्की-सी छाया सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। अन्त में कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—

> **मादक थीं मोहमयी थी, मन बहलाने की क्रीड़ा।**
> **अब हृदय हिला देती है वह मधुर प्रेम की पीड़ा॥**

कवि ने इसके दूसरे संस्करण में थोड़ा परिवर्तन व परिवर्द्धन करके इसमें व्यंजित लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे दिया है, किन्तु फिर भी इसकी लौकिकता के चिह्न पूरी तरह लुप्त नहीं हुए हैं। कवि के 'आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर' भाग जाने वाला प्राणी कोई अलौकिक जगत् का न होकर इस धरती का था, इसका आभास उसकी 'अलकों', 'काली आँखों', 'चाँद से मुख' आदि से हो जाता है। आप भी पहचानिए, निम्नांकित पंक्तियों में किसी नारी का चित्रण है या निर्गुण प्रभु का ?

बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥
काली आँखों में कितनी यौवन की मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली॥

अन्त में कवि का संदेश है—

सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिमकन सा आँसू इस विश्व सदन में॥

(७) लहर—'लहर' में 'आँसू' से 'कामायनी' तक की कविताओं का संग्रह है। 'लहर' तक आते आते कवि अधिक चिन्तनशील हो गया है। यही कारण है कि इसमे अनुभूति के साथ-साथ चिन्तन की प्रधानता है। प्रो० जयभगवान के शब्दों में, "इसकी अनुभूति में भी झरना तथा आँसू की अनुभूति से अन्तर है। झरना तथा आँसू की अनुभूति में यौवन का आवेश, आवेग तथा प्रवाह तीव्र है; किन्तु लहर की अनुभूति में गहराई अधिक है इसमें यौवन का आवेग, झंझावात तथा हलचल नहीं, बल्कि एक शान्ति, गहराई तथा उज्ज्वलता है। उनके मस्तिष्क में जो पीड़ा घनीभूत होकर छाई हुई थी, उसके 'आँसू' बनकर बरस जाने से मस्तिष्क धुलकर निर्मल हो गया है और इसी कारण कवि वैयक्तिक धरातल से ऊपर उठकर जीवन तथा जगत् के सम्बन्ध में अधिक गम्भीरता से विचार करने लगा है।" पूर्ववर्ती रचनाओं की भाँति इसमें भी प्रेम, प्रकृति, रहस्य, जीवन-दर्शन और ऐतिहासिक-पौराणिक विषयों का निरूपण हुआ है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—

(क) अतृप्त प्रेम—

चिर तृषित कंठ से तृप्ति विधुर,
वह कौन अकिंचन अति आतुर!

\+ + +

धीरे से वह उठता पुकार,
मुझको न मिला रे कभी प्यार!

(ख) विरहानुभूति—

मिला कहाँ वह सुख जिसका स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया॥

(ग) प्रकृति का मानवीकरण—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला।
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।।

वस्तुतः 'लहर' की रचनाएँ—क्या भाव, क्या विचार और क्या शैली—सभी दृष्टिकोणों से प्रौढ़ हैं।

(८) **कामायनी**—प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ रचना 'कामायनी' मानी जाती है। यह एक प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें आदिपुरुष मनु की जीवन-गाथा वर्णित है। इसका कथानक अत्यन्त संक्षिप्त-सा है, उसमें बहुत थोड़ी घटनाओं का समावेश है : मनु और श्रद्धा के मिलन और वियोग, पुनर्मिलन और पुनर्वियोग, तथा मनु और इड़ा के मिलन की साधारण-सी घटनाओं में ही कामायनी का सारा इतिवृत्त सिमटा हुआ है। ये घटनाएँ भी स्वतः घटित न होकर पात्रों की सूक्ष्म भाव-दशाओं की प्रेरणा से ही अधिक परिचालित हैं। कामायनी में पात्रों की संख्या भी बहुत कम है—इसके प्रमुख पात्र तो तीन ही हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। मनु के व्यक्तित्व में पुरुष का सबल और स्वस्थ स्वरूप तो मूर्तिमान है ही, उसकी सूक्ष्म मननशीलता, व्यापक स्वार्थपरता और उच्छृङ्खल कामुकता भी विद्यमान है। नारीत्व की साकार और सजीव मूर्ति कामायनी में श्रद्धा के रूप में दृष्टिगोचर होती है। उसके सौन्दर्य के संघटन में कवि ने उषा की अरुणिमा, नभ की नीलिमा, चंद्र की ज्योत्सना, फूलों का लावण्य और दामिनी की मुस्कराहट—प्रकृति के समस्त वैभवपूर्ण अंगों की शोभाओं को एकत्रित करके, कवि की कल्पना और चित्रकार की कला का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। किन्तु इड़ा के निर्माण में कवि ने सहृदयता के स्थान पर मस्तिष्क का उपयोग किया है, इसी से वह निर्जीव प्रतीक-मात्र रह गई है।

'कामायनी' प्रकृति के वैभवपूर्ण दृश्यों एवं उसकी मादक चेष्टाओं के अंकन की दृष्टि से भी परिपूर्ण है। मानव-हृदय की भावनाओं का जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कामायनी में हुआ है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। प्रेम और विरह से सम्बन्धित प्रायः सभी संचारियों की व्यंजना इसमें सफलतापूर्वक हुई है। साथ ही विचारों की दृष्टि से भी यह रचना प्रौढ़ एवं महान् है। आधुनिक युग की शुष्क बौद्धिकता के विपरीत उन्होंने तरल भावात्मकता का संदेश दिया है तथा जीवन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय की आवश्यकता बताई है—

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
तीनों मिल एक न हो सके यही बिडम्बना है जीवन की।।

वस्तुतः भाव, विचार और शैली तीनों की दृष्टि से कामायनी अनुपम है।

प्रसाद काव्य की प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त रचनाओं के आधार पर प्रसाद-काव्य की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि इसके लिए विस्तृत विवेचन अपेक्षित है, किन्तु हम यहाँ उनका संकेत-मात्र कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। सर्वप्रथम तो प्रसाद काव्य

की मूल प्रवृत्ति शृंगारिकता या प्रेम की है। प्रारम्भ में उन्होंने प्रेम का चित्रण प्रकृति और नारी के माध्यम से किया, किन्तु आगे चलकर वे अलौकिकता की ओर उन्मुख हो गए। दूसरे, उन्होंने सौन्दर्य के सूक्ष्म अवयवों का चित्रण व्यंजनात्मक शैली में किया। तीसरे, उन्होंने बाह्य विषयों की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की। चौथे, उन्होंने राष्ट्र के प्राचीन गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के रूप में अतीत का चित्रण किया। पांचवें, उन्होंने इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा भावात्मकता को अधिक स्थान दिया, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कामायनी में दृष्टिगोचर होता है। छठे, उन्होंने व्यापक मानवता और विश्व-बन्धुत्व का संदेश दिया। इसके अतिरिक्त उनकी शैली में वे सभी प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं, जो हम पीछे 'छायावाद' निबन्ध में गिना आये हैं।

महत्त्व

आधुनिक हिन्दी कवियों में प्रसाद का स्थान सर्वोच्च है। छायावाद के तो वे प्रवर्त्तक एवं सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं; अन्य वर्गों के कवि भी उसकी बराबरी करने में असमर्थ हैं। उनका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी के 'रामचरित मानस' के पश्चात् दूसरा स्थान 'कामायनी' को ही दिया जाता है। वस्तुतः प्रसाद में भावना, विचार और शैली—तीनों की पूर्ण प्रौढ़ता मिलती है, जो कि विश्व के बहुत कम कवियों में संभव है। प्रेमी, कवि और दार्शनिक के लक्षणों से सम्पन्न कामायनीकार का व्यक्तित्व और कृतित्व—दोनों अविस्मरणीय हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

: पैंसठ :

प्रसाद की नाट्य-कला

१. विषय-प्रवेश ।

२. प्रसाद का व्यक्तित्व और भारतेन्दु से तुलना ।

३. तत्कालीन वातावरण और प्रसाद के नाटकों का प्रयोजन ।

४. प्रसादजी का नाटक-साहित्य—एक परिचय ।

५. प्रसादजी के नाटकों की सामान्य विशेषताएँ व प्रवृत्तियाँ—(क) ऐतिह कता, (ख) प्राचीन संस्कृति का चित्रण, (ग) पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चि (घ) नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान, (ङ) विदूषकों का प्रयोग, (च) काव्य कता, (छ) उत्साह, प्रेम और वैराग्य का निरूपण, (ज) महत् संदेश, भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय ।

६. प्रसाद के नाटकों में कुछ सामान्य दोष ।

७. उपसंहार ।

"नवजागरण के मंगल-प्रभात में भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण प्रकाश का स देकर असमय में ही विलीन हो गई । साहित्य में फिर शिथिलता और जड़ता का अ कार छा गया, यद्यपि अनेक साहित्य-सृष्टा अपनी प्रतिभा से कुछ-न-कुछ प्रकाश प्र करते ही रहे । जागरण की गोद में प्रसादजी अलौकिक प्रतिभा लिये दिव्य प्रक पिण्ड के समान प्रकट हुए । प्रसाद ने साहित्य के हर क्षेत्र के सुदूर कोने तक को प्र शित किया । उनका महान् व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में वरदान के समान उदित हुआ प्रसादजी भारतीय सांस्कृतिक जागरण के देवदूत थे । उनके व्यक्तित्व में बौद्धों करुणा, आर्यों का आनन्दवाद और ब्राह्मणों का तेज था ।" ये शब्द 'हिन्दी नाटकक रचयिता श्री जयनाथ 'नलिन' के हैं, जिनसे प्रसाद की महानता पर प्रकाश पड़ है । इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का अवतरण एक मह घटना थी—जिस प्रकार युग-युगों के पश्चात् कुछ महान् आत्माएँ अवतार धारण क धरती पर आती हैं, कुछ वैसे ही साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का आगमन एक अवतार-पु का आगमन था । सच पूछा जाय तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसी के पश्च दो ही महान् प्रतिभाएँ ऐसी दिखाई पड़ती हैं, जिनमें अलौकिक शक्ति का आभास हो है—उनमें एक है भारतेन्दु हरिश्चंद्र और दूसरी जयशंकर 'प्रसाद' ।

भारतेन्दु और प्रसाद—दोनों युग-निर्माता साहित्यकार थे । दोनों का ज काशी के वैश्य परिवार में हुआ । दोनों के पूर्वज अत्यन्त धनाढ्य थे । दोनों ने पाठ्यक्र की सीमाओं में बँधी हुई महाविद्यालयों की नियमित शिक्षा की उपेक्षा करके का

और साहित्य का अनुशीलन घर पर ही स्वतन्त्रतापूर्वक किया। दोनों के ही व्यक्तित्व में रसिकता और उदारता का गुण प्रमुख रूप में था। दोनों ने ही कविता, नाटक और गद्य पर कलम चलाई। दोनों के ही साहित्य में प्रेम, भक्ति-भावना, राष्ट्रीयता और संस्कृति के उद्धार की प्रवृत्ति मिलती है। दोनों ने ही अपने युग के कवियों और नाटक-कारों का नेतृत्व किया। वस्तुतः इतनी अधिक समानताएँ मिलती हैं कि जिन्हें देखकर हमें संदेह होता है कि कहीं भारतेन्दु की आत्मा ने ही तो अपने अधूरे कार्य को आगे बढ़ाने के लिए प्रसाद के रूप में दूसरा जन्म धारण नहीं कर लिया—पुनर्जन्म की विचारधारा में विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए यह कल्पना अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती।

हमारी उपर्युक्त तुलना से एक भ्रान्ति भी उत्पन्न हो सकती है। कुछ लोग इससे प्रसाद को भारतेन्दु की परम्परा का ही लेखक और कवि समझने की भूल कर सकते हैं। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। दोनों के साहित्य में अनेक समानताओं के बावजूद भी दोनों की मूल प्रकृति में सूक्ष्म अन्तर है। एक के काव्य में बहिर्मुखी प्रवृत्ति की प्रधानता है, तो दूसरे में अन्तर्मुखी वृत्ति की। एक में हास्य और व्यंग्य की छटा है, तो दूसरे में गम्भी-रता और दार्शनिकता का पुट है। एक में क्रान्ति का तीखा स्वर है, तो दूसरे में शान्ति का मधुर सन्देश है। इसका मतलब हुआ—हमारी पुनर्जन्म वाली कल्पना झूठी है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जहाँ उत्साही, हास्य-प्रिय और विद्रोही होता है, वहाँ प्रौढ़ावस्था में जाकर वही गम्भीर और शान्त हो जाता है। भारतेन्दु का देहान्त प्रौढ़ावस्था की प्राप्ति से पूर्व ही हो गया था तथा पुनर्जन्म को मानने-वाले यह भी मानते हैं कि पूर्वजन्म के संस्कारों का विकास दूसरे जन्म में होता है। सम्भव है, भारतेन्दु प्रौढ़ावस्था तक जीवित रहते तो उनके काव्य में वही प्रौढ़ता और गम्भीरता आ जाती, जो हमें प्रसाद के काव्य में मिलती है। खैर, पुनर्जन्म वाली बात का साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, अतः हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

जैसा कि पीछे कहा गया है, प्रसादजी ने हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया, जबकि भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण का प्रकाश मंद पड़ने लग गया था। भारतेन्दु और प्रसाद के रचना-काल के बीच के युग में प्रायः बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद ही अधिक हुआ—मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गए और जो लिखे भी गए, उनमें कला का उत्कृष्ट रूप प्राप्त नहीं होता। अनुवादित नाटकों में श्री द्विजेन्द्रलाल राय, रवि बाबू आदि के बँगला नाटकों तथा संस्कृत के 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' आदि के अनुवाद उल्लेखनीय हैं।

प्रसादजी ने नाटकों की रचना एक निश्चित लक्ष्य को सामने रखकर की थी। वह निश्चित लक्ष्य था—भारतीय संस्कृति के गौरव का आख्यान करना। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करते हुए डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है—"प्रसादजी में भारतीय गौरव को प्रकट करने की प्रेरणा तो उतनी ही तीव्र है, जितनी भारतेन्दु काल में वरन् उससे भी कुछ अधिक तीव्र हो उठी है, किन्तु दृष्टि अब वीरता-मात्र प्रदर्शित करना नहीं। आगे-आगे जैसे समय बढ़ता गया, भारत में एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी।....

वह थी सभ्यता की ललकार। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी की व्यवहारशीलता के बाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर, उनकी भाव-प्रणाली से प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता और उसके आदर्शों को हेय समझने लगे थे। यह भीषण आत्मघात की तैयारी थी। यह वह युग था, जिसमें अंग्रेजी पढ़ चुकने वाला व्यक्ति अपने को अधिकारियों के वर्ग का समझकर अपनी उस कठोर सत्ता का पृथक् अस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'तुम' बोल सकते हुए भी 'टुम' कहकर अपनी ही मातृभाषा का अपमान करता दीखता था। ऐसे अवसर पर महाराणा प्रताप की वीरता का वर्णन या कृष्णार्जुन-युद्ध अथवा राजपूतों के साहस की कहानियाँ कोई अर्थ नहीं रख सकती थीं। इस काल के भारतीय गौरव ने ठीक सामने खड़े होकर प्रश्न किया था—'तुम्हारी सभ्यता क्या है ?' इस काल के कुछ एक इतिहासज्ञ इस सीधे और धृष्ट उत्तर को सुनकर मर्म-पीड़ित हो, भारतीय कंकाल की कड़ियाँ जोड़ने में लगे थे। प्रसादजी केवल कड़ियाँ जोड़ना नहीं चाहते थे। वे तो उसमें मंत्र से प्राण फूंकना चाहते थे, जो कभी ऐसे लिख चुका हो—

'जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।'

अस्तु, प्रसादजी ने अपने नाटकों के द्वारा भारत के गौरवशाली युगों के सजीव चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे कि भारतवासियों में आत्मगौरव की भावना का संचार हो सके।

प्रसादजी का नाटक-साहित्य

प्रसादजी ने एक दर्जन से भी अधिक नाटकों की रचना की, जिनका कालक्रम इस प्रकार है—१. सज्जन, (१९११), २. कल्याणी-परिणय (१९१२), ३. करुणालय (१९१३), ४. प्रायश्चित्त (१९१४), ५. राज्यश्री (१९१५), ६. विशाख (१९२१), ७. अजातशत्रु (१९२२), ८. कामना, (१९२४), ९. जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६), १०. स्कन्दगुप्त (१९२८), ११. एक घूंट (१९२९), १२. चन्द्रगुप्त (१९३१), १३. ध्रुवस्वामिनी (१९३३)।

इनमें से 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' और 'प्रायश्चित्त' एकांकी हैं, 'एक घूंट' और 'कामना' भावरूपक हैं और शेष सभी ऐतिहासिक नाटक हैं। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने इन प्रारम्भिक चार एकांकियों को प्रसाद की नाट्य-कला का परीक्षा काल कहा है। 'सज्जन' का कथानक महाभारत पर आश्रित है। जब पांडव दुर्योधन से जुए में हारकर वनवास में जीवन व्यतीत कर रहे थे, तो एक बार दुर्योधन के मन में पांडवों को वनवास की दुर्दशा में देखने की इच्छा उत्पन्न हुई, किन्तु वह रास्ते में ही गंधर्वराज चित्रसेन से उलझ गया। अन्त में युधिष्ठिर की प्रेरणा से अर्जुन कौरवपति दुर्योधन को चित्रसेन से छुड़ाकर लाता है। पांडवों की इस सज्जनता—दुष्ट के साथ भी सज्जनता का व्यवहार—का चित्रण 'सज्जन' में किया गया है।

'प्रायश्चित्त' में इतिहास-प्रसिद्ध जयचन्द और पृथ्वीराज के द्वेष का चित्रण करते हुए अन्त में जयचन्द के द्वारा मुहम्मद गौरी को आमंत्रित करने की भूल का परिणाम

दिखाया गया है। अपनी इसी भूल का प्रायश्चित्त करने के लिए जयचन्द अपना राज्य छोड़कर संन्यास ले लेता है। 'कल्याणी-परिणय' में चन्द्रगुप्त मौर्य और सेल्यूकस की पुत्री कल्याणी का प्रणय और परिणय दिखाया गया। 'करुणालय' गीति-नाट्य की शैली में लिखा गया है। इसमें हरिश्चन्द्र और शुनः शेप के पौराणिक इतिवृत्त का चित्रण किया गया है। अस्तु, इन प्रारम्भिक रचनाओं से प्रसाद की इतिहास और पुराण में रुचि परिलक्षित होती है। इनमें प्रसाद की कला का अपरिपक्व एवं अस्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद जी के शब्दों में—"वास्तव में इन एकांकी रूपकों में न तो कथानक की ही कोई विशेषता है, न चरित्र-चित्रण की। प्रसिद्ध घटनाओं का इनमें नाटकीय रूप में उल्लेख-मात्र है। कथांश का क्षेत्र इनमें इतना संकुचित है कि उसके नियंत्रण एवं संविधान में लेखक को कितनी कुशलता दिखानी पड़ी है, इसका ज्ञान ही नहीं हो पाता।"

'राज्यश्री' में इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री के जीवन का चित्रण है। इसमें उसके जीवन की अनेक प्रमुख घटनाओं का अंकन सफलतापूर्वक किया गया है। नाटक के सभी पात्रों में 'राज्यश्री' का ही व्यक्तित्व सबसे प्रभावशाली दिखाया गया है। नाटक में जिन व्यापक विप्लवों का उल्लेख है, उन सबके मूल में यही राज्यश्री है। सबकी दृष्टि उसी ओर है। "वही एक रूप शिखा है, जिस पर सभी पतंग गिरकर भस्मसात् होते हैं।" सभी घटनाएँ उसी पर आश्रित हैं। ग्रहवर्मा उसी के लिए कहता है—

सबसे यह आनन्द बड़ा है प्रियतमे,
तुम-सा निर्मल कुसुम भी मिला है हमें !

उसी सौन्दर्य-राशि को देखकर मालवराज देवगुप्त भी आकर्षित हुआ है। उसकी दृष्टि में राज्यश्री वास्तव में 'विश्व-राज्यश्री' है। मालवराज के सम्मुख केवल एक ही प्रश्न है—'क्या वह मुझे न मिलेगी ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उसे मिलता है। मृगतृष्णा तुरन्त उत्तर रूप में कहती है—"अवश्य मिलेगी।" इसी मृगतृष्णा के पीछे पड़ा वह अनेक अनर्थ करता है तथा इसको समय-समय पर स्वतः स्वीकार भी करता है। वस्तुतः इस नाटक में राज्यश्री जैसी नारी पात्र को अभूतपूर्व गरिमा प्राप्त हुई है।

'विशाख' की कथा 'राजतरंगिणी' के आरंभिक अंश पर आधारित है। विशाख तक्षशिला के विश्वविद्यालय से निकला हुआ नया-नया स्नातक है, जो व्यावहारिक ज्ञान से अभी शून्य है। आगे चलकर वह चन्द्रलेखा नामक युवती का उद्धार करता है और उससे प्रणय करने लगता है। इस प्रकार इसमें प्रेम और संघर्ष का चित्रण ही प्रमुख रूप में हुआ है। वस्तुतः 'राज्यश्री' और 'विशाख' में प्रसाद की नाट्य-कला का प्रारम्भिक विकास ही दृष्टिगोचर होता है। नाटकीय दृष्टि से इनमें पर्याप्त दोष भी विद्यमान हैं। इनका वस्तु-विधान चमत्कार-विहीन है। संवादों में तुकबन्दी का प्रयास झलकता है। चरित्रांकन में प्रौढ़ता का परिचय नहीं मिलता। प्रसाद की नाट्य-कला का प्रौढ़ स्वरूप 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में उपलब्ध होता है। 'अजातशत्रु' में 'गौतम-बुद्ध' के समकालीन भारत के चारों राज्यों—मगध, कोशल, वत्स और अवन्ती की

राजनीतिक अवस्था का चित्रण करते हुए मगध-नरेश बिम्बसार और अजातशत्रु के संघर्ष का निरूपण किया गया है। इस नाटक में संघर्ष और विरो . की व्यंजना प्रमुख रूप से है। अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व से सारा नाटक भरा है। 'स्कन्दगुप्त' में इतिहास-प्रसिद्ध स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के जीवन की अनेक प्रमुख घटनाओं का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त मौर्य की चाणक्य को सहायता से प्राप्त सफलता का अंकन हुआ है। वस्तुतः ये तीनों नाटक बौद्ध-युग का इतिहास सजीव रूप में प्रस्तुत करते हैं।

'जनमेजय का नागयज्ञ' का कथानक महाभारत से लिया गया है। इसमें तत्कालीन ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष को एक व्यापक समस्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जितना ध्यान इसमें चरित्र-चित्रण एवं विषय वस्तु पर दिया गया है, उतना नाटक के अन्य अंगों की ओर नहीं दिया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' भी एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें विवाह समस्या को लिया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी है और उसका पति है रामगुप्त—एक भीरु, कायर, क्लीव और अयोग्य। उस पति के साथ वह विवाह धर्म का कब तक पालन करे, यह उसके सामने एक दुविधा भरा प्रश्न है। ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त का विवाह असम और राक्षस विवाह है। वह समाज और व्यक्ति के मंगल का विनाशक और कल्याण का घातक है। रामगुप्त की क्लीवता और भीरुता सीमा को लाँघ जाती है। वह आज्ञा देता है—"जाओ, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी को देना चाहता हूँ।" जो मनुष्य इतना पतित हो कि अपनी पत्नी को भी शकराज खिंगिल को भेंट कर दे, उसको पति रहने का अधिकार नहीं। ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए तथा अपने कुल की मर्यादा के लिए चन्द्रगुप्त खिंगिल के डेरे में जाकर उसका वध करता है। इससे पूर्व परिस्थितियों के वश ध्रुवस्वामिनी देवी और चन्द्रगुप्त का प्रेम विकसित हो चुका था। नाटक में दोनों का विवाह कराया गया है और धर्माधिकारी व्यवस्था देता है—"मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्म-शास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।"

प्रसादजी के नाटकों की सामान्य विशेषताएँ

उपर्युक्त नाटकों के आधार पर प्रसादजी के नाटकों की कुछ सामान्य विशेषताएँ निश्चित की जा सकती है, जो मुख्यतः ये हैं—(१) ऐतिहासिक आधार, (२) प्राचीन संस्कृति का चित्रण, (३) पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण, (४) नारी पात्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान देना, (५) विदूषकों का प्रयोग, (६) काव्यात्मकता, (७) उत्साह, प्रेम और वैराग्य का निरूपण, (८) महत् संदेश, (९) भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय। इन विशेषताओं पर किंचित् प्रकाश आगे डाला जायगा।

१. ऐतिहासिक आधार—प्रसादजी का युग राजनैतिक दृष्टि से पराधीनता का युग था, अतः उन्होंने अपने राष्ट्र में आत्म-गौरव के भाव संचारित करने के लिए भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण अध्यायों को कला के माध्यम से प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वयं लिखा है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित

करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है।....क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें हमें पूर्ण सन्देह है।....मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"—(विशाख की भूमिका)। यही कारण है कि प्रसाद के समस्त नाटक 'कामना' और 'एक घूंट' को छोड़कर—ऐतिहासिक ही हैं। इन नाटकों में उन्होंने महाभारत युद्ध के पश्चात् से लेकर हर्षवर्द्धन के राज्यकाल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। क्योकि यही युग भारतीय संस्कृति की उन्नति और प्रसार का स्वर्णयुग माना जाता है। बीच में बौद्धकाल, मौर्ययुग और गुप्तकाल अधिक उत्कर्ष के युग माने जाते हैं, अतः इनका चित्रण प्रसाद के नाटकों में अधिक विस्तार से हुआ है।

प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास के स्थूल ढाँचे को ही नहीं अपनाया, उन्होंने उसके सूक्ष्म रूप-रंग को भी भली प्रकार व्यंजित किया है। दूसरे, उन्होंने केवल इतिहासकारों के मुख से सुनी-सुनाई बातों पर ही विश्वास नहीं कर लिया, अपितु स्वतंत्र दृष्टिकोण से सम्बन्धित इतिहास का अनुशीलन ठोस प्रमाणों के आधार पर किया है। उन्होंने नाटकों के लिए प्रचलित इतिहास-ग्रंथों से सामग्री उधार नहीं ली, अपितु उन्होंने ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनसे इतिहासकार भी उनके नाटकों से कुछ सीख सकते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० जगन्नाथप्रसाद उनके नाटकों की ऐतिहासिकता पर अभिमत प्रकट करते हुए लिखते हैं—"असुनिश्चित और असुलिखित भारतीय इतिहास में यत्र-तत्र बिखरी सामग्रियों को एक सूत्र में पिरोने की तर्क-संगत चेष्टा प्रसाद की उन विशेषताओं में है, जो वर्तमान हिन्दी के अतिरिक्त अन्य साहित्यकारों में भी कम दिखाई देती है। इतिहास का गम्भीर अध्ययन, प्रसंग-परिकल्पना की बुद्धि और उपलब्ध इतिवृत्तों की संगत एकात्मकता स्थापित करने की अद्भुत क्षमता प्रसाद में दिखाई पड़ती है।"

प्रसाद ने ऐतिहासिकता को अपनाते हुए भी अपने नाटकों को शुष्क इतिवृत्त का रूप नही दिया है। उन्होंने कल्पना के उचित समन्वय द्वारा ऐतिहासिक इतिवृत्त को साहित्य का रूप प्रदान किया है। कल्पना का प्रयोग उनके द्वारा तीन प्रकार से हुआ है—(१) पहले तो इतिहास के भिन्न-भिन्न सूत्रों को मिलाकर उन्हें एक संगठित कथानक का रूप देने में; (२) दूसरे, बाह्य घटनाओं के अनुरूप ऐतिहासिक पात्रों की मानसिक दशाओं के चित्रण में; (३) अनैतिहासिक पात्रों की सृष्टि में। इस प्रकार उनके नाटकों में इतिहास और कल्पना का मधुर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

२. **प्राचीन संस्कृति का चित्रण**—प्रसादजी के नाटकों में केवल राजनीतिक घटनाओं का ही उल्लेख या चित्रण नहीं मिलता, अपितु उनमें सम्बन्धित युग की संस्कृति का चित्रण भी अत्यन्त सजीव रूप में हुआ है। उनके नाटकों में विभिन्न-युगीन धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक हुआ है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में ब्राह्मणों के आन्तरिक वैमनस्य का चित्रण किया गया है, तो 'अजातशत्रु' में बौद्ध-धर्म की छाप सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। वैदिक एवं बौद्ध-धर्म का पारस्परिक संघर्ष भी उनके नाटकों में भली-भाँति व्यंजित हुआ है। इसी प्रकार भारतीय समाज की विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन भी उनके नाटकों में सफलतापूर्वक कराया गया है। कल्याणी, मणिमाला, ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री-जैसे नारी पात्रों के द्वारा तत्कालीन समाज में नारी की स्वतन्त्रता एवं उसकी सम्मानपूर्ण स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-धर्म के प्रभाव से समाज में ब्राह्मण की गिरती हुई दशा का अवलोकन भी प्रसाद के नाटक-साहित्य में भली प्रकार किया जा सकता है। जनमेजय-काल में इनका बड़ा सम्मान था, क्योंकि उस समय भी यज्ञादि वैदिक कृत्यों की प्रधानता थी। इन कृतियों के आचार्य और मन्त्रदाता ये ब्राह्मण ही थे। राजवर्ग और प्रजाजन के कल्याणार्थ ही वैदिक कर्म-कांड चलता था और उसका नियामक था ब्राह्मण-वर्ग। इसलिए ये ब्राह्मण शिरःस्थानीय माने जाते थे। यों कभी-कभी उद्धत और क्रोधी प्रकृति के भी ब्राह्मण निकल आते थे, जिनमें दुरभिसंधि और कुचक्र-चालन के दोष भी दिखाई पड़ जाते थे, परन्तु अधिकतर ब्राह्मण सात्त्विक वृत्ति के ही होते थे, जो अरण्यों में एकान्तवास करते, तपश्चर्या, अग्निहोत्र इत्यादि कामों में निरत रहकर दया, शील, आर्जव और सत्य का अनुसरण करते थे। आगे चलकर न तो ब्राह्मणों की यह वृत्ति ही रह गई और न उनका वह सम्मान ही रह गया। मौर्यकाल में अन्य प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के कारण इनका महत्त्व और भी गिर गया। यही अवस्था हर्ष के समय तक चली आई।

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली एवं अध्ययन-केन्द्रों की स्थिति पर भी प्रसाद ने अपनी कुछ रचनाओं में प्रकाश डाला है। प्रायः राजवर्ग उदारतापूर्वक छात्रों और अध्ययन-केन्द्रों की सहायता करता था। स्थानीय संस्थाओं में शिक्षा समाप्त कर लेने के अनन्तर विद्यार्थी सुदूर के गुरुकुलों में जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इन गुरुकुलों में राजा का शासन नहीं चलता था। उन पर कुलपति का ही पूर्णतः नियंत्रण होता था। इनमें विभिन्न विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध रहता था तथा छात्र अपनी आवश्यकता एवं रुचि के अनुकूल विषयों का चयन कर लेता था। इन गुरुकुलों में छोटे-बड़े, धनी-निर्धन आदि का भेद-भाव नहीं होता था। गुरु का शुल्क दक्षिणा या सेवा के रूप में चुकाया जाता था।

प्रसादजी के नाटकों से प्राचीन भारत के कला-प्रेम और कला की उन्नति पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। जनमेजय से लेकर हर्षवर्द्धन तक राजदरबारों में नर्तकियों, गायिकाओं एवं अन्य कलाकारों का पूरा सम्मान दिखाया गया है। उद्यानों की साज-सज्जा, नरेशों की रसिकता, मद्यपान, आखेट आदि का चित्रण भी उनके नाटकों में यत्र-तत्र हुआ है। वस्तुतः उनके नाटक इस दृष्टि से भारत की विभिन्न-युगीन संस्कृति के कोश-ग्रंथ कहे जा सकते हैं।

३. **पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का विकास**—प्रसाद के नाटकों की तीसरी प्रमुख विशेषता पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करना है। उन्होंने कठोर से कठोर पात्र के हृदय की भी चंचलता एवं दुर्बलता को प्रकाशित करके अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के लिए स्थान बनाया

है। विभिन्न पात्रों के हृदय में उन्होंने विभिन्न विरोधी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का संघर्ष सूक्ष्मतापूर्वक प्रदर्शित किया है। उनके अनेक पात्र ऐसी गूढ़ प्रकृति के भी हैं, जो बाहर से कुछ हैं और भीतर से कुछ, ऐसे पात्रों के मन, वचन और कर्म में द्वन्द्वात्मकता का आ जाना स्वाभाविक है। "इनका समझना सरल नहीं होता। इनके स्थूल, बाह्य और सूक्ष्म अन्तर में बड़ा भेद दिखाई पड़ता है, स्वभाव ही इनका गुप्त और गम्भीर होता है। इनको कुछ बारीकी से देखने पर कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं....ये हँसते हुए भी रोते रह सकते हैं और रोते हुए भी हँसते। ऐसे ही लोगों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रासाद प्रकृत रूप में दिखाया जा सकता है।"—डॉ० जगन्नाथप्रसाद।

प्रसाद के कुछ पात्रों में इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का विकास अधिक विस्तार से हुआ है। बिम्बसार, वासवी, मल्लिका, स्कन्दगुप्त, देवसेना, चाणक्य आदि में द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति का गाम्भीर्य अधिक मिलता है। देवसेना को देखकर उसकी संगिनी जयमाला कहती है—"तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता। जब तू गाती है—तब मेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।" इसी प्रकार चाणक्य से कात्यायन कहता है—"तुम हँसो मत चाणक्य। तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है।" वस्तुतः प्रसाद ने अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के द्वारा पात्रों के व्यक्तित्व में गम्भीरता, जटिलता एवं बहुविधता का उन्मेष किया है।

४. **नारी पात्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान**—हिन्दी नाटक-साहित्य में ही नहीं—समस्त हिन्दी-साहित्य मे नारी को जैसा महत्त्व छायावादी कवियों द्वारा प्राप्त हुआ, वैसा उसे अन्य कवियों द्वारा (स्वतन्त्र प्रेम-मार्गी कवियों—घनानन्द आदि को छोड़कर) प्राप्त नहीं हुआ। प्रसाद के छायावादी दृष्टिकोण का प्रभाव उनके नाटक-साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। उनके नाटकों में नारी के अच्छे और बुरे दोनों रूपों का चित्रण विस्तार से हुआ है। उनके नाटकों मे ऐसी देवियाँ भी हैं, जो मनुष्य को देवता में परिवर्तित कर सकें। और ऐसी कुलघातिनी राक्षसियाँ भी, जो इन्सान को हैवान बनाने में सफल हो सकें। किन्तु एक बात सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है कि उनकी नारियाँ पुरुष के पीछे-पीछे चलनेवाली निर्जीव कठपुतलियाँ नहीं है; उनका अपना व्यक्तित्व, अपनी बुद्धि और अपना मस्तिष्क है। वे पुरुष की अनुचरी न होकर उसका पथ-प्रदर्शन करती हैं। उनके अनेक नाटकों में शक्ति का प्रमुख केन्द्र कोई-न-कोई नारी पात्र ही है; जैसे कि अजातशत्रु में मल्लिका या स्कन्दगुप्त में देवसेना है। इनके दिव्य प्रभाव से एक ओर सज्जन पुरुषों को त्याग, शौर्य और बलिदान की प्रेरणा मिलती है, तो दूसरी ओर इनकी कोमल मधुर छाया में आकर बड़े-बड़े दुष्ट, नृशंस एवं अत्याचारी पुरुष भी पवित्र एवं उदात्त भावनाओं से अभिभूत हो जाते हैं। 'नारी! तुम केवल श्रद्धा हो।' की उक्ति कामायनी की अपेक्षा प्रसाद के नाटक-साहित्य पर अधिक सफलता से चरितार्थ होती है।

प्रसाद ने नारी पात्रों को इतना अधिक सम्मान क्यों प्रदान किया? इसके उत्तर में अनेक बातें कही जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रसाद ने अपने विभिन्न पात्रों

के मुँह से कुछ शब्द कहलाए हैं। 'अजातशत्रु' में दीर्घकारायण ने नारी के महत्त्व की मीमांसा करते हुए कहा है—"स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन हुआ है, जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं, उन मनुष्यों पर जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया हो।....मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उनके जीवन का परम ध्येय है, उसका शीतल विश्राम है और वह स्नेह, सेवा, करुणा की मूर्ति तथा सांत्वना का अभय, वरदहस्त का आश्रय, मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है।" एक अन्य स्थल पर उसने 'रमणी-रूप' की प्रशंसा में कहा है—"कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है, तो स्त्री करुणा है, जो अंतर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं, इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहक आवरण दिया है—रमणी का रूप।" प्रसाद ने अपनी इसी धारणा के अनुसार नारी पात्रों को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है।

५. **विदूषकों का प्रयोग**—यद्यपि प्रसादजी के नाटकों का वातावरण प्रायः गम्भीर ही है, उनमें हास्य के लिए बहुत कम अवकाश है, किन्तु फिर भी उन्होंने प्राचीन परम्परा के अनुसार विदूषकों की सृष्टि की है। ये विदूषक दो प्रकार के हैं—एक तो सामान्य पात्रों के रूप में, जो अपनी विनोदी प्रकृति के कारण नाटक के बीच-बीच में हास्य का संचार कर देते हैं—जैसे, महापिंगल, विकट घोष, काश्यप आदि। दूसरे, स्वतंत्र रूप में विदूषकों की सृष्टि की गई है, जैसे 'अजातशत्रु' में वसंतक एवं 'स्कंदगुप्त' में मुद्गल। इन विदूषकों की प्रकृति भी संस्कृत के नाटकों के विदूषकों से मिलती-जुलती है। वे राजाओं के अन्तरंग सखा के रूप में रहकर उनसे हास-परिहास, आलोचना-प्रत्यालोचना, एवं वाद-विवाद करते रहते हैं। कभी-कभी वे अप्रत्याशित रूप में उनकी अभीष्ट सिद्धि में भी योग देते हैं तथा समय-समय पर दूतत्व का भी कार्य करते रहते हैं। किन्तु कहीं-कहीं प्रसाद के विदूषक प्रभावित भी हो गए हैं—जैसे ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त में।

६. **काव्यात्मकता**—प्राचीन भारतीय धारणा के अनुसार नाटक में सभी प्रमुख कलाओं का समन्वय अपेक्षित माना जाता है। अतः उसमें काव्य कला और गीत काव्य का समन्वित होना भी स्वाभाविक है। किन्तु फिर भी भारतीय नाटकों में गीतों का प्रयोग अल्प मात्रा में ही होता था, जबकि प्रसादजी के नाटकों में इसका प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद इसे पारसी नाटकों का प्रभाव मानते हैं, किन्तु हम उनसे सहमत नहीं। प्रसादजी मूलतः कवि थे, अतः उनकी गद्य रचनाओं में भी काव्यत्व बलात् फूट पड़ता है। उनके हृदय का भावोच्छ्वास नाटकों में भी गीतों के रूप में स्फुटित हो गया है। गीतों में ही नहीं, उनके गद्यांशों में भी काव्योचित भावुकता का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है; जैसे—सुवासिनी के इस कथन में दृष्टव्य है—"अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर

की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है। आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।''

प्रसादजी ने अपने नाटकों में अधिक-से-अधिक गीतों को स्थान देने के लिए ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जिनको गाने का रोग-सा है। वे अवसर-कुअवसर पर, रोने या हँसने की बेला में, प्रसन्नता या शोक को व्यक्त करने के लिए गीतों का आश्रय ग्रहण करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में तो यह प्रवृत्ति बहुत ही व्यापक रूप धारण कर लेती है। उनमें एक नहीं, अनेक पात्र ऐसे हैं, जो कविता की भाषा में बातचीत करना पसन्द करते हैं—इनमें कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी आदि प्रमुख हैं। इन गीतों में प्रायः प्रणयोद्गारों की अभिव्यक्ति हुई है—

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त प्रेम करने की थी परवाह।
और किसको देना है हृदय चीन्हने को न तनिक थी चाह।

या—

आज इस यौवन के माधवी कुंज में
कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप।
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा।
बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात।
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात।
कौन मधु-मदिरा घोल रहा॥

उपर्युक्त पंक्तियों में सौन्दर्य, यौवन और प्रेम की ही अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु कहीं-कहीं प्रसाद ने उत्साह, रोष आदि भावों की व्यंजना के लिए ओजपूर्ण शैली में भी गीत लिखे हैं—

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाह सी।
सपूत मातृभूमि के—रुको न वीर साहसी।
अराति सैन्य सिंधु में—सुवाडवाग्नि से जलो।
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़े चलो॥

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के गीत नाटक के रंगमंच पर अनुकूल वातावरण सृजन में अच्छा सहयोग देते हैं। किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।'

७. **उत्साह, प्रेम और वैराग्य का निरूपण**—प्रसादजी के नाटकों में मुख्यतः तीन रसों का—वीर, शृङ्गार और शान्त का—चित्रण मिलता है, अतः उनमें क्रमशः

उत्साह, प्रेम और वैराग्य का निरूपण हुआ है। नाटक की मूल समस्या का सम्बन्ध प्रायः वीर रस से होता है, जबकि अवान्तर कथाओं में वे प्रेम की आयोजना करते हैं तथा उसका अन्त शान्त में परिणत कर देते हैं। संघर्ष और युद्ध की जलती हुई भूमि के बीच-बीच में प्रेम की ठंडी छाया का आयोजन करके प्रसाद ने अपने पात्रों और पाठकों के लिए प्रसन्नता का सुन्दर साधन जुटाया है। प्रसाद का प्रेम प्रथम दर्शन से उत्पन्न होनेवाला है। सौन्दर्य, यौवन और भावुकता के भार से अवनत सुन्दरियों से साहसी पराक्रमी वीरों का साक्षात्कर होता है तो उनकी प्रथम दृष्टि से ही उस चिनगारी का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसे 'प्रेम' कहते हैं। यह चिनगारी प्रसाद के अनेक पात्रों के हृदय में प्रस्फुटित होकर आगे चलकर धधकती हुई ज्वाला का रूप धारण कर लेती है। प्रसाद के प्रेमी-युग्म में चन्द्रलेखा-विशाख, वाजिरा-अजातशत्रु, मणिमाला-जनमेजय, विजया-स्कन्दगुप्त, कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त, अलका-सिंहरण आदि का प्रेम प्रथम दृष्टि से उत्पन्न प्रेम है।

प्रसाद में प्रेम के और भी अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। कहीं केवल वासना और लोभ पर आश्रित प्रेम है, जो कि शीघ्र ही बुदबुद की भाँति प्रस्फुटित होकर विलीन हो जाता है, कहीं वह रूप-सौन्दर्य के उपभोग की लालसा से प्रेरित है, जो विद्युत् की भाँति चमककर लुप्त हो जाता है। प्रसाद के प्रेम का सर्वश्रेष्ठ रूप वह है, जो त्याग और बलिदान की भूमि पर धीरे-धीरे विकसित होकर अन्त में स्वच्छ, पवित्र प्रणय का रूप धारण कर लेता है। दुर्भाग्य से यह प्रेम अन्त तक वियोगमय ही रहता है—नायक-नायिका मिलकर एक होने का सुयोग प्राप्त नहीं करते। नलिनजी के शब्दों में—"वह बचपन का प्रेम बढ़कर उद्दाम वेग धारण करता है और अतृप्ति के झुलसते शिला-खंडों से सिर पटक-पटककर रह जाता है। बचपन की स्वच्छ गंगाजल-सी क्रीड़ाएँ, जब यौवन की व्याकुल स्मृतियाँ बनती हैं तो हृदय छटपटा उठता है—वह निराश प्रेम सबसे अधिक करुण और बेचैन कर देनेवाला है। जिस प्रेम का बिरवा शैशव से उगते-उगते जवानी तक आते-आते फूलों से लद गया है, वह अतृप्ति की आग में झुलस जाय तो जीवन में एक गहरा अँधेरा न छा जायगा ?"

कुछ आलोचकों ने प्रसाद के वैराग्य भाव को भी भूल से निराश प्रेम मान लिया है। प्रसाद के कुछ पात्रों को अपने प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति का अवसर प्राप्त होता है, किन्तु वे जान-बूझकर उन्हें ठुकरा देते हैं; इसलिए नहीं कि उनके प्रेम में न्यूनता आ जाती है, अपितु इसलिए कि वे संयोग-सुख की अपेक्षा त्यागपूर्ण विरह को अधिक पसन्द करते हैं। इसका एक उदाहरण स्कन्दगुप्त और देवसेना का प्रेम है। वे अन्त में अवसर प्राप्त होने पर भी संयोग के स्थान पर विरहपूर्ण जीवन को स्वीकार कर लेते हैं। इसे हम 'निराश प्रेम' न कहकर 'वैराग्य भाव' कहेंगे। निराशा वहाँ होती है जहाँ चाहते हुए भी मिलन नहीं हो पाता, जबकि मिलन प्राप्त होते हु[illegible] उसे न चाहना, वैराग्य है। देवसेना द्वारा स्कन्दगुप्त को कहे गए ये शब्द निराश प्रेम को नहीं, वैराग्य को व्यक्त करते हैं—"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए

सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !!" इस प्रेम के सम्बन्ध में नलिनजी की सम्मति है—"ज्यों ही वह पास आता है, आकुल होकर वह यात्री पानी पीने को झुकता है, झरना सूख जाता है।" किन्तु ऐसी बात नहीं है—हमारी दृष्टि में वह झरना नहीं सूखता, अपितु उस पथिक की ही पानी पीने की इच्छा झरने को समीप पाकर शान्त हो जाती है, वह झरने का आस्वादन लेने की अपेक्षा उसकी स्मृति में जीवन बिताना ही श्रेयस्कर मान लेता है। प्रसाद के प्रेम-पूर्ण नाटकों की यह वैराग्यपूर्ण परिणति दार्शनिक दृष्टि से भले ही उचित हो, किन्तु उसे स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।

८. **महत् संदेश**—प्रसादजी ने आर्य तथा बौद्ध-दर्शनों का गम्भीर अनुशीलन किया था, तथा उन्होंने अपने इस अध्ययन के आधार पर अपना एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण निर्मित कर लिया था, जिसका परिचय उनकी रचनाओं में मिलता है। विशेषतः उन्होंने प्रेम, त्याग, बलिदान, वैराग्य और आध्यात्मिकता को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। इनके समर्थन मे अनेक उक्तियाँ उनके नाटकों में बिखरी पड़ी हैं। जो संदेश उन्होंने कामायनी में पद्यमय शब्दों में दिया है, उसी की अभिव्यक्ति कुछ अधिक स्पष्टता से उन्होंने अपने नाटकों की गद्यमय भाषा में की है। उन्होंने अपनी विचारधारा में लोक-मंगल और विश्व-बन्धुत्व की भावना को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। बौद्ध-दर्शन की करुणा और उसके दुःखवाद का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित होता है। नियतिवाद के भी वे समर्थक हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में इसके पक्ष में ही अनेक युक्तियाँ मिल जाती हैं—जैसे, "नियति सम्राटों से भी प्रबल है।" (शकटार), "तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन करने जा रही है।" (सिंहरण), "नियति सुन्दरी की भवों में बल पड़ने लगे हैं। (चाणक्य)।

९. **भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय**—भारतीय नाटक में 'रस' को प्रमुखता दी जाती है, जबकि पाश्चात्य नाटक में 'द्वन्द्व' को—प्रसाद ने अपने नाटकों में इन दोनों का ही समन्वय करके भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में जहाँ वीर और शृङ्गार की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ द्वन्द्व के भी विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है—जो ये हैं—(१) एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच द्वन्द्व या नायक और प्रतिनायक का संघर्ष। (२) एक ही मनुष्य में अनेक वृत्तियों का द्वन्द्व। (३) शुभ और अशुभ विचारों का व्यापक द्वन्द्व। प्रसाद के एक-एक नाटक में अनेक बाह्य एवं आन्तरिक संघर्ष के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद ने भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकों के अनेक नियमों का उल्लंघन किया है : भारतीय प्रणाली के विरुद्ध उन्होंने रंग-मञ्च पर वध के दृश्यों का आयोजन किया है तथा भरत-वाक्य, पंच-संधि, सुखान्त आदि का निर्वाह नहीं किया, तो दूसरी ओर उन्होंने संकलन-त्रय की उपेक्षा करके पाश्चात्य नियमों का उल्लंघन किया है, कहीं-कहीं प्रसाद ने पूर्वी और पश्चिमी नियमों से ऊपर उठ कर स्वतन्त्र दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है, जैसे उन्होंने सुखान्त और दुःखान्त—

दोनों को ठुकराकर नाटकों की परिणति प्रायः शान्त रस में की है। इसी प्रकार उनके नाटकों में नायक का निर्णय करना भी कठिन हो जाता है—जो उनके नाटकों की एक मौलिक प्रवृत्ति है।

प्रसाद के नाटकों में दोष

प्रसाद के नाटकों में रंगमञ्च की दृष्टि से अनेक दोष भी विद्यमान हैं। एक तो उनके नाटक बहुत बड़े हैं, दूसरे उनमें ऐसे दृश्यों का भी विधान है जिन्हें रंगमञ्च पर प्रस्तुत करना बहुत कठिन है। लम्बे-लम्बे संवाद और गीतों की भरमार है। दार्शनिक तत्त्वों की अधिकता के कारण वे सर्वसाधारण की समझ के बाहर हैं। इसके अतिरिक्त उनकी शैली में भी संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोगाधिक्य के कारण दुर्बोधता आ गई है। वस्तुतः उनके नाटक रंगमञ्च पर देखे जाने की अपेक्षा घर में बैठकर आराम से पढ़े जाने की वस्तु अधिक हैं। सर्वसाधारण के मनोरंजन की अपेक्षा वे विद्वानों के चिन्तन-मनन की सामग्री अधिक प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी हम सब स्वीकार करते हैं कि उनके नाटक-साहित्य का महत्त्व कम नहीं है। वे अभिनीत नहीं हो सकें तो न सही—सामान्य गद्य-पद्यमय रचना के रूप में भी ये हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। प्रसाद के कवि, कलाकार, नाटककार, दार्शनिक, इतिहासकार, रसिक-प्रेमी आदि सभी रूपों का एकत्र समन्वय उनके नाटकों में ही उपलब्ध होता है। हमारे साहित्य का यही एक ऐसा अंग है, जहाँ सभी प्रकार की रुचि के पाठकों के लिए पर्याप्त सामग्री एक ही साथ उपलब्ध होगी। प्रसाद के नाटक-साहित्य का महत्त्व नाटक-साहित्य के रूप में नहीं, अपितु सम्मान्य चम्पू साहित्य के रूप में सदा अक्षुण्ण रहेगा।

: छाँछठ :

पंत का प्रकृति-चित्रण

१. प्रकृति से कवि का सम्बन्ध ।

२. काव्य-प्रेरणा का स्रोत—प्रकृति ।

३. पन्त के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण का विकास—(क) वीणा, (ख) पल्लव, (ग) गुंजन, (घ) युगान्त, (ङ) युग-वाणी, (च) स्वर्ण-किरण, (छ) स्वर्ण-धूलि, (ज) उत्तरा, (झ) अतिमा ।

४. प्रकृति का विभिन्न रूपों में प्रयोग—(क) आलम्बन रूप में—वस्तु-परिगणन शैली, संश्लिष्ट चित्रण, मानवीय रूप, (ख) उद्दीपन रूप में, (ग) अभिव्यक्ति के माध्यम-रूप में, उपमान, विभिन्न अलंकारादि के रूप में, उपदेश-कथन के रूप में, दार्शनिक तथ्यों के आधार रूप में, प्रतीक के रूप में ।

५. उपसंहार ।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति की भी माया,
बाले ! तेरे बाल जाल में
कैसे उलझा दूं लोचन !

ये शब्द हैं प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत के, जिन्होंने प्रकृति के आलिंगन में आबद्ध होकर नारी के रूप-वैभव को भी ठुकरा दिया था। विश्व के न जाने कितने कवियों ने प्रकृति का चित्रण अपने काव्य में किया है, किन्तु प्रकृति के प्रति जैसा गहरा अनुराग इस महाकवि में परिलक्षित हुआ है, वैसा हमें किसी अन्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रकृति उनके लिए काव्य की वस्तु और उनकी साज-सज्जा का साधन ही नहीं, अपितु उनकी काव्य-प्रेरणा का स्रोत भी रही है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्माञ्चल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूंदकर लेटता था तो वह दृश्यपट मेरी आँखों के सामने घूमा करता था....और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत की तरह निश्चल रूप में अवस्थित है।"

प्रकृति की यह प्रेरणा कवि के लिए क्षणिक नहीं रही, अपितु वह उसके कवि-

जीवन का अंग बन गई है। कूर्माञ्चल प्रदेश के उस शस्य-श्यामल वातावरण से दूर हुए उन्हें वर्षों बीत गए हैं, किन्तु उससे उनके प्रकृति-प्रेम में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। इतना अवश्य है कि परिस्थितियों और समय के अनुसार उनके प्रकृति-प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहा है। 'वीणा' से लेकर 'प्रतिमा' तक की रचनाओं का क्रमिक अध्ययन हमारे इस कथन की सार्थकता प्रमाणित करेगा।

प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण का क्रमिक विकास

पंत की काव्य-चेतना का प्रकाशन सर्वप्रथम 'वीणा' के सरस, मृदुल, कोमल स्वरों में हुआ। इसके अधिकांश गीतों में प्रकृति-रानी के ही वैभव का गुण-गान हुआ है। कई स्थानों पर उसने प्रकृति को अपनी अध्यापिका मानकर उससे विभिन्न समस्याओं का समाधान माँगा है। प्रकृति के रूप-वैभव और ज्ञान-वैभव की तरंगों में कवि की आत्मा डूबकर लीन हो जाना चाहती है, जिससे कि वह भी प्रकृति-जैसा दिव्य-स्वरूप प्राप्त कर सके। 'मानव' जी के शब्दों में—"छाया से वह प्रार्थना करता है कि वह उसका मनस्ताप हरे, अन्धकार से कहता है कि वह उसे भी रंग-रहित होकर जीवन व्यतीत करना सिखलावे, सरिता से चाहता है कि वह भी उसी के समान गीत गा सके, निर्झर को देखकर उसकी कामना होती है कि वह भी उसी के जैसा आँसुओं का दान दे सके।" वस्तुतः 'वीणा' में कवि की प्रकृति के प्रति जिज्ञासा, आश्चर्य-भावना और लालसा व्यक्त हुई है।

'वीणा' का कवि प्रकृति के रूप-वैभव को नारी-सौन्दर्य से बढ़कर मानता है। इसका एक कारण यह भी है कि अभी कवि पंत की आत्मा में यौवन के उस उन्मादी स्वर की झंकार प्रस्फुटित ही नहीं हुई थी, जिसके प्रभाव से बालाओं का सौन्दर्य सौन्दर्य की अनुभूति प्रदान करने लगता है। किन्तु 'ग्रन्थि' में आकर कवि इस अनुभूति को प्राप्त कर लेता है। अतः प्रकृति के प्रति प्रारम्भिक आकर्षण में थोड़ी न्यूनता आ गई। यही कारण है कि 'पल्लव' की कविताओं में प्रकृति-प्रेम की गहराई के स्थान पर उसका काल्पनिक वर्णन उपलब्ध होता है। अस्तु, 'पल्लव' में प्रकृति का चित्रण विस्तृत रूप में होते हुए भी भावोत्तेजक नहीं है।

'गुंजन' तक आते-आते कवि, जीवन की ओर अधिक उन्मुख हो गया है। अब उसे प्रकृति के वैभव की अपेक्षा युवतियों के रूप-सौन्दर्य में अधिक आकर्षण अनुभव होने लगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'गुंजन' में वह प्रकृति को सर्वथा भूल गया है। 'गुंजन' में सर्वत्र प्रकृति विद्यमान है, किन्तु अब वह साध्य न रहकर साधन बन गई है। 'वीणा' में जो प्रकृति 'रानी' थी, वही अब यहाँ किसी रूपसी के आगे नत-मस्तक हो रही। पहले प्रकृति हँसती थी और नारी चिढ़ती थी, अब नारी हँसती है और प्रकृति ई[illegible] कारण लाल हो उठती है—

> तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार लग गई मधु के बन में ज्वाल।
> खड़े किंशुक, अनार, कचनार, लालसा की लौ से उठ लाल!!

जिस नारी को पहले कभी प्रकृति के सम्मुख हेय और तुच्छ घोषित किया।

वही अब कवि को इतनी प्रिय हो गई है कि प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे नारी से उधार लिया हुआ-सा प्रतीत होता है—

आज गृह, वन उपवन के पास। लोटता राशि-राशि हिम-हास।
खिल उठी आँगन में अवदात। कुन्द कलियों की कोमल पाँत।
मुस्करा दी थीं, बोलो प्राण! मुस्करा दी थीं तुम अनजान।

'गुंजन' के प्रकृति-वर्णन को आघात पहुँचानेवाली दूसरी प्रवृत्ति उसकी दार्शनिकता की भी है। 'कली', 'एक तारा', 'नौका-विहार' जैसी सुन्दर रचनाओं में भी प्रकृति के उज्ज्वल मुख पर दार्शनिक विचारों की छाया पड़ी हुई है, जिससे उसका सौंदर्य अस्पष्ट और धूमिल हो गया है। कहाँ चाँदनी रात में नदी की सैर और कहाँ कवि का यह 'शाश्वत' सम्बन्धी शुष्क उपदेश—

इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम।
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम
× × ×
शाश्वत लघु लहरों का विलास।

'युगान्त' में कवि सुन्दर से शिव की ओर अग्रसर हो गया है, अतः अब वह प्रकृति के रूप की अपेक्षा उसके उपयोग को अधिक महत्त्व देने लग गया है। वह संसार की विषमता दूर करने के लिए युग-परिवर्तन की आकांक्षा प्रकट करता है, अतः वह चाहता है कि कोकिल मधुर गानों के स्थान पर पावक-कण बरसावे जिससे संसार की प्राचीन रूढ़ियाँ भस्म हो जायँ। 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में भी इसी दृष्टिकोण का विकास हुआ है। 'ग्राम्या' में उसने प्रकृति के वैभवपूर्ण अंगों के स्थान पर उसकी दरिद्रावस्था का चित्रण किया है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' और 'उत्तरा' में कवि पुनः यथार्थ से आदर्श की ओर उन्मुख हुआ है, अतः इनमें प्रकृति के विराट् रूप का चित्रण हुआ है, वह उसके बाह्य स्वरूप की अपेक्षा उसकी सूक्ष्म आत्मा के उद्घाटन में प्रवृत्त हुआ है। "एक विलक्षण बात इन रचनाओं में यह पाई जाती है कि यहाँ प्रकृति से अधिक व्यक्ति प्रमुख हो गया है; व्यक्ति जैसे देवता है, प्रकृति उसकी उपासिका-मात्र। कहाँ 'वीणा' की वह प्रकृति जब व्यक्ति प्रकृति के चरणों में बैठकर शांति प्राप्त करता है और कहाँ 'उत्तरा' की यह प्रकृति जब व्यक्ति प्रकृति को अपने चरणों में बिठा लेता है।"

'प्रतिमा' में प्रकृति-वर्णन की विभिन्न शैलियों का प्रयोग हुआ है। कुछ रचनाओं में 'पल्लव' और 'गुंजन' के प्रकृति वर्णन से साम्य दृष्टिगोचर होता है तो कुछ में मानवीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। कुछ में उपदेशात्मकता का आग्रह है, तो कुछ में अरविन्दवाद की प्रतिष्ठा का प्रयास [illegible] वस्तुतः इनमें प्रकृति का शुद्ध रूप में वर्णन बहुत कम हुआ है।

इस प्रकार 'वीण[illegible]प्रतिमा' तक पंत ने प्रकृति का वर्णन विविध प्रकार से किया है, जिसे [illegible]न वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(१) [illegible]—जहाँ प्रकृति-वर्णन विशुद्ध प्रकृति-वर्णन के दृष्टिकोण से [illegible] गा [illegible]म्बन रूप' में लिया जायगा। आलम्बन रूप के अन्तर्गत भी कई

कई शैलियों का व्यवहार किया जाता है जैसे—(क) वस्तु-परिगणन-शैली, (ख) संश्लिष्ट चित्रण और (ग) मानवीय रूप में चित्रण। इनमें से प्रत्येक शैली का प्रयोग पंत काव्य में प्रचुर मात्रा में हुआ है। देखिए—

(क) वस्तु-परिगणन शैली—

नव वसन्त की रूप-राशि का ऋतु उत्सव यह उपवन,
सोच रहा हूँ जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन।
रंग रंग के खिले फलाक्स, वरवीना, छपे डियाथस,
नत दृग ऐंटिड्रिनम, तितली सी पेंजी पॉपी पालस,
हंसमुख कटीटपट, रेशमी चटकीले नेशटरशम,
खिली स्वीट पी—एवंडंस, फिल बास्केट औ' ब्लू वेंटस।

इस पद्य से कवि की विदेशी फूलों के सम्बन्ध में जानकारी का तो परिचय मिलता है, किन्तु उनमें काव्यत्व की छाया का अभाव है। संतोष है कि ऐसे 'केटेलॉग' पंत-काव्य में अधिक नहीं मिलते।

(ख) संश्लिष्ट चित्रण—इस क्षेत्र में पंतजी की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। पर्वतीय प्रदेश का चित्रण द्रष्टव्य है—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़॥
अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार।
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण सा फैला है विशाल॥

(ग) मानवीय रूप में—प्रकृति का मानवीकरण तो छायावादी कवियों की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है। पंत ने भी उसे शत-शत बार मानवी या नारी रूप में चित्रित किया है। कहीं वह उन्हें 'परित्यक्ता' के रूप में विरहिणी-जैसी दिखाई देती है, तो कहीं वह किसी 'रुग्णा जीवन बाला' के रूप में दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण देखिए—

जग के दुख दैन्य-शयन पर वह रुग्णा जीवन-बाला।
रे कब से जाग रही वह, आँसू की नीरव माला॥
पीली पड़, निर्बल, कोमल, कृश-देह-लता कुम्हलाई।
विवसना, लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई॥

आश्चर्य है कि कवि ने यहाँ 'चाँदनी' को ऐसे निराशाजनक रूप में चित्रित किया है। वस्तुतः यहाँ कवि के दृष्टिकोण में निजी परिस्थितियों का प्रभाव समन्वित है, फिर भी उसके चित्रण में स्वाभाविकता की थोड़ी झलक अवश्य मिलती है।

(२) **उद्दीपन रूप में**—जहाँ वर्णन तो किसी अन्य आलम्बन का हो रहा हो, किन्तु तत्सम्बन्धी भाव को अधिक पुष्ट करने के निमित्त प्रकृति का प्रयोग किया जाता है, उसे 'उद्दीपन रूप' कहा जाता है। यों कहिए कि कोयलों में लगी हुई आग को सुलगाने में जो उपयोग हवा का होता है, लगभग वैसा ही उपयोग प्रकृति के उद्दीपक रूप का भावनाओं के विकास में होता है। छायावादी कवियों ने उद्दीपन [illegible] प्रकृति क

उपयोग अधिक नहीं किया, किन्तु इसका सर्वथा अभाव नहीं है। पंत पंक्तियों में विरह-वेदना का उद्दीपन ऊषा की आशा, संध्या की उदासी, लहर... और सौरभ-समीर की ठंडी साँसों से दिखाया गया है—

> कब से विलोकती तुमको, ऊषा के वातायन से।
> संध्या उदास फिर जाती, सूने गृह के आँगन से ॥
> लहरें अधीर सरसी में, तुमको तकती उठ-उठ कर।
> सौरभ-समीर रह जाता, प्रेयसि ! ठंडी साँसें भर कर ! !

ध्यान रहे, यहाँ कवि आश्रय है, उसकी प्रेयसी आलम्बन तथा रति स्थायीभाव है ! ऊषा, संध्या आदि यहाँ उद्दीपन का कार्य सफलतापूर्वक करती हैं।

वियोग की भाँति मिलन की मधुर वेला में भी कवि को प्रकृति के कण-कण में अपनी भावनाओं का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। 'प्राण-प्रिया' के सान्निध्य से कवि का हृदय ही रोमांचित नहीं हो गया है, अपितु उसे गृह-वन-उपवन में राशि-राशि हास लोटता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रथम समागम की वेला में नववधू की मूकता और लज्जा के भार से उसे सारी प्रकृति मौन-सी, झुकी हुई-सी प्रतीत होती है—

> आज छाया चहुँदिशि चुपचाप, मृदुल मुकुलों का मौनालाप।
> रुपहली कलियों से कुछ लाल, लद गई पुलकित पीपल डाल ॥
> और वह पिक की मर्म-पुकार, प्रिये झर-झर पड़ती साभार।
> लाज से गड़ी न जाओ प्राण, मुस्करा दी क्या आज विहान ॥

कहना न होगा कि यहाँ कवि की अनुभूति से प्रकृति की चेष्टाएँ मिलकर एकाकार हो गई हैं। मानों एक-दूसरे के भावोद्दीपन में सहयोग दे रहे हैं।

३. **अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में**—आलम्बन और उद्दीपन के अतिरिक्त काव्य में प्रकृति का उपयोग अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भी होता है। कई बार भाव-व्यंजना का साधन बनाया जाता है, तो कई बार अर्थ की स्पष्टता के लिए उसका प्रयोग होता है। माध्यम के रूप भी प्रकृति-प्रयोग की अनेक शैलियाँ हैं, जिनमें से अनेक पंत-काव्य में उपलब्ध होती हैं। यहाँ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) **उपमान रूप में**—सूक्ष्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होता है। विशेषतः नारी के रूप-वैभव के अंकन के लिए तो आदिकाल से कविगण प्रकृति के ऐश्वर्य को लूटते रहे हैं। पंतजी की 'भावी पत्नी' की भी साज-सज्जा प्रकृति के ही अंगों के द्वारा हुई है—

> अरुण अधरों की पल्लव प्रात, मोतियों सा हिलता हिम-हास।
> इंद्रधनुषी पट से ढँक गात, बाल-विद्युत् का पावस-लास ॥

यहाँ 'पल्लव', 'इन्द्र-धनुष', 'बाल-विद्युत्', 'पावस' आदि का प्रयोग अत्यन्त सुन्दर रूपों में हुआ है।

(ख) **विभिन्न अलंकारों के रूप में**—हमारे प्राचीन आचार्यों द्वारा परिगणित प्रायः सभी अलंकारों के रूप में प्रकृति का प्रयोग किया जाता है। पंतजी ने अनेक अलंकारों में प्रकृति का प्रयोग सहज स्वाभाविक रूप में किया है—

नवल मेरे जीवन की डाल।
बन गई प्रेम-विहग का वास ।।

अन्योक्ति— भर गई कली, भर गई कली।

× × ×

निज वृन्त पर उसे खिलना था।
नव-नव लहरों से मिलना था।
निज सुख-दुख सहज बदलना था।
रे गेह छोड़ वह बह निकली।

अतिशयोक्ति—

तुम्हारी पी मुख वास तरंग, आज बौरे भौंरे सहकार।
चुनाती नित लवंग निज अंग, तन्वि ! तुम-सी बनते सुकुमार।

यहाँ हमने थोड़े-से ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, किन्तु पंत के काव्य में प्रकृति का प्रयोग इतनी प्रचुर मात्रा में हुआ है कि यहाँ सभी प्रकार के अलंकारों में प्रकृति की सामग्री का उपयोग ढूंढ़ा जा सकता है।

(ग) उपदेश-कथन के निमित्त प्रकृति का प्रयोग—यद्यपि पंत प्रारंभ में 'सुन्दरम्' के कवि रहे हैं, किन्तु आगे चलकर 'शिवम्' के भी साधक बन गए हैं, अतः उन्होंने प्रकृति को उपदेशात्मकता का भी साधन बनाया है। देखिए—

हँसमुख प्रसून सिखलाते, पल भर है जो हँस पाओ।
अपने उर के सौरभ से जग का आँगन भर जाओ।

(घ) दार्शनिक तथ्यों के आधार-रूप में—जब कविगण अपने कवित्व को भूल-दार्शनिकता की तरंग में बहने लगते हैं, तो वहाँ भी प्रकृति-रानी उनका साथ देती 'नौका-विहार' की मधुर वेला में कवि पंत को प्रकृति की शाश्वतता में जग की शाश्वतता का आभास होता है—

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार।
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा सा ही जग का क्रम,
शाश्वत इस जीवन का उद्गम।
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।

यहाँ प्रकृति से विचारों की पुष्टि की गई है, सरिता की शाश्वत गति में संसार की शाश्वत गति का संदेश दिया गया है।

(ङ) प्रतीक रूप में—छायावादी काव्य में प्रतीकों का प्रयोग अतिशय मात्रा में हुआ है। यह प्रवृत्ति कवि पंत में भी मिलती है—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली।
पर मुझे डूबने का भय है, भाती तट की चल-जल माली।

यहाँ 'मोती वाली मछली' ब्रह्म का प्रतीक है, 'निस्तल-जल' परमार्थ या जीवन

की तह का प्रतीक है। कवि इन प्रतीकों के द्वारा यह बतलाना चाहता है कि
की तह में जो परमार्थ तत्त्व छिपा है, उसे पकड़ने और उसमें लीन होने के लिए बहु
लोग अन्तर्मुख होकर गहरी डुबकियाँ लगाते हैं, पर कवि को तो उसका अव्यक्त रूप ही
रुचिकर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि पंत ने प्रकृति का प्रयोग अनेक रूपों और अनेक शैलियों में किया है। उनके काव्य में कहीं प्रकृति काव्य के मूलाधार रूप में विराजमान है, तो कहीं वह उसके साधन रूप में प्रयुक्त है। पंत के लिए प्रकृति प्रेयसी है, उनकी प्रेयसी के रूप-वैभव को सजानेवाली सहचरी है और उस प्रेयसी की साज-सज्जा भी वह स्वयं है। वह उनके हास-रुदन की प्रेरक है, उद्दीपक है और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। उन्हें चाहे उपदेश देना हो, या किसी दार्शनिक सिद्धान्त की पुष्टि करनी हो या किसी अपरिचिता से मौनालाप करना हो, प्रकृति उनकी सर्वत्र सहायिका के रूप में उपस्थित होती है। दूसरे शब्दों में प्रकृति ही कवि पंत की वाणी है, भाषा है, अलंकृति है, भावना है, और विचार-धारा है! ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विचारों की समस्त निधि, भावनाओं का समस्त आह्लाद, सौन्दर्य का समस्त वैभव और गीतों का समस्त माधुर्य अपनी चिर-प्रेयसी प्रकृति से ही प्राप्त किया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इन पंक्तियों में मिलता है—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से, करा दो ना कुछ मधु-पान।

:: सरसठ ::

महादेवी का वेदना-भाव

१. भूमिका।
२. वेदना के स्वरूप की मीमांसा।
३. वेदना का जीवन में प्रवेश।
४. वेदना का आलम्बन।
५. वेदना का उद्दीपन—प्रकृति।
६. वेदना के अनुभाव।
७. संचारी भाव एवं विभिन्न भाव-दशाएँ।
८. साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति।

आधुनिक युगीन हिन्दी-कवयित्री महादेवी के काव्य में वेदना की एक ऐसी धारा सर्वत्र प्रवहमान है, जो कि पाठकों और आलोचकों के लिए एक अस्पष्ट, जटिल एवं दुर्बोध विषय बना हुआ है। हमारे विभिन्न विद्वानों ने इसे समझने और समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु द्रौपदी के चीर की भाँति इसकी दुर्बोधता का आवरण अधिकाधिक बढ़ता ही गया है। स्वयं कवयित्री ने भी इस पर यत्र-तत्र प्रकाश डालने का प्रयास किया है, किन्तु इससे भी इसकी रहस्यात्मकता का पर्दा विच्छिन्न नहीं हो सका। हमारे विचार से यदि पूर्व-घोषित धारणाओं से बचकर महादेवी के जीवन और काव्य की भाव-भूमि को ध्यान में रखते हुए इसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो इसका किंचित् स्पष्टीकरण संभव है।

'वेदना' के स्वरूप की मीमांसा

महादेवी ने अपने इस 'वेदना-भाव' का 'वेदना', 'पीड़ा' आदि शब्दों में उल्लेख किया है—

मेरो मधुमय पीड़ा को कोई पर ढूंढ़ न पाये।

× × ×

पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में

× × ×

गई वह अधरों की मुस्कान, मुझे मधुमय पीड़ा में बोर

× × ×

उपर्युक्त पंक्तियों में जहाँ भी वेदना या पीड़ा का उल्लेख हुआ है, वहाँ उसके साथ मधुर विशलेषण का प्रयोग भी सर्वत्र हुआ है; जैसे—'मधुमय पीड़ा', 'वेदना के मधुर

क्य', '[illegible]य पीड़ा'। साधारणतः वेदना या पीड़ा मधुमय नहीं होती;
है, [illegible]ना या पीड़ा कहकर सुख और प्रसन्नता का नाम देना
कि[illegible]अनुभूति ऐसी भी होती है जिसमें एक ओर हृदय में अमित
तो [illegible]ओर अत्यधिक पीड़ा भी। उस मीठी और तीखी अनुभूति को '
क[illegible] जाती है। प्रणयानुभूति में मधुरता और वेदना दोनों का
हो[illegible]इसका प्रमाण अनेक प्रेमी-कवियों की वाणी में मिलता है।
'दुहेली दसा' (दो हरी दशा—दुख और सुख की) बताते हुए लिखते हैं—

निपट कठोर ये हो ऐंचत न आप-ओर,
लाडिले सुजान सों दुहेली दसा को कहै।
× × ×
विरह समीर की झकोरनि अधीर नेह,
नीर भीज्यौ जीव, मऊ गुड़ी लौं उड़्यौ रहै॥

आधुनिक कवि प्रसाद ने प्रेम को 'हलाहल' और 'सुधा' दोनों
है—

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते हैं।
विरह सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥

उर्दू कवि गालिब और मीर ने भी प्रेम को एक मीठी आग या हृद
वाली अस्पष्ट अनुभूति माना है—

शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफता
एक आग-सी है दिल में हमारे लगी हुई।

इश्को मुहब्बत क्या जानूं, लेकिन इतना मैं जानूं हूं।
अन्दर अन्दर सोने में मेरे दिल को कोई खाता है।

एक अंग्रेजी के कवि ने भी प्रेम को आनन्द और वेदना का के
है—

"Love ! What a volume in a word ! An ocean in a
A seventh heaven in a glance ! A whirlwind in a
The lightning in a touch ! A millennium in a mo
What concentrated joy or woe ! In blessed or blighted

कहने का तात्पर्य यह कि कवियों की दुनिया में प्रेम को हर्ष और
बताने का प्रचलन बराबर रहा है, अतः महादेवी की यह 'मधुर पीड़ा'
पर्यायवाची कही जा सकती है।

महादेवी के इस 'वेदना-भाव' की अन्य विशेषताएँ भी प्रणय-भाव
हैं। उस वेदना का उद्भव किसी के 'अधरों की मुस्कान' या किसी की
बताया गया है। इसी प्रकार निम्नांकित अंश देखिए—

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा तुम में ढूंढूंगी पीड़ा॥

आलोचक, जिन्होंने यहाँ 'पीड़ा' शब्द को प्रचलित अर्थ में ग्रहण किया है, र्थ स्पष्ट करने में असफल रहे हैं। महादेवी वर्मा के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री ाव' लिखते हैं—"अन्तिम पीड़ा शब्द का अर्थ है 'पीड़ामय हृदय'। जिसके ड़ा सही है, उस निष्ठुर के हृदय में भी कभी दर्द उठता है या नहीं, यह ना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। जिस पीड़ा ने महादेवीजी को उस निष्ठुर उसकी प्राप्ति पर वे अपने साथ उपकार करनेवाली को भूल जाएँ, इतनी ोजी नहीं हैं। पर लक्ष्य 'तुम' ही है, पीड़ा नहीं।" मानव जी की यह असंगतियों के कारण अस्पष्ट है। एक तो यह समझ में नहीं आता कि ा अपने प्रिय के हृदय में दर्द क्यों देखना चाहेगी ? फिर महादेवीजी स्थायी की बात कहती हैं, जबकि 'मानव' जी 'कभी दर्द उठता है या नहीं' यह जानने हकर कवयित्री के मूल भाव को ही बदल देते हैं। महादेवीजी स्पष्ट कहती ं ढूंढूंगी पीड़ा"—अर्थात् उनके लिए 'तुम' गौण है, 'पीड़ा' प्रधान; किन्तु 'मानव' जी लिखते हैं, 'लक्ष्य तुम ही है पीड़ा नहीं।' व्याख्या में मूल भाव : किया जाता है, किन्तु मानव जी ने मूल भाव को भी उलट दिया है। ऽ अंश में 'पीड़ा' का अर्थ प्रेम या प्रणय है। प्रेम से ही कवयित्री को प्रिय-हुई और प्रियतम में भी वह पीड़ा अर्थात् प्रेम ढूंढ़ना चाहती हैं। प्रेमरहित ा प्रियतम से किसी भी प्रेमिका को आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है, अतः ह कहना कि "तुम में ढूंढूंगी पीड़ा!" ठीक ही है।

वी के इस 'पीड़ा' शब्द के सांकेतिक अर्थ प्रेम को न समझने के कारण कुछ पर अनेक आक्षेप भी किए हैं। जैनेन्द्रजी कहते हैं—"घायल घाव नहीं मालूम होता है, उनकी गति घायल की है ही नहीं।" श्री सत्यपाल चुघ अवश्य ही वेदना उनको प्रिय भी है और इसका उनके जीवन-दर्शन से से सम्बन्ध भी है। तो क्या जो बात किसी को प्रिय हो, वही उसका जीवन-ो ? ऐसा आवश्यक तो नहीं, किन्तु महादेवी-जैसी परिपक्व बुद्धिशीला ए आवश्यक है, क्योंकि हम उनसे किसी सस्ती भावुकता की आशा नहीं और फिर कितनी ही कविताओं में वेदना साध्य बन गई है।" इस गहरी श्चात् विद्वान् लेखक इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहा। महादेवी ेचक श्री विश्वम्भर 'मानव' भी इन आक्षेपों को स्वीकार करते हुए लिखते ोजी की पीड़ा-भावना पर एक आक्षेप किया जा सकता है। कितना ही ो, उसकी अन्तिम अभिलाषा होती है साध्य से एकाकार होने की। उस शान्त हो जानी चाहिए। साधन कितना ही मूल्यवान हो, साध्य का स्थान ा। यदि सभी प्रेमियों की भाँति महादेवी इस निर्णय पर पहुँची हैं कि हुँचने का मार्ग पीड़ा के भीतर से गया है—पथ में बिखरा शूल, बुला अकेले—तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं। पर पथ पार कर लेने पर भी

काँटों को कलेजे से चिपटाए रखने की, पीके पल्ले को न छोड़ने की, हठ कैसी है ?" यहाँ भी 'मानव' जी के पीड़ा-सम्बन्धी उप समस्त आक्षेप सारहीन हो जाते हैं। भला, कोई भी प्रेयसी प्रियतम-प्राप्ति के अनन्तर प्रेम को कैसे त्याग सकती है ? वही तो उसका साध्य है।

एक बात और है—कई बार महा अपनी पीड़ा को सुरक्षित रखने के लिए प्रियतम के मिलन तक को ठुकरा देती है; सा क्यों ? बात यह कि कवयित्री अद्वैत-वाद में विश्वास रखती हुई भी द्वैत स्थिति-यह द्वैत के मिथ्या आभास—को ही अधिक पसन्द करती है। आत्मा से परमात्मा के ल जाने का अर्थ है—दोनों का एकाकार हो जाना, या आत्मा का निर्वाण या मोक्ष जाना। इस अद्वैतावस्था में न कोई प्रेमी रहता है और न प्रेयसी। प्रेम का यह समव्यापार तभी तक चल सकता है, जब तक कि कवयित्री अपनी पृथक् सत्ता—भले ही वह मिथ्या आभास ही क्यों न हो—बनाए रखे। अतः शान्तिपूर्ण नि[illegible] मोक्ष अपेक्षा वह प्रणय-युक्त द्वैत के अनुभव को अधिक पसन्द करती है। [illegible] है कि वह अपने इसी सशरीर जीवन में प्रियतम के दर्शन चाहती है, जि[illegible] वह अपद्वैत स्थिति के साथ-साथ प्रेम-रस का भी आस्वादन करती रहे—

तुम्हें बाँध प सपने में
तो चिर [illegible] प्यास बुझा ी उस छोटे क्षण अपने में।

×

शाप मु[illegible] ता वर सा, झर मधु का भास अजर सा,
रचती [illegible] स्वर्ग एक ल प्राणों के स्पन्दन में।

× ×

प्रिय ! मैं ले बाँध मुक्ति
सौ सौ लघुतम बन्धन अपने में,
तुम्हें बाँध प सपने में,

उपर्युक्त [illegible] से स्पष्ट है कि म वी ने 'वेदना' या 'पीड़ा' शब्द का प्रयोग 'प्रणय' के अर्थ [illegible] किया है; उनके प्र में विरह का आधिक्य है, अतः उसे इस संज्ञा से अभिहि[illegible] उचित ही है।

वेदना का जीवन में प्रवेश

[illegible] महा[illegible] के जीवन में इस वेदना प्रवेश या उन्मेष किस प्रकार हुआ—इसका [illegible] उन[illegible] बार अपने गीतों में बत है। उस समय कवयित्री एक मुग्धा बाला [illegible] बोल अभी तक खुले थे कि उसी समय किसी की चितवन से [illegible] दा के लिए पीड़ा या प्र के बन्धन में बँध गई—

[illegible] ललचाई पलकों पर, रा जब था व्रीड़ा का।
[illegible] राज्य मुझे दे डाला, चितवन ने पीड़ा का।

वेदना भाव का उद्दीपन—प्रकृति

लौकिक शृङ्गार के क्षेत्र में प्रकृति के उद्दीपन की चर्चा कवियों और आचार्यों द्वारा बराबर होती रही है। महादेवी के अलौकिक प्रेम में भी प्रकृति के विभिन्न अवयवों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। छायावादी कवियों की दृष्टि में तो प्रकृति सजीव मानवी रूप में गोचर होती है, अतः उन्हें उसमें अपनी ही भावनाओं का प्रति-रूप दिखाई दे तो स्वाभाविक ही है। महादेवीजी भी प्रकृति के क्रिया-कलापों में अपने प्रणय के स्वप्नों का साक्षात्कार करती हैं—

जिस दिन नीरव तारों से, बोली किरणों की अलकें,
सो जाओ अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।

कवयित्री अपनी ही मनःस्थिति के अनुकूल प्रकृति के भी कण-कण में करुणा, वेदना और आंसुओं का दर्शन करती है—

झूम झूम कर मतवाली सी पिये वेदनाओं का प्याला,
प्राणों में रुँधी निःश्वासें आतीं ले मेघों की माला,
उसके रह रह कर रोने में, मिलकर विद्युत् के खोने में।
धीरे से सूने आंगन में फैला जब जाती है रातें,
भर-भर कर ठण्डी सांसों में मोती से आंसू की पांतें,
उनकी सिहराई कम्पन में किरणों से प्यासे चुम्बन में।

किन्तु विद्युत् और मेघों की यही लीला मिलनाकांक्षाओं की वेला में हर्ष, उल्लास और माधुर्य से विलसित दृष्टिगोचर होती है। कवयित्री के जीवन में आशा और उल्लास का संचार होता है तो उसे मेघ मुस्काते हुए, जलधर हँसते हुए और विद्युत् प्रणय की सुनहरी पाश के सदृश प्रतीत होती हैं—

मुस्काता संकेत भरा नभ अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं।
विद्युत् के चल स्वर्ण-पाश में बँध हँस देता रोता जलधर।
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर।
दिन निशि को, देती निशि दिन को
कनक रजत के मधु प्याले हैं।।

वस्तुतः प्रकृति के उद्दीपन रूप की व्यंजना महादेवी ने सफलतापूर्वक की है।

प्रेयसी के अनुभव

यद्यपि महादेवीजी ने अपनी वेदनानुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त सूक्ष्म रूप में की है, किन्तु फिर भी उनके काव्य में विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवं सात्त्विक अनुभवों का चित्रण यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। देखिए—

अलि कैसे उनको पाऊँ!
वे आंसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल जाते।
इन पलकों के बंधन में मैं बाँध-बाँध पछताऊँ।।

× × ×

चुपके से मानस में आ छिपते उच्छ्वासें बन।
जिसमें उनको साँसों में देखूँ पर रोक न पाऊँ।।

किन्तु जैसा कि स्वयं कवयित्री जी ने लिखा है, वे अपने 'अनुभवों' को व्यक्त नहीं होने देतीं—'मेरी आहें सोती हैं, इन ओठों की चोटों में'—फिर भी उनके आँसुओं की चर्चा उनके काव्य में प्रायः मिलती है; जैसे—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन, आज नयन आते क्यों भर भर!

संचारी भाव एवं विभिन्न भाव-दशाएँ

महादेवी के वेदना-भाव में, जो कि प्रेम का पर्यायवाची है, दो अन्य भाव सदा सहचारी रूप में मिश्रित रहते हैं—एक है जगत् के दीन-दुखियों के प्रति करुण भाव और दूसरा निजी वैभव के प्रति निर्वेद का भाव। कुछ गीतों में उन्होंने इन दो भावों का स्वतन्त्र रूप से भी चित्रण किया है। कवयित्री स्वयं विरहिणी है, अतः उसका प्रकृति और जगत् के शोकातुर प्राणियों के प्रति संवेदना व्यक्त करना स्वाभाविक है। यद्यपि इस कारण भावना का उनके काव्य के स्थायी भाव—प्रणय भाव—से बिलकुल सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु फिर भी यह उसके विकास में सहायक ही सिद्ध होता है। फूलों के जीवन की दुःखमय परिणति को देखकर कवयित्री के अपने हृदय की वेदना जागृत हो जाती है—

देकर सौरभ दान पवन से कहते जब मुरझाये फूल,
जिसके पथ में बिछे वही क्यों भरता इन आँखों में धूल?
'अब इनमें क्या सार', मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार,
मर्मर का रोदन कहता है, "कितना निष्ठुर है संसार।"

वस्तुतः यहाँ 'मर्मर का रोदन' नहीं, स्वयं कवयित्री का हृदय ही इस निष्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।

कवयित्री को अपनी प्रणय-वेदना से जितना अनुराग है, उतना ही उसे अपने करुणा भाव से स्नेह है। वे इस तथ्य को स्पष्ट रूप में स्वीकार करती हुई लिखती हैं—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र [illegible] खने की क्षमता रखता है.... मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु [illegible] को बाँटकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना [illegible] ार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-विन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का [illegible]।" दुःख और प्रणय-वेदना—इन दोनों भावों का अन्तर भी उन्हें स्पष्ट रूप से [illegible]— "मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशी[illegible] को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल [illegible] सीमा के बंधन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।"

'करुण' भाव के अतिरिक्त महादेवी में प्रणय-भाव के अनेक अन्य संचा[illegible] विभिन्न प्रणय-दशाओं का विकास भी दृष्टिगोचर होता है। पहले कुछ संच[illegible] देखिए—

उनसे कैसे छोटा है, मेरा यह भिक्षुक जीवन।
उनमें अनन्त करुणा है, इसमें असीम सूनापन ॥

चिन्ता क्या है हे निर्मम बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा ॥

दम्भ—

सिन्धु को क्या परिचय दें देव ! बिगड़ते बनते वीचि विलास।
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद प्राण तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश ॥

इसी प्रकार प्रेम की विभिन्न भाव-दशाओं—मिलनाकांक्षा, प्रतीक्षा, अभिसार, मिलन, विरह आदि का निरूपण भी उनके काव्य में हुआ है। उनको प्राप्त करने की आकांक्षा—"अलि कैसे उनको पाऊँ!" में व्यक्त हुई, तो मिलन के मधुर स्वप्नों की कल्पना करती हुई वे कहती हैं—

जब असीम से हो जायगा, मेरी लघु सीमा का मेल।
देखोगे तुम देव, अमरता खेलेगी मिटने का खेल ॥

मिलन की आशा से उनके हृदय और मन की क्या दशा हो जाती है—देखिए—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन, आज नयन आते क्यों भर भर
× × ×
तुम विद्युत् बन, आओ पाहुन। मेरी पलकों में पग धर धर ॥

महादेवी अपने कई गीतों मे मिलन की तैयारी करती हुई दिखाई पड़ती हैं, जैसे—

हे नभ की दीपावलियो, तुम पल भर को बुझ जाना।
मेरे प्रियतम को भाता है, तम के पर्दे में आना ॥

किन्तु अन्त मे वह आता है या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख उनके काव्य में नहीं मिलता। संभवतः उस अलौकिक प्रियतम से जीवन में मिलना संभव भी नहीं। आत्मा शरीर से मुक्त होकर ही परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है, किन्तु उस स्थिति में दोनों का द्वैत-भाव नष्ट हो जायगा और द्वैत नष्ट होते ही प्रेम का आधार समाप्त हो जायगा। इसलिए महादेवी इस प्रेम-शून्य मिलन की अपेक्षा प्रेमयुक्त विरह को ही स्वीकार किए हुए हैं—

"मिलन का मत नाम ले, विरह में मैं चिर हूँ।"

[illegible]ीकरण एवं रस-निष्पत्ति

[illegible] यद्यपि महादेवी के काव्य में रस के सभी प्रमुख अवयव विद्यमान हैं, किन्तु फिर [illegible]के वेदना-भाव (या प्रणय-भाव) के साथ पाठक का पूर्णतः साधारणीकरण नहीं [illegible]ा। इसका एक कारण तो यह है कि स्वयं कवयित्री में भी अनुभूति की गहराई [illegible]लती; ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने अधिकांश गीत कल्पना और विचार [illegible]ार पर लिखे हैं। दूसरे, उनका आलम्बन अलौकिक है, जिसका प्रत्यक्ष रूप में

साक्षात्कार पाठक नहीं कर पाता, कभी-कभी उसकी मुस्कराहट की बात अवश्य महादेवी के मुँह से सुनने को मिलती है। कबीर ने अपने अलौकिक प्रेम को दाम्पत्य-जीवन के लौकिक रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे पाठक का उनसे तादात्म्य स्थापित हो जाता है, किन्तु महादेवी के काव्य में यह बात नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त महादेवी की शैली में संकेतात्मकता, व्यंग्यात्मकता एवं अस्पष्टता भी आवश्यकता से अधिक है, जिससे रसानुभूति में बाधा उपस्थित होती है। महादेवी के गीत हमारे हृदय को रस से आप्लावित नहीं कर पाते। हाँ, मस्तिष्क के व्यायाम के लिए वे आधुनिक ढंग के सुन्दर साधन अवश्य हैं। फिर भी इतना स्वीकार करना होगा कि उनके काव्य-उपवन में अस्पष्टता की कँटीली झाड़ियों के बीच-बीच में कुछ ऐसी पंक्तियों-रूपी लताएँ भी विद्यमान हैं, जिनके पुष्प-रस से पाठक का हृदय कुछ क्षणों के लिए भाव-विभोर हो जाता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि उनके काव्य में थोड़ी मात्रा में भाव या अनुभूति, उससे अधिक मात्रा में विचार और सबसे अधिक मात्रा में कल्पना है। अतः उनसे काव्य में कविता, दर्शन और चित्रकला तीनों का स्वाद एक ही साथ उपलब्ध हो जाता है, यह दूसरी बात है कि कभी-कभी एक का स्वाद दूसरे के रस में बाधक सिद्ध होता है।[1]

---

१. महादेवी-काव्य की विस्तृत समीक्षा के लिए द्रष्टव्य—'महादेवी : [illegible] मूल्यांकन' शीर्षक लेखक की नयी पुस्तक।

:: अड़सठ ::

दिनकर की उर्वशी : प्रतीक-योजना एवं प्रतिपाद्य

१. 'उर्वशी' का सामान्य परिचय ।
२. कवि का उद्देश्य ।
३. पात्रों की प्रतीकात्मकता (प्रतिनिधित्व)
४. काम-दर्शन ।
५. प्रेम के विभिन्न रूप एवं पक्ष ।
६. उपसंहार ।

'उर्वशी' महाकवि दिनकर की महत्त्वपूर्ण काव्य-रचना है जिसमें कवि ने उर्वशी-पुरूरवा के प्राचीन आख्यान को नयी दृष्टि, नूतन भाव-भूमि एवं आधुनिक विचार-धारा से समन्वित करके प्रस्तुत किया है। उर्वशी एवं पुरूरवा के प्रेमाख्यान को भारत का ही नहीं विश्व का भी प्राचीनतम उपलब्ध प्रेमाख्यान कहा जा सकता है क्योंकि इसका निरूपण सर्वप्रथम ऋग्वेद के दसवें मंडल में हुआ है तथा ऋग्वेद को विश्व के उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीनतम माना जाता है। इस दृष्टि से यह आख्यान मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के एक अत्यन्त प्राचीन रूप को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद के अनन्तर शतपथ ब्राह्मण, पौराणिक ग्रन्थों एवं कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' में भी इस आख्यान का निरूपण विभिन्न रूपों में हुआ है। वस्तुतः उर्वशी भारतीय साहित्य का एक ऐसा चरित्र है जिसके दर्शन वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक की विभिन्न रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। दिनकर से पूर्व बंगला में रवीन्द्रनाथ भी उर्वशी पर सुन्दर काव्यात्मक रचना प्रस्तुत कर चुके थे।

दिनकर ने पुरूरवा-उर्वशी के आख्यान को एक विशेष उद्देश्य से ग्रहण किया है, जिसका संकेत करते हुए उन्होंने इस काव्य की भूमिका में लिखा है—"सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।...... मनु और इड़ा का आख्यान तर्क, मस्तिष्क विज्ञान और जीवन की सोद्देश्य साधना का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के अर्थ-पक्ष को महत्त्व देता है। किन्तु, पुरूरवा-उर्वशी का आख्यान भावना; हृदय कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के काम-पक्ष का माहात्म्य बताता है।" इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'उर्वशी' के रचयिता के मन में इस आख्यान के पौराणिक इतिवृत्त के भावात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ उसके वैचारिक

अर्थ के प्रति भी विशेष आकर्षण रहा है तथा उसने उर्वशी-पुरूरवा के माध्यम से जीवन के भाव-पक्ष, निरुद्देश्य आनन्द एवं काम-पक्ष के माहात्म्य को भी व्यंजित किया है। इस दृष्टि से इस काव्य के विभिन्न पात्र विभिन्न वैचारिक तत्त्वों या सूत्रों के प्रतीक माने जायँ तो अनुचित न होगा। वस्तुतः स्वयं कवि ने भी भूमिका में इन पात्रों के प्रतीकार्थ का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है, जिसके आधार पर इस काव्य के प्रतिपाद्य को भली-भाँति समझा जा सकता है।

यद्यपि स्वयं कवि ने उर्वशी-पुरूरवा के आख्यान का मूल प्रतिपाद्य या लक्ष्य 'निरुद्देश्य आनन्द की महिमा' या 'काम-पक्ष का माहात्म्य' ही माना है तथा इन दोनों को समानान्तर रूप में प्रस्तुत करते हुए इन्हें एक-दूसरे का पर्याय ही बताया है; तथा इसकी पुष्टि आगे चलकर इस बात से भी हो जाती है कि उन्होंने 'उर्वशी' का शब्दार्थ उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना मानते हुए उसे कामनाओं का प्रतीक बताया है तथा पुरूरवा को 'ऐन्द्रिय सुखों से उद्वेलित' व्यक्ति का प्रतीक माना है; किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शेष पात्रों का कोई प्रतीकार्थ नहीं है। हमारे विचार में जहाँ उर्वशी और अन्य अप्सराएँ काम के निरुद्देश्य या स्वच्छन्द रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं, वहाँ पुरूरवा काम या प्रेम के सोद्देश्य रूप को प्रस्तुत करता है। साथ ही पुरूरवा की पत्नी औशीनरी उस मर्यादित एवं समर्पित काम या प्रेम को चरितार्थ करती है जिसे सामान्यतः पातिव्रत धर्म या सतीत्व का आदर्श कहा जाता है तथा च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या पति-पत्नी के आदर्श एवं संतुलित प्रेम को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार 'उर्वशी' के विभिन्न पात्र काम या प्रेम-दर्शन के चार रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

प्रकार	विशेषता	प्रतिनिधि
१. स्वतंत्र या स्वच्छन्द काम (प्रेम)	(क) निरुद्देश्य (ख) विवाह की मर्यादा से रहित (ग) सन्तान-प्राप्ति की भी उपेक्षा (घ) शुद्ध वासना की प्रेरणा से प्रेरित। (ङ) केवल आनन्द लक्ष्य	उर्वशी तथा उसकी सखियाँ। (मुख्यतः रंभा)
२. शुद्ध भावात्मक काम या प्रेम	(क) उद्देश्य— शारीरिक स्तर से ऊपर मन और आत्मा की तादात्म्य स्थापना। (ख) स्थिर एवं स्थायी भावात्मक सम्बन्ध। (ग) प्रेम योग द्वारा देवत्व एवं परमेश्वर की उपलब्धि।	पुरूरवा

३. दाम्पत्य जीवन का एकांगी रूप	(क) पत्नी सतीत्व के आदर्श से अनुप्राणित । (ख) पति (पुरुष) को अन्य से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता । (ग) सन्तानोत्पत्ति ही लक्ष्य ।	औशीनरी
४. दाम्पत्य जीवन का संतुलित या उभयपक्षी रूप	(क) पति के लिए पत्नी ईश्वर द्वारा प्रदत्त वरदान या सिद्धि तथा पत्नी के लिए पति वरदान । (अन्योन्याश्रित प्रेम) (ख) काम, वासना और भोग से ऊपर उठा हुआ शुद्ध एकोन्मुख, आत्मिक एवं स्थायी प्रणय । (ग) आत्म-विकास एवं आदर्श समाज की स्थापना ही लक्ष्य ।	च्यवन एवं उनकी पत्नी सुकन्या

इस प्रकार उपर्युक्त चार वर्गों के माध्यम से कवि ने मानव-सभ्यता के इतिहास में प्राप्त चार प्रकार की प्रमुख व्यवस्था-पद्धतियों के आधार पर पुरुष-नारी के यौन-सम्बन्धों या काम व प्रणय के स्वरूपों का निरूपण करते हुए काम-दर्शन की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है । वैसे देखा जाय तो आज के मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, समाज-शास्त्री एवं दार्शनिक भी यौन-सम्बन्धों के इन रूपों पर अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार करते हुए इनके महत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत कर रहे हैं । मानव-संस्कृति के भावी विकास की दृष्टि से काम या प्रेम का कौन-सा रूप ग्राह्य है—इस सम्बन्ध में आज के मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं दार्शनिक एकमत नहीं हैं । अतः कहना चाहिए कि काम का कौन-सा रूप ग्राह्य है—यह प्रश्न आज के मनुष्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है; एक यूनिवर्सल समस्या है, जिसे डा० दिनकर ने काव्यात्मक माध्यम से प्रस्तुत करते हुए इसके सभी पक्षों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया है ।

डा० दिनकर उपर्युक्त चार पक्षों में से किसका समर्थन करते हैं—या उनके मत में कौन-सा रूप ग्राह्य है—इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें क्रमशः इन चारों रूपों या पक्षों का विश्लेषण 'उर्वशी' के आधार पर करना होगा । सर्वप्रथम हम स्वयं उर्वशी, के द्वारा प्रस्तुत पक्ष को ही लेते हैं ।

उर्वशी काम या प्रेम के जिस पक्ष को प्रस्तुत करती है, उसे संक्षेप में 'स्वच्छन्द-प्रेम' की संज्ञा दी जा सकती है । भारतीय पुराणों के अनुसार उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा थी, तथा अप्सराओं के लिए किसी व्यक्ति से स्थायी सम्बन्ध रखना आवश्यक नहीं है ।

इसीलिए वे न तो किसी एक व्यक्ति की पत्नी बनती हैं और न ही वे विवाह एवं दाम्पत्य का बन्धन स्वीकार करती हैं। यह बात न केवल उर्वशी पर अपितु रंभा, मेनका आदि अन्य अप्सराओं पर भी लागू होती है। इस काव्य में भी केवल उर्वशी ही नहीं, रंभा, मेनका, सहजन्या आदि अप्सराएँ भी प्रेम के इसी रूप का प्रतिपादन करती हुई दिखाई पड़ती हैं। विशेषतः रंभा के द्वारा इसकी व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट रूप में हुई है; यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> **सहजन्ये! पर हम परियों का इतना भी रोना क्या!**
> **किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या?**
>
> × × ×
>
> **प्रेम मानवों की निधि है, अपनी तो वह क्रीड़ा है।**
>
> × × ×
>
> **नहीं पुष्प ही अलम् वहाँ फल भी जनना होता है।**
> **जो भी करती प्रेम उसे माता बनना होता है।**
>
> × × ×
>
> **पर माता बनकर नारी क्या क्लेश नहीं सहती है।**
> **तन हो जाता शिथिल, दान में यौवन गल जाता है।**

उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है कि इस स्वच्छन्द प्रेम में नर नारी किसी एक से ही सम्बन्धित नहीं रहते, अर्थात् वह स्थिर भावात्मक सम्बन्ध एवं विवाह-सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता; वह जीवन के किसी स्थायी भाव के रूप में भी विकसित नहीं होता—वह एक क्षणिक क्रीड़ा मात्र होता है; और साथ ही उसमें पुत्रोत्पत्ति के लक्ष्य को भी स्वीकार नहीं किया जाता—इतना ही नहीं संतानोत्पत्ति को तो उसमें बाधा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है; अतः उसे अनावश्यक या त्याज्य कर्म भी घोषित किया गया है।

स्वयं उर्वशी भी उपर्युक्त मान्यताओं से ग्रस्त है; यह दूसरी बात है कि अपनी विवशता के कारण वह पुरूरवा से अपेक्षाकृत दीर्घकालीन सम्बन्ध स्थापित करने एवं सन्तानोत्पत्ति के अनपेक्षित कार्य को सम्पादित करती है। किन्तु यह उसका काम्य नहीं था। आगे चलकर जब वह देखती है कि पुरूरवा स्वयं उसकी भाँति स्वच्छन्द एवं निश्चिन्त रूप में काम-सुख की प्राप्ति में लीन नहीं हो रहा है तथा वह नीति-अनीति, देवत्व-दनुजत्व, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, मुक्ति-बन्धन के द्वन्द्व से ग्रस्त है तो उसे वह इन सब विचारों से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व रूप में भोग-विलास में डूब जाने का उपदेश देती हुई समझाती है—

> **अनासक्ति तुम कहो, किन्तु इस द्विधा-ग्रस्त मानव को,**
> **झाँकी तुम में देख मुझे जाने क्यों भय लगता है।**
>
> × × ×
>
> **छक कर देता उसे नहीं पीने जो रस जीवन का!**

उर्वशी चाहती है कि पुरूरवा सारी दुविधाओं को त्याग कर या भूलकर पूर्ण

निश्चिन्तता से जीवन का रस पीने में—छककर पीने में लीन हो जाय उसे आश्चर्य है कि ऐसे मधुर क्षणों में भी उसका मन और मस्तिष्क अन्यत्र क्यों लगा हुआ है ? सोचने पर उसे ज्ञात होता है कि पुरूरवा केवल रक्त (शरीर) या वासना के ही आवेग में न डूब कर बुद्धि एवं विवेक के जाल में उलझ जाता है। यह विवेक-बुद्धि ही है जो मनुष्य द्वारा निश्चिन्तता से वर्तमान के उपभोग में बाधा डालती हुई, उसे अतीत या भविष्य की कल्पनाओं एवं चिन्तनाओं की ओर उन्मुख कर देती है। कभी वह सोचता है; वर्तमान नाशवान है, क्षणभंगुर है। वह जो कुछ कर रहा है वह अच्छा है या बुरा ? नीतिपूर्ण या अनीतिपूर्ण, पुण्य है या पाप ? इसका फल शुभ है या अशुभ ? इससे स्वर्ग मिलेगा या नर्क ? इससे मुक्ति एवं ईश्वर की प्राप्ति होगी या नहीं ? इस प्रकार की शंकाओं के कारण ही व्यक्ति निश्शंक रूप से अपने-आपको प्रकृत वासना एवं काम के हवाले नहीं कर पाता। इसीलिए उर्वशी बुद्धि को शंका, चिन्ता, भ्रान्ति एवं दुविधा की जननी घोषित करती हुई उसका तिरस्कार करती है। वह उसे 'छली' विशेषण से विभूषित करती हुई रक्त या शारीरिक वासना की भाषा को स्वीकार करने का उपदेश देती है—

पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का।
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी।
छली बुद्धि की भाँति जिस सुख-दुख से भरे भुवन में,
पाप दीखता वहाँ जहाँ सुन्दरता हुलस रही है।
और पुण्यचय वहाँ जहाँ कंकाल कुलिश काँटे हैं।

× × ×

इस प्रसंग में उर्वशी प्रकृति और परमेश्वर, पाप और पुण्य, स्वर्ग और मुक्ति के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ व्यक्त करती है। उसके विचारानुसार प्रकृति से परे या अलग ईश्वर नहीं है—दूसरे शब्दों में भौतिक जगत् ही ईश्वर है। जो व्यक्ति प्रकृति या भौतिक जगत् के नियम स्वीकार करता है वह एक प्रकार से ईश्वर के आदेशों को भी स्वीकार करता है। वासना या सहज प्रवृत्ति (Instincts) मनोविज्ञान के अनुसार मानव ही नहीं अपितु समस्त जैविक संसार की मूल प्रकृति से सम्बन्धित हैं—अतः प्रकृति का अनुमोदन करती हुई उर्वशी अन्ततः सहज वासनाओं का ही अनुमोदन करती है तथा उनकी अबाध तुष्टि को ईश्वरीय कार्य सिद्ध करती है। विधि-निषेध, पाप-पुण्य, नीति-अनीति के विचार मनुष्य की वासना-पूर्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं—अतः इन्हें वह बुद्धि के द्वारा स्थापित व्यर्थ के बन्धनों के रूप में घोषित करती है। 'मुक्ति' से भी उसका आशय आत्मा की मुक्ति से नहीं अपितु विवेक-बुद्धि द्वारा आरोपित विधि-निषेध के बन्धनों से मुक्ति है—अर्थात् विधि-निषेधों को भूलकर व्यक्ति निर्द्वन्द्व भाव से प्रकृति (सहज प्रवृत्तियों) के भोग मे लीन हो जाय; यही जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है, जिसका प्रतिपादन वह अत्यन्त आकर्षक शब्दों में करती है—

मुक्ति खोजते हो ? पर यह तो कहो कि किस बंधन से ?
बन्ध नियम, संयम, निग्रह, शास्त्रों की आज्ञाओं का ?
मोह मात्र ही नहीं, सभी ऐसे विचार बन्धन हैं !

× × ×

मुक्त वही जो सहज भावना से इसमें बहते हैं;
विधि-निषेध से परे छूट कर सभी कामनाओं से,
किसी ध्येय के लिए नहीं केवल बहते रहने को।

× × ×

वृथा यत्न इस अतल शून्य का तलस्पर्श करने का,
हम हैं जहाँ वहाँ जाने की कोई राह नहीं है।

उर्वशी ने अपने इस दर्शन को 'काम-धर्म' की संज्ञा दी है। वस्तुतः यह 'काम-धर्म' इतना संकीर्ण और सीमित है कि उसका सम्बन्ध केवल शरीर से है, हृदय और मन की भी वह उपेक्षा कर देता है। उर्वशी को भी यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि उसका दर्शन 'तन' का दर्शन है, मन का नहीं। इतना ही नहीं, वह तो यह भी स्वीकार करती है कि तन के काम-धर्म में सारे दोष मन के कारण ही उत्पन्न होते हैं, अतः उसके शब्दों में—

"तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है !"

उर्वशी का यह काम-दर्शन या काम-धर्म, यद्यपि अत्यधिक आकर्षक शब्दों में प्रस्तुत हुआ है तथा आज के अनेक क्षणवादी भोग-लोलुप व्यक्ति इसका समर्थन भी करेंगे किन्तु इसकी सीमा वर्तमान तक ही सीमित है। इस दर्शन के अनुसार सारे विधि-निषेधों, नियमों, व्यवस्थाओं, भविष्य की योजनाओं को भूलकर व्यक्ति क्षणिक आनन्द में तो डूब सकता है किन्तु इसका जो मूल्य उसे चुकाना पड़ेगा वह बहुत भारी होगा। यह क्षणिक भोगवाद मानव-सभ्यता को अराजकता, अव्यवस्था, निराशा एवं नाश की स्थिति तक पहुँचाकर उसे शीघ्र ही जड़ प्रकृति का अंग बना देगा—इसमें कोई संदेह नहीं। उर्वशी का यह कथन भी कि 'हम हैं जहाँ-जहाँ जाने की कोई राह नहीं।'—भी यही प्रमाणित करता है कि इस दर्शन में भविष्य के लिए कोई राह या मार्ग नहीं। वस्तुतः इसमें मानव की प्रगति का नहीं दुर्गति—क्षणिक आनन्द के बदले प्राप्त होने वाली स्थायी दुर्गति—का ही संदेश व्यक्त हुआ है। अतः यह संदेश इस लोक के लिए नहीं, परलोक वासियों के लिए या ऐसे लोगों के लिए उपयुक्त है जो कि अपनी प्रगति की अंतिम सीमा तक पहुँचकर भविष्य के लिए गतिशून्य होने का उपक्रम कर रहे हैं।

काम या प्रेम के दूसरे रूप का प्रतिनिधित्व पुरूरवा के द्वारा होता है। प्रेम के इस रूप में शारीरिक सम्बन्धों या यौन सम्बन्धों की सर्वथा उपेक्षा तो नहीं की जाती, किन्तु वही उसका चरम लक्ष्य नहीं होता। इसमें प्रणय-सम्बन्ध का सूत्रपात भले ही काम-वासना एवं सौन्दर्य-लालसा से हो किन्तु वह वहीं तक स्थिर नहीं रहता अपितु उससे ऊपर उठकर क्रमशः शरीर से मन एवं मन से आत्मा के स्तर तक पहुँचने का प्रयास करता है। स्वयं कवि ने भूमिका में इसका संकेत करते हुए लिखा है—'इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।...देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग-योग है किन्तु उसकी दूसरी राह नर-नारी प्रेम के भीतर से भी निकलती है...काम-सुख की इन्हीं निराकार

झंकृतियों का आख्यान मनोविज्ञान उदात्तीकरण की भाषा में करता है। प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है।....साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस आकुलता अथवा ऐन्द्रियता से निकलकर अतीन्द्रिय जगत् में आँख खोलने की इस उमंग का प्रतीक पुरूरवा है।' कवि दिनकर के ये शब्द स्पष्ट रूप में इस तथ्य के द्योतक हैं कि पुरूरवा का प्रेमादर्श उर्वशी के कामादर्श से बहुत भिन्न है; जिसे उर्वशी प्रेम की अन्तिम सीमा मानती है, वह पुरूरवा के लिए आरंभिक है; जो उर्वशी के लिए साध्य है, वह पुरूरवा के लिए साधन मात्र है। पुरूरवा के प्रेम-दर्शन की पुष्टि मध्यकालीन योग-मार्ग, सिद्धों की सहज-साधना, संतों की सहज समाधि एवं आधुनिक मनोविज्ञान के 'कामवासना के उदात्तीकरण' (Sublimation) से करके कवि ने अप्रत्यक्ष रूप में इसी का अनुमोदन किया हो—इसकी संभावना है। किन्तु इसे अंतिम रूप में स्वीकार करने से पूर्व इसका थोड़ा अध्ययन और अपेक्षित है।

काव्य के तृतीय अंक के आरंभ में ही जब उर्वशी पुरूरवा से उपालंभपूर्ण शब्दों में कहती है कि वह उसे देवताओं से छीनकर या माँगकर क्यों नहीं ले आये, क्योंकि पुरूरवा की प्राप्ति के लिए उसे स्वयं धरती पर आने का प्रयास करना पड़ा—तो इसके उत्तर में वह कहता है—

अयश मूल दोनों विकर्म हैं,
हरण हो कि भिक्षाटन !

साथ ही पुरूरवा का एक मंतव्य यह है कि वह केवल उर्वशी के शरीर का ही नहीं, उसके हृदय का भी इच्छुक था। शरीर भिक्षा या अपहरण के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है किन्तु प्रेम उससे संभव नहीं—

........क्षत्रिय भी भीख माँगते हैं क्या ?
और प्रेम क्या कभी प्राप्त होता है भिक्षाटन से ?

× × ×

शरीर की प्राप्ति और हृदय की प्राप्ति के सूक्ष्म अन्तर की व्याख्या करता हुआ वह कहता है—

बाहर साँकल नहीं जिसे तू खोल हृदय पा जाये।
इस मंदिर का द्वार सदा अन्तःपुर से खुलता है।

प्रेम की महिमा, सत्यता, एवं दृढ़ता की शक्ति में उसे पूरा विश्वास है। 'जाकर जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू।' में उसकी पूरी आस्था है—

लेकर यह विश्वास प्रीति मेरी यदि मृषा नहीं है।
मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रुकेगा।

× × ×

वह अवश्य ही कर देगा संतप्त तुम्हारे मन को।
और प्रीति जगने पर तुम बैकुण्ठ लोक को तजकर,
किसी रात निश्चय भूतल पर स्वयं चली आओगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरूरवा की भावनाएँ शारीरिक क्षुधा, एवं काम-वासना

की अपेक्षा हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों से अधिक अनुप्राणित हैं। इसीलिए जिस तत्त्व-दर्शन को हम उर्वशी के संदर्भ में 'काम-दर्शन' कहते हैं, उसी को पुरूरवा के संदर्भ में 'प्रेम' दर्शन कहा जा सकता है।

पुरूरवा का प्रेम-दर्शन विवेक-बुद्धि, उदात्त चिन्तन, आस्तिकता, आस्था एवं विराट की महत्ता के बोध से अनुप्राणित है—इसीलिए वह न तो शरीर-सुख की सीमाओं से आबद्ध है और न ही तर्क-वितर्क से शून्य वह जीवन के केवल एक ही वृत्ति या प्रवृत्ति, या एक ही प्रकार की तृप्ति तक सीमित है। उसका प्रेम निश्चय ही सौन्दर्य की लालसा एवं भोग की आकांक्षा से शून्य नहीं है, तथा कुछ क्षणों के लिए वह सब-कुछ भूलकर इनके प्रवाह में वह भी जाता है, किन्तु फिर भी ये उसके जीवन के स्थायी भाव नहीं बन पाते। उसकी उद्‌बुद्ध चेतना, विवेक बुद्धि एवं व्यापक अनुभूति उसके व्यक्तित्व को इतनी खुली छूट नहीं देती कि वह अपना सब-कुछ भूलकर सदा के लिए विलास के सागर में निमज्जित हो जाय। इसीलिए उसकी चेतना प्राप्त सौन्दर्य को स्वीकार करती हुई भी उसी से संतुष्ट नहीं हो जाती। उसकी विवेक-बुद्धि ऐन्द्रिय सुख के क्षणों में भी उसे कुछ और सोचने के लिए प्रेरित एवं उद्वेलित कर देती है। किसी परम सत्ता के प्रति आस्था, उसके विराट रूप की अनुभूति उसे यह स्मरण करवाये बिना नहीं रहती कि उर्वशी का सौन्दर्य ही सब-कुछ नहीं है, उससे परे भी, उससे भी अधिक व्यापक, कोई सौन्दर्य है। उर्वशी का सौन्दर्य तो उस विराट सौन्दर्य का एक अंश मात्र है। पुरूरवा के शब्दों में—

> **तुम अशेष सुन्दर हो, पर हो कोर मात्र ही केवल,**
> **उस विराट छवि की जो घन के नीचे अभी दबी है।**

पुरूरवा का यह तर्क-वितर्क और चिन्तन उर्वशी के प्राणों के लिए बोझिल सिद्ध होता है। अवश्य ही यह उसकी निश्चिन्त काम-क्रीड़ा के प्रतिकूल है तथा उसमें अवरोध उपस्थित करता है। वह अपने मोहिनी रूप, कान्तासम्मित वचन एवं हास-विलास से पुरूरवा को कुछ समय के लिए निरुत्तर एवं मौन कर देती है तथा 'रक्त' (वासना) की महत्ता व बुद्धि की हेयता के पाठ से उसे प्रभावित कर देती है; किन्तु फिर भी पुरूरवा की अन्तश्चेतना को पूर्णतः सुषुप्त करने में वह सफल नहीं होती। अवश्य ही रक्त के आवेग के सम्मुख मनुष्य को बुद्धि का बल पराजित हो जाता है; वासनाओं के आवेग के सम्मुख कई बार व्यक्ति का विवेक एवं संयम धराशायी हो जाता है—पर क्या यह व्यक्ति की महत्ता का सूचक है ? क्या ऐसा होना मानव-मन की दुर्बलता और असहायावस्था का सूचक नहीं है ? क्या वासना का आवेग हमारी प्रगति में बाधक नहीं बनता ? पुरूरवा का दृढ़ विश्वास है कि भले ही वासना का बल हमारी बौद्धिक प्रवृत्तियों को परास्त करने में सफल हो जाय पर फिर भी उत्कृष्ट तो हमारी बुद्धि ही है। उसके शब्दों में—

> **रक्त बुद्धि से अधिक बली है, अधिक समर्थ, तभी तो,**
> × × ×
> **पहुँच नहीं पाते उस अव्यय एक पूर्ण सविता तक।**

अस्तु, उर्वशी द्वारा बहु प्रशंसित, बहुमान्य 'रक्तबल' जो कि मनुष्य की वासनाओं एवं भोगलालसाओं का सूचक है, पुरूरवा की दृष्टि में वह मनुष्य की दुर्बलता एवं असफलता का प्रमाण है। इसी रक्तबल (वासना की शक्ति) की बाधा के कारण मनुष्य अपने पवित्र, उदात्त एवं महान लक्ष्य तक पहुँचने में असमर्थ सिद्ध होता है। अतः निश्चय ही यह प्रशंसनीय न होकर निन्दनीय एवं त्याज्य है।

प्रेम के उपर्युक्त दोनों रूप क्रमशः शुद्ध वासना एवं भावना पर आधारित हैं, जो व्यक्ति की स्वेच्छा एवं निजी प्रेरणाओं तक सीमित है; सामाजिक बन्धनों, नियमों एवं मर्यादाओं का उनसे सम्बन्ध नहीं हैं—अतः उन्हें हम समाज-निरपेक्ष भी कह सकते हैं मानव सभ्यता के आदिकाल में नारी-पुरुष का सम्बन्ध बहुत-कुछ काम और सौन्दर्य की प्रेरणाओं पर ही आधारित रहा होगा—ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों विवाह, परिवार एवं समाज की विभिन्न इकाइयों का संगठन व विकास होता गया त्यों-त्यों स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध भी वैवाहिक नियमों व विधि-विधानों से अनुशासित होते गये। 'उर्वशी' में चित्रित प्रेम के शेष दो रूप इसी वैवाहिक रूप की दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के सूचक हैं। पहली स्थिति 'पातिव्रत धर्म' की सूचक है, जिसमें नारी के लिए पति के सभी गुण-दोषों को स्वीकार कर उसे परमेश्वर तक मानना आवश्यक है। इसका प्रतिनिधित्व पुरुरवा की पत्नी औशीनरी करती हैं। वह अपना तन, मन, धन, जीवन—सब कुछ पूर्ण भाव से पति को समर्पित कर देती है, किन्तु फिर भी पति के तन और मन पर उसका कोई अधिकार नही है। अपना सब-कुछ देकर पति के रंच मात्र प्रेम के लिए भी वह भिक्षुणी बनी रहती है। वस्तुतः यह स्थिति उस सामन्तवादी व्यवस्था से सम्बन्धित है, जिसमे पुरुष ने स्वच्छन्द विहार के सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में लेकर दाम्पत्य-जीवन के सभी कर्त्तव्यों के पालन का भार नारी को सौंप दिया था। पातिव्रत धर्म के नाम पर नारी को जिस असहाय, दयनीय एवं विवश स्थिति मे डाल दिया गया था, उसकी वास्तविकता औशीनरी के शब्दों में व्यक्त हुई है—

न्योछावर आराध्य-चरण पर सखि ! तन, मन, जीवन है !
तब भी तो भिक्षुणी-सदृश जोहा करती हूँ मुख को !

× × ×

गृहिणी जाती हार दाँव संपूर्ण समर्पण करके।

× × ×

कितना विलक्षण न्याय है !
कोई न पास उपाय है !
अवलंब है सबको मगर नारी बहुत असहाय है !!

औशीनरी के उपर्युक्त शब्दों में सामन्तयुगीन परतंत्र नारी की व्यथा अत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है। नारी पुरुष के अन्याय से बचना चाहती है किन्तु उसके पास इसका कोई उपाय नहीं है ! कदाचित् नारी की इस असहाय स्थिति को ही ध्यान में रखकर महाकवि तुलसी ने कहा था—

कत विधि नारि सृजी जग मांही !
पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं !!

ऐसी स्थिति में नारी (पत्नी) का एक मात्र संबल पुत्र (पुत्री ?) प्राप्ति ही र
ाता है। पुत्रोत्पत्ति के द्वारा ही वह जीवन की सार्थकता को प्रमाणित करती है तथ
दाम्पत्य जीवन के अभावों की पूर्ति वात्सल्य के माधुर्य द्वारा करती है पर जहाँ ना
इस संबल की प्राप्ति में भी असफल सिद्ध हो जाती है तो उसका जीवन प्रत्यक्ष हं
निरर्थक निस्सार एवं नरक-तुल्य बन जाता है। दुर्भाग्य तो यह है कि इस व्यवस्था ं
पुत्रोत्पत्ति का सारा उत्तरदायित्व भी पत्नी पर ही थोपा गया है; पुरुष तो सभी उत्तर
दायित्वों से मुक्त है। इसी स्थिति पर व्यंग्य करती हुई औशीनरी कहती है—

पुत्र पाने के लिए विहरा करें वे कुंज वन में।
और मैं आराधना करती रहूँ सूने भवन में।।

किन्तु पति के इन सारे अत्याचारों के बावजूद भी पातिव्रत धर्म में पत्नी के लिए पति के अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं है। पति चाहे कितना ही बुरा या अत्याचारी क्यों न हो—पत्नी का जीवन उसी के जीवन पर निर्भर है। सती-प्रथा के युग में तो पति की मृत्यु का अर्थ पत्नी का भी जीते-जी जल-मरना हो गया था—अतः ऐसी स्थिति में पत्नी, पति के सभी दुर्गुणों को स्वीकार करती हुई उसी के जीवन में अपना जीवन अनुभव करे तो स्वाभाविक है। औशीनरी की निम्नांकित उक्तियाँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं—

पति के सिवा योषिता का कोई आधार नहीं है !

× × ×

प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों !

दाम्पत्य जीवन का यह एकांगी व एकपक्षीय रूप किसी भी स्थति में प्रशंसनीय, स्वीकार्य एवं ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। कवि दिनकर ने इसका चित्रण कदाचित् इसकी विषमताओं एवं असंगतियों को ही स्पष्ट करने के लिए किया है; उनके स्वर में इसके अनुमोदन या समर्थन का संकेत कहीं भी नहीं मिलता, और न ही मिल सकता है।

दाम्पत्य जीवन का एक अत्यन्त संतुलित एवं आदर्श रूप च्यवन ऋषि एवं उनकी पत्नी सुकन्या के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। च्यवन जहाँ अपनी पत्नी को अपनी समस्त साधना उपलब्धि, ईश्वर के द्वारा दी गयी सिद्धि के रूप में स्वीकार करते हुए उसे अपने जीवन में सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं, वहाँ उनकी पत्नी सुकन्या भी अपने पति को अपने 'परम आराध्य देव' के रूप में स्वीकार करती है। सुकन्या की यह स्वीकृति सामन्त युगीन नारी की भाँति आरोपित स्वीकृति नहीं है, अपितु इसके पीछे यथार्थ की अनुभूति है। पति को सम्पूर्ण रूप में, उसके सम्पूर्ण प्रेम को प्राप्त कर लेने के कारण ही सुकन्या ऐसा अनुभव प्राप्त करती है, मानो उसे जीवन में सब-कुछ मिल गया। इसीलिए उसके मन में औशीनरी की सी वेदना, पीड़ा, असंतोष, अशान्ति, विवशता आदि का कोई भाव नहीं है—इतना ही नहीं उसकी उक्तियाँ परिपूर्ण काम एवं पूर्ण संतोष की अनुभूति से ओत-प्रोत प्रतीत होती हैं—

प्रयोगितावादी स्थूल दृष्टिकोण से करते हुए लिखते हैं—"कविता
उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है।
स्त्रियाँ, काम करने के समय मजदूर आदि परिश्रम कम होने के
–वहाँ आचार्य शुक्ल कविता के सूक्ष्म एवं व्यापक प्रभाव को
के एक ऐसे व्यापक प्रयोजन की चर्चा करते हैं, जिससे एक ओर
के संकीर्ण घेरे से मुक्त होती है, दूसरी ओर वह लोक-मंगल की
वाली सिद्ध होती है। उनके विचारानुसार काव्य के द्वारा हमारे
होता है तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की
के विकास के साथ-साथ हमारे हृदय पर बौद्धिकता, कृत्रिमता
वरण पड़ता जा रहा है; कविता इस आवरण को छिन्न-भिन्न
स्वरूप की रक्षा करती है। अतः यह धारणा कि सभ्यता और
साथ-साथ कविता क्षीण होती जायगी, मिथ्या है। आचार्य शुक्ल
यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जायँगे,
कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म
" कविता के भविष्य के बारे में शुक्लजी का दृष्टिकोण आशा और
है : "मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार
जातियों में यह किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इति-
हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रसार अवश्य रहेगा।"

ता का लक्ष्य हल्के स्तर का मनोरंजन या मनबहलाव-मात्र मानते
शुक्ल का गहरा मतभेद था। वे अपने विरोधियों की धारणा का
र शब्दों में लिखते है—"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या
दि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय, तो कविता भी केवल
हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीकि ऐसे मुनि
क्त ने केवल इतना ही समझकर श्रम किया कि लोगों को समय
सहारा मिल जायगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न
हना पड़ता है कि बहुत-से लोग कविता को विलास की सामग्री
पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में काव्य-प्रयोजन के प्रश्न को लेकर
है। कुछ लोगों ने कविता को कविता के लिए घोषित करते हुए
प्रदान कर दिया, तो कुछ ने उसे नीति, सदाचार और उपयोगिता
में इस तरह आबद्ध कर दिया कि उसका जीवन ही समाप्त हो
र ने इन दोनों दृष्टिकोणों की अतिवादिता से बचकर एक ऐसा
पनाया, जिससे कि कविता में काव्यत्व और लोक-हित—दोनों का
ाता है।

र्वप्रथम गुण क्या है? या यों कहिए कि उसकी आत्मा क्या है? इस
ए वे सौन्दर्य को ही कविता का सर्वप्रथम गुण सिद्ध —

वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं—"सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयो योगी। सब बातें केवल दो शब्दों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्द धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल कहता है, कवि उसके सौन्दर्य प ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है।"

सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों में प मत-भेद मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इन पाश्चात्य विद्वानों की सौन्दर्य- 'भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ' नहीं माना है। उन्होंने सौन्दर्य के मौलिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए काव्य-गत सौन्दर्य के तीन प्रकार निश्चि (१) भाव-सौन्दर्य, (२) रूप-सौन्दर्य और (३) कर्म-सौन्दर्य। कर्म-सौन्दर्य के द्वारा शुक्ल जी ने अप्रत्यक्ष रूप में नैतिकता और लोक-हित को प्रश्रय दे वे नैतिकता का समर्थन या अनैतिकता का विरोध लोक-हित के नाम पर न क सौन्दर्य' के लिए करते हैं।

अनेक आलोचक आलंकारिकता, उक्ति-वैचित्र्य, वक्रोक्ति व काव्य-च हो काव्य-सौन्दर्य मानते हैं, किन्तु शुक्ल जी के विचार से ऐसा नहीं है। वे व शब्द-क्रीड़ा, वाक्य-वक्रता, दूरारूढ़ कल्पना एवं उक्ति-वैचित्र्य आदि से उत्प का विरोध करते हैं। चमत्कार का लक्ष्य चमत्कार न होकर भाव-सौन्दर्य क करना होना चाहिए। चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किस अनुभूति को तीव्र करने के लिए। भावना से असंपृक्त चमत्कार को वे काव्य मानते हैं—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागृत कर दे या उसे प्रस्तुत वस की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह है काव्य, जो उक्ति केवल कथन के ढंग पन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही वह है सूक्ति।"

काव्य के मान-दंड के रूप में आचार्य शुक्ल ने प्राचीन रस-सिद्धान्त को किया, किन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या अपने ढंग से की। रस-सिद्धान्त के अनुसार लक्ष्य आनन्दानुभूति प्रदान करना है, किन्तु आचार्य शुक्ल ने लोकहित को स्थ लिए इस आनन्द की दो अवस्थाएँ निश्चित कीं—(१) आनन्द की साधना (२) आनन्द की सिद्धावस्था। जिन काव्यों में आनन्द की स्थापना के लिए संघर्ष का चित्रण किया जाता है, वे प्रथम कोटि में आते हैं, किन्तु जिनमे केव की प्राप्ति के निमित्त संघर्ष या प्रयत्नों के स्थान उसके भोग का ही चित्रण कि है, उन्हें 'आनन्द की सिद्धावस्था' के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। रामायण, म रघुवंश, शिशुपाल-वध, पद्मावत, रामचरित-मानस आदि रचनाएँ प्रथम वर्ग में

...-सप्तशती, अमरुक शतक, गीत-गोविन्द, बिहारी-सतसई...